ॐ

परमात्मने नमः

प्रवचन सुधा

(भाग-२)

(श्री 'प्रवचनसार' शास्त्र पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के धारावाही प्रवचन)

(गाथा २१-५२)

प्रकाशक

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

५८०, जूनी माणेकवाड़ी,
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग,
भावनगर-३६४००१
फोन : (०२७८) २५१५००५

श्री कुन्दकुन्दकहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट

१७३/१७५, मुंबादेवी रोड़, मुंबई-४०० ००२

पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट

कहान नगर, लाम रोड़, देवलाली-४२२ ४०१

श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

`विमलांचल' हरिनगर, अलीगढ़
फोन : (०५७१) ४१००१०/११/१२

प्रथमावृत्ति प्रत : १००० (उत्तम क्षमावणी दिवस, दि. २७-०९-०७)
पृष्ठ संख्या : ८ + ६०० = ६०८
लागत मूल्य : १२५/-
विक्री मूल्य : २०/-

टाईप सेटिंग :

पूजा इम्प्रेशन्स

प्लोट नं. १९२४-बी,
६, शांतिनाथ बंगलोझ,
शशीप्रभु मार्ग, रूपाणी सर्कल,
भावनगर-३६४००१
फोन : (०२७८) २५६१७४९

मुद्रक :

भगवती ऑफसेट

१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड
बारडोलपूरा,
अहमदाबाद
फोन : ९८२५३२६२०२

ACKNOWLEDGEMENT

We sincerely express our gratitude to **“Shree Vitrag Sat Sahitya Prakashak Trust, Bhavnagar”** from where we have sourced **“Pravachan Sudha Part-02”** (Pravachans on Shree **Pravachansaar** by Pujya Shree Kanji Swami)

“Shree Vitrag Sat Sahitya Prakashak Trust, Bhavnagar” have taken due care, However, if you notice any inconsistency or error, you may please address your suggestions to info@vitragvani.com & jain92002@yahoo.com .

प्रकाशकीय

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत पंच परमागमों में `प्रवचनसार' शास्त्र `द्वितीय श्रुतस्कंध' के सर्वोत्कृष्ट आगमोंमें से एक है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य का महिमा दर्शित करते हुए कई शिलालेख आज भी मौजूद हैं। उनके लिखे हुए शास्त्र साक्षात् गणधरदेव के वचनों समान प्रमाणभूत माने जाते हैं।

महाविदेहक्षेत्र में विद्यमान त्रिलोकनाथ वीतराग सर्वज्ञ परम देवाधिदेव श्री सीमंधर भगवान की प्रत्यक्ष दिव्य देशना सुनकर भरत में आकर भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कई शास्त्रों की रचना की है। जिनशासन के कई प्रमुख सिद्धांतों के बीज इस `प्रवचनसार' शास्त्र में रहे हैं। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस शास्त्र के प्रवचनों में फरमाते हैं कि - `प्र' + वचन + सार। प्र अर्थात् दिव्यवचन। जो दिव्यध्वनि - तीनलोक के नाथ परमात्मा की दिव्यध्वनि - जो ॐ ध्वनि - वह यहाँ कहते हैं। अतः यह `प्रवचनसार' ग्रंथ भगवान श्री सीमंधरस्वामी का दिव्य संदेश ही है। तीन विभाग में विभाजित इस ग्रंथ में वस्तुस्वरूप को समझाते मूलभूत सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ है। जो कि मुमुक्षुजीव को महामिथ्यात्वरूपी अंधकार को नष्ट करने के लिये दिव्य प्रकाश के समान ही है ।

महामिथ्यात्व से प्रभावित इस दुषमकाल में ऐसे सर्वोत्कृष्ट परमागमों के सिद्धांतों का समझना अज्ञानीजीवों का कहाँ सामर्थ्य था ? परंतु भरतक्षेत्र के अहोभाग्य से और भव्यजीवों को तारने के लिये, इस मिथ्यात्व के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिये एक दिव्य प्रकाश हुआ ! वे हैं कहान गुरुदेव !! पूज्य गुरुदेवश्री इस काल के एक अजोड रत्न हैं ! जिन्होंने स्वयं की ज्ञानप्रभा से गूढ़ परमागमों के रहस्यों को खोला। जिनके घर में आगम उपलब्ध थे उनमें भी आगमों का रहस्य खोलने की शक्ति नहीं थी, ऐसे इस दुषमकाल में पूज्य गुरुदेवश्री के परम प्रभावना के योग से घर-घर में मूलभूत परमागमों का स्वाध्याय करने की प्रणालिका शुरू हुई। द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य, निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त आदि अनेकानेक वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करते हुए सिद्धांतों को पूज्य गुरुदेवश्री ने प्रकाशित किये।

प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन के वचनानुसार `पूज्य गुरुदेवश्री इस काल का एक आश्चर्य ही है। पूज्य गुरुदेवश्री को श्रुत की लब्धि थी। पंचमकाल में निरंतर अमृतझरती गुरुदेव की वाणी भगवान का विरह भूलाती है।' आदि कई बहुमानदर्शित वचन पूज्य गुरुदेवश्री की असाधारण प्रतिभा को व्यक्त करते हैं।

ऐसे भवोदधितारणहार, निष्कारण करुणाशील, अध्यात्ममूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री ने कई मूल परमागमों के ऊपर प्रवचन देकर दिव्य अमृतधारा बरसायी है। उन कई शास्त्रोंमें से एक `प्रवचनसार' जैसे गूढ़ परमागम के ऊपर किये हुए गुरुदेवश्री के प्रवचनों को `**प्रवचन सुधा**' के रूप में प्रकाशित करने का महान सौभाग्य `वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट' को संप्राप्त हुआ है। `प्रवचनसार' शास्त्र के ऊपर पूज्य गुरुदेवश्री के कुल मिलाकर २७४ प्रवचन हुए हैं। मूल परमागम तीन अधिकार में विभाजित है। उसमें दूसरे अधिकारों का विभाग करने में आया है। जो `प्रवचनसार' शास्त्र की अनुक्रमणिका में दिया गया है। तदनुसार २७४ प्रवचनों को कुल ११ भाग में प्रकाशित किये जायेंगे। इन प्रवचनों के द्वितीय भाग में कुल ३६ प्रवचन हैं। जिसमें २१ से ५२ गाथाओं का समावेश किया गया है। गाथा २१ से ५२ `ज्ञान अधिकार' के शीर्षक अंतर्गत ली गई हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ के स्वाध्याय में सरलता रहे इस हेतु मूल सूत्रकार श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव की प्राकृत गाथाएं, सूत्र टीकाकार आचार्य भगवान श्रीमद् भगवत् अमृतचंद्रआचार्यदेव की `तत्त्वप्रदीपिका' टीका और श्रीमद् भगवत् जयसेनाचार्यदेव की `तात्पर्यवृति' टीका संस्कृत में दी गई है। तदुपरांत गुजराती हरिगीत और टीका भी दी गई हैं।

समादरणीय, सिद्धांनिष्ठ, जिनवाणी रहस्यज्ञ पूज्य भाईश्री `शशीभाई' के मार्गदर्शन तले प्रथम `प्रवचन नवनीत' (भाग १ से ४) प्रकाशित किये गये हैं। उसीप्रकार इन प्रवचनों के संकलन में भी पूरा ध्यान रखकर पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी अक्षरशः रहे और भावों का प्रवाह भी यथावत् रहे ऐसा प्रयास करने में आया है। पूज्य गुरुदेवश्री के सभी प्रवचन प्रकाशित हो ऐसी उनकी भावना थी। तदर्थ सभी प्रवचन Computer में पुस्तकाकार के रूप में आ जाये ऐसी भी उनकी शोध चलती थी। यह बात उनकी पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति की भक्तिभावना को प्रदर्शित करती है। अतः उनकी इस

भावनानुसार यह कार्य करने में आता है। अतः इस प्रसंगपर उनके उपकार को स्मरण में लेकर उनके चरण में वंदन करते हैं।

`वीतराग सत् साहित्य ट्रस्ट' की नीति के अनुसार इन प्रवचनों को प्रथम सी.डी. पर से अक्षरशः लिख लिये जाते हैं। बाद में इन प्रवचनों का सुनते-सुनते संपादन किया जाता है। वाक्यरचना को पूर्ण करने के लिये कौंस भी भरे जाते हैं। पूर्णरूप से प्रवचन तैयार होने के बाद फिर से एकबार अन्य मुमुक्षु के द्वारा उसे सी.डी. प्रवचन के साथ मिलान किया जाता है। ताकि किसी भी प्रकार की क्षति न रह जाये।

`प्रवचन सुधा' भाग-२ में प्रकाशित इन प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी अनुवाद करने के लिये श्री दीपकभाई महेता, भावनगर के हम आभारी हैं। इन प्रवचनों के प्रकाशनार्थ अन्य जिन-जिन मुमुक्षुओं का सहयोग मिला है उनके भी हम आभारी हैं। टाईप सेटिंग के लिये `पूजा इम्प्रेशन्स' के और सुंदर मुद्रण कार्य के लिये `भगवती ऑफसेट' के आभारी हैं।

इन प्रवचनों के अनुवाद कार्य में प्रमादवश या अजागृतिवश कोई भी क्षति रही हो तो सर्व जिनेन्द्रभगवंतों की, आचार्यभगवंतों की, जिनवाणीमाता की तथा सर्व सत्पुरुषों की शुद्ध अंतःकरणपूर्वक क्षमा याचते हैं। पाठकवर्ग से यह विनती है कि, अनुवाद-कार्य में कोई क्षति दिखे तो हमें मालूम करें। अंत में इन प्रवचनों की दिव्य देशना को अंतरंग में ग्रहण करके सर्व जीव आत्महित को शीघ्र प्राप्त हो, ऐसी भावना भाते हैं।

भावनगर
दि-३०-०८-२००७
(पूज्य बहिनश्री की ९४वीं जन्मजयंति)

ट्रस्टीगण
वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

प्रवचन अनुक्रमणिका

प्रवचन क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१७.	गाथा २१-२२	००३
१८.	गाथा २२	०१९
१९.	गाथा २३	०३३
२०.	गाथा २३, २४, २५	०४८
२१.	गाथा २६	०६९
२२.	गाथा २७	०८८
२३.	गाथा २८	१०५
२४.	गाथा २८	१२२
२५.	गाथा २९	१३९
२६.	गाथा २९, ३०	१५५
२७.	गाथा ३१-३२	१७४
२८.	गाथा ३२	१९३
२९.	गाथा ३३	२०९
३०.	गाथा ३३	२२३
३१.	गाथा ३४	२३५
३२.	गाथा ३४, ३५	२५०
३३.	गाथा ३६	२७१
३४.	गाथा ३६, ३७	२८७
३५.	गाथा ३७	३०१
३६.	गाथा ३८	३२१
३७.	गाथा ३८, ३९	३३५
३८.	गाथा ३९, ४०, ४१	३५१
३९.	गाथा ४१	३६९
४०.	गाथा ४२, ४३	३८६
४१.	गाथा ४४, ४५	४०२
४२.	गाथा ४५, ४६	४२०

प्रवचन क्रमांक	विषय	पृष्ठ
४३.	गाथा ४६	४३६
४४.	गाथा ४७	४५४
४५.	गाथा ४७	४६७
४६.	गाथा ४८	४८२
४७.	गाथा ४८	४९५
४८.	गाथा ४८, ४९	५०८
४९.	गाथा ४९	५२६
५०.	गाथा ४९	५३९
५१.	गाथा ४९, ५०, ५१	५५४
५२.	गाथा ५२. श्लोक-४	५७६

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का मुमुक्षु समाज अधिक लाभ लेवें इस हेतु से एक मुमुक्षु परिवार, मुंबई की ओर से विशेष आर्थिक सहयोग प्राप्त होने से इस ग्रंथ की कीमत कम रखी गई है।

प्रवचन सुधा भाग-२ के प्रकाशनार्थ प्राप्त दानराशि

श्रीमती चंद्रिकाबहन शशीकान्तभाई शेठ, भावनगर ११,०००/-

श्री सद्‌गुरुदेव स्तुति

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो ! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

अहो ! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुन्दना !
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजलंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्‌घन विषे कांई न मळे।

हैयुं 'सत् सत्, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
-रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेन्द्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

नित्ये सुधाझरण चंद्र ! तने नमुं हूँ,
करुणा अकारण समुद्र ! तने नमुं हूँ;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ ! तने नमुं हूँ,
आ दासना जीवनशिल्पी ! तने नमुं हूँ।

ऊँडी ऊँडी, ऊँडेथी सुखनिधि सत्‌ना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति ! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊँडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी !

ॐ

नमः श्रीसिद्धेभ्यः

अथ ज्ञानस्वरूपप्रपञ्चं सौख्यस्वरूपप्रपञ्चं च क्रमप्रवृत्तप्रबन्धद्वयेनाभिदघाति। तत्र केवलिनोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्सर्वं प्रत्यक्षं भवतीति विभावयति -

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जया।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं।।२१।।

परिणममानस्य खलु ज्ञानं प्रत्यक्षाः सर्वद्रव्यपर्यायाः।
स नैव तान् विजानात्यवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः।।२१।।

यतो न खल्विन्द्रियाण्यालम्ब्यावग्रहेहावायपूर्वकप्रक्रमेण केवली विजानाति, स्वयमेव समस्तावरणक्षयक्षण एवानाद्यनन्ताहेतुकासाधारणभूतज्ञानस्वभावमेव कारणत्वेनोपादाय तदुपरि प्रविकसत्केवलज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमते, ततोऽस्याक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया समक्षसंवेदनालम्बनभूताः सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा एव भवन्ति ।।२१।।

एवमनन्तज्ञानसुखस्थापने प्रथमगाथा केवलिभुक्तिनिराकरणे द्वितीया चेति गाथाद्वयं गतम्।

इति सप्तगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन सामान्येन **सर्वज्ञसिद्धि**नामा द्वितीयोऽन्तराधिकारः समाप्तः।।

अथ ज्ञानप्रपञ्चाभिधानान्तराधिकारे त्रयस्त्रिंशद्गाथा भवन्ति। तत्राष्टौ स्थलानि। तेष्वादौ केवलज्ञानस्य सर्वं प्रत्यक्षं भवतीति कथनमुख्यत्वेन 'परिणमदो खलु' इत्यादिगाथाद्वयम्, अथात्मज्ञानयोर्निश्चयेनासंख्यातप्रदेशत्वेऽपि व्यवहारेण सर्वगतत्वं भवतीत्यादिकथनमुख्यत्वेन 'आदा णाणपमाणं' इत्यादिगाथापञ्चकम्, ततः परं ज्ञानज्ञेययोः परस्परगमननिराकरणमुख्यतया 'णाणी णाणसहावो' इत्यादिगाथापञ्चकम्, अथ निश्चयव्यवहारकेवलिप्रतिपादनादिमुख्यत्वेन 'जो **हि** सुदेण' इत्यादिसूत्रचतुष्टयम्, अथ वर्तमानज्ञाने कालत्रयपर्यायपरिच्छित्तिकथनादिरूपेण 'तक्कालिगेव सव्वे' इत्यादिसूत्रपञ्चकम्, अथ केवलज्ञानं बंधकारणं न भवति रागादिविकल्परहितं छद्मस्थज्ञानमपि, किंतु रागादयो बन्धकारणमित्यादिनिरूपणमुख्यतया 'परिणमदि णेयं' इत्यादिसूत्रपञ्चकम्, अथ केवलज्ञानं सर्वज्ञानं सर्वज्ञत्वेन प्रतिपादयतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन 'जं तक्कालियमिदरं' इत्यादिगाथापञ्चकम्, अथ ज्ञानप्रपञ्चोपसंहारमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, नमस्कारकथनेन द्वितीया चेति 'णवि परिणमदि' इत्यादि गाथाद्वयम्। एवं ज्ञानप्रपञ्चाभिधानतृतीयान्तराधिकारे त्रयस्त्रिंशद्गाथाभिः स्थलाष्टकेन समुदायपातनिका। तद्यथा-

अथातीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्केवलिनः सर्वं प्रत्यक्षं भवतीति प्रतिपादयति - **पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया** सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा भवन्ति। कस्य। केवलिनः। किं कुर्वतः। **परिणमदो** परिणममानस्य। **खलु** स्फुटम्। **किम्**। **णाणं** अनन्तपदार्थपरिच्छित्तिसमर्थं केवलज्ञानम्। तर्हि किं क्रमेण जानाति। **सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं स** च भगवान्नैव तान् जानात्यवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः, किंतु युगपदित्यर्थः। इतो विस्तरः - अनाद्यनन्तमहेतुकं चिदानन्दैकस्वभावं निजशुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा केवलज्ञानोत्पत्तेर्बीजभूतेनागमभाषया शुक्लध्यानसंज्ञेन रागादिविकल्पजालरहितस्वसंवेदनज्ञानेन यदायमात्मा परिणमति, तदा स्वसंवेदनज्ञानफलभूतकेवलज्ञानपरिच्छित्त्याकारपरिणतस्य तस्मिन्नेव क्षणे क्रमप्रवृत्तक्षायोपशमिकज्ञानाभावादक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया सर्वद्रव्यगुणपर्याया अस्यात्मनः प्रत्यक्षा भवन्तीत्यभिप्रायः।।२१।।

अब ज्ञानके स्वरूपका विस्तार और सुखके स्वरूपका विस्तार क्रमशः प्रवर्तमान दो अधिकारोंके द्वारा कहते हैं। इनमेंसे (प्रथम) अतीन्द्रिय ज्ञानरूप परिणमित होनेसे केवली भगवानके सब प्रत्यक्ष है यह प्रगट करते हैं :-

प्रत्यक्ष छे सौ द्रव्यपर्यय ज्ञानपरिणमनारने।
जाणे नहीं ते तेमने अवग्रह-ईहादिक्रिया वडे।।२१।।

अन्वयार्थ :- [खलु] वास्तवमें **[ज्ञानं परिणममानस्य]** ज्ञानरूपसे (केवलज्ञानरूपसे) परिणमित होते हुए केवलीभगवानके **[सर्वद्रव्यपर्यायाः]** सर्व द्रव्य-पर्यायें **[प्रत्यक्षाः]** प्रत्यक्ष हैं; **[सः]** वे **[तान्]** उन्हें **[अवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः]** अवग्रहादि क्रियाओंसे **[नैव विजानाति]** नहीं जानते।

टीका :- केवलीभगवान इन्द्रियोंके आलम्बनसे अवग्रह-ईहा-अवाय पूर्वक क्रमसे नहीं जानते, (किन्तु) स्वयमेव समस्त आवरणके क्षयके क्षण ही, अनादि, अनन्त, अहेतुक और असाधारण ज्ञानस्वभावको ही कारणरूप ग्रहण करनेसे तत्काल ही प्रगट होनेवाले केवलज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं; इसलिये उनके समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका अक्रमिक ग्रहण होनेसे समक्ष संवेदनकी (प्रत्यक्ष ज्ञानकी) आलम्बनभूत समस्त द्रव्य-पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं।

भावार्थ :- जिसका न आदि है और न अंत है, तथा जिसका कोई कारण नहीं और जो अन्य किसी द्रव्यमें नहीं है, ऐसे ज्ञान स्वभावको ही उपादेय करके, केवलज्ञानकी उत्पत्तिके बीजभूत शुक्लध्यान नामक स्वसंवेदनारूपसे जब आत्मा परिणमित होता है

तब उसके निमित्तसे सर्व घातीकर्मोंका क्षय हो जाता है और उस क्षय होनेके समय ही आत्मा स्वयमेव केवलज्ञानरूप परिणमित होने लगता है। वे केवलज्ञानी भगवान क्षायोपशमिक ज्ञानवाले जीवोंकी भाँति अवग्रह-ईहा-अवाय और धारणारूप क्रमसे नहीं जानते किन्तु सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको युगपत् जानते हैं। इसप्रकार उनके सब कुछ प्रत्यक्ष होता है।।२१।।

❋ दिनांक २३-१-१९७९ - प्रवचन नंबर-१७ ❋

`प्रवचनसार' २१वीं गाथा। '**अब, ज्ञान के स्वरूप का विस्तार और सुख के स्वरूप का विस्तार,...**` दो (अधिकार) लेंगे। यथार्थ ज्ञान (याने) केवलज्ञान क्या है? और पूर्ण सुख का स्वरूप क्या है ? उसका '**क्रमशः प्रवर्तमान,...**`(अर्थात्) पहले ज्ञानस्वरूप का विस्तार (करेंगे) तत् पश्चात् सुखस्वरूप का (विस्तार करेंगे) क्रम से परिवर्तित (का ऐसा अर्थ है)। अधिकार क्रम से परिवर्तित होकर (कहेंगे), हाँ ! (ज्ञान और सुख) क्रम से परिवर्तित ऐसा नहीं। (वे तो अक्रम से साथ ही वर्तते हैं) अधिकार में - पहले ज्ञान का अधिकार बाद में सुख का अधिकार (कहेंगे)। उस (अधिकार) द्वारा कहते है। '**इनमें से (प्रथम) अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप परिणमित होने से,...**` (अर्थात्) केवलज्ञानी भगवान अतीन्द्रिय ज्ञानरूप परिणमित होने से '**केवली भगवान को सब प्रत्यक्ष है यह प्रगट करते है :-**` आहा...! आत्मा की ज्ञानपर्याय (जिन्हें) पूर्ण प्रकट हो उन्हें सब कुछ प्रत्यक्ष है। ऐसा उनका सामर्थ्य है !

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जया।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं।।२१।।
प्रत्यक्ष छे सौ द्रव्यपर्यय ज्ञानपरिणमनारने।
जाणे नहीं ते तेमने अवग्रह-ईहादिक्रिया वडे।।२१।।

टीका : 'केवलीभगवान इन्द्रियों के आलम्बन से अवग्रह-ईवा-अवाय पूर्वक क्रम से नहीं जानते,...` **आहा..हा...**! तीनोंकाल के द्रव्य-गुण-पर्याय को इन्द्रियों के अवलम्बन द्वारा (जानते नहीं)। (यानी कि) प्रथम अवग्रह हो, बाद में विचारणा हो, बाद में निर्णय

हो - ऐसे क्रम से केवली भगवान जानते नहीं। आहा..हा...! `(**किन्तु**) **स्वयमेव समस्त आवरण के क्षय के क्षण ही,...**' समस्त घाती आदि आवरण के क्षण। घाती यानी ज्ञानावरणीय आदि। '**अनादि अनन्त,...**` अब केवलज्ञान कैसे उत्पन्न हुवा, सो कहते हैं। आहा..हा...! कि, '**अनादि अनन्त, अहेतुक और असाधारण ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप ग्रहण करने से,...**` `जयसेनाचार्य' (देव की टीका में) अनादि-अनंत आत्मा लिया है। यहाँ (अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका में) ज्ञान लिया है, कहने का तात्पर्य एक ही है।

भगवानआत्मा ! उसका जो ज्ञानस्वभाव अनादि अनंत है, आहा... ! वह अहेतुक (है)। उसका कोई हेतु नहीं है। असाधारण है। ऐसे ज्ञानस्वभाव को कारणरूप ग्रहने से (केवलज्ञान प्रकट हुवा है) आहा..हा...! जैसे नीचे (के गुणस्थान में) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में त्रिकाली आत्मा को कारणरूप ग्रहकर सम्यग्दर्शन और ज्ञान होता है। आहा..हा...! इस तरह इन केवलज्ञानी को पर के किसी भी अवलंबन के बिना त्रिकाली ज्ञानस्वभाव को कारणरूप ग्रहकर (केवलज्ञान प्रकट होता है)। आहा..हा...!

(यहाँ) ज्ञान लिया है। (क्योंकि) केवलज्ञान की उत्पत्ति की (बात) कहनी है न! शेष तो त्रिकाली द्रव्य को कारणरूप से ग्रहण करके (केवलज्ञान हुआ है)। एक ज्ञान अंदर भिन्न करना (है), ऐसा नहीं है। किंतु यहाँ पर केवलज्ञान (की) उत्पत्ति का कारण त्रिकाली ज्ञान(स्वभाव) है, ऐसा सिद्ध करने के लिये (ऐसा कहा है) '**असाधारण ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप ग्रहने से,...**` ऐसा (कहा है)। वैसे तो त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को ग्रहण करने से (हुआ है)। आहा..हा...! मगर यहाँ पर पूर्ण ज्ञान की पर्याय प्रकट होती है (इसलिए ज्ञानस्वभाव को कारणरूप ग्रहने से लिया है)। आहा..हा...!

जयसेनाचार्य (देव की) टीका में 'आत्मा` लिया है। '**अनाद्यनन्तमहेतुकं चिदानन्दैकस्वभावं निजशुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा**` दूसरी और है, पिछले पन्ने में है। आहा..हा...! वह तो सब एक ही है। वहाँ आत्मा लिया, यहाँ ज्ञान लिया है परंतु है तो एक ही बात। त्रिकाली आत्मा जो वस्तु है उसका ज्ञानस्वभाव त्रिकाली है, आहा..हा...! उसे कारणरूप ग्रहकर (केवलज्ञान प्रकट होता है) आहा..हा...! तब कोई फिर ऐसा कहतें हैं कि, कारणपरमात्मा और कारणज्ञानगुण तो ध्रुव है। ध्रुव को कैसे ग्रहण करें ? ऐसा कहते (है)। थोड़े समय पहले यह प्रश्न आया था । (कि) पर्याय को ग्रहण करें। कारणपरमात्मा

तो ध्रुव है। (उसे कैसे ग्रहण करें) ? परंतु यहाँ तो ग्रहनेवाली पर्याय है ना ! आहा..हा...!

अभी एक पंडितजी के लेख में था कि, कारणपरमात्मा (कहा है) उसमें द्रव्य को लेना। कारणसमयसार (मोक्षमार्ग की) पर्याय लेना और कार्यसमयसार वह केवलज्ञान की पर्याय लेना - ऐसा भी है। कारणसमयसार- मोक्षमार्ग-पर्याय (वह) कारणसमयसार (है) परंतु उस कारणसमयसार का कारण, त्रिकाल कारणसमयसार (स्वभाव) है। आहा..हा...! अनादि अनंत ज्ञायकभाव को जब लक्ष में कारणरूप ग्रहता है, वहाँ द्रव्यस्वभाव ही कारणरूप आ गया। समझ में आया ? आहा..हा...!

'**अनादि अनंत अहेतुक**,...' जो अनादि अनंत ज्ञानस्वभाव है उसका कोई हेतु नहीं होता। वस्तु का स्वभाव है उसे हेतु क्यों ? पर्याय उत्पन्न होती है, उसे भी हेतु नहीं है तो जो वस्तु त्रिकाल है - वह तो अहेतुक वस्तु रही है, आहा..हा...! ऐसे '**असाधारण ज्ञानस्वभाव को,...**' एक रूपी (जैसा) ज्ञान (है) ऐसा और दूसरा गुण नहीं है। ऐसे '**असाधारण ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप ग्रहण करने से,...**' केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण यह (ज्ञानस्वभाव) है। केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण व्यवहार रत्नत्रय, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, पंचमहाव्रत के परिणाम वे कारण नहीं है, आहा..हा...! इसे यहाँ सिद्ध करना है। भगवानआत्मा ! अरे...! भीतर में कौन है वह वस्तु? (उसे देखने का प्रयत्न तो करें) !

('प्रवचनसार') १०२ गाथा में लिया है न भाई ! कि, जिस समय में उत्पन्न हो उसी समय में नाश होता है और उसी समय ध्रुव (रहता है)। ऐसे तो द्रव्य में विरोध आता है। पहले ऐसी शंका की है ना भाई ! १०२ गाथा। जिस समय जन्मक्षण है, उसी समय व्ययक्षण (है) और उसी समय ध्रुवक्षण - द्रव्यक्षण है। यह तो विरोध हुआ। मगर विरोध तो (तब आता है कि) यदि द्रव्य का जो जन्मक्षण है, उसी द्रव्य का नाशक्षण हो और उसी द्रव्य की ध्रुवक्षण हो, ऐसा हो तब विरोध आता है। किंतु समय - समय की पर्याय है वह (उसके जन्म) क्षण में उत्पन्न है और वही क्षण नाश का क्षण - नाश का क्षण और वही समय ध्रुव का क्षण (है)। यहाँ तो तीन पर्याय लेनी है न ! भाई ! आ..हा..हा...!

जिस समय जो पर्याय उत्पन्न होनेवाली है वही उसका जन्मक्षण - उत्पत्ति का काल है। अब यहाँ उत्पत्ति के काल में केवलज्ञान की उत्पत्ति का काल है। किंतु

वह त्रिकाली ज्ञायक को ग्रहण करने से उत्पत्ति (होती) है, ऐसा सिद्ध हुआ। आगे १०१ (गाथा में) तो ऐसा आयेगा कि पर्याय उत्पन्न हो उसे ध्रुव की अपेक्षा नहीं है। १०१ ! यहाँ दूसरी अपेक्षा है। वहाँ तो ऐसा इसलिए कहा कि एक-एक समय की पर्याय उत्पाद, व्यय और ध्रुव स्वतंत्र है - सत् है। यहाँ तो अभी शरूआत करते हैं कि, केवलज्ञान की पर्याय की उत्पत्ति आ..हा..हा...! त्रिकाली ज्ञायक को (ग्रहण करने से होती है)। ज्ञायकभाव कहो चाहे ज्ञानस्वभाव कहो, उसे कारणरूप में ग्रहण करने से (केवलज्ञान की पर्याय उत्पन्न होती है)। मगर कारणरूप ग्रहण कौन करता है ? (तो कहते हैं), पर्याय ! समझ में कुछ आया ?

हाल में एक प्रश्न किसी पंडित का आया था कि, 'कारण त्रिकाली को कारण नहीं कह सकते!' आहा..हा...! अरे..रे...!

यहाँ कहते है कि भाई ! किस अपेक्षा से (बात चलती) है ? ज्ञानस्वभाव अनादि अनंत अहेतुक त्रिकाली वस्तु है। उसका (पर्याय) आश्रय करती है। पर्याय स्वतंत्ररूप से कर्ता होकर उसका आश्रय करती है। आ..हा..हा...! समझ में आया ? 'उसे कारणरूप ग्रहकर' ऐसा कहा (गया)। किंतु कारणरूप ग्रहण किया किसने ? कि, केवलज्ञान की पर्याय ने त्रिकाली ज्ञायक को कारणरूप ग्रहण किया, ऐसा कहने में आया। आ..हा..हा...! है ऐसी बात ! यह तो है सो है। (यानी) द्रव्य जो है सो है और ज्ञानस्वभाव त्रिकाल है सो है। उसमें कुछ इधर-उधर (या) फेरफार चले नहीं। किंतु उसको जिसने ग्रहण किया (वह पर्याय है), आ..हा..हा...!

उस पर्याय ने '**असाधारण ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप ग्रहण करने से तत्काल ही प्रगट होनेवाले,...**' अर्थात् शुक्लध्यान की पर्याय ने त्रिकाल को कारणरूप ग्रहण किया है। आ..हा..हा...! समझ में आया ? इसलिए '**तत्काल ही प्रगट होनेवाले केवलज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते है;...**' आहा...! जैसे भगवानआत्मा ! त्रिकाली ज्ञानस्वभाव को कारणरूप ग्रहकर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की पर्याय प्रकट होती है, वह अल्प पर्याय की बात है। नीचे भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान (त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को ग्रहण करने से प्रगट होता है)। उसमें सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्ष है। सम्यग्ज्ञान है - मतिश्रुत है, वह प्रत्यक्ष है। उसे किसी राग और मन के अवलंबन की जरूरत नहीं है। वह (सम्यक्) मतिज्ञान त्रिकाल द्रव्य के आश्रय से होता है। यहाँ पर ऐसा

कहते है कि, त्रिकाली ज्ञायकभाव अहेतुक है। उसके आश्रय से केवलज्ञान होता है। उसे कारणरूप ग्रहण करने से केवलज्ञान होता है। ऐसा है ! आहा...! समझ में आया कुछ ! आहा..हा...!

'(**कारणरूप**) **ग्रहण करने से तत्काल ही प्रगट होनेवाले...**' आ..हा..हा...! स्वभाव तो ज्ञायक...ज्ञायक...ज्ञायक...ज्ञायक...ज्ञायक..ज्ञायक... एकरूप ज्ञानस्वभाव सदृश्य ध्रुव अनादि अनंत (है)। जिसका कोई हेतु नहीं। द्रव्य को क्या हेतु हो ? त्रिकाली गुण को भी क्या हेतु हो ? आहा..हा...! वर्तमान पर्याय उत्पन्न होती है उसे भी सिद्ध करने के लिए जब (ऐसा कहा कि) उसे भी द्रव्य की - ध्रुव की अपेक्षा नहीं है। आहा..हा...! तो यहाँ पर त्रिकाली भगवानआत्मा (को किस का हेतु होगा) ? अलौकिक बाते हैं भाई ! आहा..हा...!

'भूतार्थ को परिग्रहण करने से...' ऐसा आया न ? आज सुबह आया था, भाई! 'भूतार्थ' सुबह में आया था - 'भूतार्थ परिग्रहण' आहा..हा...! कलश ५५ में आया था। और थोड़ा लेने के लिये बाकी रखा है। आहा..हा...! त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को परिग्रहण नाम उसे अनुभव में लेने से जो कुछ सम्यग्दर्शन - ज्ञान होता है, वह अब वापिस गिरेगा नहीं। आ..हा..हा...! समझ में आया ? भगवानआत्मा ! द्रव्य और गुणरूप जो ध्रुव है, उसका जिस - पर्याय ने आश्रय (किया) यानी कि लक्ष किया, उसको उसने ज्ञान में ग्रहण किया (ऐसा कहने में आता है)। उसे ग्रहण करने से उसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान (यानी कि) धर्म की पहली सीढ़ी इस तरह उत्पन्न होती है।

(यहाँ) कहते हैं कि केवलज्ञान की उत्पत्ति में आ..हा..हा...! पूर्ण ज्ञान की उत्पत्ति में पूर्ण ध्रुव जो अहेतुक त्रिकाली असाधारण (ज्ञानस्वभाव को) शुक्लध्यान की पर्याय में कारणरूप ग्रहण करने से तुरंत ही केवलज्ञान प्रकट होता है। आ..हा..हा...! हालाँकि यह (स्वरूप को) कारणरूप ग्रहण करने वाला ऐसा जो शुक्लध्यान (है), उससे केवलज्ञान होता है, ऐसी अपेक्षा से यहाँ समझाना है। समझ में आया ? वरना वैसे तो जो शुक्लध्यान की पर्याय है, उसका व्यय होता है और त्रिकाली भावस्वरूप भगवान (आत्मा) जो त्रिकाली नित्यानंद प्रभु (है) उसके आश्रय से केवलज्ञान होता है। किंतु यहाँ समझाना यों चाहते है कि राग से, दया-दान के विकल्प से केवलज्ञान होता नहीं। त्रिकाली

ज्ञान के आश्रय से केवलज्ञान होता (है)। ऐसा सिद्ध करना है। आ..हा..हा...!

उस समय '**तत्काल ही प्रगट होनेवाले...**' (ऐसा कहा न ?) शक्तिरूप से तो केवलज्ञान था, स्वभावरूप केवलज्ञान है, आ..हा..हा...! उसे इस तरह कारणरूप से जब पर्याय पकड़ती है (तब तुरंत ही केवलज्ञान होता है)। यह (स्वभाव) जो है सो है। किंतु वर्तमान पर्याय उसे पकड़ती है (और) तुरंत ही उसे केवलज्ञान होता है। समझ में आया? केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण शुक्लध्यान और शुद्ध उपयोग की परिणति (है) - ऐसा सिद्ध करना है, भाई ! वरना वास्तव में तो केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण द्रव्यस्वभाव है। वास्तव में उससे (उत्पन्न हुआ है)। उत्पत्ति का कारण (वह है)। केवलज्ञान की उस समय उत्पत्ति हुई उसका कारण और कार्य वह है। आ..हा..हा...! समज में आया ? बापू ! मार्ग यह तो (सूक्ष्म है)। आ..हा..हा...!

चैतन्य भगवान ! आ..हा..हा...! एक-एक गुण - उसमें अनंत गुणों के रूप ! ओ..हो..हो...!! वह भी पूर्ण रूप (है)। ज्ञान में अस्तित्व का रूप कम है, ऐसा नहीं। वह अस्तित्व का रूप (और दूसरे) अनंत गुण का रूप (पूर्ण) है। वह वस्तु पूर्ण है, गुण पूर्ण है (तथा) अन्य-अन्य गुणों में उनका रूप भी पूर्ण है, ओ..हो..हो...!! ऐसा जो ज्ञानस्वभाव उसमें अनंत गुणों का रूप है। ऐसे ज्ञानस्वभाव को कारणरूप पकड़ने से तुरंत ही प्रकट हुए केवलज्ञानरूप आत्मा परिणमता है। आ..हा..हा...!

श्रोता :- ग्रहने से यानि इसका मतलब ज्ञान को जानने से - ऐसा है ?

समाधान :- वह पर्याय खुद ग्रहण करती (है) यानि कि उसे लक्ष करती है - उसे ध्येय बनाती है। आ..हा..हा...! ध्यान के विषय का वह ध्येय है। शुक्लध्यान की पर्याय का वह द्रव्य (यानी कि) असाधारण त्रिकाली ज्ञानस्वभाव वह ध्येय है, आ..हा..हा...!

धन्यकाल ! आ..हा..हा...! पंचम काल के प्राणी को भी इस तरह समझाते हैं ! इस पंचम काल के प्राणी को समझाते हैं या चौथे काल के ? आ..हा..हा...! भगवान तेरी शक्ति इतनी है। प्रभु ! आ..हा..हा...! कि जब तूने आत्मा को सम्यग्दर्शन में भी कारणरूप-आश्रयरूप ग्रहण किया तब तुझे सम्यग्दर्शन - ज्ञान हुआ (और) अब आगे भी (यानी कि) अभी भले ही (केवलज्ञान) न हो, किंतु जब केवलज्ञान होगा और जिसे हुआ है - उसे (भी) त्रिकाली ज्ञायक के आश्रय से - ज्ञान के आश्रय से वह होता है। वज्रनाराच संहनन है, मनुष्यपना है, भगवान की वाणी सुनने मिली

है, इसलिए केवलज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। आ..हा..हा...! अरे..रे...! पंचम काल के प्राणियों को भी संतों इस तरह कहते हैं कि जिसे अभी केवलज्ञान होनेवाला नहीं है ऐसा काल है। फिर भी कहते हैं कि केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण यह (ज्ञायकभाव) है, ऐसा तू निश्चय रखना ! समझ में आया ! आ..हा..हा...! बहुत क्रिया करू, दया पालू, व्रत करू, भक्ति करू, उनसे केवलज्ञान होगा - ऐसी सोच-विचार छोड देना ! आ..हा..हा...! आज साधु आये थे न ! वे राजकोट में कहते थे कि, `पुण्य हेय है ऐसा नहीं कहना चाहिए !' अरे प्रभु! क्या करते हो ? भाई...!

यहाँ तो (कहते है) कि शुक्लध्यान की पर्याय भी व्यय होती है तभी केवलज्ञान उत्पन्न होता है। आ..हा..हा...! इतना अभी यहाँ सिद्ध करना है कि केवलज्ञान परिणित होता है उसे अवग्रह-ईहा के क्रमिक क्रिया की जरूरत नहीं है। वह तो एकसाथ एकदम अक्रम से होता है। आ..हा..हा...! जैसे मति-श्रुत ज्ञान में सुने - पकड़े - सोचे - निर्णय करे, तब उसे ज्ञान होता है, वैसा इसमें (केवलज्ञान में) नहीं है, आ..हा..हा...!

`**केवलज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं,...**' भाषा (देखी) ? उपयोगरूप होकर परिणमित होता है। स्वभाव में जो केवलज्ञान था (वह उपयोगरूप होकर परिणमित होता है) केवलज्ञान यानी कि अकेला ज्ञानस्वभाव त्रिकाल अहेतुक (है) उसे ग्रहने से पर्याय में केवलज्ञान उपयोगरूप होकर परिणित होता है। आ..हा..हा...!

`**इसलिए उनके समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का अक्रमिक ग्रहण होने से,...**' आ..हा..हा...! अनादि अनंत द्रव्य का, अनादि अनंत आकाश आदि क्षेत्र का, अनादि अनंत काल का, अनादि अनंत उसके भाव का (अक्रमिक ग्रहण होता है)। आ..हा..हा...! अक्रमिक (यानी कि) एक समय में साथ-साथ। `**ग्रहण होने से समक्ष संवेदन की (प्रत्यक्ष ज्ञान की) आलंबनभूत समस्त द्रव्य-पर्यायें प्रत्यक्ष ही है।**' आ..हा..हा...! `**ज्ञान को आलंबनभूत,...**' (यानि जो) निमित्त तीनलोक - तीनकाल। (समस्त) द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव। उसे आलंबन (यानि) निमित्तरूप (है)। वे सभी द्रव्य जिन्हें निमित्तरूप हैं (वे) उसे प्रत्यक्ष हो जाते हैं। आ..हा..हा...! यहाँ नीचे (छद्मस्थ अवस्था में) जानते है वह इन्द्रिय द्वारा जानता नहीं है किंतु उसके ज्ञान में इन्द्रिय निमित्तरूप है। वरना वैसे जानती तो है ज्ञान की पर्याय ! किंतु उसे (इन्द्रियाँ) निमित्तरूप है उसका लक्ष वहाँ जाता है, इसलिए वहाँ निमित्तरूप है। (यहाँ) अतिन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न होने में किसी

प्रकार की अपेक्षा है नहीं। आ..हा..हा...!

यहाँ मोक्षतत्व की श्रद्धा कराते हैं। नौ तत्वो में केवलज्ञान - मोक्ष है न ! तो नौ तत्वो में मोक्ष तत्व की मोक्ष पर्याय - केवलज्ञान (की पर्याय) कैसी हो ? आ..हा..हा...! उनका उसे ज्ञान और श्रद्धा कराते हैं। यहाँ निष्प्रयोजनरूप से बात नहीं (की)। (किसे ऐसा लगे कि) पंचम काल के जीव को केवलज्ञान नहीं है फिर भी ऐसी बातें करना! (तो कहते है) उसे मोक्ष तत्व कैसा हो - केवलज्ञान तत्व (कैसा हो) उनकी श्रद्धा कराते हैं। कुछ समझ में आया ?

क्योंकि एक पंडितजी ऐसा कहते थे कि, `केवलज्ञान यानि कि वर्तमान में जो कोई उत्कृष्ट द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जाने वह केवल(ज्ञान)। तीनकाल को केवलज्ञान जाने, सो (बात) नहीं। वे ललितपुर में मिले थे। आ..हा..हा...! (यह बात) उन्हें विश्वास नहीं। आ..हा..हा...! एक समय में तीनकाल तीनलोक (जाने), कैसे स्वीकार में आये... ? समय एक और जिसके काल की आदि नहीं, द्रव्य की आदि नहीं, क्षेत्र की-आकाश की आदि नहीं। द्रव्य-क्षेत्र का अंत नहीं। इस तरफ क्षेत्र का अंत नहीं, काल से अंत नहीं (और) क्षेत्र से अंत नहीं, आ..हा..हा...! उन सभी को अक्रमिक एक समय में जाने ! (सिर्फ) वर्तमान में (उत्कृष्ट) सभी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जाननेवाला वह केवली, ऐसा नहीं। समझ में आया? तीसरे वर्ष ३२ साल पहले यहाँ सभी पंडित इकट्ठे हुए थे। तब एक चर्चा चली थी। वह एक पंडित को सम्मत नहीं होती थी। सफेद पर्याय हो उनकी दूसरे समय में लाल (पर्याय) भी हो जाय।यह (चर्चा चली) थी। परमाणु की काली पर्याय दूसरे समय में लाल हो जाय। वह स्वतंत्र है। आ..हा..हा...! समझ में आया ? रंग (गुण) जो परमाणु में हमेशा रहते हुए भी उनकी वर्तमान एक समय की पर्याय काली हो (और) दूसरे समय में सफेद हो जाय ! आ..हा..हा...! यह उनको जँचा नहीं। ऐसी चर्चा हुई थी।

यहाँ कहते है कि पहले समय में हो चार ज्ञान की (अल्प) पर्याय और दूसरे समय हो जाय केवलज्ञान ! यह त्रिकाली अखंडानंद नाथ को जहाँ अंदर में पकड़ा... आ..हा..हा...! पर्याय ने भगवान पूर्णानंद को जहाँ पकड़ा... आ..हा..हा...! (यानी कि) ध्येय में लिया, वर्तमान ज्ञान की पर्याय में उसे ज्ञेय (बनाया), पुर्ण ज्ञान को ज्ञेय बनाया. आ..हा..हा...! उनकी पर्याय में तुरंत ही केवलज्ञान परिणमता है, ऐसा कहना

(है)। आ..हा..हा...!

`**समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का अक्रमिक ग्रहण होने से,...**' (यहाँ) ग्रहण माने जानते हुए ग्रहण है न ! (यानी) जानता होने से (ऐसे समझना)। ऊपर में भी ऐसा समझना। `**असाधारण ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूपग्रहण करने से,...**' याने कारणरूप जानने से (ऐसा समझना)। आ..हा..हा...! `(**समक्ष संवेदन की**) (**प्रत्यक्ष ज्ञान की**)...' समक्ष याने प्रत्यक्ष (तथा) संवेदन याने ज्ञान। उसे `**आलंबनभूत,...**' याने जो सभी निमित्त थे वे। `**समस्त द्रव्य-पर्यायें प्रत्यक्ष ही है।**' (यानी कि) जानता है, आ..हा..हा...! उन्हें प्रत्यक्ष जानता है, आ..हा..हा...! ऐसा ही द्रव्य का - पर्याय का - केवलज्ञान का स्वभाव है।

भविष्य की पर्यायें हुई नहीं है उन्हें भी वर्तमान में प्रत्यक्ष जानते हैं। तब किसी को ऐसा लगे कि (जो पर्याय) हुई नहीं है उसे ज्ञान जानता है, यह तो खोटा ज्ञान हुआ, (किंतु) ऐसा नहीं है। वहाँ जिस समय में जो पर्याय होनी है वह अस्तिरूप है, वैसे ही ज्ञान जानता है। वह (पर्याय) नहीं है और जानते है, ऐसा नहीं है। (वह पर्याय) है - जिस समय में है उसे वे उस प्रकार जानते हैं, आ..हा..हा...!

इस जीव को कुछ जन्मो के बाद केवलज्ञान होगा ऐसा भगवान पहले से जानते हैं या नहीं ? केवलज्ञान (वरना वर्तमान में) है नहीं। आ..हा..हा...!

श्रोता :- अभी तो वह जीव निगोद में हो।

पूज्य गुरूदेवश्री :- (फिर भी) जानते है, आ..हा..हा...! (यह) जीव निगोद में है वह तीर्थंकर होगा और वह जीव दो-तीन-चार जन्मो में केवलज्ञान प्राप्त करेगा। वह अभी `है' नहीं किंतु फिर भी `है' इस तरह जानते हैं ! आ..हा..हा...!

उस स्वभाव की क्या महिमा (हों) ! आ..हा..हा...! जहाँ स्वभाव समुंदर उछलता है !! आ..हा..हा...! एक ज्ञानस्वभाव में अनंत गुण का रूप ऐसा एक (ज्ञान)गुण! आ..हा..हा...! ऐसे गुण को - त्रिकाली को - अहेतुक को जानने से, ग्रहण करने से, अर्थात् जानने से तुरंत ही केवलज्ञान प्रकट होता है, आ..हा..हा...! ऐसी प्रतीति और श्रद्धा कर ! केवलज्ञानरूप मोक्षतत्व की इस तरह श्रद्धा कर ! समझ में आया? आ..हा..हा...!

भावार्थ :- `**जिसका न आदि है,...**' वस्तु है - द्रव्य और यह ज्ञान, उसे आदि क्या ? `**न अंत है**...' (यानी कि) भविष्य में नाश नहीं (या) छोर नहीं। आ..हा..हा...!

`**तथा जिसका कोई कारण नहीं,...**' (टीका में) अहेतुक कहा था न ? अनादि, अनंत और अहेतुक तीन की व्याख्या करते हैं।

भगवानआत्मा का जो त्रिकाली ज्ञानस्वभाव (है) उस ज्ञानस्वभाव को कोई आदि नहीं, कोई अंत नहीं, उस ज्ञानस्वभाव का कोई कारण-हेतु नहीं, आ..हा..हा...! ऐसा ज्ञानस्वभाव...! आ..हा..हा...! `**और जो अन्य किसी द्रव्य में नहीं है,...**' आ..हा..हा...! जो ज्ञानस्वभाव यहाँ है वह अन्य कोई द्रव्य में नहीं। `**और जो अन्य किसी द्रव्य में नहीं है, ऐसे ज्ञानस्वभाव को,...**' आ..हा..हा...! `**ही उपादेय करके,...**' आदि-अंत रहित खुद का स्वभाव, किसी द्रव्य में नहीं ऐसा उनका स्वभाव ! आ..हा..हा...! उसको उपादेय करके (माने) उसको आदर करके, उसको ग्रहण करके, उसको जानकर (और) उसको उपादेय करके। (ऐसे) तीन वचन लिए। आ..हा..हा...

त्रिकाली अहेतुक आदि अंत रहित, पर द्रव्य में नहीं ऐसा स्वद्रव्य का जो ज्ञान (स्वभाव) उसे ग्रहण करके, उसे जान के, उसे उपादेय करके (ऐसे) तीन शब्द लिए। आहा..हा...! भाई ! ए कोई कहानी नहीं, आ..हा..हा...! यह तो भगवत् स्वरूप आत्मा! उसकी यह पारायण है ! आ..हा..हा...! सत्नारायण की कथा है न ! उसमें ऐसा कहते हैं कि जो यहाँ आए और बिना प्रसाद लिए जाए तो उसे नुकसान होगा, उसके जहाज़ डूब जाएँगे - ऐसा उसमें आता है न ! बिना प्रसाद के गया तो जहाज़ डूब गया। यहाँ कहते हैं कि जो बात कहते हैं, आ..हा..हा...! उसकी श्रद्धा का प्रसाद नहीं लेगा...आ..हा..हा...! (तो) उसके जहाज़ डूब जाएँगे, वह संसार में भटकेगा। आ..हा..हा...! उसे श्रद्धा का प्रसाद ले लेना चाहिए। आ..हा..हा...!

(यहाँ कहते हैं) `**केवलज्ञान की उत्पत्ति के बीजभूत,...**' (यह) `जयसेन आचार्य' की टीका में से (लिया है)। `**केवलज्ञान की उत्पत्ति के बीजभूत शुक्लध्यान नामक स्वसंवेदनज्ञानरुप से,...**', स्वसंवेदन (माने) स्व स्व से (स्व को अनुभव करे ऐसा) वेदन (रूप) ज्ञान में `**जब आत्मा परिणमित होता है तब उसके निमित्त से,...**' आ..हा..हा...! (यहाँ पर शुक्लध्यान को) कारण बताना है न ! (इसलिए उसके निमित्त से ऐसा कहा)। `**उसके निमित्त से सर्व घातीकर्मों का क्षय हो जाता है,...**' आ..हा..हा...! निमित्त से (कहने पर) घातीकर्म की अवस्था क्षय होने का उसका काल था (इसलिए) क्षय हुआ। यह (शुक्लध्यान) तो निमित्त कहा। आ..हा..हा...! (कोई ऐसा कहे कि देखो!

यह निमित्त आया !) निमित्त (है) इसलिए यहाँ पर घाती (कर्मो का) नाश हुआ कि नहीं ? किंतु यह तो बताया है कि, निमित्त (ऐसा हो)। (वैसे तो उस काल में कर्म के परमाणु का अकर्मरूप परिणमने का वैसा काल है। आ..हा..हा...! वह घातीकर्म के परमाणु के क्रम में ऐसा आया था कि वह (कर्मरूप) पर्याय का अभाव हो। वेसा उसके क्रम में आया था। उसे इस (शुक्लध्यान के) निमित्त ने नाश किया, ऐसा कहने में (आता है)। ऐसी बात...! भाई !

`घातीकर्मों का क्षय हो जाता है और उस क्षय होने के समय ही आत्मा स्वयमेव केवलज्ञानरूप परिणमित होने लगता है।**' यह भाषा समझ में आई ? `जयसेनाचार्यदेव' की संस्कृत टीका में है, देखो! **`शुक्लध्यानसंज्ञेन रागादिविकल्पजालरहितस्वसंवेदनज्ञानेन यदायमात्मा परिणमति, तदा स्वसंवेदनज्ञानफलभूतकेवलज्ञानपरिच्छित्त्याकारणपरिणतस्य तस्मिन्नेव क्षणे क्रमप्रवृत्तक्षायोपशमिकज्ञानाभावादक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया सर्वद्रव्यगुणपर्याया अस्यात्मनः प्रत्यक्षा भवन्तीत्यभिप्रायः।।' बहुत सरल भाषा है, आ..हा..हा...! उस समय आत्मा स्वयमेव (केवलज्ञानरूप परिणमने लगता है)। घातीकर्मो का क्षय हुआ उसकी भी जिसे अपेक्षा नहीं। उस समय वह केवलज्ञान की पर्याय उत्पन्न (होने का) अवसर है और समय है। आ..हा..हा...! **`केवलज्ञानरूप परिणमित होने लगता है। वे केवलज्ञानी भगवान,...**' आ..हा..हा...! पंचमकाल के प्राणी को यह मोक्ष की बातें क्यों करते है ? किंतु नौ तत्वो में मोक्षतत्व क्या है वह उसे श्रद्धा में लाना तो पड़ेगा कि नहीं ? मोक्षतत्व भले ही उसे (अभी) प्रकट न हो किंतु मोक्ष ऐसा हो, केवलज्ञान की उत्पत्ति ऐसी हो - ऐसा उसे श्रद्धा में तो लाना पड़ेगा कि नहीं? आ..हा..हा...!

**`वे केवलज्ञानी भगवान क्षायोपशमिक ज्ञानवाले जीवों की भाँति अवग्रह-ईहा-अवाय और धारणारूप क्रम से नहीं जानते,...**' आ..हा..हा...! `मोक्षमार्ग प्रकाशक' में तो आठ कर्म की बात ली है ना ! वहाँ यह लिया है कि, `ज्ञानावरणीय के क्षय से ऐसा होता है, क्षयोपशम से ऐसा होता है !' (वहाँ तो) निमित्त (का स्वरूप) समझाना है न ! `अंतराय कर्म से दान देने का भाव न होना !' वह तो उसकी स्व की पर्याय का स्वकाल है। तब उसे - कर्म निमित्त कहलाता (है)। ऐसी बातें भी कठीन लगे। आ..हा..हा...!

जिसे भीतर जरूरत हो, भव भय का ड़र (हो) (कि) अरे..रे...! (मेरा) जन्म कहाँ होगा ? भाई! आ..हा..हा...! यहाँ से कहाँ जाएगा ? प्रभु ! अनजान क्षेत्र में, अनजान समय में कहाँ जाएगा तू ! यदि सम्यग्दर्शन और ज्ञान नहीं किया - अरे...! उसके संस्कार (भी) नहीं डाले (तो) उसे चौरासी के अवतार में कहाँ जाना है ? भाई ! आ..हा..हा...! यहाँ भरापूरा परिवार छोडकर, पाँच-पचास लाख, करोड़-दो करोड़ रुपया छोड़, कोठी ५०-५० लाख की छोड़कर लहसून में पैदा होगा ! आ..हा..हा...! तिर्यंच के गर्भ में पैदा हो, बापू ! आ..हा..हा...! ऐसा जिसे भव का भय और डर लगा हो... भले ही स्वर्ग में जन्म ले फिर भी वह भव कलंक है। आ..हा..हा...! स्वर्ग के भव भी कलंक है, आ..हा..हा...! ऐसे भव के कलंक का जिसे डर लगा है, उसे इन नौ तत्वो में केवलज्ञान-मोक्षतत्व ऐसा होता है, वह समझना पड़ेगा, बापू ! आ..हा..हा...! समझ में आया ? आहा...!

नौ तत्व की (श्रद्धा को सम्यग्दर्शन) कहा है न ! `मोक्षमार्ग प्रकाशक' में और (दूसरी जगह) नौ तत्व की श्रद्धा (वह सम्यग्दर्शन) ऐसा बहुत जगह कहा है। यहाँ भले ही एक आत्मा की (श्रद्धा) ली है। वैसे तो (ऐसे) चार प्रकार लिए हैं न ! देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, भेदज्ञान से, एक आत्मा से - ऐसे सभी प्रकार लिए हैं। किंतु उसका निष्कर्ष तो आत्मा का आश्रय लेना ही है। आ..हा..हा...! भगवान पूर्णानंद का नाथ ! चैतन्य चमत्कारी प्रभु ! पड़ा है। उसकी तरफ दृष्टि देने के लिए यह सभी श्रद्धा की बातें है। समझ में आया...?

(यहाँ कहते हैं) ऐसे (क्षायोपशमिक ज्ञानवाले) जीवों की तरह भगवान अवग्रह-ईहा-अवाय धारणारूप क्रम से जानते नहीं। यूं तो क्रम से जाननेवाले की पर्याय भी उस समय स्वतंत्र (होती) है। समझ में आया ? किंतु क्रम से जानता है, इसका (भगवान का) पर्याय अक्रम से (जाने) वह भी स्वतंत्र है, आ..हा..हा...! `**किंतु सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को युगपत् जानते हैं;...**' (अर्थात्) एक समय में जानते हैं, आ..हा..हा...! `**इस प्रकार उनके सब कुछ प्रत्यक्ष होता है।**' भगवान को सब कुछ प्रत्यक्ष (वर्तता है)। वैसा ही तेरा स्वभाव है। उसमें से केवलज्ञान प्रकट होता है। आहा..हा...! यह २१ (गाथा पूरी) हुई।

अथास्य भगवतोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वादेव न किंचित्परोक्षं भवतीत्यभिप्रैति -

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स।।२२।।

नास्ति परोक्षं किंचिदपि समन्ततः सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य।
अक्षातीतस्य सदा स्वयमेव हि ज्ञानजातस्य।।२२।।

अस्य खलु भगवतः समस्तावरणक्षयक्षण एव सांसारिकपरिच्छित्तिनिष्पत्तिबलाधानहेतुभूतानि प्रतिनियतविषयग्राहीण्यक्षाणि तैरतीतस्य, स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छेदरूपैः समरसतया समन्ततः सर्वैरेवेन्द्रियगुणैः समृद्धस्य, स्वयमेव सामस्त्येन स्वपरप्रकाशनक्षममनश्वरं लोकोत्तरज्ञानजातस्य, अक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया न किंचनापि परोक्षमेव स्यात्।।२२।।

अथ सर्वं प्रत्यक्षं भवतीतत्यन्वयरूपेण पूर्वसूत्रे भणितमिदानीं तु परोक्षं किमपि नास्तीति तमेवार्थं व्यतिरेकेण दृढयति – **णत्थि परोक्खं किंचि वि** अस्य भगवतः परोक्षं किमपि नास्ति। किंविशिष्टस्य। **समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स** समन्ततः सर्वात्मप्रदेशैः सामस्त्येन वा स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छित्तिरूपसर्वेन्द्रियगुणसमृद्धस्य। तर्हि किमक्षसहितस्य। नैवम्। **अक्खातीदस्स** अक्षातीतस्येन्द्रियव्यापाररहितस्य, अथवा द्वितीयव्याख्यानम्–अक्ष्णोति ज्ञानेन व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा तद्गुणसमृद्धस्य। **सदा** सर्वदा सर्वकालम्। पुनरपि किंरूपस्य। **सयमेव हि णाणजादस्स** स्वयमेव हि स्फुटं केवलज्ञानरूपेण जातस्य परिणतस्येति। तद्यथा–अतीन्द्रियस्वभावपरमात्मनो विपरीतानि क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानीन्द्रियाण्यतिक्रान्तस्य जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्प्रत्यक्षप्रतीतिसमर्थमविनश्वरमखण्डैकप्रतिभासमयं केवलज्ञानं परिणतस्यास्य भगवतः परोक्षं किमपि नास्तीति भावार्थः ।।२२।।

अब, अतीन्द्रिय ज्ञानरूप परिणमित होनेसे ही इन भगवानको कुछ भी परोक्ष नहीं है, ऐसा अभिप्राय प्रगट करते हैं :-

गाथा २२

न परोक्ष कँइ पण सर्वतः सर्वाक्षगुण समृद्धने।
इन्द्रिय-अतीत सदैव ने स्वयमेव ज्ञान थयेलने।।२२।।

अन्वयार्थ :- **[सदा अक्षातीतस्य]** जो सदा इन्द्रियातीत हैं, **[समन्ततः सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य]** जो सर्व ओरसे (सर्व आत्मप्रदेशोंसे) सर्व इन्द्रिय गुणोंसे समृद्ध हैं **[स्वयमेव हि ज्ञानजातस्य]** और जो स्वयमेव ज्ञानरूप हुए हैं, उन केवलीभगवानको **[किंचित् अपि]** कुछ भी

[परोक्षं नास्ति] परोक्ष नहीं है।

टीका :- समस्त आवरणके क्षयके क्षण ही जो (भगवान) सांसारिक ज्ञानको उत्पन्न करनेके बलको कार्यरूप देनेमें हेतुभूत ऐसी अपने अपने निश्चित विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंसे अतीत हुए हैं, जो स्पर्श, गंध, वर्ण और शब्दके ज्ञानरूप सर्व इन्द्रिय-गुणोंके द्वारा सर्व ओरसे समरसरूप से समृद्ध हैं (अर्थात् जो भगवान स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्दको सर्व आत्मप्रदेशोंसे समानरूपसे जानते हैं) और जो स्वयमेव समस्तरूपसे स्वपरका प्रकाशन करनेमें समर्थ अविनाशी लोकोत्तर ज्ञानरूप हुए हैं, ऐसे इन (केवली) भगवानको समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका अक्रमिक ग्रहण होनेसे कुछ भी परोक्ष नहीं है।

भावार्थ :- इन्द्रियका गुण तो स्पर्शादिक एक-एक गुणको ही जानना है, जैसे चक्षुइन्द्रियका गुणरूपको ही जानना है अर्थात् रूपको ही जाननेमें निमित्त होना है। और इन्द्रियज्ञान क्रमिक है। केवलीभगवान इन्द्रियोंके निमित्तके बिना समस्त आत्मप्रदेशोंसे स्पर्शादि सर्व विषयोंको जानते हैं, और जो समस्तरूपसे स्व-पर प्रकाशक है ऐसे लोकोत्तर ज्ञानरूप (लौकिकज्ञानसे भिन्न केवलज्ञानरूप) स्वयमेव परिणमित हुआ करते हैं; इसलिये समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावको अवग्रहादि क्रम रहित जानते हैं इसलिये केवली भगवानके कुछ भी परोक्ष नहीं है।।२२।।

`अब, अतीन्द्रिय ज्ञानरूप परिणमित होने से,...'** भगवान इन्द्रियातीत अतीन्द्रिय ज्ञानरूप होने से, **`इन भगवान को कुछ भी परोक्ष नहीं है,...' (यानी कि) पर्याय हुई नहीं इसलिए उन्हें परोक्ष है, (पर्याय) बीत चुकी है वह वर्तमान (में) नहीं इसलिए परोक्ष है, ऐसा नहीं। आ..हा..हा...! मोक्षतत्व की - केवलज्ञान की पर्याय इतनी हो ! आ..हा..हा...! कि जिन्हें कुछ भी परोक्ष नहीं। कुछ लोग तो ऐसा कहते है `कि भविष्य की पर्याय नहीं है और वर्तमान (में) प्रत्यक्ष है ऐसा जाने तो (वह) ज्ञान झूठा हुआ !' आहा..हा...! ऐसा नहीं, भाई ! केवलज्ञान में तो जहाँ जिस वक्त (होनेवाली) उसी तरह वहाँ जानने में आती है, आहा..हा...! जिस समय वहाँ (भविष्य में) होगी और जिस समय वहाँ (भूतकाल में) हो गई, वेसे ही ज्ञान में जानने में आता है। आ..हा..हा...! यह तो कोई बात है ! आहा..हा...!

अनंत - अनंतकाल पश्चात् (दूसरे पदार्थो की) पर्याय होगी, अरे...! स्व की पर्याय

भी अनंतकाल पश्चात् (जो) होगी, आ..हा..हा...! उसे वर्तमान में (केवलज्ञानी भगवान) प्रत्यक्ष जानते हैं। (अज्ञानी ऐसा कहे कि) 'नहीं हो उसे जानते हैं - वह ज्ञान झूठा (है)।' अरे ! बापू ! यह वस्तु कोई ऐसी है ! आ..हा..हा...! (कि) यह तर्क-कुतर्क से समझ में आए ऐसी नहीं, बापू ! आहा..हा...! ऐसा कोई भगवान आत्मा का पूर्ण जानने का त्रिकालिक स्वभाव तो है ही किंतु वर्तमान में नहीं (ऐसी) भूत की पर्याय और भविष्य की पर्याय को वर्तमानवत (जानते हैं)। (यह बात) आगे कहेंगे (कि) 'वर्तमानवत् जानते हैं।' आहा..हा...! (फिर भी कोई कहे कि) 'किंतु (वे पर्यायें तो) भूत-भविष्य की है !' भाई ! आ..हा..हा...! ज्ञानस्वभाव कोई अलौकिक है ! आहा...! (कोई ऐसा कहे कि) 'जो हो चुकी है और होगी - इसलिए उसे प्रत्यक्ष जानने में न आए। उसे परोक्षरूप जाने (और) वर्तमान को प्रत्यक्ष जाने !' (तो) ऐसा नहीं। आ..हा..हा...! ऐसा ही कोई चैतन्य की एक समय की पर्याय का स्वभाव (है) ! आहा...! उन्हें कुछ भी परोक्ष नहीं। और जिस पर्याय का अंत नहीं उसे भी प्रत्यक्ष जानते हैं। आहा...! यह है क्या !? जिस पर्याय की आदि नहीं (उसे भी प्रत्यक्ष जानते हैं) (जैसे) द्रव्य की आदि नहीं वैसे पर्याय की आदि नहीं, आहा..हा...! अनादि - अनंत (पर्यायें) जिस तरह हैं उसी तरह वर्तमान प्रत्यक्ष जानते हैं। बापू ! यह कोई (अलौकिक बात है) ! आ..हा..हा...! यह सामान्य बात नहीं। उस पर्याय का वैसा स्वभाव है तो उसकी शक्ति और गुण की क्या बातें करें !! आ..हा..हा...! ऐसी उसे मोक्षतत्व की - केवलज्ञान की पर्याय ऐसी है (उसकी श्रद्धा करनी होगी)। नहीं हुई और हो गई (पर्यायें प्रत्यक्ष जानते हैं)। हो गई (पर्यायें) हो चुकी - बीत चुकी (और) जो हुई नहीं (पर्यायें) वर्तमान में नहीं - इसलिए उन्हें परोक्ष है, ऐसा नहीं। आ..हा..हा...! ऐसा ही (कोई) भगवान आत्मा के केवलज्ञान की पर्याय का स्वभाव है। आहा..हा...! ऐसी-ऐसी अनंती पर्यायें जिनके गुण में पड़ी हैं - उस गुण का तो क्या कहना ! (ऐसा) कहते हैं। ऐसे-ऐसे अनंत गुणों का पिंड जो द्रव्य है... आ..हा..हा...! उसका क्या कहना !! भाई! आहा...! उसकी यहाँ पर प्रतीति कराते हैं।!

ऐसा जिसका-पर्याय का स्वभाव, ऐसी अनंत पर्यायों का पिंड - गुण (है)। सभी पर्यायें - (जो) श्रद्धा की, चारित्र की भविष्य में होगी, उन सभी (पर्यायों को) वर्तमान में जानते हैं। आ..हा..हा...! गुण को तो जानते है (किंतु) वर्तमान में कहीं कोई (पर्याय)

मौजूद नहीं ऐसी भविष्य की और भूत (काल की पर्यायों को) वे जैसे वर्तमानवत् हो वैसे जानते हैं ! क्या है ए !!

यह केवलज्ञान की श्रद्धा (कब हो) ? (कि) नौ तत्वों की श्रद्धा में जीव की श्रद्धा करे तब उसे यह (मोक्ष) तत्व की श्रद्धा उसमें हो। ये पर्यायें इसमें नहीं उसका ज्ञान हो - इतनी पर्यायें भी जीव द्रव्य में नहीं (उसका ज्ञान हो)। समझ में आया...? आहा...!

श्रोता :- सम्यग्दृष्टि को भविष्य में जो केवलज्ञान की पर्याय होगी उसे अभी परोक्ष जान सकते हैं ?

समाधान :- उसे (सम्यग्दृष्टि को) परोक्ष ही है। उसे प्रत्यक्ष नहीं। किंतु केवलज्ञान में प्रत्यक्ष है - ऐसी उसे प्रतीति है। मोक्ष की प्रतीति है कि नहीं ? आहा..हा...! (सम्यग्दृष्टि का) ज्ञान है वह (भले ही) पूरा विकसित नहीं, किंतु जिसे विकसित हुआ है (ऐसे केवलज्ञानी को भूत-भविष्य की सभी पर्यायें) प्रत्यक्ष है - ऐसी प्रतीति परोक्ष ज्ञानी को भी है, आ..हा..हा...!

यह २२वीं (गाथा का) उपोद्घात किया, आहा...!

"णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्दस्स।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ।।२२।।"

"न परोक्ष कँइ पण सर्वत: सर्वाक्षगुण समृद्धने।
इन्द्रिय-अतीत सदैव ने स्वयमेव ज्ञान थयेलने।।२२।।"

टीका :- `**समस्त आवरण के क्षय के क्षण ही,...**' समझाना है न ? (इसलिए ऐसा कहते हैं) वह काल भी आवरण के क्षय का है। ऐसे आवरण के क्षय के क्षण ही, `**जो (भगवान) सांसारिक ज्ञान को उत्पन्न करने के बल को कार्यरूप देने में हेतुभूत ऐसी अपने अपने निश्चित विषयों को ग्रहण करनेवाली इन्द्रियों से,...**' (अर्थात्) एक-एक इन्द्रिय एक-एक विषय को जाननेवाली (है), आहा..हा...! (और) (सांसारिक ज्ञान) उत्पन्न करने के बल को कार्यरूप देने में हेतुभूत (इन्द्रियाँ हैं)। यहाँ तो जाननेवाले बल को उत्पन्न करनेवाला (हेतुभूत कहना है) हाँ ! `**सांसारिक ज्ञान उत्पन्न करने के बल को कार्यरूप देने में हेतुभूत,...**' (हेतुभूत माने) निमित्त। `**ऐसी अपने अपने निश्चित विषयों को ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ,...**' आहा..हा...! निमित्त को (उत्पन्न करने

के) बलभूत, ऐसा नहीं। (किंतु) सांसारिक ज्ञान उत्पन्न करने के बल को कार्यरूप देने में निमित्तभूत (ऐसा कहना है)। आहा..हा...! **`ऐसी अपने अपने निश्चित विषयों को ग्रहण करनेवाली,...'** अर्थात् जाननेवाली **`इन्द्रियों से अतीत हुए हैं,...'** (अर्थात्) भगवान तो उनसे अतीत हुए हैं।

`जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द के ज्ञानरूप सर्व इन्द्रिय - गुणों के द्वारा सर्व ओर से समरसरूप से समृद्ध है,...' (अर्थात्) सभी इन्द्रियों के जो शब्द आदि (विषय) हैं - वे एक समय में एक साथ जानने में समर्थ हैं। समझ में आया ? (**अर्थात् जो भगवान स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्द को सर्व आत्मप्रदेशों से समानरूप से जानते हैं**),... (छद्मस्थ का) ज्ञान शब्द को वह कान से जानता है, रूप को यहाँ (आँखो से) जानता है। (जब) यहाँ (केवलज्ञान में) तो सभी इन्द्रियों के (विषयों को) ज्ञान में एक समय में जानते हैं, आहा..हा...! विशेष कहा जायेगा...

❋ दिनांक २४-१-१९७९ - प्रवचन नंबर-१८ ❋

प्रवचनसार, २२ गाथा चलती है। क्या (कहते हैं) ? २१ (गाथा में) ऐसा चला कि, केवलज्ञानी को सब प्रत्यक्ष है। सर्वज्ञ भगवान को जो केवलज्ञान है (उसमें) सब प्रत्यक्ष (हैं)। तीनकाल, तीनलोक (की) आदि-अंत बिना की सब चीज उनको प्रत्यक्ष है। इस गाथा में परोक्ष नहीं है, ऐसा कहते हैं। है न ? **`णत्थि परोक्खं'** ! उसमें ऐसा कहा था कि, भगवानआत्मा ! सर्वज्ञ स्वभावी तो है ही, परंतु उसका अंतर में ध्यान करने से, शुद्ध उपयोग का परिणमन करने से, केवलज्ञान उत्पन्न होता है। यह केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। तीनकाल-तीनलोक की दशा (को जानता है)। तीनकाल-तीनलोक के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की त्रिकाली सब पर्याय को एक समय में जानने की ताकत रखता है, आहा..हा...! यह मोक्षतत्व की श्रद्धा कराते हैं (कि), मोक्षतत्व ऐसा है !

कोई कहते हैं कि, केवली (भगवान) भविष्य को नहीं जानते (सिर्फ) वर्तमान को जानते (हैं)। भविष्य की पर्याय हुई नहीं तो क्या जाने ? (वह) झूठ बात है। भगवान

तो तीनकाल-तीनलोक (की) भविष्य (की) पर्याय (जो अभी) हुई नहीं, उसको भी प्रत्यक्ष जानते हैं। और भूतकाल की पर्याय बीत गई, वह भी नहीं है, उन्हें भी प्रत्यक्ष जानते हैं। आहा..हा...! भगवानआत्मा का स्वभाव ही ऐसा है। ज्ञानस्वभावी प्रभुआत्मा ! उसकी जो पूर्ण पर्याय प्रकट हुई (उसमें) सब प्रत्यक्ष होता है, ऐसी श्रद्धा कराते हैं।

यहाँ (२२ गाथा में) कहते हैं कि, (केवलज्ञानी को कुछ भी) परोक्ष नहीं है। (२१ गाथा में) (केवलज्ञानी को सब) प्रत्यक्ष (है, ऐसा) कहा था, अब उसको कुछ परोक्ष नहीं है (ऐसा कहते हैं)। २२ गाथा की टीका।

टीका :- '**समस्त आवरण के क्षय के क्षण ही...**' आवरण का क्षय कैसे होता है ? अपना शुद्ध प्रभु, चैतन्य आनंदकंद आत्मा ! (है), उसको शुद्धोपयोग की रमणता से (क्षय होता है)। (केवलज्ञान) दया, दान, व्रत, भक्ति आदि (के) राग से उत्पन्न नहीं होता। वह राग तो बंध की क्रिया है, आहा..हा...! समझ में आया ? दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा आदि का भाव है, वह तो राग है (और) राग है वह तो बंध का कारण है। केवलज्ञान (की) उत्पत्ति में वहाँ कारण नहीं। अपना शुद्ध चैतन्य भगवानआत्मा ! जो अनंत-अनंत गुण की समृद्धि से सम्पदावान प्रभु है, उसके शुद्ध उपयोग के ध्यान से (केवलज्ञान प्रकट होता है)। क्रियाकांड है, वह तो शुभ उपयोग है। (और) यह केवलज्ञान तो अंदर शुद्ध चेतन्य के उपयोग से (यानी) शुद्ध उपयोग की परिणति से उत्पन्न होता है। यह संवर-निर्जरा की (शुद्ध) दशा (है)। अंदर भगवानआत्मा शुद्ध चैतन्य (स्वरूप) के सन्मुख होकर वीतरागी शुद्ध पर्याय (हुई) (अर्थात्) संवर-निर्जरा (की जो पर्याय) उत्पन्न हुई, वह शुद्ध उपयोग है। और आगे बढ़कर, जब शुद्ध उपयोग बढ़ जाता है (यानी कि) स्वरूप में शुद्ध उपयोग की लीनता होती है, तब केवलज्ञान होता है, आहा..हा...! ऐसी बात है ! (इस प्रकार यहाँ) संवर, निर्जरा और मोक्ष तीनों की श्रद्धा कराते हैं। समझ में आया ?

कोई ऐसा कहे कि, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव से संवर, निर्जरा होती है, - (तो) वह मिथ्यात्व है। ऐसे (संवर-निर्जरा) होती नहीं। सूक्ष्म बात है, भगवान! आहा..हा...!

श्रोता :- व्यवहार से तो निश्चय होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- व्यवहार से निश्चय (मोक्षमार्ग) तीनकाल में होता नहीं। (क्योंकि)

व्यवहार राग है और निश्चय (मोक्षमार्ग) अरागीदशा है, आहा...! ऐसी बात है।

श्रोता :- व्यवहार को साधन तो कहने में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- साधन तो (तब कहते हैं कि जब साध्य) सिद्ध हुआ। बाद में उसका आरोप देकर साधन कहते हैं। (लेकिन) उससे होता है, ऐसा है नहीं। सूक्ष्म बात (है), भाई ! `प्रभुनो मारग छे शूरानो' यहाँ कायर का काम नहीं है, आहा..हा...!

परमात्मा जिनेश्वरदेव ! जिसको एक समय में तीनकाल-तीनलोक जानने में आया, उसका फरमान है कि, हमको केवलज्ञान कैसे हुआ ? कि, चैतन्य भगवानआत्मा ! पूर्ण शुद्ध अनंतगुण का पिंड़ आत्मा! उसको ध्यान में ध्येय बनाकर, इस चीज को ध्यान की पर्याय में ध्येय बनाकर, जो शुद्ध उपयोग हुआ उससे केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है, आहा..हा...! इस केवलज्ञान में तीनकाल-तीनलोक प्रत्यक्ष जानने में आते हैं। यहाँ कहते है कि, उसको परोक्ष कुछ नहीं (है)। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई...!

नव तत्व है। (उसमें) जीव तत्व है - यह ज्ञायक त्रिकाली (द्रव्य है)। पुण्य-पाप तत्व है, यह आस्रव तत्व है (और) बंध का कारण (है)। जो राग में रुका, वह बंध (तत्व) है। संवर-निर्जरा (तत्व) है, वह शुद्ध चैतन्य भगवान पूर्ण स्वरूप के सन्मुख होकर अंतर में शुद्ध चैतन्य वीतरागी पर्याय प्रकट होती है - वह अहिंसा और संवर-निर्जरा है। ऐसे उपाय से (संवर-निर्जरा से) केवलज्ञान - मोक्षपर्याय की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म बात (है), भाई ! आहा..हा...! अभी तो (लोक ऐसा मानते हैं कि) बाहर से यह करो, वह करो, उससे (आत्मकल्याण) होगा ! यह (मान्यता) अनंतकाल का मिथ्यात्व - शल्य है, आहा..हा...!

`भगवान कुंदकुंदाचार्य' ! भगवान के पास गये थे। महाविदेह में `सीमंधर भगवान' बिराजते हैं। केवलज्ञानी रूप में बिराजते हैं, अभी भी हैं। दो हजार वर्ष पहले भी थे। `भगवान कुंदकुंदाचार्य' दिगंबर संत! दो हजार वर्ष पहले वहाँ गये थे (और) वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाया है, आ..हा..हा...! भगवान का यह संदेश है, भगवान की यह आज्ञा है ! आ..हा..हा...! कि, आत्मा चिदानंद आनंदकंद प्रभु है ! अतीन्द्रिय आनंद से भरा पडा आत्मा है, आ..हा..हा...! (जैसे) हिरण की नाभि में कस्तूरी है। मृग..मृग...! हिरन (है) उसकी नाभि में कस्तूरी है, लेकिन उस कस्तूरी की उसको

कीमत नहीं। वैसे अंतर में - भगवानआत्मा (में) अनंत आनंद की कस्तूरी भरी है ! आ..हा..हा...! इस अतींद्रिय आनंद की अज्ञानी को अनादि से कीमत नहीं (है) और पुण्य-पाप का विकल्प-राग होता है, उसकी कीमत है, यह मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ? आ..हा..हा...!

यहाँ तो मोक्षतत्व और संवर-निर्जरा तत्व दोनों का खुलासा करते हैं, आहा..हा...! आत्मा सत्‌चिदानंदस्वरूप प्रभु ! सत् + चिदानंद = (अर्थात्) ज्ञान और आनंद से भरा पड़ा प्रभु अंदर है। उसकी द्रष्टि करने से, उस तरफ का ज्ञान करने से और उस में लीन होकर, शुद्ध उपयोग से केवलज्ञान उत्पन्न होता है, आहा...! यह केवलज्ञान प्रत्यक्ष है और उसमें परोक्ष किंचित् (कुछ भी) नहीं (है)। यह बात करते हैं।

कोई चीज अनादि (की) है तो उसका ज्ञान केवली को नहीं हुआ, ऐसा नहीं (है)। अनंतकाल (में) काल का कोई अंत नहीं (है) तो उसका ज्ञान नहीं होता, ऐसा नहीं। आदि और अंत बिना का काल है। और क्षेत्र जो है - अलोक (आकाश) (उसका) कहीं अंत नहीं...अंत नहीं...अंत नहीं...अंत नहीं...! अनंत...अनंत...अनंत...अनंत...योजन चले जाओ (तो भी जिसका) अंत नहीं, उसका भी केवलज्ञानी को ज्ञान है ! आहा...हा...! दो (बात हुई)।

एक आत्मा में और एक-एक द्रव्य में अनंता...अनंता...अनंता...अनंता...अनंता...अनंता...गुण (है)। अनंता...अनंता...अनंता...(कहा) तो कितना अनंता ? कि, अनंत को अनंत से गुणो (गुणाकार करो) तो उसमें अंतिम अनंत नहीं आता। इतना अनंता अनंत... अनंता अनंत... आत्मा में गुण (है)। और परमाणु में भी इतने हैं। आहा..हा...! क्षेत्र का भी अंत नहीं - उसका भी ज्ञान है। काल का आदि-अंत नहीं - उसका भी भगवान को ज्ञान है। और एक-एक द्रव्य में गुणों का अंत नहीं। गुणों की संख्या कितनी ? कि, अनंत...अनंत...अनंत...अनंत...अनंत...अनंत...अनंत...उसमें आखिर का अनंत होता ही नहीं! आ..हा..हा...! इन सब द्रव्य के अनंता-अनंता गुण का भगवान को ज्ञान है। समझ में आया ? (इस प्रकार) क्षेत्र का अंत नहीं, काल का अंत नहीं, भाव का अंत नहीं। आहा..हा...! और एक-एक गुण की अनंती पर्याय है। इस पर्याय का अंत नहीं कि, कहाँ आखरी पर्याय है ? आहा..हा..हा...! (इन) सब का भगवान को ज्ञान है।

परमात्मा त्रिलोकनाथ वीर प्रभु तो अरिहंत थे, वह अभी तो सिद्ध हो गये। यहाँ

भगवान (महाविदेह में) बिराजते हैं वे अरिहंतपद में हैं। महाविदेह क्षेत्र में भगवान सीमंधर प्रभु (बिराजते हैं)। वे अरिहंतपद में हैं। महावीर (प्रभु) आदि सिद्धपद में चले गये। (यहाँ) कहते हैं कि, सिद्ध को तो वाणी, शरीर है नहीं। सर्वज्ञ अरिहंत को वाणी है तो वाणी द्वारा - दिव्यध्वनि द्वारा यह (उपदेश) आया। दिव्यध्वनि (यानि) अंदर आवाज हुई -ॐध्वनि ! उस ॐध्वनि का सार - यह प्रवचनसार है। प्र + वचन (यानि) प्र = उग्र, दिव्य वचनों उसका सार यह प्रवचनसार है, आहा..हा...! ऐसी बात है। बहुत सूक्ष्म बात (है), बापू! लोगों को बाहर से (कल्याण) मान लेना है। जैसे कि क्रिया करें - दया, व्रत, भक्ति और तप (करने से) कल्याण होगा। यह सब तो पुण्यबंध की क्रिया है, आ..हा..हा...! यहाँ यह (बात) सिद्ध करते हैं कि, अंदर शुद्ध उपयोग हुआ उससे केवलज्ञान होता है और उस ज्ञान में परोक्ष कुछ रहता नहीं।

(यहाँ कहते हैं) '**समस्त आवरण के क्षय के क्षण ही...**' समस्त आवरण के क्षय के क्षण ही (अर्थात्) जब आवरण का क्षय हुआ उस क्षण ही। है ? '**...जो (भगवान) सांसारिक ज्ञान को उत्पन्न करने के बल को कार्यरूप देने में,...**' अंतर ज्ञान का बल तो अपना है। उसमें निमित्तभूत - हेतुभूत (का) कुछ लोग ऐसा अर्थ लेते हैं, भाई ! कि, 'देखो ! इन्द्रियाँ ज्ञान में बल देने में निमित्त हैं !' भाई ! कुछ लोग इसका अर्थ यह करते हैं। (लेकिन) ऐसा नहीं है। इन्द्रिय आत्मा को ज्ञान में निमित्त है। अपने ज्ञानबल में वह निमित्त है - हेतु है। समझ में आया ? '**सांसारिक ज्ञान को उत्पन्न करने के बल को कार्यरूप देने में,...**' (यानी) उपादान (से) अपना कार्य होता है, उसमें इन्द्रियाँ निमित्तभूत हैं। '**...हेतुभूत ऐसी अपने अपने निश्चित विषयों को ग्रहण करनेवाली इन्द्रियों से अतीत हुए हैं,...**' भगवान तो, एक-एक इन्द्रिय से जो ज्ञान होता है, उससे अतीत हो गये। (अर्थात्) इन्द्रियातीत हो गये हैं। आहा..हा...! ऐसी बात (है)। यहाँ तक कल आया था।

(अब आगे कहते हैं) '**...जो स्पर्श,...**' (यानि) यह स्पर्श '**...रस,...**' खट्टा-मीठा आदि रस '**...वर्ण,...**' काला आदि रंग पर्याय '**...और शब्द के ज्ञानरूप,...**' (यानी) पांच इन्द्रियों के ज्ञानरूप। '**...सर्व इन्द्रिय - गुणों के द्वार,...**' (यानी) सर्व इन्द्रिय के गुणों के द्वारा। '**...सर्व ओर से समरसरूप से समृद्ध हैं,...**' एक-एक इन्द्रिय एक-एक (विषय का)

ज्ञान करती थी। (और) यह ज्ञान तो सर्व इन्द्रियों का एकसाथ ज्ञान करता है, आहा..हा...! समझ में आया ?

यह चक्षु है (उसके द्वारा) ज्ञान (होता है)। ज्ञान तो अपना है। यह (चक्षु) तो निमित्त है। (लेकिन) ज्ञान जो (होता है) वह तो भगवानआत्मा ज्ञानस्वरूप (है उससे) अपने से ज्ञान होता है। परंतु यह इन्द्रिय तो जड़-मिट्टी-धूल (है)। यह तो निमित्त है। यह कान भी मिट्टी-धूल निमित्त है। अपने में ज्ञान की पर्याय होती है, वह अपने से (होती है)। उसमें यह निमित्त है। (यहाँ) कहते हैं कि, एक-एक विषयों का ज्ञान (होने में), एक-एक इन्द्रिय का जो निमित्त था, वह सब इन्द्रिय का ज्ञान एक समय में होता है। इन्द्रिय से एक-एक (विषय का) जो भिन्न-भिन्न ज्ञान होता था, (अब) भगवान को सब इन्द्रिय का ज्ञान एक समय में सर्व - पूरा ज्ञान होता है। समझ में आता है ?

प्रभु का मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई ! उसे अनंतकाल में समझा नहीं, आहा..हा...! `मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रैवेयक उपजायो, पै निज आत्मज्ञान बिना सुख लेश न पायौ' - मुनिव्रत धारण किया, दिगंबर हुआ, अनंतबार पंच महाव्रत लिया, हजारों रानी का त्याग किया, कपड़े का त्याग किया, लेकिन अंदर में ये पंचमहाव्रत की क्रिया (जो) राग है, उसको धर्म माना। आहा..हा...! समझ में आया ? `मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रैवेयक उपजायो' - `छ ढाला' में आता है, `छ ढाला' ! आ..हा..हा...! `आत्मज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ' - पंचमहाव्रत का परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण का भाव - वह आस्त्रव और दुःख है, आहा..हा..हा...! `मुनिव्रत धार अनंत बार, ग्रेवेयक उपजायो' - नव ग्रैवेयक हैं। यह चौदह ब्रह्मांड पुरूष के आकार है। उसकी ग्रीवा के स्थान में नव ग्रैवेयक हैं। ग्रैवेयक यानि ग्रीवा के स्थान में स्वर्ग के नव पटल हैं। वहाँ पंचममहाव्रत धारण करके, अट्ठाईस मूलगुण का पालन करके, नग्नपना धारण करके, अनंतबार गया। `पै आतमज्ञान बिन' - अंदर राग से मेरी चीज भिन्न है, (उसका ज्ञान किया नहीं)। आहा..हा...! यह विकल्प की क्रिया से मेरी चीज अंदर भिन्न है, ऐसा आत्मज्ञान किया नहीं। `आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो' - वह पंचमहाव्रत का परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण (का भाव) राग है - दुःख है - आस्त्रव है, आ..हा..हा...! बहुत कठिन काम (है) ! आहा..हा...! मार्ग ऐसा है, भाई ! आहा..हा...!

आत्मा पर का तो कुछ कर सकता नहीं। लेकिन अंदर राग होता है, उसका कर्ता होता है, वह अज्ञान (और) मिथ्यात्व है। क्यों ? (क्योंकि) भगवानआत्मा द्रव्य (है और उसमें) जो अनंत-अनंत गुण हैं, वे शुद्ध हैं-पवित्र हैं। अंदर भगवानआत्मा (में) अनंता...अनंता...अनंता...अनंता...कहीं अंत नहीं। इतने अनंता गुण हैं, ये सब अंदर पवित्र हैं, आहा..हा...! ऐसे पवित्र गुण का पिंड़, प्रभु ! उसका ज्ञान किया नहीं, आहा..हा...! वह स्वसन्मुख हुआ नहीं। राग की क्रिया की, वह तो पर सन्मुख की (क्रिया थी) - पर दिशा तरफ का भाव था। आ..हा..हा...! ऐसी बात कठीन पड़े। (लेकिन) क्या हो ? भाई ! मार्ग तो यह है। अनंत तीर्थंकरो, अनंत केवली, अनंत दिगंबर मुनियों, संतो इस तरह कहते हैं, आहा..हा...!

(वही बात) यहाँ कहते हैं कि, पांच इन्द्रियों के विषयों का, एक-एक इन्द्रिय, एक-एक का ज्ञान करती थी। (अब) `**...सर्व ओर से समरसरूप से समृद्ध है...**' (ऐसा) भगवान का ज्ञान (एक साथ जानता है)। (पहले) एक-एक इन्द्रिय का ज्ञान था। (अब) सर्व इन्द्रियों का ज्ञान एक पर्याय में एकसाथ होता है। आ..हा..हा...! ऐसी बातें हैं! है ? `**...सर्व ओर से समरसरूप से,...**' (अर्थात्) समता (रस से) - वीतरागरूप से समृद्ध है, आहा..हा...!

`**...(अर्थात् जो भगवान स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्द को सर्व आत्मप्रदेशों से समानरूपसे जानते हैं)....**' `सर्व अत्मप्रदेशों से' (ऐसा कहा)। एक-एक इन्द्रिय तो उस-उस (आत्म)प्रदेश से जानती न थी। यह तो सर्व आत्मप्रदेशों से (जानता है)। आ..हा..हा...! `**...समानरूप से जानते हैं**' (चक्षु) इन्द्रिय (ज्ञान में) तो यहाँ जो प्रदेश है, वही रूप को जानते थे। कान के जो प्रदेश यहाँ है वही शब्द को जानते थे। यह (ज्ञान) तो सारा प्रदेश से - असंख्य प्रदेश से एक साथ (जानता है)। आहा..हा..हा...!

असंख्यप्रदेश (यानी) क्या ? आत्मा असंख्य प्रदेशी है। जैसे चेन है न चेन! चेन में जैसे कड़ी है न कड़ी ! पाँचसौं-हजार कड़ी होती है न ! ऐसे आत्मा में असंख्य प्रदेश है, आहा..हा...! यहाँ प्रदेश है,... यहाँ प्रदेश है... ऐसे असंख्य प्रदेश (है)। (देह से) भिन्न अरूपी भगवान है। देह तो जड़-मिट्टी-धूल है। वाणी भी मिट्टी-धूल है। उससे भिन्न अंदर भगवान(आत्मा है)। पुण्य और पाप का विकारभाव जो विकल्प है, उससे भी अंदर भगवान भिन्न है, आहा..हा...! (ऐसे) अनंत-अनंत पवित्र गुणों का पिंड़ प्रभु

(है)। आ..हा..हा...! उसका जहाँ ज्ञान हुआ और भान हुआ और शुद्धोपयोग से केवल(ज्ञान) हुआ, तब एक-एक इन्द्रिय का शब्द-रस आदि का एक-एक ज्ञान (होता) था, (अब) एक ही (समय की) ज्ञान की पर्याय में सर्व इन्द्रियों का ज्ञान एकसाथ होता है, उसे इन्द्रियों की कोई जरूरत नहीं है। आ..हा..हा...! अरे...! परमात्मा इनको कहें।

श्रोता :- छद्मस्थ को इन्द्रिय की जरूरत तो है न ?

समाधान :- छद्मस्थ को इन्द्रिय निमित्त होती है। उन्हें (केवलज्ञानी को) अब निमित्त भी नहीं है, ऐसा कहना है। वही कहा न ?

`...सांसारिक ज्ञान को उत्पन्न करने के बल को कार्यरूप देने में हेतुभूत ऐसी,...' इन्द्रियाँ। है न? पहले आ गया है। (इन्द्रियाँ) निमित्त है। ज्ञान होता है अपने से। यह कान है, यह तो मिट्टी-धूल है। यह आँख तो जड़-मिट्टी-धूल है। उससे कोई ज्ञान नहीं होता। यह तो मिट्टी है, धूल-अजीवतत्व है। अंदर ज्ञान जो जानने का (कार्य करनेवाला) तत्व है। वह अपने से जानता है। उसमें ये इन्द्रियाँ निमित्त कहने में आती हैं, आहा..हा...! अरे...! ऐसी बातें...! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई ! आ..हा..हा...!

`कुंदकुंदाचार्य' दो हजार वर्ष पहले हुए। `अमृतचंद्राचार्य' की यह टीका है। वे हजार वर्ष पहले हुए। दिगंबर संत ! वनवासी (थे) जंगल में रहते थे। आत्मध्यानी! आनंद में मस्त ! अतीन्द्रिय आनंद में मस्त (थे) ! आहा...! उनकी यह वाणी है, आहा...!

श्रोता :- मुनियों को, गाँव में रहने की इजाजत किसने दी ?

समाधान :- किसी ने नहीं दी। वह दृष्टांत नहीं (आता है) शास्त्र में ? हिरन है वह तो गाँव के बाहर रहते हैं। (शास्त्र में) दृष्टांत दिया है। (मुनि) अंदर में (गाँव में) कोई दफे आते हैं, लेकिन वे रहते हैं गाँव के बाहर। जंगल में रहनेवाले संत दिगंबर मुनि यानि (क्या) !! आ..हा..हा...! श्वेतांबर में जो वस्त्रसहित मुनि कहा है (वह) सब जूठ है। समझ में आया ? श्वेतांबर (यानि) श्वेत = सफेद, अंबर = वस्त्र। वह मार्ग तो (महावीर) भगवान (के निर्वाण बाद निकला है)। दो हजार वर्ष पहले निकला है। मुनि जो सच्चे हैं - अपने में आनंद का अनुभव (हुआ) हो, सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि (हुआ) हो, उसको तो वस्त्र का टुकडा भी नहीं (होता)। अकेले वस्त्र बिना का नग्नपना तो अनंतबार लिया, पंचमहाव्रत भी अनंतबार लिया, उसमें कुछ (धर्म)

नहीं है। परंतु अंतर में आत्मा की सम्यक् अनुभवदृष्टि (हुई हो), आनंदकंद प्रभु (ऐसा) मैं रजकण का भी कर्ता नहीं, बोलने की भाषा का भी कर्ता नहीं, यह पलकें फिरती हैं उसका भी मैं कर्ता नहीं और इच्छा होती है, उसका भी मैं कर्ता नहीं, ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है, बाद में जब स्वरूप में लीनता होती है, तब मुनिपना आता है। आहा..हा...! यह सूक्ष्म बात (है), भाई ! इस मुनिपने में तो अंतर में छठ्ठा गुणस्थान हो तो पंचमहाव्रत का विकल्प आता है। लेकिन वह बंध का कारण है। (मुनि को) वस्त्ररहित नग्न दिगंबर दशा होती है। तीनकाल में (इसके सिवा) दूसरी दशा होती नहीं। समझ में आया ? `नग्गे मोक्खो भणियो' भगवान `कुंदकुंदचार्य' का वचन है। बाह्य और अभ्यंतर नग्नपना हों ! अकेला बाह्य नग्नपना तो अनंतबार (लिया), पंचमहाव्रत (भी) लिया, वह (नग्नपना) नहीं। अंदर में नग्नपना (अर्थात्) विकल्प से रहित निर्विकल्प आनंदकंद प्रभु ! उसका अनुभव, आनंद की वीतरागी दशा में (होना), वह भाव नग्न(पना है)। (और) बाहर में वस्त्ररहित(पना वह बाह्य) नग्नपना (है), आहा..हा...! `नग्गे मोक्खो भणियो से सा उमग्गा' (यानी कि) इसके सिवा सब उन्मार्ग है। आहा..हा...! सूक्ष्म बात है, भाई ! संप्रदाय को कठिन लगे। लगे (लेकिन) क्या हो सकता है, भाई! बापू, मार्ग तो यह है, आहा...!

यहाँ कहते हैं, पाँचों इन्द्रियों के विषय जहाँ छूट गये वहाँ उसे वस्त्र छूट जाता है। नौ-नौ कोटि से परिग्रह का त्याग है (और) वस्त्र (है यह) परिग्रह है। मन-वचन-काया (से), करना-करवाना-अनुमोदन (करना - इस प्रकार) नौ-नौ कोटि से परपरिग्रह का त्याग है। भगवान ने यह कहा है। भगवान ने यह किया है और यह कहा है। भगवान स्वयं तीर्थंकर थे। वे भी जब वस्त्ररहित हुये और अंदर अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव हुआ तब मुनिपना आया। आ..हा..हा...! ऐसा किया था (और) ऐसा कहा। ऐसा किया था, ऐसा कहा। किया कुछ और बताया कुछ, ऐसा नहीं, आ..हा..हा...!

श्रोता :- काल हलका है।

पूज्य गुरूदेवश्री :- काल कोई लागू पड़ता नहीं। काल-बाल कुछ आत्मा में है ही नहीं। आहा...! `एक होय त्रणकाल में परमार्थ का पंथ' - तीनकाल-तीनलोक में परमार्थ का मार्ग एक यह ही है। रागरहित और वस्त्ररहित मुनिपना है, आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, पाँचों इन्द्रियों का जो ज्ञान (अर्थात्) एक-एक इन्द्रिय का

एक-एक (विषय का) ज्ञान होता था। (अब) भगवान को समरस(रूप से) एक पर्याय में सब ईन्द्रिय का ज्ञान एकसाथ एकसमय में होता है, आ..हा..हा...! ऐसा है, भाई! सूक्ष्म बहूत, भाई ! अरे...! अनंतकाल हुआ जन्म-मरण करते (फिर भी) उसने सम्यग्दर्शन (प्राप्त) नहीं किया, आहा..हा...! बाकी तो मुनिपना पाला, दिगंबर हुआ, उसके लिये चौका बनाकर आहार (बनाया हो तो) प्राण जाये तो (भी) नहीं ले, ऐसा अनंतबार हुआ है, आ..हा..हा...! (लेकिन) वह तो (बाह्य) क्रिया है, वह कोई धर्म नहीं, आहा..हा...! प्रभु क्या करें ? यहाँ तो चौका बनाते हैं ! वह तो महापाप (है)। सूक्ष्म बाद है, प्रभु ! क्या हो ? यह तो सत् की बात आये तब जाहिर करना पडता है। किसी व्यक्ति के लिये कुछ नहीं है, आहा..हा...! यहाँ तो पाँचों इन्द्रिय का विषय छूट गया, आहा..हा...! जब मुनिपना में नग्न थे तो केवली भी नग्न हैं। केवली को कोई वस्त्र आदि नहीं (होते)। समझ में आया ?

श्रोता :- वस्त्र में मूर्छा हो तो परिग्रह कहा जाये न ?

समाधान :- वस्त्र रखना यही मूर्छा है। वस्त्र रखना यह राग है - मूर्छा है - मुनिपना नहीं। संसार में गृहस्थाश्रम में सम्यग्दृष्टि होता है। ऐसी बात है।

एक (भाई) हमारे पास आया था। यहाँ तो बहुत लोग आते हैं न ! यहाँ जंगल में ४४ वर्ष हुये। `प्रतापगढ' का आदमी आया था। (उसने कहा) `मैं तीर्थंकर हूँ !' व्यख्यान सुना और (बाद में) कहा कि, `मैं केवली हूँ। चार घातीकर्म नाश हुये हैं। चार बाकी है। भगवान को चार (कर्म) बाकी थे। उनके पास पैसे नहीं थे। मुझे चार (कर्म) बाकी है (और मेरे पास) भी पैसे नहीं है !' (हमने कहा) `अरे...! क्या कहते हो तुम ?' (ऐसे) मूढ (थे)। वस्त्र पहनकर व्याख्यान में बैठा था। (खुद) पहले पालीताणा में थे तब पत्र आया था कि, मुझे वहाँ आना (है) तो मेरे लिये व्यवस्था (कर देना)। (हम तो) यहाँ किसी को बुलाते नहीं (और) किसी को लिखते भी नहीं। यहाँ ऐसा कुछ नहीं है।

एक दिगंबर मुनि (थे उनको) बहुत वर्ष से यहाँ आने की इच्छा थी। (वे कहते थे) `हमको थोड़ा लिखिये तो हम वहाँ आयेंगे।' हम तो किसी को लिखते नहीं।

यहाँ कहते हैं, पाँचों इन्द्रियों के विषय छूट गये उसे (अंतर-बाह्य परिग्रह) कुछ नहीं होता। ऐसी अंतर में शुद्ध उपयोग की रमणता होती है - अकेली नग्नदशा

नहीं। उससे (शुद्धोपयोग से) केवलज्ञान होने पर सर्व इन्द्रियों के विषय एक समय में (जानने में आते हैं)। (पहले) जो एक-एक इन्द्रिय का ज्ञान (होता था) वह (अब) भगवान केवली परमात्मा को एक समय में समरसरूप से सर्व का ज्ञान (होता) है। आहा..हा...! है ? `(**...सर्व आत्मप्रदेशों से समानरूप से जानते हैं**) **और जो स्वयमेव समस्तरूप से स्वपर का प्रकाशन करने में,...**' स्वयमेव (यानी) भगवानआत्मा ! केवलज्ञान की पर्याय से (स्वयं जानते हैं)। आहा..हा...! `**...समस्तरूप से स्वपर का प्रकाशन करने में,...**' (अर्थात्) स्व और पर (दोनों को प्रकाशित करता) स्वपर प्रकाशक (ज्ञान)। (यानी) अपना (स्व का) तीनकाल का ज्ञान और लोकालोक - पर का भी तीनकाल का ज्ञान एक समय में होता है, आहा..हा...! `स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं बचन भेद भ्रम भारी, ज्ञेय शक्ति दुविधा प्रकाशी, स्वरूपा निजरूपा पररूपा भासी।' निजरूप (का) और पर का ज्ञान, भगवान को एक समय में त्रिकाल का होता है, आहा..हा...!

वह तो यहाँ अपने पहले आ गया था। भगवान को कवलआहार नहीं होता। श्वेतांबर मानते हैं न ! (कि) `भगवान को रोग था। बाद में दवाई ली (और) रोग मिट गया !' सब बाद विपरीत है, भाई ! आहा..हा...! यह पहले २० वीं गाथा में आ गया। भगवान को शरीरगत क्षुधा भी नहीं और उसका दु:ख नहीं (है) और आहार ले तो सुख है और आहार न ले तो दु:ख है, ऐसी चीज है नहीं, आहा..हा...! भगवान तो अनाहारी (है)। कवआहार बिना अंतर के अमृत का अनुभव करते हैं, आहा..हा...! उसको आहार क्यों ? पानी क्यों ? दवा क्यों ? रोग क्यों ? प्रभु !

(यहाँ कहते हैं) `...(**सर्व आत्मप्रदेशों से समानरूप से जानते हैं**) **और जो स्वयमेव समस्तरूप से स्वपर का प्रकाशन करने में समर्थ अविनाशी लोकोत्तर ज्ञानरूप हुये हैं,...**' जो ज्ञानपर्याय (प्रकट) हुई है, वह नाश नहीं होती, आहा..हा...! समझ में आया? बापू ! केवलज्ञान को समझना यह कोई साधारण बात नहीं है। भगवान ऐसे थे और अरिहंत केवली (ऐसे) हैं, (ऐसे जान लिया) उसमें क्या ? केवलज्ञान क्या दशा है? और कैसे उत्पन्न होती है ? (यह यथार्थरूप से जानना चाहिये)। (यह दशा) उत्पन्न हुई तो कायम रहती है। केवलज्ञान का नाश नहीं होता। पर्याय पलटती है (यानी) एक समय में जो ज्ञान - केवलज्ञान है, वह दूसरे समय में नहीं रहता, दूसरे समय में दूसरी पर्याय (होती है)। पर्याय है न ! केवलज्ञान पर्याय है, केवलज्ञान गुण नहीं।

ज्ञान गुण है, वहाँ त्रिकाल है और यह केवलज्ञान उसकी पर्याय है - अवस्था है, आहा..हा...! एक समय में (एक पर्याय) उत्पन्न हुई, दूसरे समय में दूसरी (हुई). तीसरे समय में तीसरी (हुई)। (ऐसे) सादि अनंत(काल रहेगी)। लेकिन इस पर्याय का नाश होकर अल्पज्ञानी हो जाये, ऐसा है नहीं, आहा..हा...!

(कुछ) लोग कहते हैं न ! कि, 'आत्मा मोक्ष में जाये लेकिन यहाँ राक्षसों का जोर बढ़ जाये, भक्तों को भीड (संकट) पड़ जाये (तो भगवान अवतार ले) !' (ऐसा) गीता में कहते हैं। (लेकिन वह सब) झूठी बातें हैं। अरे... भगवान ! मार्ग तो ऐसा है, भाई !

(यहाँ) कहते हैं, यह (केवलज्ञान) अविनाशी है। केवलज्ञान (जिसे) हुआ, वह फिर से भव में - संसार में अवतार ले, उसे ऐसा होता नहीं। आहा...! अरे..रे...! (कहते हैं) '**...अविनाशी लोकोत्तर,...**' लोक से उत्तर (यानी) उनकी दशा भिन्न (है)। लौकिक से दशा ही भिन्न (जाति की होती है)। ऐसे '**...लोकोत्तर ज्ञानरूप हुये हैं,...**' ऐसे लोकोत्तर ज्ञानरूप हुये हैं (ऐसा कहा)। आहा..हा...! समझ में आया ? समझ में आये उतना समझना, बापू ! यह वीतराग का मार्ग तो बहुत गंभीर (है)। अभी तो गड़बड़ बहुत चली है। अभी तो व्रत करो, तपस्या करो, उपवास करो, यात्रा करो - उसमें तुमको धर्म हो जायेगा ! (ऐसा कहते हैं)। वह सब मिथ्यात्व की गड़बड़ है। आहा..हा...! ऐसा है। (यह तो) कहा न ! ऐसा तो अनंतबार किया है। नववीं ग्रीवेयक तक (गया)। लेकिन आत्मा राग से भिन्न है, विकल्प से भिन्न है, उसका अंतर अनुभव (किया नहीं)। सबेरे आया था न ? '**भूतार्थ परिग्रहेण**' आहा..हा..! समयसार में ५५ (नंबर के) श्लोक में आया था। '**भूतार्थ परिग्रहेण**' (अर्थात्) एक समय में त्रिकाली भगवान नित्यानंद प्रभु अंदर बिराजमान है। भूतार्थ नाम छती चीज - पदार्थ (है)। छती (यानी) मौजूदगी (रखनेवाली) चीज है। उसका अनुभव करना, उसका ज्ञान करना, उसको ग्रहण करना - यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। बाकी शास्त्र का ज्ञान (है) वह ज्ञान नहीं, आहा..हा...! समझ में आया ?

आहा...! '**...लोकोत्तर ज्ञानरूप हुये हैं, ऐसे इन (केवली) भगवान को समस्त (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का)...**' समस्त (यानी) पूरा - सब द्रव्य, पूरा - सब क्षेत्र, समस्त काल, समस्त भाव। आ..हा..हा...! एक समय में (अनंत गुण) ! ओ..हो..हो..हो...! आकाश के

अनंत-अनंत प्रदेश हैं। कहीं अंत नहीं। अंत नहीं (है)। कहीं अंत है क्या ? (अगर है) तो पीछे क्या (है) ? इतना...इतना...इतना... आकाश...आकाश...आकाश... उसमें एक परमाणु (जितनी जगह) रोके उसको प्रदेश कहते हैं। इतने अनंत प्रदेश (हैं)। आकाश के अनंत प्रदेश ! (जिसका) अंत नहीं इतने प्रदेश (हैं)। उससे भी अनंतगुण एक आत्मा में गुण हैं। अरे..रे...! उसे खबर कहां है ?

इस भगवान आत्मा में (अनंत गुण है)। आकाश के प्रदेश की संख्या का अंत नहीं। अनंत...अनंत...अनंत...अनंत...अनंत... कहीं अंत नहीं, उसके जो प्रदेश की संख्या (है) उससे एक आत्मा में अनंतगुणा गुण (हैं)। इस अनंतगुणा गुण का अंत कहां, भाई ? प्रभु ! इन सब भाव को (केवली भगवान) जानते हैं। आ..हा..हा...! अनंत द्रव्य को जानते हैं, अनंत क्षेत्र को जानते हैं, अनंत - आदि-अंत बिना के काल को जानते हैं, अनंत भाव को जानते हैं। एक-एक (आत्मा में) ऐसे अनंतगुण (गुण हैं)। ऐसे-ऐसे तो अनंत आत्मा और अनंतगुणा परमाणु हैं, आहा..हा...! (इन सब को जानते हैं)।

यहाँ तो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की थोड़ी व्याख्या कही कि, द्रव्य कितने हैं ? कि, अनंत (हैं)। आत्मा अनंत हैं। एक लहसुन की कणी या प्याज की एक राई जितनी कणी में असंख्य तो औदारिक शरीर (हैं)। एक शरीर में अनंतगुण जीव हैं। छ मास और आठ समय में एक सौ आठ सिद्ध होते हैं। तो अभी तक सिद्ध की संख्या अनंत हुई। उनसे भी एक शरीर में अनंतगुण जीव हैं ! आ..हा..हा...! और एक-एक द्रव्य में अनंतगुण गुण हैं ! सूक्ष्म बात (है), बापू ! वीतराग मार्ग (अलौकिक है) ! आ..हा..हा...!

(प्रवचन अपूर्ण है)।

❋ ❋ ❋

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वं ज्ञानस्य सर्वगतत्वं चोद्योतयति –

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं।।२३।।

आत्मा ज्ञानप्रमाणं ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टम्।
ज्ञेयं लोकालोकं तस्माज्ज्ञानं तु सर्वगतम्।।२३।।

आत्मा हि `समगुणपर्यायं द्रव्यम्' इति वचनात् ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वरहितत्वेन परिणतत्वात्तत्परिमाणः, ज्ञानं तु ज्ञेयनिष्ठत्वाद्दाह्यनिष्ठदहनवत्तत्परिमाणं; ज्ञेयं तु लोकालोकविभागविभक्तानन्तपर्यायमालिकालीढस्वरूपसूचिता विच्छेदोत्पादध्रौव्या षड्द्रव्यी सर्वमिति यावत्। ततो निःशेषावरणक्षयक्षण एव लोकालोकविभागविभक्तसमस्तवस्त्वाकारपारमुपगम्य तथैवाप्रच्युतत्वेन व्यवस्थितत्वात् ज्ञानं सर्वगतम्।।२३।।

एवं केवलिना समस्तं प्रत्यक्षं भवतीति कथनरूपेण प्रथमस्थले गाथाद्वयं गतम्। अथात्मा ज्ञानप्रमाणो भवतीति ज्ञानं च व्यवहारेण सर्वगतमित्युपदिशति – **आदा णाणपमाणं** ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वाभावादात्मा ज्ञानप्रमाणी भवति। तथाहि – `समगुणपर्यायं द्रव्यं भवति' इति वचनाद्वर्तमानमनुष्यभवे वर्तमानमनुष्यपर्यायप्रमाणः, तथैव मनुष्यपर्यायप्रदेशवर्तिज्ञानगुणप्रमाणश्च प्रत्यक्षेण दृश्यते यथायमात्मा, तथा निश्चयतः सर्वदैवाव्याबाधाक्षयसुखाद्यनन्तगुणाधारभूतो योऽसौ केवलज्ञानगुणस्तत्प्रमाणोऽयमात्मा **णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं** दाह्यनिष्ठदहनवत् ज्ञानं ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टंकथितम्। **णेयं लोयालोयं** ज्ञेयं लोकालोकं भवति। शुद्धबुद्धैकस्वभावसर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मद्रव्यदिषड्द्रव्यात्मको लोकः, लोकाद्बहिर्भागे शुद्धाकाशमलोकः, तच्च लोकालोकद्वयं स्वकीयस्वकीयानन्तपर्यायपरिणतिरूपेणानित्यमपि द्रव्यार्थिकनयेन नित्यम्। **तम्हा णाणं तु सव्वगयं** यस्मान्निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगभावनाबलेनोत्पन्नं यत्केवलज्ञानं तट्टङ्कोत्कीर्णाकारन्यायेन निरन्तरं पूर्वोक्तज्ञेयं जानाति, तस्माद्व्यवहारेण तु ज्ञानं सर्वगतं भण्यते। ततः स्थितमेतदात्मा ज्ञानप्रमाणं ज्ञानं सर्वगतमिति।।२३।।

अब, आत्माका ज्ञानप्रमाणपना और ज्ञानका सर्वगतपना उद्योत करते हैं :-

गाथा २३

जीवद्रव्य ज्ञानप्रमाण भाख्यूं ज्ञान ज्ञेय प्रमाण छे।
ने ज्ञेय लोकालोक तेथी सर्वगत अे ज्ञान छे।।२३।।

अन्वयार्थ :- [आत्मा] आत्मा **[ज्ञानप्रमाणं]** ज्ञान प्रमाण है; **[ज्ञानं]** ज्ञान **[ज्ञेयप्रमाणं]**

ज्ञेय प्रमाण **[उद्दिष्टं]** कहा गया है। **[ज्ञेयं लोकालोकं]** ज्ञेय लोकालोक है **[तस्मात्]** इसलिये **[ज्ञानं तु]** ज्ञान **[सर्वगतं]** सर्वगत-सर्व व्यापक है।

टीका :- `समगुणपर्यायं द्रवयं (गुण-पर्यायें अर्थात् युगपद् सर्वगुण और पर्यायें ही द्रव्य है)' इस वचनके अनुसार आत्म ज्ञानसे हीनाधिकतारहितरूपसे परिणमित होनेके कारण ज्ञानप्रमाण है, और ज्ञान ज्ञेयनिष्ठ होनेसे, दाह्यनिष्ठ दहनकी भाँति, ज्ञेय प्रमाण है। ज्ञेय तो लोक और अलोकके विभागसे विभक्त, अनन्त पर्यायमालासे आलिंगित स्वरूपसे सूचित (प्रगट, ज्ञान), नाशवान दिखाई देता हुआ भी ध्रुव ऐसा षट्द्रव्य-समूह, अर्थात् सब कुछ है। (ज्ञेय छहों द्रव्योंका समूह अर्थात् सब कुछ है) इसलिये निःशेष आवरणके क्षयके समय ही लोक और अलोकके विभागसे विभक्त समस्त वस्तुओंके आकारोंके पारको प्राप्त करके इसीप्रकार अच्युतरूप रहने से ज्ञान सर्वगत है।

भावार्थ :- गुण-पर्यायोंसे द्रव्य अनन्य है इसलिये आत्मा ज्ञानसे हीनाधिक न होनेसे ज्ञान जितना ही है; और जैसे दाह्य (जलने योग्य पदार्थ)का अवलम्बन करनेवाला दहन दाह्यके बराबर ही है उसीप्रकार ज्ञेयका अवलम्बन करनेवाला ज्ञान ज्ञेयके बराबर ही है। ज्ञेय तो समस्त लोकालोक अर्थात् सब ही है। इसलिये, सर्व आवरणका क्षय होते ही (ज्ञान) सबको जानता है और फिर कभी भी सबके जाननेसे च्युत नहीं होता इसलिये ज्ञान सर्वव्यापक है।।२३।।

❊ दिनांक २५-१-१९७९ - प्रवचन नंबर-१९ ❊

प्रवचनसार २३ गाथा के उपर (और) २२ गाथा के बाद शब्द है। `**अब, आत्मा का ज्ञानप्रमाणपना और ज्ञान का सर्वगतपना उद्योत करते हैं**' :-

`आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं।।२३।।'
`जीवद्रव्य ज्ञानप्रमाण भाख्यूं, ज्ञान ज्ञेय प्रमाण छे;।
ने ज्ञेय लोकालोक, तेथी सर्वगत अे ज्ञान छे।।२३।।'

२३ गाथा की टीका :- विषय थोड़ा अपूर्व है ! `**समगुणपर्यायं द्रव्यं,...**' क्या कहते हैं ? कि, `(**गुण-पर्यायें अर्थात् युगपद् सर्वगुण और पर्यायें ही द्रव्य है**)' आत्मा

द्रव्य है न ! आत्म वस्तु, वह अनंत गुण और उसकी एक समय की अनंती पर्याय, (ये) सब मिलकर द्रव्य है। द्रव्य माने पैसा नहीं, हों ! यहाँ द्रव्य - पैसा यह नहीं (लेना है)। यहाँ तो सर्वज्ञ परमेश्वर कहते हैं, भगवानआत्मा ! यह आत्मा जो द्रव्य है न वस्तु ! वह ज्ञानप्रमाण है, यानि (यहाँ) सिद्ध क्या करना है ? कि, उसके जो अनंत गुण हैं और एक समय की अनंती पर्याय हैं - (यह) सब मिलकर द्रव्य - वस्तु है। समझ में आया ? यह शरीर, वाणी, मन तो पर - जड़ है। अंदर दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम होते हैं, वह विकार है। वह कोई आत्मा नहीं है। आहा..हा...! पाप का परिणाम होता है, वह भी विकारी(भाव है) - आत्मा नहीं।

आत्मा, त्रिकाल अनंत गुण और वर्तमान अनंती प्रकट पर्याय (स्वरूप है)। भूत-भविष्य की (पर्याय) तो अंदर गुण में (हैं)। (अभी) आत्मा किसको कहते हैं इसकी खबर नहीं और धर्म हो जाये, (ऐसा मानते हैं) ! आहा..हा...! आत्मा एक समय में अनंतगुण -अनंता... अनंता...अनंता... अनंता... अनंता... गुण और एक समय की अनंती...अनंती...अनंती...अनंती... पर्याय, एक समय की हो ! आ..हा..हा...! उसे यहाँ भगवान द्रव्य - आत्म वस्तु कहते हैं। है ? '**समगुणपर्यायं द्रव्यम्**' '(**गुण-पर्यायें अर्थात् युगपद्,...**)' (माने) एकसाथ। '**...सर्व गुण,...**' (यानि) अनंत (गुण)। '**...और पर्यायें,...**' (यानी) एक समय की अनंत (पर्यायें)। ये सब '**,...द्रव्य है।**' आहा..हा...! प्रकट पर्याय बिना का द्रव्य कभी होता नहीं। तो कहते हैं कि, एक समय की प्रकट पर्याय अनंत हैं। अनंत गुण हैं न ! तो अनंत गुण की एक समय की अनंत पर्याय व्यक्त-प्रकट हैं। अब अनंत...अनंत...अनंत...अनंत...अनंत...गुण की संख्या का पार नहीं (इतने) गुण हैं। ऐसा भगवानआत्मा अनंत गुण और अनंती पर्याय, ये (सब मिलकर) द्रव्य है, ऐसी बातें (हैं) !

प्रतिक्रमण आदि करते (थे वह सरल लगता था)। अरे...भाई ! वह सब क्रिया तो राग है। देह की क्रिया जड़ है। तुझे कुछ मालूम नहीं। आत्मा, वह राग भी नहीं और देह की क्रिया भी नहीं। आहा..हा...!

'**समगुणपर्यायं...**' (ऐसा कहा) समगुणपर्यायं (यानी) गुण और पर्याय साथ में एकरूप (रहे) उसे द्रव्य कहने में आता है। आहा..हा...! यह आत्मा जो है आत्मा (यह ज्ञानप्रमाण है)। अब यह प्रश्न करके आत्मा ज्ञानप्रमाण है, यह सिद्ध करना है। क्या कहना

है, समझ में आया ?

यह भगवान(आत्मा) अंदर (परद्रव्य से) भिन्न प्रभु (है)। यहाँ तो ऐसा कहा कि, अनंतगुण और अनंती एक समय की प्रकट पर्याय, यह द्रव्य - यह वस्तु (है)। अब यहाँ सिद्ध क्या करना है ? (कि), '**इस वचन अनुसार आत्मा ज्ञान से,...**' (ऐसा क्यों कहा ?) क्योंकि (आत्मा) गुण प्रमाण है न ! तो ज्ञान है यह भी इसका गुण है, आहा..हा...! '**इस वचन के अनुसार आत्मा ज्ञान से हीनाधिकतारहितरूप से परिणमित होने के कारण ज्ञानप्रमाण है,...**' क्या कहा ?

'**इस वचन के अनुसार,...**' (अर्थात्) अनंत गुण और एक समय की अनंती प्रकट पर्याय - ऐसा यह द्रव्य है। '**इस वचन के अनुसार आत्मा ज्ञान से,...**' यानी ज्ञानगुण से। जैसे अग्नि उष्णता से सर्व प्रकार से व्यापक है। वैसे भगवानआत्मा ज्ञानप्रमाण है। सारा ज्ञान उसके आत्मा में व्यापक है। कौन सा ज्ञान (व्यापक है) ? यह शास्त्र वाचन (का) ज्ञान नहीं। (बल्कि) अंदर जो ज्ञानगुण है (उससे व्यापक है)। आहा..हा...!

(कहते हैं) '...आत्मा ज्ञान से हीनाधिकतारहितरूप से,...' (अर्थात्) (आत्मा) ज्ञान से हीन नहीं, ज्ञान से अधिक नहीं। '...ज्ञान से हीनाधिकतारहितरूप से परिणमित होने के कारण,...' यह ज्ञानगुण आत्माप्रमाण है और यह ज्ञानगुण परिणमित होता है। वर्तमान पर्याय में ज्ञान की अवस्था होती है। राग, पुण्य-दया-दान (का) विकल्प, यह बात यहाँ नहीं, वह तो सब विकार है। आहा..हा...! समझ में आया ? जैसे अग्नि उष्णताप्रमाण है (वैसे आत्मा ज्ञानप्रमाण है)। (अग्नि के) ऊपर जो राखोडी (राख) होती है न ! वह कोई अग्नि नहीं और वह कोई उष्णता नहीं (है)। वैसे आत्मा ज्ञानप्रमाण है। उसमें जो राखोडी (राख) समान पुण्य-पाप का विकल्प जो है, यह आत्मा नहीं, यह आत्मा की दशा नहीं। आ..हा..हा...! समझ में आया ? सूक्ष्म बात (है), भाई ! '**...आत्मा ज्ञान से हीनाधिकतारहितरूप से परिणमित होने के कारण ज्ञानप्रमाण है,...**'

एक दूसरी बात याद आयी। 'समयसार' कर्ता-कर्म (अधिकार की) ६९-७० गाथा है न ! कि, यह आत्मा है (उसे) ज्ञानगुण से तादात्म्य संबंध है। जानन...जानन...जानन...स्वभाव है (उसे) ज्ञानगुण से तादात्म्य संबंध है। जैसे उष्णता को अग्नि से तद्‌रूप संबंध है, वैसे ज्ञानस्वभाव का आत्मा से तद्‌रूप संबंध है। तो ज्ञान को पकड़ो, (तो) उसमें आत्मा भी पकड़ में आता है। ऐसा आता है न, भाई ? आहा..हा...! पुण्य-पाप का

विकल्प जो राग है, उससे रहित (ज्ञानस्वभाव है)। ज्ञान, ज्ञानस्वरूप (को) पकड़े। ज्ञान पकड़ा तो उसने आत्मा ही पकड़ा। आहा..हा...! यह बात कहते हैं। यहाँ (`प्रवचनसार' में) तो केवलज्ञान सिद्ध करना है।

यहाँ तो पहले से यह आत्मा वस्तु है। (आत्मा में) ज्ञानगुण है तो प्रमाणज्ञान आत्मा है (और) ज्ञान को आत्मा के साथ तादात्म्य संबंध है। जैसे अग्नि में उष्णता तद्रूप है। ऊपर जो राखोडी राख सूक्ष्म छार होती है न ! (उसके साथ) तद्रूप संबंध नहीं। आहा..हा...! वैसे यह भगवानआत्मा ज्ञानप्रमाण वस्तु है। इस ज्ञान से - जानने के स्वभाव से (आत्मा का) तादात्म्य संबंध है। और इस ज्ञानप्रमाण आत्मा में ज्ञान की एकाग्रता होती है, वह स्वाभाविक धार्मिक क्रिया है। समझ में आया ?

श्रोता :- यह तो कठिन पड़ता है !

समाधान :- धीरे से तो कहते हैं। क्या करे लेकिन (वस्तु ही ऐसी है)। यहाँ तो (२३ गाथा में) ज्ञानप्रमाण कहा है (और) वहाँ (समयसार-६९-७० गाथा में) भी ज्ञान के (साथ) आत्मा (को) तादात्म्य संबंध कहा है, भाई ! आहा..हा...! धीरे से समझना, प्रभु ! यह तो सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर की वाणी और उसके भाव सूक्ष्म (है), बापू ! अभी तो कहीं चलता नहीं। संप्रदाय में तो यह बात है ही नहीं। (वहाँ तो) यह क्रिया करो, दया पालो, व्रत करो, उपवास करो...फिर मरो, राग करके! आहा..हा...! ऐसी बात है, बापू !

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु ! एकबार सुन ! यह आत्मा जो वस्तु है, वह ज्ञान नाम जानपणा के स्वभाव से तद्रूप है। यहाँ कहा कि, आत्मा ज्ञानप्रमाण है। वहाँ कहा कि, ज्ञान (से) आत्मा का तादात्म्य संबंध है, समझ में आया ? तो जो ज्ञान को पकड़ता है, (वह) पुण्य-दया, दान, व्रत (का) विकल्प (है) उसको नहीं (पकड़ता)। यह ज्ञान की पर्याय को पकड़ता है, उसने आत्मा ही पकड़ा। और ज्ञानस्वभाव में एकाग्र हुआ (और जो) धर्म की - ज्ञानपरिणति - क्रिया हुई, वह स्वाभाविक क्रिया है। इस क्रिया का निषेध नहीं। परंतु जो ज्ञानस्वभाव आत्मा है, उससे भिन्न शुभ-अशुभ क्रिया का भाव-राग (अर्थात्) दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, अपवास आदि (शुभभाव और) हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना आदि (अशुभभाव) - वह राग की क्रिया है। वह स्वाभाविक धार्मिक क्रिया नहीं। तो अब तक ये सब क्या किया?

श्रोता :- पैसे कमाये !

पूज्य गुरुदेवश्री :- धूल में भी रुपया नहीं कमाया ! अरे..रे...! बापू ! तू कहां है ? वह चीज तेरे में नहीं और उस चीज में तू नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि, पुण्य-पाप का भाव उत्पन्न होता है, वह तेरे में नहीं और उसमें तू नहीं। समझ में आया ? समझ में आये उतना समझना, प्रभु ! यह वीतराग मार्ग तो सूक्ष्म है, भाई! आहा..हा...!

(यहाँ करते हैं), गुण और पर्याय के समुदायरूप आत्मद्रव्य (है), ऐसा पहले सिद्ध किया, पुण्य-पाप, राग आदि (का) समुदाय (रूप आत्मा) नहीं। वह तो विकृतभाव है। अब, उसमें से यह निकाला कि, आत्मा त्रिकाली गुण और पर्याय (सहित) द्रव्य है। उसमें अंदर ज्ञानगुण जो है, वह भी आत्मा के प्रमाण में पहोळा है। (जैसे) अग्नि के प्रमाण में उष्णता पहोळी (है)। `पहोळी' समझे ? पहोळी (माने) चौड़ी। (हमें) पूरी हिन्दी नहीं आती है। हमारी तो गुजराती भाषा है न ! समझ में आया ? (वैसे) आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान आत्माप्रमाण चौड़ा है। आहा..हा...! यह ज्ञानप्रमाण आत्मा (है)।

(कहते है) `...आत्मा ज्ञान से हीनाधिकतारहितरूप से परिणमित होने के कारण,...' ऐसा (कहा), आ..हा..हा...! भगवानआत्मा ! यह देह, वाणी, मन तो भिन्न - जुदा (है)। पुण्य-पाप की क्रिया के जो परिणाम होते हैं, वह भी भिन्न (है)। आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान की एकाकार परिणति जो होती है (अर्थात्) ज्ञानस्वरूप भगवानआत्मा पर्याय में ज्ञान का परिणमन करता है (और) गुण त्रिकाल व्याप्त है (इन दोनों का समुदाय आत्मा है)। क्योंकि गुण और पर्याय(का) समुदाय द्रव्य कहा न ! समझ में आया ? आहा..हा...! मार्ग वीतराग का भारी, भाई !

ऐसा कुछ तुम्हारे करोड़ों रुपयों में दिखे नहीं ! बड़े कारखाने होते हैं न ! (वह) उसके पास होंगे ? वह जड़ है (और) जड़ के पास है। उसके पास तो `पैसा मेरा' ऐसी ममता है। वह ममता कोई आत्मा का स्वरूप नहीं, आहा..हा...! वह ममता कोई आत्मा के प्रमाण में या पर्याय के प्रमाण में नहीं रहती। ममता तो एक समय की विकृत अवस्था - पर्याय है, आहा..हा...!

भगवान यहाँ कहते हैं कि, `समगुणपर्यायं द्रव्यम्' - अनंत गुणों और उसकी वर्तमान

सब अनंती पर्याय (दोनों का समुदाय द्रव्य है)। एक समय में भी अनंती पर्यायें हैं। आ..हा..हा...! प्रकट पर्याय अनंती है ! प्रकट (पर्याय) न हो तो द्रव्य (का) ज्ञान करने में (वहाँ) कुछ रहा नहीं। समझ में आया ? आहा..हा...! एक समय में ज्ञान की पर्याय के साथ अनंत गुण की पर्याय साथ में है। परंतु यहाँ तो ज्ञानप्रमाण आत्मा को सिद्ध करना है।

जानन स्वभाव वह आत्मा - वह आत्मा ज्ञानप्रमाण है। और ज्ञान का परिणमन - पर्याय होती है, वह ज्ञान (स्वभाव की) एकाग्रता से होती है। वह पर्याय और ज्ञान (स्वभाव) आत्मा (है)। आहा..हा...! समझ में आया ? यह ज्ञान का परिणमन जो हुआ - अवस्था हुई (अर्थात्) जानन...जानन...जानन... पर्याय (हुई) - यह परिणमन जो हुआ (यह परिणमन) और गुण - दो मिलकर द्रव्य है, आहा..हा...! यहाँ तो परमात्मा का केवलज्ञान सिद्ध करना है न ! ऐसा सूक्ष्म है, भाई ! आहा..हा...!

(`समयसार') ६९-७० (गाथा में ऐसा कहा), भगवान आत्मा ज्ञान(स्वभावी है)। ज्ञानस्वभाव प्रमाण तादात्म्य है। तो ज्ञान में एकाग्रता होती है, वह आत्मा में ही एकाग्रता हुई। राग में एकाग्रता होती है वह तो विकार है। वह कोई धर्म नहीं और (विकार) आत्मा में नहीं, आहा..हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि, आत्मा ज्ञानस्वभावरूप (है)। ज्ञानप्रमाण में चौड़ा है। (यानि) आत्मा है इतना ही ज्ञान है। और ज्ञान का परिणमन है, यह उसकी पर्याय है। ये गुण और पर्याय (दो मिलकर) द्रव्य है, आहा..हा...! पर्याय क्या और गुण क्या? कौन जाने ? (सामान्य आदमी को तो ऐसा लगे)।

श्रोता :- गुण यानि लाभ !

पूज्य गुरुदेवश्री :- यह (बाहर में) लाभ हो, उसे गुण कहें, ऐसा कहना है न? धूल में भी (लाभ नहीं)। बनिये लिखते हैं न ! `लाभ सवाया' दरवाजे पर लिखे, दीवाल पर (लिखे)। सब खबर है न! हमारे यहाँ भी हुआ था ! नामा (हिसाब) लिखते थे उस समय लिखते थे - `लाभ सवाया...!' धूल में भी लाभ (नहीं)। अज्ञान है।

(यहाँ कहते हैं) **`...आत्मा ज्ञान से हीनाधिकतारहितरूप से परिणमित होने के कारण ज्ञानप्रमाण है,...'** (अर्थात्) आत्मा ज्ञान जितना ही है। समझ में आया ? आहा..हा...! **`...और ज्ञान ज्ञेयनिष्ठ होने से,...'** (अर्थात्) ज्ञान है यह आत्मा प्रमाण है और ज्ञान

जो है, वह जितनी जगत की चीज ज्ञेय है, उसको जानता है, तो ये उसका ज्ञेय है। ज्ञानस्वभाव भगवानआत्मा ज्ञानप्रमाण है और उसका ज्ञान(रूप) परिणमन है, यह ज्ञान की पर्याय परज्ञेय (को) जानती है। स्वज्ञेय और परज्ञेय जिसको जानने में आता है। तो (वह) ज्ञान का ज्ञेय (हुआ)। ज्ञान आत्माप्रमाण (है) और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण (है)। आहा..हा...!

ज्ञान आत्माप्रमाण (कहा, वह) द्रव्य (है)। (और) उसकी परिणति - पर्याय है (उसमें) वह अनंत ज्ञेय का लक्ष करके ज्ञान होता है। (इसलिये) ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। ऐसी आत्मा की बातें हैं। प्रभु के घर की यह बात अभी सब लुप्त हो गई। आहा..हा...! मूल (बात की) खबर नहीं है और `वर विना नी जान' (बिना दुल्हे की बारात) इकट्ठी की। उसे `बारात' नहीं कहते (बल्कि) मनुष्यों का समूह कहते हैं। वैसे आत्मा क्या चीज है, उसके भान और ज्ञान बिना ये सब दया, दान और व्रत की क्रिया की बारात बनाई ! आ..हा..हा...!

अणवर को खाने में पंचों में बिठाते (हैं)। वर को जो (खाना) दे वह उसे भी मिले। वह हमको भी हुआ है न ! एक शादी में मैं अणवर था। ६४ की साल की बात है। पंचों में बिठाते हैं (इसलिये) जैसा दुल्हे को (खाना) दें वैसा अणवर को खाना मिले। बारात को ऐसा नहीं दें। मगर अणवर को कहीं कन्या नहीं देते ?

श्रोता :- अणवर शादीशुदा होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- (मैं) शादीशुदा नहीं था। मैं तो कुंवारा था। यहाँ तो आजीवन शादीशुदा नहीं। मगर मैं ५९ की (साल में) पालेज गया था। और ६४ की (साल में) यह शादी हुई थी। उसमें गये थे इसलिये फिर अणवर बनाया था। यहाँ तो दूसरा कहना है कि, उसे खाना मिले मगर उसे कहीं कन्या नहीं मिलती ! वैसे भगवानआत्मा ज्ञानस्वरूपी क्रिया करे उसे मोक्षरूपी कन्या मिले। पर साथ में राग की - दया, दान और व्रत की क्रिया करे उसे मोक्ष नहीं मिलता। उसे बंधन मिले। आहा..हा...! जगत का बहुत कुछ देखा है, बापू ! छोटी उमर - १७ साल से (देखा है)।

श्रोता :- एक वकालत नहीं की।

पूज्य गुरूदेवश्री :- वह वकालत कैसे करते हैं, ये सब मालूम है, आहा..हा...!

वो भी कहा था न ! हमारे पर ६३ (की साल में) केस चला था। बड़ा अफीम का गलत केस हमारे पर आया था। (एक सिपाही) दुकान पर आया और कहा `बक्षीस दो !' दीवाली की बक्षीस देते हैं न ! सबको देते थे। लेकिन इसको कहा, `तुम्हारा और हमारा क्या संबंध बापू ?' (फिर भी) आठ आना (दिया)। (उसने कहा) `एक रुपया (दो) !' उसमें बड़ा झगड़ा हुआ। केस बडोदा गया। उसका केस बडोदा में चला। (कोर्ट में) बडा प्रेसिड़ेन्ट (था)। उसे तीन हजार का मासिक वेतन (था), उन दिनों में हाँ ! महाजन को गलत पकड़ लिया था। लेकिन प्रेसिडेन्ट और उसके सहयोगी ने जैसे ही हमको देखा (तो) ऐसा कहा कि, `ये लोग अफीम के गुनेगार दिखते नहीं। ये बनिये हैं।' कोर्ट में पिंजरे में खड़े करते हैं न ! लेकिन हमको देखकर कहा, `पिंजरे में नहीं, बाहर खड़े रहो !' तीन घंटे केस चला। कोर्ट में तीन घंटे बहस हुई। वह केस महीना - सवा महीना चला। सात सौ रुपये का खर्च हुआ। तीन घंटे तक मेरी बहस ! बाहर निकलने के बाद मुझे पूछा `कानजी! क्या हुआ ?' (हमने कहा) `मुझे कुछ नहीं हुआ। मैंने तो सत्य बात थी वही कही है। यहाँ किसे डर है ! तीन हजार वेतनवाला हो या दस हजार के वेतनवाला हो, उससे हमें क्या ?' अंत में प्रेसिडेन्ट को ऐसा लगा कि, केस गलत है। वे `पालेज' आये। `बडोदा' से कोर्ट `पालेज' आया। (वहाँ) पूछा और देखकर कहा - `बिलकुल केस झूठा है।' (केस) रद्द कर दिया। वहाँ तक उन्होंने कहा, `भाई ! केस हुआ है और आपको ७०० रुपये का खर्च हुआ है (वह) पुलिस के पास से ले लो। ' हमने कहा, `जाने दो ! बेचारा गरीब इन्सान है।' और हमने छोड़ दिया। १७ वर्ष की उमर में यह केस `पालेज' में चला था। तीन घंटे तक कोर्ट में जवाब दिये थे। (लेकिन) बिलकुल (किसी का भय) नहीं। बेधड़क कोर्ट में जवाब दिये थे।

वैसे यहाँ तो वीतराग कहते हैं वह उसे बेधड़क मानना होगा। यह तो भगवान की कोलेज है, यह तीर्थंकर की कोर्ट है !! समझ में आया ? आ..हा..हा...! भगवान ऐसा कहते हैं, प्रभु ! तू एकबार सुन ! आचार्य (महाराज - ७३ गाथा में) `भगवान' कहकर (तो) बुलाते हैं, `भगवानआत्मा !' आ..हा..हा...! अंदर आनंद का नाथ - अतीन्द्रिय आनंद से भरा हुआ प्रभु (बिराजमान है)।

`जयसेनाचार्यदेव' की टीका में दृष्टांत दिया है। कि जैसे आत्मा ज्ञानप्रमाण है,

वैसे आत्मा अतीन्द्रिय कि, अंदर ज्ञानगुण है वह आत्माप्रमाण है। ऐसे अतीन्द्रिय आनंद आत्मा का गुण है। यह (विषयों में) कल्पना है कि, इसमें सुख है, वह (वास्तव में) तो दु:ख की दशा है। विषय में - स्त्री के विषय में, पैसे में, इज्जत-कीर्ति में मानते हैं कि, मुझे (सुख है)। (लेकिन) वह तो दु:ख (है)। राग का दु:ख है। भगवानआत्मा तो अतीन्द्रिय आनंद से व्यापक (है)। जैसे ज्ञान से आत्मा व्यापक है, वैसे अनादि से अतीन्द्रिय आनंद से व्यापक है। आ..हा..हा...! (लेकिन) खबर कहां है ? अतीन्द्रिय आनंद का आधार भगवानआत्मा है, आ..हा..हा...! सूक्ष्म है, बापू ! (परंतु) अपूर्व है, भाई ! त्रिलोकनाथ `सीमंधर भगवान' कहते हैं वह बात है !!

यहाँ कहते हैं कि, `**...ज्ञान ज्ञेयनिष्ठ होने से,...**' यानी कि ज्ञान में परज्ञेय का निमित्त-आलंबन है। `निष्ठ' का अर्थ यह है। नीचे (अर्थ) है न ! ज्ञेयनिष्ठ = ज्ञेयों का अवलंबन करनेवाला; ज्ञेयो में तत्पर। ज्ञान आत्माप्रमाण (है) और ज्ञान की पर्याय जो है वह ज्ञेयप्रमाण (है)। ज्ञेय तो अनंत (है)। (ज्ञेय) कितने हैं, वह बाद में कहेंगे। ज्ञान की पर्याय ज्ञेय का अवलंबन करती है तो ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है, आहा..हा...! (ज्ञान में ज्ञेय) निमित्त है न ! (इसलिये ऐसा कहा)। ज्ञान ज्ञेय को जानता है न ! जानता है इसलिये अवलंबन लिया, इतना (कहना है)। आहा..हा...!

यहाँ तो सर्वज्ञ परमात्मा की बात है। (परंतु नीचे के गुणस्थान में भी) यह (बात है)। अपना ज्ञानप्रमाण (है)। उस ज्ञान में जब एकाग्रता होती है (तब) ज्ञान की परिणति - पर्याय होती है, (उस समय) जो दया का राग आदि होता है, वह उसका ज्ञेय है। (अर्थात्) राग ज्ञान की पर्याय का ज्ञेय है, आहा..हा...! तो यह ज्ञान की पर्याय ज्ञेयप्रमाण है, आहा...! समझ में आया ? द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों सिद्ध करते हैं। आहा..हा...! अरे..रे...! ऐसी बातें (सुनने भी) मिलती नहीं और जीवन तत्व को समझे बिना ऐसे ही व्यर्थ में चला जा रहा है, आ..हा..हा...!

`**...ज्ञान ज्ञेयनिष्ठ होने से, दाह्यनिष्ठ दहन की भाँति,...**' क्या कहते हैं ? दाह्य नाम जलानेवाली अग्नि। (ऐसी दाह्यनिष्ठ) `**...दहन की भाँति,...**' अग्नि है न ! वह लकड़ा को जलाती है तो अग्नि लकड़ी के आकार हो जाती है। अग्नि लकड़ा को जलाये (और यह) `अडाया' यानि आडे पड़े हुये और सूख जाये वह `अडाया' (कहलाता है)। और गोबर में भूसा डालकर बनाते है वे कन्डे (कहलाते हैं)। वह

सब मालूम है न ! अग्नि कन्डे के आकार होती है। अडाया हो तो उसके आकार होती है। ऐसे ज्ञान की पर्याय ज्ञेय आकार होती है। (लेकिन) है वह ज्ञान का आकार। अग्नि लकड़े के आकार हुयी वह अग्नि का आकार है। परंतु (लकड़ी का आकार कहना) वह निमित्त का कथन हुआ, आहा..हा...! ऐसे आत्मा में ज्ञानगुण जो त्रिकाल है, उसका जो परिणमन है, उस परिणमन में राग आदि ज्ञेय है। ज्ञेयप्रमाण (ज्ञान है)। (अर्थात्) जितना ज्ञेय है उसको ज्ञान जानता है। आ..हा..हा...!

सम्यग्दृष्टि धर्मीजीव जो होता है, वह राग का जाननेवाला रहता है, राग का करनेवाला नहीं रहता, आहा..हा...! क्योंकि वह तो परज्ञेय है। ऐसी बातें कभी जिंदगी में सुनी न हो, आहा..हा...! दुनिया के धंधे में सारा दिन पाप में पड़े हो । और 'धर्म सुनने जाये वहाँ कुगुरु उसका एक घंटा लूट लेते हैं !' - ऐसा 'श्रीमद्' कहते हैं। दया पालो, व्रत करो, उपवास करो (तो) तुम्हारा कल्याण (हो जायेगा)! अरे...! मार डालेंगे ! मार दिया ! आहा..हा...! उसे राग बिना का भगवान (है, इसकी खबर नहीं)। राग है वह ज्ञेय है, (और) ज्ञानप्रमाण आत्मा (है)। उस ज्ञान का परिणमन होता है, वह परिणमन ज्ञेयनिष्ठ (है)। (ज्ञेयनिष्ठ) नाम ज्ञेय (का) अवलंबन है। वास्तविक धर्म की जिसे अंतरदृष्टि हुई है (ऐसे) धर्मीजीव को भी (ज्ञेयप्रमाण ज्ञान है)।

आत्मा आनंदमूर्ति है ! वह ज्ञान का सागर है ! आ..हा..हा...! करोड़ों-करोड़ों सूर्य से भी अधिक जिसका चैतन्यप्रकाश है ! करोड़ों-करोड़ों चंद्र से भी जिसकी शीतलता अनंती है ! करोड़ों-करोड़ों सागर से भी जिसकी गुण की गंभीरता अनंती है, आ..हा..हा...! और आकाश का जैसे पार नहीं है... आ..हा..हा...! वैसे भगवानआत्मा के गुणों का पार नहीं है !! समझ में आता है कुछ ? आहा..हा...! करोड़ों-करोड़ों सूर्य के प्रकाश से भी ज्ञानप्रकाश (अनंत है)। यह तो परिणति की बात है, हों ! आहा..हा...! ज्ञान की परिणति का प्रकाश करोडों-करोडों सूर्य से भी भिन्न जाति (का) है। करोड़ों-करोड़ों चंद्रमा से भी ज्ञान की पर्याय में धर्म परिणति हुई वहाँ शीतलता...शीतलता...शीतलता... (प्रकट हुई), आ..हा..हा...! करोड़ों-करोड़ों सागर की जैसे गंभीरता (है) वैसे एक समय में जो अनंती पर्याय प्रकट होती है, उसकी अनंत गंभीरता (है), आहा..हा...! जैसे आकाश का कहीं अंत नहीं। आ..हा..हा...! (वैसे) उसकी अनंती पर्याय जो आत्मा (के) आश्रय से प्रकट हुई, उस अनंती पर्याय की संख्या

का कोई अंत नहीं, आहा..हा...! समझाय छे कांई ? `समझाय छे' गुजराती भाषा (है)। हिन्दी में `समझ में आता है'? आहा..हा...! यहाँ तो थोड़े शब्द में बहुत भरा है ! बहुत भरा है !! अरे...! तीनलोक के नाथ ! सर्वज्ञ जिनेश्वर प्रभु ! उनकी बात क्या करनी !!

(यहाँ) कहते हैं कि, उसका जो आत्मा है, वह ज्ञानप्रमाण है और परिणति में ज्ञान है वह ज्ञेयप्रमाण है। जितने ज्ञेय हैं, उतना ज्ञान करता है। है ? किसकी भाँति ? `**...दाह्यनिष्ठ दहन की भाँति,...**' दाह्य नाम जलने योग्य जो लकड़ी (आदि), उसकी जो अग्नि जलती है उसकी भाँति, वैसे ज्ञान की पर्याय - अवस्था, जो ज्ञेय है उसके आकार ज्ञान आकार होता है। ऐसी बातें (हैं), भाई मार्ग कोई अलग (है) प्रभु ! वीतराग के आलावा यह (बात) कहीं नहीं है। सर्वज्ञ परमात्मा के अलावा कहीं भी ऐसी बात, तीनकाल में कोई धर्म में है नहीं। अभी तो जैन संप्रदाय में भी यह बात रही नहीं। तो अन्य में तो कहां हो सकती है ? आहा..हा...! समझ में आया?

(अब कहते हैं) ज्ञेय कितना है ? `**ज्ञेय तो लोक और अलोक के विभाग से विभक्त,...**' लोक (यानि) चौदह ब्रह्मांड और अलोक (यानी) खाली (आकाश)। (ऐसे) लोक-अलोक के विभाग से विभक्त (ज्ञेय है)। (`विभक्त' का अर्थ मूल शास्त्र में नीचे दिया है) विभक्त = विभागवाला। (षट्द्रव्यों के समूह में लोक-अलोकरूप दो विभाग है)। आ..हा..हा...! और `**...अनंत पर्यायमाला से आलिंगित,...**' ओ..हो..हो...! लोक-अलोक के दो भाग (हुए)। उससे विभक्त ज्ञेय के भाग। ज्ञेय लोक-अलोक है तो लोक-अलोक(रूप) ज्ञेय के (दो) भाग हुए, आहा...! और `**...अनंत पर्यायमाला से आलिंगित,...**' आ..हा..हा...! लोक और अलोक जो है वह द्रव्य-गुण से तो है लेकिन अनंती पर्यायमाला से भी आलिंगित (है)। द्रव्य में अनंत पर्याय आलिंगित (है)। (यानी) द्रव्य में होती है। आहा..हा...! यहाँ तो (ज्ञेय)निष्ठ कहा है न !

आत्मा ज्ञानप्रमाण, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण और ज्ञेय लोकालोकप्रमाण (है), आहा..हा...! भगवान ने लोकालोक में अनंता द्रव्य देखे। अनंत आत्मा, अनंत परमाणुओं (और) उसकी अनंती पर्यायमाला से आलिंगित है। (अर्थात्) अनंती पर्याय से सहित है, आहा..हा...!

जितने आत्मा और परमाणु जगत में - लोकालोक में हैं, (वे) सब अपनी निर्मल व्यक्त पर्याय से आलिंगित नाम सहित है, आहा..हा...! समझ में आया ? आहा..हा...!

`**ज्ञेय तो लोक** और **अलोक के विभाग से विभक्त, अनंत पर्यायमाला से आलिंगित...**' (`विभक्त' यानी भिन्न। `आलिंगित' यानी सहित)। `अनंत पर्यायमाला' (कहा), देखो ! माला में मणके होते हैं न ! वैसे अनंत द्रव्य में समय-समय की अनंती पर्याय (है)। समय एक लेकिन पर्याय अनंती ! दूसरे समय में अनंती, तीसरे समय में अनंती, (वैसे) सब द्रव्य अनंती पर्यायमाला से सहित है। कोई द्रव्य पर्याय बिना का है नहीं, आहा..हा...! ये सब आत्मा की ज्ञान की पर्याय का ज्ञेय है। सूक्ष्म बात है, भाई ! यह भगवान की वाणी तो सूक्ष्म है, बहुत सूक्ष्म (है)।

अभी तो बहुत फेरफार हो गया इसलिये नया लगे कि, ये क्या कहते हैं ? वहाँ जाये तो (ऐस कहे), `प्रतिक्रमण करो तो तुम्हारे पाप धुल जायेंगे !' धूल भी नहीं होगा, सुनो ना !

श्रोता :- एक सामायिक में पाँच उपवास का फल होता है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- धूल में भी सामायिक नहीं है। अज्ञानी को कैसी सामायिक? अभी आत्मा क्या है ? ज्ञानस्वरूप, आनंदस्वरूप उसकी दृष्टि - अनुभव नहीं, वहाँ सामायिक कहाँ से आई ? राग की मंदता का मिथ्यात्वसहित भाव होता है। उसे लोग सामायिक मानते हैं ! पोसा (पौषध), सामायिक, प्रतिक्रमण ये सब क्रिया में राग है। राग को प्रतिक्रमण और सामायिक मानते हैं। राग तो विकार है, जो आत्मा में है ही नहीं, आहा..हा...! (राग तो) ज़हर है !

(इस बात का) विरोध हुआ था न ! `**सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा**' (`समयसार' गाथा-४ है, उसमें) चौथे (पद का) अर्थ किया था (कि), काम-भोग राग की कथा (है), जहर है, विष्टा समान है। तो (उन्होंने कहा), `ऐसा अर्थ में कुछ नहीं।' सुन ने ! काम-भोग यानि राग। राग और राग का भाव जहर समान है। विष्टा समान कहा है तो विष्टा तो भूंड भी खाते हैं (लेकिन) राग तो जहर है। चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति के शुभ परिणाम (हो), वह जहर है।

(यहाँ) क्या कहा ? कि, आत्मा में ज्ञान है। यह ज्ञानगुण प्रमाण आत्मा है। `**आदा णाणपमाणं**' है न ? आत्मा ज्ञानप्रमाण (है)। पहला मूलपद है। `**णाणं णेयप्पमाण**' और ज्ञान की पर्याय, जितने ज्ञेय हैं उस प्रमाण से ज्ञान की पर्याय परिणमित है। ज्ञेयाकार निमित्त से कहने में आया है। परंतु ज्ञानाकार जितने ज्ञेय (है) उस रूप

परिणमित है। इसमें से एक शब्द इधर-उधर जो हाये तो फेरफार हो जाय ऐसा है, बापू ! यह तो वीतराग की कोर्ट है, आहा..हा...! है ?

`...अनंत पर्यायमाला से आलिंगित,...' अनंत लोक-अलोक है। उसमें छ: द्रव्य है। वह प्रत्येक द्रव्य अपनी अवस्था - पर्यायमाला से सहित है। अनंत पदार्थ अपनी पर्याय से सहित है। कोई भी पदार्थ पर्याय बिना का - व्यक्त पर्याय बिना का होता नहीं। समझ में आया ? आ..हा..हा...! पर्याय समझे न! प्रकटदशा - अवस्था। जैसे सोना है न सोना ? उसे `द्रव्य' कहते हैं। और उसमें पीलापन, चिकनापन (है), उसे `गुण' कहते हैं। और उस सोना में से कुंडल, कड़ा, अंगूठी होते है, उसे `पर्याय-अवस्था' कहते हैं। वैसे आत्मा है, वह सोना समान त्रिकाली द्रव्य (है)। सोने में जैसे पीलापन, चिकनापन, वजन (है), वैसे आत्मा के ज्ञान, दर्शन, आनंद त्रिकाली (गुण है)। और उसमें जैसे कुंडल, कड़ा, अंगूठी अवस्था होती है, वैसे आत्मा में ज्ञान की, दर्शन की, वर्तमान पर्याय होती है, उसे अवस्था कहते हैं। आहा..हा...! भाषा तो सादी है, प्रभु ! परंतु भाव तो जो है सो है, दूसरा क्या करें ? आहा..हा...!

लोक-अलोक जो ज्ञान की पर्याय का ज्ञेय है, ज्ञान की पर्याय में जो आलंबन - निमित्त है, (ऐसे लोक-अलोक) अनंत पर्यायमाला से सहित है। आलिंगित नाम सहित। समझ में आया ? जितने अनंत द्रव्य जगत में है, (वे) कोई समय भी पर्याय बिना का नहीं है, आहा..हा...! `**...अनंत पर्यायमाला से आलिंगित स्वरूप से सूचित (प्रगट, ज्ञान), नाशवान दिखाई देता हुआ भी,...**' क्या कहते हैं ? प्रत्येक पदार्थ (में) पर्याय-अवस्था बदलती दिखती है। यह अवस्था-पर्यायमाला से नाशवान दिखती होने पर भी `**...ध्रुव ऐसा षट्द्रव्य-समूह,...**' आ..हा..हा...!

अनंत-अनंत आत्मा और अनंत परमाणु अपनी अनंती पर्यायमाला से सहित है। वह पर्याय-अवस्था है (और) अवस्था बदलती है। ऐसी (अवस्था) बदलती होने पर भी (द्रव्य) वस्तु तरीके ध्रुव है, आ..हा..हा...! समझ में आया ? (वस्तु) पर्याय से बदलती है परंतु वस्तु तरीके-द्रव्य तरीके ध्रुव है। ध्रुव है वह बदलता नहीं (और) बदलती पर्याय ध्रुव नहीं।

सोना की कुंडल, कड़ा, अंगूठी (आदि) पर्याय बदलती है। परंतु सोना (जो) ध्रुव है वह कभी बदलता है ? सोना तो सोनापने कायम रहता है। वैसे भगवानआत्मा

(और) सब द्रव्य-परमाणु आदि लो न ! यह परमाणु है, उसकी अवस्था पहले धूल की थी, बाद में गेहूं की थी, बाद में लोट की - आटे की (हुई), अभी खून की है, तो (ये) अवस्था - पर्याय से परमाणु सहित है। पर्याय बदलती है फिर भी परमाणु अंदर ध्रुव है, आहा..हा...! भाषा तो सादी है, प्रभु !

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि, आत्मा ज्ञानप्रमाण (है), ज्ञान ज्ञेयप्रमाण (है, और) ज्ञेय लोकालोकप्रमाण (है)। (ज्ञेय का) दो भाग - (लोक और अलोक)। और इस लोकालोक में प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय-अवस्था से सहित है। (यह) अवस्था बदलती है। फिर भी वस्तु तरीके ध्रुव है। यह ज्ञान की पर्याय का ज्ञेय है, आहा..हा...! समझ में आता है कुछ ? एक घंटे में ऐसी अलग-अलग बातें करते हैं। उपाश्रय में सुनने मिले नहीं, देरासर में मिले नहीं। सारी बात में बहुत फेरफार हो गया, आहा..हा...!

(यहाँ कहते हैं) '**...नाशवान दिखाई देता हुआ,...**' (अर्थात्) अवस्था बदलती है, ऐसा दिखाई देता हुआ। '**...ध्रुव ऐसा षट्द्रव्य-समूह,...**' भगवान ने षट्द्रव्य देखा है। षट् है न ? (यानी) छ: द्रव्य। अनंत आत्मा, अनंत परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय, एक आकाश (ऐसे) भगवान ने छ: द्रव्य देखे हैं। (वह) अनंत (हैं)। संख्या से अनंत (हैं) परंतु जाति से छ: (है), आहा..हा...! जैसे कि आत्मद्रव्य (जाति से एक है) परंतु (संख्या से) अनंत आत्मा हैं। यह परमाणु-रजकण द्रव्य (एक है) परंतु संख्या से अनंत (है)। ऐसे (द्रव्य की) जाति छ: (है)। आत्मा, परमाणु, कालाणु, धर्मास्ति, अधर्मास्ति और आकाश - फिर भी हैं अनंत। ये अनंत परमाणु, अनंत आत्मायें और धर्मास्ति आदि (द्रव्य की) पर्याय बदलती है, फिर भी वस्तु तरीके ध्रुव है। ये (सब) ज्ञान की पर्याय का ज्ञेय है, आहा..हा...! '**...अर्थात् सब कुछ है।**' सब कुछ ये है। षट्द्रव्य यानि सब, आत्मा भी उसमें आ गया। '**सब कुछ**' है न ? आहा..हा...!

षट्द्रव्य-समूह (अर्थात्) भगवान ने जाति से छ: द्रव्य देखे हैं। (वे) संख्या से अनंत (हैं)। ये सब ज्ञान की पर्याय का ज्ञेय है, आ..हा..हा...! अपना द्रव्य-गुण भी ज्ञान की पर्याय का ज्ञेय है और (बाकी) सब कुछ (भी) ज्ञेय हैं, आहा..हा...! समझ में आता है कुछ ?

'(**ज्ञेय छहों द्रव्यों का समूह अर्थात् सब कुछ है**) **इसलिये निःशेष आवरण के**

क्षय के समय ही,...' इस कारण से भगवान को - परमात्मा को -अरिहंत को जब केवलज्ञान होता है। `**...निःशेष आवरण,...**' (यानी) सब आवरण के क्षय के समय। अपने शुद्ध उपयोग के परिणमन से भगवान को चार घातीकर्म का नाश होता है। दया, दान, व्रत का (भाव) तो शुभभाव (है), बंध का कारण है। वह (क्षय का कारण) नहीं। अपना आत्मा, शुद्ध चैतन्यघन उसका शुद्ध जो द्रव्य और गुण है, इस शुद्ध (स्वरूप का) उपयोग(रूप) परिणमन करने से - शुद्ध उपयोग के परिणमन से केवलज्ञान उत्पन्न होता है, आहा..हा...! अरे...! बात-बात में फेर बहुत ! ऐसा है प्रभु ! मार्ग ऐसा है, भाई ! अरे..रे...! प्रभु तीनलोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं (और) इस प्रकार वस्तु की स्थिति है, आहा...!

`**निःशेष आवरण,...** (यानी) बाकी रहे बिना। सब आवरण के `**...क्षय के समय ही लोक और अलोक के विभाग से विभक्त,...**' लोक और अलोक दो भाग हुये न ! (इसलिये विभक्त कहा)। `**...समस्त वस्तुओं के आकारों के पार को प्राप्त करके,...**' आ..हा..हा...! (ज्ञान) सब वस्तु के आकार ज्ञेयाकार हो जाता है (अर्थात्) जितना ज्ञेय है उसी आकार ज्ञान हो जाता है। ज्ञेयाकार कहने में निमित्त से कथन है। ज्ञानाकार कहने में अपनी पर्याय से (कथन है)। जितना ज्ञेय है, उसी आकार ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान आकार हुआ है, परज्ञेय आकार नहीं, आहा..हा...! है ?

`**...समस्त वस्तुओं के आकारों,...**' यानी विशेष दशा आदि `...**पार को प्राप्त कर के,...**' आहा...! भगवान केवलज्ञानी परमात्मा अरिहंत को केवलज्ञान में सब लोकालोक जानने में आता है। `**...इसी प्रकार अच्युतरूप रहने से ज्ञान सर्वगत है।**' ऐसा (ज्ञान) होने पर भी ज्ञानगुण से भी तो अच्युत है। ऐसे ज्ञान सर्वगत है। यह ज्ञान सर्वगत है। (यानि) ज्ञान सबको जानता है। भगवान की ज्ञान की पर्याय है वह सबको जानती है। लोकालोक - तीनकाल तीनलोक (सहित जानते हैं) ! आ..हा..हा...!

श्रोता :- भविष्य का कितना जाने ?

समाधान :- भूत और भविष्य अनंत (जानते हैं)। अनंत...अनंत... भविष्य का अंत नहीं, उसको भगवान जानते हैं। अनादि...अनादि...अनादि...! द्रव्य पहला है और पर्याय बाद में है, ऐसा है ? द्रव्य और पर्याय अनादि से है तो भी भगवान जानते हैं। सूक्ष्म बात है, भाई ! आहा..हा...!

यहाँ तो आत्मा ज्ञानप्रमाण, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण (और) ज्ञेय लोकालोकप्रमाण (है), ऐसा सिद्ध करना है। भगवान ज्ञानप्रमाण (है)। रागादि (प्रमाण) नहीं। और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण (है)। यह (ज्ञान) रागादि ज्ञेय को जाने। और ज्ञेय लोकालोकप्रमाण (है)। लोकालोक अनंती पर्यायमाला सहित ध्रुव (है) ! आ..हा..हा...! व्यापार-धंधा में फँसे बनिये को फुरसत नहीं मिलती, उसमें ऐसी बातें समझनी ! बनियों को जैनधर्म हाथ आया और बनिया व्यापार में लग गया। सारा दिन ये करूँ...ये करूँ... उसमें मर गया। दुकान पर बैठा हो और उसमें अगर ५००-७००-१००० की रोज की कमाई होती हो, (तो) उसमें लीन हो जाता है। धूल में भी कुछ नहीं है, सुन न ! अकेला राग है। राग किया है। बाकी पर का तो कुछ लेना-देना आत्मा कर सकता नहीं। आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं, '**...इसी प्रकार अच्युतरूप रहने से,...**' (यानी) जो ज्ञान की पर्याय अच्युतरूप से जानती है, उसमें फेरफार नहीं होता। इस प्रकार आत्मा पर्यायादि सब को जानता है। ऐसा आत्मा का द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वभाव है, यह बात यहाँ सिद्ध की है। विशेष कहेंगे...

दिनांक २६-१-१९७९ - प्रवचन नंबर-२०

('प्रवचनसार') ! २३ गाथा (चलती है)। उसका भावार्थ है न ? 'गुण-पर्यायों से द्रव्य अनन्य है,...' सूक्ष्म बात है, भाई ! प्रत्येक आत्मा परमाणु जो वस्तु है, वह अपने त्रिकाली गुण और वर्तमान पर्याय से अनन्य है। पर्याय और गुण से, द्रव्य भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं। जैसे यह आत्मा है वह अपना ज्ञानादि त्रिकाली गुण है, उससे अनन्य है, भिन्न नहीं। और उसकी पर्याय होती है वह पर्याय भी आत्मद्रव्य से अनेरी (भिन्न) नहीं। उस पर्याय में हीनाधिकता होती है, वह अपनी योग्यता से होती है। उसमें ज्ञानावरणीयकर्म निमित्त (हैं, ऐसा) कहते हैं।

सबेरे कहा था कि अज्ञान में ज्ञानावरणीय निमित्त है। परंतु वास्तव में विपरीत ज्ञान में मोह निमित्त है, आहा..हा...! यहाँ तो ज्ञान (का) जानपना (है), यह स्वभाव (है)। बाहर का (जाने वह स्वभाव ऐसा) यहाँ नहीं। जैसे अग्नि उष्णता से अनन्य

है। उष्णता भिन्न और अग्नि भिन्न, ऐसा नहीं (है)। ऐसे भगवानआत्मा...! आहा...! उसका जो ज्ञानगुण है उससे अनन्य है। अर्थात् गुण और द्रव्य भिन्न-भिन्न चीज नहीं (है)। और उसकी जो पर्याय-अवस्था है वह भी आत्मद्रव्य से भिन्न नहीं (बल्कि) अनन्य है। समझ में आता है ? आत्मा विपरीत पर्याय - अज्ञान करता है तो उसमें मोह निमित्त कहने में आता है, आहा..हा...!

दूसरा एक विचार आया था कि, उस ज्ञान में कमी - वृद्धि, हीन - अधिक पर्याय होती है, वह अपने से होती है। उसमें ज्ञानावरणीय निमित्त है। ऐसी बात है !

एक दूसरी बात। आज तो एक बात आयी थी, सब जगह पुरुषाकार (आकृति) करते हैं न ! `जीवा नाम परस्पर उपग्रहो' (ऐसा उस पर लिखते हैं)। वह तो बहुत समय पहले कहा था - `परस्पर उपग्रहो' नाम निमित्त से कथन है। गुरु शिष्य को निमित्त होते हैं (और) शिष्य गुरु को निमित्त होता है। (इसका अर्थ) गुरु कोई शिष्य का कार्य कर दे और गुरू के शरीर का कार्य कोई शिष्य कर दे, ऐसा है नहीं, आहा..हा...! आज कल तो ये बात बहुत चली है न ! - `परस्पर उपग्रहो' ! परस्पर उपकार (करते हैं)। (लेकिन) उपकार की व्याख्या ही ऐसी है (कि), परद्रव्य में जब जो पर्याय होती है तब उपकार नाम निमित्त है तो उपकार कहने में आता है, आहा..हा...! समझ में आया ? एक-दूसरे का उपकार करते हैं, ऐसा कहते हैं न ? (लेकिन) उपकार का अर्थ ऐसा है नहीं। `सर्वार्थसिद्धि' में लिया है, भाई ! कि, उपकार का अर्थ इतना (है) कि, जब परद्रव्य की पर्याय होती है, उसमें निमित्त को उपकार कहने में आता है। उपकार करे किसका ? आहा...!

उस सूत्र के पहले (एक) सूत्र आया है कि, `ये शरीर, मन वाणी है (तो इस) पुद्गल का आत्मा में उपकार है !' भाई ! क्या कहा ? ऐसा पाठ है। उपकार का अर्थ निमित्त है। आहा..हा...! यह श्वास है, मन है, वाणी है, शरीर है - ये आत्मा को उपकार (करते हैं)। (अर्थात्) पुद्गल उपकार करता है। उसका अर्थ कि, पुद्गल निमित्तरूप से होता है। (वास्तव में तो) पुद्गल को आत्मा छूता नहीं और आत्मा को पुद्गल कभी पुद्गल छूता नहीं। भले एक जगह में (दोनों) रहे हो (फिर भी) एक दूसरे को कुछ कर सकते नहीं। सूक्ष्म बात बहुत (है), भाई ! समझ में

आया ? ऐसा पाठ है, लो ! `परस्पर उपग्रहो' है न उसके पहले यह पाठ है। `तत्वार्थसूत्र' में पाँचवें अध्याय में (ऐसा आता है) कि, `पुद्गलानाम उपग्रहो' - उपकार है। उसका अर्थ कि, यहाँ पुद्गल है, बस ! (इतना)। जीव में पुद्गल निमित्त है तो उसको यहाँ पुद्गल का उपकार कहने में आया।

श्रोता :- एक ओर उपकार कहना और ऐसा अर्थ करना ?

समाधान :- उपकार की व्याख्या ही यह है। बहुत साल पहले यह बात कही थी। अभी तो चारों और साधु प्ररूपणा ही ऐसी करते हैं - `एक दूसरे का उपकार करो ! कुछ दो - (कुछ) लो !' उपकार की व्याख्या ही तुझे मालूम नहीं, प्रभु! `उपकार' की यह व्याख्या `सर्वार्थसिद्धि' में ली है। आत्मा में पुद्गल का उपकार है, उसका अर्थ क्या ? ये शरीर, मन, वाणी, पुद्गल का आत्मा में उपकार है, उसका अर्थ क्या ? (कि) निमित्त है, (इतना)। (बाकी एक-दूसरे का) कार्य करे नहीं। वह निमित्त है, इतना। (जो) कार्य होता है वह अपने से होता है। सूक्ष्म बात बहुत, बापू ! आहा..हा...!

वह बात तो बहुत बार कही थी न ! यह देह, देखो ! (उसमें) ऐसी-ऐसी अवस्था होती है, वह तो उससे होती है। उसमें आत्मा की इच्छा को निमित्त कहने में आता है। परंतु इच्छा से (ऐसी अवस्था) हुई, ऐसी बात है नहीं। जगत जो भिन्न तत्व है, (उसकी) खबर नहीं। समझ में आया ? आहा...!

यह वाणी होती है वाणी, यह जड़ की दशा है। शब्द वर्गणा (के) परमाणु मिट्टी है। वह (वाणी की) पर्याय अपने से होती है तो इच्छा को निमित्त कहने में आता है। परंतु इच्छा से वह भाषा होती है, (ऐसा) तीनकाल तीनलोक में नहीं (है)। लोगों को एक तत्व से (दूसरा) तत्व भिन्न है (इसकी खबर नहीं)। दूसरा तत्व का अन्य करे क्या ? आहा..हा...!

आत्मा गति करता है तो धर्मास्तिकाय सहाय करता है, लो ! (ऐसा भी आता है)। भाई ! `सहाय' शब्द आता है। उसका अर्थ क्या ? आत्मा गति करता है, शरीर गति करता है, तो भगवान ने `धर्मास्तिकाय' (नाम का) अरूपी पदार्थ देखा है, (वह गति करने में) निमित्त है। `सहाय' (करते हैं) ऐसा कहते हैं। सहाय का अर्थ है (बस इतना)। कोई मदद करता है, ऐसा है ही नहीं। बहुत सूक्ष्म बातें...! आहा...!

तत्व क्यों है (इसकी खबर नहीं)। नौ तत्व भिन्न-भिन्न हैं। (भिन्न-भिन्न नहीं हो तो) नौ तत्व ही रह करते नहीं। परमाणु - शरीर, वाणी, मन आदि अजीवतत्व भिन्न है। भगवान आत्मा अरूपी भिन्न है। पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह भी भिन्न है, आहा..हा...!

यहाँ तो ये सिद्ध करना है कि, आत्मा जो है, वह अपने गुण-पर्याय से एक-मेक है। आत्मा जो वस्तु है (वह अपने गुण-पर्याय से अनन्य है)। (यहाँ जो सिद्धांत कहा है) यह तो सब (द्रव्य के) लिये हैं कि, '**गुण-पर्यायों से द्रव्य अनन्य है,...**' इतना! समझ में आया ? '**...इसलिये,...**' (यानी) नाम (गुण-पर्याय से) अनेरी-अनेरी नहीं। प्रत्येक वस्तु अपने गुण और अपनी पर्याय से एकमेक है। ऐसी बातें (हैं)।

यह शरीर है, देखो ! यह परमाणु है तो (इस) परमाणु के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से यह परमाणु अनन्य है और उसकी अवस्था होती है तो वह परमाणु से अनन्य है। समझ में आया ? ऐसी बात है।

ऐसे आत्मा (में) ज्ञानादि जो त्रिकाली अनंतगुण है, इस त्रिकाली गुण से आत्मा अनन्य है। भिन्न गुण और भिन्न द्रव्य, ऐसा नहीं। और उसकी वर्तमान पर्याय होती है, इस पर्याय से भी भगवानआत्मा अनन्य (है)। पर्याय अनेरी और द्रव्य अनेरा, ऐसा नहीं (है)। ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। आ..हा..हा...! कहो, समझ में आता है कुछ? आहा..हा...!

पहले तो यह सिद्धांत कि, 'ढाई का मन तो चार पैसे के शेर।' यह कुंची है। समझ में आया ? ढाई रुपये का मन तो ३७॥ शेर के ३७॥ आने। ढाई रुपये का मन तो ६॥ शेर के ६॥ आने। यह तो दृष्टांत कहा। ऐसे भगवानआत्मा या प्रत्येक पदार्थ, अपनी कायम रहनेवाली शक्ति नाम गुण और उसकी वर्तमान होनेवाली अवस्था - ये अवस्था और गुण से द्रव्य अनन्य-एक ही है। भिन्न-भिन्न चीज नहीं, आहा..हा...! बापू ! यह कोई कहानी नहीं है। यह तो भगवान की कथा है !

(यहाँ कहते हैं) '**गुण-पर्यायों से द्रव्य अनन्य है,...**' (अभी तो) अनन्य (का अर्थ) समझे नहीं। (अनन्य नाम) गुण और पर्याय, द्रव्य से - वस्तु से अलग नहीं। समझ में आया ? अग्नि उष्णता से जुदी नहीं और उष्णता की वर्तमान पर्याय जो उष्ण है (वह अग्नि से अनन्य है)। उष्णता तो उसका (अग्नि का) गुण है। अग्नि जो है उसका उष्ण गुण है, तो (उष्ण) गुण और अग्नि अनन्य है। भिन्न-भिन्न नहीं -

अनन्य है। और उष्णता की वर्तमान पर्याय जो उष्ण है, इस पर्याय से भी द्रव्य अनन्य (है) - वही है। भिन्न पर्याय, भिन्न गुण और भिन्न द्रव्य, ऐसा नहीं (है)। भगवान का मार्ग सूक्ष्म बहुत, भाई ! क्या हो (सकता है) ? लोगों को तत्व की खबर नहीं और (मानते हैं) धर्म हो जायेगा ! आ..हा..हा...!

श्रोता :- (तीनों का) स्वरूप तो अन्य-अन्य है, क्षेत्र एक है।

समाधान :- अभी वह बात ही नहीं। अभी तो, परद्रव्य से भिन्न और अपने गुण-पर्याय से अभिन्न (है), इतना सिद्ध करना है। यहाँ तो अनंतगुण सिद्ध करना है। ज्ञान आत्माप्रमाण (और) आत्मा ज्ञानप्रमाण, ऐसा सिद्ध करना है। वस्तु (सिद्ध करनी है)। बाद में उसकी पर्याय जो है (वह वस्तु से भिन्न है, ऐसा लेना)। (लेकिन) अभी बहुत सूक्ष्म पडेगा। अभी इसका काम नहीं है। नहीं तो, उसकी पर्याय जो है उसका क्षेत्र भिन्न है और द्रव्य-गुण का क्षेत्र भिन्न है। वह तो बहुत दूर की बात है, भाई! साधारण इन्सान को बेचारे को पकड़ में नहीं आये, समझ में आया ?

यहाँ तो इतना सिद्ध करना है कि, सोना जो है सोना - यह द्रव्य (है)। और उसमें पीलापन, चिकनापन, वजन (है) यह गुण (है)। इस गुण से सोना भिन्न नहीं (है)। और सोने की जो कुंडल, कड़ा (आदि) अवस्था होती है, वह अवस्था सोने से भिन्न नहीं। वह अवस्था सोना से अनन्य - एकमेक है। इतना सिद्ध करना है।

यह तो प्रत्येक वस्तु की बात कही। `**...इसलिये,...**' इस कारण यह सिद्धांत पहले कहा। मन के ढाई रुपये तो ३७॥ शेर के ३७॥ आने। वैसे प्रत्येक द्रव्य (गुण-पर्याय से) अनन्य है। `**...इसलिये आत्मा ज्ञान से हीनाधिक होने से,...**' आहा..हा...! यह आत्मा जो है उसमें ज्ञानगुण है, उससे हीन-अधिक नहीं। ज्ञानगुण से आत्मा हीन या अधिक (है), ऐसा नहीं। ज्ञानगुण से अभेद है। पूर्ण गुण, पूर्ण द्रव्य के साथ अभेद है, आहा..हा...! यह तो तत्वज्ञान का विषय है, भाई ! यह कोई वार्ता नहीं है। उसे समझने के लिये मध्यस्थता चाहिये, आग्रह छोडकर (समझना चाहिये), आहा..हा...!

भगवान तीनलोक के नाथ जिनेश्वरदेव का यह फरमान है कि, प्रत्येक वस्तु - परमाणु या आत्मा (गुण-पर्याय से अनन्य है)। प्रत्येक आत्मा के गुण और उसकी पर्याय - अवस्था (वस्तु से भिन्न नहीं)। वैसे परमाणु के गुण और उसकी अवस्था - ये गुण और पर्याय से वस्तु भिन्न नहीं है। समझ में आया? आहा..हा...!

`**...इसलिये आत्म ज्ञान से,...**' (अर्थात्) ज्ञानस्वभाव अपना गुण है तो (इस) गुण से आत्मा भिन्न नहीं, तो गुण से हिनाधिक भी नहीं (है)। आहा...! `**...ज्ञान जितना ही है,...**' (अर्थात्) आत्मा ज्ञान से हीनाधिक नहीं, ज्ञान जितना आत्मा है। यह शरीर, मन, वाणी की बात तो यहाँ है ही नहीं। वह तो जड़ है, पर है। आहा..हा...! अभी तो नौ तत्व में आत्मतत्व कितना है, उसकी श्रद्धा कराते हैं। ऐसे ही आत्मा को मान ले (तो) उसको कुछ खबर नहीं है।

`**...इसलिये,...**' (यानी) इस कारण से। `**...आत्मा,...**' वस्तु जो अंदर भगवानआत्मा (है, वह) अपने ज्ञानगुण से अधिक या हीन `**...न होने से ज्ञान जितना ही है,...**' अग्नि उष्णतागुण से हीनाधिक नहीं। इसलिये अग्नि उष्णस्वरूप ही है। आहा..हा...! समझ में आता है ?

भाई ! वीतराग मार्ग तो अभी लुप्त हो गया है ! अभी तो सबको क्रियाकांड में जोड़ दिया बेचारों को ! राग करो, व्रत करो, अपवास करो (कहते है लेकिन वह सब) राग की क्रिया है। राग की क्रिया भी विकार है। (ऐसे) राग की क्रिया होती है (इसलिये) आहार नहीं आता है, ऐसा नहीं। आहार तो आनेवाला नहीं था, तब अपनी पर्याय में राग हुआ कि, `मैं आज आहार नहीं करूं।' परंतु वह राग का कर्ता होता है। पर का त्याग-ग्रहण तो आत्मा में है ही नहीं, परंतु `मैं आज अपवास करूं' ऐसा विकल्प - राग उठा है, उस राग का कर्ता होता है वह भी मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, मूढ़ है, क्योंकि राग तत्व भिन्न है और ज्ञायकतत्व भिन्न है, आत्मा ज्ञान से हीनाधिक नहीं। लेकिन आत्मा में राग तो है ही नहीं, आहा..हा...! ऐसी बातें (हैं)!

यहाँ तो `सोनगढ' में - जंगल में आ पड़े हैं, बापू ! नहीं तो संप्रदाय में तो रहने न दे, छूट गये वहाँ से तो ! ये ऐसा क्या कहते हैं ? (ऐसा लगे)। ऐसा मार्ग (है), प्रभु ! तेरी चीज कितनी, कहां कितने प्रमाण में है, ये बताते हैं, आहा..हा...! यहाँ तो एक ज्ञान से बात को सिद्ध करना है, बाद में लेंगे कि, आत्मा ज्ञानप्रमाण है (और) आत्मा ज्ञान और आनंद आदि (गुण से) सहित है। वह बाद में लेंगे। जो आत्मा है यह ज्ञान है। यह आत्मा है (वह) त्रिकाली ज्ञानस्वभाव (है)। आत्मा ज्ञान(स्वरूप) भी है और अतीन्द्रिय आनंद और शांति भी आत्मा में ही, आहा...! वह बाद में लेंगे। आहा..हा...!

अरे...! मेट्रीक पढ़ने के लिये भी पाँच-सात साल निकालते हैं। (वह भी) पाप के ज्ञान (के लिये)। यह समझने के लिये तो समय चाहिये, भाई ! यह तो भगवान परमात्मा का तत्वज्ञान है ! आहा..हा...! उसे समझने के लिये थोड़ा समय निकालना चाहिये। अरे...! ऐसा मनुष्यपना कब मिले और कब भगवान ने कहे इस तत्व का सच्चा ज्ञान हो ! कब उसको सच्चा ज्ञान होगा ? समझ में आया ? आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं, `**गुण-पर्यायों से द्रव्य अनन्य है,...**' एक वस्तु में द्रव्य-गुण-पर्याय तीन शब्द है। द्रव्य (अर्थात्) त्रिकाली चीज। आत्मा में त्रिकाली ज्ञान आदि गुण और पर्याय-वर्तमान अवस्था ये अवस्था और गुण, यह द्रव्य में अनन्य नाम जुदा नहीं। `**...इसलिये,...**' इस कारण से। `**...आत्मा ज्ञान से हीनाधिक न होने से ज्ञान जितना ही है;...**' जानपना का स्वभाव है, इतना ही आत्मा है, आहा..हा...! आत्मा रागप्रमाण है, ऐसा नहीं। दया, दान, व्रत का जो विकल्प-वृत्ति उठती है, वह तो भिन्न विकार है। वह आत्मा में है ही नहीं, आहा..हा...!

अब दृष्टांत (लेते हैं)। `जैसे दाह्य (जलने योग्य पदार्थ...)' लकड़ी, छाने...(छाने को) गोबर कहते हैं न ! अडाया,.. अडाया और छाना दोनों में फर्क है, सबको सब खबर है न ! आहा..हा...!

एकबार तो यहाँ तक कहा था कि, ये बनिये (लोग में) शादी होती है न, शादी! उसमें औरतें ऐसा बोलतीं हैं। ये तो कितना झूठ बोलती हैं (वह कहना है)। शादी करने को आदमी आता है न! (तो ऐसा गाते हैं) `एक आया था परदेशी पोपटा, बेन रमती थी मंडप के नीचे, धुतारा धुत गया।' सब खबर है। अणवर को भी ऐसा कहे कि, `अणवर की कुत्ती से शादी कराओ रे...!' ये बनिये को कुछ अक्कल भी (नहीं है)। अरे...! नैतिक की भाषा का भी ठिकाना नहीं, आहा..हा...! `एक आया था परदेशी पोपटा' (यानी) वर (दुल्हा) आया वह। मगर तू सामैया करके लाया है। `एक आया था परदेशी पोपटा, बेन रमती थी मंडप के नीचे।' मांडवा को मंडप (कहते हैं)। वहाँ (लड़की) खेल रही थी। `धुतारा धुत गया' - ठीक ! ऐसे ही ऐसे झूठे। आपके हिन्दी में भी ऐसा कुछ होगा। सब ठिकाने होता है न ! `चूल्हे में सब जगह राख ही होती है' - चूल्हे में राख होती है, चूल्हे में कहीं कस्तूरी नहीं होती। ऐसे सब ठिकाने ऐसे गप ही (झूठ ही) चलता है। आहा..हा...! अरे...प्रभु ! ये क्या

है ? तू कौन ? और कौन तुझे ले जाये ? तू कहां है ? आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, स्त्री का आत्मा भी ज्ञान आदि अनंतगुण और उसकी पर्यायसहित वह आत्मा है। आहा..हा...! अरे..रे...! क्या हो सकता है ? ऐसी बात भी सुनने मिले नहीं। वहाँ उसे बेचारे को ज्ञान कैसे हो ? ऐसी ही अज्ञान में जिंदगी चली जाती है। आहा...!

यहाँ कहते हैं, '**...जैसे दाह्य,...**' (अर्थात्) जलने योग्य लकड़ी, जलने योग्य छाने, जलने योग्य कपड़े, (ऐसे) '**...दाह्य (जलने योग्य पदार्थ) का अवलंबन करनेवाला दहन,...**' (यानि) अग्नि। अग्नि है वह जलनेवाली चीज को निमित्त है। ये अग्नि जलनेवाली चीज के आकार हो जाती है। आहा..हा...! समझ में आया ? छाने होते है न छाने! (उसमें) अग्नि जले तो उस छाने के आकार अग्नि हो जाती है। छाने के आकार अग्नि (कहा लेकिन) है तो अग्नि का आकार, छाने का नहीं। समझ में आया ? '**...(जलने योग्य पदार्थ) का अवलंबन करनेवाला दहन दाह्य के बराबर ही है,...**' जलनेवाली चीज के आकार अग्नि है। यह दृष्टांत है, आहा..हा...!

'**...उसी प्रकार ज्ञेय का अवलंबन करनेवाला ज्ञान,...**' यह ज्ञान जो है वह आत्माप्रमाण है। (और) ज्ञान है वह ज्ञेय को जानता है। शरीर, वाणी, मन, राग आदि सब चीज को - ज्ञेय को ज्ञान जानता है। (ऐसा) '**...(ज्ञेय का अवलंबन) करनेवाला ज्ञान ज्ञेय के बराबर ही है।**' (अर्थात्) जितना ज्ञेय है इतने प्रमाण में ज्ञान है। आत्मा ज्ञानप्रमाण है (और) ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। तो जितना ज्ञेय है उसको ज्ञान जानता है, आहा..हा...! अग्नि लकड़ी को जलाती है। लकड़ी पतली हो या लंबी हो, उसरूप अग्नि का आकार हो जाता है। ऐसे भगवानआत्मा ! ज्ञानस्वभावी आत्मा ज्ञानस्वरूपी है और ज्ञान में जो जानने की पर चीज है, उस आकार ज्ञानपर्याय हो जाती है। ये भाषा कैसी!?

स्मशान में जब शरीर को जलाते हैं तो अग्नि शरीर जैसे आकार हो जाती है। अग्नि उस जलने योग्य (शरीर के) आकार हो गई है। शरीर जलता है न ऐसे ! यह मिट्टी है तो जलेगा। जलेगा तो सही। इस भव में जलेगा, ये कोई दूसरे भव में नहीं (जलेगा)। अग्नि जलने योग्य (शरीर के) आकार होगी। (लेकिन है वह अग्नि का आकार)। (वैसे) ज्ञान भी ज्ञेयाकार होता है, वह ज्ञान का आकार है। ज्ञेयाकार जो होता है वह (वास्तव में) ज्ञानाकार है। अग्नि लकड़ी के आकार

(या) शरीर के आकार होगी परंतु वह अग्नि, अग्नि के आकार हुई है। अरे...! ऐसी बातें हैं। यह तो तत्व की बात है, बापू! आहा...!

प्रभु तू तो आत्मा है न, प्रभु ! और आत्मा तो ज्ञानप्रमाण है न ! और ज्ञान है वह ज्ञेय को जानता है तो ज्ञेयप्रमाण ज्ञान हो जाता है न ! (ज्ञान) ज्ञेयरूप नहीं होता। परंतु जैसा ज्ञेय है वैसा ज्ञान यहाँ (हो) जाता है। आहा..हा...! (नये आदमी को ऐसा लगे) ऐसा कहां से निकाला ? बापू ! अनादि का भगवान का मार्ग यही है। अनादि-अनंत तीर्थंकर तीनलोक के नाथ सर्वज्ञ का पंथ ये है। संप्रदाय में यह बात गुप्त हो गई। बाहर के क्रियाकांड में घुस गये बेचारे और मानते हैं, धर्म हैं! आहा..हा...! साधु भी वही प्ररूपणा करें और सुननेवाले भी वही करें। सब मिथ्यात्वभाव है ! आहा..हा...!

यह आत्मा पर को जानता है तो ज्ञान की पर्याय ज्ञेयप्रमाण हो गई। जितना ज्ञेय है उस प्रमाण में ज्ञान हुआ। उस ज्ञेयप्रमाण ज्ञान हुआ तो ज्ञान ज्ञेयाकार हो गया। वह (जो) ज्ञेयाकार हुआ, वह है तो ज्ञानाकार। परंतु ज्ञेय को जानने से ज्ञेयाकार कहने में आता है। आहा..हा...!

(बाहर के व्यापार आदि करके मानते हैं कि, पैसे कमाते हैं)। लेकिन कौन पैसा पेदा करता है ! अंदर राग करता है। ऐसा है बापू ! किसके मकान और किसके पैसे, भाई ! भगवानआत्मा तो अपने ज्ञानगुण से व्याप्त है और परज्ञेय को जाननेवाली पर्याय से व्याप्त है, पर से व्याप्त है नहीं। आहा..हा...! धीरे-धीरे समझना, भाई ! ऐसा तत्व (सुनने का) प्रसंग कब आये, बापू ! वह खुद अनंतकाल से अज्ञान से मर गया है, आहा..हा...! साधु हुआ, क्रियाकांड किये, इस वक्त तो ऐसे कोई साधु है ही नहीं, लेकिन ऐसा साधु हुआ (और) नौवीं ग्रैवेयक तक गया। आहा..हा...! चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो भी क्रोध न करे और आजीवन ब्रह्मचारी, फिर भी मिथ्यादृष्टि (है)। वह राग की क्रिया, महाव्रत की क्रिया `मेरी है और मैं करता हूँ,' (ऐसा माननेवाला) मिथ्यादृष्टि अज्ञानी चारगति में भटकता है। ऐसा साधुपना अनंतबार लिया, जिसे भगवान `द्रव्यलिंग' कहते हैं। ऐसा द्रव्यलिंग लेकर भी प्रत्येक योनी में अनंतबार अवतार लिये। (लेकिन) सम्यग्दर्शन क्या है और मिथ्यात्व क्या है, इसकी खबर नहीं। समझ में आया ? आहा..हा...!

(यहाँ कहते हैं) `**...ज्ञेय का अवलंबन करनेवाला ज्ञान ज्ञेय के बराबर ही है।**' (ज्ञेय के बराबर है, ऐसा कहा) तो अब ज्ञेय कितना है ? यह कहते हैं। आत्मा - वस्तु ज्ञानगुणप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। तो ज्ञेय है कितना ? (कि), `**ज्ञेय तो समस्त लोकालोक अर्थात् सब ही है।**' (यानी) जानने की चीज तो सब है। ज्ञान की पर्याय में (सब जानने में आता है) आ..हा..हा...! अरे...! नीचे (के) (गुणस्थान में) सम्यग्दृष्टि का श्रुतज्ञान, धर्मी (जीव जिसे) आत्मा का अनुभव हुआ, शुद्ध चिदानंद प्रभु का सम्यग्दर्शन, ज्ञान हुआ, (उसकी) ज्ञान की पर्याय भी ज्ञेयप्रमाण है। (अब) ज्ञेय कितना (है)? कि, लोकालोक (ज्ञेय है)। यह ज्ञान की पर्याय लोकालोक को जानती है। लोकालोक में कोई भी चीज उसकी है, ऐसा नहीं मानते (हैं)। और परज्ञेय का अवलंबन हुआ तो पर के कारण से ज्ञान का आकार हुआ, ऐसा नहीं (है)। आहा..हा...! वस्तु ऐसी है, बापू !

ओ..हो..हो...! तीनलोक के नाथ जिनेश्वरदेव का तत्वज्ञान (और उसमें) जीव (तत्व) किसे कहा, यह बात बहुत सूक्ष्म है, बापू ! आहा..हा...! ये (बात) कहते हैं।

लोकालोक सब ही (ज्ञेय) है। `**इसलिये, सर्व आवरण का क्षय होते ही,...**' भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर जो हुये (उन्हें सर्व आवरण का क्षय हो गया है)। `सीमंधर भगवान' आदि, अनंत तीर्थंकर हुये। बीस तीर्थंकर बिराजते हैं। महाविदेह में लाखो केवली बिराजते हैं। ऐसा लंबा-तिरछा महाविदेह क्षेत्र है। (वहाँ) बीस तीर्थंकर हैं (और) लाखों केवली परमात्मा बिराजते हैं, आ..हा..हा...! महाविदेह में तीर्थंकर और केवली का विरह नहीं होता, सदा होते रहते हैं। यहाँ भरत(क्षेत्र में) अभी (तीर्थंकर) नहीं है। वहाँ तो हमेशा होते हैं। वीतराग अरिहंत परमात्मा बिराजते हैं। `णमो अरिहंताणं' ! इस अरिहंतपद में बिराजते हैं। `णमो सिद्धाणं' ! वे लोक के अंत में (बिराजते हैं)। (वे) शरीररहित हो गये। चौबीस तीर्थंकर आदि (हो गये) वे सिद्ध हैं। `णमो सिद्धाणं' में हैं। आहा..हा...! समझ में आया ? उस अरिहंत की दिव्यध्वनि में यह आया है। उसका यह व्याख्यान चलता है, आ..हा..हा...!

(यहाँ कहते हैं) `**ज्ञेय तो समस्त लोकालोक अर्थात् सब ही है। इसलिये, सर्व आवरण का क्षय होते ही,...**' भगवान की ज्ञानदशा अपने स्वरूप में लीन होने से, ज्ञानावरणीय आदि जो कर्म है, उसका नाश हो जाता है। `**...क्षय होते ही (ज्ञान)**

सबको जानता है,...' तीनकाल तीनलोक भगवान के ज्ञान में प्रत्यक्ष (जानने में आते हैं)। भविष्य की अनंती (पर्याय) जब होगी (उसे) भी वर्तमान में जानते हैं ! आहा..हा...! उसको केवलज्ञान कहते हैं। '**...और फिर कभी भी सब के जानने से च्युत नहीं होता,...**' (पहले टीका में) आया था न ! '**...अच्युतरूप रहने से ज्ञान सर्वगत है।**' (और यहाँ कहते हैं) '**...इसलिये ज्ञान सर्वव्यापक है।**' सर्वगत यानी सर्वव्यापक। आहा..हा...!

जितना ज्ञेय है (अर्थात्) लोकालोक, सबको केवलज्ञानी भगवान अपने अनुभव से ज्ञान की पर्याय में जानते हैं। फिर भी लोकालोकरूप होते नहीं। २३ गाथा (समाप्त) हुई।

❋ ❋ ❋

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वानभ्युपगमे द्वौ पक्षावुपन्यस्य दूषयति –

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव।।२४।।
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेणंद ण जाणादि।
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि।।२५।। जुगलं।

ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्येह तस्य स आत्मा।
हीनो वा अधिको वा ज्ञानाद्भवति ध्रुवमेव।।२४।।
हीनो यदि स आत्मा तत् ज्ञानमचेतनं न जानाति।
अधिको वा ज्ञानात् ज्ञानेन विना कथं जानाति।।२५।। युगलम्।

यदि खल्वयमात्मा हीनो ज्ञानादित्यभ्युपगम्यते तदात्मनोऽतिरिच्यमानं ज्ञानं स्वाश्रयभूतचेतनद्रव्यसमवायाभावादचेतनं भवद्रूपादिगुणकल्पतामापन्नं न जानाति। यदि पुनर्ज्ञानादधिक इति पक्षः कक्षीक्रियते तदावश्यं ज्ञानादतिरिक्तत्वात् पृथग्भूतो भवन् घटपटादिस्थानीयतामापन्नो ज्ञानमन्तरेण न जानाति। ततो ज्ञानप्रमाण एवायमात्माभ्युपगन्तव्यः।।२४–२५।।

अथात्मानं ज्ञानप्रमाणं ये न मन्यन्ते तत्र हीनाधिकत्वे दूषणं ददाति – **णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह** ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्य वादिनो मतेऽत्र जगति **तस्स सो आदा** तस्य मते स आत्मा **हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव** हीनो वा अधिको वा ज्ञानात्सकाशाद् भवति निश्चितमेवेति।।२४।।

हीणो जदि सो आदा तं णाणमचेदणं ण जाणादि हीनो यदि स आत्मा तदाग्नेरभावे सति उष्णगुणो यथा शीतलो भवति तथा स्वाश्रयभूतचेतनात्मकद्रव्यसमवायाभावात्तस्यात्मनो ज्ञानमचेतनं भवत्सत् किमपि न जानाति। **अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि** अधिको वा ज्ञानात्सकाशात्तर्हि यथोष्णगुणाभावेऽग्निः शीतलो भवन्सन् दहनक्रियां प्रत्यसमर्थो भवति तथा ज्ञानगुणाभावे सत्यात्माप्यचेतनो भवन्सन् कथं जानाति, न कथमपीति। अयमत्र भावार्थ :– ये केचनात्मानमङ्गुष्ठपर्वमात्रं, श्यामाकतण्डुलमात्रां, वटककणिकादिमात्रं वा मन्यन्ते ते निषिद्धाः। येऽपि समुद्धातसप्तकं विहाय देहादधिकं मन्यन्ते तेऽपि निराकृता इति।।२५।।

अब, आत्माको ज्ञान प्रमाण न माननेमें दो पक्ष उपस्थित करके दोष बतलाते हैं :-

गाथा २४-२५

जीवद्रव्य ज्ञानप्रमाण नहि-अे मान्यता छे जेहने।
तेना मते जीव ज्ञानथी हीन के अधिक अवश्य छे।।२४।।
जो हीन आत्मा होय, नव जाणे अचेतन ज्ञान ए।
ने अधिक ज्ञानथी होय तो वण ज्ञान क्यम जाणे अरे।।२५।।

अन्वयार्थ :- [इह] इस जगतमें **[यस्य]** जिसके मतमें **[आत्मा]** आत्मा **[ज्ञानप्रमाणं]** ज्ञानप्रमाण **[न भवति]** नहीं है, **[तस्य]** उसके मतमें **[सः आत्मा]** वह आत्मा **[ध्रुवम् एव]** अवश्य **[ज्ञानात् हीनः वा]** ज्ञानसे हीन **[अधिकः वा भवति]** अथवा अधिक होना चाहिये।

[यदि] यदि **[सः आत्मा]** वह आत्मा **[हीनः]** ज्ञानसे हीन हो **[तत्]** तो वह **[ज्ञानं]** ज्ञान **[अचेतनं]** अचेतन होनेसे **[न जानाति]** नहीं जानेगा, **[ज्ञानात् अधिकः वा]** और यदि (आत्मा) ज्ञानसे अधिक हो तो (वह आत्मा) **[ज्ञानेन बिना]** ज्ञानके बिना **[कथं जानाति]** कैसे जानेगा ?

टीका :- यदि यह स्वीकार किया जाय कि यह आत्मा ज्ञानसे हीन है तो आत्मासे आगे बढ़ जानेवाला ज्ञान (आत्माके क्षेत्रसे आगे बढ़कर उससे बाहर व्याप्त होनेवाला ज्ञान) अपने आश्रयभूत चेतनद्रव्यका समवाय (सम्बन्ध) न रहनेसे अचेतन होता हुआ रूपादि गुण जैसा होनेसे नहीं जानेगा; और यदि ऐसा पक्ष स्वीकार किया जाये कि यह आत्मा ज्ञानसे अधिक है तो अवश्य (आत्मा) ज्ञानसे आगे बढ़ जानेसे (ज्ञानके क्षेत्रसे बाहर व्याप्त होनेसे) ज्ञानसे पृथक् होता हुआ घटपटादि जैसा होनेसे ज्ञानके बिना नहीं जानेगा। इसलिये यह आत्मा ज्ञानप्रमाण ही मानना योग्य है।

भावार्थ :- आत्माका क्षेत्र ज्ञानके क्षेत्रसे कम माना जाये तो आत्माके क्षेत्रसे बाहर वर्तनेवाला ज्ञान चेतनद्रव्यके साथ सम्बन्ध न होनेसे अचेतन गुण जैसा ही होगा, इसलिये वह जाननेका काम नहीं कर सकेगा, जैसे कि वर्ण, गंध, रस, स्पर्श इत्यादि अचेतन गुण जाननेका काम नहीं कर सकते। यदि आत्माका क्षेत्र ज्ञानके क्षेत्रसे अधिक माना जाये तो ज्ञानके क्षेत्रसे बाहर वर्तनेवाला ज्ञानशून्य आत्मा ज्ञानके बिना जाननेका काम नहीं कर सकेगा, जैसे कि ज्ञानशून्य घट, पट इत्यादि पदार्थ जाननेका काम नहीं कर सकते। इसलिये आत्मा न तो ज्ञानसे हीन है और न अधिक है, किन्तु ज्ञान जितना ही है।।२४-२५।।

२४ और २५ (गाथा साथ में हैं)। (कहते हैं) **`अब, आत्मा को ज्ञानप्रमाण न मानने में दो पक्ष उपस्थित करके दोष बतलाते हैं :-**' आहा..हा...! आत्मा को ज्ञानप्रमाण न मानने से दो दोष होते हैं, यह बात कहते हैं। आत्मा को ज्ञानगुण से हीनाधिक मानने से दो दोष उत्पन्न होते हैं, आहा...! समझ में आया ? आ..हा..हा...! क्या कहते हैं ? कि, आत्मा को ज्ञानप्रमाण (यानी) ज्ञानगुणप्रमाण मानने से (यानी) ज्ञान से हीनाधिक मानने से दो पक्ष उपस्थित करके दोष बतलाते हें। Logic से बात करते हैं, आहा..हा...!

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव।।२४।।
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेणंद ण जाणादि।
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि।।२५।। जुगलं।

नीचे हरिगीत :-

जीवद्रव्य ज्ञानप्रमाण नहि - ए मान्यता छे जेहने,
तेना मते जीव ज्ञानथी हीन के अधिक अवश्य छे।२४।
जो हीन आत्मा होय, नव जाणे अचेतन ज्ञान ए,
ने अधिक ज्ञानथी होय तो वण ज्ञान क्यम जाणे अरे।२५।

२४-२५ (गाथा की) टीका :- **`यदि यह स्वीकार किया जाये कि यह आत्मा ज्ञान से हीन है,...**' भगवानआत्मा ज्ञान से हीन है, (ऐसा स्वीकार किया जाये तो) **`...आत्मा से आगे बढ़ जानेवाला ज्ञान,...**' क्या कहते हैं ? आत्मा है (और उससे) ज्ञान विशेष (आगे) बाहर बढ़ गया। ज्ञान से आत्मा हीन (कम) है। ज्ञान विशेष बाहर बढ़ गया (और) आत्मा ज्ञान से हीन है। **`...ज्ञान (आत्मा के क्षेत्र से आगे बढ़कर उससे बाहर व्याप्त होनेवाला ज्ञान) अपने आश्रयभूत चेतनद्रव्य का समवाय (संबंध) न रहने से,...**' यह एकदम Logic से - न्याय से बात (करते) हैं। यह आत्मा जो है, (उसमें) एक जानने का ज्ञानगुण हे, उससे (अगर आत्मा) हीन हो जाये तो ज्ञान अधिक हो गया। समझ में आया ?

अग्नि की उष्णता (होती है)। (यह उष्णता) अग्नि बिना विशेष बाहर चली जाये, तो अग्नि बिना यह उष्णता काम कर सकती नहीं। आहा...! सूक्ष्म बात है, भाई ! यह तो वीतराग के तत्वज्ञान की बात है। क्या कहते हैं ?

`...**ज्ञान** (**आत्मा के क्षेत्र से आगे बढ़कर उससे बाहर व्याप्त होनेवाला ज्ञान**) **अपने आश्रयभूत चेतनद्रव्य का समवाय** (**संबंध**) **न रहने से अचेतन होता हुआ रूपादि गुण जैसा होने से नहीं जानेगा;...**' जैसे यह रूप, गंध और रस में ज्ञान नहीं (है) तो यह जानता नहीं। आहा...! समझ में आया ? ऐसे ज्ञान अगर लंबा दूर चला जाये और आत्मा नजदीक रहे (अर्थात्) ज्ञान अधिक (आगे) बढ़ जाये तो आत्मा बिना ज्ञान जान सकता नहीं। आहा...! जैसे रूप आदि जानते नहीं - यह रूप, रस. गंध है न ! वह जानता है ? यह तो जड़ है। यह जान सकता नहीं। उसे खबर नहीं है कि, यह जड़ मिट्टी है या क्या है ! वैसे अगर आत्मा से, ज्ञान अधिक बाहर चला जाये तो आत्मा बिना यह ज्ञान (जान सकता नहीं)। जैसे रूप अपने को जान सकता नहीं वैसे ज्ञान भी अपने को जान सकता नहीं। ऐसी बातें हैं !

`...**रूपादि गुण जैसा होने से,...**' क्या कहते हैं ? आत्मा जो अंदर वस्तु है, इसमें ज्ञानगुण है। यह ज्ञानगुण आत्मा से अधिक बाहर चला जाये तो यह ज्ञान (कुछ जानेगा नहीं)। जैसे रूप और रस, गंध कुछ जानते नहीं, वैसे ज्ञान भी कुछ जानता नहीं। आत्मा के आश्रय बिना ज्ञान जान सकता नहीं। ऐसी बातें हैं !

`...**और यदि ऐसा पक्ष स्वीकार किया जाये कि यह आत्मा ज्ञान से अधिक है,...**' अब क्या कहते हैं ? पहले ऐसे कहा था कि, आत्मा से ज्ञान अधिक है, तो वह अधिक ज्ञान (जान सकता नहीं)। जैसे रूप, रस, गंध जान सकता नहीं (वैसे) ज्ञान भी आत्मा के आश्रय बिना जान सकता नहीं। अब कोई ऐसा कहे कि, आत्मा ज्ञान से अधिक है.... आत्मा ज्ञान से अधिक है (ऐसा कहे), समझ में आया? (अर्थात्) ज्ञान से भी आत्मा विशेष हो गया, उसमें ज्ञान रहा नहीं (और) आत्मा ज्ञान से अधिक हो गया, `...**तो अवश्य** (**आत्मा**) **ज्ञान से आगे बढ़ जाने से,...**' (यानी कि) ज्ञान की दशा से आत्मा आगे बढ़ जाने से, `...**(ज्ञान के क्षेत्र से बहार व्याप्त होने से),...**' ज्ञान का जानने का जो क्षेत्र है उससे आत्मा का क्षेत्र बाहर चला गया (ऐसा कहते हैं)। आहा..हा...(किसी को ऐसा लगे) कौन ऐसी माथाकूट करे ? अरे...तत्व की खबर नहीं है, भाई ऐसे ही देखादेखी (ओघसंज्ञा) से माने कि, जीव है, अजीव है, (लेकिन) ऐसे कहां (मानने की बात है) ऐसे तो अनंतबार जाना।

श्रोता :- किसी मत की ऐसी खोटी मान्यता है, इसलिये आपने खुलासा किया?

समाधान :- अनादि से भान कहाँ है ? खोटी मान्यता की कहाँ (बात है) ? खबर ही कहाँ है आत्मा और ज्ञान एक है, उसकी खबर ही कहां है। जितने में आत्मा है, इतने में ज्ञान है। (और) जितने में ज्ञान है, इतने में आत्मा है। यह (बात) कहीं सुनी नहीं (तो) नक्की कौन करे ?

(यहाँ कहते हैं) अगर ज्ञानप्रमाण आत्मा न हो और आत्मा से ज्ञान आगे बढ़ जाये, तो जैसे रूप, रस जान सकते नहीं वैसे ज्ञान भी जान सकता नहीं। अब (कहते हैं) इस ज्ञान से आत्मा बढ़ जाये (यानी) ज्ञान एक जगह थोड़ा रहे और आत्मा इससे आगे बढ़ जाये। है (अंदर) ? '**...आत्मा ज्ञान से अधिक है तो अवश्य (आत्मा) ज्ञान से आगे बढ़ जाने से (ज्ञान के क्षेत्र से बाहर व्याप्त होने से),...**' (अर्थात्) जानपना से आत्मा का क्षेत्र आगे बढ़ गया। '**...ज्ञान से पृथक् होता हुआ,...**' यानी आत्मा ज्ञान से जुदा (भिन्न) होता हुआ, '**...घटपटादि,...**' जैसे घट-पट न जाने वैसे आत्मा (भी) न जाने। आहा..हा...! घटपट में ज्ञान नहीं। वैसे आत्मा अगर ज्ञान से अधिक बढ़ जाये तो ज्ञान बिना का आत्मा घटपट जैसा हो गया। आहा..हा...! Logic से, न्याय-युक्ति से तो बात करते हैं। समझ में आया ? आहा..हा...!

'**...ज्ञान से पृथक् होता हुआ,...**' (यानी) ज्ञान - जानपना का गुण-स्वभाव उससे आत्मा का क्षेत्र विशेष बढ़ जाये तो आत्मा ज्ञान बिना (जानेगा नहीं)। जैसे घटपट में ज्ञान नहीं। (है तो जान सकता नहीं)। ऐसे आत्मा में ज्ञान नहीं (है) तो आत्मा जान सकता नहीं। आहा..हा...! समझ में आया ? Logic - युक्ति से तो (बात करते हैं)। न्याययुक्त मार्ग है, भाई ! इस प्रकार से (जिसको) तत्व का यथार्थ ज्ञान नहीं (है) उसको सम्यग्दर्शन होता नहीं। सम्यग्दर्शन हुए बिना सम्यक्चारित्र (आदि) कुछ होता नहीं। आहा..हा...!

क्या कहते हैं ? '**...घटपटादि जैसे होने से...**' (अर्थात्) ज्ञानस्वभाव है उसका क्षेत्र से आत्मा का क्षेत्र बढ़ गया तो आत्मा में ज्ञान तो रहा नहीं, जैसे घटपट में ज्ञान नहीं (है) वैसे आत्मा में ज्ञान नहीं (है), तो भी ज्ञान बिना (जानता नहीं)। जैसे घटपट नहीं जानते, वैसे आत्मा (भी) नहीं जान सकता। समझ में आता है ?

आहा...इन्द्रों और गणधरों के बीच परमात्मा कहते थे, वह बात है !! आहा..हा...! एक भवतारी इन्द्र है। सोल देवलोक है, उसमें सौधर्म देवलोक है, पहले देवलोक

का स्वामी (है, उसके पास) ३२ लाख विमान है। एक-एक विमान में असंख्य देव हैं। करोड़ों अप्सरायें हैं। आहा..हा...! उसमें एक अप्सरा ऐसी है वह एक भवतारी है। वहाँ से निकलकर, मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाली है। और इन्द्र भी मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाला है। ये इन्द्र और इन्द्राणी भगवान के पास जाते हैं। महाविदेह में प्रभु बिराजते हैं वहाँ (जाते हैं)। वहाँ भगवान यह कहते हैं। वही वाणी यहाँ आयी है !! आ..हा..हा...! समझ में आया?

(कहते हैं) '**...घटपटादि जैसा होने से ज्ञान के बिना नहीं जानेगा।**' जैसे घटपट में ज्ञान नहीं है, वैसे आत्मा क्षेत्र से ज्ञानस्वभाव से आगे बढ़ जाये, तो उसमें भी ज्ञान नहीं (रहा)। (इसलिये) जैसे घटपट जान सकता नहीं वैसे आत्मा भी जान सकता नहीं। भाषा तो सादी है, बापू !

हीरा का प्रकाश अगर हीरा से आगे बढ़ जाये तो हीरा के द्रव्य बिना वह प्रकाश काम नहीं कर सकेगा, और प्रकाश से, हीरा (आगे) बढ़ जाये तो प्रकाश बिना का हीरा भी काम नहीं कर सकेगा। न्याय तो बराबर है न ? आहा..हा...!

यह (शरीर) तो जड़ मिट्टी-धूल है (और) (द्रव्य) कर्म अंदर धूल-मिट्टी है। उसके साथ कोई संबंध नहीं है। अंदर में दया, दान, व्रत काम, क्रोध का भाव होता है, वह तो विकार है। उसकी बात तो यहाँ है नहीं। यहाँ तो प्रभु ! आत्मा ज्ञानगुण के समान - सरीखा है, (ऐसा कहते हैं)। जितने में आत्मा (है) उतने में ज्ञान (है) और जितने में ज्ञान (है) उतने में आत्मा (है)। अगर यह ज्ञानगुण आत्मा से (आगे) बढ़ जाये, अधिक हो जाये तो ज्ञानगुण भी (जान सकेगा नहीं)। जैसे रूप, रस जान सकता नहीं, वैसे यह ज्ञानगुण आत्मा बिना जान सके नहीं। अब, ज्ञानगुण से आत्मा (आगे) बढ़ जाये (यानी) क्षेत्र अधिक बढ़ जाये (अर्थात्) जितना ज्ञान का क्षेत्र है (उससे) आत्मा का क्षेत्र बढ़ जाये तो आत्मा का क्षेत्र ज्ञान से अधिक हो गया तो आत्मा में ज्ञान रहा नहीं। तो जैसे घटपट जान सकते नहीं वैसे आत्मा भी जान सकता नहीं। आहा..हा...! ऐसी बातें (हैं) !

आदमियों को फुरसत कहाँ है ? सारा दिन पाप का धंधा (कर के) जब फुरसत मिलती है तब दो घड़ी बैठकर नमो अरिहंताणं.... नमो अरिहंताणं... (बोलकर) मान लेता है कि, सामायिक की, और पौषध किया (ऐसा) मान लेता है, लेकिन कहाँ

है यह सामायिक ! (हम) दुकान पर थे तब हमने भी ये सब किया है।

पर्युषण में आठ दिन में चार अपवास करते थे। १७-१८ साल की उम्र में (करते थे) ! आठ दिन में चार चोवियारा उपवास (करते थे)। पानी का बिंदु नहीं (लेते थे), छोटी उम्र से वह सब (करते थे)। आहा..हा...! और शाम को सब प्रतिक्रमण करते थे। वहाँ `पालेज' में भी ७-८-१० स्थानकवासी के घर हैं। प्रतिक्रमण हम करवाते थे, हमको तो मुखपाठ था न ! सब कल्पना (थी)। मिच्छामी दुक्कडम् (बोलते थे) लेकिन कहाँ का मिच्छामि दुक्कडम् - अभी (कुछ) भान नहीं है (वहाँ मिच्छामी दुक्कडम् कहाँ आया ?) बाद में फुरसत के समय में गाते थे, `देखो रे, देखो रे जैन कैसे व्रतधारी !' (ऐसा) गाते थे। ७० वर्ष पहले की बातें हैं ! वह सब अज्ञान (है) कुछ भान नहीं था। आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं, एकबार आत्मा कैसा है, उसको जान ! तो आत्मा (कैसा) है? कि, ज्ञानप्रमाण आत्मा है। पुण्य-पाप का राग (है)। इस प्रमाण आत्मा नहीं। शरीरप्रमाण तो नहीं, कर्मप्रमाण तो नहीं, वह तो भिन्न है लेकिन दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम जो राग है, उस प्रमाण आत्मा नहीं, आ..हा..हा...! आत्मा तो अपने ज्ञानगुण के बराबर है और ज्ञानगुण भी आत्मा के बराबर है।

(अब) अगर आत्मा के क्षेत्र से ज्ञानगुण आगे चला जाये तो जैसे रूप और रस जान सकता नहीं वैसे, आत्मा बिना ज्ञान जान सकता नहीं। और ज्ञानगुण से आत्मा का क्षेत्र अधिक बढ़ जाये तो आत्मा ज्ञान बिना जान सकता नहीं। जैसे घट-पट जान सकता नहीं वैसे (आत्म) द्रव्य भी ज्ञान बिना जान सकता नहीं। अधिक शंका हो तो रात्रि में (रात्रिचर्चा में) पूछना ! ऐसा (मार्ग) है। दूसरा क्या हो सकता है ?

वीतराग तीनलोक के नाथ ! आत्मा कैसा है, वह बताते हैं। आ..हा..हा...! नव तत्व में आत्मा की श्रद्धा चाहिये न ! तो आत्मा कितना है - (क्या स्वरूप है) यह जाने बिना उसे (आत्मा की) श्रद्धा कहाँ से होगी ? नवतत्व की श्रद्धा... नवतत्व की श्रद्धा (होनी चाहिये) परंतु नवतत्व में आत्मा कौन है? यह जाने बिना श्रद्धा कहाँ से होगी ? आहा..हा...!

(आत्मा) `**...ज्ञान से पृथक् होता हुआ घटपटादि जैसा होने से ज्ञान के बिना नहीं जानेगा। इसलिये यह आत्मा ज्ञानप्रमाण ही मानना योग्य है।**' राग नहीं, पुण्य

नहीं, दया-दान का विकल्प नहीं - ज्ञानप्रमाण आत्मा है। जानन... जानन... जानन... जानन... स्वभावप्रमाण आत्मा है। (इसलिये जो) जानन स्वभाव में एकाग्र होता है, तो वह आत्मा में ही एकाग्र हुआ। क्योंकि ज्ञानप्रमाण आत्मा है। इस स्वभाव में एकाग्र होता है तो उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान - धर्म की पर्याय (उत्पन्न) होती है। आहा..हा...! ऐसी बात है। (नये आदमी को तो ऐसा लगे कि) ज्ञानप्रमाण क्या ? और उसमें एकाग्रता (क्या) ? ज्ञानप्रमाण आत्मा और आत्माप्रमाण ज्ञान - यह तो गुण-गुणी की बात कही। परंतु ज्ञानप्रमाण आत्मा (कहा) तो पर्याय से ज्ञान में एकाग्र हो तो वीतरागी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र (प्रकट) होता है। उसका नाम धर्म है, आहा..हा...! उसका नाम जैनधर्म-वीतराग का धर्म (है), आहा..हा...!

भावार्थ :- `आत्मा का क्षेत्र,...'** (यानी) चौड़ाई - विस्तार। **`...ज्ञान के क्षेत्र से,...' (यानि) ज्ञान के क्षेत्र और विस्तार से, **`...कम माना जाये तो आत्मा के क्षेत्र से बाहर वर्तनेवाला ज्ञान,...'** यह (टीका के) अंदर आ गया है। **`...चेतनद्रव्य के साथ संबंध न होने से,...'** (अर्थात्) चेतनद्रव्य से ज्ञान आगे बढ़ जाये (तो), **`...चेतनद्रव्य के साथ संबंध न होने से अचेतन गुण जैसा ही होगा,...'** वह ज्ञान अचेतन हो गया। आत्मा (के) बिना ज्ञान आगे बढ़ जाये तो ज्ञान अचेतन हो गया। जैसे रूप, रस अचेतन - जड़ है, वैसे (ज्ञान) अचेतन हो जायेगा, आहा..हा...!

(यह) `प्रवचनसार' है, भाई ! भगवान की दिव्यध्वनि का यह सार है ! आहा...! **`...अचेतनगुण जैसा ही होगा, इसलिये वह जानने का काम नहीं कर सकेगा,...'** ज्ञान, आत्मा के क्षेत्र से - चौड़ाईसे (आगे) बढ़ जाये तो ज्ञान जानने का काम नहीं कर सकेगा। **`...जैसे कि वर्ण, गंध, रस, स्पर्श इत्यादि अचेतन गुण जानने का काम नहीं कर सकते। यदि आत्मा का क्षेत्र ज्ञान के क्षेत्र से अधिक माना जाये,...'** (यानी) (आत्मा का क्षेत्र) बाहर विशेष (चला जाये), (अर्थात्) ज्ञान (पीछे) रह जाये और आत्मा क्षेत्र से - चौड़ाई से आगे बढ़ जाये (तो) **`...ज्ञान के क्षेत्र से बाहर वर्तनेवाला ज्ञानशून्य आत्मा ज्ञान के बिना जानने का काम नहीं कर सकेगा,...'** आहा..हा...!

बात तो बहुत अच्छी आयी है, मगर ज्ञान को गूंधना चाहिये, बापू ! जैसे यह स्त्रीयां आटा गूंधती है न ! ऐसे ही रोटी नहीं बनती। आटे को बांधकर गूंधती है। देखा है ? हमने तो सब देखा है, कुछ किया (नहीं है)। गेहूं का आंटा बांधकर

ऐसे ही रोटी नहीं बनाती, गूंधे फिर रोटी बनती है। ऐसे ज्ञान को अंदर में अभ्यास करना पड़े, ऐसा कहना (है)। मैं ज्ञान हूँ, और आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान है वही आत्मा है। आहा..हा...! राग यह आत्मा और आत्मा यह राग, ऐसा नहीं, आ..हा..हा...!

(यहाँ कहते हैं) '**...जैसे कि ज्ञानशून्य घट, पट,...**' (यानी) जैसे घटपट में ज्ञान नहीं (है)। वैसे ज्ञान बिना आत्मा का क्षेत्र बढ़ जाये तो आत्मा में ज्ञान नहीं रहा। तो, '**...पदार्थ जानने का काम नहीं कर सकते, इसलिये आत्मा न तो ज्ञान से हीन है और न अधिक है, किन्तु ज्ञान जितना ही है।**' विशेष कहेंगे......!

❋ ❋ ❋

अथात्मनोऽपि ज्ञानवत् सर्वगतत्वं न्यायायातमभिनन्दति -

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा।।२६।।

सर्वगतो जिनवृषभः सर्वेऽपि च तद्गता जगत्यर्थाः।
ज्ञानमयत्वाच्च जिनो विषयत्वात्तस्य ते भणिताः।।२६।।

ज्ञानं हि त्रिसमयावच्छिन्नसर्वद्रव्यपर्यायरूपव्यवस्थितविश्वज्ञेयाकारानाक्रामत् सर्वगतमुक्तं, तथाभूतज्ञानमयीभूय व्यवस्थितत्वाद्भगवानपि सर्वगत एव। एवं सर्वगतज्ञानविषयत्वात्सर्वेऽर्था अपि सर्वगतज्ञानाव्यतिरिक्तस्य भगवतस्तस्य ते विषया इति भणितत्वात्तद्गता एव भवन्ति। तत्र निश्चयनयेनानाकुलत्वलक्षणसौख्यसंवेदनत्वाधिष्ठानत्वावच्छिन्नात्मप्रमाणज्ञानस्वतत्त्वापरित्यागेन विश्वज्ञेयाकाराननुपगम्यावबुध्यमानोऽपि व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते। तथा नैमित्तिकभूतज्ञेयाकारानात्मस्थानवलोक्य सर्वेऽर्थास्तद्गता इत्युपचर्यन्ते, न च तेषां परमार्थतोऽन्योन्यगमनमस्ति, सर्वद्रव्याणां स्वरूपनिष्ठत्वात्। अयं क्रमो ज्ञानेऽपि निश्चेयः।२६।

अथ यथा ज्ञानं पूर्वं सर्वगतमुक्तं तथैव सर्वगतज्ञानापेक्षया भगवानपि सर्वगतो भवतीत्यावेदयति – **सव्वगदो** सर्वगतो भवति। स कः कर्ता। **जिणवसहो** जिनवृषभः सर्वज्ञः। कस्मात् सर्वगतो भवति। **जिणो जिनः णाणमयादो य** ज्ञानमयत्वाद्धेतोः **सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा** सर्वेऽपि च ये जगत्यर्थास्ते दर्पणे बिम्बवद् व्यवहारेण तत्र भगवति गता भवन्ति। कस्मात्। **ते भणिया** तेऽर्थास्तत्र गता भणिताः **विसयादो** विषयत्वात्परिच्छेद्यत्वात् ज्ञेयत्वात्। कस्य। **तस्स** तस्य भगवत इति। तथाहि – यदनन्तज्ञानमनाकुलत्वलक्षणानन्तसुखं च तदाधारभूतस्तावदात्मा। इत्थंभूतात्मप्रमाणं ज्ञानमात्मनः स्वस्वरूपं भवति। इत्थंभूतं स्वस्वरूपं देहगतमपरित्यजन्नेव लोकालोकं परिच्छिनत्ति। ततः कारणाद्व्यवहारेण सर्वगतो भण्यते भगवान्। येन च कारणेन नीलपीतादिबहिःपदार्था आदर्शे बिम्बवत् परिच्छित्त्याकारेण ज्ञाने प्रतिफलन्ति ततः कारणादुपचारेणार्थकार्यभूता अर्थाकारा अप्यर्था भण्यन्ते। ते च ज्ञाने तिष्ठन्तीत्युच्यमाने दोषो नास्तीत्यभिप्रायः।।२६।।

अब, ज्ञानकी भाँति आत्माका भी सर्वगतत्त्व न्यायसिद्ध है ऐसा कहते हैं :-

गाथा २६

छे सर्वगत जिनवर अने सौ अर्थ जिनवर प्राप्त छे।
जिन ज्ञान-मय ने सर्व अर्थो विषय जिनना होइ ने।।२६।।

अन्वयार्थ :- [जिनवृषभः] जिनवर **[सर्वगतः]** सर्वगत है **[च]** और **[जगति]** जगतके **[सर्वे अपि अर्थाः]** सर्व पदार्थ **[तद्गताः]** जिनवरगत (जिनवरमें प्राप्त) हैं; **[जिनः ज्ञानमयत्वात्]** क्योंकि जिन ज्ञानमय हैं **[च]** और **[ते]** वे सब पदार्थ **[विषयत्वात्]** ज्ञानके विषय होनेसे **[तस्य]** जिनके विषय **[भणिताः]** कहे गये हैं।

टीका :- ज्ञान त्रिकालके सर्व द्रव्य-पर्यायरूप प्रवर्तमान समस्त ज्ञेयाकारोंको पहुँच जानेसे (जानता होनेसे) सर्वगत कहा गया है; और ऐसे (सर्वगत) ज्ञानमय होकर रहनेसे भगवान भी सर्वगत ही हैं। इसप्रकार सर्व पदार्थ भी सर्वगत ज्ञानके विषय होनेसे, सर्वगत ज्ञानसे अभिन्न उन भगवानके वे विषय हैं ऐसा (शास्त्रमें) कहा है; इसलिये सर्व पदार्थ भगवानगत ही (भगवानमें प्राप्त ही) हैं।

वहाँ (ऐसा समझना कि)-निश्चयनयसे अनाकुलतालक्षण सुखका जो संवेदन उस सुखसंवेदनके अधिष्ठानता जितना ही आत्मा है और उस आत्माके बराबर ही ज्ञान स्वतत्त्व है; उस निज-स्वरूप आत्मप्रमाण ज्ञानको छोड़े बिना समस्त ज्ञेयाकारोंके निकट गये बिना, भगवान (सर्व पदार्थोंको) जानते हैं। निश्चयनयसे ऐसा होनेपर भी व्यवहारनयसे यह कहा जाता है कि भगवान सर्वगत हैं। और नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकारोंको आत्मस्थ (आत्मामें रहे हुए) देखकर ऐसा उपचारसे कहा जाता है; कि `सर्व पदार्थ आत्मगत (आत्मामें) हैं'; परन्तु परमार्थतः उनका एक दूसरेमें गमन नहीं होता, क्योंकि सर्व द्रव्य स्वरूपनिष्ठ (अपने-अपने स्वरूपमें निश्चल अवस्थित) हैं।

यही क्रम ज्ञानमें भी निश्चित करना चाहिये। (आत्मा और ज्ञेयोंके सम्बन्धमें निश्चय-व्यवहारसे कहा गया है, उसीप्रकार ज्ञान और ज्ञेयोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये)। ।२६।।

दिनांक २७-१-१९७९ - प्रवचन नंबर-२१

प्रवचनसार, २६वीं गाथा। (गाथा के) ऊपर एक पंक्ति है। **`अब ज्ञान की भाँति आत्मा का भी सर्वगतत्व न्यायसिद्ध है ऐसा कहते हैं' :-** क्या कहते हैं ? इस एक पंक्ति का अर्थ क्या है ? (यह करते हैं)। `**अब, ज्ञान की,...**' यानी ज्ञानस्वरूप आत्मा है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। (यानि) आत्मा ज्ञानप्रमाण है। आत्मा ज्ञानप्रमाण है। आत्मा ज्ञानप्रमाण है (ऐसा कहा तो) जितना आत्मा है उस प्रमाण ज्ञान (है)। ज्ञान (यानी)

आत्मा का स्वभाव हाँ...! स्वभाव (की बात है)। इस ज्ञान में परवस्तु ज्ञेय (जानने में आती है)। पहले यह बात आ गई कि, आत्मा ज्ञानप्रमाण (है), ज्ञान ज्ञेयप्रमाण (है), ज्ञेय लोकालोकप्रमाण (है)। सूक्ष्म बात है, भाई ! राग-द्वेष आये वह कोई आत्मा की क्रिया नहीं और आत्मा का स्वभाव नहीं।

यहाँ (तो कहते हैं कि) जो आत्मा वस्तु है वह ज्ञानप्रमाण चौड़ी है। (यानी उतने में) अवगाहन (है)। (अर्थात्) जितना आत्मा है, इतना ज्ञान है। यह आत्मा ज्ञानप्रमाण (है, परंतु) राग (प्रमाण) नहीं, पुण्य (प्रमाण) नहीं। और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण (है)। (यानि) जितना ज्ञेय है, वह ज्ञान में जानने लायक है, इसलिये ज्ञान ज्ञेयप्रमाण (कहा)। (और) ज्ञेय लोकालोकप्रमाण (है)। भाषा तो ऐसी है !

यहाँ क्या कहा ? कि, '**...ज्ञान की भाँति,...**' ज्ञान की तरह। (अर्थात्) जैसे (पहले) ज्ञान की बात कही कि, आत्मा ज्ञानप्रमाण, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण, (और) ज्ञेय लोकालोकप्रमाण (है)। (इस प्रकार) '...ज्ञान की भाँति आत्मा का भी सर्वगतत्व न्यायसिद्ध है,...' (यानि) आत्मा भी सर्व को जाननेवाला है, सर्वगत है, (ऐसा कहते हैं)। सूक्ष्म (बात) है। कोई हीरा-मानेक के व्यापार में नहीं है (ऐसी बात है)। क्या कहते है ?

अभी तो पहली पंक्ति का अर्थ (चलता है)। इस देह में (देह से) भिन्न भगवानआत्मा (है)। यह ज्ञान प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है और ज्ञेय लोकालोक(प्रमाण) है, आहा..हा...! (इसलिये) भगवान(आत्मा) तो जानने-देखनेवाला है, ऐसा सिद्ध करना है। दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम - राग, (उसका) आत्मा कर्ता नहीं। आत्मा का वह स्वभाव ही नहीं। आहा..हा...! यहाँ कहते हैं कि, जैसे ज्ञान की बात कही कि, आत्मा ज्ञानप्रमाण चौड़ा है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण और ज्ञेय लोकालोक - (प्रमाण है)। इस ज्ञान की भाँति आत्मा का भी सर्वगतत्व है, (ऐसा कहना है)। (अर्थात्) आत्मा भी जितना ज्ञेय है (उन) सबको जानने से सर्वगत है। सबको पहुंच जाता है। जैसे ज्ञान सर्व को जानता है, वैसे आत्म भी सर्व को जानता है। अरे...! ऐसी बातें हैं !

श्रोता :- आत्मा घर का काम कब करे ?

समाधान :- कौन करे ? धूल में भी करता नहीं। ये सब बाहर जाते हैं वे क्या करते हैं ? राग करते थे या और कुछ ?

श्रोता :- पैसा कमाता था।

पूज्य गुरुदेवश्री :- धूल में भी (कमाता नहीं)। पैसा तो जड़ है। (पैसा कमाने का) राग करता है।

श्रोता :- पैसे के बिना सब्जी भी नहीं आती ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- सब्जी भी अपने आप आती है ! अपने यहाँ `काठीयावाड' में बोलते हैं न ! `खानेवाला का नाम दाने दाने पर लिखा है।' है न ? आता है न ? आपकी हिन्दी में भी आता होगा ? `दाने दाने पर लिखा है खानेवाले का नाम।' हमारे यहाँ `काठीयावाड' में ऐसा कहते हैं - `खानेवाले का नाम दाने दाने पर है।' उसका अर्थ ? उसमें नाम है ? जो परमाणु आनेवाले हैं वही आयेंगे, नहीं आनेवाले नहीं आयेंगे। अरे..रे...! कुछ खबर (नहीं)। क्या कहा ? खानेवाले का नाम परमाणु में है। उसका अर्थ ? क्या नाम अंदर है ? अपने यहाँ `काठीयावाड' में तो बोलते हैं। उसका अर्थ यह है कि, जो परमाणु आहार के, पानी के, पैसे के आनेवाले हैं वही आयेंगे और नहीं आनेवाले नहीं आयेंगे। ये बात कैसी ? आहा..हा...!

यह भगवानआत्मा पर का जानने - देखनेवाला है, परंतु पर की कोई क्रिया (करे) - (कुछ) लाये या छोड़े, यह आत्मा में नहीं है। आहा..हा...!

श्रोता :- इतने रुपये दिये और लिये।

पूज्य गुरुदेवश्री :- कौन देता है ? ५०-६० करोड़ रुपये होवे उसमें से ५ लाख दे तो उसमें क्या (हो गया) ? अंदर राग की मंदता करे। `स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में सिद्धांत तो ऐसा करते हैं कि, जिसकी धर्मदृष्टि हुई है और यथार्थदृष्टि हुई है, उस जीव की तो इतनी जवाबदारी है कि, जो कुछ कमाई होती है उसमें से कम से कम दसवाँ भाग तो (धर्म में) खर्च करे। `स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' (नाम का) शास्त्र है।

श्रोता :- यह तो उस समय की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- लेकिन यह तो तीनों काल की बात है, सिद्धांत है। (यह बात तो) मुनि कहते हैं। `स्वामी कार्तिकेय' नग्न दिगंबर मुनि जंगल में रहते थे। जैसे यह `कुंदकुंदाचार्य' मुनि हैं, इनके पहले `स्वामी कार्तिकेय' हो गये। जंगल में रहते थे।

मुनि तो सब जंगल में रहते थे। अब तो श्वेतांबर निकलने के बाद सब गड़बड़ हो गई। वस्त्रसहित (होकर) गाँव में (रहने लगे)। मुनि तो नग्न दिगंबर (होते हैं)।

जैनदर्शन के साधु तो जंगल में रहते थे। मुनि वस्त्ररहित हो और अंतर में अतीन्द्रिय आनंद ! यहाँ अभी चलेगा। अंदर में अतीन्द्रिय आनंद के उछाले आते हो ! जैसे समुद्र के किनारे पानी की बाढ़ आती है, वैसे मुनियों को - सच्चे संत को उसकी वर्तमान पर्याय में अतीन्द्रिय आनंद का उछाला आता है। आ..हा..हा...! हिन्दी में उछाला कहते हैं ? भरती (कहते हैं)। हमको पूरी हिन्दी नहीं आती। समझ में आया ? आ..हा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, आत्मा तो ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेय(प्रमाण है)। (यहाँ) जैसे कहा कि ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है, वैसे आत्मा भी ज्ञेयप्रमाण ही है। जैसे ज्ञान में सब ज्ञेय जानने में आता है तो ज्ञान ज्ञेयप्रमाण कहने में आया। वैसे आत्मा में भी, अनंत ज्ञेय है वह सब जानने में आता है (तो) आत्मा को भी ज्ञेयप्रमाण (कहा)। आहा..हा...!

(अब) २६वीं गाथा। मूल श्लोक ऊपर है।

`सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणदा।।२६।।'

नीचे हरिगीत :-

`छे सर्वगत जिनवर अने सौ अर्थ जिनवर प्राप्त छे।
जिन ज्ञान मय ने सर्व अर्थो विषय जिनना होइ ने।।२६।।'

आहा..हा...! आत्मा को समझाने को लिये कितने-कितने न्याय और युक्ति (देते हैं) ! अब उसकी टीका : **`ज्ञान त्रिकाल के,...'** (अर्थात्) यह भगवानआत्मा का जो ज्ञान (स्वभाव है) - जानपना स्वभाव है, उस स्वभाव की पर्याय जब प्रकट होती है तो, **`ज्ञान त्रिकाल के सर्व द्रव्यपर्यायरूप,...'** (यानी) तीनकाल में जितने द्रव्य - वस्तु है, वह सब द्रव्य और उसकी पर्याय-अवस्था। **`...प्रवर्तमान,...'** (माने) जितने द्रव्य और पर्याय जगत में हैं (ये सब) **`...समस्त ज्ञेयाकारों को,...'** समस्त ज्ञेय यानी जानने लायक चीज को उसके आकाररूप **`...पहुंच जाने से,...'** ज्ञान सब ज्ञेय को पहुंच जाता है। यानी कि सब ज्ञेय को जानता है। ऐसी बातें (हैं) !

(कहते हैं) **`ज्ञान त्रिकाल के सर्व द्रव्य-पर्यायरूप,...'** तीनकाल तीनलोक में जितने द्रव्य और पर्याय - अवस्था (है, इन) सबको। **`...समस्त ज्ञेयोकारों को पहुंच जाने से (जानता होने से),...'** पहुंच जाने से - इसका अर्थ जानता होने से, **`सर्वगत कहा गया है;...'** ज्ञान को सर्वगत (कहा गया है)। सर्व को जानता है तो सर्वगत (कहा

गया)। (ज्ञान मानो) सर्व में गया, ऐसे जानने में आया। (ऐसा) व्यवहार से कहते हैं। (ज्ञान) परचीज में जाता नहीं। अपने क्षेत्र में रहकर, अपने भाव में रहकर तीनकाल तीनलोक का ज्ञान होता है, आहा..हा...!

यह तो अभी आत्मा कैसा है (इसकी बात कहते हैं)। अंदर आत्मवस्तु (यानी) नवतत्व में आत्मतत्व कैसा है ? इसकी बात चलती है। आहा..हा...! समझ में आया?

श्रोता :- आत्मा माने कौन ?

समाधान :- आत्मा ! यह अंदर जाननेवाला है, यह आत्मा (है)। ये सब जानने में आये वह पर। जाननेवाला यह आत्मा। दर्पन जैसे स्वच्छ है (तो) उसमें (जो) चीज सामने हो (उसका) प्रतिबिंब उठता है। यह (जो) प्रतिबिंब उठता है, यह कोई परवस्तु अंदर नहीं (है)। परवस्तु अंदर है ? दर्पन है दर्पन, (उसके सामने) अग्नि है (उसका) प्रतिबिंब उठता है, तो (क्या) अग्नि वहाँ है ? (वहाँ दर्पन में) तो अग्नि के आकार दर्पन स्वच्छरूप से परिणमित हुआ है। वह दर्पन की अवस्था है, अग्नि को (छूये तो) उष्ण होता है। वहाँ (दर्पन में) अग्नि दिखे तो वहाँ अंदर दर्पन में अग्नि है? वहाँ उष्णता है ? वह (तो) दर्पन की स्वच्छ अवस्था की दशा है। वैसे भगवान (का) ज्ञान लोकालोक को देखता है, (अथवा) सब ज्ञेयाकार का ज्ञान होता है, वह अपनी स्वच्छता के कारण (होता है)। (जो) ज्ञेय है (वह) यहाँ आता नहीं। जैसे दर्पन में अग्नि का आकार होता है, यह दर्पन की अवस्था है, उसमें अग्नि आती नहीं, आहा..हा...! वैसे (ही) दर्पन अग्नि में जाता नहीं। अरे..रे...! ऐसी बातें हैं ! न्याय से - Logic से सिद्ध करते हैं, भाई ! सूक्ष्म बात है, प्रभु ! आहा..हा...!

जैसे अरीसा है, अरीसा कहते हैं न ? शीशा। हिन्दी में शीशा (कहते हैं)। शीशा हो (और) उसके सामने (कोई भी) चीज है, मनुष्य हो तो मनुष्य दिखता है। तो क्या मनुष्य उसमें है ? वह तो दर्पन की अवस्था है। (क्या) मनुष्य अंदर पड़ा है ? ऐसे ज्ञानस्वभाव में नीम, आम, जगत (के) जड़ द्रव्य आदि सब दिखता है - जानने में आता है, वह क्या है ? वह अपनी ज्ञान की अवस्था है। ज्ञान ज्ञेयाकाररूप होकर ज्ञानाकार रहा है। अर..र...! क्या कहते हैं ये ? ऐसा भगवानआत्मा अंदर है, भाई! तुझे (मालूम नहीं)। वह आत्मा का ज्ञान ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानाकार हुआ है। दर्पन में नीम आदि दिखता है, वह नीम नहीं है। नीमप्रमाण दर्पन की अपनी अवस्था

हो गई है। आहा..हा...! ऐसे यह ज्ञानस्वभाव, भगवानआत्मा का ज्ञान ज्ञेयाकार को जानता है तो ज्ञेयाकार होता है। उसका अर्थ (वास्तव में वह) ज्ञानाकार हुआ है। ज्ञान में सब जानने की योग्यता से, ज्ञान ज्ञानाकार हुआ है, आहा..हा...! (लोगों को समझने की) फुरसत कहां है ? आहा...!

(यहाँ क्या) आया ? `**सर्वगत कहा गया है,...**' (अर्थात्) ज्ञान को सबको जाननेवाला कहा है। सर्वगत का अर्थ - ज्ञानस्वभाव को सबका जाननेवाला कहा है। `**...और ऐसे (सर्वगत) ज्ञाना मय होकर रहने से भगवान भी सर्वगत ही हैं।**' (भगवान यानी) आत्मा। पाठ में है न ! `**सव्वगदो जिणवसहो**' सूक्ष्म बात है, भाई ! यह तो अंदर तत्व की (बात है)।

जैसे ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, वह अपने ज्ञान में रहकर, सब ज्ञेयाकार का ज्ञान होता है। (ऐसा होता है) तो ज्ञान में ज्ञेय आया, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। वास्तव में तो ज्ञान की पर्याय उस ज्ञेयाकार हुई है। (इसलिये) जैसे ज्ञान को सर्वगत (यानी) (सबको) जाननेवाला कहा, वैसे भगवान को भी (सर्वगत कहा है)। देखो ! भगवान यानी आत्मा (कहा)। (पाठ में) है ? `**...ऐसे (सर्वगत) ज्ञानमय होकर रहने से भगवान भी सर्वगत ही हैं।**' सर्व ज्ञेयों को जाननेवाला आत्मा ज्ञानमय होकर जानता है, तो भगवान भी सर्वगत है। आत्मा को भी सर्वगत कहने में (आता है)। उसके गुण को जब सर्वगत कहा तो गुण के धरनेवाले आत्मा को भी सर्वगत कहने में (आता है)। भाषा तो ऐसी सादी है, प्रभु! परंतु क्या हो ? अभी तो मार्ग में बहुत फेरफार हो गया (है) ! आहा..हा...!

देहदेवल में भगवान बिराजते हैं। यह देह तो मंदिर है। उसमें देव (नाम) भगवानआत्मा, चिदानंद प्रभु ! अनंत गुणो का पिंड प्रभु ! (बिराजता है)। उसके ज्ञानस्वभाव (के) कारण, ज्ञान सबको जानता है, तो ज्ञान को सर्वगत (कहा) - सर्व को जाना ऐसा कहा। (इस तरह) भगवानआत्मा भी सर्व को जान लेता है (तो आत्मा को सर्वगत कहा)। (जैसे) ज्ञानगुण को (सर्वगत) कहा, ऐसे आत्मा को भी (सर्वगत) कहा।

ये आपके हीरे होते हैं न हीरे ! इतने (थोड़े) हो तो करोड़-दो करोड़ के होते हैं। बहुत कीमती हो तो (इतनी कीमत के होते हैं)। उस हीरे को ज्ञान में जानते हैं। जैसा हीरा है ऐसा ज्ञान हुआ। तो हीरे का आकार यहाँ (ज्ञान में) नहीं

आया। यहाँ तो ज्ञान की पर्याय आयी (हुई) है। परंतु ज्ञान की पर्याय में जानने में आया, तो ज्ञान सर्वगत नाम सब को जानता है, ऐसा कहने में आया है। आहा..हा...! हमने भी `राजकोट' में हीरा देखा हे, अस्सी हजार की कीमत का था।

श्रोता :- जिसने बड़ा हीरा (आत्महीरा) देखा है, उसको इसकी क्या कीमत !

पूज्य गुरुदेवश्री :- हीरा तो यह भगवान(आत्मा) है, बापू ! यह चैतन्य हीरा जिसका चमकता हुआ ज्ञान अनंत है, यह ज्ञान सर्व को जाने ऐसा कहा। तो प्रभु कहते हैं, आत्मा भी (सर्व को जानता है तो) सर्वगत कहने में आता है। आहा..हा...! है ? `**...ऐसे ज्ञानमय होकर रहने से भगवान भी,...**' (भगवान) यानि आत्मा, आहा..हा..हा...! `**...सर्वगत ही हैं।**' जिनवर - सर्वज्ञ की बात है न !

`**इस प्रकार सर्व पदार्थ भी सर्वगत ज्ञान के विषय होने से,...**' इस प्रकार सर्व पदार्थ ज्ञान का विषय होने से (यानी) ज्ञान का सर्व पदार्थ ज्ञेय होने से - ज्ञान का सर्व पदार्थ विषय होने से, है ? `**...सर्वगत ज्ञान से अभिन्न उन भगवान के वे विषय हैं,...**' क्या कहा ? आहा..हा...! अपना स्वभाव जो जानता है उसका विषय सब लोकालोक है। तो ज्ञान का जो विषय है यह आत्मा का विषय है। अरे...! ऐसी बातें हैं। समझ में आया ? ऐसा है। आहा..हा...!

श्रोता :- इसमें (ऐसा सब समझने से) लाभ क्या है, यह समझ में नहीं आता!

समाधान :- लाभ यह है कि, आत्मा राग बिना का है। (और) तेरा स्वरूप ज्ञानस्वरूप है। और ज्ञान और आत्मा तद्रूप है तो ज्ञान में एकाग्र होने से तुझे धर्म होगा।

श्रोता :- दान दे दें तो धर्म होगा ?

समाधान :- धूल में भी नहीं है। दान तो तू लाख दे या करोड़ दे दे (उसमें धर्म नहीं है)। (इतने) तो क्या देगा, बनिये इतने नहीं देते। पाँच करोड़ में से एक करोड़ दे दे, तो भी धर्म नहीं है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं।

श्रोता :- पाँच करोड़ दे दें तो ?

समाधान :- पाँच करोड़ दे दे तो भी उसके कहाँ थे ? वह तो जड़ है। पैसा तो जड़-अजीव है। आहा...! किसके पैसे और किसकी (मिल्कत), भाई ! आहा..हा...!

यहाँ तो (यह करना है कि), वह पैसा जो ज्ञान में दिखता है, यह पैसा ज्ञान का विषय है। ज्ञान में जाननेवाली चीज है तो ज्ञान का विषय है। ज्ञान की चीज

नहीं। तो (पैसा) जैसे ज्ञान का विषय है ऐसे आत्मा का भी वह विषय है। सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान का जैसा विषय है तो आत्मा का भी वह विषय है, आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !

दया पालो, प्रतिक्रमण (करो), वह सब सरल था। धूल भी नहीं है। आहा..हा...! भाई ! मार्ग (कोई) अलग है, भाई ! भगवान (आत्मा) तो ज्ञानस्वरूप है, उसे राग की क्रिया (का कर्ता) मानना यह तो मिथ्यात्व है। राग मेरा है, (ऐसी मान्यता) तो मिथ्यात्व है।

यहाँ ये (बात) बताते हैं। यहाँ सर्वज्ञ (का स्वरूप) बताकर (आत्मा का स्वरूप बताते हैं)। ज्ञान तेरी चीज है (स्वरूप है) तो ज्ञान में राग जानने लायक है। परंतु ज्ञान का - आत्मा का राग है, ऐसा (स्वरूप) नहीं है। आत्मा का शरीर है या आत्मा का यह पुत्र-पुत्री है और व्यापार है, ऐसा है नहीं। आहा..हा...!

श्रोता :- व्यापार न हो तो पैसा आयेगा कहाँ से ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- कौन व्यापार करता था ? पैसा (तो) धूल है। उसे आना हो तो आता है। (एकबार) कहा था न ? ऐसे बहुत लोग देखे हैं, - `बुद्धि के बारदान !' `बारदान' समझ में आता है? बुद्धि से खाली (बिना बुद्धि का)। एकबार कहा था न ! बहुत साल पहले की बात है। लगभग '६७ की बात है। `पालेज' से हम (बंबई) माल लेने जाते थे। (वहाँ) एक खोजा की दुकान थी। वहाँ हमारे गाँव का एक (आदमी) नौकर था। हम अकेले नहीं जाते थे। हमारे साथ कुंवरजीभाई या रामजीभाई रहते थे। हम दोनों माल लेने जाते थे। उसके बहुत बड़े गोदाम थे। दो-तीन पेटी हमने माल लिया। नौकर ने कहा, `एक पेटी हमारे नाम पर ले लो, साहब ! मुझे पैसे दे देना !' हमने कहा, `हमारा ऐसा काम नहीं है।' वहाँ सामने होटेल थी वहाँ उसका खोजा सेठ बैठा था। (उसे देखकर लगा) यह तो जाडीबुद्धि जैसा लगता है ! (गंवार लगता है)। लेकिन उन दिनों में '६६ की साल में वर्ष के ५०,००० कमाता था !

श्रोता :- बुद्धिवाले होते हैं वही कमाते हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- बुद्धि धूल में है ! यह कहा न ! ऐसे बुद्धि के बारदान (गवांर) भी उन दिनों में पचास-पचास हजार साल के कमाते थे ! उस समय के

पचास हजार (और) अभी के तीस गुना गिन लो ! अभी के पंद्रह लाख और उस समय के पचास हजार ! पहले के पैसे की कीमत कितनी और अभी की कितनी ! आहा..हा...! हमारे पिता के पिताजी के पास दस हजार की मूडी (पूंजी) थी ! हमारे बाप के बाप `गिगा कुंवर' (के नाम से) कहलाते थे। `गढडा' (गाँव के) बहुत इज्जतदार आदमी थे। उस समय दस हजार माने... ओ...हो...हो...! बड़े इज्जतदार (कहलाते थे) ! `गिगा कुंवर!' बारह महीने में दो हजार पैदा करते थे।

हमें तो दूसरी बात कहनी है कि, दो महीने ही धंधा करते थे। वे बारह महीने धंधा नहीं करते थे। पहले के सेठ लोग दो महीना ही धंधा करते थे (बाकी के) दस महीने नहीं (करते थे)। (अभी तो) बारह महीना मजदूरी करते हैं ! हमने तो सब देखा है न ! हमारे पिताजी की नयी `मा' `गढडा' (गाँव में) थी, वह कहती थी कि, `गिगा सेठ' ऐसा करते थे, ऐसा करते थे। ऐसा सब सुना था। उसमें कुछ नहीं है। आ..हा..हा...! उन दिनों में दस हजार यानी अभी के तीस गुना गिनो तो इतने लाख तो (उस समय थे) ! इज्जत बहुत बड़ी थी, दुकान पर बैठते नहीं थे। मात्र `धोलेरा' (गाँव में) आदमी को भेजे और रुई की पेटी में से दो महीने में दो हजार कमा ले, बस ! और उन दिनों में बारह महीने का खर्च कितना था ! ३०० रुपये! अभी तो एक महीने में ३०० रुपये की तो सब्जी चाहिये! उन दिनों में खर्च बहुत कम था। यह १०० साल पहले की बात है। लेकिन बस दो महीना मजदूरी करे (बाकी के) दस महीने नहीं। और अभी तो बारह महीने बड़े मजदूर (मजदूरी करते हैं) ! आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं, प्रभु एकबार सुन तो सही नाथ ! आत्मा को - प्रभु को `भगवंत' कहकर बुलाते हैं ! भगवंत ! तेरा जो ज्ञानस्वभाव है वह आत्मा में सर्वव्यापक है। और यह ज्ञान सर्व ज्ञेय को जानता है, बस ! यह तेरी चीज है (स्वरूप है)। ज्ञान सबको जानता है तो ज्ञान को जैसे सर्वगत कहा तो आत्मा को भी सर्वगत कहा, क्योंकि ज्ञान और आत्मा एक है। (इसलिये) यहाँ आत्मा को भी सर्व का जाननेवाला होने से, सर्वगत कहने में आया है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !

`इस प्रकार सर्व पदार्थ भी सर्वगत ज्ञान के विषय होने से, सर्वगत ज्ञान से अभिन्न,...'** (अर्थात्) ज्ञान से भिन्न नहीं है ऐसा आत्मा, **`...उन भगवान के विषय हैं,...'

(यानी) ज्ञान का जैसे लोकालोक विषय है ऐसे आत्मा का भी लोकालोक विषय है। क्योंकि (ज्ञान से आत्मा) अभिन्न है, इसलिये। है न ? `**...ज्ञान से अभिन्न,...**' आत्मा (है) इसलिये। `**ऐसा (शास्त्र में) कहा है;...**' ऐसा भगवान की वाणी में - सिद्धांत में आया है। आहा...! `**...इसलिये सर्व पदार्थ भगवानगत (भगवान में प्राप्त ही) हैं।**' है ? सर्वज्ञ परमेश्वर अरिहंत त्रिलोकनाथ के आत्मा में लोकालोक सर्वगत (प्राप्त) हैं। सर्वगत (अर्थात् सबको) जानते हैं, आहा..हा...!

(आगे कहते हैं), `**वहाँ (ऐसा समझना कि) - निश्चय से,...**' देखो ! अब आया, यहाँ यह समझना (कि) निश्चय(नय से) नाम यथार्थदृष्टि से देखो तो। `**...अनाकुलता लक्षण सुख का,...**' आ..हा..हा...! आत्मा में अनाकुल आनंद भरा है। सबेरे भजन में गाया था न ! `मृग को देर से पता चला।' ऐसे इस आत्मा को बाद में पता चला कि, `मैं तो आनंद हूं', ऐसा कहते हैं !

`मृग को देर से पता चला।' `देर से' समझे ? आखिर में। हिरन को आखिर में पता चला। हिरन की नाभि में कस्तूरी और वन-वन में भटके ! उसकी गंध (आती है) इसलिये गंध कहां से आती है, (उसकी) खबर नहीं। (उसे ढूंढने के लिये) वन में भटके। `मृग को देर से पता चला।' (ऐसे) हिरन को आखिर में जब पता चला कि, अरे रे...! कस्तूरी तो मेरे पास है ! शिकारी मृग को मारकर कस्तूरी ले गया। मृग को नहीं मिली और शिकारी ले गया। आहा..हा...! (यहाँ) यह कहते हैं, देखो !

ऐसे यह भगवानआत्मा ! `**...निश्चयनय से अनाकुलता लक्षण सुख,...**' इस आत्मा में अनाकुल लक्षण सुख भरा है। जैसे ज्ञान आत्माप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। वैसे आत्मा में अनाकुल लक्षण आनंद भी आत्माप्रमाण है, आ..हा..हा...! अतीन्द्रिय आनंद (है), हाँ ! ये विषय की कल्पना में जो आनंद मानता है, वह तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। स्त्री में सुख है, विषय में सुख है, आबरू में सुख है, पैसे में सुख है, अच्छे मकान में सुख है - यह मिथ्यामान्यता तो अज्ञानी का भ्रम है। वह मृग की जैसे (नाभि में) कस्तूरी है और बाहर ढूँढता है ! ऐसे आनाकुल आनंद तो यहाँ अंदर भगवानआत्मा में पड़ा है ! आ..हा..हा...! समझ में आया ? भगवानआत्मा सुख का सागर है ! अरे...! लेकिन उसको खबर कहां है ?

अनाकुल लक्षण सुख (ऐसा कहा)। (यानी) आनंद का लक्षण अनाकुलता (है) -

आकुलता नहीं। जो यह दया, दान, काम, क्रोध के राग आदि होते हैं, यह तो आकुलता और दु:ख है, आहा..हा...! दुकान पर बैठकर लाखो (रुपये) पैदा करते हैं, वह भाव दु:ख है, आकुलता है, ऐसा कहते हैं ! आहा..हा...!

यहाँ प्रभु कहते हैं, जैसे ज्ञान (यानी) जानपने का स्वभाव आत्माप्रमाण है (और) ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। ऐसे आत्मा भी ज्ञेयप्रमाण है। ज्ञान से आत्मा अभिन्न है तो ज्ञान जैसे पर को जानता है तो आत्मा भी पर को - सबको जानता है। क्यों ? वह अब कहते हैं कि, अनाकुलता लक्षण आनंद का आधार भगवानआत्मा है। जैसे ज्ञान - जानपने का आधार आत्मा है, वैसे अनाकुलता आनंदस्वरूप (का आधार) भगवान (आत्मा है)। आ..हा..हा...! कैसे (बात) बैठे ?

(कहते हैं), '**...अनाकुलतालक्षण सुख का जो संवेदन उस सुखसंवेदन के अधिष्ठानता जितना ही आत्मा है,...**' आ..हा..हा...! यहाँ ज्ञान - जानपना (जो कहा), वह ज्ञान यानि स्वभाव की बात (चलती) है, हाँ ! यह वकालत का ज्ञान, यह डोक्टर का, M.A. का ज्ञान, L.L.B. का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं, वह तो कुज्ञान है। और वह ज्ञान तो पर्याय में (है)। यहाँ तो अंतर ज्ञानस्वभाव की बात चलती है, आहा...! स्व... भाव...! जैसे शक्कर का मीठा स्वभाव (है) वैसे भगवानआत्मा का ज्ञानस्वभाव (है)। जैसे अफीम का क़ड़वा स्वभाव (है) वैसे भगवानआत्मा का ज्ञानस्वभाव (है), यहाँ इस (स्वभाव की) बात चलती है। कहो ! ऐसा धर्म-मार्ग कहां से निकाला ! आहा..हा...! भगवान ऐसा कहते थे, प्रभु ! वह मार्ग है, भाई ! आहा..हा...!

निश्चय (यानि) सत्यदृष्टि से '**...अनाकुलतालक्षण सुख का जो संवेदन,...**' देखो! (क्या कहा ?) अंदर पर्याय में सुख का वेदन हो। जैसे ज्ञान में ज्ञेय जानने में आता है, वह ज्ञान आत्मा के आधार है। ऐसे पर्याय में जो आनंद का वेदन है, इस आनंद का आधार आत्मा है, आ..हा..हा...! ऐसी बातें (हैं) ! ये पैसे में और धूल में सुख नहीं है, ऐसा कहते हैं।

आनंद तो आत्मा में है। जैसे ज्ञान आत्मा में है - समझने का स्वभाव है यह आत्मा का है और आत्मा में है। (ऐसे) आत्मा में आनंद है। यह सुख (और) आनंद जो (है) (यानी) अनाकुलतालक्षण सुख है, उसका आधार आत्मा है। सुख (का) जो संवेदन परिणाम (है) देखो ! '**...उस सुखसंवेदन के अधिष्ठानता,...**' (इसका अर्थ) नीचे

कोष्ठक में (मूल शास्त्र में दिया है)। अधिष्ठान = आधार, रहने का स्थान (आत्मा सुखसंवेदन का आधार है...) आ..हा..हा...! जैसे ज्ञानस्वभाव (है) उसकी जानने की पर्याय (होती है), उसका आधार आत्मा है। ऐसे आनंदस्वभाव - त्रिकाल अनाकुल आनंद स्वभाव (है)। सम्यक्‌दृष्टि को - धर्मी को उस आनंद का वेदन जो आया, (उसका आधार आत्मा है)। धर्मी को यह आनंद का जो वेदन आया (उसका आधार आत्मा है)। ऐसे तो अनादिकाल से राग और द्वेष (होता है) वह तो दु:ख है। चाहे तो व्रत और तप का विकल्प हो लेकिन वह राग और दु:ख है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं। आत्मा की पर्याय नहीं, आहा..हा...!

किसी भी प्राणी को अपने अनाकुललक्षण आनंद के अलावा, परचीज में कुछ आकर्षण हो जाये कि, यह ठीक है - (तो) ये सब दु:ख है। यह (भाव) अनाकुल आनंद से विपरीत दशा है। आहा..हा...! स्त्री के विषय (भोग में) जो अंदर राग होता है (वह दु:ख है - सुख नहीं)। (क्योंकि) आत्मा स्त्री को भोग सकता नहीं। क्योंकि यह (स्त्री का शरीर) तो मांस, हड्डी (हैं, जो) मिट्टी - जड़ है। परंतु (अज्ञानी जीव) उसका लक्ष करता है (कि) `यह ठीक है', ऐसा राग करता है। इस राग का अनुभव करता है - शरीर का नहीं। यह राग का अनुभव है, यह दु:ख का अनुभव है। आहा..हा...! यह पैसेवाले बीस लाख दिये और लिये (ऐसा जो) भाव (करते हैं) वह भाव राग और दु:ख है, ऐसा कहते है। वह आत्मा का स्वभाव नहीं, आहा..हा...!

`मृग को देर से पता चला' (ऐसा कहा न) ? वैसे यह मृग जैसा आत्मा कहता है, मेरे में आनंद है उसकी बहुत देर के बाद खबर पड़ी। सम्यग्दर्शन हुआ तब मालुम हुआ कि, `अरे...! आनंद तो मेरे में है !!' धर्म की पहली सीढ़ी - सम्यग्दर्शन (की बात है) हाँ ! चारित्र तो अभी बहुत दूर है। (ऐसा चारित्र) तो अभी है कहां? आ..हा..हा...! `मृग को देर से पता चला' `देर से' समझे ? देर से खबर पड़ी। ऐसे मृग जैसा आत्मा, पर में सुख की कल्पना अनादि से करता था। दया, दान, व्रत का भाव - यह राग है (और) राग है यह दु:ख है। वह मृग को जैसे देर से खबर पड़ी ऐसे अज्ञानी को मरते समय अंत समय में खबर पड़ी - `अरे...!! अरे...! ये क्या ! आनंद तो मेरे में हैं !' आहा...!

है (अंदर) ? `**...अनाकुलतालक्षण सुख का जो संवेदन,...**' पर्याय में संवेदन, हाँ !

आ..हा..हा...! भगवान अरिहंत परमात्मा को पर्याय में अनंत अतीन्द्रिय आनंद का वेदन है। उसे `अरिहंत' कहते हैं। आहा..हा...! सिद्ध को भी ऐसा है - `णमो सिद्धाणं !' सिद्ध को उसकी पर्याय में अनंत आनंद का वेदन है। आ..हा..हा...! सिद्ध क्या ? अरिहंत क्या ? इसकी खबर नहीं ! (और) जय नारायण...! (करके धर्म मान लेते हैं)।

`विह्मरयमला पहीणजरमरणा' लोगस्स में आता है न ! `विह्मरयमला' इसके अर्थ की (खबर नहीं)। वहाँ `लीमडी' में (गाँव का नाम है) दशाश्रीमाली और वीसाश्रीमाली के बीच झगड़ा चल रहा था। `लीमडी' में दो उपाश्रय है न ! एक वीसाश्रीमाली का, एक दशाश्रीमाली का। दशाश्रीमाली का (उपाश्रय) सेठ लोगों का बोला जाता है। हम तो सब जगह जाकर आये हैं न ! पूरा काठियावाड देखा है। वहाँ दशाश्रीमाली और विसाश्रीमाली के बीच तकरार थी। उसमें एक दशाश्रीमाली की वृद्ध औरत थी। वह दो घड़ी सामायिक करने बैठी थी। उसमें वह बोली, `लोगस्स उज्जोअगरे, धम्मतित्थयरे जिणे...' (बोलते-बोलते आगे बोली) `विहा रोई मल्या !' उसे ऐसा लगा कि, अपनी झगड़ा लोगस्स में कैसे आ गया ?! (ऐसे) अर्थ की भी खबर नहीं होती और बैठते हैं सामायिक में ! धूल में भी नहीं है तेरी सामायिक ! `वीसा' समझे? वीसाश्रीमाली (कहते हैं)। वह वृद्ध औरत दशाश्रीमाली (ज्ञाति की) थी। वीसाश्रीमाली का उपाश्रय `संघवी' का बोला जाता था और दशाश्रीमाली का उपाश्रय `सेठिया' का बोला जाता था। मालूम है न ! दोनों जगह व्याख्यान दिये हैं। दशाश्रीमाली सेठिया के सामने धर्मशाला है न ! वहाँ व्याख्यान दिया है। सब हाजिर थे। उस वक्त संप्रदाय में थे ! वह औरत ऐसा बोली `विहा रोई मल्या' ! उसे ऐसा लगा - `ये विहा रोई मल्या' - इसमें आया तो अपना झगड़ा लोगस्स में कैसे आ गया ?! देखो तो सही! वहाँ देखा तो ऐसा लिखा था - `विह्मरयमला' !

(उसका अर्थ) क्या कि, हे परमात्मा ! हे सिद्ध भगवान ! आप - `विहुय' - वि = विशेष(रूप से) हुई - विशेषरूप से टाले हैं - `रयमला' (यानी) हे परमात्मा! हे सिद्ध भगवान ! आपने विशेषरूप से - `रयमला' (अर्थात्) `रज' नाम आठकर्म की धूल और `मल' नाम पुण्य-पाप का भावमैल। उसे आपने टाले हैं। (ऐसा अर्थ है)। यह `विह्मरयमला' लोगस्स में आता है न ! `एवं मए अभिथुआ' अंत में आता

हैं न ! `एवंमए अभिथुआ, विह्यरयमला पहीणजरमरणा...' यह लोगस्स तो १० वर्ष की उम्र में (मुखपाठ) किया था। अभी तो ७९ वर्ष हो गये।

(ऐसे लोगों को) अर्थ की खबर नहीं। `घड़ीया चलाये' - (जैसे पहाड़ा बोल लेते हैं वैसे)। ( उसका वास्तविक अर्थ तो यह है कि) हे परमात्मा ! हे सिद्ध भगवान! आप तो `विह्यरयमला' (यानी) पंखी जैसे पंख में लगी रज को झटक देता है, वैसे प्रभु ! आपने तो आत्मज्ञान, केवलज्ञान प्रकट करके.... आ..हा..हा...! `विह्य' नाम वि = विशेषरूप से ह्यु - ह्यु का `धु' होता है। विशेषरूप से धुई नाम टाले हैं - (नाश किया है)। `रयमला' = रज यानी आठकर्म की धूल और मल यानि पुण्य-पाप का मैला भाव। इन दोनों को आपने टाला है। लोगस्स में आता है। अरे...! अर्थ की कहां खबर है ! ऐसे ही तो सामायिक करके चले जाते हैं। (लेकिन) सब मिथ्यात्वभाव है। आहा..हा...!

यहाँ यह कहते हैं, `**...सुखसंवेदन के अधिष्ठानता जितना ही आत्मा है,...**' आ..हा..हा...! इस आनंद के वेदन का आधार आत्मा है। (अर्थ) नीचे (दिया) है न! भगवान परमात्मा अरिहंतदेव ज्ञान की पर्याय में लोकालोक जानते हैं। वह ज्ञान की पर्याय ज्ञान है और ज्ञान का आधार आत्मा है। कैसे (आधार है) ? कि, भगवान (आत्मा का) अनंत आनंद का अंदर जो स्वभाव है, उसका वेदन केवली परमात्मा को होता है। आनंद का वेदन (जो होता है) उस आनंद के वेदन का आधार आत्मा है। आत्मा के इस आनंद के वेदन में लोकालोक आधार है, ऐसा नहीं। समझ में आया ? आ..हा..हा...! ऐसी बातें हैं !

ये पैसे में सुख है कि नहीं ? यह पैसा तो जड़ है, धूल है, मिट्टी है। मिट्टी में सुख कैसा ? लेकिन उस तरफ की ममता करते हैं कि, `ये मेरा (है),' यह दु:ख है। यह दु:ख कोई भगवानआत्मा का स्वभाव नहीं। आहा..हा...वह तो अतीन्द्रिय आनंद स्वरूप प्रभु (है)। जैसे ज्ञानस्वरूप आत्मा (है, वैसे) शक्कर (चीनी) जैसे सफेद (है)। जैसे शक्कर मीठास्वरूप है वैसे सफेद स्वरूप शक्कर है। ऐसे आत्मा ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञान का आधार आत्मा (है)। ऐसे भगवान(आत्मा) आनंदस्वरूप है। इसका आनंद का वेदन (पर्याय में प्रकट हुआ) उसका आधार आत्मा है। (भगवान ने ज्ञान की) पर्याय में लोकालोक जाना इसलिये आनंद आया, ऐसा नहीं, आहा...!

`तित्थयरा मे पसीअंतु' (ऐसा) आता है न ? लोगस्स में आता है। `तित्थयरा मे पसीअंतु, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' - (इसका अर्थ) है परमात्मा ! आपकी जो दशा है, प्रभु ! ऐसी मुझे अंदर से प्रकट करनी है, ऐसा कहते हैं। `सिद्धि सिद्धिं मम दिसंतु' - आता है न? लोगस्स में आता है। (लेकिन) उसे अर्थ की कुछ खबर नहीं। जिंदगी ऐसे ही मजदूरी (करके निकल जाती है)। आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, अनाकुलता (लक्षण) जो सुख का वेदन (है), उसका अधिष्ठानता जितना आत्मा है। उसका आधार यह आत्मा है। भगवान परमात्मा जिनेश्वरदेव को अनंत आनंद प्रकट हुआ (है)। इस अनंत आनंद का वेदन प्रभु को है। प्रभु को दु:ख नहीं। भगवान सर्वज्ञ को क्षुधा नहीं (है) तो आहार लेना (भी) नहीं (होता)। आहा..हा...! श्वेतांबर में आता है कि, `महावीर भगवान' को रोग हुआ। (वह) सब बात झूठ (है), कल्पित है। समझ में आया ? (उसमें ऐसा आता है कि) भगवान को रोग हुआ, और छ महीने रक्तपेचिस जुलाब (हुई) ! (फिर) दवा लाये, (दवा) दी और बाद में (रोग) मिट गया! सब कल्पित (है)। आहा..हा...!

यहाँ तो कहते हैं प्रभु ! परमात्मा अरिहंत को जो अनंत केवलज्ञान है, उसमें लोकालोक जानते हैं। परंतु इस ज्ञान का आधार तो आत्मा है, लोकालोक नहीं। ऐसे भगवान को अनंत आनंद प्रकट हुआ, तो इस आनंद की पर्याय का आधार आत्मा है। यह आनंद लोकालोक को जानतें हैं, इसलिये आया, ऐसा नहीं। आहा..हा...!

यहाँ तो सर्वज्ञ परमात्मा की बात है। परंतु गृहस्थाश्रम में (या) राज में सम्यग्दर्शन होता है (वह) धर्म की पहली सीढ़ी (है)। आत्मा शुद्ध ज्ञान, आनंदस्वरूप (है), इस आनंद का ज्ञान होता है तो (पर्याय में) आनंद का वेदन होता है। तब उसे सम्यग्दृष्टि - धर्म की पहली सीढ़ीवाला कहने में आता है। अभी श्रावक तो बाद में (होता है)। श्रावक तो पंचम गुणस्थान(वाले होते हैं)। (चौथे गुणस्थान से) आगे (जाकर) आनंद की वृद्धि (हो) जाये, अंदर अतीन्द्रिय आनंद बढ़ जाये, उसे यहाँ `श्रावक' कहते हैं। यह वाडा के श्रावक सब `सावज' है। आहा..हा...! और मुनि जो होते हैं... आ..हा..हा...! जैन के सच्चे मुनि, हाँ ! इस समय में तो कोई है नहीं। उसे तो अंदर अतीन्द्रिय आनंद की बाढ़ आती है (यानी) प्रचुर वेदन होता है। यहाँ कहा न ? सुख का वेदन। ऐसे सच्चे मुनि होते हैं उन्हें तो सम्यग्दर्शन - अनुभवसहित, अतीन्द्रिय आनंद

का प्रचूर वेदन होता है। आ..हा..हा...! उसका नाम मुनिपना ! और भगवान को पूर्ण आनंद होता है। उसका नाम `देव' और `अरिहंत' (है)। अरे..रे...! यहाँ तो अभी आनंद की भी खबर नहीं है और सामायिक की और प्रतिक्रमण किया (तो) (मान लेते हैं) हो गया धर्म ! आहा...! बापू ! भगवान की यथार्थ वाणी (सुनने) मिले वह भी भाग्य है ! ! आ..हा..हा...!

(यहाँ कहते हैं) आनंद जितना आत्मा है। है ? (जैसे) शक्कर में जितनी मिठास है इतनी शक्कर है। ऐसे आत्मा में जितना आनंद का (वेदन) आया इतना (का) आत्मा आधार है। आहा..हा...! भाषा तो सादी है, प्रभु ! भाव तो जो है सो है, दूसरी बात क्या करें ? बहुत महंगा (है) ! कभी विचार किया नहीं (और) कभी सुनने में आया नहीं, आहा..हा...!

(कहते हैं) `**...और उस आत्मा के बराबर ही ज्ञान स्वतत्व है;...**' देखो ! (क्या कहा) ! भगवान को आनंद की पर्याय का वेदन होता है, ये सब पर्याय का आधार आत्मा (है)। ऐसे आत्मा के बराबर ही ज्ञान स्वतत्व है। जैसे आनंद की पर्याय का आधार भगवान (आत्मा) है, वैसे आत्मा का ज्ञान ही स्वतत्व है। `**...उस निज-स्वरूप आत्माप्रमाण ज्ञान को छोड़े बिना,...**' (यानि) आत्मा के प्रमाण में (जो) ज्ञान (है उसे) छोड़े बिना। `**...समस्त ज्ञेयाकारों के निकट गये बिना,...**' आ..हा..हा...! जैसे चक्षु अग्नि को देखती है परंतु चक्षु अग्नि के पास जाती नहीं। ऐसे ज्ञान की पर्याय लोकालोक को जानती है परंतु ज्ञान की पर्याय लोकालोक में जाती नहीं। `जाती नहीं' को क्या कहते हैं ? (मुमुक्षु- हाँ, जाती नहीं, बराबर है)। हमको तो हिन्दी का अभ्यास थोड़ा है न !

आहा..हा...! (यहाँ कहते हैं) `**...ज्ञान को छोड़े बिना, समस्त ज्ञेयाकारों के निकट गये बिना,...**' क्या कहते हैं ? आत्मप्रमाण ज्ञान है, यह सब ज्ञेयों के निकट गये बिना, सबको जानता है। ऐसे भगवान सर्व पदार्थों को जानते हैं, आहा..हा...!

पहले यह बात कही कि, आत्मा का जो ज्ञान है, यह सबको जानता है परंतु सब चीज में गये बिना जानता है। इस ज्ञान का आधार आत्मा (है)। ऐसे अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आता है, उसका आधार आत्मा (है)। समझ में आया ? आहा..हा...! ऐसा उपदेश (है)। (नये आदमी को तो ऐसा लगे कि) यह ऐसा कैसा उपदेश है ?

प्रभु के घर का यह मार्ग है, बापू ! आहा...! तेरा अतीन्द्रिय सुख तो तेरे में (है)। मृग की नाभि में कस्तूरी (है) (लेकिन) मृग को खबर नहीं। ऐसे भगवानआत्मा में अंदर आनंद (भरा है), (लेकिन) उसको खबर नहीं। भगवान को पूर्ण आनंद (प्रकट) हो गया। समकिती - धर्मी को जब पहले धर्म (प्रकट) होता है तो उसको भी आनंद का स्वाद थोड़ा आता है। सर्वज्ञ परमात्मा अरिहंत भगवान को पूर्ण आनंद का स्वाद है। समझ में आता है कुछ ?

(यहाँ कहते हैं) '**...ज्ञेयाकारों के निकट गये बिना,...**' (सबको जानते हैं)। (जैसे) दर्पण के सामने अग्नि है तो (उसका) प्रतिबिंब दिखता है। दर्पण अग्नि के पास जाता नहीं। फिर भी दर्पण में अग्नि का प्रतिबिंब होता है, वह दर्पण की अवस्था है। ऐसे भगवान का ज्ञान लोकालोक को जानते हैं परंतु लोकालोक के निकट होकर जानते नहीं। वहाँ जाते नहीं। अपने में रहकर जानते हैं। ऐसी न्याय से तो बात (करते) हैं। लेकिन प्रभु का मार्ग सूक्ष्म बहुत (है)। अभी तो सम्यग्दर्शन - पहली (धर्म की) दशा की बात (चलती है)। आहा...!

ये स्त्री में, पुत्र में, धूल में कहीं सुख नहीं है। उसमें (ऐसी) मान्यता में सारी जिंदगी चली गई, ऐसा कहते हैं। लेकिन वह सब मान्यता भ्रम है। आहा..हा...! अरे...रे...! कौन स्त्री और किसके पुत्र, बापू !

यह ज्ञान उसको (ज्ञेय पदार्थ को) जानता है (तो) वहाँ गये बिना जानता है, आहा..हा...! ऐसे अपना त्रिकाल आनंद - सुख आत्मा में है। (और) उसका (जो) वेदन (होता है), उसका आधार आत्मा है। जैसे ज्ञान सर्व को जानता है, फिर भी ज्ञान का आधार आत्मा है। इस ज्ञान का आधार ज्ञेय नहीं, ऐसा बताना है, आहा..हा...! वीतराग परमेश्वर का तत्व सूक्ष्म बहुत, भाई ! आहा...!

'**...ज्ञेयाकारों के निकट गये बिना,...**' (इसका अर्थ) नीचे है। 'ज्ञेयाकारों = पर पदार्थो के द्रव्य-गुण-पर्याय जो कि ज्ञेय है।' पर पदार्थो - द्रव्य यानी वस्तु। गुण (यानी) स्वभाव और पर्याय माने अवस्था। 'यह ज्ञेयाकार परमार्थत: आत्मा से सर्वथा भिन्न है।' (अर्थात्) भले ही ज्ञेय का ज्ञान हुआ, परंतु ज्ञान पर में गये बिना (उसे जान लेता है)। ज्ञेय से आत्मा का ज्ञान भिन्न है और आत्मा के ज्ञान से ज्ञेय भिन्न है। जैसे आँख से अग्नि जानते हैं। परंतु आँख से अग्नि भिन्न है। वैसे ज्ञान की

पर्याय लोकालोक को जानती है, फिर भी लोकालोक से ज्ञान भिन्न है। अरे...! ऐसा सूक्ष्म (है) !

(अब कहते हैं) `**निश्चयनय से ऐसा होने पर भी,...**' (अर्थात्) निश्चय से तो ऐसा है। (फिर भी), `**...व्यवहारनय से यह कहा जाता है कि भगवान सर्वगत हैं।**' (अर्थात्) व्यवहार से ऐसे कहने में आता है कि, आत्मा सबको जानता है तो (आत्मा) सर्वगत है। (ऐसा) व्यवहार से कहने में आता है (कि), (ज्ञान) सर्व में है। सर्व को जानता है न तो आत्मा सर्वगत है, (ऐसा कहा)। सर्व पर में गये, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। यथार्थ से ऐसा है नहीं, आहा..हा...!

`**...भगवान सर्वगत हैं। और नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकारों को आत्मस्थ** (**आत्मा में रहे हुये**) **देखकर,...**' क्या कहते हैं ? ज्ञान की दशा में जो कुछ सर्व ज्ञेय जानने में आता है, वह `**नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकार**' (है)। जो निमित्त है उस आकार यहाँ अपना पूर्ण ज्ञान हुआ। (यानी) जैसा लोकालोक है ऐसा आत्मा में ज्ञान हुआ। इन ज्ञेयाकारों को आत्मस्थ (यानी) अपने में देखकर। (जो) ज्ञेयाकार है (वह) तो ज्ञान। परंतु जितना जो (भी) ज्ञेय है, इतना यहाँ ज्ञान (में) देखकर... `**...(आत्मा में रहे हुये**) **देखकर ऐसा उपचार से कहा जाता है; कि सर्व पदार्थ आत्मगत** (**आत्मा में**) **हैं;...**' आत्मा तो सबको जानता है। परंतु सबको जानता है तो सर्व पदार्थ आत्मा में है, ऐसा व्यवहार से कहनें में आता है। समझ में आया ?

सर्व पदार्थ आत्मा में है (ऐसा कहा जाता है) `**...परंतु परमार्थत; उनका एक दूसरे में गमन नहीं होता,...**' (अर्थात्) जानने की पर्याय पर में जाती नहीं और परवस्तु यहाँ आती नहीं। `**...क्योंकि सर्व द्रव्य स्वरूपनिष्ठ** (**अपने-अपने स्वरूप में निश्चल अवस्थित**) **है।**' प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप में रहा है। आत्मा भले अनंत आत्माओं को जाने, लेकिन सर्व आत्मा अपने में रहते हैं। वे यहाँ आते नहीं। परंतु व्यवहार से (आत्मा में है ऐसा) कहने में आया। `**...सर्व द्रव्य स्वरूपनिष्ठ** (**अपने-अपने स्वरूप में निश्चल अवस्थित**) **है।**' विशेष कहेंगे......

❋ ❋ ❋

अथात्मज्ञानयोरेकत्वान्यत्वं चिन्तयति –

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा।।२७।।

ज्ञानमात्मेति मतं वर्तते ज्ञानं विना नात्मानम्।
तस्मात् ज्ञानमात्मा आत्मा ज्ञानं वा अन्यद्वा।।२७।।

यतः शेषसमस्तचेतनाचेतनवस्तुसमवायसंबन्धनिरुत्सुकतयाऽनाद्यनन्तस्वभावसिद्धसमवाय-संबन्धमेकमात्मानमाभिमुख्येनावलम्ब्य प्रवृत्तत्वात् तं विना आत्मानं ज्ञानं न धारयति, ततो ज्ञानमात्मैव स्यात्। आत्मा त्वनन्तधर्माधिष्ठानत्वात् ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानमन्यधर्मद्वारेणान्यदपि स्यात्। किं चानेकान्तोऽत्र बलवान्। एकान्तेन ज्ञानमात्मेति ज्ञानस्याभावोऽचेतनत्वामात्मनो विशेषगुणाभावादभावो वा स्यात्। सर्वथात्मा ज्ञानमिति निराश्रयत्वात् ज्ञानस्याभाव आत्मनः शेषपर्यायाभावस्तदविनाभाविनस्तस्याप्यभावः स्यात् ।।२७।।

अथ ज्ञानमात्मा भवति, आत्मा तु ज्ञानं सुखादिकं वा भवतीति प्रतिपादयति – **णाणं अप्प त्ति मदं** ज्ञानमात्मा भवतीति मतं सम्मतम्। कस्मात्। **वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं** ज्ञानं कर्तृ विनात्मानं जीवमन्यत्र घटपटादादौ न वर्तते। **तम्हा णाणं अप्पा** तस्मात् ज्ञायते कथंचिज्ज्ञानमात्मैव स्यात्। इति गाथापादत्रयेण ज्ञानस्य कथंचिदात्मत्वं स्थापितम्। **अप्पा णाणं च अण्णं वा** आत्मा तु ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानं भवति, सुखवीर्यादिधर्मद्वारेणान्यद्वा नियमो नास्तीति। तद्यथा – यदि पुनरेकान्तेन ज्ञानमात्मेति भण्यते तदा ज्ञानगुणमात्र एवात्मा प्राप्तः सुखादिधर्माणामवकाशो नास्ति। तथा सुखवीर्यादिधर्मसमूहाभावादात्माभावः, आत्मन आधारभूतस्याभावादाधेयभूतस्य ज्ञानगुणस्याप्यभावः, इत्येकान्ते सति द्वयोरप्यभावः। तस्मात्कथंचिज्ज्ञानमात्मा न सर्वथेति। अयमत्राभिप्रायः – आत्मा व्यापको ज्ञानं व्याप्यं ततो ज्ञानमात्मा स्यात्, आत्मा तु ज्ञानमन्यद्वा भवतीति। तथा चोक्तम् – 'व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च'।।२७।।

अब, आत्मा और ज्ञानके एकत्व-अन्यत्वका विचार करते हैं :-

गाथा २७

छे ज्ञान आत्मा जिनमते आत्मा विना नहि ज्ञान छे।
ते कारणे छे ज्ञान जीव, जीव ज्ञान छे वा अन्य छे।।२७।।

अन्वयार्थ :- [ज्ञानं आत्मा] ज्ञान आत्मा है **[इति मतं]** ऐसा जिनदेवका मत

है। **[आत्मानं विना]** आत्माके बिना (अन्य किसी द्रव्यमें) **[ज्ञानं न वर्तते]** ज्ञान नहीं होता, **[तस्मात्]** इसलिये **[ज्ञानं आत्मा]** ज्ञान आत्मा है; **[आत्मा]** और आत्मा **[ज्ञानं वा]** (ज्ञान गुण द्वारा) ज्ञान है **[अन्यत् वा]** अथवा (सुखादि अन्य गुण द्वारा) अन्य है।

टीका :- क्योंकि शेष समस्त चेतन तथा अचेतन वस्तुओंके साथ समवायसम्बन्ध नहीं है, इसलिये जिसके साथ अनादि अनन्त स्वभावसिद्ध समवायसम्बन्ध है ऐसे एक आत्माका अति निकटतया (अभिन्न प्रदेशरूपसे) अवलम्बनकरके प्रवर्तमान होनेसे ज्ञान आत्माके बिना अपना अस्तित्व नहीं रख सकता; इसलिये ज्ञान आत्मा ही है। और आत्मा तो अनन्त धर्मोंका अधिष्ठान (-आधार) होनेसे ज्ञानधर्मके द्वारा ज्ञान है और अन्य धर्मके द्वारा अन्य भी है।

और फिर, इसके अतिरिक्त (विशेष समझना कि) यहाँ अनेकान्त बलवान है। यदि यह माना जाये कि एकान्तसे ज्ञान आत्मा है तो, (ज्ञानगुण आत्मद्रव्य हो जानेसे) ज्ञानका अभाव हो जायेगा, (और ज्ञानगुण का अभाव होनेसे) आत्माके अचेतनता आजायेगी अथवा विशेष गुणका अभाव होनेसे आत्माका अभाव हो जायेगा। यदि यह माना जाये कि सर्वथा आत्मा ज्ञान है तो, (आत्मद्रव्य एक ज्ञानगुणरूप हो जानेपर ज्ञानका कोई आधारभूत द्रव्य नहीं रहनेसे) निराश्रयताके कारण ज्ञानका अभाव हो जायेगा अथवा (आत्मद्रव्यके एक ज्ञानगुणरूप हो जाने से) आत्माकी शेष पर्यायोंको (सुख, वीर्यादि गुणोंका) अभाव हो जायेगा और उनके साथ ही अविनाभावी सम्बन्धवाले आत्माका भी अभाव हो जायेगा। (क्योंकि सुख, वीर्य इत्यादि गुण न हों तो आत्मा भी नहीं हो सकता)।।२७।।

दिनांक २८-१-१९७९ - प्रवचन नंबर-२२

`प्रवचनसार', गाथा - २७। न्याय से बात सिद्ध करते हैं। ऐसे ही मान लेना, यह कोई चीज नहीं। अंदर में यह चीज क्या है, इसे न्याय से (सिद्ध करते हैं)। (गाथा के) ऊपर शब्द है,

`अब, आत्मा और ज्ञान के,...' (क्या कहते हैं ?) यह जो आत्मा है न आत्मा! उसका ज्ञानस्वभाव है। इस ज्ञानस्वभाव (का) आत्मा से एकत्व है। यह ज्ञानस्वभाव

अपने सिवा दूसरे (जड़) पदार्थ में यह ज्ञान नहीं होता। आहा...! समझ में आया? यह आत्मा जो है आत्मा, उसका ज्ञानस्वभाव (है) (यानी) जानना...जानना... यह स्वभाव है। पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव वह कोई इसका स्वभाव नहीं (है)। वह तो विकार - विभाव है। आहा..हा...! (इसलिये) जिसको आत्मा का धर्म करना हो (उसे) आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ऐसा निर्णय करके ज्ञान में एकाग्रता (करनी)। ऐसी बात है, समझ में आया ?

आत्मा और ज्ञान (ऐसा कहा, तो) ज्ञान यानी जानना... जानना... स्वभाव। है (एक) पंक्ति ? २७ (गाथा के) ऊपर है। यह आत्मा जो है (वह) देह से भिन्न (है)। आत्मा और उसका जानना स्वभाव - ज्ञान (है)। इस आत्मा का ज्ञान के (साथ) एकत्व (है)। (यानी कि) यह ज्ञान और आत्मा एकरूप है। जैसे उष्णता और अग्नि एकरूप है, आहा..हा...! ऐसे ज्ञानस्वभाव और आत्मा एकरूप है। (अब) '**...अन्यत्व का विचार करते हैं।**' (अर्थात्) यह ज्ञानस्वभाव अपना अपने से है (और) यह ज्ञानस्वभाव भिन्न आत्मा में और भिन्न (अन्य) घटपटादि जड़ में है नहीं, आहा..हा...! न्याय से - Logic से बात करते हैं। किन्तु जगत को फुरसत कहाँ है !

यह देह भी जो है, यह तो मिट्टी - जड़ है। यह आत्मा से भिन्न है। अंदर (द्रव्य) कर्म है वह भी भिन्न है और अंदर पुण्य-पाप के विकारभाव होते हैं, वह (भी) भिन्न है। वह कोई आत्मा की चीज नहीं, आहा..हा...! (तो) यह आत्मा जो है वह ज्ञानस्वभाव है - जाननस्वभाव है। ज्ञानस्वभाव है उसका आत्मा से एकत्व है और यह ज्ञानस्वभाव है उसका पर-आत्मा में और पर-जड़ में इस ज्ञानस्वभाव का अभाव है। अन्यत्व (यानी) अन्य में नहीं है, आहा..हा...! बहुत सूक्ष्म बातें है। Logic से बात करते हैं और न्याय से सिद्ध करते हैं।

श्रोता :- हमें न्याय आना चाहिये न !

पूज्य गुरुदेवश्री :- यह न्याय सादी भाषा में तो कहने में आता है। हीरा और हीरे का प्रकाश (दोनों का) एकत्व है। प्रकाश का हीरे के साथ एकत्व है, परंतु इस प्रकाश का दूसरा हीरा और दूसरी लकड़ी के साथ एकत्व (नहीं है)।

यही वस्तु है। जिसको कल्याण करना हो, आत्मा को सुखी करना हो और जन्म-मरण से रहित होना हो (उसे) आत्मा और जानन स्वभाव दोनों एक है (ऐसा

निर्णय करना होगा)। इस ज्ञानस्वभाव में एकत्व होना वही आत्मा में एकत्व होना है, आहा..हा...! बाकी दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध का भाव विकार है। उसमें एकत्व होने से दु:ख है। भारी काम, भाई !

अब गाथा कहते हैं, यह तो ऊपर की पंक्ति का अर्थ किया।

यह तो भगवान की वाणी, बापू ! बहुत सूक्ष्म है, भाई ! आहा..हा...! २७ गाथा-

`णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा।।२७।।'

`छे ज्ञान आत्मा जिनमते; आत्मा विना नहि ज्ञान छे।
ते कारणे छे ज्ञान जीव, जीव ज्ञान छे वा अन्य छे।।२७।।'

`छे ज्ञान आत्मा जिनमते'** (अर्थात्) वीतराग सर्वज्ञ के मत से ज्ञान वह आत्मा (है)। **`आत्मा विना नहीं ज्ञान छे।' आत्मा बिना ज्ञान - जानन स्वभाव बाहर कहीं नहीं है। **`ते कारणे छे ज्ञान जीव'** इस कारण से यह ज्ञान जीव (है)। **`जीव ज्ञान छे वा अन्य छे।'** और जीव - आत्मा जो है, यह ज्ञानस्वरूप है, आनंदस्वरूप है, श्रद्धास्वरूप है, अस्तित्वस्वरूप है, सुखस्वरूप है, शांतिस्वरूप है, वीतराग स्वरूप है। यह आत्मा ज्ञान है और आत्मा ज्ञान आदि अनंत गुणस्वरूप है। ऐसा है !

अब अर्थ करते हैं। टीका...! टीका है न ! भाषा तो सादी है परंतु Logic से (सिद्ध करते हैं)। वकील लोग कोर्ट में न्याय से काम लेते हैं न ? (वैसे) यह तो भगवान की कोर्ट है। वीतराग तीनलोक के नाथ जिनेश्वरदेव सिद्ध करते हैं कि, आत्मा क्या है ? और आत्मा में ज्ञान क्या है ?

पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम (होता है) यह आत्मा में नहीं। ये तो विकार है, विभाव है। आहा..हा...! (अब) जिसको कल्याण करना हो, धर्म करना हो, (उसे) आत्मा और ज्ञान एक है, इसलिये ज्ञानस्वभाव में (एकाग्र होना)। (क्योंकि ज्ञानस्वभाव में) एकाग्र होने से (वह) आत्मा में एकाग्र हुआ। तो उसको सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र होता है। समझ में आया ? यहाँ तो पूर्ण केवलज्ञान की बात करते हैं, आहा..हा...! अभी तो बाहर से जैसे धर्म हो जायेगा (ऐसा मानते हैं)। भगवान की यात्रा की, गिरनार, शेत्रुंजय और सम्मेदशिखर (गये तो मान लिया कि) धर्म हो गया ! अरे...! कहाँ धर्म है, भाई ! यह शुभभाव है, पुण्य है। अशुभ से बचने को

आता है लेकिन यह शुभ(भाव है), पुण्य है।

श्रोता :- उससे परंपरा मोक्ष होता है ?

समाधान :- बिलकुल झूठ बात है। उससे - शुभभाव से परंपरा शांति मिलती है, यह (वास्तविक) चीज नहीं, भाई ! यह पुण्यभाव - शुभभाव दु:खरूप है। वह दु:ख का कारण है, सुख का कारण नहीं, आहा..हा...! सूक्ष्म बात (है), भाई !

टीका :- `**क्योंकि शेष समस्त,...**' (अर्थात्) आत्मा सिवाय - (सिवाय को) `अलावा' कहते हैं न ? `अलावा !' हिन्दी में `अलावा' कहते हैं न ? आत्मा के अलावा (अर्थात्) आत्मा का यह जो ज्ञानस्वभाव है, यह आत्मा के अलावा अन्य चेतन में (नहीं है)। यह ज्ञानस्वभाव आत्मा के अलावा अन्य चेतन में नहीं है। यह ज्ञानस्वभाव जो आत्मा का है (उसका) आत्मा के साथ एकत्व है। यह ज्ञानस्वभाव अन्य आत्मा में और अन्य अचेतन - शरीर, वाणी, जड़ मन, दाल, चावल, सब्जी, रोटी, ये जड़ में यह ज्ञानस्वभाव नहीं। आहा..हा...! समझ में आता है ? Logic से यह बात करते हैं, भाई! लेकिन क्या करें ? समझने की दरकार नहीं। ऐसे ही कुछ (कर लिया) और (मान लेते हैं) हो गया धर्म ! आहा..हा...!

धर्म जो आत्मा का स्वभाव है, यह आत्मा है। आत्मा ज्ञान भी है और आत्मा अनंतगुण आदि स्वभाव (रूप) भी है। यह कहते हैं, देखो ! `**क्योंकि शेष समस्त चेतन,...**' (अर्थात्) यह ज्ञानस्वभाव जो (अपने आत्मा में) है, वह भगवान परमात्मा है उसमें भी वह यह (अपना) ज्ञानस्वभाव नहीं। आहा..हा...! स्त्री का आत्मा है, तो यह ज्ञानस्वभाव जो आत्मा है, यह ज्ञानस्वभाव स्त्री में नहीं (है)। और घटपट, घड़ा, वस्त्र, यह लकड़ी (है), उसमें यह (अपना) ज्ञानस्वभाव नहीं (है)। शेष (यानि) अपने ज्ञानस्वभाव के आलावा, `**...शेष समस्त चेतन,...**' चाहे तो अनंता निगोद के जीव हों, परंतु यह (अपना) ज्ञानस्वभाव (जो) है, (वह) अनंत निगोद के जीवों में यह ज्ञानस्वभाव नहीं। सिद्ध भगवान हो, अरिहंत परमात्मा हो, परंतु यह ज्ञानस्वभाव जो आत्मा है - यह ज्ञानस्वभाव आत्मा, यह ज्ञान दूसरे में नहीं (है)। समझ में आया ? पहली पंक्ति का यह अर्थ होता है।

(यहाँ कहते हैं), `**...शेष समस्त चेतन,...**' (अर्थात्) जितने आत्मा (है) - अनंत-अनंत आत्मा हैं ! आहा..हा...! चींटी, मकोड़े इसमे भी आत्मा है, (बाहर) शरीर तो

जड़ है परंतु अंदर आत्मा है, परंतु वह आत्मा का ज्ञानस्वभाव उसके साथ है। (इस) ज्ञानस्वभाव (का) आत्मा (के) साथ संबंध है। (अपने) ज्ञानस्वभाव (का) उसके आत्मा के साथ संबंध नहीं (है)। आहा..हा...! ऐसा कहकर (यह कहना है कि), यहाँ (जो अपना) ज्ञानस्वभाव है (उसका) **`...शेष समस्त चेतन तथा अचेतन वस्तुओं के साथ समवायसंबंध नहीं है,...'** नीचे `समवाय संबंध' का अर्थ है। `समवाय संबंध = जहाँ गुण होते हैं वहाँ गुणी होता है...' आहा..हा...! गुणी यानी (ये) गेहूं की और चावल की गुणी (होती है वह गुणी) ? यहाँ (गुणी का अर्थ) तो जानन जो गुण है, वही गुणी (यानी) आत्मा है। इस गुण का धरनेवाला आत्मा यह गुणी (है)। समझ में आया? वैसे तो ये चावल और दाल (जिसमें भरते हैं) उसे `गुणी' कहते हैं।

यह जो ज्ञानस्वभाव है (उसका) आत्मा-गुणी के साथ संबंध (है)। ज्ञानगुण है और आत्मा गुणी है। शक्कर में जो मिठास (है) वह गुण है और शक्कर गुणी है। शक्कर की मिठास जो है यह गुण है और शक्कर गुणी (है), इस गुण को धरनेवाला यह (गुणी) है। और यह जो शक्कर की मिठास है, वह मिठास दूसरी शक्कर में (नहीं)। यह मिठास दूसरी शक्कर में (भी) नहीं (और) यह मिठास अफीम में नहीं, लकड़ी में नहीं और दूसरे कोई पदार्थ में नहीं (है)। यह तो Logic - न्याय से मार्ग है, भाई !

स्थानकवासी में पाँचवां `श्रमणसूत्र' आता है। उस वक्त (ये सबके) व्याख्यान में समुदाय में अर्थ किये हैं। नाम `श्रमणसूत्र' दिया है लेकिन अभी तो श्रावक भी करते हैं। वह शुभभाव है, धर्म नहीं, आहा..हा...! क्योंकि वह तो विकल्प - राग है। यह राग आत्मा का स्वभाव नहीं। और आत्मा का स्वभाव नहीं (है, फिर भी) उसमें एकाग्रता होना, यह तो दुःख में एकाग्रता है। ऐसी बात है, भगवान !

श्रोता :- सारा जगत कहे ऐसा करना कि नहीं ?

समाधान :- सारा जगत पागल है ! महीने में लाख-लाख रुपये पैदा करनेवाला भी पागल ?

श्रोता :- परपदार्थ को अपना मानते हैं इसलिये पागल (है)।

पूज्य गुरुदेवश्री :- बात तो (सच्ची है)। लेकिन वह स्वयं - खुद क्या है ? इसकी खबर नहीं (है) तो पर को अपना मानेगा ही !

(यहाँ) क्या कहते हैं ? कि, यह जानन स्वभाव गुणी का - आत्मा का है और गुण और गुणी अभेद है। ऐसे अस्तित्व की, ऐसी सत्ता की दृष्टि न हुई तो अपना अस्तित्व तो कहीं मानना पड़ेगा। (इसलिये) पुण्य और पाप का विकार है, वहाँ अपना अस्तित्व मानता है। अथवा तो पुण्य-पाप का फल (जो) संयोग है उसमें अपना अस्तित्व मानता है। पैसा बहुत हो गया तो `मैं बढ़ गया' (ऐसा लगाता है)। समझ में आया ? ज्ञानस्वभावी आत्मा है। ऐसे अपने अस्तित्व की खबर नहीं, वह पर में (अपना) अस्तित्व मानेगा। और जिसको अपना स्व-अस्तित्व-सत्ता का होना (ज्ञान में भासित हुआ) (अर्थात्) `ज्ञान (है) यह मैं हूं' - ऐसा अस्तित्व जिसने माना, (उसका) यह ज्ञान कोई दूसरी चीज में नहीं है (ऐसा अनुभव होता है)। उसमें एकाग्र होना यह तो अपने ज्ञान में एकाग्र होना है। क्योंकि यह ज्ञान, दूसरे कोई जड़ (पदार्थ में) नहीं (है)। परमेश्वर में भी यह ज्ञान (नहीं है)। यह ज्ञान नहीं है इसलिये उसमें एकाग्रता नहीं करना। भक्ति आदि का भाव होता है लेकिन वह शुभभाव है - पुण्य है - धर्म नहीं । समझ में आया ? आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, यह आत्मा जो अंदर है, यह ज्ञानस्वभावी (है)। (जैसे) शक्कर है यह मिठास स्वभावी (है)। शक्कर की यह मिठास, दूसरी शक्कर में या दूसरे अफीम में या लकड़ी में है नहीं। ऐसे यह भगवानआत्मा (ज्ञानस्वभावी है)। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं।

(प्रतिक्रमण और मिच्छामी दुक्कडम् कर लेते थे, वह सरल लगता था)। (उसमें) `अप्पाणम्' माने क्या ? और `वोसीरे' माने क्या ? इसकी खबर नहीं होती। (ऐसा) आता है न ? उस `अप्पाणम्' का अर्थ - जो राग-द्वेष का परिणाम है वह अशुद्ध आत्मा है - वह आत्मा नहीं। उसको मैं `वोसीरे' नाम भिन्न कर देता हूं। वह मेरी चीज नहीं। हमने तो दस वर्ष की उम्र से ये सब किया था। बहुत निवृत्ति थी न! उसमें ऐसा आता है कि, काया को स्थिर करके, मौन करके, ध्यान करके - `अप्पाणम् वोसीरे।' परंतु अप्पाणम् क्या ? वोसीरे क्या ? (इसकी किसी को खबर नहीं)। `अप्पाणम्' का अर्थ यह है कि, अंदर जो पुण्य-पाप का - दया, दान, व्रत, काम, क्रोध का भाव है, वह अशुद्ध आत्मा है। इसलिये उसको मैं छोड़ देता हूं। और मेरा ज्ञानस्वभाव, आनंदस्वभाव है, ऐसे आत्मा में मैं एकाग्र होता हूं। उसका नाम `कायोत्सर्ग' है। आहा..हा...!

`कायोत्सर्ग' का अर्थ काया का त्याग करना (है)। अब काया किसको कहते हैं ? कि, शरीर (को भी) काया (कहते हैं)। और पुण्य-पाप भी कार्मण काया का भाव है। अरे...रे...! ऐसी बातें हैं। एक-एक शब्द के बहुत अर्थ हैं। लेकिन इस समय में कहाँ चलता है ! इस लोक में (दूसरे लोगों में) नहीं चलता है, (ऐसा कहना है)। यहाँ (पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन में) तो बराबर चलता है। यहाँ तो दांडी पीटकर चलता है ! यहाँ (हमें) थोड़े ही (कोई बात) गुप्त रखनी है ! काया को `वो सरावि' अर्थात् जो कोई राग और पुण्य-पाप है, ये कार्मणकाया है। शरीर तो औदारिककाया है - वह `वोसरे' नाम मैं छोड़ देता हूं। किस में रहकर (छोड़ता हूं) ? किसी में रहकर छोड़ देते हैं न ? तो मैं ज्ञान और आनंदस्वरूप आत्मा हूं, उसमें रहकर मैं यह छोड़ देता हूं, आहा..हा...! (लोगों को ऐसे अर्थ की खबर नहीं है)। हम भी उन दिनों में ये सब करते थे लेकिन अर्थ मालूम नहीं था ! आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, क्यों ज्ञान और आत्मा एक है ? अपना ज्ञानस्वभाव और आत्मा एक कैसे है? `**क्योंकि शेष समस्त,...**' (अर्थात्) अपने अलावा सब (यानि) दूसरे सब आत्मा और दूसरे सब अचेतन - जड़ `**...वस्तुओं के साथ,...**' इस (अपने) ज्ञानस्वभाव का `**...समवायसंबंध नहीं है,...**' (यानी) अपने गुण का गुणी के साथ संबंध है परंतु इस गुण का दूसरे द्रव्य के साथ और दूसरे जड़ या चैतन्य के साथ संबंध नहीं (है)। नीचे (अर्थ) है ? समवाय संबंध = `जहाँ गुण होते हैं वहाँ गुणी होता है और जहाँ गुणी होता है वहाँ गुण होते हैं,...' अर्थात् जहाँ ज्ञान है वहाँ आत्मा है और जहाँ आत्मा है वहाँ ज्ञान है। Logic से - न्याय से तो बात चल रही है, प्रभु ! लेकिन यह विषय ही अभी तो गुम हो गया है।

यहाँ कहते हैं कि, जो यह आत्मा है (यह ज्ञानस्वभावी है)। जैसे शक्कर है यह मिठास स्वभावी है। (और) शक्कर में हाथ का मैल लगता है न ! (वह) ऊपर का मैल जो है, वह कोई शक्कर का स्वभाव नहीं। ऐसे भगवानआत्मा जानन-ज्ञानस्वभावी गुणी है। ज्ञानस्वभाव यह गुण है (और) उसका धरनेवाला आत्मा-गुणी है। यह ज्ञानस्वभाव अपने सिवा दूसरे आत्मा में और दूसरे जड़ में नहीं (है)। यहाँ कहा न ? देखो! `...समवाय संबंध नहीं है,...' `जहाँ गुणी-द्रव्य होता है, वहाँ गुण होते हैं, जहाँ गुण नहीं (होता) - (वहाँ गुणी नहीं होता) - वहाँ आत्मा नहीं (होता)। (और) जहाँ गुणी

नहीं (होता) - धर्मी आत्मा नहीं (होता) वहाँ गुण नहीं होते।' `इस प्रकार गुण-गुणी का अभिन्न प्रदेशरूप (संबंध-तादात्म्य संबंध है)।' आहा..हा...! शक्कर की मिठास और शक्कर - दोनों का प्रदेश-क्षेत्र एक है। ऐसे भगवान (आत्मा) ज्ञानस्वरूपी - ज्ञानस्वभावी, चैतन्य झलहल ज्योति (स्वरूप) ! यह ज्ञान गुण (है) और आत्मा गुणी (है)। (दोनों का) क्षेत्र एक है। आहा..हा...! यह शरीर-वाणी-मन का क्षेत्र भिन्न है। ऐसी बातें हैं ! (लेकिन) कान में तो पड़े, प्रभु ! आहा..हा...!

(इस प्रकार चेतन और अचेतन) `...वस्तुओं के साथ समवाय संबंध नहीं है,...' समवाय संबंध यानि जहाँ गुण है वहाँ गुणी है और जहाँ गुणी है वहाँ गुण है - यह समवाय संबंध (है)। ऐसा (ज्ञान का) संबंध आत्मा के साथ है परंतु (समवाय) संबंध पर के साथ नहीं। (चाहे तो) सर्वज्ञ परमेश्वर, परमात्मा, अरिहंत हो, परंतु यह (अपना) ज्ञानस्वभाव वहाँ नहीं (है)। उनका ज्ञानस्वभाव उनमें (भले) हो। आहा..हा...! ऐसा कहकर (यह कहना है कि), ज्ञानस्वभाव यहाँ है तो यहाँ एकाग्र होना है। यह ज्ञानस्वभाव दूसरे में नहीं (है) तो वहाँ एकाग्र नहीं होना है। आहा..हा...! ऐसा है।

ये कैसी बातें हैं ! कोई ऐसा कहता था कि, यह कहाँ से निकाला ? `सोनगढवालों' ने कुछ नया (धर्म) निकाला है ! कुछ नया नहीं है, बापू! अनादि से वस्तु (ऐसी ही है) (और) भगवान ऐसा ही कहते हैं।

बिल्ली को बच्चा होता है न बच्चा ! तो बिल्ली सात-आठ दिन के बाद बच्चे को दूसरी जगह ले जाती है। देखा है ? सात बार घुमाती है। ऐसा क्यों ? कि, मूल में तो वहाँ के बच्चे लोग हाथ में ले और खेले। फिर सात दिन के बाद दूसरी जगह ले जाती है। ऐसा करते-करते सात जगह पर ले जाती है। और ४९ दिन के बाद उस बच्चे की आँख खुली ! तब उसे ऐसा लगता है कि, ओ...हो...! ये क्या ? (जब आँख बंद थी तब बाहर की दुनिया नहीं थी), ऐसा नहीं है, लेकिन जब आँखें खुली तब मालूम हुआ कि, ये दूसरी चीज भी है। समझ में आया ? ऐसे अंदर आत्मा में ज्ञान होता है तब ख्याल आता है कि, `अरे...! मैं तो यह आत्मा हूं !' (और) यह (पर) चीज नहीं। अपने यहाँ बच्चे लोगों के यह बिल्ली का दृष्टांत देते हैं। सात जगह (बिल्ली के बच्चे को) घुमाने के बाद जब आँख खुली है तो (ऐसा लगता है) कि, `यह जगत कहाँ था ? ये सब क्या है ?' ये नया दिखा ?

नया हुआ ? (अरे...!) पहले से था, तेरी आँखे नहीं थी इसलिये (दिखता नहीं था)। ऐसे प्रभु आत्मा में ज्ञान है। (लेकिन) जब तुझे (इसका) ज्ञान होता है तब तुझे ख्याल में आता है कि, 'ओहो...! मैं तो आत्मा हूं ! ये राग और पुण्य-पाप, शरीर, वाणी मैं नहीं।' आहा..हा...!

(यहाँ कहते हैं) '**इसलिये जिसके साथ अनादि अनंत स्वभावसिद्ध समवाय संबंध है,...**' (अर्थात्) इस आत्मा के साथ ज्ञानस्वभाव का अनादि अनंत - आदि और अंत नहीं (ऐसा) '**...स्वभावसिद्ध समवाय संबंध है,...**' आहा..हा...! जहाँ भगवान आत्मा - गुणी है, वहाँ ज्ञानस्वभाव है (और) जहाँ ज्ञानस्वभाव है वहाँ आत्मवस्तु है। ऐसा सब वकालत में आता होगा ? वहाँ तो ऐसे कोई न्याय आते नहीं। यह तो भगवान की Court है ! भगवान सब (बात) सिद्ध करते हैं ! चीज क्या है, तुझे मालूम नहीं। समझ में आया ? आहा..हा...!

(अब कहते हैं) '**...ऐसे एक आत्मा का अति निकटतया,...**' (यानि) जाननस्वभाव और आत्मा अति निकट (है)। (दोनों के) अभिन्न प्रदेश है। ज्ञान और आत्मा, दोनों का क्षेत्र अभिन्न - एक है। समझ में आया ? '**...(अभिन्न प्रदेशरूप से) अवलंबन करके प्रवर्तमान होने से ज्ञान आत्मा के बिना अपना अस्तित्व नहीं रख सकता;...**' ज्ञानस्वभाव, अपने आत्मा के अलावा अस्तित्व नाम हयाती नहीं रखता। अरे...! ऐसा समझना ! समझ में आया ? '**...इसलिये ज्ञान आत्मा ही है।**' क्या कहा ? जाननस्वभाव और आत्मा दोनों के प्रदेश-क्षेत्र भिन्न नहीं (है)। दोनों का क्षेत्र एक है। जो प्रदेश में ज्ञान है वहाँ प्रभु आत्मा है, (और) जहाँ आत्मा है वहीं ज्ञान है। भाषा तो सादी है, प्रभु ! (परंतु) मार्ग तो ऐसा है, बापू ! अभी तो आत्मा क्या और कैसा है, कितना है, इसकी खबर बिना उसे धर्म कहाँ से (होगा) ! किसमें एकाग्र होना ? (तो) आत्मा की तो अभी खबर नहीं (है) तो किसमें एकाग्र होगा ? ये करो, दया पालो, व्रत करो ! वह तो राग की क्रिया है तो राग में एकाग्र होता है। वह तो पाप - अधर्म है, आहा..हा...!

तीन बात (चली) कि, एक यह ज्ञान है - जानपना (का) स्वभाव गुणी का (है)। और गुणी है, वह ज्ञानस्वरूप है। दो (बात) आयी ? अब इस ज्ञान में एकाग्रता होती है, यह धर्म की पर्याय है। इस ज्ञान में एकाग्रता (होने से), पर्याय में वीतराग पर्याय

प्रकट हुई, वह स्वभाव की पर्याय प्रकट हुई। (ऐसे) द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों एक (स्वरूप) हुये। समझ में आता है ? आहा..हा...! ऐसी बातें (हैं)! अरे...रे...! प्रभु का मार्ग है (उसमें) शूरवीर का काम है, बापू ! यह कायर के काम नहीं ! आहा..हा...!

(कहते हैं) कि, (ज्ञान आत्मा के बिना) अपना अस्तित्व नहीं रखता। (अर्थात्) जानपना का जो स्वभाव है, उसकी हयाती, अपने आत्मा के बिना नहीं रखता। है (अंदर)? `...इसलिये ज्ञान ही आत्मा है।' इस कारण से जाननस्वभाव आत्मा ही है। (जैसे) मीठा स्वभाव वह शक्कर है। वैसे जाननस्वभाव वह आत्मा है, आहा..हा...!

अब विशेष (कहते हैं), `**और आत्मा तो अनंत धर्मों का अधिष्ठान,...** 'ज्ञान (ही) आत्मा (कहा), (यानी) आत्मा से ज्ञान अभिन्न है। लेकिन आत्मा मात्र ज्ञानस्वरूप नहीं है, आत्मा में तो अनंतगुण है, यह कहते हैं, देखो ! `**और आत्मा तो अनंत धर्मों का अधिष्ठान,...**' (अर्थात्) आधार (है)। सुख, शांति आदि अनंतगुण है, उसका आधार आत्मा है, जैसे ज्ञान आत्मा है और आत्मा ज्ञान है, (ऐसा यहाँ कहा तो) आत्मा मात्र ज्ञान है, ऐसा नहीं। यह ज्ञान आत्मा है (और) आत्मा ज्ञान भी है, अतीन्द्रिय आनंद (स्वरूप) भी है, शांति - चारित्र - वीतरागता (स्वरूप) भी है, श्रद्धा (स्वरूप) भी है, ऐसा अनंतगुणमय आत्मा है, आहा..हा...! ऐसा है।

श्रोता :- धर्म करना हो इसमें ये सब क्या ?

समाधान :- धर्म करना है, इसकी तो बात चलती है। यहाँ जो ज्ञानस्वभाव आत्मा (कहा) यह गुणी (है)। गुणी और गुण का अभेद स्वभाव (है)। ज्ञान आत्मा (कहा) और आत्मा ज्ञान (कहा) फिर भी (आत्मा) अकेले ज्ञानगुणमय हो तो-तो ज्ञान (स्वयं) आत्मद्रव्य हो गया ! (लेकिन) द्रव्य में तो अनंतगुण है ! समझ में आया ? आहा..हा...! Logic से तो बात चलती है। यह तो शांति और धीरज का काम है, बापू ! आहा..हा...!

कहते हैं कि, ज्ञान आत्मा है, यह (बात) बराबर है। (लेकिन) आत्मा अकेला ज्ञानस्वभाव नहीं (परंतु) अनंत धर्म(स्वरूप है)। अनंत आनंद, अनंत शांति, अनंत स्वच्छता, अनंत प्रभुता, अनंत कर्तापना, अनंत कार्यपना, अनंत साधनपना - ऐसे अनंतगुण स्वरूप आत्मा है, आहा..हा...!

`श्रीमद् (राजचंद्र में)' आता है - `आतम भावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे' लेकिन आत्मा कौन है, इसकी खबर बिना (केवलज्ञान हो जायेगा) ? (कहते हैं) `भगवान

की और गुरु की भक्ति करो, (तो आत्मा) मिल जायेगा।' धूल भी नहीं मिलेगी !

श्रोता :- ऐसी (भक्ति करने से) जल्दी (केवलज्ञान) हो जाये न !

पूज्य गुरुदेवश्री ;- राग जल्दी हो जायेगा ! वह (बात) तो कही न ! (कि), यह तेरा स्वभाव तो गुरु और परमेश्वर में भी नहीं (है) तो तुझे एकाग्र कहाँ होना है ? आ..हा..हा...! समझ में आया ? अरे..रे...! अनंतकाल से चौरासी अवतार में भटक रहा है ! आहा..हा...! आज तो वह `वृक्ष' देखे न! पूरी हारमाला थी। ओ..हो..हो...! इस वृक्ष की एक कणी में असंख्य जीव ! वह कब बाहर निकले (और) कब त्रस हो ! इयळ कब हो ! प्रभु तो ऐसा कहते हैं (और) `छ ढाला' में भी आया न ! `(निगोद से निकलकर) इयळ हो, त्रस (पर्याय में आये) तो भी चिंतामणि रत्न को प्राप्त किया !' संख्याबंध जीव लीलोतरी में पड़े हैं, आहा..हा...! थोर की पूरी वाड थी (उसे देखकर ऐसा लगा) कि, ये संख्याबंध जीव पडे हैं... अरे...! वे कब त्रस हो ! और त्रस हो तो भी चिंतामणि (समान) कहा है ! इयळ हो तो भी !! आहा..हा...! त्रस होने के बाद भी मनुष्यपना कब मिले ! मनुष्यपना मिले तो भी आर्यकुल में कब आये !! आर्यकुल में आये तो भी जैनकुल में कब आये ! जैनकुल में आने के बाद भी सच्ची बात सुनने कब मिले !!

ये पैसे-बैसे दो-पाँच-दस लाख कमा लिये उस धूल में कुछ नहीं है, हाँ ! (कोई कह रहा था) ईरान का बादशाह था उसे ईरान के आदमियों ने हल्ला कर के निकाल दिया। वह दो हजार करोड़ ले गया। उसकी तो बड़ी-बड़ी पेटी भर जाये ! दो हजार करोड़ डोलर ! एक डोलर के आठ रुपये (होते हैं) ! ऐसे सोलह हजार करोड़ रुपये हो गये ! ये कोई कह रहा था, हम कहाँ पेपर पढ़ते हैं ! कोई कहता है वह सुन लेते हैं। सोलह हजार करोड़ रुपये ! आहा..हा...! वह तो कोई पूर्व के कोई शुभभाव से पुण्य बांधा हो, वह (बाहर में ऐसे) दिखता है। (बाकी) मरकर नरक में जायेगा! आहा..हा...! क्योंकि वह तो मुसलमान, अरब है। मांस खाते हैं, मच्छी खाते हैं, (इसलिये) मरकर (नरक में जायेगा), आहा..हा...! भाई ! उसे मालूम नहीं है कि, मैं परलोक में कहाँ जाऊँगा ? क्या होगा ? (अभी) साह्यबी में पड़ा है, (लेकिन) देह की स्थिति पूरी होते ही मरकर नरक में !

सात नरक हैं, उसमें से भले पहली नरक में जाये। (लेकिन) पहली नरक में

कम से कम दस हजार वर्ष की (आयु) स्थिति है। (और) ज्यादा से ज्यादा एक सागर की है। सातवीं नरक में तैंतीस सागर की स्थिति है। एक सागरोपम में दस क्रोडा-क्रोडी पल्योपम जाये। और एक पल्योपम के असंख्यवें भाग में असंख्य अरब वर्ष जाये ! अरे...! प्रभु ! उसकी एक क्षण के दु:ख सुन न सके भाई ! (लेकिन) भूल गया ! `रत्नकरंड श्रावकाचार' में कहते हैं, नरक का एक क्षण का दु:ख करोड़ भव में कोटि जीभ से कह नहीं सकते, प्रभु ! उस दु:ख की तुझे क्या (बात) करें ? तू भूल गया, भाई ! हजारों और लाखो बिच्छू काटे और जो वेदना होती है, उससे अनंतगुणी वेदना पहली नरक में दस हजार वर्ष की स्थिति में है। यहाँ तो एक बिच्छू काटे तो चीख निकल जाती है ! भाई ! तुने आत्मा के भान बिना ऐसे भव किये हैं ! मैं कौन हूं ? कहाँ हूं ? कितना हूं ? इसके भान बिना (ऐसे दु:ख सहन किये) ! `अपने को आप भूल के हैरान हो गया' आहा..हा...!

एक क्षण के दु:ख क्रोड जीभ से, करोड़ भव में न कह सके, भाई ! आ..हा..हा...! उसकी शीत (और) अग्नि की वेदना ! आहा..हा...! एक लाख मन का लोहे का गोला, जवान लोहार ने ठोककर मजबूत किया हो, वह यदि पहली नरक में रखा जाये, तो एक क्षण में जैसे अग्नि पर रखा हुआ घी पिघल जाता है (वैसे लोहे का गोला पिघल जाये)। प्रभु ! तुझे ऐसा हुआ है, भाई ! तू भूल गया है ! (ऐसी-ऐसी) सात नरक नीचे है। (एक नरक का) नाम `रत्नप्रभा' है, नाम `रत्नप्रभा' है लेकिन दु:ख का पार नहीं है, बापू !

एक साधु था, उसने एक वृद्ध माजी को कहा, `माजी ! आपको रत्नप्रभा जाना है ?' (उसने कहा) `अरे...! महाराज ! रत्नप्रभा में तो आप जैसे जाते हैं, मेरे जैसी (कहां जा सकती है) ?' माजी को ऐसा था कि, रत्नप्रभा यानी कौन जाने क्या होगा ? (`रत्नप्रभा') पहली नरक का नाम है। भगवान के सिद्धांत में यह पहली नरक है। रत्नप्रभा, शर्कप्रभा... (ऐसे) सातों नरक के नाम हैं। (साधु ने माजी को कहा) `माजी ! रत्नप्रभा आपको जाना है ?' (तो माजी ने कहा) `अरे...! महाराज ! (वहाँ तो) आप जैसे जाये, हम जैसे कहाँ जायेंगे ?' आहा..हा...! रत्नप्रभा क्या है, उसकी खबर नहीं है ! वह तो नरक का नाम है। वहाँ कोई रत्न नहीं है। आहा..हा...! जैसे यहाँ (आदमी को) नाम देते हैं न ? हो आदमी मूर्ख जैसा लेकिन नाम `महावीर', `वीर'

(ऐसे) देते हैं न ? किसी का नाम `पार्श्ववीर' हो तो क्या (वह) पार्श्ववीर हो गया? ऐसे रत्नप्रभा नाम दिया तो क्या वहाँ रत्न हो गये ? अरे...बापू ! आहा..हा...!

लाख मन का लोहे का गोला, बत्तीस वर्ष के जवान लोहार ने उसे ढोक-ठोककर छ: महीना अग्नि में गरस करके मजबूत किया हो, उसे वहाँ (नरक में) रखो तो पिघल जाता है ! एक क्षण में पिघल जाता है। इतनी तो वहाँ अग्नि की पीड़ा है ! और सातवीं नरक में ठंडी की पीड़ा इतनी है....ठंडी की...! जैसे यहाँ बर्फ गिरे तो बैंगन जल जाते हैं न ! बैंगन गरम बहुत होते हैं। वह बर्फ गिरे तो जल जाते हैं। इससे भी अधिक सातवीं नरक में शीत वेदना इतनी है कि, एक लाख मन का लोहे का गोला यदि उस शीत वेदना में रखो.... आ..हा..हा...! (तो) पारा जैसे पिघल जाता है वैसे वह लोहे का गोला पिघल जाता है, बापू ! ऐसी शीत वेदना प्रभु ! तुने तैंतीस सागर (सहन की है) ! ऐसे अनंता सागर तुने सहन की है ! (लेकिन) तू भूल गया ! (लेकिन) तू भूल गया इसलिये नहीं था, ऐसे कैसे कह सकते हैं ? जन्म के बाद बारह महीने क्या था, इसकी खबर है? माने कैसे दूध पिलाया ये मालूम है ? मालूम नहीं है इसलिये नहीं था, ऐसा कौ कहेगा ? ऐसे जगत के दु:ख तुने अनंतबार सहन किये, इसकी तुझे खबर नहीं। (तुझे) मालूम नहीं है, इसलिये नहीं था ? आहा..हा...! आत्मज्ञान और सम्यग्दर्शन के बिना मरकर उसने ऐसे भव किये हैं, बापू ! वह (बात) यहाँ समझाते हैं।

भाई ! तू तो ज्ञानस्वभाव है न ! उसमें तू तेरा अहंपना मान ! पुण्य-पाप में नहीं, शरीर, वाणी में नहीं, पर में नहीं, वतन में नहीं, आहा..हा...! यहाँ तो कहते हैं (कि), ज्ञान (को) आत्मा (कहा) परंतु ज्ञान जितना ही आत्मा नहीं है। आत्मा तो अनंत गुण स्वरूप है। आहा..हा...! है (अंदर) ? `**...ज्ञान आत्मा ही है।**' आत्मा ही है (ऐसा कहा) ! `**और आत्मा तो अनंत धर्मों का अधिष्ठान (-आधार),...**' है। धर्मों (यानी) गुण। आ..हा..हा...! अंतर में आत्मा में शांति...शांति...चारित्र, वीतरागता भरी है। अनंत अनंत सुख और अतीन्द्रिय आनंद भरा है। ऐसा यह आत्मा (है)। (यहाँ) ज्ञानस्वरूप वह आत्मा (ऐसा भले कहा) परंतु आत्मा तो ज्ञान और अनंतगुण स्वरूप है। न्याय से तो बात चलती है, बापु ! आहा..हा...!

घर में एक (आदमी) बीमार हो (और) छ: महीना बिस्तर में पड़ा रहे। वह ठीक

हो जाये तो दूसरा बीमार होकर छः महीना पड़ा रहे, फिर तीसरा बीमार होकर छः महीना पड़ा रहे - (ऐसे) आठ-दस आदमी (बीमार हो जाये) तो कहते हैं, अरे...! घर में कंटाला आ जाये ! घर में (बीमारी का) बिस्तर खाली नहीं होता। एक के बाद एक... एक के बाद एक ! आहा..हा...! परंतु वह तो साधारण बात है, बापू ! यह तो अनंतकाल में अनंता दुःख (सहन किया है) ! भाई ! तुझे पर में उत्साह आ रहा है लेकिन तू भूल गया, प्रभु ! आहा..हा...!

तेरी चीज तो अंतर अतीन्द्रिय आनंद से भरी है। जैसे जो ज्ञानस्वभाव आत्मा में है, वह ज्ञान पर में नहीं है। और अतीन्द्रिय आनंद आत्मा में है, यह अतीन्द्रिय आनंद पर में नहीं। आत्मा में अतीन्द्रिय आनंद है... अभी हाँ ! आ..हा..हा...! ये अतीन्द्रिय आनंद, शुभ-अशुभराग होता है उसमें नहीं, ये आनंद स्त्री, कुटुंब में नहीं, ये अतीन्द्रिय आनंद पाँच-पच्चीस अरब पैसा होते हैं, उसमें नहीं। भाई ने (भजन) गाया था न! `मृग को देर से पता चला' ऐसे मृग जैसे आदमी को देर से मालूम हुआ कि, `मेरा आनंद यहाँ है !' ऐसे पर में माथा लगाता रहता है ! अच्छे जवाहरात पहनकर (सुख मानता है), आहा..हा...! `भरत चक्रवर्ती' को चौसठ सरा हार होता है। अरबों रुपये का (होता है)। (ऐसा) चौसठ सरा हार चक्रवर्ती को ही होता है। (लेकिन) धूल में भी वहाँ सुख नहीं है। वह तो जड़-मिट्टी-धूल है। (अनेक प्रकार के) जवाहरात (लोग) पहनते हैं और मानते हैं कि, आ..हा..हा...! कितनी शरीर की शोभा है ! लेकिन वह तो मुर्दा है ! बापू ! धूल है ! मुर्दे को शोभा कैसी ? आहा...! (मुर्दे की शोभा करनी वह तो ठाठडी में बांधे हुये) मुर्दे की शोभा करने (जैसा है)। ठाठडी को नारियल बांधते हैं (लेकिन) वह सब अशोभा है ! आहा..हा...!

`मोक्षमार्ग प्रकाशक' में आता है, (आता) है न ? जैसे ननामी होती है, उसको अच्छे कपड़े से शोभा करते हैं। आहा..हा...! एक बार मैं '८९ की साल के चातुर्मास में `रोजकोट' में था। वहाँ तीन-तीन हजार (आदमी सुनने आते थे)। बाद में आवाज नहीं निकलती थी। नदी के किनारे (हम ठहरे थे) तो वहाँ दूर एक ननामी निकली। हमने देखा तो ऐसा लगा कि, ये कौन है ? साथ में बड़े-बड़े सेठ लोग थे। वहाँ जला रहे थे तब एक आदमी मेरे पास आया तो मैंने पूछा कौन है ? यह सब क्या है ? ननामी पर भी अच्छा कपड़ा लगाया है ! वह Photographer था। उसने

अपना खुद का बड़ा मकान बनाया, उसमें गृहप्रवेश बड़ी धामधूम से किया, उसने से अचानक Heart fail हो गया ! देह छूट गया। उसकी यह ननामी निकली है। नदी के किनारे श्मशान में उसे ले जाते हैं। आहा..हा...! हमको भी लगा कि, कोई गृहस्थ है, (इसलिये) ननामी पर चकमक करता कपड़ा (लगाया है)। (उसे) धर्म की खबर नहीं होती, अरे..रे...! मरकर बेचारा, कहीं बकरी के पेट में, गाय के पेट में जन्म लेता है ! बापू ! आ..हा..हा...!

श्रोता :- आप हमको डर दिखाते हों !

पूज्य गुरुदेवश्री :- वस्तु का स्वरूप ऐसा है ! आत्मा आनंद स्वरूप है, (उसका) ज्ञानस्वभाव है, इसका जिसे अंदर से स्वीकार नहीं है और पुण्य-पाप का और उसके फल का स्वीकार है, ऐसे मिथ्यात्व में क्या नहीं होगा ? इस मिथ्यात्व में अनंत भव पड़े हैं, भाई ! तुझे मालूम नहीं, बापू ! आ..हा..हा...! इस मिथ्यात्व के गर्भ में अनंत भव पड़े हैं, प्रभु ! ये (बात) यहाँ समझाते हैं, प्रभु ! (उसे) अब छोड़ आहा..हा...! `पर में सुख है और पर मेरे हैं' भगवान ! (इसे) अब छोड़ न ! प्रभु ! तू तो ज्ञान और आनंदस्वरूप है न ! आहा..हा...! मृग की नाभि में कस्तूरी (और) मृग ढूंढे बाहर वन में ! वन में भटकता है। ऐसे आत्मा में आनंद है (और) होंगकोंग में, मुंबई में ढूंढता है !! आहा..हा...!

श्रोता :- आज तो कलेजा काँप गया !

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह कँपता नहीं !

श्रोता :- काँप जाये तो उसका बेडा पार हो जाये !

पूज्य गुरुदेवश्री :- हाँ, अरेरे...! मैं आनंदस्वरूप, प्रभु ! मैं कहाँ सुख मानता हूं ? किसमें मानता हूं ! जिसमें नहीं (उसमें) ? यहाँ तो कहा न कि, ज्ञानस्वभाव गुणी में है। यह ज्ञानस्वभाव दूसरे चैतन्य और दूसरे जड़ में नहीं है। ऐसे इस आत्मा का अतीन्द्रिय गुणस्वभाव है, वह (अपने) आत्मा में है। यह (अपना) अतीन्द्रिय गुण दूसरे चैतन्य में नहीं है और दूसरे जड़ में भी नहीं है, आहा..हा...! ऐसी बातें कभी सुनी न हो ! (लेकिन) भगवान ! बातें ऐसी है, भाई ! यह तो जिनेश्वरदेव, त्रिलोकनाथ, परमात्मा फरमाते हैं ! भाई ! इन्द्रो और गणधरों के बीच प्रभु, महाविदेह में फरमाते हैं, आहा..हा...! वह बात यहाँ आयी है। समझ में आया कुछ ?

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि, जानना... जानना... जानना... जानना... ज्ञान... जानपना यह आत्मा (है)। परंतु आत्मा तो ज्ञान भी है और अनंतगुण (स्वरूप) भी है। अकेला ज्ञानमात्र आत्मा हो तो, ज्ञान (खुद) द्रव्य हो जाये ! और अनंतगुण का अभाव हो जाये। आहा..हा...! कहो, इसमें समझ में आता है ?

`रसिक ज्युं रैन का सपना' (ऐसा आता है न) ! इस जगत में (लोग) रसिक मानते हैं, (वह) रैन का-रात का सपना है ! मुफ्त में कहाँ का कहाँ घुस गया है! आहा..हा...! `रसिक ज्युं रैन का सपना, कोई नहीं अपना' ऐसा कुछ है। बहुत पढ़ा था (लेकिन) सब थोड़े ही याद रहता है ? `कोई नहीं अपना' ऐसे अंत में आता है।

(यहाँ कहते हैं) यह भगवानआत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु (है) और इसके अलावा आत्मा तो अनंतगुण स्वरूप है। एक ही ज्ञानरूप हो तब तो चुका ! अनंत गुण का अभाव हो जाये ! और अनंतगुण का अभाव होने से आत्मा का अभाव हो जाये, आहा..हा...! समझ में आया ? भाषा तो प्रभु सादी है, हाँ! भगवान की भाषा सादी बहुत, लेकिन उसका माल बहुत !! आहा..हा...!

`और आत्मा तो अनंत धर्मों का अधिष्ठान (-आधार) होने से ज्ञान धर्म के द्वारा ज्ञान है,...'** धर्म अर्थात् गुण। भगवानआत्मा अंदर ज्ञानस्वभाव द्वारा ज्ञान है। **`...और अन्य धर्म के द्वारा अन्य भी है।' (जैसे) मिठास द्वारा शक्कर है और शक्कर मिठास भी है, सफेद भी है और मुलायम भी है, आहा..हा...! समझ में आया ?

रविवार के दिन अच्छा आता है ! आहा..हा...! यहाँ तो जो भी दिन हो, मार्ग तो यह है, बापू! तुझे नजर वहाँ करनी है ! जाननेवाले को जाना नहीं और दूसरी सब माथापच्ची की ! जाननेवाले को जानने के बदले, यह जाना, वह जाना... लेकिन अंदर जाननेवाला कौन है ? उसे जाने बिना रखड पड़ा है, आहा...!

(यहाँ कहा), **`...ज्ञानधर्म के द्वारा ज्ञान है और अन्य धर्म के द्वारा अन्य भी है। और फिर, इसके अतिरिक्त (विशेष समझना कि) यहाँ अनेकान्त बलवान है।'** क्या कहते हैं ? **`यदि यह माना जाये कि एकान्त से ज्ञान आत्मा है,...'** (अर्थात्) एकान्त से ज्ञान आत्मा मानो... **`...तो (ज्ञानगुण आत्मद्रव्य हो जाने से),...'** (अर्थात्) यह ज्ञान, आत्मद्रव्य (यानी) पूरी वस्तु हो जायेगी। (लेकिन) ज्ञान तो गुण है। फिर भी ज्ञान (को ही) अकेला आत्मा मानो तो ज्ञानगुण द्रव्य हो जायेगा। (लेकिन) द्रव्य

तो अनंतगुण का आधार है। उसे तुम एक ज्ञानगुण (स्वरूप) ही मान लो तब तो द्रव्य का अभाव हो जायेगा, आहा..हा...! न्याय से बात करते हैं। सूक्ष्म तो है, प्रभु ! आहा..हा...! क्या कहा ?

`**...इसके अतिरिक्त** (**विशेष समझना कि**) **यहाँ अनेकान्त बलवान है।**' (यानी) एकान्त से ज्ञान वही आत्मा, ऐसा नहीं। `**यदि यह माना जाये कि एकान्त से ज्ञान आत्मा है तो,** (**ज्ञानगुण आत्मद्रव्य ह जाने से**),**...**' (अर्थात् ज्ञान स्वयं) द्रव्य हो जायेगा। और `**...ज्ञान का अभाव हो जायेगा,** (**और ज्ञानगुण का अभाव होने से**),**...**' (अर्थात्) ज्ञानगुण का अभाव हो जायेगा। आ..हा..हा...! क्या Logic - न्याय है न ! आहा..हा...!

यदि ज्ञान ही आत्मा हो तो ज्ञान, (स्वयं) आत्मद्रव्य हो जायेगा। (और) द्रव्य हो (जाने से) गुण नहीं रहेगा, `**...**(**और ज्ञानगुण का अभाव होने से**) **आत्मा के अचेतना आ जायेगी,...**' (अर्थात्) ज्ञान (बिना का) आत्मा अकेला हो जायेगा (और ऐसा होगा तो) ज्ञान का अभाव हो जायेगा। और ज्ञानगुण का अभाव होने से आत्मा में अचेतना आ जायेगी। आहा..हा...! क्या Logic ! और क्या न्याय...!!

क्या कहा ? कि, यह ज्ञानस्वभाव है न ज्ञानस्वभाव ! इतना ही यदि आत्मद्रव्य हो तब तो (ज्ञान स्वयं) द्रव्य हो गया। और (ऐसा) द्रव्य हुआ तो ज्ञानगुण का अभाव हो गया। और ज्ञानगुण का अभाव हो तो द्रव्य अचेतन हो गया ! आहा..हा...! न्याय समझ में आता है ? आहा..हा...!

आ..हा..हा...! यह तो तीनलोक के नाथ ! परमेश्वर, जिनेश्वर जगत को जगाते हैं ! जाग रे जाग...प्रभु! तू राग और पुण्य और पाप के फल में सो रहा है, प्रभु! वह तू नहीं, तू जहाँ है वहाँ अब आ जा न ! विशेष कहेंगे...

❋ ❋ ❋

दिनांक २९-१-१९७९ - प्रवचन नंबर-२३

`प्रवचनसार', २७ गाथा (चलती है)। (टीका का) दूसरा paragraph है। कल थोड़ा चला है। बहुत Logic से - न्याय से सिद्ध करते हैं। आहा...! ज्ञान ही आत्मा और आत्मा वही ज्ञान आदि अनंतगुण है, यह बात सिद्ध करते हैं। आहा..हा...!

(कहते हैं) `**और फिर,...**' है ? `**...इसके अतिरिक्त** (**विशेष समझना कि**) **यहाँ अनेकान्त बलवान है।**' (अर्थात् यहाँ) एक ही अपेक्षा नहीं है परंतु अनेकान्त (नाम) दूसरी अपेक्षा भी बलवान है। आहा...! क्या (कहते हैं) ? `**यदि यह माना जाये कि एकान्त से ज्ञान आत्मा है,...**' (यहाँ) ज्ञान यानी स्वभाव, हाँ ! ज्ञान यानी यह वांचन (आदि होता है) वह ज्ञान नहीं। आहा...! भगवानआत्मा ! जिसका ज्ञानस्वभाव - ज्ञानगुण (है)। सत् (वस्तु) का यह ज्ञान, सत्व है। (फिर भी) एकान्त से यह माना जाये कि, ज्ञान आत्मा है तो ज्ञानगुण आत्मद्रव्य हो जायेगा। आहा..हा...! कितने Logic रखे हैं !!

क्या कहते हैं ? सुनो ! बहुत Logic से - न्याय से (बात करते हैं)। भगवान का न्यायमार्ग है तो पहले आत्मा क्या है, इसको न्याय से सिद्ध करते हैं। `**यदि यह माना जाये कि एकान्त से ज्ञान आत्मा है...**' ज्ञान नाम जानने का स्वभाव (जो है) वह ज्ञान एक ही अकेला आत्मा है, (ऐसा) माना जाये, `**...तो,** (**ज्ञानगुण आत्मद्रव्य हो जाने से**)**,...**' ज्ञान वही आत्मा (अर्थात्) एक ज्ञानगुण ही उसका (आत्मा का) मान लें तो ज्ञानगुण है वह द्रव्य हो जाये। कारण एक ही (गुण) हो तो (वह गुण स्वयं) द्रव्य हो जाये। न्याय समझे ? आहा..हा...! बहुत सूक्ष्म है। क्या कहा ?

`**और फिर, इसके अतिरिक्त,...**' यानी ? कि, ज्ञान वह आत्मा, ऐसा कहा। लेकिन अब उसमें विशेष अनेकान्त करते हैं। एकान्त ज्ञान वही आत्मा... एकान्त ज्ञान वही आत्मा (ऐसा करते आये हैं, फिर भी) एकान्त नहीं है। ज्ञान यानी जाननस्वभाव, हाँ ! जानन जो स्वभाव (है, इसकी बात चलती है)। ज्ञानस्वभाव वह आत्मा, ज्ञानगुण वह आत्मा, (ऐसे) यदि एकान्त करने जाये तो `**...(ज्ञानगुण आत्मद्रव्य हो जाने से),...**' क्योंकि ज्ञान वह आत्मा (कहा) तो ज्ञान (स्वयं) द्रव्य हो गया। दूसरे गुण रहे नहीं।

समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! आहा..हा...!

जैसे कि, शक्कर की मिठास है, वही शक्कर हो तो मिठास (ही) शक्कर हो गई - द्रव्य हो गया, मिठास गुण नहीं रहा। ऐसे आत्मा (में) जाननस्वभाव जो गुण है (इतना ही आत्मा माना जाये तो) यह ज्ञान ही आत्मा हो जाये, ज्ञान द्रव्य हो गया। समझ में आया ? यह, बनिये के व्यापार से सब अलग जात है।

श्रोता :- यह तो भगवान होने की बात है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- (हाँ), भगवान होने की (बात है)।

श्रोता :- वहाँ व्यापार में पैसा कमाने की बात है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- वहाँ तो (पैसा कमाने का) राग करने की बात है, (पैसा कहाँ कमाता है) ! आहा..हा...!

क्या कहते हैं, देखो ! कि, जाननस्वभाव है न ! ज्ञानस्वभाव हाँ ! (जो) कायमी स्वभाव (है, उसकी बात है)। (आत्मा) अकेला ज्ञानगुण है (ऐसा माना जाये तो) ज्ञानगुण (गुण नहीं रहकर) द्रव्य हो जाये। ज्ञानगुण आत्मा (है), ऐसा कहा। परंतु (एकान्त से ऐसा हो तो) ज्ञानगुण (आत्मद्रव्य) हो जाये। (और) ऐसा हो जाये तो अनेकान्त रहता नहीं। (लेकिन) अनेकान्त बलवान है। आहा..हा...! क्या (कहते हैं)?

'**...(ज्ञानगुण आत्मद्रव्य हो जाने से) ज्ञान का अभाव हो जायेगा,...**' ज्ञानगुण जो (आत्म) स्वभाव है, यदि आत्मद्रव्य (में) अकेला (ज्ञान ही हो), तो ज्ञानगुण का अभाव (हो जायेगा)। क्योंकि ज्ञान (स्वयं) द्रव्य हो जाये। (और) ज्ञान, द्रव्य हो जाने से ज्ञान का अभाव हो जाये। ज्ञान, द्रव्य हो जाने से ज्ञानगुण का अभाव हो जाये। आहा..हा...! है (अंदर) ? यह तो भगवान की कोर्ट है ! आहा..हा...! समझ में आया ? धीरे से कहते हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि, एक बार सुन ! यह शरीर, वाणी, मन तो जड़ है - पर है। और (द्रव्य) कर्म पर है। अब उसमें पुण्य-पाप का भाव होता है, यह आत्मा का गुण नहीं। यह आत्मा की चीज नहीं। तो आत्मा की चीज क्या है ? (तो कहते हैं) कि, आत्मा की चीज यह है कि, ज्ञान वह आत्मा। ज्ञान वह आत्मा (ऐसा भले) कहा, परंतु उसमें एकान्त ले जाये, तो वह बात विपरीत हो जाती है। (क्योंकि) उसमें अनेकान्त है। क्या अनेकान्त है ?

`...**(ज्ञानगुण आत्मद्रव्य हो जाने से) ज्ञान का अभाव हो जायेगा...**' क्योंकि जाननगुण, गुण (नहीं रहकर) आत्मा हो जाये - द्रव्य (हो जाये), तब तो (गुण स्वयं) द्रव्य हो गया। (और) द्रव्य होने से ज्ञानगुण का अभाव हो गया। (क्योंकि ज्ञान है) यह गुण है। और गुण को तुम द्रव्य ले लो, तो गुण (स्वयं) द्रव्य हो गया। (ऐसा हुआ) तो गुण (गुणरूप) रहता नहीं (होने से) गुण का अभाव हो जायेगा। आ..हा..हा...! `...**(और ज्ञानगुण का अभाव होने से) आत्मा के अचेतना आ जायेगी,...**' आ..हा..हा...! एक आत्मा को सिद्ध करने में कितने Logic-न्याय भरे हैं ! आहा..हा...!

ज्ञान - जाननस्वभाव जो है, यह (आत्मा का) गुण (है)। (इसलिये) ज्ञान (वह) आत्मा (ऐसा कहा), यह बराबर है। परंतु (कोई) एकान्त (पकड़) ले कि, ज्ञान (इतना ही) आत्मा (है), तो ज्ञान, द्रव्य हो जायेगा। और द्रव्य होने से ज्ञानगुण का अभाव हो जायेगा। और ज्ञानगुण का अभाव होने से आत्मा अचेतन हो जायेगा। क्योंकि गुण (ही) नहीं रहा, गुण तो द्रव्य हो गया।

श्रोता :- इतनी मेहनत करनी पड़ेगी ?

समाधान :- धीरे-धीरे कहते हैं, बापू ! अभी तो इसमें थोड़ा `श्रीमद्' का लेना है। इसमें उतारे तो मालूम तो पड़े !

(यहाँ कहते हैं) `...**(और ज्ञानगुण का अभाव होने से) आत्मा के अचेतना आ जायेगी,...**' (यह) एक बात (हुई)। `...**अथवा विशेष गुण का अभाव होने से आत्मा का अभाव हो जायेगा।**' ज्ञानगुण बिना तो (आत्मा का अभाव हो जायेगा)। (क्योंकि यदि आत्मा में अकेला ज्ञान हो तो ज्ञान स्वयं) द्रव्य हो गया। (ऐसा हुआ) तो द्रव्य, गुण बिना का हो गया। (और गुण बिना का) द्रव्य भी रहेगा नहीं। क्योंकि गुण रहा नहीं।

(पहले यह कहा कि) ज्ञान है (इतना ही) आत्मा है। (तो ऐसे एकान्त करने से ज्ञान स्वयं) द्रव्य हो गया। (ऐसा हुआ) तो (द्रव्य में) गुण रहा नहीं। और बाद में (यह कहा कि), (ज्ञान) है यह विशेष गुण है, तो विशेष का अभाव होने से सामान्य भी रहा नहीं (यानी) आत्मा भी रहा नहीं, ऐसा कहते हैं। सूक्ष्म बात कही है ! कि, शरीर नहीं, वाणी नहीं, कर्म नहीं, पुण्य-पाप का भाव भी नहीं। अब आत्मा है, (उसे) ज्ञान वह आत्मा कहा। यह ज्ञान (है वही) आत्मा कहा, (यह तो) बराबर है। परंतु

एकान्त ले जाओ कि, ज्ञान आत्मा है और अनेकान्त (नहीं मानो तो) ज्ञानगुण द्रव्य हो जायेगा। और ज्ञानगुण द्रव्य होने से ज्ञान का अभाव हो जायेगा। और ज्ञान का अभाव होने से, (ज्ञान) द्रव्य का विशेष (होने से) उसका (विशेष का) अभाव हो जायेगा (और) विशेष का अभाव हो जायेगा तो द्रव्य का अभाव हो जायेगा ! आहा..हा...! Logic तो देखो ! धंधे में ये कुछ सूझे ऐसा नहीं है !

मुमुक्षु :- वहाँ धंधे में यह सूझता नहीं है, इसलिये तो यहाँ आये हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- बात तो सच है। आहा..हा...! धीरे-धीरे कहेंगे, हाँ ! उतावली से (नहीं कहेंगे)!!

पहले दो बोल सिद्ध किये। जानन... जानन... जानन... ज्ञान वह आत्मा (ऐसा कहा)। (क्योंकि) ज्ञान को आत्मा के साथ तादात्म्य (संबंध) है न ! (वह 'समयसार') ६९-७० गाथा में आ गया है। ज्ञान (यानी) जाननस्वभाव वह ज्ञान, हाँ ! त्रिकाल जाननस्वभाव (की) (बात है)। यह ज्ञान वही आत्मा (ऐसा कहा) तो यह बराबर है। परंतु यदि एकान्त से ऐसा ले लो कि, ज्ञान वही आत्मा (है), तो ज्ञान, द्रव्य हो गया। (और) द्रव्य हो जाने से गुण का अभाव हो गया। गुण का अभाव होने से द्रव्य का (अभाव हो गया)। (क्योंकि गुण) विशेष है। तो विशेष का अभाव होने से सामान्य का अभाव हो गया - द्रव्य का अभाव हो गया। कारण, द्रव्य तो गुणरूप हो गया ! गुण द्रव्यरूप हो गया (और) द्रव्य गुणरूप हो गया ! आ..हा..हा...! (इसलिये यहाँ कहते हैं कि) '**...विशेष गुण का अभाव होने से आत्मा का अभाव हो जायेगा।**' इतना तो कल चला था, मालूम है। यह तो विशेष (स्पष्ट किया)।

'**यदि यह माना जाये कि, सर्वथा आत्मा ज्ञान है,...**' सर्वथा आत्मा ज्ञान है (ऐसा कहा) समझे ? '**...तो (आत्मद्रव्य एक ज्ञानगुणरूप हो जानेपर...)**' (अर्थात्) आत्म वस्तु एक ज्ञानरूप हो जानेपर, '**(...ज्ञान का कोई आधारभूत द्रव्य नहीं रहने से)...**' आहा...! सर्वथा आत्मा ज्ञान ही है तो आत्मद्रव्य एक ज्ञानरूप हो जाने से, ज्ञान का कोई आधार(भूत) द्रव्य तो रहा नहीं। बहुत Logic से - न्याय से बात है। आ..हा..हा...! '**(...आधारभूत द्रव्य नहीं रहने से) निराश्रयता के कारण,...**' क्योंकि गुण को कोई आधार रहा नहीं तो आधार बिना निराश्रयता के कारण '**...ज्ञान का अभाव हो जायेगा...**' आ..हा..हा...! भारी लोजीक रखा है न !

यहाँ तो आत्मा सिद्ध करना है, आत्मा ! और ज्ञान पर दृष्टि देने से, आत्मा में दृष्टि है, ऐसा कहना है। राग पर और पुण्य-पाप पर (दृष्टि) नहीं। अब, ज्ञान वह आत्मा (ऐसा) एकान्त यदि मान लो तो ज्ञान, द्रव्य हो गया। द्रव्य हो गया तो गुण का अभाव हो गया। गुण का अभाव होने से द्रव्य (में) जब गुण रहा नहीं, तो विशेष के अभाव से द्रव्य का (सामान्य का) भी अभाव हो जायेगा। आहा..हा...! ऐसा सूक्ष्म है, आहा..हा...! `**...(आत्मद्रव्य एक ज्ञानगुणरूप हो जानेपर ज्ञान का कोई आधारभूत द्रव्य नहीं रहने से) निराश्रयता के कारण,...**' (अर्थात्) ज्ञान का आश्रय रहा नहीं। (इसलिये) `**...ज्ञान का अभाव हो जायेगा अथवा (आत्म्द्रव्य के एक ज्ञानगुणरूप हो जाने से) आत्मा की शेष पर्यायों का,...**' (पर्याय यानी) गुण - भेद। आत्मा के शेष अनंत गुण। पर्याय यानी गुण - भेद। आत्मा की शेष पर्यायों का यानी `**...(सुख, वीर्यादि गुणों का),...**' (आत्मा में) अनंत गुण हैं।

यदि ज्ञान वही आत्मा (ऐसे सर्वथा) कह दो, तो ज्ञानगुण द्रव्य हो जायेगा (और) द्रव्य होने से गुण का अभाव हो जायेगा। (क्योंकि) गुण का आधार द्रव्य नहीं रहा तो गुण का अभाव हो गया। और आत्मा गुण बिना रह सके नहीं तो द्रव्य भी न रहा। आहा..हा...! क्या प्रभु ने बात कही है!! ओ..हो..हो...! आपके `कलकत्ता' वगेरे में कुछ सूझे ऐसा नहीं है।

श्रोता :- हमे जो माल चाहिये वह तो कलकत्ता में से मिले न !

पूज्य गुरुदेवश्री :- धूल में भी कुछ नहीं आता वहाँ ! वह तो राग (करता है)। (बाकी) पुण्य हो तो आता है। (पैसा) आये तो भी उसके पास क्या आता है? उसके पास तो ममता आती है कि, `ये मेरे हैं'। यह ममता उसके पास है। आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, आत्मद्रव्य के एक ज्ञानगुणरूप हो जाने से आत्मा के शेष गुणों (का) (अभाव हो जायेगा)। (आत्मा में) दूसरे अनंत गुण हैं। यदि ज्ञान ही आत्मा हो जाये तो ज्ञान द्रव्य हो गया (और ज्ञान, द्रव्य हो गया) तो गुण का अभाव हो गया। और द्रव्य जो है, वह विशेष गुण के बिना रह (सके) नहीं। (इसलिये) विशेष का अभाव हो गया तो द्रव्य का भी अभाव हो गया। Logic - न्याय से (बात कहते हैं) आहा..हा...! `**...आत्मा की शेष पर्यायों का (सुख, वीर्यादि गुणों का) अभाव हो जायेगा,...**' समझ में आया ? क्यों ? (क्योंकि) आत्मा में अनंत गुण है।

भाई ! `श्रीमद्' में से बताया था न ? `श्रीमद्' में (एक बात) आती है। (पत्रांक - २०८) २४ साल की उम्र में लिखा है - **`अनंत नय हैं।'** २२ से २४ साल की उम्र में बहुत क्षयोपशम (था) ! (जिस) दिन पढ़ा था उस दिन लिख लिया था। (तब ऐसा लगा था कि) बात बराबर है। यह नयी बात है। पहली बार आ (रही है)। (कहते हैं) **`अनंत नय हैं।'** ज्ञान के भेद जो नय (हैं), वे अनंत हैं। **`एक एक पदार्थ अनंत गुण से और अनंत धर्म से युक्त है;...'** एक-एक आत्मा और एक-एक परमाणु अनंत गुण और अनंत धर्म से (युक्त है)। गुण कायम रहनेवाले (हैं) और धर्म अपेक्षित (होते हैं)। ऐसे अनंत धर्म (हैं)। एक-एक पदार्थ में अनंत गुण और अनंत धर्म हैं ! आहा..हा...! **`एक-एक गुण और एक-एक धर्म में अनंत नय परिणमित होते हैं,...'** यानी कि, अनंत नय होते हैं, ऐसा (कहना है)। आहा...! उन्होंने तो चतुष्टय की अपेक्षा से कहा है - एक गुण, गुणरूप है, दूसरे गुणरूप नहीं। ऐसे अनंत भंग हो जाते हैं।

मुझे तो एक गुण में अनंत गुण का रूप है, यह निकालना था। जैसे आत्मा में एक ज्ञानगुण है। ज्ञानगुण है और अस्तित्व भी एक भिन्न गुण है। अस्तित्व - सत्ता है। यह अस्तित्वगुण ज्ञान में नहीं (है) परंतु ज्ञान में अस्तित्व का रूप है। अर्थात् ज्ञान `है'... ज्ञान `है'... यह ज्ञान में अस्तित्व का रूप है। ऐसे अनंतगुण का रूप ज्ञान में हैं। वह (बात) बहुत सूक्ष्म पड़ेगी ! बहुत विचार करते-करते (भी) कितना तो दिमाग में बैठता नहीं है, समझ में नहीं आता। समझ में आया ?

यहाँ (`श्रीमद् राजचन्द्र' - पत्रांक-२०८ में) कहते हैं, प्रत्येक पदार्थ अनंत धर्म से और अनंतगुण से युक्त हैं। **`एक एक गुण और एक एक धर्म में अनंत नय परिणमित होते हैं,...'** आ..हा..हा...! मुझे तो यहाँ तक लेना है, बस ! दो जगह (यह बात) है। (२०७ पत्र में भी है)। **``सत्' सत् ही है, सरल है, सुगम है, सर्वत्र उसकी प्राप्ति होती है;...'** जहाँ भी हो वहाँ सत् - प्रभु तो है ही। **`परंतु `सत्' को बतानेवाला `सत्' चाहिये।'** इतना गुरु की ओर वजन दिया।

`नय अनंत हैं;...'** यहाँ दूसरी बार आया, भाई ! **`नय अनंत हैं; प्रत्येक पदार्थ में अनंतगुण धर्म हैं; उनमें अनंत नय परिणमित होते हैं;...' ऐसे सीधा (ले लिया)। अनंत नय यानी एक-एक धर्म और एक-एक गुण में अनंत नय अपेक्षित होते हैं।

(जैसे) एक गुण (है) (वह) दूसरे गुण से नहीं (और दूसरे) अनंत गुण से नहीं। एक पर्याय है, यह दूसरी अनंती पर्याय से नहीं। ऐसे अनंत गुण और धर्म पर अनंत नय लागू पड़ती है। बस ! अपने तो यहाँ इतना सिद्ध (करना है)। समझ में आया? आहा..हा...! क्या कहा ? आत्म पदार्थ और प्रत्येक पदार्थ... ओ..हो..हो...! आत्मा जो है, यह अनंता... अनंता... अनंता... अनंता... अनंता... गुण और धर्म से भरा है। और एक-एक गुण में अनंत गुण का रूप है। मैंने तो अनंत नय (जो पत्र में आये) हैं न, उसमें से (यह) रूप निकाला ! एक-एक गुण में अनंत गुण का रूप है, तो एक-एक गुण में अनंत गुणों का रूप हो गया। दूसरे गुणरूप नहीं (हुआ) लेकिन एक गुण ही अनंतरूप हो गया। समझ में आया ? एक-एक गुण में अनंत रूप हो गया तो अनंत नय लागू पड़ गई। आहा..हा...! `लागू' को क्या कहते हैं ? `लागू' (ही) कहते हैं। तुम्हारी हिन्दी बराबर नहीं आती। समझ में आया ? आ..हा..हा...!

यहाँ (वही बात) कहते हैं कि, शेष पर्यायों यानी अनंत-अनंत गुण है। भगवानआत्मा! एक ज्ञानरूप ही आत्मा है, ऐसा कहा था। परंतु उसे एकान्त से ले जाओ कि, ज्ञान ही आत्मा (है)। (और) उसमें दूसरी अपेक्षा लागू न करे तो एकान्त हो जाता है। परंतु अनेकान्त है। अनेकान्त नाम अनंत अपेक्षाओ में सब अपेक्षा वहाँ लागू पड़ती हैं। ज्ञान (ही) आत्मा है (ऐसा कहो) तो ज्ञानगुण, द्रव्य हो गया। (और ज्ञान स्वयं द्रव्य हो गया) तो (द्रव्य में) गुण का अभाव हो गया। और ज्ञान जैसे द्रव्य हो गया तो द्रव्य में विशेष गुण रहा नहीं, तो द्रव्य (का) भी अभाव हो गया, आ..हा..हा...! सूक्ष्म है, लेकिन सुने तो सही ! आहा..हा...!

(यहाँ कहते हैं) `**...(आत्मद्रव्य के एक ज्ञानगुणरूप होने से),...**' भगवानआत्मा एक ज्ञानगुणरूप हो जाने से,...` **...आत्मा की शेष पर्यायों का,...**' (पर्याय यानी गुण) - वीर्य, सुख, शांति, स्वच्छता, प्रभुता ऐसे अनंत गुण हैं। इन अनंत गुणों का `**...अभाव हो जायेगा,...**' समझ में आता है ? भाषा तो सादी है, भाई ! लेकिन यह तो परमात्मा के वकालत के घर की सब बातें हैं ! आहा..हा...!

ऐसे एक-एक पदार्थ (और) परमाणु में भी ऐसे लेना, आहा..हा...! यहाँ तो आत्मा की बात है। ज्ञान की सिद्धि करनी है। समझ में आया ? यहाँ तो ज्ञान और आत्मा का तादात्म्य संबंध है। (इसलिये) ज्ञान वह आत्मा, ऐसा सिद्ध करना है। परंतु एकान्त

से ज्ञान, आत्मा हो जाये तो आत्मद्रव्य में जो दूसरे अनंत गुण हैं, उसका अभाव हो जायेगा। समझ में आया ? है ? '**...शेष पर्यायों का** (**सुख, वीर्यादि गुणों का**) **अभाव हो जायेगा,...**' आ..हा..हा...! और एक-एक गुण में, अनंतगुण में और अनंत धर्म में, जो अनंत-अनंत नय लागू पड़ते हैं (उन) सबका अभाव हो जायेगा। समझ में आया ? ऐसी बातें हैं, लो ! लोहे के कारखाने में से यह (बात) कहाँ मिलनेवाली है ! आहा..हा...!

यह (स्वरूप) निर्विकल्परूप से भासित होना चाहिये, ऐसा कहते हैं, हाँ ! क्योंकि विकल्प है, यह उसमें है नहीं। भाई ! विकल्प तो उसमें है नहीं। अब उसको (स्वरूप को) जानना है कि, एक-एक गुण और एक-एक धर्म में, अनंत रूप और अनंत नय व्याप्त हैं। (अब) इसका जो निर्णय करना है (ऐसी) विकल्प में ताकात नहीं। विकल्प तो राग है। आहा..हा...! निर्विकल्पदृष्टि से यह निर्णय हो जाता है। आ..हा..हा...! गजब बात है !!

'श्रीमद्' में से यह 'नय' की व्याख्या आज ही कही है, हाँ ! इतने वर्षो में (पहली बार कही है)। मैं तो एक गुण में अनंतगुण का रूप - (यह) ढूंढ रहा था। 'दीपचंदजी' में तो (आता है) लेकिन और कहीं आता है कि नहीं ? (यह ढूंढ रहा था)। (तो 'श्रीमद' में से) इतना निकला। आ..हा..हा...!

ज्ञान यह आत्मा (है)। और आत्मा ज्ञान से ज्ञानवान, दर्शन से दर्शनवान, चारित्र से चारित्रवान, सब गुण, हाँ ! गुण (की बात चलती है)। श्रद्धा से श्रद्धावान, अस्तित्व से अस्तित्ववान, वस्तुत्व से वस्तुत्ववान, ऐसे अनंत-अनंत गुण (स्वरूप आत्मा है)। (इसलिये) यदि आत्मा अकेला ज्ञान ही हो जाये तो अनंत गुण का अभाव हो जाये। समझ में आया ? आ..हा..हा...! क्या सिद्ध करने की (रीत है) !

दिगंबर संत जगत में केवली के पथपथिक हैं !! श्वेतांबर में यह बात कहीं नहीं है। (उन्होंने) सब कल्पित शास्त्र बनाये हैं ! आहा..हा...! (संतों ने) प्रभु को पूरा प्रकट किया है !! आहा...!

जिसमें अनंत पर्यायें यानी गुण (हैं)। भेदों को गुण कहते हैं। सहभावी को पर्याय कहते हैं न? भाई ! 'सर्वविशुद्ध अधिकार' में सहभावी पर्याय और क्रमभावी पर्याय, ऐसा आता है। आहा..हा...! आत्मा, अकेला ज्ञानगुणमय ही हो, तब तो बहुत दोष

आते हैं, (ऐसा) कहते हैं। ज्ञान द्रव्य हो जाये, गुण का अभाव हो जाये, विशेष गुण का अभाव होने से द्रव्य का अभाव हो जाये, और अकेला ज्ञान (रहने से) (दूसरे) अनंत गुण का अभाव हो जाये। समझ में आये ऐसा तो है, हाँ ! आहा...!

शेष गुणों का (यानी) सुखगुण - आनंदगुण आत्मा में है। (ऐसे) वीर्य एक गुण है। चारित्राकषाय स्वभाव (ऐसा) चारित्र गुण है। ऐसे-ऐसे अनंतगुण हैं। आहा...! और अपेक्षित धर्म भी अनंत हैं। यदि एक ज्ञान ही आत्मा है, ऐसा हो तो अनंत गुण का अभाव हो जायेगा, आ..हा..हा...!

(आगे कहते हैं) `**...और उनके साथ ही अविनाभावी संबंधवाले आत्मा का भी अभाव हो जायेगा।**' क्या कहा ? एक ज्ञान ही आत्मा कहने से, गुण का अभाव होकर (ज्ञान) द्रव्य हो गया। और द्रव्य हो गया तो द्रव्य विशेष (गुण) बिना रहता नहीं। (इसलिये) द्रव्य का भी अभाव हो गया। और द्रव्य, एक ज्ञानमय ही है, (ऐसा मानने से) अनंत गुण का भी अभाव हो गया। और अनंत गुण का अभाव होने से, अनंत गुण के साथ रहनेवाला आत्मद्रव्य (का भी अभाव हो जायेगा)। आहा...! `**...उनके साथ ही अविनाभावी संबंधवाले,...**' (अर्थात्) जहाँ अनंत गुण हैं, वहाँ आत्मा है और जहाँ आत्मा है वहाँ अनंत गुण हैं।

`वेदांत' में भी यह बात नहीं और श्वेतांबर में भी यह बात नहीं है। यहाँ तो वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा सनातन दिगंबर धर्म जैसी बात, और कहीं नहीं !! आहा...!

श्रोता :- वेदांत तो एक ही मानता है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- एक ही मानता है। उसे मालूम भी कहाँ है ! कुछ खबर नहीं। संप्रदाय में हमारे गुरु थे न ! वे बहुत भद्रिक थे, बहुत गंभीर थे। सारा दिन शास्त्र स्वाध्याय करे। लेकिन ये शब्द सुने नहीं थे। आहा...! कि, आत्मा राग का कर्ता नहीं और राग आत्मा में है नहीं। राग से आत्मा पर की दया पाल सकता है, ऐसा नहीं और राग आत्मा का स्वभाव नहीं। राग से आत्मा की हिंसा होती है। (ये बातें) सुनी नहीं। आहा..हा...! `हीराजी महाराज' ने ऐसी बातें सुनी नहीं थी। ४६ वर्ष की दीक्षा (थी)। बारह वर्ष की उम्र में दीक्षा ली थी। अट्ठावन वर्ष की उम्र में `खेराली' गाँव में रास्ते पर चलते हुए स्वर्गवास हो गया। रास्ते में गिर

गये और देह छूट गया। उन्हें दूसरे किसी की दरकार नहीं थी। अकेले स्वतंत्र (रहते थे)। '७४ की साल में, चैत कृष्णा अष्टमी (के दिन स्वर्गवास हुआ)। अरेरे...! आत्मा में अनंतगुण हैं, यह सुना नहीं था।

एक बैरिस्टर थे। वे ऐसा कहते थे, `धर्मास्तिकाय के दो गुण-एक अरूपी और एक गति !' यहाँ कहते हैं कि, धर्मास्तिकाय के अनंत गुण और अनंत धर्म (हैं)। आहा..हा...! एक धर्मास्तिकाय में अनंतगुण और अनंत धर्म (हैं)। और एक-एक गुण और अनंत धर्म में (एक-एक) नय व्याप्त हैं। आहा..हा...!

किसी बैरिस्टर के पास ग्राहक नहीं आता है और किसी के पास आता है। पैसे सामने से दे जाते हैं। वह तो पुण्य की बात है।

श्रोता :- पुण्य की बात है या पाप की बात है ?

समाधान :- पुण्य को लेकर मिलता है, इतनी बात (है)। बाकी है तो पाप, आ..हा..हा...!

यहाँ कहते हैं प्रभु ! एकबार सुन तो सही ! Logic तो देखो ! ओ.हो..हो..हो...! दिगंबर संतों की शैली तो देखो ! आ..हा..हा...! प्रभु तुझे ज्ञान आत्मा (है) ऐसा कहा (तो) ज्ञान और आत्मा (में) तादात्म्य (संबंध) है, उस अपेक्षा से (कहा)। परंतु तू ऐसा ही मान ले कि, ज्ञान ही आत्मा (है) तो एकान्त हो जायेगा। (और) अनेकान्त बलवान है, यह अनेकान्त नहीं रहेगा। अनेकान्त नहीं रहेगा तो क्या होगा? कि, ज्ञान ही आत्मा (हुआ) तो ज्ञान, द्रव्य हो गया। (और) गुण का अभाव हो गया। और द्रव्य, विशेष (गुण) बिना रहता नहीं तो विशेष बिना द्रव्य रहा नहीं (तो द्रव्य का) नाश हो गया। और ज्ञान ही आत्मा कहो तो (दूसरे) अनंतगुण हैं, उसका अभाव हो जायेगा। और अनंत गुणों का अभाव होने से द्रव्य का अभाव हो जायेगा। आ..हा..हा...! क्या बात...!!

सबेरे एक बड़ी बस आयी थी। हमसे कहा, कुछ सुनाइये ! हमने कहा, `अभी Time नहीं है ! ' तीन से चार (व्याख्यान चलता है)। लेकिन उनको गिरनार जाना था। इसलिये चले गये। आदमी को कहाँ फुरसत है ? बाहर की प्रवृत्ति, यात्रा (आदि करते हैं) वह तो शुभराग है, आहा...!

भगवानआत्मा ! एक सेकंड के असंख्यवें भाग में अनंतगुण का एकरूप सत्

है। यदि उसको एक -ज्ञानरूप ही मान लो तो अनंतगुण का अभाव (हो जायेगा)। है (पाठ में) ? पर्याय का (गुण का) अभाव हो (जायेगा) और उनके साथ अविनाभावी (अर्थात्) अनंतगुण के साथ रहनेवाला द्रव्य और द्रव्य के साथ रहनेवाले अनंतगुण, इन अनंतगुण का अभाव हो जायेगा। (और अनंतगुण का अभाव होने से, उसके साथ ही अविनाभावी) संबंधवाले आत्मा का भी अभाव हो जायेगा, आहा..हा...!

थोड़ा सूक्ष्म है, भगवान ! परंतु तेरी बात है, प्रभु ! तेरे घर की बात है, आहा..हा...! तेरे घर में कितना भरा है (तुझे मालूम नहीं)। आ..हा..हा...! हिन्दी में (एक पद) आता है न ! `अब हम कबहु न निज घर आये, पर घर भ्रमत नाम अनेक धराये' - `निज घर' (नाम) अनंतगुण का पिंड निज घर (है) ! आहा..हा...! समझ में आया?

`श्रीमद्जी' ने अंत में कहा न ! `अवश्य कर्म नो भोग छे, भोगववो अवशेष रे...!' (अर्थात्) कुछ राग बाकी रहता है, ऐसा लगता है। इस भव में नहीं छूटेगा। `तेथी देह एक धारी ने, जाशुं स्वरूप स्वदेश।' राग में रहते हैं, यह परदेश है। हम (तो) हमारे स्वरूप में जायेंगे। आ..हा..हा...! `बहन' की वाणी में (`बहिनश्री के वचनामृत' में) ४०१ नंबर के बोल में आया है। राग में गये वह परदेश है ! आ..हा..हा...! विकल्प-राग जो उठता है, वह परदेश है।

(नौ-९ का अंक सब जगह आता है)। ९x१=९, ९x२=१८-१+८=९, ९x३=२७-२+७=९, ९x४=३६-३+६=९, ९x५=४५-४+५=९, ९x६=५४-५+४=९, ९x७=६३-६+३=९, ९x८=७२-७+२=९, ९x९=८१-८+१=९, आहा..हा...! (पूरे में) ९ एकसाथ रहा। १०९९० वहाँ (भी) एक नौ ही रहा। यहाँ (गाथा में भी) २७ का अंक है! २+७=९ आहा..हा...!

(यहाँ कहते हैं) एक ज्ञानगुण ही आत्मा मान लो, तो ज्ञान के साथ - आत्मा के साथ अनंतगुण रहनेवाले हैं, इन अनंतगुणों का (अभाव हो जायेगा)। (और गुण का अभाव होने से) अनंतगुण के (साथ) अविनाभावी रहनेवाले द्रव्य का - आत्मा का अभाव हो जायेगा। ओ..हो..हो...! यह तो वकीलों की तरह (न्याय) दिये हैं। बनिये को तो इसमें कुछ सूझे नहीं (ऐसा है) !

(कहते हैं) `(क्योंकि सुख, वीर्य इत्यादि गुण न हो तो आत्मा भी नहीं रह सकता)।' भगवान (आत्मा) तो ज्ञानस्वरूप भी है, अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप भी है, अनंत पुरुषार्थस्वरूप

है, अनंत स्वच्छतास्वरूप है, अनंत ईश्वरस्वरूप है। एक गुण में (जैसे) ईश्वरता है, ऐसी अनंतगुण में अनंती ईश्वरता है। आ..हा..हा...! आहा..हा...! एक-एक गुण में अनंत ईश्वरता (है) तो अनंत ईश्वरता को अनंत नय लागू पड़ते हैं ! आ..हा..हा...! एक गुण में अनंत नय लागू पड़ते हैं ! आ..हा..हा...!

श्रोता :- स्वसंवेदनज्ञान में यह सब समझ में आता होगा ?

समाधान :- पहले न्याय से समझे तो उसे (बाद में) स्वसंवेदन होगा। पहले, सत् ऐसा है, ऐसा ज्ञान में विकल्पसहित भले निर्णय हो। बाद में विकल्प छूटकर, (यथार्थ निर्णय होता है)। यथार्थ निर्णय तो तब कहने में आता है कि, निर्विकल्प अनुभव हो तब यथार्थ निर्णय है। आहा..हा...!

श्रोता :- आपने जो फरमाया और जो प्रश्न पूछा गया, उसमें क्या फर्क है?

समाधान :- स्वसंवेदनज्ञान यानी राग बिना होता है, वह स्वसंवेदनज्ञान (है)। राग का अवलंबन बिलकुल नहीं। क्योंकि उसमें (राग) है नहीं। और दूसरी रीत से (कहे तो), आत्मा, आत्मा के स्वभाव से जानने में आता है। `अलिंगग्रहण' में है न, भाई! `अलिंगग्रहण' के बीस बोल हैं। (`प्रवचनसार' - १७२ गाथा)। उसमें छट्ठे बोल में आता है - `अपने स्वभाव से जानने में आनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञाता है।' आ..हा..हा...!

श्रोता :- परंतु आपने पहले फरमाया न कि, पहले ख्याल में आये तो बाद में निर्णय होता है!

समाधान :- पहले विकल्प से (विकल्पसहित) निर्णय तो होना चाहिये न ! (`समयसार') १३वीं गाथा में कहा न ! पहले विकल्प से निर्णय करे और फिर यह (निर्विकल्प) निर्णय हो, तो उस (पहलेवाले निर्णय को) व्यवहार से निर्णय कहने में आता है। परंतु विकल्प से निर्णय किया इसलिये निर्विकल्प हो जायेगा, ऐसा नहीं। आ..हा..हा...!

बहुत सूक्ष्म बातें हैं, बापू ! आहाहा...! क्या कहा समझ में आया ? एक आत्मा सिद्ध करने में इतना न्याय और Logic किया है ! आत्मा को समझे बिना तेरी व्रत की क्रिया, दान की क्रिया, सब धूल - निरर्थक है। समझ में आया ? निरर्थक नहीं। (इससे) संसार (मिलता) है। रखडने में सार्थक है। आहा..हा...! यह २७ (गाथा का) दूसरा Paragraph पूरा हुआ। आहा..हा...! पौना घंटा हुआ। बहुत गजब बात...!! बापू!

प्रभु तेरी प्रभुता तो देख ! प्रभु! आ..हा..हा...! सब भगवान है! आहा...! सब

भगवान अनंत चैतन्य स्वभाव से भरे आत्मा हैं ! आहा..हा...! भूल होती है उसे क्या देखना ? चैतन्यस्वभाव से सब आत्मा भरे हैं ! भूल का ज्ञान करे लेकिन (उसकी मुख्यता नहीं)। आहा..हा...! एक Paragraph में कितना आया ! कितने न्याय (दिये)! आ..हा..हा...! आज बराबर (बात आ गई है) ! ऐसी बात बार-बार थोड़ी आती है! गाथा भी ऐसी आ गई और `श्रीमद्जी' का भी आ गया। चौबीस वर्ष की उम्र में क्षयोपशम तो (बहुत था)।

श्रोता :- चौबीसवें वर्ष में तो बाहर आया। अंदर में तो बहुत वर्ष पहले आ गया होगा !

पूज्य गुरुदेवश्री :- यह तो लिखा है उस समय की (बात है)। ख्याल में तो पहले आ गया होगा। क्षयोपशम (देखो तो) उस समय में वही एक पुरुष थे ! लेकिन पीछे से सब ऐसा कहने लगे कि, उनकी भक्ति करेंगे तो हमारा कल्याण हो जायेगा! (लेकिन) ऐसा नहीं (है)। भक्ति है वह तो शुभभाव है। हो... परंतु वह कोई चीज नहीं। आहा..हा...! भक्ति करते-करते सम्यग्दर्शन हो जायेगा ! (ऐसा नहीं है)। निजभक्ति करने से (सम्यग्दर्शन) होगा ! `निजमाला' ! अनंतगुण की माला भगवानआत्मा ! आ..हा..हा...! उसकी दृष्टि (करनी) यह भक्ति (है)। स्व और पर - (ऐसी) दो प्रकार की भक्ति (है)। उसमें स्व-भक्ति करने से (सम्यग्दर्शन) होगा। आहा..हा...! ऐसा है! ओ..हो..हो...!

यहाँ बारोट आता है। वह पाँच-दस लाखवाले गृहस्थ को लेकर आये। यहाँ हमारे पास आकर बोले `ये भाग्यशाली.....!' आहा..हा...!

अरे...प्रभु ! तेरी चीज को तो देख ! तेरी चीज तो अनंतगुण से भरी पड़ी है, प्रभु ! आहा...! वह अनंता अनंत गुण कितने ? कि, (इनका) कहीं अंत नहीं। आ..हा..हा...! अरे...! जिस अनंत के अनंतगुना करो तो भी अंत नहीं ! ऐसे अनंतगुण हैं !! आ..हा..हा...! एक-एक गुण में अनंत-अनंत गुण का रूप है ! और एक-एक गुण में अनंत नय लागू पड़ते है। आ..हा..हा...! (इसलिये) यदि (आत्मा को) एक गुणरूप ही मान लो (तो इन अनंतगुण का अभाव हो जायेगा)। हमने कहा था कि, ज्ञान वह आत्मा। परंतु उसका अर्थ (यह है कि) ज्ञान और आत्मा तद्रूप है। (इसलिये) इस ज्ञान में दृष्टि एकाग्र होने से, द्रव्य में एकाग्र हुआ। ये बताना था। परंतु इसमें

तू एकान्त ले ले कि, ज्ञान वही आत्मा (है) और दूसरे गुण नहीं है (तो एकान्त हो जायेगा)। आहा...! समझ में आया ?

सुख, वीर्य (आदि) अनंत... अनंत... गुण (हैं) ! आ..हा..हा...! अनंत-अनंत (गुण कि) जिसकी संख्या का पार नहीं। अलोक (आकाश) का अंत नहीं। इतने जो प्रकाश हैं, उससे अनंत गुना तो एक द्रव्य में गुण हैं। आकाश का अंत नहीं। आकाश का अंत कहाँ ? आकाश कहाँ पूरा हो जायेगा ? कहीं पूरा होता नहीं। चले जाता (है) अनंत.... अनंत.... आ..हा..हा..हा...! (ऐसे) अनंत आकाश के जो प्रदेश हैं, उससे अनंत गुना गुण एक आत्मा में हैं !! (इसलिये) यदि तुम (आत्मा को) एक गुणरूप मान लो तो (दूसरे) अनंतगुण का अभाव हो जायेगा। और अनंतगुण का अभाव हो जाने से, अनंतगुण के (साथ) अविनाभावी रहनेवाले द्रव्य का भी अभाव हो जायेगा। आहा..हा...! समझ में आता है ?

आहा..हा...! प्रभु का विरह हो गया। भरतक्षेत्र में भगवान रहे नहीं। आहा..हा...! यह बात रह गई। यह, `प्रवचनसार - दिव्यध्वनि का सार (है)।' `प्र' यानी विशेष, `वचन'। दिव्य यानी विशेष ध्वनि = आवाज। इस दिव्यध्वनि का सार `प्रवचनसार' है!! आ..हा..हा...! अरे...रे...! यह बात जिसे अंदर बैठ गई, उसे जन्म-मरण रहते नहीं। बेचारा, रखडकर - मरकर दुःखी (हो रहा है) ! आहा...!

श्रोता :- कहीं शांति नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- धूल भी नहीं है, कहीं शांति ! आहा...! ये २७ (गाथा समाप्त) हुई। (अब) २८ (गाथा)।

❋ ❋ ❋

अथ ज्ञानज्ञेययोः परस्परगमनं प्रतिहन्ति –

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति।।२८।।

ज्ञानी ज्ञानस्वभावोऽर्था ज्ञेयात्मका हि ज्ञानिनः।
रूपाणीव चक्षुषोः नैवान्योन्येषु वर्तन्ते।।२८।।

ज्ञानी चार्थाश्च स्वलक्षणभूतपृथक्त्वतो न मिथो वृत्तिमासादयन्ति किंतु तेषां ज्ञानज्ञेयस्वभावसम्बन्धसाधितमन्योन्यवृत्तिमात्रमस्ति चक्षुरूपवत्। यथा हि चक्षूंषि तद्विषयभूतरूपिद्रव्याणि च परस्परप्रवेशमन्तरेणापि ज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणान्येवमात्माऽर्थाश्चन्योन्यवृत्तिमन्तरेणापि विश्वज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणाः।।२८।।

इत्यात्मज्ञानयोरेकत्वं, ज्ञानस्य व्यवहारेण सर्वगतत्वमित्यादिकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथापञ्चकं गतम्। अथ ज्ञानं ज्ञेयासमीपे न गच्छतीति निश्चिनोति–**णाणी णाणसहावो** ज्ञानी सर्वज्ञः केवलज्ञानस्वभाव एव। **अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स** जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्था ज्ञेयात्मका एव भवन्ति न ध ज्ञानात्मकाः। कस्य। ज्ञानिनः। **रूपाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टृति** ज्ञानी पदार्थाश्चान्योन्यं परस्परमेकत्वेन न वर्तन्ते। कानीव, केषां संबंधित्वेन। रूपाणीव चक्षुषामिति। तथाहि–यथा रूपिद्रव्याणि चक्षुषा सह परस्परं संबन्धाभावेऽपि स्वाकारसमर्पणे समर्थानि, चक्षूंषि च तदाकारग्रहणे समर्थानि भवन्ति, तथा त्रैलोक्योदरविवरवर्तिपदार्थाः कालत्रयपर्यायपरिणता ज्ञानेन सह परस्परप्रदेशसंसर्गाभावेऽपि स्वकीयाकारसमर्पणे समर्था भवन्ति, अखण्डैकप्रतिभासमयं केवलज्ञानं तू तदाकारग्रहणे समर्थमिति भावार्थः।।२८।।

अब, ज्ञान और ज्ञेयके परस्पर गमनका निषेध करते हैं। (अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय एक-दूसरेमें प्रवेश नहीं करते ऐसा कहते हैं।) :-

गाथा २८

छे `ज्ञानी' ज्ञानस्वभाव अर्थो ज्ञेयरूप छे `ज्ञानी' ना।
ज्यम रूप छे नेत्रो तणां, नहि वर्तता अन्योन्यमां।।२८।।

अन्वयार्थ :- [ज्ञानी] आत्मा **[ज्ञानस्वभाव]** ज्ञान स्वभाव है **[अर्थाः हि]** और पदार्थ **[ज्ञानिनः]** आत्माके **[ज्ञेयात्मकाः]** ज्ञेय स्वरूप हैं, **[रूपाणि इव चक्षुषोः]** जैसे कि रूप

(रूपी पदार्थ) नेत्रोंका ज्ञेय है वैसे **[अन्योन्येषु]** वे एक-दूसरे में **[न एव वर्तन्ते]** नहीं वर्तते।

टीका :- आत्मा और पदार्थ स्वलक्षणभूत पृथक्त्वके कारण एक दूसरेमें नहीं वर्तते परन्तु उनके मात्र नेत्र और रूपी पदार्थकी भाँति ज्ञानज्ञेयस्वभाव-सम्बन्धसे होनेवाली एक दूसरेमें प्रवृत्ति पाई जाती है। (प्रत्येक द्रव्यका लक्षण अन्य द्रव्योंसे भिन्नत्व होनेसे आत्मा और पदार्थ एक दूसरेमें नहीं वर्तते, किन्तु आत्माका ज्ञानस्वभाव है और पदार्थोंका ज्ञेय स्वभाव है, ऐसे ज्ञानज्ञेयस्वभावरूप सम्बन्धके कारण ही मात्र उनका एक दूसरेमें होना नेत्र और रूपी पदार्थोंकी भाँति उपचारसे कहा जा सकता है)। जैसे नेत्र और उनके विषयभूत रूपी पदार्थ परस्पर प्रवेश किये बिना ही ज्ञेयाकारोंको ग्रहण और समर्पण करनेके स्वभाववालें हैं, उसी प्रकार आत्मा और पदार्थ एक दूसरेमें प्रविष्ट हुए बिना ही समस्त ज्ञेयाकारोंके ग्रहण और समर्पणकरनेके स्वभाववाले हैं। (जिस प्रकार आँख रूपी पदार्थोंमें प्रवेश नहीं करती और रूपी पदार्थ आँखमें प्रवेश नहीं करते तोभी आँख रूपी पदार्थोंरे ज्ञेयाकारोंके ग्रहण करने-जाननेके-स्वभाववाली है और रूपी पदार्थ स्वयंके ज्ञेयाकारोंको समर्पित होने-जनानेके-स्वभाववाले हैं, उसीप्रकार आत्मा पदार्थोंमें प्रवेश नहीं करता और पदार्थ आत्मामें प्रवेश नहीं करते तथापि आत्मा पदार्थोंके समस्त ज्ञेयाकारोंको ग्रहण कर लेने-जानलेनेके स्वभाववाला है और पदार्थ स्वयंके समस्त ज्ञेयाकारोंको समर्पित होजाने-ज्ञात होजानेके स्वभाववाले हैं)।।२८।।

`अब, ज्ञान और ज्ञेय के परस्पर गमन का निषेध करते हैं,...' क्या कहते हैं? कि, ज्ञान जो है वह सर्व ज्ञेय को जानता है। लेकिन ज्ञानगुण सर्व ज्ञेय में प्रवेश नहीं करता। वैसे, जो ज्ञेय जानने में आता है, वह अपने ज्ञान में आता नहीं। वह चीज (ज्ञान में) आती नहीं। उसका विशेष स्पष्टीकरण करते हैं।

यहाँ ज्ञान (जो कहा) वह कौन-सा ज्ञान ? जानना (जो) गुण-स्वभाव (है) वह ज्ञान, यहाँ शास्त्रज्ञान के ज्ञान की बात नहीं है। आहा..हा...! जैसे मिठास बिना शक्कर नहीं, वैसे ज्ञान बिना आत्मा नहीं। यहाँ ये सिद्ध करना है। यह ज्ञान अनंत ज्ञेय को जाने, अपने क्षेत्र में, अपने भाव में रहकर अनंत ज्ञेय को जाने। जाने फिर भी ज्ञान, ज्ञेय में प्रवेश करता नहीं, और (जो) अनंत ज्ञेय को जानता है, वह ज्ञेय ज्ञान में प्रवेश करता नहीं, आहा..हा...!

`अब, ज्ञान और ज्ञेय के परस्पर गमन का निषेध करते हैं (अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय एक-दूसरे में प्रवेश नहीं करते ऐसा कहते हैं) :-' परस्पर (कहा)। (क्योंकि ज्ञान - ज्ञेय) दोनों आये न ? आगे (नेत्र का) दृष्टांत देंगे (कि), आँख अग्नि को जानती है (लेकिन) अग्नि में प्रवेश करती नहीं। वैसे अग्नि (को) आँख जानती है (फिर भी) अग्नि यहाँ (आँख में) प्रवेश नहीं करती। अग्नि (को) जाने, लेकिन अग्नि में प्रवेश न करे। (और) अग्नि का यहाँ ज्ञान हो, तो अग्नि यहाँ आती नहीं। आहा..हा...! २८ (गाथा)

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति।।२८।।

`छे `ज्ञानी' ज्ञानस्वभाव, अर्थो ज्ञेयरूप छे `ज्ञानी' ना,'
ज्यम रूप छे नेत्रो तणां, नहि वर्तता अन्योन्यमां.' २८.

बनिये को तो कुछ (तर्क लगाना इत्यादि होता नहीं)। वकीलों को कोर्ट में तर्क करने पड़े। और जो मास्टर होते हैं (शिक्षक) उसे `पंतु' कहते हैं। (ऐसा कोई कहता था कि) मास्टर यानी पंतु। क्योंकि उसे रोज जो कहना होता है, वही कहता रहता है। उसे कोई तर्क नहीं करना पड़ता। वकीलों को तो तर्क करना पड़े। `हम तो पंतु हैं' ऐसा कहते थे। (और) बनिये तर्क बिना के हैं, (इसलिये) सब पंतु हैं ! आहा..हा...!

श्रोता :- व्यापारी के पास पैसे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री :- पैसा यानी धूल। कंकर (है)। ऐसे तो पूरी नदी कंकर से भरी है ! उसे क्यों अपना नहीं मानता ? जैसे वह धूल है, ऐसे ये (पैसे भी) कंकर हैं। बड़ी नदी रेत से भरी होती है न ? उसे माने - मेरी रेती है, ऐसा मानने दो ! रेती औंर रुपया-दोनों एक ही है ! आहा..हा...!

पहले कहा था न ! `ईरान' के बादशाह को उसकी रैयत ने, उस पर हमला करके निकाल दिया। वह बादशाह जो गया उसके पास दो हजार करोड़ डोलर थे ! दो हजार करोड़ डोलर यानी सोलह हजार करोड़ रुपये हुये। सब लेकर `अमेरिका' चला गया।

अब, २८ गाथा विशेष कहेंगे.....

(**दिनांक ३०-१-१९७९ - प्रवचन नंबर-२४**)

प्रवचनसार, गाथा-२८ ऊपर की पंक्ति (है)। **`अब, ज्ञान और ज्ञेय के परस्पर गमन का निषेध करते हैं,...'** आहा..हा...! क्या कहते हैं ? कि, आत्मा जो ज्ञानस्वरूप है, वह पर - रागादि ज्ञेय को जानता है। फिर भी ज्ञान में ज्ञेय आता नहीं। समझ में आया ? यह बात सिद्ध करते हैं।

`णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति।।२८।।'
छे `ज्ञानी' ज्ञानस्वभाव अर्थो ज्ञेयरूप छे `ज्ञानी' ना।
ज्यम रूप छे नेत्रो तणां, नहि वर्तता अन्योन्यमां।।२८।।'

**टीका :- `आत्मा और पदार्थ...'** भगवानआत्मा - यह ज्ञानस्वभाव पदार्थ। और `पदार्थ' (यानी) आत्मा से भिन्न - अनंत आत्मा, अनंत रजकण आदि। यह पहले आ गया है (कि), आत्मा ज्ञानप्रमाण, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण, ज्ञेय लोकप्रमाण।

`आत्मा और पदार्थ स्वलक्षणभूत पृथकत्व के कारण,...'** (अर्थात्) प्रत्येक (पदार्थ के) लक्षण भिन्न है। आत्मा का लक्षण भिन्न है और अन्य पदार्थ का लक्षण भिन्न है। (इसप्रकार) **`...पृथकत्व के कारण एक दूसरे में नहीं वर्तते,...' `एक दूसरे में (नहीं वर्तते)' (यानी) ज्ञान ज्ञेय में नहीं जाता और ज्ञेय ज्ञान में नहीं आता। आहा..हा...! दर्पण स्वच्छ है तो उसमें सामने अग्नि और बर्फ दिखने में आता है। (फिर भी) ये बर्फ और अग्नि ने अंदर में प्रवेश किया नहीं। यह तो दर्पण की स्वच्छ अवस्था है। समझ में आया ? दर्पण में अग्नि दिखती है। वह अग्नि नहीं। (वह तो) दर्पण की अवस्था है। ऐसे ज्ञानस्वभाव में ज्ञेय जानने में आते हैं। यह जानने की पर्याय अंदर है, वह तो ज्ञान की (पर्याय) है। वह ज्ञेय अंदर में आया नहीं। आहा...! ऐसी बातें कहीं (सुनने मिले नहीं)।

अभी तो बहुत बड़ा विरोध आया है (कि), `सोनगढवाले निमित्त से कुछ मानते

नहीं, तो ये एकान्त है !' आहा...! दो बातें ली हैं। और `शुभभाव - व्रत, तप, भक्ति, पूजा सब धर्मध्यान है। और वे (`कानजीस्वमी' कहते हैं कि) नहीं (वह धर्मध्यान नहीं) ' अरे...! भाई ! व्यवहार धर्मध्यान पुण्य-राग है। और निमित्त है, ये पर है। निमित्त अंदर में (कुछ करता है) या निमित्त से पर में कार्य होता है, (ऐसा नहीं है)। बहुत कठिन काम है ! आहा..हा...!

सबेरे जो आया था, वह दूसरी बात थी। सबेरे तो (यह बात थी) कि, जो कर्म का उदय है, उसकी झाँई आत्मा में दिखती है। वह है तो आत्मा की पर्याय। परंतु वहाँ ये सिद्ध नहीं करना है। वहाँ निमित्त से राग होता है, ऐसा सिद्ध नहीं करना। राग तो राग से ही होता है। परंतु जो निमित्त से राग हुआ, उसकी झाँई (प्रतिबिंब ज्ञान में दिखता है)। (उस वक्त भी) ज्ञान अनुभव में आता है। ज्ञान का अनुभव और राग, दोनों चीज ही भिन्न हैं, आहा..हा...! वहाँ ऐसे ले ले कि, `देखो! निमित्त से राग हुआ कि नहीं ?' (लेकिन) ऐसे नहीं है। वहाँ तो (ऐसा कहना है कि) जो आत्मा का अनुभव है (वह राग के अनुभव से भिन्न है) और राग का अनुभव है वह जड़ की झाँई है, ऐसा लेना है। वह अपनी चीज नहीं। दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव होता है, वह राग है। (और) राग का अनुभव-ज्ञान (होता है) यह अपना है। और राग है यह वास्तव में पुद्‌गल का है। आहा..हा...! परंतु उसमें से ऐसा निकाले कि, कर्म निमित्त है और उससे राग हुआ, ऐसा नहीं। इसमें भाषा सब ऐसी (है)।

अशुद्ध उपादान यानी आत्मा पर्याय में मलिनरूप से उत्पन्न होता है, यह अशुद्ध उपादान है। और निर्मलरूप से उत्पन्न हो तो शुद्ध उपादान है। समझ में आया ? वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म (है)। अभी तो सब बिखर गया है। इसलिये लोग आरोप लगाये। किसी ने बहुत विरोध किया है। कहते हैं कि, `प्रत्यक्ष देखते हैं कि, निमित्त बिना होता नहीं। ये लकड़ी इस हाथ के बिना ऊँची होती है ?' परंतु यहाँ तो ऐसा कहते है, सुन तो सही ! उस समय में ऐसी अवस्था होनी थी, ये उसकी अवस्था उत्पन्न होने का निजक्षण है। तब हाथ को तो निमित्त कहते हैं। निमित्त से वह ऊँची हुई है, ऐसा है ही नहीं।

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु ! एकबार सुन तो सही, प्रभु ! एक द्रव्य की जो पर्याय

उत्पन्न होती है (यानी) पहले यहाँ राग नहीं था और बाद में राग आया, तो यह राग कर्म का निमित्त है तो उससे आया, ऐसा नहीं। परंतु सबेरे तो यह सिद्ध करना था कि, राग है ये अपना स्वभाव नहीं। राग को जानना यह अपना स्वभाव (और) अनुभव, ये अपने से अभिन्न है। आ..हा..हा...! परंतु वहाँ ऐसे लगा ले कि, देखो...! वहाँ राग को पुद्‌गल की छाया बताया, तो (राग) पुद्‌गल से हुआ है, ऐसा नहीं। आत्मा ज्ञान (स्वरूपी) है, तो ज्ञान करने में राग जानने में आया। परंतु ज्ञान रागरूप हुआ नहीं। उसका नाम `सत्यज्ञान' कहते हैं। और राग कर्म से हुआ, ऐसा नहीं; हुआ तो अपनी पर्याय में अपनी कमजोरी से, परंतु कमजोरी में (जड़ पदार्थ) निमित्त है तो उसे (राग को) जड़ में डाल दिया। समझ में आया ? ये राग जड़ है, अचेतन है। राग अपना है नहीं। दया, दान, व्रत, भक्ति का भी जो विकल्प - राग है, यह जीव स्वभाव नहीं - जीव का स्वरूप नहीं। आ..हा..हा...!

इसमें बड़ा विरोध है। पूरे संप्रदाय में दो बड़े विरोध हैं। एक `क्रमबद्ध' है, लेकिन विरोध करनेवाले ने वह बात नहीं रखी है। नहीं तो यहाँ की पाँच बात का विरोध है। स्पष्ट बात है। एक तो निमित्त हो तो (कार्य) होता है। (लेकिन) यहाँ कहते हैं कि, नहीं, अपनी पर्याय अपने से होती है तो वहाँ निमित्त है, बस ! दूसरी (बात) - व्यवहार रत्नत्रय - दया, दान, व्रत के परिणाम हैं तो उससे निश्चयधर्म - सत्यार्थ धर्म होता है, ऐसा कहते हैं। यहाँ कहते हैं कि, नहीं ! राग अधर्म है (और) उससे धर्म होता नहीं। आ..हा..हा...! दो (बातें हुईं)। `उपादान-निमित्त', `निश्चय-व्यवहार' और `क्रमबद्ध' ! जिस समय में, जिस द्रव्य में जो अवस्था होनेवाली है, (वही) होती है - आगे-पीछे नहीं। निमित्त आये तो होती है, नहीं तो नहीं होती है, ऐसी बात है नहीं। आहा..हा...! ये पाँच (बात का) विरोध है। पहले से है, बहुत वर्ष से है।

मोती के हार में जहाँ (जो) मोती है, वह वहाँ है, आगे-पीछे नहीं। ऐसे आत्मा और परमाणु में, जिस समय में जो अवस्था होनेवाली है, यह अवस्था उस समय में अपने से हुई है। और उस अवस्था का काल यह निजक्षण है। पहले होनेवाली थी (वह पर्याय) अब हुई और अभी होनेवाली थी वह बाद में होती है, ऐसा नहीं है। आहा..हा...! कठिन पड़े जगत को !

यह अक्षर दिखते हैं, तो कोई कलम चलाये बिना अक्षर होते हैं ? और कलम

को अँगुली हिलाये बिना यह कलम चलती है ? और अँगुली को आत्मा हिलाये बिना अँगुली चलती है ? यहाँ कहते (हैं), `ऐसा है !' अँगुली चलती है अपनी पर्याय से, इच्छा की इसलिये चलती है, ऐसा नहीं। और कलम चलती है, (हाथ में) ऐसे पकड़ी है तो अँगूठा के कारण से चलती है, ऐसा नही। और (कलम) चलती है, तो वहाँ अक्षर लिखे जाते हैं, (ऐसा) नहीं, ऐसी बात कहाँ (सुनी होगी) ? भाई ! इसमें बड़ा विरोध है।

`प्रवचनसार' ! यह `प्रवचनसार' है न ? १०२ गाथा में ऐसा आया है। उसकी (पर्याय की) जन्मक्षण है। भगवान ने छः पदार्थ देखे। आत्मा अनंत (हैं)। परंतु आत्मा जाति से एक (है)। परमाणु अनंत (हैं)। परंतु पुद्गल जाति से एक (है)। (बाक़ी के चार पदार्थ) - धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल (है)। भगवान १०२ गाथा में ऐसा कहते हैं... देखना है ? देखो ! १०२ गाथा की टीका।

`**(प्रथम शंका उपस्थित की जाती है :-) यहाँ, (विश्व में) वस्तु का जो जन्मक्षण है वह जन्म से ही व्याप्त होने से स्थितिक्षण,...**' है। आहा..हा...! है ? `जन्मक्षण है' (ऐसा कहा है)। वस्तु में जो समय में जो पर्याय उत्पन्न हुई, (वह) उसकी जन्म नाम उत्पत्ति का काल है। अरे...! ऐसी बात कौन (कहे) ? वाडे में (संप्रदाय में) कहीं (सुनने) मिले नहीं, इसलिये कहे कि, `नया निकाला !' अरे...! नया नहीं है, प्रभु!

जन्मक्षण (लिखा) है ? जन्मक्षण ? जो परमाणु में और जो आत्मा में, जिस क्षण में वह पर्याय उत्पन्न होनेवाली है, वह उसकी उत्पत्ति का काल है। उस कारण से पर्याय उत्पन्न होती है। आहा..हा...! समझ में आया ?

यह पन्ना ऐसे फिरता है तो कहते हैं कि, यह फिरने की पर्याय की उत्पत्ति का क्षण था, उस कारण से ऐसा हुआ है। अँगुली से ऐसा हुआ है, (ऐसा) तीनकाल में नहीं (है)। यह बात (कैसे बैठे) ? बड़ा झगड़ा है, (इस बात का)। सत्य बात ही गुप्त हो गई थी। यह (बात) थी नहीं। `हिन्दुस्तान' में (यह) सत्य नहीं था। क्या कहें ? यहाँ कहते हैं कि, यह परमाणु है न ! तो यह ऐसे चलते हैं, (तो) यह (उसका) जन्मक्षण है। उसकी उत्पत्ति का यह काल है तो ऐसे हिली है, आत्मा से (हिली) नहीं। आत्मा ने इच्छा की तो उससे हिली, ऐसा नहीं। और आत्मा में राग होता है तो यह राग की उत्पत्ति का जन्मक्षण है, कर्म से (राग हुआ) नहीं।

कर्मविपाक उसके घर में रह गया।

सबेरे की बात दूसरी थी। सबेरे के (विषय में) तो राग भी ज्ञानस्वभाव का भाव नहीं (ऐसे कहना था)। राग भाव का जो अनुभव (होता है, उससे भिन्न) जो ज्ञान (है) यह अपना है। राग है अपना। राग जड़ की पर्याय से (भिन्न है)। राग अपनी पर्याय है। लेकिन वह बात यहाँ सिद्ध नहीं करनी है। यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि, उपयोग की स्वच्छता के कारण राग ख्याल में आता है। परंतु राग की झाँई (जो) है, यह पुद्‌गल की है। एक ओर से कहना कि, अपनी पर्याय का जन्मक्षण है तो राग उत्पन्न होता है। दूसरी ओर से कहना कि, राग का अनुभवज्ञान (है) यह अपना है। राग अपना नहीं। अरे...! अरे...! ऐसी बातें हैं !

यह पैसा जो नोट है, यह नोट भी परमाणु की पर्याय है। वह नोट होने की थी उस समय में नोट हुई। और नोट यहाँ आती है, वह अपनी पर्याय से (आती है)। उसमें क्रियावर्ती शक्ति है तो यहाँ आयी (है)। राग किया तो आयी, ऐसा नहीं। ये बात कहाँ (है) ? दुनिया से अलग (है) !

यहाँ `जन्मक्षण' कहा न ! जन्मक्षण ! यह `ज्ञेय अधिकार' है न ! एकदम ऊपर (लिखा है) - `ज्ञेयत्त्व प्रज्ञापन' ! (यानी) यह ज्ञेयत्त्व का अधिकार है। ज्ञेय नाम ज्ञान में जाननेलायक। ऐसा ज्ञेयतत्त्व का अधिकार है। तो ज्ञेय छ: है - जाति (अपेक्षा से)। संख्या अपेक्षा से अनंत हैं। अनंत आत्मा (हैं), अनंत परमाणु (हैं) - यह `ज्ञेयत्त्व' का अधिकार है। तो ज्ञेयतत्त्व में भगवान ऐसा कहते हैं कि, ये जितने ज्ञेय हैं, उसमें जिस क्षण (जो) पर्याय (होती है, वह उसका जन्मक्षण है)। जैसे कि, मोती के हार में जो स्थान में मोती है वह वहीं है। वैसे आत्मा की जो पर्याय जिस समय में उत्पन्न होती है, वह उसका जन्मक्षण (है) - उत्पत्ति का काल ही है। निमित्त से उसमें (पर्याय) हुई है, ऐसा नहीं है। आहा..हा...! समझ में आया ? ऐसा बहुत सूक्ष्म (है) !

एक तरफ ऐसा कहना कि, कर्म निमित्त है। उसकी (कर्म की) पर्याय से राग होता नहीं। राग अपने (जन्म) क्षण में होता है। एक बात। दूसरी तरफ ऐसा कहना कि, यह राग जो है (उसको) ज्ञान जानता है। राग अपना है, ऐसा मानना (वह तो) अज्ञानी मानते हैं। यह स्वभावदृष्टि की बात है। शुद्ध उपादान स्वभाव भगवान

चिदानंद प्रभु, उसकी दृष्टि में राग परज्ञेय है। राग को ज्ञान जानता है। राग का अनुभवज्ञान यह आत्मा का है। राग अपना नहीं। दूसरी ओर ऐसा कहना है कि, षट्कारक से राग कि उत्पत्तिक्षण है। एक समय में जो राग होता है, वह अपने षट्कारक से होता है।

षट्कारक का अर्थ - राग कर्ता है राग का, राग कार्य है राग का, राग साधन है राग का, राग करके अपने में राग रखा, राग राग से हुआ, राग के आधार से राग हुआ। अरे...! ऐसी बातें कभी जिंदगी में सुनने मिले नहीं।

श्रोता :- ये पढ़ाई दूसरी जात की है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- (हाँ) दूसरी जात की (है)।

हमारे पिता के पिता बड़े कवि थे। उनका नाम `पुरुषोत्तम कुंवरजी' था। लेकिन लोग कहते थे `गीगा कोरा !' सब उनको जानते थे। क्योंकि पैसेवाले थे, दिखने में राजकुमार जैसे लगे। आबरू (इज्जत) बड़ी थी, यह तो पचहत्तर साल पहले की बात है। वे कुछ जानते नहीं थे। फिर भी कवि थे। गृहस्थ थे, दुकान नहीं करते थे, और दो महीने धंधा करे। आदमी को `धोलेरा' (गाँव) भेजे और रुई की पेटी मंगवा ले। दो महीने में दो हजार कमा लेते थे। बाक़ी के दस महीने कुछ करे नहीं। वे कवि थे - `पुरुषोत्तम कवि' (कहलाते थे)। `कहत पुरुड़षोत्तम' ऐसा कहते थे। कवि थे लेकिन तत्त्व का कुछ भान नहीं था। एक तो गृहस्थ थे, राजकुमार जैसा शरीर, आबरू बड़ी और (उन्हें) `कवि' कहकर बुलाये तो, ओहो..हो..हो...हो...! (हो जाये)। गीगा कोरा बापा !

एकबार हमारा '८१की साल में `गढडा' (गाँव में) चातुर्मास था। हम एक दिन आहार करके मेडी पर (मकान के ऊपर की मंजिल) चक्कर लगा रहे थे। नीचे एक मुसलमान औरत निकली। वह किसी से कह रही थी, उसे मालूम नहीं था कि, महाराज सुन रहे हैं। वह किसी से कह रही थी, `गीगा कोराना पगना पगरखां कोई न पहेरे, बापा ! ऐसे थे।' (यानी इतने आबरुदार बड़े आदमी थे)।

श्रोता :- `गढडा' में उनकी मेडी सबसे पहली थी।

पूज्य गुरुदेवश्री :- हाँ, मेडी (छोटे मकान की ऊपर की मंज़िल) ही पहली थी। पूरे `गढडा' में हमारे बाप के बाप की पहली मेडी थी। दूसरे किसी की नहीं थी।

मेडीबंध पत्थर का मकान सबसे पहला उनका बना था - `गीगा कोरा ! पुरुषोत्तम कुंवरजी' - कोरा यानी कुंवरजी। मुझे तो दूसरी बात कहनी है कि, वे कवि थे लेकिन वह सब लौकिक (कविता) बनाते थे। आहा..हा...! कुछ ख़बर नहीं थी। धर्म क्या और राग क्या ?

यहाँ कहते हैं कि, जो भी कवित्व की भाषा होती है, वह आत्मा करता नहीं। समझ में आया ? भाषा की पर्याय जड़ (है)। उस समय में परमाणु में भाषा की पर्याय की उत्पत्ति का जन्मक्षण है। अर..र...! ऐसा कौन माने ? लोगों को बेचारों को, (ऐसी बात) सुनी नहीं इसलिये बैठती नहीं, बड़े विद्वान भी (ऐसा ही कहते थे) - `कईबार निमित्त से भी होता है।' कभी होता है, सदा नहीं। कोईबार कर्म का उदय आये और ऊपर से नीचे गिर जाये, वह कर्म के आधीन पदार्थ की जो समय में (पर्याय) होने का काल है, वह काललब्धि है। काललब्धि नाम उसी समय वह राग या निर्मल पर्याय होनेवाली थी, वह उसी समय हुई है। वह दूसरे द्रव्य से हुई है। ऐसा तीनकाल में नहीं है, भाई ! समझ में आया ?

परंतु यहाँ (चलते विषय में) अभी थोड़ी दूसरी बात कहेंगे। (ऊपर) जन्मक्षण कहा। और यहाँ (कहते हैं) कि, ज्ञान कदाचित ज्ञेय को जानते हैं। तो ज्ञेय (ने) अंदर में (ज्ञान में) प्रवेश किया नहीं। परंतु व्यवहार से ऐसा कहने में आता है कि, जैसे आँख अग्नि को (और) परपदार्थ को देखती है, (वैसे यहाँ) रूपी पदार्थ का ज्ञान हुआ तो (ऐसा लगे कि) मानो रूपी (पदार्थ) यहाँ आ गया !! ऐसे उपचार से कहने में आता है, (लेकिन) वास्तविक है नहीं। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं ! (किसी को ऐसा लगे) हमें धर्म करना है इसमें ये सब बातें कहाँ आयी ? लेकिन अभी `द्रव्य' क्या है ? ऐसा समझे बिना धर्म कहाँ से होगा ? समझ में आया ?

धर्म तो वीतरागी दशा है। राग धर्म नहीं (हैं)। तो वीतरागी दशा कब होती है ? क्या होती है ? किस कारण से होती है ? इसके ख्याल बिना धर्म कहाँ से आया ? वीतरागी पर्याय धर्म है, वह कब (होती) है ? कि, जब उसकी पर्याय में वीतरागी पर्याय उत्पन्न होने का काल है, तब वह हुई (है)। परंतु होगी कैसे ? कि, त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से (होगी), ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। व्यवहार से कहने में आता है, (ऐसा कहा) ! (अर्थात्) निश्चय से तो वह वीतरागी पर्याय (अपने

षट्कारक से हुई है)। बापू ! बहुत कठिन काम (है) ! धर्म की वीतरागी अहिंसक दशा - राग बिना की वीतरागी पर्याय (प्रगट हुई), (वह) पर्याय (पर्याय का) कर्ता (है), पर्याय (पर्याय का) कार्य, पर्याय करण, पर्याय स्वयं पर्याय के लिये हुई, पर्याय से पर्याय हुई, पर्याय के आधार से (पर्याय) हुई।

चौथी कक्षा में हमको ये सब आता था। क्या कहते हैं इसे ? `विभक्ति' ! कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण और सातवें को क्या कहते हैं ? संबोधन ! `हे आत्मा...! हे...!' इसे संबोधन (कहते हैं)। सात...सात...! विभक्ति चौथी कक्षा में आती थी। परीक्षा में पास होने के बाद (कुछ नहीं)। यह तो पचहत्तर साल पहले की बात है। पहले तो सात वर्ष की उम्र में `धूडी निशाल' में (स्कूल में) पढ़ते थे। गाँव में एक धूडी निशाल थी। पहले अब जैसी स्कूल नहीं थी। धूडी निशाल में छः महीने, बारह महीने पढ़ते थे। धूल में अंक लिखाते थे। हमारे `नथु मास्तर' थे। (वे) धूल में लिखाते (थे)। `मोक्षमार्ग प्रकाशक' में हैं न, भाई ! **`सिद्धो वर्णसमाम्नायः'** लड़का स्कूल में - धूडी निशाल में आये तो मास्तर पहले यह (शब्द) देते थे। यह तो `मोक्षमार्ग प्रकाशक' में है।

`सिद्धो वर्णसमाम्नायः'** यानी ? कि, ये वर्ण जो बोलते हैं, वह आम्नाय से (होता है)। वर्ण - अक्षर से होता है। `सिद्धो वर्णसमाम्नायः' उसके अक्षर, अक्षर से होते हैं। ऐसी बात पहले समझाते थे। अपने `मोक्षमार्ग प्रकाशक' में है। सात वर्ष की उम्र में सबसे पहले यह दिया था। बयासी (८२) साल पहले की बात है। समझे ? अभी तो सब बात बदल गई। अब पहले जैसा नहीं है। `मोक्षमार्ग प्रकाशक' में यह शब्द है। `टोडरमल्लजी' ने (लिखा है)। देखो ! `सिद्धो वर्ण...' है न इसमें ? कौन से पन्ने पर है ? ग्यारहवें पन्ने पर है। **`सिद्धो वर्णनसमाम्नायः'** यह शब्द पहली बार धूडी निशाल में जाये उसे बताते थे। अस्सी (८०) वर्ष पहले की बात है। `टोडरमल्लजी' ने यह (बात) लिखी है। देखो ! **`ग्रंथ की प्रमाणिकता और आगम परंपरा'** (शीर्षक के नीचे है)। **`सिद्धो वर्णसमाम्नायः अर्थात् वर्णउच्चार का संप्रदाय स्वयंसिद्ध है।' भाषा बोलने की स्थिति स्वयंसिद्ध है। किसी ने यह बनायी है, ऐसा नहीं। पहले यह लिखते थे। बारह महीने धूडी निशाल में पढ़े, फिर दूसरी स्कूल में जाये। उसमें यह पहला अक्षर दिया था। `सिद्धो वर्णसमाम्नायः' अर्थात् अक्षर के उच्चार का संप्रदाय अनादि

से स्वयंसिद्ध है। अक्षर का उच्चार कर सके, ऐसा यह स्वयंसिद्ध है। आहा..हा...! अब इसे कौन माने ? `टोडरमल्लजी' ने `मोक्षमार्ग प्रकाशक' में डाला है। उसमें हजारों बोल हैं। बहुत बोल हैं।

यहाँ कहते हैं कि, २८ गाथा की टीका की पहली पंक्ति। है ? **`आत्मा और पदार्थ स्वलक्षणभूत,...'** (अर्थात्) आत्मा का लक्षण और प्रत्येक पदार्थ का लक्षण भिन्न है। परमाणु और दूसरा आत्मा, सबका लक्षण भिन्न-भिन्न है। **`स्वलक्षणभूत पृथकत्व के कारण,...'** आत्मा और परपदार्थ का स्वलक्षण पृथक है। (इसलिये) **`...एक दूसरे में नहीं वर्तते,...'** कोई पदार्थ का लक्षण कोई पदार्थ में (यानी) एक-दूसरे में वर्तते नहीं। आ..हा..हा...! **`...परंतु उनके मात्र नेत्र और रूपी पदार्थ की भाँति,...'** (अर्थात्) यह आँख और ये रूपी (पदार्थ)। यह रूपी यानी रुपया नहीं, हाँ ! रूपी यानी वर्ण, गंध, रस, स्पर्शवाला (पदार्थ)। समझ में आता है कुछ ? क्या कहते हैं ? कि, जैसे यह आँख है, वह पदार्थ को ऐसे देखती है। तो ऐसे लगता है कि, जैसे आँख में वह पदार्थ आ गया ! ऐसा लोगों को भास होता है। परंतु ऐसा है नहीं। यहाँ अग्नि का ज्ञान हुआ तो अग्नि का ज्ञान बराबर जैसा है वैसा हुआ। परंतु अग्नि यहाँ आ गई, ऐसा नहीं और आँख अग्नि में गई, ऐसा नहीं। अग्नि में आँख जाये तो जल जाये ! और आँख में अग्नि का ज्ञान हुआ (तो) अग्नि यहाँ आ जाये (आँख) तो जल जाये ! आहा..हा...! दर्पण में अग्नि की झलक दिखती है, वह अग्नि नहीं। वह तो दर्पण की स्वच्छता है। (दर्पण में) अग्नि हो तो हाथ लगाने से उष्णता लगनी चाहिये। वैसे आँख में अग्नि दिखे, बरफ दिखे, बिच्छू दिखे, सर्प दिखे तो ये सामने रूपी पदार्थ है। रंग, गंध, रस, स्पर्शवाली चीज है तो आँख उसको देखती है। फिर भी एक-दूसरे में प्रवेश करते नहीं।

(कहते हैं) **`...ज्ञानज्ञेयस्वभाव-संबंध से,...'** आहाहा...! आँख और देखनेवाली चीज - रूपी, उसकी भाँति। **`...ज्ञानज्ञेयस्वभाव-संबंधसे,...'** (अर्थात्) आत्मा का ज्ञानस्वभाव और देह, राग आदि का ज्ञेयस्वभाव (है)। (ऐसे) **`...ज्ञानज्ञेय स्वभाव-संबंध से होनेवाली एक दूसरे में प्रवृत्ति पाई जाती है।'** ज्ञानज्ञेयस्वभाव संबंध से होनेवाली एक दूसरे में प्रवृत्ति पाई जाती है। व्यवहार से कहते हैं। (अब) कौंस में है `(**प्रत्येक द्रव्य का लक्षण...**)'

ऐसा धर्म (है) ! उसमें सरल था - दया का पालन करो, व्रत करो, चौविहार

करो, कंदमूल मत खाओ, (ऐसा सब कुछ) था समझना ? आहा..हा...! बापू ! परंतु क्या चीज है ? (यह तो समझना चाहिये न) ! कहते हैं कि, तू पर की दया पालने को कहता है, तो पर की दया न ? तो पर (यानी) परद्रव्य तो भिन्न है। परद्रव्य की पर्याय तुम कर सकते हो ? पर की दया का पालन कर सकता है ? उसका आयुष्य है तब तक वह जीता है। तो (क्या) तुम उसको जीवित रख सकते हो ? आहा..हा...!

सेठ लोग बहुत पैसेवाले होते हैं तो (ऐसा मानते हैं कि) हम हजारों लोगों को निभाते हैं ! मूढ़ है ! (ऐसा) अज्ञानी मानता है। परमाणुओं का वहाँ जाने का उस समय में काल (है)। उसकी उत्पत्तिक्षण है। प्रभु...! प्रभु...! मार्ग बहुत कठिन, बापू!

(लाखों रुपया) सत् साहित्य छपवाने में दे, तो भी क्या हुआ ? पुद्गल के परमाणु जो वहाँ जानेवाले थे, वह गये। उसमें राग की मंदता की हो तो शुभभाव - पुण्य (है) - धर्म नहीं। और पर को दे सकता हूँ, यह बात (भी) नहीं। ऐसी बातें हैं। वह पैसे उसके नहीं थे। पैसा जाने के काल में (उसके जाने की) जन्मक्षण हो तो वहाँ से हटते हैं। और दूसरा कहे कि, 'मैंने उसको दिया !' (ऐसा मानना मिथ्यात्व है)। ऐसा मार्ग है, प्रभु ! आहा..हा...! कठिन पड़े जगत को, भाई !

श्रोता :- एक और रुपये गये और अभिमान आया !

पूज्य गुरुदेवश्री :- रुपये इसके कहाँ थे ? बापू ! वह तो कहा न ! (वह) परपदार्थ है। तुम परपदार्थ हो, उससे भिन्न हो। तेरा लक्षण भिन्न है और उसका लक्षण भिन्न है - पृथक (है)। यह बात तो चलती है। सूक्ष्म बात (है), भाई ! जिनेश्वरदेव का पंथ - मार्ग समझना अलौकिक बात है, भाई ! आहा...!

यह कहते हैं, देखो ! '**...एक दूसरे में प्रवृत्ति पाई जाती है।**' प्रवृत्ति पाई जाती है, (ऐसा कहते हैं) ! कौंस में - (कोष्टक में) '**(प्रत्येक द्रव्य का लक्षण अन्य द्रव्यों से भिन्नत्व होने से...)**' प्रत्येक द्रव्य यानी तत्त्व - वस्तु। प्रत्येक का भिन्न लक्षण होने से। (अर्थात्) लक्षण से लक्ष्य होनेवाली प्रत्येक चीज का लक्षण भिन्न है। '**(...अन्य द्रव्यों से भिन्नत्व होने से आत्मा और पदार्थ एक दूसरे में नहीं वर्तते...)**' भगवानआत्मा! ज्ञेय का ज्ञान करता है, परंतु ज्ञेय और ज्ञान दोनों एक नहीं हो जाते। ज्ञान में ज्ञेय आता नहीं और ज्ञेय में ज्ञान जाता नहीं, आ..हा..हा...!

(जैसे) यह हाथ (है) वह ज्ञेय है। ज्ञान (उसे) जानता है। ज्ञान ने जाना कि, यह ज्ञेय है। फिर भी, वह ज्ञेय ज्ञान में आया नहीं और ज्ञान उस ज्ञेय में गया नहीं। यह तो सादी भाषा है। बापू ! वीतराग का मार्ग अलौकिक है ! आ..हा..हा...! यह तो सब दृष्टांत दिये जाते हैं। जैसे `ढाई रुपये का मण (चालीस सेर का वजन) तो पाँच सेर का (सेर यानी सेर का चौथा भाग) पाँच आना', यह तो दृष्टांत है। ढाई रुपये का मण तो सैंतीस सेर का सैंतीस आना, वैसे प्रत्येक समय में प्रत्येक (द्रव्य की) पर्याय होती है। यह सिद्धांत (हुआ)। अब दृष्टांत यह है कि, यह आत्मा-ज्ञान जानता है कि, यह हाथ है। यह ज्ञान, ज्ञेय को जानता है, फिर भी ज्ञेय ज्ञान में आता नहीं (और) ज्ञान वहाँ जाता नहीं। आहा..हा...! तत्त्व की ऐसी मर्यादा है। इससे विपरीत माने तो दृष्टि मिथ्यात्व है, आहा..हा...!

(यहाँ कहते हैं) `(**प्रत्येक द्रव्य का लक्षण अन्य द्रव्यों से भिन्नत्व होने से आत्मा और पदार्थ एक दूसरे में नहीं वर्तते, किन्तु आत्मा का ज्ञानस्वभाव है,...**)' भगवान(आत्मा) तो जाननस्वभाव (है)। `चैतन्य-आँखे' (स्वरूप है) ! आहा..हा...! भगवानआत्मा चैतन्य-सूर्य है। यह चैतन्य स्वभाव आहा...! `(**...और पदार्थों का ज्ञेय स्वभाव...**)' (है)। चाहे तो भगवान हो, वे भी इस ज्ञान (की अपेक्षा से) परवस्तु है - वह ज्ञेयस्वभाव है। आ..हा..हा...! तीनलोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर इस (अपने) ज्ञान में वे ज्ञेय हैं। (अपने) ज्ञान में जानने लायक हैं - (ज्ञेय हैं)। (और ज्ञेय होने से) ज्ञान की वस्तु नहीं। आ..हा..हा...! अरिहंत परमेश्वर का ज्ञान लोकालोक (को) जानता है, फिर भी लोकालोक में ज्ञान जाता नहीं और ज्ञान में लोकालोक आता नहीं।

यहाँ तो विशेष कहना है कि, देव, गुरु और शास्त्र परज्ञेय है। आत्मा का स्वभाव ज्ञायक (है) - ज्ञान है तो ज्ञेय है उसको जाने। जानता है फिर भी वह ज्ञेय यहाँ (ज्ञान में) आता नहीं और देव, गुरु, शास्त्र में जाता नहीं। कठिन काम...!

यह ज्ञान (है), तो ज्ञान का जानने का स्वभाव है। (और) शरीर, स्त्री, कुटुंब-परिवार सब ज्ञान के ज्ञेय है। वह ज्ञान की चीज नहीं (है)। वह ज्ञेय की चीज है। उस ज्ञेय का ज्ञान यहाँ हो तो भी ज्ञान ज्ञेय में जाता नहीं और वह ज्ञेय ज्ञान में आता नहीं। समझ में आया ? बापू ! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ! यह `प्रवचनसार' उनकी वाणी है !!

`प्रवचनसार' (लिखा) है न ऊपर ? पहले `प्र-वचन' (आता है)। `प्र' यानी विशेष वचन-दिव्यध्वनि। आहा...! भगवान के मुख से (वाणी) निकली, यह कहना व्यवहार है। बाक़ी तो वाणी, वाणी के कारण से निकली है। अरे...अरे...! ऐसा सब (समझना)!

श्रोता :- वाणी को `सर्वज्ञ अनुसारीणी' कहा है न !

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह निमित्त से (कथन) कहा है। आहा...! वाणी भी केवलज्ञान में तो ज्ञेयरूप हो गई है, जानने में आ गई है। जब सर्वज्ञ भगवान को तीनकाल तीनलोक का ज्ञान हुआ तो (उसमें) वाणी और लोकालोक सबका ज्ञान हो गया है। (फिर भी) वाणी में ज्ञान गया नहीं और ज्ञान में वाणी आयी नहीं। लोकालोक ज्ञेय है। आत्मा ज्ञानप्रमाण, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण, ज्ञेय लोकालोकप्रमाण (है)। लोकालोक ज्ञेय है उसका भगवान को ज्ञान हुआ। परंतु लोकालोक (जो) ज्ञेय है वह ज्ञान में आया नहीं और यह ज्ञान लोकालोक में गया नहीं। अरे... अरे...! ऐसी सब बातें (हैं) ! समझ में आया ? आहा..हा...!

जैसे स्त्री, पुत्र, पत्नी, कुटुंबी (और) सारा संसार (सब ज्ञेय हैं)। (और जो) ज्ञान यहाँ है, यह चैतन्य स्वरूप (है)। जाननस्वभाव चैतन्यस्वभाव (है)। इस ज्ञान में (स्त्री-पुत्र आदि) जानने में आया। (लेकिन) मेरा है, ऐसा उसमें आया नहीं। मेरा है ऐसा तो आया नहीं परंतु उस ज्ञेय का ज्ञान हुआ तो ज्ञान में ज्ञेय आया नहीं। और ज्ञान ने ज्ञेय को जाना तो ज्ञान ज्ञेय को छूता ही नहीं। ऐसी बातें (लोगों को) कठिन लगे ! बहुत लोग बेचारे `सोनगढ' के नाम से भड़क गये हैं ! आहा..हा...!

श्रोता :- साहब ! आपने तो सब सिद्ध कर दिया !

पूज्य गुरुदेवश्री :- यह बात सुनने में नहीं आयी थी (इसलिये) उसे ऐसा लगे कि, ऐसे कैसे हो सकता है ? ऐसे कैसे हो सकता है ? आत्मा के बिना हाथ कैसे हिले ? अरे...! बापू ! आत्मा हिला सकता हो तो (जब) पक्षघात होता है तब आत्मा की बहुत इच्छा होती है, फिर भी हिलाना (नहीं हो सकता)। वहाँ परमाणु में हिलने की शक्ति नहीं है (इसलिये नहीं हिलता)। पक्षघात समझे ? जड़ (शरीर में) एकतरफ पक्षघात हो गया। (उस वक्त) इच्छा हो कि मैं जड़ की पर्याय को हिला दूं, (लेकिन) नहीं हिलेगी। उसकी पर्याय ऐसी होने की है नहीं। आ..हा..हा...!

श्रोता :- प्रतिबिंब हुए बिना जाने कैसे ?

समाधान :- प्रतिबिंब का अर्थ क्या ? ज्ञान ज्ञेय को जाने, वह ज्ञान में प्रतिबिंब हुआ ऐसा कहने में आता है। प्रतिबिंब का अर्थ क्या ? सुनो ! (जैसे) दर्पण है - स्वच्छ दर्पण (और) यहाँ अग्नि आदि (दूसरे पदार्थ है)। उसको बिंब कहते हैं, यहाँ (दर्पण में दिखता है उसे) प्रतिबिंब कहते हैं। प्रतिबिंब क्या (है) ? कि, जैसी चीज है ऐसी वहाँ (दर्पण में दिखती है)। (वह दर्पण की) स्वच्छता हुई। अग्नि है यह बिंब है और दर्पण में अग्नि का (आकार) दिखता है, वह प्रतिबिंब है। परंतु जो प्रतिबिंब है, वह दर्पण की अवस्था है, अग्नि की नहीं। ऐसे चैतन्य भगवान 'ज्ञानदर्पण' है, ज्ञानदर्पण ! उसमें यह सब चीज है (वह) ज्ञान में जानने में आती है। समझ में आया ? परंतु वह ज्ञेय है, इस (ज्ञान में) जानने में आया, फिर भी ज्ञेय ज्ञान में आया नहीं। और ज्ञान उसमें गया नहीं। आहा..हा...! भाषा तो सादी है, प्रभु ! तेरी चीज क्या है, बापू ! यह कभी (समझा नहीं) ! आहा..हा...!

श्रोता :- ज्ञेय आया नहीं लेकिन ज्ञेय की तस्वीर उसमें आयी।

पूज्य गुरुदेवश्री :- (यह) तस्वीर (भी) उसकी नहीं है। वह (तो) व्यवहार से (कहने में आता) है। वहाँ आयी तो अपनी (ज्ञान की) पर्याय है। दर्पण का दृष्टांत नहीं दिया? दर्पण-शीशा (होता) है बड़ा। सबेरे नहाकर आइना हो तो उसमें देखता है न ! छोटा आइना हो तो (ऐसे...ऐसे देखता है)। राजा बड़ा आइना रखता है। आइना बड़ा हो तो ऐसे... ऐसे... न करना पड़े। छोटा आइना हो और नहाकर (तैयार होना हो) तो पूरा (शरीर) नहीं दिखता, इसलिये ऐसा... ऐसा... करता है ! 'भरत चक्रवर्ती' को 'अरीसाभुवन' था। 'ऋषभदेव भगवान' के पुत्र, 'भरत चक्रवर्ती', उसी भव में मोक्ष में गये। उन्हें अरीसाभुवन था। सारे मकान में... आइने... आइने... आइने... उन्हें ऐसे... ऐसे... नहीं करना पड़े। उन्हें पूरा दिखता है। लेकिन अंदर में जो आदमी दिखता है, वहाँ आदमी नहीं है। वहाँ तो आइने की अवस्था है। आहा..हा...! भारी काम... भाई ! भिन्न-भिन्न तत्त्व की ख़बर नहीं और उसे धर्म हो जाये...! (ऐसा नहीं हो सकता)। आहा..हा...!

(यहाँ) कहते हैं, '(**...आत्मा का ज्ञानस्वभाव है और पदार्थों का ज्ञेयस्वभाव है, ऐसे ज्ञानज्ञेयस्वभावरूप संबंध के कारण ही मात्र उनका एक दूसरे में होना नेत्र और रूपी पदार्थों की भाँति उपचार से कहा जा सकता है**)।' देखो ! वह तो उपचार

व्यवहार से कहने में आता है। उपचार कहो, व्यवहार कहो, अयथार्थ कहो (सब एकार्थ है)। आ..हा..हा...! '**जैसे नेत्र और उनके विषयभूत रूपी पदार्थ,...**' आँख है वह कोई अरूपी (पदार्थ को) को देखती नहीं न ! आँख है वह तो रूपी को देखे। रंग, गंध, रस, स्पर्शवाली चीज है, उसे (नेत्र) देखे, '**...नेत्र और उनके विषयभूत रूपी पदार्थ परस्पर प्रवेश किये बिना ही,...**' परस्पर एक दूसरे में गये बिना ही, '**...ज्ञेयाकारों को ग्रहण,...**' ज्ञेयाकारों को ग्रहण करे (यानी) जाने। '**...और समर्पण करने के स्वभाववाले,...**' और जैसे जितने ज्ञेय हैं, इतना उसमें ज्ञान हो, वह समर्पण करते हैं (ऐसा कहने में आता है)। ज्ञेय जितने प्रमाण में है। ज्ञान ग्रहण करता है और ज्ञेय उसको समर्पण करते हैं ! आ..हा..हा...! कठिन बात है, बापू ! आहा..!

भगवान का यह तत्त्व और कहीं है नहीं। जिनेश्वरदेव ने जो यह तत्त्व कहा, यह किसी संप्रदाय में किसी ठिकाने पर नहीं है। उसके संप्रदायवाले को भी मालूम नहीं है ! आहा..हा...! साठ-साठ साल, सत्तर-सत्तर साल (संप्रदाय में) निकाले हो, फिर भी बेचारे ने सुना न हो ! आहा..हा...! आहा...!

(यहाँ) क्या कहते हैं ? नेत्र और उसका विषय रूपी पदार्थ - जैसे यह आइना, देखो ! यह रूपी है न रूपी ? यह आइना वर्ण, गंध, रस, स्पर्शवाली चीज है। यह घड़ी (है) तो आँख घड़ी को देखती है। ये रूपी है न ? अरूपी नहीं है। यह तो वर्ण, गंध, रसवाली (घड़ी है)। उसको आँख देखती है। आँख उसे देखे फिर भी वह चीज आँख में आयी नहीं (और) आँख वहाँ गई नहीं। यह तो सादी भाषा है, प्रभु !

श्रोता :- आँख दूर हो तो भी देखती है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- आँख बंद करो जब तो देखे नहीं। तो भी ज्ञान ख्याल में लेता है कि, यह आइना ऐसा है, घड़ी (है)। वह उसमें (ज्ञान में) ख्याल आ गया। भले आँख बंद हो। आहा..हा..हा...! और वह भी आँख में उस समय में वह जानने की अवस्था है, वह अवस्था अपने से हुई है, ज्ञान से नहीं। ऐसे ज्ञान में अनंत पर(पदार्थ) - अरिहंत, सिद्ध, परमेश्वर, देह, स्त्री, पुत्र, कुटुंब, दुकान, धंधा... सब इस ज्ञान में परज्ञेय हैं। तो ज्ञान वहाँ गये बिना और ज्ञेय यहाँ आये बिना, ज्ञेय समर्पण करते हैं। और ज्ञान जानता है। आया न ? ज्ञेयाकारों को ग्रहण करने से यानी

जानना और ज्ञेय समर्पण करने से (यानी) जो अपना स्वभाव है, इतना वहाँ (ज्ञान में) जानने में आता है। आहा..हा...! ऐसी बात सूक्ष्म पड़े। कभी सुनी न हो, इसलिये विरोध करे। विरोध करे ! उसकी दृष्टि में (बात) बैठी नहीं है न ! बापू! `जामे जितनी बुद्धि है, इतनो दियो बताय, वांको बूरो न मानीये, और कहाँ से लाय?' आहा..हा...! गाथा बहुत ऊँची है ! सबेरे भी बहुत ऊँची थी !

सबेरे जड़ की पर्याय और चैतन्य की पर्याय भिन्न (कही थी)। लेकिन वह भिन्न कौन सी (पर्याय) ? कि, ज्ञान की पर्याय भिन्न, ऐसे लेना है। राग तो पर के संबंध से हुआ है, उस राग की झाँई दिखती है। तो (जो) झाँई दिखती है (वह) राग अपना नहीं। उसका अनुभवज्ञान हुआ, यह अपना है। आ..हा..हा...!

श्रोता :- ज्ञान और राग के बीच भेदज्ञान कराना है ?

समाधान :- (राग अपना स्वभाव नहीं होने के कारण उसे ज्ञेय में डाल दिया)। ज्ञेय में गया।

श्रोता :- आपने कर्म और राग लिया था !

समाधान :- कर्म से राग हुआ नहीं, यह बताने को कर्म को जड़ (कहा) और राग भिन्न (है), ऐसा बताया। परंतु अपनी पर्याय में राग हुआ है वह निमित्त के आधीन होकर हुआ है। ऐसा अशुद्ध उपादान बताना है। अशुद्ध उपादान में जो राग हुआ, वह राग अपना नहीं। (परंतु) उसका अनुभव(ज्ञान) जो है, यह अपना है। परंतु जिसको राग और अनुभव ज्ञान का भेदज्ञान नहीं, वह `राग मैं हूँ', ऐसा मानता है। आहा..हा...!

श्रोता :- एक भी बात याद रहे ऐसी नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- धीरे-धीरे तो कहने में आता है, बापू ! (कोई तो) पहलीबार आया हो (और) कभी सुना न हो ! आ..हा..हा...! भगवान ! तुम भी आत्मा हो न, प्रभु ! आहा..हा...! चैतन्यस्वरूपी प्रभु तू है न ! आ..हा..हा...! दर्पण में अग्नि दिखती है, तो (क्या) वह अग्नि है ? अग्नि तो वहाँ (बाहर) है। यहाँ दर्पण में ऐसा-ऐसा होते दिखता है। अग्नि ऐसे-ऐसे होती है न (तो दर्पण में भी) ऐसे-ऐसे होता है। (तो क्या) वहाँ अग्नि है ? वह तो दर्पण की अवस्था है। न्याय से समझना पड़ेगा कि नहीं ? आहा..हा...!

ऐसे प्रभु, आत्मा ज्ञानस्वभाव (है) और जितना ज्ञेय है - लोकालोक, (वह) सब

ज्ञेयस्वभाव है। (इसलिये) यहाँ तो देव, गुरु और शास्त्र भी ज्ञानस्वभाव से (भिन्न) परज्ञेय स्वभाव (है), ऐसा कहा। `देव मेरे और गुरु मेरे', ऐसा यहाँ रहा नहीं। आहा...! (लोग) पागल कहे, ऐसा है ! सत्य बात कहे उसे पागल कहते हैं ! ऐसी बात है। (यह) `परमात्म प्रकाश' में लिखा है। बापू ! मार्ग ऐसा है, भाई !

(खुद) बोलते हैं और कहते हैं बोलते नहीं ! कौन बोले, प्रभु ! तुझे मालूम नहीं। आहा...! भाषा तो ज्ञेय हैं। आत्मा ज्ञान (होने से) (जो) ज्ञेय है, उसका ज्ञान करता है। भाषा का ज्ञान हुआ तो भाषा की पर्याय ज्ञान में गई नहीं और ज्ञान की पर्याय भाषा की पर्याय में गई नहीं। ये तो सीधी बात है, प्रभु ! आहा..हा...! कठिन बात है ! (किसी को लगे कि) मैंने (सच्चे देव-गुरु को) माना इसलिये अब मुझे धर्म हो गया, ऐसा नहीं। ऐसा यहाँ कहते हैं। देव, गुरु, धर्म भी परज्ञेय हैं।

श्रोता :- उनका कुछ अतिशय है या नहीं ?

समाधान :- बिलकुल नहीं। उनका अतिशय उनमें रहा। उसका तो यहाँ ज्ञान करते हैं, वह तो ज्ञेय हुआ। महाविदेह में भगवान त्रिलोक के नाथ सर्वज्ञदेव परमात्मा समवसरण में बिराजते हैं। वहाँ अनंतबार जन्म हुआ है। अनंतबार जन्म हुआ है ! अनादिकाल का (ऐसा) अनुभव किया (है)। भगवान के पास अनंतबार गया था। समवसरण में (जहाँ) इन्द्र सभा में बैठे थे, वहाँ गये थे। और हीरे के थाल कल्पवृक्ष के फूल, मणिरत्न के दीपक से `जय नारायण ! जय प्रभु ! (भी किया है)।' लेकिन उसमें क्या हुआ ? वह तो जड़ की क्रिया है। अंदर मंद राग है, वह शुभभाव है। उस शुभभाव का आत्मा जाननेवाला है (और) शुभभाव ज्ञेय है। ऐसी बातें हैं, प्रभु ! विशेष कहेंगे...

❋ ❋ ❋

अथार्थेष्ववृत्तस्यापि ज्ञानिनस्तद्वृत्तिसाधकं शक्तिवैचित्र्यमुद्योतयति -

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं।।२९।।

न प्रविष्टो नाविष्टो ज्ञानी ज्ञेयेषु रूपमिव चक्षुः।
जानाति पश्यति नियतमक्षातीतो जगदशेषम्।।२९।।

यथा हि चक्षू रूपिद्रव्याणि स्वप्रदेशैरसंस्पृशदप्रविष्टं परिच्छेद्यमाकरमात्मसात्कुर्वन्न चाप्रविष्टं जानाति पश्यति च, एवमात्माप्यक्षातीतत्वात्प्राप्यकारिताविचारगोचरदूरतामवाप्तो ज्ञेयतामापन्नानि समस्तवस्तूनि स्वप्रदेशैरसंस्पृशन्नप्रविष्टः शक्तिवैचित्र्यवशतो वस्तुवर्तिनः समस्तज्ञेयाकारानुन्मूल्य इव कवलयन्न चाप्रविष्टो जानाति पश्यति च। एवमस्य विचित्रशक्तियोगिनो ज्ञानिनोऽर्थेष्वप्रवेश इव प्रवेशोऽपि सिद्धिमवतरति।।२९।।

अथ ज्ञानी ज्ञेयपदार्थेषु निश्चयनयेनाप्रविष्टोऽपि व्यवहारेण प्रविष्ट इव प्रतिभातीति शक्तिवैचित्र्यं दर्शयति—**ण पविट्ठो निश्चयनयेन** न प्रविष्टः, **णाविट्ठो** व्यवहारेण च नाप्रविष्टः किंतु प्रविष्ट एव। स कः कर्ता। **णाणी** ज्ञानी। केषु मध्ये। **णेयेसु** ज्ञेयपदार्थेषु। किमिव। **रूवमिव** चक्खू रूपविषये चक्षुरिव। एवंभूतस्सन् किं करोति। **जाणदि पस्सदि** जानाति पश्यति च। **णियदं** निश्चितं संशयरहितं। किंविशिष्टः सन्। **अक्खातीदो** अक्षातीतः। किं जानाति पश्यति। **जगमसेसं** जगदशेषमिति। तथा हि—यथा लोचनं कतृ रूपिद्रव्याणि यद्यपि निश्चयेन न स्पृश्यति तथापि व्यवहारेण स्पृशतीति प्रतिभाति लोके। तथायमात्मा मिथ्यात्वरागाद्यास्रवाणा- मात्मनश्च संबन्धि यत्केवलज्ञानात्पूर्वं विशिष्टभेदज्ञानं तेनोत्पन्नं यत्केवलज्ञानदर्शनद्वयं तेन जगत्त्रयकालत्रय-वर्तिपदार्थान्निश्चयेनास्पृशन्नपि व्यवहारेण स्पृशति, तथा स्पृशन्निव ज्ञानेन जानाति दर्शनेन पश्यति च। कथंभूतस्सन्। अतीन्द्रियसुखास्वादपरिणतः सन्नक्षातीत इति। ततो ज्ञायते निश्चयेनाप्रवेश इव व्यवहारेण ज्ञेयपदार्थेषु प्रवेशोऽपि घटत इति।।२९।।

अब, आत्मा पदार्थोंमें प्रवृत्त नहीं होता तथापि जिससे (जिस शक्तिवैचित्र्यसे) उसका पदार्थोंमें प्रवृत्त होना सिद्ध होता है उस शक्तिवैचित्र्यको उद्योत करते हैं :-

गाथा २९

ज्ञेये प्रविष्ट न, अणप्रविष्ट न, जाणतो जग सर्वने।
नित्ये अतिन्द्रिय आतमा, ज्यम नेत्र जाणे रूपने।।२९।।

अन्वयार्थ :- [चक्षुः रूपं इव] जैसे चक्षु रूपको (ज्ञेयोंमें अप्रविष्ट रहकर तथा अप्रविष्ट न रहकर जानती-देखती है) उसीप्रकार **[ज्ञानी]** आत्मा **[अक्षातीतः]** इन्द्रियातीत होता हुआ **[अशेषं जगत्]** अशेष जगतको (-समस्त लोकालोकको) **[ज्ञेयेषु]** ज्ञेयोंमें **[न प्रविष्टः]** अप्रविष्ट रहकर **[न अविष्टः]** तथा अप्रविष्ट न रहकर **[नियतं]** निरन्तर **[जानाति पश्यति]** जानता-देखता है।

टीका :- जिसप्रकार चक्षु रूपी द्रव्योंको स्वप्रदेशोंके द्वारा अस्पर्श करता हुआ अप्रविष्ट रहकर (जानता-देखता है) तथा ज्ञेय आकारोंके आत्मसात् (निजरूप) करता हुआ अप्रविष्ट न रहकर जानता-देखता है; उसीप्रकार आत्मा भी, इन्द्रियातीतताके कारण प्राप्यकारिताकी विचारगोचरतासे दूर होता हुआ ज्ञेयभूत समस्त वस्तुओंको स्वप्रदेशोंसे अस्पर्श करता है, इसलिये अप्रविष्ट रहकर (जानता-देखता है) तथा शक्तिवैचित्यके कारण वस्तुमें वर्तते समस्त ज्ञेयाकारोंको मानो मूलमेंसे उखाड़कर ग्रास कर लेनेसे अप्रविष्ट न रहकर जानता-देखता है। इसप्रकार इस विचित्र शक्तिवाले आत्माके पदार्थोंमें अप्रवेशकी भाँति प्रवेश भी सिद्ध होता है।

भावार्थ :- यद्यपि आँख अपने प्रदेशोंसे रूपी पदार्थोंको स्पर्श नहीं करती इसलिये वह निश्चयसे ज्ञेयोंमें अप्रविष्ट है तथापि वह रूपी पदार्थोंको जानती-देखती है, इस लिये व्यवहारसे यह कहा जाता है कि 'मेरी आँख बहुतसे पदार्थोंमें जा पहुँचती है।' इसीप्रकार यद्यपि केवलज्ञानप्राप्त आत्मा अपने प्रदेशोंके द्वारा ज्ञेय पदार्थोंको स्पर्श नहीं करता इसलिये वह निश्चयसे तो ज्ञेयोंमें अप्रविष्ट है तथापि ज्ञायक-दर्शक शक्तिकी किसी परम अद्‌भुत विचित्रताके कारण (निश्चयसे दूर रहकर भी) वह समस्त ज्ञेयाकारोंको जानता-देखता है, इसलिये व्यवहारसे यह कहा जाता है कि 'आत्मा सर्वद्रव्य-पर्यायोंमें प्रविष्ट हो जाता है।' इसप्रकार व्यवहारसे ज्ञेय पदार्थोंमें आत्माका प्रवेश सिद्ध होता है।।२९।।

(**दिनांक ३१-१-१९७९ - प्रवचन नंबर-२५**)

प्रवचनसार, २९ गाथा। (कहते हैं) **'अब, आत्मा पदार्थों में प्रवृत्त नहीं होता,...'** यहाँ तो (यह) बात चलती है कि, यह ज्ञानस्वरूप भगवानआत्मा ! जब केवलज्ञान प्राप्त करता है, तो केवलज्ञान में लोकालोक जानने में आता है। फिर भी, आत्मा (पर)पदार्थ में प्रवृत्त (नहीं होता)। (यानी) परपदार्थ में जाता नहीं। सूक्ष्म बात है। **'...तथापि**

जिससे (जिस शक्तिवैचित्र्य से),...' (अर्थात्) ज्ञान में सब चीज जानने में आयी, उस अपेक्षा से ऐसा भी कहने में आता है कि, ज्ञेय अंदर (ज्ञान में) आ गया ! परंतु ज्ञेय का ज्ञान (हुआ) न ! तो ज्ञेय (का) अंदर प्रवेश हुआ, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। विशेष (बात) बाद में लेंगे।

`ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं अक्खातीदो जगमसेसं।।२९।।'

हरिगीत :

`ज्ञेये प्रविष्ट न, अणप्रविष्ट न, जाणतो जग सर्वने।
नित्ये अतीन्द्रिय आतमा, ज्यम नेत्र जाणे रूपने।।२९।।'

आहा..हा...! कहने का हेतु क्या है, (वह) बाद में कहेंगे।

टीका :- `जिसप्रकार चक्षु रूपी द्रव्यों को,...**' (यानी) जो आँख है वह रूपी पदार्थों को, **`...स्वप्रदेशों के द्वारा,...' (यानी) आँख के ये प्रदेश वहाँ गये बिना, **`...अस्पर्श करता हुआ,...**' जैसे आँख अग्नि को जानती है परंतु आँख के प्रदेश अग्नि को स्पर्श नहीं करते, (इसप्रकार) **`...अप्रविष्ट रहकर,...**' (यानी) अंदर में प्रवेश (किये) बिना, **`...(जानता - देखता है) तथा ज्ञेय आकारों को आत्मसात् (निजरूप) करता हुआ अप्रविष्ट न रहकर,...**' अभी तो चक्षु की बात है। चक्षु जो है, वह रूपी पदार्थ को, अपने चक्षु के प्रदेश (रूपी पदार्थ में) प्रवेश नहीं करके, जानते हैं, फिर भी, **`...ज्ञेय आकारों को आत्मसात् (निजरूप) करता हुआ अप्रविष्ट न रहकर,...**' जैसे कि प्रवेश हो गया (ऐसा लगता है)। क्योंकि जो रूपी (पदार्थ का) ज्ञान हुआ ज्ञान, तो रूपी (पदार्थ में) प्रवेश हुआ, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। आहा...! बाद में आत्मा में उतारेंगे, हाँ !

`उसी प्रकार आत्मा भी,...**' आत्मा भी **`...इन्द्रियातीतता के कारण प्राप्यकारिता की विचारगोचरता से दूर होता हुआ,...' (अर्थात्) जो प्राप्य (यानी) जो (चीज) जानने में आती है, उस चीज से तो आत्मा ज्ञान में दूर रहता है। आहा..हा...! निश्चय से तो ज्ञानस्वरूप भगवानआत्मा (का) (जिसे ज्ञान हुआ है, ऐसी) साधक (अवस्था में) दया, दान, व्रत, भक्ति आदि का राग आता है। (लेकिन) राग में प्रवेश किये बिना, ज्ञान राग को जानता है। साधक (अवस्था में) राग-व्यवहार आया, तो राग में प्रवेश किये

बिना, ज्ञान अपने में रहकर राग को जानता है, आहा...! और उस राग का ज्ञान हुआ तो उस अपेक्षा से मानो राग का आकार ज्ञान में आ गया ! ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। ऐसी बातें (हैं) !

आहा..हा...! क्या कहते हैं ? भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर का ज्ञान तो इन्द्रियातीत हो गया। एक समय में तीनकाल तीनलोक जानते हैं। ऐसे जानते हुये भी, अपने ज्ञान का प्रदेश जो प्रदेश-क्षेत्र है, वह जानने की चीज में जाते नहीं। जैसे चक्षु है, वह जानने की चीज अग्नि है, (उसको) जाने। परंतु चक्षु का भाग-प्रदेश अग्नि में जाता नहीं।

तीसरी बात - जो (जीव) साधक - धर्मी हुआ, उसको स्वपरप्रकाशक ज्ञान - भेदज्ञान प्रगट हुआ। (अर्थात्) दया, दान, भक्ति का जो राग है, उससे भेदज्ञान हुआ कि, मैं उससे भिन्न हूँ। ऐसे भिन्न होने से ज्ञान राग को जानता है। (लेकिन) राग को (अपने में) एकमेक नहीं करता। साधक - धर्मीजीव, राग के साथ ज्ञानस्वरूप भगवान(आत्मा को) एक नहीं करते हें। जानते हैं पूरा। जानते होनेपर भी ज्ञान का जो भाग-क्षेत्र है, वह राग के भाग में जाता नहीं। ऐसी बातें हैं ! और राग जो दया, दान, भक्ति का आया, उसमें प्रवेश किये बिना जानते हैं। और एक अपेक्षा से जो राग आया, उस आकार से उसका ज्ञान हुआ न, तो राग (ने) अंदर (ज्ञान में) प्रवेश किया (ऐसा कहने में आता है)। उसका (राग का) ज्ञान हुआ तो ज्ञेयाकार ज्ञान तो राग (ने) प्रवेश किया, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। भारी बातें, भाई! ऐसी वीतराग की बातें कहीं (सुनने नहीं मिले)।

श्रोता :- समझ में आये ऐसी बात है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- समझ में आये ऐसी बात है ? न्याय से (बात) होती है न! प्रभु ! आहा..हा...!

यहाँ धर्मीजीव को भी... धर्मी इसको कहते हैं कि, जिसको आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, ऐसा राग से भिन्न होकर ज्ञान - भेदविज्ञान हुआ है, भेदविज्ञान होने से जिसको राग से भेद हुआ। (इसलिये) राग से भिन्न होकर भी, अपने ज्ञान में अपना ज्ञान करते हैं और राग का भी ज्ञान होता है। और उस राग का ज्ञान होनेपर भी, ज्ञान राग को स्पर्श करता नहीं। यह निश्चय (से कहा)। परंतु एक अपेक्षा से राग का

ज्ञान हुआ तो जैसा, जिस प्रकार का राग था, ऐसा यहाँ ज्ञान हुआ। इस अपेक्षा से राग मानो अंदर घुस गया हो, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। आ..हा..हा...! भारी बात, भाई !

श्रोता :- लेकिन ये सब समझने का क्या काम है ?

समाधान :- यही तो धर्म है। इसलिये तो बात चलती है। आत्मा ज्ञानस्वभावी वस्तु है। यह ज्ञानस्वभावी वस्तु, राग आता है उसको जाने। यह प्रयोजन है। परंतु राग अपना माने, वह तो मिथ्यादृष्टि जीव है। और उस राग से मुझे लाभ होगा, देव, गुरु, शास्त्र की बहुत भक्ति करूँ तो उससे कल्याण (मानना), वह तो मिथ्यादृष्टि ऐसा मानता है।

वीतराग ने केवलज्ञान प्रगट किया। आहा..हा...! परंतु शरीर सहित है, इस कारण से उनको 'अरिहंत' कहने में आता है। और शरीर रहित हो जाते हैं, तब 'णमो सिद्धाणं' कहते हैं। भगवान सिद्ध हो गये, ऐसा कहते हैं। परंतु ये सिद्ध को और केवली अरिहंत को जो ज्ञान-केवलज्ञान हुआ, वह ज्ञान लोकालोक सब ज्ञेयों को जानता है। परंतु सब ज्ञेयों को जानते हुए भी, जानने की पर्याय, जानने लायक ज्ञेय में प्रवेश नहीं करती। आहा...! इस अपेक्षा से तो निश्चय है। परंतु एक (दूसरी) अपेक्षा से (ऐसा भी है), जैसे हम नहीं कहते ? 'मेरी आँख बहुत से पदार्थ तक पहुँचती है। मेरी आँख बहुत (जगह) पहुँचती है !' ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। आँख कहाँ पहुँचती है ? मेरी आँख सब में फिरती है, ऐसा कहते हैं न ? मेरी आँख सब में फिर गई, सब जानती है। वह पर में फिरती नहीं, परंतु व्यवहार से ऐसा कहने में आता है। आ..हा..हा...! ऐसी बात...! ऐसे केवलज्ञानी परमात्मा, जिनेश्वरदेव अरिहंत, (उनको) जो केवलज्ञान हुआ, उस ज्ञान की एक समय की दशा में, तीनकाल तीनलोक का ज्ञान होता है, फिर भी वह ज्ञान पर्याय तीनलोक के ज्ञेय में प्रवेश नहीं करती। इस कारण से ज्ञेय अप्रविष्ट है, ऐसा कहने में आता है। परंतु लोकालोक को जानते हैं, जैसा लोकालोक है ऐसा यहाँ ज्ञान हुआ, इस अपेक्षा से, लोकालोक का ज्ञान हुआ तो लोकालोक मानो अंदर आ गया ! ऐसा व्यवहार से कहने में आता है।

आहा...! यह कहने का प्रयोजन क्या ? जिसको धर्म होता है, ऐसे धर्मी को,

दया, दान, व्रत, भक्ति का राग वह पुण्य - विकार है, मेरी चीज उससे भिन्न है। ऐसा भेदज्ञान होता है, आहा..हा...!

भेदज्ञान अर्थात् **'भेदविज्ञानत: सिद्धा: सिद्धा: ये किल केचन'** (अर्थात्) जो कोई अभी तक सिद्ध परमात्मा हुये हैं, वे भेदविज्ञान से हुये हैं। भेदज्ञान का अर्थ - शरीर, वाणी, मन से तो मैं भिन्न हूँ - परंतु अंदर शुभ और अशुभ राग होता है, उससे भी मैं भिन्न हूं। मैं राग का करनेवाला नहीं। ये सबेरे आया था। आहा..हा...! मैं तो ज्ञानस्वरुप हूँ। राग आया उसको मैं मेरा माननेवाला नहीं। मैं तो, राग का ज्ञान हुआ, यह ज्ञान मेरा है। आहा...! और रागरूप अज्ञानपने परिणमे, तो वह तो अज्ञानी मानता है कि, मैं रागरूप हुआ। यह तो उसकी मिथ्यात्व की मान्यता है। आहा..हा...! आत्मा तो ज्ञानरूप होता है। जानन-देखन स्वपरप्रकाशक ज्ञानरूप होता है। ऐसा न मानकर, रागरूप मैं हुआ (ऐसा अज्ञानी मानता है) आहा..हा...!

श्रोता :- मिथ्यादृष्टि सब आत्मा ऐसा मानते हैं ?

समाधान :- मिथ्यादृष्टि सब आत्मा ऐसा ही मानते हैं। यह बात तो यहाँ चलती है। आहा...! दुनिया का बड़ा भाग (ऐसा ही मानते हैं)। अभी यह बात बाहर आयी तो थोड़ी-थोड़ी (चलती है)। बाक़ी तो सब वही मानते थे। व्रत, भक्ति और उपवास से (कल्याण होगा) ! वह तो विकल्प - राग है। उसे ही धर्म मानते हैं। और भक्तिवाले यह माने कि, गुरु की और देव की भक्ति करें तो कल्याण (होगा)। वह भी मिथ्यादृष्टि है। भक्ति है वह तो राग है।

यहाँ कहते हैं। भगवान की दिव्यध्वनि जो निकली (उसका सार) यह 'प्रवचनसार' (है) ! महाविदेह में तीनलोक के नाथ बिराजते हैं। पाँच सौ धनुष का देह है। एक क्रोड़ पूर्व का आयुष्य है। क्रोड़ पूर्व किसे कहते हैं, मालूम है ? क्या मालूम है! एक क्रोड़ पूर्व (अर्थात्) एक पूर्व में छप्पन लाख क्रोड़ और छप्पन हजार वर्ष जाते हैं ! ऐसा एक पूर्व (है)। ऐसे-ऐसे क्रोड़ पूर्व का, प्रभु का आयुष्य है। श्वेतांबर में चौरासी लाख पूर्व कहते हैं। दिगंबर में एक क्रोड़ कहते हैं। समझ में आया ? सब में फर्क है। 'ऋषभदेव भगवान' का आयुष्य चौरासी लाख पूर्व का था। परंतु ('सीमंधरप्रभु' का) आयुष्य तो क्रोड़ पूर्व का है, ओहो... बीसवें तीर्थंकर 'मुनिसुव्रत भगवान' (यहाँ भरतक्षेत्र में) थे तब से प्रभु वहाँ है। (अब) अगली चौबीसी के तेरहवें तीर्थंकर

(यहाँ भरतक्षेत्र में) होगें तब मोक्ष पधारेंगे। अरिहंतपद में हैं न ! (इसलिये) चार (घाती) कर्म का नाश किया है और चार (अधाती) कर्म बाक़ी (है)। लेकिन इसकी भी कहाँ ख़बर है !

श्रोता :- कहीं बात ही नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- बात ही नहीं थी, बापू ! सब मालूम है, न ! भाई ! आहा..हा...!

श्रोता :- श्वेतांबर शास्त्र में बीस तीर्थंकर के नाम आते हैं ?

समाधान :- एक ही नाम आता है - `युगमंधर' ! हमने तो सब देखा है। पीछे से बीस नाम लगाये हैं। परंतु मूल सूत्र में - ३२ सूत्र में - मूल पाठ में नहीं है। क्योंकि कल्पित बनाया है तो वह बात रह गई है ! ऐसी सूक्ष्म बात है, बापू! बहुत कठिन काम है, आहा..हा...! वे लोग नाम लेते हैं, परंतु ३२ सूत्र में मूल पाठ में नहीं है। मूल पाठ में एक `युगमंधर' नाम है। `युगमंधर को आहार दिया और संसार परित किया', ऐसा सब है। सब सूत्र सत्रह बार पढ़े हैं, आहा...! अरे..रे...! भाई ! क्या हो सकता है ? सच्ची वस्तु कहाँ रही !? आहा...!

यहाँ कहते हैं कि, भगवान को (केवलज्ञान) होता है। (उससे) तीनकाल, तीनलोक - जगतत्रय, कालत्रय (यानी) तीन जगत - ऊर्ध्व, मध्य और अधो(लोक), तीनकाल - भूत, भविष्य और वर्तमान, सबका एक समय में ज्ञान होता है। ऐसा होनेपर भी, अपना ज्ञान का क्षेत्र छोड़कर, ज्ञेय के क्षेत्र में जाते नहीं। जैसे चक्षु अग्नि को जानते हैं परंतु चक्षु के प्रदेश अग्नि में जाते नहीं। निश्चय से तो ऐसा है। परंतु जैसे व्यवहार से कहने में आता है कि, `मेरी आँख सब जगह फिर गई !' (लेकिन) सब जगह फिरती नहीं। (आँख) तो यहाँ है। ऐसे केवलज्ञान में सब लोकालोक जानने में आया, तो लोकालोक मानो अंदर आ गया, उसका ज्ञान (हुआ) तो (लोकालोक) आ गया, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है।

आँख (के दृष्टांत से केवलज्ञान की बात कही) अब धर्मी (की बात करते हैं)। जिसको (धर्मी को) धर्म प्रगट हुआ है, (अर्थात्) राग की क्रिया से मेरी चीज भिन्न है, मैं तो शुद्ध आनंदकंद ज्ञानानंद हूँ। अतीन्द्रिय आनंदमूर्ति मेरी चीज है। अतीन्द्रियज्ञान के स्वरूप से मैं भरा पड़ा हूँ, मैं अतीन्द्रिय ईश्वर शक्ति से भरा पड़ा हूँ, ऐसा जिसको सम्यग्दर्शन हुआ (वह धर्मी है)। (अभी तो) सम्यग्दर्शन (की बात है) ! श्रावक तो बहुत

बाद की बात है। अभी के श्रावक तो श्रावक हैं ही नहीं। समझ में आया ? (ऐसा) सम्यग्दर्शन हुआ, उसमें राग से - दया, दान, भक्ति के राग से मैं भिन्न हूँ, ऐसा भान हुआ। इस भान में राग को जानते हैं। `व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान (है)' - (`समयसार') बारहवीं गाथा में आता है न ! (धर्मी का) ज्ञान, राग आया उसको जाने, परंतु ज्ञान, राग में प्रवेश नहीं करता। अपने क्षेत्र में रहकर (जानता है)। ज्ञान, राग के प्रदेश में जाता नहीं। आ..हा..हा...! फिर भी व्यवहार से ऐसा कहने में आता है तो (भी राग) जैसे यहाँ आ गया है, ऐसा व्यवहार से - उपचार से - असद्भूत (व्यवहारनय से) कहने में आता है। अरे...! अरे...! ऐसी (बातें हैं) ! आहा..हा...!

परसो नहीं आया था ? सूक्ष्म था न ? उस दिन बहुत सूक्ष्म व्याख्यान आ गया था। बहुत सूक्ष्म ! मैंने `श्रीमद्' का एक पत्र रखा था। `श्रीमद् राजचंद्र' में (२०८ नंबर का पत्र है)। अनंत नय हैं, उसमें (कहा) है। और हम तो बहुत वर्षों से कहते हैं। परंतु ये तो उसमें से (पढ़ा था)। अनंत नय (हैं)। (इसलिये) ज्ञान के अनंत प्रकार हैं। प्रत्येक और प्रत्येक परमाणु में अनंतगुण और अनंतधर्म हैं। (ये सब) क्या (होगा)? (तो कहते हैं) गुण इसको कहते हैं कि, ज्ञान, दर्शन, आनंद इसे गुण कहते हैं। और धर्म इसको कहते हैं कि, नित्य-अनित्य, एक-अनेक उसे धर्म कहते हैं। ऐसे अनंतगुण और अनंत धर्म हैं। उन एक-एक गुण और एक-एक धर्म में अनंत नय परिणमती है। उस दिन बहुत सूक्ष्म व्याख्या आ गई। बहुत सूक्ष्म था। समझ में आया?

यहाँ है कि नहीं ? `श्रीमद् राजचंद्र' में (२०८ नंबर का पत्र) - `अनंत नय हैं;' `अनंत नय' कभी सुना भी नहीं होगा ! ज्ञान अवयवी है और ज्ञान का भेद नय है (वह) अवयव है। जैसे यह शरीर पूरा अवयवी है और आँख, पैर, अँगुली ये (सब) अवयव हैं। ऐसे आत्मा की ज्ञानपर्याय है। (यह) प्रमाणज्ञान अवयवी है और इस ज्ञान का प्रकार - नय के भेद हैं, वह अवयव है। यह कभी सुना नहीं है! थोड़े समझदार होते ही धंधे में लग गये ! आहा..हा...!

क्या कहा ? `अनंत नय हैं;...' अनंत नय यानी ? यह ज्ञान की पर्याय जो है, सम्यक्ज्ञान की - श्रुतज्ञान की पर्याय है, यह प्रमाणज्ञान है। प्रमाण नाम पूरा - पूर्ण ज्ञान है। उस ज्ञान में भेद पड़ते हैं। सूक्ष्म बात (है), बापू ! उस दिन एक

घँटा चला था। `**अनंत नय हैं; एक एक पदार्थ अनंत गुण से,...**' एक एक आत्मा और एक एक परमाणु, जो भगवान ने देखे (वे सब), `**...अनंत गुण से और अनंत धर्म से युक्त है;...**' यहाँ तो प्रभु ! सब अंदर में भगवान है ! अंदर उसकी शक्ति भगवान की है ! आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, अनंत नय हैं, नय का अर्थ प्रमाणज्ञान का भेद। यहाँ श्रुतज्ञान का भेद (कहना है), हाँ ! केवली को नय नहीं होती है। आहा..हा...! सम्यग्दृष्टि की जो ज्ञान की पर्याय है न ! इस पर्याय को श्रुतप्रमाण कहते हैं। और इस श्रुतप्रमाण में भेद पड़ते हैं। ये भेद अनंत हैं। अरे...रे...! कहाँ सुना है ! और एक एक पदार्थ अनंत गुण से और अनंत धर्म से (युक्त है)। गुण यानी ज्ञान, दर्शन, आनंद - इसे गुण कहने में आता है। ऐसे अनंत गुण आत्मा में हैं। और नित्य-अनित्य, एक-अनेक ऐसे अपेक्षा से कहना, उसका नाम धर्म है। यह धर्म (यानी) सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र(रूप धर्म की) बात यहाँ नहीं। आत्मा एकरूप है, अनेकरूप है, नित्य है - ये कोई गुण नहीं है। ये अपेक्षित धर्म हैं। ऐसे अपेक्षित धर्म के भाव भी अनंत हैं। (ऐसे) एक एक गुण और एक एक धर्म प्रति अनंत नय परिणमित होते हैं।

चौबीस वर्ष की उम्र में कहते हैं ! इतना तो क्षयोपशम लेकर आये हैं ! `श्रीमद्' का क्षयोपशम-बहुत क्षयोपशम !! उस समय में उनके जैसे क्षयोपशम किसी का नहीं था। ऐसा मानते हैं। दूसरे किसी का लौकिक (क्षयोपशम) होगा...

(यहाँ कहते हैं) एक एक गुण और एक एक धर्म (जो कहा) उसमें एक एक गुण में अनंत नय (होती हैं) ! समझ में आया ? क्यों (अनंत नय होती है) ? (क्योंकि) `एक एक गुण है, वह अपने से है और दूसरे गुण से नहीं। (ऐसे) अनंत गुण से नहीं। एक गुण से है और अनंत से नहीं (है), ऐसी अनंत नय हो जाती है। सूक्ष्म बात है, बापू ! सम्यग्दर्शन चीज ही कोई ऐसी चीज है !

एक एक गुण है - जैसे कि ज्ञान। आत्मा में ज्ञानगुण है (ऐसे) दूसरा अस्तित्व - सत्तागुण है। यह सत्तागुण (जो) है, वह ज्ञान में आ नहीं जाता। परंतु ज्ञानगुण में `है' ऐसा अस्तित्व का रूप है। ऐसे एक गुण में अनंत गुण का रूप है। आ..हा..हा...! कठिन पड़े ! (ऐसे) अनंतगुण का रूप है तो एक गुण में अनंत नय व्यापती हैं। आ..हा..हा...! सूक्ष्म बात है, भाई !

वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है ! आहा...! सूक्ष्म बात है, भाई ! लोगों ने लौकिक (जैसा बना दिया है)। व्रत करो, उपवास करो, या कहेंगे भक्ति करो। (यहाँ) भगवान कहते हैं, मेरी भक्ति करने से तुझे राग होगा, ले ! (और) यह राग तेरा स्वभाव नहीं है। राग से तुझे कल्याण होगा (ऐसा) तीनकाल में नहीं, आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, एक एक गुण और धर्म में अनंत नय परिणमित होती है। आहा..हा...! **`इसलिये इस रास्ते से पदार्थ का निर्णय करना चाहे तो नहीं हो सकता।** इतनी बात नहीं लेते हैं। समझ में आया ? आहा..हा...!

श्रोता :- अनंत गुणों को जानने के लिये अनंताअनंत नय !

पूज्य गुरुदेवश्री :- अनंताअनंत नय हैं। क्यों ? जैसे यह अँगुली है। (यह) अँगुली अँगुलीपने है और यह (दूसरी) अँगुली, यह (तीसरी) अँगुलीपने, (चौथी) अँगुलीपने, (पाँचवीं) अँगुलीपने, (दायें) हाथपने, (बायें) हाथपने नहीं है। ऐसे एक (गुण) अपने से है और अनंत गुणपने से नहीं है। (इसप्रकार) अनंत नय अंदर हो गये। ऐसी बात कहाँ है? बापू ! `प्रभुनो मारग छे शूरानो, कायरनां त्यां काम नहीं,' बापू ! अनंत नय (हैं)। एक एक गुण में अनंत नय - ऐसे अनंत गुण (हैं) ! एक एक धर्म में अनंत नय - ऐसे अनंत धर्म (हैं) ! आ..हा..हा...!

`परमात्मप्रकाश' में तो ऐसा कहा (है) कि, आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनंद (आदि) विशेष गुण हैं। अपने में ज्ञान, दर्शन, आनंद (आदि) विशेष गुण अनंत हैं। और अस्तित्व, वस्तुत्व (आदि) सामान्यगुण अपने में भी है (और) पर में भी है। ऐसा अस्तित्वगुण अपने में भी है और पर में भी है, (तो) ऐसे अस्तित्व आदि गुण अनंत हैं। आहा..हा...! ऐसी बात (है) ! अंदर भगवान (आत्मा) बड़ा खजाना है !

श्रोता :- सब अनंत की बात ही आती है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- अनंत (रूप) स्वयं (है). आ..हा..हा...! एक तत्त्व अनंत (तत्त्व के) बीच में रहता है। फिर भी अनंतपना का उसमें अभाव है। अनंतपने होता नहीं। (यानी) परपने होता नहीं। आहा..हा...! लहसुन, प्याज (आदि के) एक राई जितने छोटे टुकड़े में असंख्य तो शरीर है। भगवान परमात्मा ऐसा कहते हैं कि, असंख्य औदारिक शरीर हैं। एक शरीर में अनंत जीव हैं। (अब) एक जीव, (दूसरे) अनंत जीव है उससे नहीं। एक जीव अपने से है परंतु अनंत जीव से नहीं है। अनंत जीव से (भी) नहीं

है और (वह प्रत्येक अनंत जीव के पास) तैजस और कार्मण - दो (शरीर) है। उस एक-एक तैजस और कार्मण में अनंत स्कंध है और एक एक स्कंध में अनंत परमाणु हैं। इन अनंत परमाणु और अनंत स्कंधपने एक जीव नहीं है। ऐसे पर के अभावरूप नास्ति धर्म अनंत हैं !! अरे...रे...! ये किसने सुना (होगा)! समझ में आया ? आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, इन सबका ज्ञान होता है। ज्ञान की पर्याय (सबको जानती है)। केवली की भी ज्ञानपर्याय सबको जानती है और चौथे (गुणस्थानवर्ती) श्रुतज्ञानी - समकिती - धर्मी जो हैं, वे भी राग आदि सबको जानते हैं। समझ में आया? (सबको) जानने पर भी - अपनी ज्ञान की दशा राग (को जाने), शरीर को जाने, वाणी को जाने, फिर भी शरीर, वाणी में प्रवेश नहीं करती। ऐसी तो सरल भाषा है, प्रभु ! अरे...! मजदूरी से कहाँ फुरसद मिलती है ? ये (सब) मजदूरी (है), हाँ! सब बड़े मजदूर (हैं) !! ऐसा होगा ? लाखों (रुपये) पैदा करते हैं, फिर भी मजदूर?

श्रोता :- आपके पास तो कबूल करना ही पड़े !

पूज्य गुरुदेवश्री :- बड़े मजदूर हैं ! राग का कर्ता (होता है, वह बड़ा मजदूर है) ! आहा..हा...! बराबर है ?

श्रोता :- आँख और दर्पण का दृष्टांत बहुत बढ़िया है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- बहुत बढ़िया ! दृष्टांत देकर कहा है। आँख अग्नि को जाने, सर्प को जाने, बिच्छू को जाने, फिर भी आँख वहाँ जानने की चीज में जाती है? और जानने की चीज, बराबर जैसी है वैसी जानने में (अपने में ही) रहती है, इस अपेक्षा से पर का प्रवेश नहीं (है)। फिर भी पर का प्रवेश (हुआ ऐसा) व्यवहार से कहने में आता है। आ..हा..हा...! ऐसी बातें...!

ऐसे केवलज्ञानी परमात्मा (और) एक एक परमात्मा (सबको जानते हैं)। अरिहंत तो बीस बिराजते हैं और केवली लाखों बिराजते हैं। महाविदेह में बीस विहरमान तीर्थंकर हैं। सामायिक में आज्ञा माँगते हैं न !? उसको कहाँ ख़बर है ? कौन (है)? कौन-से तीर्थंकर (हैं) ? कौन कौन-सी भूमिका में (विचरते हैं) ? ('सीमंधर') भगवान बिराजते हैं, ऐसे बीस तीर्थंकर हैं। और एक तीर्थंकर के पास दूसरे लाखों केवली हैं ! आ..हा..हा...! ये सब केवली, अरिहंत और अनंत सिद्ध - उनकी ज्ञान की एक पर्याय में - एक एक समय की पर्याय में लोकालोक जानते हैं। चक्षु जैसे अग्नि

को जानते हैं, ऐसे केवलज्ञान की पर्याय तीनकाल को जाने। फिर भी चक्षु जैसे अग्नि में जाते नहीं, वैसे केवलज्ञान की पर्याय पर में जाती नहीं - एक बात। फिर भी, `मेरे चक्षु फिरते हैं। ऐसे सब जगह घूमते हैं !' ऐसा कहने में आता है। ऐसे ज्ञान की पर्याय सबको जानती है - यहाँ पर का ज्ञान हुआ, तो इस अपेक्षा से पर, यहाँ अंदर में आ गया, ऐसे व्यवहार से कहने में आता है। आ..हा..हा...! ऐसी बातें...!

पर्वत पर चढ़ते हैं न, पर्वत पर ! तो आँख तो इतनी (छोटी) - एक-डेढ़ इंच है, और दिखता तो बहुत है ! पर्वत पर चढ़ते हैं तो (ऊपर से) पच्चीस-पच्चीस कौस (दूर तक) दिखता है। `जुनागढ' में (`गिरनार' पर) चढ़ते थे, तब `जेतपुर' कहाँ है ? ये सब देखते थे। इतनी (आँख में) देखने की चीज इतनी !! ज्ञान सबको जानता है। ऊपर गये थे न ! तब यह विचार (आया था)। विचार तो प्रत्येक क्षण चलते हैं न ! डोली में बैठकर `गिरनार' (पर्वत पर गये थे)। ज्ञान को सब दिखता है - `जेतपुर' कहाँ ? दूर से सब दिखता है। आँख इतने में रहकर (देखती है)। ज्ञान की पर्याय वहाँ है; वैसे तो पूरे शरीरप्रमाण (ज्ञान की पर्याय है) परंतु यहाँ से (आँख से) देखती है। कितनी दूर... तक दिखता है ! तो मानो आँख वहाँ - दिखता है वहाँ गई है, ऐसा कहने में आता है। और वह चीज मानो यहाँ आ गई ! ऐसा व्यवहार (से कहते) हैं। यथार्थ में तो यह ज्ञान की पर्याय ज्ञान में रही है - पर में गई नहीं। और पर (वस्तु) अंदर में आयी नहीं। आ..हा..हा...! ऐसा वस्तु का स्वरूप है, उसकी ख़बर नहीं और धर्म हो जाये... (ऐसा नहीं हो सकता)। मर गया अनंतकाल से...! आहा..हा...!

(यहाँ कहते हैं) **`...आत्मा भी, इन्द्रियातीतता के कारण प्राप्यकारिता की विचारगोचरता से दूर होता हुआ,...'** यानी ? ज्ञान की पर्याय पर को प्राप्त करती है, (ऐसा नहीं) इससे दूर है। है ? **`...ज्ञेयभूत समस्त वस्तुओं को स्वप्रदेशों से अस्पर्श करता है,...'** (अर्थात्) अपने प्रदेशों में पर को जानते हैं, परंतु (पर को) अस्पर्श करता है, **`...इसलिये अप्रविष्ट रहकर,...'** (अर्थात्) पर में प्रवेश किये बिना, **`...जानता-देखता है।'** आ..हा..हा...! यह भगवान की वाणी है ! ऐसी (बात) कहाँ है !

`तथा,...' ऐसा होनेपर भी, आँख अग्नि को देखती है, तो आँख अग्नि में गये बिना, पर में प्रवेश किये बिना जानती है। फिर भी, अग्नि का यहाँ ज्ञान हुआ -

अग्नि संबंधी का यहाँ ज्ञान हुआ, तो जैसे अग्नि यहाँ आ गई, ऐसा व्यवहारनय से कहने में आता है। ऐसे भगवानआत्मा - केवली परमात्मा ज्ञान की पर्याय में लोकालोक को जानते हैं। फिर भी, पर में प्रवेश किये बिना (जानते हैं)। फिर भी, व्यवहारनय से ऐसा कहने में आता है (कि) - जैसा लोकालोक है - तीनकाल, तीनलोक (है), ऐसा यहाँ ज्ञान हुआ तो मानो उसका (ज्ञान) हुआ, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। अथवा (लोकालोक) अंदर में प्रवेश किया, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। अथवा ज्ञान की पर्याय ने वहाँ (लोकालोक में) प्रवेश किया, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। आहा..हा...! ये निश्चय और व्यवहार की बड़ी तकरार (चलती है)। आहा..हा...!

`**तथा शक्तिवैचित्र्य के कारण,...**' है ? संस्कृत में मूल पाठ में है, हाँ ! `(**शक्तिवैचित्र्यवशतो**) ! शक्तिविचित्रता।' आ..हा..हा...! दर्पण बड़ा हो तो नीम का पेड़ उसमें दिखे। तो (क्या) उसमें नीम का पेंड़ आया है ? वह तो दर्पण की अवस्था है।

श्रोता :- ज्ञान में नरक दिखे तो नरक थोड़ी यहाँ आ जाती है !?

पूज्य गुरुदेवश्री :- नरक दिखे, दुःखी प्राणी देखे, यहाँ कटता है - ऐसे-वैसे (सब दिखता है)। आहा..हा...! इससे क्या ज्ञान वहाँ गया है ? और वह चीज यहाँ आ गई है ?

गाय को मारते हैं, उसे क्या कहते हैं ? `कसाई...!' कसाईखाने में ! तुम्हारी भाषा भूल जाते हैं ! `अमेरिका' में बड़ा कसाईखाना - कारखाना किया है। डेढ़ मील में कारखाना (चलता है)। कसाई अरबोंपति है। सैंकड़ो गाय को ऐसे रखते हैं। (उसका) मुँह गमाण में (गाय को चारापानी देने के लिये टेढ़ी लकड़ी रखकर बनाई गई जगह) रखे। और ऊपर से एकसाथ सौ-दोसौ (गाय के) ऊपर हथियार गिरे !

श्रोता :- उन्हें दुःख न हो इस तरीके से करते हैं !

पुज्य गुरुदेवश्री :- उसे जल्दी-जल्दी काम करना है। (हथियार ऊपर से) गिरे तो सर एक तरफ गिरता है और शरीर दूसरी तरफ गिर जाता है। बड़ा कारखाना है। वैसे तो अभी घर पर लोग मुर्गी को मारते हैं ! लेकिन वहाँ बड़ा कारखाना (है)। बड़ा पापी है ! परंतु अरबपति...! चांदी की कुर्सी पर बैठता है। आहा..हा...!

चांदी की कुर्सी पर (बैठता है, लेकिन) मर जायेगा, नरक में जायेगा, बापू ! आहा..हा...!

श्रोता :- यहाँ तो मौज-शोख मना ले न !

पूज्य गुरुदेवश्री :- धूल भी मौज-शोख नहीं है। वह राग है। मुझे तो यहाँ दूसरी (बात) कहनी थी कि, ऐसे काटते हैं, तो देखनेवाले के ज्ञान में ख्याल तो आता है कि नहीं ! ऐसा (हो रहा है)। परंतु ज्ञान वहाँ जाता नहीं और वह चीज यहाँ आती नहीं। परंतु ज्ञान में वह जानता है तो 'मेरी आँख वहाँ घूम गई है, आँख वहाँ गई है !' ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। अथवा वह चीज यहाँ आयी है, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। आ..हा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, '...शक्तिवैचित्र्य के कारण वस्तु में वर्तते समस्त ज्ञेयाकारों को मानो,...' 'वस्तु में वर्तते समस्त ज्ञेयाकार' ये क्या कहते हैं ? जो जाननेलायक ज्ञेयाकार है वह ज्ञान में आया। तो ज्ञान में (वर्तते) '...समस्त ज्ञेयाकारों को मानो मूल में से उखाड़कर,...' जितने ज्ञेय पदार्थ है, सबको मूल में से (उखाड़कर) (यानी) जैसी चीज है ऐसा ज्ञान होकर। आ..हा..हा...! '...मूल में से उखाड़कर ग्रास कर लेने से,...' 'कवल छोटा होता है और मुँह बड़ा होता है' - ऐसे ज्ञान की पर्याय में लोकालोक तो ग्रास हो गया ! कवल हो गया !! आ..हा..हा...! ऐसी बातें हैं!

कितने तो ऐसा कहते हैं - ये कुछ नया निकाला है ? बापू ! यह (तो) अनादि का है। लेकिन तुझे (सुनने) मिला नहीं। आहा..हा...! ये शास्त्र तो दो हजार वर्ष पहले के हैं। यह टीका एक हजार वर्ष पहले की है। और इन शास्त्रों का भाव है, यह तो अनादिकाल का है। परंतु संप्रदाय में यह बात रही नहीं। इसलिये बेचारे कहाँ के कहाँ विपरीत मार्ग पर चढ़कर, धर्म मान बैठे हैं। अरे..रे...!

यहाँ कहते हैं कि, ज्ञान की एक विचित्र शक्ति स्वपरप्रकाशक (है)। पर को प्रकाशते हैं तो मानो पर में प्रवेश किया, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। और वही पर को प्रकाशते हैं तो पर यहाँ आया, (ऐसा व्यवहार से कहने में आता है)। (इसी) 'प्रवचनसार' में आगे आता है न ! (कि), लोकालोक ज्ञान में घुस गया हो! लोकालोक का आकार आ गया हो ! ऐसा पाठ है। आगे आयेगा। ये तो २९ (गाथा) है। आहा..हा...! ज्ञान की पर्याय इतनी ताक़तवाली है कि, सारा लोकालोक है, उसको भी ग्रास कर जाये, कवल कर जाये, ज्ञान की इतनी ताक़त है कि,

उससे अनंतगुना (लोकालोक) हो तो भी जान लेता है ! आ..हा..हा...! ऐसी बातें हैं, बापू ! आहा..हा...!

अरे...! परमात्मा का विरह हुआ, वीतराग सर्वज्ञ रहे नहीं, वैसे केवलज्ञान की उत्पत्ति रही नहीं। भगवान भले न हो, परंतु (केवलज्ञान की) उत्पत्ति रही नहीं। अरे! अवधि और मन:पर्यय (ज्ञान) उत्पन्न होना यह भी रहा नहीं। आहा..हा...! उसमें यह सम्यक् मति और श्रुत (ज्ञान) रह गया। उसमें यह बात रह गई। आहा..हा...!

समकिती को सम्यक् मति और श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान की पर्याय भले परोक्ष हो; सर्वज्ञ सबको प्रत्यक्ष देखे, श्रुतज्ञान की पर्याय सबको परोक्ष देखे, आहा..हा...! फिर भी पर को देखने में अपनी पर्याय पर में जाती नहीं, आ..हा..हा...! (समकिती को) भक्ति और दया, दान का राग आया, उसका ज्ञान करने से, ज्ञानपर्याय राग को छूती नहीं और राग भी अपनी ज्ञानपर्याय को छूता नहीं। फिर भी ज्ञान की विचित्रता में ज्ञान राग को जानता है, जानता है तो मानो ज्ञान वहाँ गया और राग का ज्ञान हुआ तो राग (यहाँ) आ गये, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है।

कभी सुना नहीं था। बँबई में दस-दस हजार आदमी आते थे। लोग कहते थे, ये महाराज कौन है ? `सोनगढिया छे' ऐसा कहते थे ! ऐसा बोले न, बेचारे... बोले! वैशाख-बीज `घाटकोपर' में मनाई न ! (वहाँ) पंद्रह हजार आदमी ! पंद्रह-सोलह हजार आदमी ! क्या कहते हैं ये ? चवालीस साल से चलता है। एक ही बात (चलती है)। सुने तो सही ! आहा..हा...! आते हैं... बहुत आदमी आते हैं।

श्रोता :- नये नये लोग सुनने आते हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- आते हैं... बहुत लोग आते हैं। स्थानकवासी, श्वेतांबर (सब आते हैं)। `भोपाल' में पंचकल्याणक था वहाँ हम गये थे, (वहाँ) चालीस हजार आदमी (थे) ! चालीस हजार...!! `सागर' में पंद्रह हजार ! `मुंबई' में पंद्रह हजार !

प्रभु ! तेरी ज्ञान की ताक़त ! तेरा तो (जानन स्वभाव है)। (और) जानने में तू है। पर को भी जानना (यह तेरा स्वभाव है)। लेकिन अपने में रहकर पर को जानना, ऐसा तेरा स्वभाव है। इस स्वभाव से विरूद्ध तू माने (तो) मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जन्म-मरण (करके) चौरासी के अवतार में भटकनेवाला है।

कल यहाँ (एक पेपर में) आया था कि, व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि करते हैं,

वह धर्मध्यान है। यहाँ `प्रवचनसार' में कहते हैं। यह प्रवचसार है न ! देखो ! ७७ गाथा है।

`ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो।।७७।।'

क्या कहते हैं ? देखो ! उसका हरिगीत :-

`नहीं मानतो - ए रीत पुण्ये पाप मां न विशेष छे,'** है उसमें ? (हिन्दी में) यह हरिगीत है ? **`नहीं मानतो - ए रीते पुण्ये-पाप मां' (अर्थात्) हिंसा, झूठ के परिणाम पाप (परिणाम हैं) और दया, दान, व्रत के परिणाम पुण्य (परिणाम हैं)। ये दोनों (परिणाम) बंधन में सरीखे हैं। ऐसा जो नहीं मानता है और पुण्य ठीक है - पाप अठीक है, ऐसा माननेवाला... देखो ! मोह से **`संछन्न'** (अर्थात्) मिथ्यात्व से आच्छादित है, (और वह) **`घोर अपार संसारे भमे'** - घोर संसार (यानी) नरक और निगोद में जायेगा। आहा..हा...! ये भगवान के वचन हैं कि, जो कोई प्राणी पुण्य और पाप में फर्क मानता है (अर्थात्) दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम ठीक है और हिंसा, झूठ आदि के (परिणाम) अठीक हैं (वह संसार में भटकेगा)। दोनों बंध के ही कारण हैं। फिर भी दोनों में फर्क माने, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि घोर संसार में भटकेगा।

यह कब की गाथा है ? दो हजार वर्ष पहले, `कुंदकुंदाचार्य' भगवान के पास गये थे, वहां से आकर यह (शास्त्र) बनाया है। आ..हा..हा...! सब नया लगे ऐसा (है)। परंतु सुनने जैसा है, बापू ! यह सुनने जैसा है !

श्रोता :- धर्म करने की रीत तो आप साहब कहते हो वही बराबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- यह बात है... बापू ! क्या कहें, भाई ! राग से भिन्न आत्मा ज्ञानस्वभाव है, ऐसा अनुभव होना, तब उसको धर्म की दशा की पहली शुरूआत (होती) है। आ..हा..हा...! शरीर से तो भिन्न है, वाणी से भिन्न है, कर्म-जड़ कर्म - ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं, वे तो जड़ हैं - अजीव हैं, परंतु अंदर पुण्य और पाप के भाव (होते हैं), उससे भी प्रभु तो भिन्न है। यहाँ आत्मा को `प्रभु' कहते हैं, हाँ ! (पुण्य-पाप) दोनों से भिन्न है। और दोनों भाव बंध का कारण हैं। (फिर भी) उन दोनों में विशेषता माने, पाठ में `विशेष' है न **`पुण्ये पाप मां न विशेष छे'** विशेष नहीं है, फिर भी विशेष माने कि, शुभभाव - दया, दान, व्रत, भक्ति (के परिणाम) अच्छे हैं और हिंसा,

झूठ, चोरी बूरे हैं - ऐसे दोनों में फर्क माने तो वह घोर संसार में भटकेगा। है उसमें ? आ..हा..हा...! `नहीं मानतो - ए रीते पुण्ये पाप मां न विशेष है' (ऐसा कहा है न) ! आ..हा..हा...!

`पाप पाप को सहु कहे, पण अनुभवीजन पुण्य को भी पाप कहे' आ..हा..हा...! `योगीन्द्रदेव' में आता है। दोहरे हैं न ! उसमें आता है। `पाप पाप को तो सहु कहे' (अर्थात्) हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग (आदि तो पाप परिणाम हैं) लेकिन दया, दान, व्रत, भक्ति के पुण्य (परिणाम को) यहाँ तो पाप कहते हैं ! कठिन बात (है)। भाई ! उन दोनों में फर्क माने कि, शुभभाव ठीक है और अशुभ (भाव) अठीक है! वह **`मोहसंछन्न'** (अर्थात्) मिथ्यात्व से ढंका हुआ है। और मिथ्यादृष्टि चारगति में घोर संसार में भटकेगा। ऐसा है, बापू ! यह दुकान एक यहीं पर ही है ! आहा..हा...!

श्रोता :- पूरे भारत में एक ही है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- वस्तु, बापू ! क्या कहें, भाई ! गरीब भरतक्षेत्र, गरीब `उमराला (गाँव)', और गरीब घर में अवतार हो गया ! आहा...! बात तो यह है।

आहा...! यहाँ कहते हैं, पैसा रखने का भाव यह पाप(भाव), परंतु पैसा दान में देने का भाव यह पुण्य(भाव) - ये पुण्य-पाप में फर्क माने कि, पुण्य ठीक है और पाप अठीक है, तो मिथ्यादृष्टि घोर संसार में भटकेगा (ऐसा कहते हैं)। है कि नहीं अंदर ? आहा...! यह तो भगवान की साक्षी है ! ये भगवान के कायदे हैं, बापू ! आहा..हा...! प्रभु ! यह मार्ग अलग है, नाथ ! वीतराग परमात्मा जैन शासन (का) धर्म कोई अलग चीज है ! लोगों को सुनने मिली नहीं। आहा...! सुनने मिले तो उसे ऐसा लग जाये कि, `अरे...! अर.र..र...! ये (बात) !' भड़क जाते हैं! ७७ गाथा में (यह बात) है।

श्रोता :- यह तो मुनिदशा की बात है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- सम्यक्‌दृष्टि की बात है ! `मोहसंछन्न' कहा न ! मिथ्यादृष्टि अज्ञानी मूढ़जीव, शुभ और अशुभभाव दोनों में फर्क है - शुभ ठीक है (और) अशुभ अठीक है, (ऐसा) माननेवाला मिथ्यादृष्टि घोर निगोद में जायेगा। नरक और निगोद - संसार में भटकेगा !

यहाँ यह कहते हैं **`...समस्त ज्ञेयाकारों को मानो मूल में से उखाड़कर ग्रास**

कर लेने से अप्रविष्ट न रहकर,...' (यानी) मानो कि ज्ञेय, ज्ञान में आ गया ! (ऐसे) '**...जानता-देखता है। इसप्रकार इस विचित्र शक्तिवाले आत्मा के पदार्थों में अप्रवेश की भाँति प्रवेश भी सिद्ध होता है।**' (अर्थात्) ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। विशेष कहेंगे.....

(दिनांक १-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-२६)

प्रवचनसार, २९वीं गाथा ! उसका भावार्थ। टीका कल हो गई है। भावार्थ है न !

यहाँ पर केवलज्ञान की बात सिद्ध करते हैं। केवलज्ञान है वह सर्व लोकालोक को जानता है। तथापि यह ज्ञान लोकालोक में प्रवेश नहीं करता। किन्तु एक न्याय से ज्ञान सबको पार लगा सकता है, इस अपेक्षा से ऐसा भी कहा जाये कि, यह लोकालोक ज्ञान के भीतर आ गये हैं या ज्ञान लोकालोक में घुस गया है, ऐसा व्यवहार से कहा जाय। सूक्ष्म बात है, भाई !

वास्तव में तो यह ज्ञानस्वभाव साधक में भी है। सुबह में कहा था - सम्यक्‌दृष्टि - जब धर्मी होता है (तब), आत्मा शुद्ध चैतन्यघन, राग के विकल्प से भी भिन्न ऐसे शुद्ध चैतन्य स्वभाव का अनुभव होनेपर, उसे सम्यग्दर्शन की अवस्था में - प्रथम ही धर्म की भूमिका में अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आता (है)। अरे...! अरे...! ऐसी बात है। राग का स्वाद उसका नहीं। ऐसी बात सुबह में कही गई थी। कठिन काम बहुत, बापू ! आ..हा...!

श्रोता :- 'पुद्‌गल का स्वाद है', ऐसा कहा था।

पूज्य गुरुदेवश्री :- (राग का स्वाद) यह पुद्‌गल का स्वाद है। आहा..हा...! ऐसे यहाँ भी जो आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आनंदस्वरूप है, उसका (जिसे) भान हुआ, वह भी राग को जाने, किन्तु राग में ज्ञान घुसे नहीं। तथापि ज्ञान राग को जानता (तो है ऐसा लगे) जैसे ज्ञान (राग में) पहुँचा हो ! ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। अब, बातें ऐसी हैं।

भावार्थ :- 'यद्यपि आँख...' आँख (माने यह) आँख। '**...अपने प्रदेशों से...**' (यानी) अपने क्षेत्र में रहकर अपने प्रदेशों के द्वारा। यह प्रदेश वरना वैसे है क्या ? आँख है, वहाँ जीव के असंख्य प्रदेश हैं। आँख है, किन्तु यह तो जड़ है। यह डेला

जड़ है। यह जड़-मिट्टी (है), यह कोई आत्मा नहीं। भीतर जो ज्ञान है - जानने की लियाक़तवाला वह ज्ञान (है), (उसे) चक्षु का ज्ञान, ऐसा कहने में आता है। इस ज्ञान के असंख्य प्रदेश हैं। संपूर्ण ज्ञान के असंख्य प्रदेश हैं और यहाँ पर जानने लायक असंख्य प्रदेश हैं।

यह **`...आँख अपने प्रदेशों से रूपी पदार्थों को स्पर्श नहीं करती इसलिये वह निश्चय से ज्ञेयों में अप्रविष्ट है...'** वास्तव में तो आँख है वह पर को जाने तथापि पर में प्रविष्ट नहीं। **`...ज्ञेयों में अप्रविष्ट है...'** ज्ञान उसमें प्रविष्ट नहीं, आहा..हा...! **`तथापि वह रूपी पदार्थों को जानती-देखती है, इसलिये व्यवहार से यह कहा जाता है कि, `मेरी आँख बहुत से पदार्थों में जा पहुँचती है।'** ऐसे कहते हैं न ? `मेरी आँख सब में पहुँचती है' (तो) पहुँची है कहाँ ? किन्तु जानती है (ऐसा कहना है)। ज्ञान में रहकर ज्ञान सबको जानता है। किन्तु व्यवहार से ऐसा कथन होता है कि `मेरी आँख सब जगह पहुँचती है। जैसे चारों ओर उसे घेर लेतें हैं वैसे जानती है।' ऐसा व्यवहार से समझाया जाता है। आहा..हा...!

`इसीप्रकार...'** (यानी) इस आँख की तरह। **`यद्यपि केवलज्ञानप्राप्त आत्मा...' परमात्मा अरिहंत जिनेश्वरदेव, केवलज्ञानप्राप्त आत्मा है। आहा...! वे तो एक समय में तीनकाल तीनलोक को जाने, ऐसा केवलज्ञानप्राप्त भगवान अरिहंत सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव हैं। यह **`...अपने प्रदेशों के द्वारा...'** असंख्यप्रदेश में केवलज्ञान है। यह (आत्मा) **`...अपने प्रदेशों के द्वारा ज्ञेय पदार्थों को स्पर्श नहीं करता इसलिये...'** (अर्थात्) ज्ञान में जानने में आई वह चीज को, वह ज्ञान छूता नहीं। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !

यह हाथ है न ! देखिए ! (यह) हाथ, जो (अन्य वस्तु को) छूता नहीं। तीसरी गाथा में (आता है)। `समयसार' की तीसरी गाथा में (आता है)। ये तो भगवान के कायदे (हैं)।

श्रोता :- अपने द्रव्य, गुण पर्याय को छूये, अन्य को नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री :- (अन्य को) छूये नहीं। देखिए ! कैसे हैं वे सर्व पदार्थ ? भगवान ने छः द्रव्य देखें हैं। (उनमें) अनंत आत्मा, अनंत परमाणु (हैं)। **`...अपने द्रव्य में अंतर्मग्न रहनेवाले अपने अनंत धर्मों के चक्र को (समूह को) चुंबन करते हैं...'** प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु में अनंत गुण हैं और नित्य-अनित्य, एक-अनेक

आदि अनंत धर्म हैं। तो यह पदार्थ अपने गुणधर्म को चूमता है - स्पर्शता है - छूता है। है ? तीसरी गाथा है। `**...तथापि वे परस्पर एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते,...**' आहा..हा...! यह आत्मा है वह शरीर को छूता तक नहीं ऐसा कहते हैं। शरीर है जो आत्मा को छूता नहीं। यह तीसरी गाथा है। यहाँ तो बारबार कह चुके हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने में अस्तित्वरूप - होनेरूप जो गुणधर्म विद्यमान हैं उसे वह चूमता है। चूमता है माने स्पर्श करता है। किन्तु कोई पदार्थ दूसरे पदार्थ के धर्म को (या) गुण को स्पर्शता नहीं। आहा..हा...!

श्रोता :- रुपये को छूता नहीं ?

समाधान :- रुपये की तो बात भी नहीं किन्तु इस अँगुली को आत्मा छूता नहीं। यह ऐसे होता है न ? तो यह नाखून है तो उसे छूता नहीं, ऐसा कहते हैं। अरे...! अरे...! ऐसी (बात) ! तीसरी गाथा है (उसकी) टीका है। अनादिकाल से भगवान परमेश्वर, संत आदि यह भाव कहते आये हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने अनंत...अनंत...अनंत...अनंत... संख्या से अनंत (ऐसे) गुण को और धर्म (नाम) योग्यता (को छूता है)। द्रव्य अपने धर्म (को) - गुण को छूए, किन्तु परपदार्थ को वह चूमता नहीं - छूता नहीं। ऐसा कहा, आ..हा..हा...! यह अँगुली शास्त्र को छूती नहीं। यह बात कैसे समझे ?!

श्रोता :- छूये तो दोनों एक हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री :- छूये तो दोनों एक हो जाये ! एक दूसरे में अभाव है वह अभाव रहेगा नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई ! भगवान के शास्त्र की ऐसी पुकार है!!

श्रोता :- भाई कहते हैं कि, यह भाषा मनुष्य की नहीं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- बात सच (है), परमात्मा की (भाषा) है, बापू ! सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ बिराजते हैं। वहाँ से आयी हुई है, बापू ! क्या कहें ? आहा...! संप्रदाय में (ऐसी बात) चलती नहीं इसलिये लोगों को एकान्त लगता है। आहा..हा...! प्रभु ! यहाँ तीसरी गाथा में तो ऐसा कहते हैं कि, पानी जो गर्म होता है, उसे अग्नि छूती ही नहीं। और पानी जो गर्म होता है वह पानी अग्नि को छूता नहीं। अरे...! प्रभु! समझ में आया ? इस ओठ के परमाणु को यह (जीभ) छूती नहीं। वे परमाणु इसे छूते नहीं। बापू ! ये बातें हैं क्या ? `समयसार' में तीसरी गाथा है, देखिए !

सर्व पदार्थों - सर्व यानी अनंत आत्मा और अनंत रजकण (हैं)। वैसे तो असंख्य

कालाणु हैं, एक धर्मास्ति, (एक) अधर्मास्ति, (एक) आकाश (इसप्रकार) छः द्रव्य हैं। भगवान ने छः द्रव्य देखे हैं। वे सर्व अपने-अपने द्रव्य में - अपनी-अपनी वस्तु में **`...अंतर्मग्न रहनेवाले...'** (यानी) अंतर में रहे हुए **`...अपने अनंत धर्मों के चक्र को...'** अनंत धर्मों के समूह को **`...चुंबन करते हैं-स्पर्श करते हैं...'** वैसा होने के बावजूद **`...वे परस्पर एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते,...'** आहा..हा...! ऐसी बातें तो सुननी (कठिन है)। साक्षात् पुकार है ! यह कोई वर्तमान का शास्त्र नहीं। दो हजार वर्ष पहले तो `कुंदकुंदाचार्य' वहाँ गये थे और यह रचा है। और यह टीका `अमृतचंद्राचार्य' एक हजार वर्ष पहले (हुए)। तब कोई ऐसा कहता है कि, `निश्चय चूमते नहीं किन्तु व्यवहार से छूते हैं, ऐसा कहिए !' यह तो यहाँ कहते हैं कि, व्यवहार से कहते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं।

श्रोता :- यह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिये कथन है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- निमित्त कौन है (यह बताते हैं)। आहा..हा...! ये पलकें जो हैं, वे आँख को छूती नहीं। यह चश्मा है, वह नाक को छूता नहीं। प्रभु ! ये किसके घर की बात !

श्रोता :- (चश्मा) कान को तो छूए न ?

समाधान :- कान को छूता नहीं। कान को यह अँगुली ऐसे छूती नहीं। इस चश्मा को अँगुली छूती नहीं। अरे प्रभु ! ऐसी बातें (हैं) !

श्रोता :- कौन से देश की भाषा है ?

समाधान :- यह भगवान के देश की भाषा है ! आ..हा..हा...! प्रभु ! एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अभाव है। अभाव है इसलिए उसे छूता नहीं। अरे...रे...! ऐसी बात...! यह मेहमान को तो कठिन लगे ऐसा है। ऐसा सब कभी भी सुना नहीं होगा, लीजिये !

लौकी है न लौकी, उसे छुरी छूती नहीं। प्रभु ! गज़ब है मेरे नाथ ! और जो टुकड़े होते हैं, वह उसके कारण से (होते हैं) ! आहा..हा...!

श्रोता :- चूल्हे में अग्नि से पकता है न ?

समाधान :- अग्नि से पके नहीं ! उस प्रश्न की तो यहाँ बात ही नहीं। अग्नि के (चूल्हे के) ऊपर (रखे उसे) आप लोग क्या कहते हैं ? नाम भूल गये ! रोटी

बनती है (उसे क्या कहते हैं) ? तवा...तवा ! भूल जाते हैं, भाई ! तवे को अग्नि छूती नहीं ! नीचे अग्नि है न, वह तवे को छूती नहीं। और तवे में जो रोटी पड़ी, वह रोटी तवे को छूती नहीं।

श्रोता :- तवा गर्म तो हुआ न !

समाधान :- गर्म हुआ है वह अपने कारण से, अग्नि के कारण से नहीं। अरे प्रभु ! भारी कठिन काम !

प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने कारण से (होती है)। पर के कारण है ही नहीं। आहा...! ऐसी बातें कुछ लोगों ने सुनी भी नहीं होगी ! साठ-साठ वर्ष बीत चुके हो, सत्तर (पारकर गये हो उनको ऐसा लगे) यह क्या कहते हैं, बापू ! यह ('समयसार' की) तीसरी गाथा है। '**एयत्तणिच्छयगदो**' प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने में बना रहे, तब सुंदर है। बंधकथा - कर्म का बंध - संबंध कहना, यह विपरीतभाव है। आहा..हा...! भगवानआत्मा से कर्म का संबंध है या आत्मा कर्म को छूता है और कर्म जीव को छूता है, ऐसी बातें हैं नहीं। आ..हा..हा...! ऐसी बातें, अब...!

आम को ऐसे घोलते हैं न, तो कहते हैं कि, हाथ इस तरह होते हैं, वे आम को छूते नहीं। देखिए ! इस तरह यह खड्डा हुआ न वैसे... (तो कहते हैं कि) हाथ उसे छूआ नहीं और जो स्वयं के कारण से खड्डा हुआ है ! बातें इसप्रकार की ! कौन समझे ! वीतराग सर्वज्ञदेव ! उनका कहा तत्त्व कोई अलौकिक है !! आ..हा..हा...!

श्रोता :- कर्म बाधा देता है न, प्रभु !

पूज्य गुरुदेवश्री :- कोई बाधा नहीं देता। बिलकुल (बाधा नहीं) ! 'कर्म बिचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई, अग्नि सहे घनघात, लोह की संगति पाई।' लोहे में अग्नि प्रवेश करे तो घन पड़ती है। केवल अग्नि पर (घन) पड़ते नहीं। कोई केवल अग्नि पर वार कर सकता है ? वैसे (जीव) कर्म के निमित्त का संबंध करता है; संबंध करता है यानी मानता है कि मैं इसका संबंध करता हूँ, तब उसे अंदर दुःख होता है। यह दुःख कर्म के कारण नहीं। राग होता है वह कर्म के कारण नहीं, आहा..हा...! वैसे तो सुबह में कहा कि, राग है सो पुद्गल की पर्याय है, जीव की नहीं, बापू! यह क्या कहा ? आहा..हा...! आत्मा अनंत गुणों का पिंड़ (है)। (इसलिये) उसकी

पर्याय जो हो वह शुद्ध हो। (तथापि पर्याय में) जो अशुद्धता हुई, यह कोई गुण नहीं। अत: दया, दान के राग की जो अशुद्धता हुई, वह (राग) कर्म के निमित्तसंबंध से हुई (है)। इसलिये उसे पुद्गल की पर्याय कहने में आया है। अरे...! ऐसी बातें हैं, बापू ! आहा...!

यह कहीं भी मिलनेवाला नहीं। पाँच-सात लाख की कमाई हुई तो ओ..हो..हो...! जैसे बहुत (कमाई हुई) ! कुछ भी (कमाई) नहीं ! आहा..हा...! बापू ! हीरा (तो) तू है, प्रभू ! जैसे हीरे में वलय होते हैं, वैसे भगवानआत्मा में अनंतगुण के वलय हैं ! प्रभु ! तुझे मालूम नहीं, आहा..हा...!

आत्मा अपने गुण और पर्याय को छूता है। यहाँ पर तो पर से भिन्न बतलाना है (इसलिये ऐसा कहा)। बाक़ी वास्तव में तो द्रव्य पर्याय को छूता नहीं और पर्याय द्रव्य को छूती नहीं। यह हालाँकि दूर की बात है। `समयसार' की ८९वीं गाथा में (यह बात कही है)। एक समय की जो पर्याय है, उसके ज्ञान की पर्याय - अवस्था (है) यह अवस्था त्रिकाली द्रव्य को छूती नहीं। अंश अंश में है, त्रिकाली त्रिकाली में (है)। अरे प्रभु ! कठिन बात है, बापू ! आहा...! यह तो वीतराग की College है, प्रभु ! क्या कहें ? आहा..हा...!

प्रत्येक वस्तु - एक रजकण दूसरे रजकण को छूता नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा...! कलम कागज़ को छूती नहीं ! अरे...अरे...! ऐसी बातें ! यह तो पागल कहे (ऐसी बात लगे) ! (किन्तु) वीतराग परमात्मा ऐसे कहते हैं ! (सामने) शास्त्र है। `समयसार' की तीसरी गाथा है। **`...वे परस्पर...'** (यानी कि) एक आत्मा दूसरे आत्मा को छूता नहीं। एक आत्मा रजकण को छूता नहीं। यह रजकण आत्मा को छूता नहीं। आहा..हा...! (वैसे वे) **`...एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते, अत्यंत निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं...'** आहा..हा...! परमाणु, आत्मा और सब (द्रव्य) एक क्षेत्र में भले ही रहे हो, तथापि **`...अनंत व्यक्तिता नष्ट नहीं होती...'** आहा...! **`...वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते,...'** यानी कि अपने जो गुण हैं और पर्याय है, उनमें रहते हैं। उसमें से खिसककर पर में जाते हैं, ऐसा नहीं। अरे...! ऐसी बातें कभी भी (सुनी न हो इसलिये ऐसा लगे कि) ये तो कोई जैन की होगी? या अन्य की ? तब कोई कहे कि, किन्तु यह (`समयसार') तो `सोनगढ' में छपा

है। `सोनगढ' में छपा लेकिन वस्तु किसकी है ? `श्रीमद्' की (संस्था) द्वारा भी छपा है ! आहा..हा...!

वैसे कागज पर मुहर लगाये न, पोष्टमेन ! तो कहते हैं कि यह (मुहर) है वह कागज को छूती नहीं ! यह अक्षर कागज को छूआ नहीं ! यह `समयसार' की तीसरी गाथा है।

`एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि।।३।।'

भगवान(आत्मा) एक स्वरूप से प्रभु ! अपने गुण - पर्याय में (रहा है)। उसे कर्म का संबंध और बंध कहना (यह) झगड़ा है - विपरीत बात है। (ऐसा) कहते (हैं)। आ..हा..हा...! अबंधस्वरूपी भगवान(आत्मा को) जड़कर्म का संबंध - बंध कहना, यह विपरीत भाव है। आहा..हा...! अब ऐसा (है), क्या करें ? आहा...! बहुत पंडित और साधुओं को यह बात समंत नहीं होती। उसके कारण क्या यह वस्तु असत्य हो जाये ऐसी है ?

श्रोता :- किसी को संमत नहीं हो तो (क्या) बात असत्य हो जाये ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- सत्य, सत्य ही है, बापू ! आहा..हा...!

यहाँ पर कहते हैं, केवलज्ञानी परमात्मा `...केवलज्ञानप्राप्त आत्मा अपने प्रदेशों के द्वारा ज्ञेय पदार्थों को...' आत्मा में असंख्य प्रदेश हैं। `प्रदेश' समझ में आता है? जैसे सोने की जंजीर है, जंजीर (जिसे) आधुनिक (लोग) Chain कहते हैं। उस जंजीर में हजारों कड़ियाँ होती हैं। उस पूरी जंजीर को द्रव्य कहते हैं। सोना `द्रव्य' (है)। और उसमें पीलापन, चिकनापन, वजन है, उन्हें `गुण' कहते हैं। और उसकी जो कड़ी है, उन्हें `प्रदेश' कहते हैं। जिस तरह यह हजार कड़ी की जंजीर है, वैसे भगवानआत्मा असंख्य प्रदेशी है। अब ऐसा कभी भी (सुना न हो) ! `श्रीमद्' में आता है :-

`शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयंज्योति सुखधाम,
बीजुं कहिये केटलुं ? कर विचार तो पाम।'

आ..हा..हा...! यह तो चैतन्यघन असंख्य प्रदेशीघन - पिंड है। जैसे यह सोने की जंजीर हजार कड़ियों का पिंड है, वैसे यह (आत्मा) असंख्य प्रदेशों का (पिंड है)। प्रदेश के बारे में ज्ञान नहीं ! यह अँगुली तो बहुत रजकण का पिंड है। (उसमें)

यह Point - अंश है न रजकण - अंत का परमाणु का टुकड़ा (जिस) परमाणु के दो भाग न हो सके वह - वह जितनी जगह रोके उसे `प्रदेश' कहते हैं। ऐसा आत्मा असंख्य प्रदेशी चौड़ा है। आहा..हा...! ये अपनी बातें मालूम नहीं ! घर में खपरें कितने, उसकी ख़बर हो, इस खिड़की में सलाखें कितनी होती है, दो इंच की और डेढ़ इंच की (कितनी डाली हैं), उसकी जानकारी है, इस सीढ़ी के कितने सोपान बनाएँ हैं, उसकी जानकारी है, (खिड़की में) आगे की ओर मजबूत सलाखें डाली है क्योंकि कोई चोर (अंदर न आ जाय) ! और भीतरी हिस्से में ज़रा पतली जाल हैं क्योंकि आदमी अंदर न जा सके। वैसे उसे उसकी जानकारी है कि यह डेढ़ इंच का है और यह ढाई इंच का है और फलाँ है ! यह (आत्मा) असंख्य प्रदेशी कौन है और उसके प्रदेश में अनंत गुण हैं (उसकी कुछ भी जानकारी नहीं)।

(यहाँ पर कहते हैं) परमात्मा का - केवली का - जिनेश्वरदेव का - केवलज्ञान - अपने प्रदेश में स्थित केवलज्ञान, यह **`...केवलज्ञानप्राप्त आत्मा अपने प्रदेशों के द्वारा ज्ञेय पदार्थों को स्पर्श नहीं करता इसलिये वह निश्चय से तो ज्ञेयों में अप्रविष्ट है,...'** वास्तव में तो वह ज्ञेय को छूता नहीं। अत: ज्ञान ज्ञेय में प्रवेशता नहीं। अब व्यवहार से (बात कहते हैं)। **`...तथापि ज्ञयक-दर्शक शक्ति की,...'** भगवानआत्मा में जानने और देखने की कोई अचिंत्य शक्ति... अचिंत्य शक्ति (है) आहा..हा...! अपने अल्प क्षेत्र में स्थित फिर भी अनंत को जाने ! आहा..हा...! अपने अल्प क्षेत्र में स्थित ज्ञान एक समय में अनंत को जाने - तीनकाल को जाने ! आहा..हा...! ऐसी बातें!

यह **`...ज्ञायक-दर्शन शक्ति की किसी परम अद्‌भुत विचित्रता के कारण** (**निश्चय से दूर रहकर भी**) **वह समस्त ज्ञेयाकारों को देखता-जानता है, इसलिये...'** लोकालोक के सर्व - अनंत ज्ञेयों को भगवान का ज्ञान जानते हुए, **`...व्यवहार से यह कहा जाता है कि `आत्मा सर्वद्रव्य-पर्यायों में प्रविष्ट हो जाता है।''**

'८४ की साल में `राणपुर' में एक वेदांती ने प्रश्न किया था। व्याख्यान में (तो) सभी आते हैं। '८४ का चातुर्मास था। उसने प्रश्न किया कि `महाराज ! आप कहते हो कि यह (आत्मा) पर को जानता (है)। तो वह पर में प्रवेश करे तब जाने या बिना प्रवेश के जाने ? और प्रवेश करे तो (आत्मा) सर्वव्यापक हो गया।' '८४ की घटना है। कितने साल हुए ? इकावन साल हुए। (हमने) कहा, अरे... भाई !

ऐसा नहीं। यह अग्नि को ज्ञान जानता है तो क्या ज्ञान उसमें प्रवेश करता है ? प्रत्यक्ष दिखाई देता है या नहीं ? (उसे) ऐसा था कि, परमाणु को - रजकण को आत्मा जानता (है), तो रजकण में आत्मा प्रवेश करे तो जान सके। इसलिये (ऐसा कहकर) उसे (आत्मा) सर्व व्यापक है, वैसे सिद्ध करना है ! (किन्तु) वैसा है नहीं, बापू ! ज्ञान अपने में रहकर पर में बिना प्रवेश किए पर को जानता है। किन्तु पर में प्रवेश करता है, वैसा निमित्त से - व्यवहार से कहने में आता है, आहा..हा...!

किन्तु धर्म करने में इस तरह का (सब क्यों समझना) ? किन्तु तुझे आत्मा कौन? उसके गुण - धर्म क्या ? उसकी पर्याय (कैसी) ? उसकी बिना जानकारी धर्म कहाँ से होनेवाला है ! आहा..हा...! धर्म तो - सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र यह धर्म है। यह धर्म कहाँ से होगा ? कि, आत्मा अनंत गुण का पिंड है और (अनंत गुण) अपने में है, उसका आश्रय करे - दृष्टि करे, तब उसे सम्यग्दर्शन - धर्म की प्रथम सीढ़ी (प्रगट) होती है। धर्म का प्रथम सोपान तब कहा जाय। आहा..हा...! किन्तु आत्मा कैसा है ? कितने गुण हैं ? पर से भिन्न है, स्वयं पर को छूता नहीं, उसमें अनंत शक्ति होनेपर भी पर को छूता नहीं। आहा..हा...! कर्म का उदय जड़ है उसे भी चैतन्य छूता नहीं। उदय जड़ है वह चैतन्य को छूता नहीं। (इस प्रकार वस्तु का स्वरूप बिना समझे धर्म कहाँ से होगा ?)

वैसे सुबह में जो कहा था उसमें दूसरी अपेक्षा थी। आत्मा का जो स्वरूप है वह अनंत... अनंत... अनंत... गुणों का पिंड है। वे अनंत गुण पवित्र हैं। तो फिर जो पवित्र गुण हैं उनकी अपवित्र अवस्था क्यों होती हैं ? उस अपेक्षा से जो अपवित्रता है वह पवित्रता से भिन्न है और इसलिये भिन्न द्रव्य से हुआ है, वैसा कहने में आता है। आहा..हा...! ऐसी व्याख्या और ऐसी (बातें) ! वैसे तो पर्युषण के आठ दिनों में शोरगुल (हो) - दो उपवास किये, आठ किये, चौविहारा (उपवास) किये, बिना खाये किये, पानी पीकर किये, रथयात्रा निकाले...! अरे भगवान...!

यहाँ कहते हैं, निश्चय से दूरी बनाये रखे किन्तु वह समस्त ज्ञेयों को (जानते-देखते हुए) **`...व्यवहार से यह कहा जाता है कि `आत्मा सर्व द्रव्य-पर्यायों में प्रविष्ट हो जाता है।' इसप्रकार व्यवहार से ज्ञेय पदार्थों में आत्मा का प्रवेश सिद्ध होता है।** सब जानने में आ जाता है न ! (अत:) इस अपेक्षा से प्रवेश सिद्ध होता है)

अथैवं ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति संभावयति -

रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।

अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमट्ठेसु।।३०।।

रत्नमिहेन्द्रनीलं दुग्धाध्युषितं यथा स्वभासा।

अभिभूय तदपि दुग्धं वर्तते तथा ज्ञानमर्थेषु।।३०।।

यथा किलेन्द्रनीलरत्नं दुग्धमधिवसत्स्वप्रभाभारेण तदभिभूय वर्तमान दृष्टं, तथा संवेदनमप्यात्मनोऽभिन्नत्वात् कर्त्रंशेनात्मतामापन्नं करणांशेन ज्ञानतामापन्नेन कारणभूतानामर्थानां कार्यभूतान् समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमानं कार्यकारणत्वेनोपचर्य ज्ञानमर्थानभिभूय वर्तत इत्युच्यमानं न विप्रतिषिध्यते।।३०।।

अथ तमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण – दृढयति **रयणं** रत्नं **इह** जगति। किंनाम। **इंदणीलं** इन्द्रनीलसंज्ञम्। किंविशिष्टम्। **दुद्धज्झसियं** दुग्धे निक्षिप्तं **जहा** यथा **सभासाए** स्वकीयप्रभया **अभिभूय** तिरस्कृत्य। किम्। **तं पि दुद्धं** तत्पूर्वोक्तं दुग्धमपि **वट्टदि** वर्तते। इति दृष्टान्तो गतः। **तह णाणमत्थेसु** तथा ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति। तद्यथा – यथेन्द्रनीलरत्नं कर्तृ स्वकीयनीलप्रभया करणभूतया दुग्धं नीलं कृत्वा वर्तते, तथा निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमसामायिकसंयमेन यदुत्पन्नं केवलज्ञानं तत् स्वपरपरिच्छित्तिसामर्थ्येन समस्ताज्ञानान्धकारं तिरस्कृत्य युगपदेव सर्वपदार्थेषु परिच्छित्त्याकारेण वर्तते। अयमत्र भावार्थ :– कारणभूतानां सर्वपदार्थानां कार्यभूताः परिच्छित्त्याकारा उपचारेणार्था भण्यन्ते, तेषु च ज्ञानं वर्तत इति भण्यमानेऽपि व्यवहारेण दोषो नास्तीति।।३०।।

अब, यहाँ इसप्रकार (दृष्टांतपूर्वक) यह स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान पदार्थोंमें प्रवृत्त होता है :-

गाथा ३०

ज्यम दूधमां स्थित इन्द्रनीलमणि स्वकीय प्रभा वड़े।

दूधने विषे व्यापी रहे, त्यम ज्ञान पण अर्थो विषे।।३०।।

अन्वयार्थ :- [यथा] जैसे **[इह]** इस जगतमें **[दुग्धाध्युषितं]** दूधमें पड़ा हुआ **[इन्द्रनीलं रत्नं]** इन्द्रनील रत्न **[स्वभासा]** अपनी प्रभाके द्वारा **[तद् अपि दुग्धं]** उस दूधमें **[अभिभूय]** व्याप्त होकर **[वर्तते]** वर्तता है, **[तथा]** उसी प्रकार **[ज्ञानं]** ज्ञान

(अर्थात् ज्ञातृद्रव्य) **[अर्थेषु]** पदार्थोंमें व्याप्त होकर वर्तता है।

टीका :- जैसे दूधमें पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपने प्रभासमूहसे दूधमें व्याप्त होकर वर्तता हुआ दिखाई देता है, उसीप्रकार संवेदन (ज्ञान) भी आत्मासे अभिन्न होनेसे कर्ता-अंशसे आत्मताको प्राप्त होता हुआ ज्ञानरूप कारण-अंशके द्वारा कारणभूत पदार्थोंके कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारोंमें व्याप्त हुआ वर्तता है, इसलिये कार्यमें कारणका (-ज्ञेयाकारोंमें पदार्थोंका) उपचार करके यह कहनेमें विरोध नहीं आता कि 'ज्ञान पदार्थोंमें व्याप्त होकर वर्तता है।'

भावार्थ :- जैसे दूधसे भरे हुए पात्रमें पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न (नीलमणि) सारे दूधको (अपनी प्रभासे नीलवर्ण कर देता है इसलिये व्यवहारसे रत्न और रत्नकी प्रभा सारे दूधमें) व्याप्त कही जाती है, इसीप्रकार ज्ञेयोंसे भरे हुए विश्वमें रहनेवाला आत्मा समस्त ज्ञेयोंको (लोकालोकको) अपनी ज्ञानप्रभाके द्वारा प्रकाशित करता है अर्थात् जानता है इसलिये व्यवहारसे आत्माका ज्ञान और आत्मा सर्वव्यापी कहलाता है। (यद्यपि निश्चयसे वे अपने असंख्य प्रदेशोंमें ही रहते हैं, ज्ञेयोंमें प्रविष्ट नहीं होते)।।३०।।

अब, यहाँ इसप्रकार (दृष्टांतपूर्वक) यह स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान पदार्थों में प्रवृत्त होता है :-

'रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमट्ठेसु।।३०।।'

नीचे हरिगीत :-

ज्यम दूधमां स्थित इंद्रनीलमणि स्वकीय प्रभा वड़े।
दूधने विषे व्यापी रहे, त्यम ज्ञान पण अर्थो विषे।।३०।।

आहा..हा...! **टीका :- 'जैसे दूध में...'** दूध है न ! पाव सेर या सेर। उसमें एक नीलमणि (डाला हो)। हरे रंग का मणि होता है यह (दूध के) अंदर डाला हो तो सारा दूध हरा लगे। (वैसे) मणि तो मणि में है, किन्तु उसकी प्रभा के कारण यह (दूध हरा) लगता है। **'जैसे दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न...'** हरे रंग के रत्न आते (हैं)। नीलमणि हरे आते (हैं) और नीमफल हरे (होते हैं)। नीम का फल भी हरा और नीलमणी भी हरा होता है। किन्तु लाख नीमफल के बदले में एक

नीलमणि प्राप्त नहीं होता। उसकी जाति ही अलग (है)। उस हरे रंग के नीलमणि को दूध में डाला हो तो सारे दूध में हरी... हरी... किरणें दिखाई देती हैं। जैसे दूध में प्रवेश कर दिया हो, वैसा लगे ! वास्तव में तो प्रवेश किया (नहीं) आहा..हा...! दृष्टांत तो देखिए संतो के !

वह `**...इन्द्रनील रत्न अपने प्रभाव समूह से दूध में व्याप्त होकर वर्तता हुआ दिखाई देता है,...**' सारा दूध मानो हरा हो गया हो, वैसा दिखे। आहा..हा...! `अनुभव प्रकाश' में एक दृष्टांत आता है न ! भाई !

कोई एक गरीब आदमी था। वह इन नीलमणि के ढेर जहाँ थे वहाँ रहता था। किन्तु उसे इसकी क़ीमत मालूम नहीं थी। इसलिये एक नीलमणि - हरा पथ्थर है तो अपने काम आयेगा (वैसा सोचकर लिया)। वह स्नान के लिए (अंदर पानी में गया), तो पानी हरा दिखाई दिया। वहाँ एक जौहरी सेठ था (उसने देखा)। सेठ ने देखकर कहा `भाई ! यह क्या है तेरे पास ?' (उसने कहा) `यह एक हरा पथ्थर है।' (तब सेठ ने कहा) `अरे भाई ! यह हरा पथ्थर नहीं। यह तो नीलमणि है!' (गरीब आदमी को लगा) कि, `हाय ! क्या है (यह)! ? (सेठ ने उसे कहा) `हमारे सोने के गोदाम भरे पड़े हैं, यह सोने के गोदाम के बदले में हमें यह नीलमणि दो !' (उस गरीब आदमी को ऐसा लगा) कि, `हाय..रे...! मैं जहाँ गया था वहाँ तो नीलमणि के ढेर थे !! और मुझे उसकी क़ीमत नहीं आयी ! यह एक उठा के लाया हूँ !' आहा..हा...!

वह नीलमणि दूध में रखें तो दूध में (उसकी) छाया ऐसी हरी हो जाती है। है न ? `**...अपनी प्रभासमूह से...**' हरी प्रभा के समूह द्वारा `**...दूध में व्याप्त होकर वर्तता हुआ दिखाई देता है, उसीप्रकार संवेदन (ज्ञान) भी...**' (यानी कौन) ? यह आत्मा का ज्ञान। नीचे (मूल शास्त्र में अर्थ) है। `प्रमाणदृष्टि से संवेदन अर्थात् ज्ञान कहने पर अनंत गुणपर्यायों का पिंड समझ में आता है। इसमें यदि कर्ता, करण आदि अंश किये जायें' बहुत सूक्ष्म, बापू ! आहा..हा...! `तो कर्ता - अंश वह अखंड आत्मद्रव्य है' यह द्रव्य की अपेक्षा से बात (कही है)। `...और करण-अंश वह ज्ञानगुण है।' आत्मा कर्ता और ज्ञानगुण - करण द्वारा जाने। यह व्यवहार कहा। वास्तव में तो यह केवलज्ञान की पर्याय है और (यह) स्वयं कर्ता होकर, (स्वयं) अपना करण

होकर ज्ञान को जाने, पर वस्तु को जाने। किन्तु यहाँ इतना ही सिद्ध करना नहीं। यहाँ तो आत्मा कर्ता (है) और करण ज्ञान (है)। इस करण ज्ञान के द्वारा पर को जाने। (यह सिद्ध करना है)। कर्ता एक अंश है और करण दूसरा अंश है। आहा..हा...! है ? 'कर्ता-अंश यह अखंड आत्मद्रव्य है और करण-अंश वह ज्ञानगुण है।'

इस तरह यहाँ **'...संवेदन (ज्ञान) भी आत्मा से अभिन्न होने से कर्ता-अंश से आत्मता को प्राप्त होता हुआ...'** कर्ता-अंश के द्वारा आत्मारूप यानी आत्मा स्वयं द्रव्यरूप प्राप्त होता हुआ, **'...ज्ञानरूप करण-अंश के द्वारा...'** 'ज्ञानरूप करण' (यानी) जैसे हथियार के द्वारा ऐसे काटा जाता है। उसे 'करण' कहते हैं। किन्तु यह करण भिन्न है और (वस्तु) भिन्न है। समझ में आया ? वसूला है न वसूला ! उसके द्वारा लकड़ी छेदने में आती है। (यहाँ) कहते हैं, नहीं ! किन्तु वसूला करण होकर लकड़ी को छेदता है, ऐसा नहीं। किन्तु वसूला - द्रव्य स्वयं ही कर्तारूप का अंश है और करण नाम साधन का अंश वह उसका स्वयं का है। यह साधन का अंश पर में गया नहीं कि (यह) पर को छेदे। अरे...! ऐसी बातें अब किसके घर की (होंगी) ? वैसे भगवानआत्मा ! ज्ञान का कर्ता ज्ञानगुण और ज्ञानगुण उसका करण नाम साधन (है)। है ? बहुत सूक्ष्म है यह सब, बापू !

'...कर्ता-अंश से आत्मता को प्राप्त होता हुआ ज्ञानरूप कारण-अंश के द्वारा कारणभूत पदार्थों के...' (यानी) सामने जो सब (पदार्थ) हैं वे। ('कारणभूत पदार्थों के' उसका) अर्थ नीचे (मूल शास्त्र में) है। 'पदार्थ कारण है और उनके ज्ञेयाकार (द्रव्य-गुण-पर्याय) कार्य हैं।' आहा..हा...! अनंत पदार्थ कारण हैं और यहाँ जो ज्ञेयाकार होते हैं वह कार्य है। है तो ज्ञेयाकार, ज्ञानाकार। किन्तु ज्ञेयाकार कहने में आता है। जिस तरह लकड़ी, कंडा को अग्नि जलाती है, तब वह अग्नि लकड़ी कंडे के आकार हुई, वैसा कहने में आता है। वैसे तो यह अग्नि स्वयं इस आकार हुई है। उसके (लकड़ी के) आकार हुई नहीं। अरे...! अरे...! ऐसी बातें हैं !

यहाँ कहते हैं **'...ज्ञानरूप करण-अंश के द्वारा कारणभूत पदार्थों के कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारों में व्याप्त हुआ...'** क्या कहते हैं ? कि, ज्ञान की पर्याय जो जानती है वह कार्य है और ये पदार्थ उनके निमित्त हैं यह कारण है। व्यवहार से (ऐसा कहा जाय)। उन कारणों को कार्य में आरोप देकर, जैसे कि कारण (पदार्थ) उसमें

(ज्ञान में) आ गये हो ! (वैसा व्यवहार से कहने में आता है)। **`...कारणभूत पदार्थों के कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारों में व्याप्त हुआ वर्तता है, इसलिये कार्य में कारण का (ज्ञेयाकारों में पदार्थों का) उपचार करके...**' क्या कहा यह ? सेर दूध में नीलमणि रखें (तो दूध में) हरी प्रभा हो जाय, वैसा लगे। वास्तव में तो हरी प्रभा स्वयं को छोड़कर बाहर गई नहीं। किन्तु इस प्रभा के समूह के द्वारा दूध हरा दिखे।

वैसे भगवानआत्मा अनंत ज्ञेयों को जानते हुए, कर्ता-अंश आत्मा और करण-अंश ज्ञान के द्वारा, कारणरूप जो पदार्थ (यानी) जानने का जो कार्य हुआ, यह कार्य का कारण पदार्थ (है)। ये कारणरूप पदार्थों के कार्यरूप समस्त ज्ञेयाकारों (यानी कि) ज्ञान की पर्याय के जितने ज्ञेय हैं उनरूप ज्ञानाकार (जो) हुए, यह ज्ञेयाकार हुआ ऐसा कहकर (ज्ञान पदार्थों में) व्यापकर वर्तता है (वैसा कहा)। उन ज्ञेयाकारों में ज्ञान व्यापकर-रहकर वर्तता है। आ..हा..हा...! क्या कहते हैं ! सामने है कि नहीं! **`...इसलिये कार्य में कारण का (ज्ञेयाकारों का) उपचार करके...**' क्या कहा यह? भगवान वे तो केवलज्ञानप्राप्त आत्मा है। (उनको) ज्ञान की पर्याय में - केवलज्ञान की पर्याय में लोकालोक के ज्ञेयाकार जानने में आते हैं। यह जानने का कार्य होता है। उसका कारण यह निमित्त - पदार्थ हैं। इसलिये कारण का कार्य में उपचार करके (यानी कि) यह कार्य है तो ज्ञानाकार, किन्तु ज्ञेय के कारण से यहाँ ज्ञान हुआ, वैसा कहकर, यह कारण (पदार्थ) इसमें आये हैं (वैसा कहा जाता है)। (अर्थात्) ये ज्ञेयाकार ज्ञान में आये हैं और ज्ञान की पर्याय ज्ञेयाकार में गई है, वैसा व्यवहार से कहने में आता है। अरे...! ऐसी बातें हैं !

वह तो कितना सरल था, लीजिए ! `णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं...' (वैसा बोलकर) दो घड़ी बैठें तो (मान लिया कि) हो गई सामायिक ! कुछ भी नहीं, सुन तो सही !

श्रोता :- पुराने समय में वैसा होता था, नये समय में ऐसा होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- पुराने समय में भी शक्कर तो शक्कर ही होती है। शक्कर क्या जहर हो जाये ? आहा..हा...! यह वस्तु बहुत सूक्ष्म है, बापू ! Logic से - न्याय से सिद्ध करते हैं कि, भगवान का आत्मा ज्ञानस्वरूपी है। उनकी पर्याय में - अवस्था में लोकालोक - ज्ञेय का जानना होता है। इसलिये (यहाँ वैसा कहा कि)

आत्मा कर्ता (है) और ज्ञान करण (है)। किन्तु इस (ज्ञान में) जो ज्ञेय का आकार जानने में आया, उस कार्य में ज्ञेयाकार का निमित्त है, वैसा देखकर वह कारण (पदार्थ) यहाँ है (यानी कि) कार्य में कारण है, वैसा उपचार से कहने में आता है।

अब इन बातों के लिये बनिये को फुरसत मिले नहीं, उसमें ऐसी बातें (समझना) ! (तथापि) आजकल लोग सुनते हैं, बापू ! प्रभु ! तेरी बातें हैं। इस समय भी तेरा ज्ञान - राग को, शरीर को, वाणी को (जानता है)। उस ज्ञेयाकार में, यह ज्ञेयाकार जो शरीर, वाणी (है वह) निमित्त है। अत: वह (वास्तव में) तो ज्ञानाकार है। किन्तु ज्ञेयाकार (यानी कि) ज्ञेय उसमें कारण हैं। इसलिये उसकी पर्याय में यह ज्ञेयाकार (यानी कि) ज्ञेय आयें, वैसा व्यवहार से कहने में आता है। आहा..हा...! (वैसा होनेपर भी) यह ज्ञेय के आकार में आत्मा हो जाता है, वैसा नहीं। किन्तु ज्ञेयाकार का ज्ञान यहां अपने में होता है, उसमें यह (ज्ञेय) निमित्त था। इसलिये कारण का कार्य में आरोप देकर, वे ज्ञेयाकार यहाँ पर ज्ञान में आये, वैसा व्यवहार से कहने में आता है। अरे...रे...! ऐसा (सब) समझना !

भिन्न भिन्न तत्त्व है उसे उसी तरह जानना। इसके बिना विपरीतता होगी। आहा...! एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व में मिलावट (करके) मानना, यह तो मिथ्याश्रद्धा है, आहा..हा...!

(यहाँ क्या कहते हैं) ? `**(-ज्ञेयाकारों में पदार्थों का) उपचार करके...**' `ज्ञेयाकारों में पदार्थों का उपचार करके' इसका अर्थ क्या ? कि, ज्ञान की पर्याय में जैसा ज्ञेयस्वरूप है वैसा जानने में आता है। अत: कारण तो यह (ज्ञेय) है और कार्य यहाँ पर (ज्ञान) है। (यानी) उस कार्य में कारण का उपचार करके, ज्ञेयाकार ज्ञान में आये, वैसा व्यवहार से कहने में आता है। आहा..हा...! ऐसी भाषा घर में चलती नहीं (और) धर्म के बाज़ार में जाये तो (सुनने) मिले नहीं। ऐसी बात (है) ! आहा..हा...! `**...यह कहने में विरोध नहीं आता...**' है ? `**...ज्ञान पदार्थों में व्याप्त होकर वर्तता है।**' व्यवहार से (वैसा कहने में विरोध नहीं आता) ऐसा कहते हैं।

भगवान का परमात्मा का ज्ञान (यह) केवलज्ञान है। अरिहंत परमात्मा का ज्ञान वह केवलज्ञान है। उस ज्ञान में लोकालोक जानने में आता है और वह लोकालोक ज्ञेय है, जाननेलायक है। उसके आकार से यहाँपर ज्ञान हुआ, इसलिये यह कार्य तो अपना है। किन्तु उस कार्य में (लोकालोक) निमित्त था। उस कारण से ज्ञान

में ज्ञेय व्याप्त है और ज्ञेय ज्ञान में आया है। वैसा व्यवहार से कहने में आता है। अरे...! अरे...! वैसा है। अब, इसमें (धंधे की आड़ में) वैसा निर्णय करने की फुरसत कहाँ से मिले ! आहा..हा...! यह तो नौ तत्त्वों की भिन्नता बताते हैं। नौ तत्त्वों की भिन्नता की जिसे ख़बर नहीं है, उसे श्रद्धा कैसे हो ? आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं, ज्ञेय को जाननेवाला ज्ञान - कार्य, ज्ञेय के कारण हुआ। (ज्ञेय तो) निमित्त है। (तथापि) उसका ज्ञान हुआ यानी कारण का कार्य में आरोप करके ज्ञेय ज्ञान में आये हैं और ज्ञान ज्ञेय में गया है, वैसा व्यवहार से कहने में आता है।

(नये लोगों को तो ऐसा लगे कि) क्या मालूम कुछ कहते थे - नीलमणि और ऐसे और वैसे और...! दूध में व्याप्त होकर रहे। वैसे आत्मा की ज्ञान की पर्याय में ज्ञेयाकार व्यापता है और व्यापता नहीं किन्तु उसका ज्ञान होता है इसलिये उसमें व्यापता है...! वैसा कुछ कहते थे। व्यापना क्या ? कारण क्या और कार्य क्या ?

इसलिये वैसा कहा, प्रभु ! यह आत्मा है न ! उसका ज्ञानगुण स्वभाव है, यह स्वभाव की वर्तमान पर्याय (होती) है, स्वभाव जो गुण है यह तो त्रिकाल है। किन्तु अरिहंत परमात्मा को केवलज्ञान की पर्याय प्रगट हुई, यह एक समय की पर्याय है। यह एक (समय की) पर्याय लोकालोक को जानती है। वास्तव में तो उनकी पर्याय वहाँ ज्ञेय में जाती नहीं और ज्ञेय यहाँ आता नहीं। किन्तु ज्ञेय का यहाँ ज्ञान हुआ, अत: कार्य में कारण का उपचार करके, ज्ञेय यहाँ आये हैं, वैसा कहने में आता है। आहा..हा...! अब, वैसा मार्ग...! `ज्ञान पदार्थों में व्याप्त होकर वर्तता है।' (वैसा कहां) देखा ? पदार्थों में व्याप्त होकर वर्तता है ! व्यवहार से `**...यह कहने में विरोध नहीं आता...**' निश्चय से तो वैसा है नहीं। आहा..हा...!

भावार्थ :- `जैसे दूध से भरे हुए पात्र में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न...' आहा..हा...! दूध से भरे हुए पात्र में पड़ा इन्द्रनील रत्न - नीलमणि। (इन नीलमणि के व्यापार में लोग लाखों रुपये कमाते हैं वैसा वह मानता है) (किन्तु वह तो) तुने राग किया (है)। और वह राग भी मेरा है, वैसा माना है, वह भी मिथ्याभाव - अज्ञान है। आ..हा..हा...!

मेरा अपना हो वह अपने से जुदा पड़े नहीं और जो जुदा पड़े वह अपना न हो सके, आत्मा सम्यग्दर्शन और (सम्यक्) ज्ञान प्राप्त करे या केवलज्ञान प्राप्त करे, तब राग उसका रहता नहीं। सिद्ध परमात्मा हुए - `णमो (सिद्धाणं)' ! वहाँपर राग

है ? (नहीं)। क्योंकि उसका हो जब तो वहाँ साथ में रहना चाहिये। आहा..हा...!

`णमो सिद्धाणं' - परमात्मा ! अनंत सिद्ध मुक्तिशिला पर बिराजमान हैं। शरीरसहित हो और केवलज्ञान हो उसे `अरिहंत' कहते हैं। शरीररहित हो उन परमात्मा को `सिद्ध' कहते हैं। यह `णमो अरिहंताणं' और `णमो सिद्धाणं' की (व्याख्या कही)। `सीमंधर भगवान' बिराजमान हैं वे `णमो अरिहंताणं' में है और `महावीर' आदि चौबीस तीर्थंकर हो गये वे `णमो सिद्धाणं' में हैं। वे सिद्ध परमात्मा हो गये हैं। उनका ज्ञान लोकालोक को जाने। आहा..हा...! तथापि वह लोकालोक में प्रवेश न करे और लोकालोक यहाँपर आते नहीं। परंतु ज्ञान के कार्य में - जानने के कार्य में वह निमित्त था। यह निमित्त अर्थात् (यहाँपर) कारण (कहना है)। यह कारण का यहाँपर कार्य में आरोप करके, यह ज्ञान ज्ञेय में व्याप्त हुआ है (वैसा व्यवहार से कहने में आता है)। आहा..हा...! **`यह करने में विरोध नहीं आता कि `ज्ञान पदार्थों में व्याप्त होकर वर्तता है।''** आहा..हा...! अब वैसी बातें !

इसमें हमें करना क्या ? (यह कुछ समझ में नहीं आता)। करना यह कि, देह से और वाणी से तो तू भिन्न है। उसकी क्रिया तो तू कर सकता नहीं। किन्तु अंदर जो राग होता है उसकी क्रिया भी तू कर सकता नहीं। वैसा तेरा स्वरूप है। यह राग भी विकार है और तेरा स्वरूप निर्विकार है। यह निर्विकारी स्वभाव की दृष्टि करना और विकार से भिन्न पड़ना। यह उसका कार्य (है) और यह सम्यग्दर्शन है। आहा..हा...! यथार्थ दर्शन यह है। सम्यक् यानी यथार्थ (और) दर्शन यानी श्रद्धा। आहा..हा...!

श्रोता :- यहाँपर कितने समय ठहरें तो समझ में आये ?

समाधान :- जो कमाई करने जाते हैं वे क्या वक्त के पाबंद हैं ? `पालनपुर' छोड़कर `बँबई' आ बसे। कमाई का जिसे प्रेम है वह तो पत्नी, बाल-बच्चों को छोड़कर कहीं `आफ्रिका' में जा बसते हैं। यहाँपर समाज, जान-पहचान, माता-पिता (सबको) छोड़कर वहाँ भटकता है ! जिसे कमाई का प्रेम है उसे समय की पाबंदी क्या? कि, मुझे यहाँ इतना रहना ? वैसे जिसे आत्मा का प्रेम हो उसे समय की मर्यादा क्या कि इतने समय में यह समझ में आये ? आहा..हा...! तथापि शास्त्र ने आधार दिया है कि, तुझे इसका रटण करने में कदाचित् छः मास लग जायें। `समयसार'

में कलश में (आता) है, होगा तो अंत:मुहूर्त में ! आहा..हा...! (वैसा) अंदर भावार्थ में लिखा है। आहा..हा...!

राग और निमित्त का लक्ष छोड़कर और भगवान(आत्मा) पूर्णानंद का नाथ प्रभु है, उसकी दृष्टि तथा उसकी श्रद्धा अनुभव में करना, यह उसे करने का है। यह करने में जघन्य (काल) तो अंत:मुहूर्त में हो सकता है (और) ज्यादा समय लगे तो कहते (हैं) छ: महीना (लगेंगे)। वैसा कहा है। `समयसार' में यह कलश है। आहा..हा...! किन्तु उसकी लगन लगनी चाहिये। आहा..हा...! धुन लगनी (चाहिये) धुन ! ध्रुव के धाम में ध्येय की धुन लगनी चाहिये।

दो वर्ष पहले `भावनगर' में (कहा था)। वह **`आत्मधर्म'** में आया है। ध्रुवधाम भगवानआत्मा ! ध्रुव... ध्रुव... निश्चल ध्रुव...! वैसा जो प्रभु का - आत्मा का धाम (है) उसके ध्यान की लगन (धगश) तथा धीरज से धून लगाने से... (वैसा) `ध, धा' के तेरह बोल थे।

**`ध्रुव धामना ध्येयना ध्याननी धखती धूणी धगश अने धीरजथी धखाववी, ते धर्मनो धारक धर्मी धन्य छे.'** दो वर्ष पहले `भावनगर' में ऐसे शब्द (आये) हैं।

बाद में `बहिन' के वचन आये हैं। `तू अपने को देख। जैसा तू है वैसा ही तू प्रगट होगा।' (`बहिनश्री के वचनामृत' - ३०५) ``द्रव्य से परिपूर्ण महाप्रभु हूँ, भगवान हूँ, कृतकृत्य हूँ' ऐसा मानते होनेपर भी `पर्याय में तो मैं पामर हूँ' ऐसा महामुनि भी जानते हैं।' (`बहिनश्री के वचनामृत' - ३५२)

यहाँपर यह कहा, है न ? **`...इसीप्रकार ज्ञेयों से भरे हुए विश्व में रहनेवाला आत्मा समस्त ज्ञेयों को** (**लोकालोक को**) **अपनी ज्ञानप्रभा के द्वारा प्रकाशित करता है अर्थात् जानता है इसलिये व्यवहार से आत्मा का ज्ञान और आत्मा सर्वव्यापी कहलाता है।** (**यद्यपि निश्चय से वे अपने असंख्य प्रदेशों में ही रहते हैं, ज्ञेयों में प्रविष्ट नहीं होते।'** किन्तु व्यवहार से कहने में आता है। विशेष कहेंगे...

❋ ❋ ❋

अथैवमर्था ज्ञान वर्तन्त इति संभावयति –

जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा।।३१।।

यदि ते न सन्त्यर्था ज्ञाने ज्ञानं न भवति सर्वगतम्।
सर्वगतं वा ज्ञानं कथं न ज्ञानस्थिता अर्थाः।।३१।।

यदि खलु निखिलात्मीयज्ञेयाकारसमर्पणद्वारेणावतीर्णाः सर्वेऽर्था न प्रतिभान्ति ज्ञाने तदा तन्न सर्वगतमभ्युगम्येत। अभ्युपगम्येत वा सर्वगतम्, तर्हि साक्षात् संवेदनमुकुरुन्दभूमिकावर्तीण (प्रति) बिम्बस्थानीयस्वीयस्वीयसंवेद्याकारकारणानि परम्परया प्रतिबिम्बस्थानीयसंवेद्याकारकारणानीति कथं न ज्ञानस्थायिनोऽर्था निश्चीयन्ते।।३१।।

अथ पूर्वसूत्रेण भणितं ज्ञानमर्थेषु वर्तते व्यवहारेणात्र पुनरर्था ज्ञाने वर्तन्त इत्युपदिशति– **जह** यदि चेत् **ते अट्ठा ण संति** ते पदार्थाः स्वकीयपरिच्छित्त्याकारसमर्पणद्वारेणादर्शे बिम्बवन्न सन्ति। क्व। **णाणे** केवलज्ञाने। **णाणं ण होदि सव्वगयं** तदा ज्ञानं सर्वगतं न भवति। **सव्वगयं वा णाणं** व्यवहारेण सर्वगतं ज्ञानं सम्मतं चेद्भवतां **कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा** तर्हि व्यवहारनयेन स्वकीयज्ञेयाकारपरिच्छित्तिसमर्पणद्वारेण ज्ञानस्थिता अर्थाः कथं न भवन्ति किंतु भवन्त्येवेति। अत्रायमभिप्रायः – यत एव व्यवहारेण ज्ञेयपरिच्छित्त्याकारग्रहणद्वारेण ज्ञानं सर्वगतं भण्यते, तस्मादेव ज्ञेयपरिच्छित्त्याकारसमर्पणद्वारेण पदार्था अपि व्यवहारेण ज्ञानगता भण्यन्त इति।।३१।।

अब, ऐसा व्यक्त करते हैं कि इस प्रकार पदार्थ ज्ञानमें वर्तते हैं :-

गाथा ३१

नव होय अर्थो ज्ञानमां, तो ज्ञान सौ-गत पण नह।
ने सर्वगत छे ज्ञान तो क्यम ज्ञानस्थित अर्थो नहीं ?।।३१।।

अन्वयार्थ :- [यदि] यदि **[ते अर्थाः]** वे पदार्थ **[ज्ञाने न संति]** ज्ञानमें न हों तो **[ज्ञानं]** ज्ञान **[सर्वगतं]** सर्वगत **[न भवति]** नहीं हो सकता **[वा]** और यदि **[ज्ञानं सर्वगतं]** ज्ञान सर्वगत है तो **[अर्थाः]** पदार्थ **[ज्ञानस्थिताः]** ज्ञानस्थित **[कथं न]** कैसे नहीं हैं ? (अर्थात् अवश्य हैं)

टीका :- यदि समस्त स्व-ज्ञेयाकारोंके समर्पण द्वारा (ज्ञानमें) अवतरित होते हुए समस्त पदार्थ ज्ञानमें प्रतिभासित न हों तो वह ज्ञान सर्वगत नहीं माना जाता। और यदि वह (ज्ञान) सर्वगत माना जाये, तो फिर (पदार्थ) साक्षात् ज्ञानदर्पणभूमिकामें अवतरित बिम्बकी भाँति अपने-अपने ज्ञेंयाकारोंके कारण (होनेसे) और परम्परासे प्रतिबिम्बके समान ज्ञेयाकारोंके कारण होनेसे पदार्थ कैसे ज्ञानस्थित निश्चित नहीं होते ? (अवश्य ही ज्ञानस्थित निश्चित होते हैं)

भावार्थ :- दर्पणमें मयूर, मन्दिर, सूर्य, वृक्ष इत्यादिके प्रतिबिंब पड़ते हैं। वहाँ निश्चयसे तो प्रतिबिंब दर्पणकी ही अवस्थाएँ हैं, तथापि दर्पणमें प्रतिबिंब देखकर कार्यमें कारणका उपचार करके व्यवहारसे यह कहा जाता है कि `मयूरादिक दर्पणमें हैं।' इसीप्रकार ज्ञानदर्पणमें भी सर्व पदार्थोंके समस्त ज्ञेयाकारोंके प्रतिबिंब पड़ते हैं अर्थात् पदार्थोंके ज्ञेयाकारोंके निमित्तसे ज्ञानमें ज्ञानकी अवस्थारूप ज्ञेयाकार होते हैं (क्योंकि यदि ऐसा न हो तो ज्ञान सर्व पदार्थोंको नहीं जान सकेगा)। वहाँ निश्चयसे ज्ञानमें होनेवाले ज्ञेयाकार की ही अवस्थायें हैं, पदार्थोंके ज्ञेयाकार कहीं ज्ञानमें प्रविष्ट नहीं है। निश्चयसे ऐसा होनेपर भी व्यवहारसे देखा जाये तो, ज्ञानमें होनेवाले ज्ञेयाकारोंके कारण पदार्थोंके ज्ञेयाकार हैं, और उनके कारण पदार्थ हैं-इसप्रकार परम्परासे ज्ञानमें होनेवाले ज्ञेयाकारोंके कारण पदार्थ हैं; इसलिये उन (ज्ञानकी अवस्थारूप) ज्ञेयाकारोंको ज्ञानमें देखकर, कार्यमें कारणका उपचार करके व्यवहारसे ऐसा कहा जा सकता है कि `पदार्थ ज्ञानमें हैं'।।३१।।

(**दिनांक २-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-२७**)

(`प्रवचनसार') ३१वीं गाथा। कौन सा अधिकार चलता है ? भगवान केवलज्ञानी परमात्मा को ज्ञान की पर्याय में लोकालोक जानने में आता है। यानी कि वह वस्तु (यहाँपर ज्ञान में) आ गई हो, वैसे व्यवहार से कहने में आता है। भगवान के ज्ञान में तीनकाल तीनलोक (जानने में आते हैं)। भावी की पर्याय हुई नहीं है उसका भी ज्ञान भगवान को अभी से ही होता है। तीनकाल जानते हैं न ?

वैसा कहते हैं।

`अब, ऐसा व्यक्त करते हैं कि इसप्रकार पदार्थ ज्ञान में वर्तते हैं :-' ज्ञान यानी आत्मा। लोकालोक के पदार्थ हैं, वे ज्ञान अर्थात् आत्मा (में वर्तते हैं)। केवलज्ञानप्राप्त प्रभु (के ज्ञान में) वर्तते हैं। व्यवहार से (वर्तते हैं), हाँ !

जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं।
सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा।।३१।।

(४७) नय के (अधिकार में) वैसे तो सर्वगत को एकान्त मिथ्यात्व कहा है, न? किन्तु यहाँ तो (जानता है इसलिये) उतना स्थापित करता है। ज्ञान में तीनकाल तीनलोक जानने में आते हैं। यह जानने में आता है वह ज्ञेयाकार ज्ञान हुआ। अत: ज्ञेयाकार यहाँपर आयें, वैसा व्यवहार से कहने में आता है। भगवान तो भावी की अनंत पर्याय को (जानते हैं)। यह जीव इस जगह सम्यक्त्व को प्राप्त होगा, इस जगह से मोक्ष जायेगा - यह सब केवलज्ञान में आ चुका है। समझ में आया ?

संप्रदाय में (थे) तब (संवत्) १९७२ की (साल में) यह बड़ा प्रश्न उठा था। १९७२ की (साल के) फाल्गुन सुद तेरस-चौदस की बात है। कितने वर्ष हुए ? तिरसठ। वे (साधु) बारबार ऐसा कहते रहते थे, (कि) `केवलज्ञानी ने देखा होगा वैसा होगा। हम क्या कर सकते हैं ? दो साल तो सुना, फिर (एक दिन) रात को कहा, `केवलज्ञानी ने देखा है वैसा होगा वह बात सत्य है। किन्तु उसकी श्रद्धा किसे है? जगत में सर्वज्ञ परमात्मा हैं - केवली हैं, जिसकी एक समय की ज्ञान की पर्याय में तीनकाल तीनलोक जानने में आते हैं। वैसा ज्ञान जगत में है, उसकी किसको प्रतीति है ? जिसे ऐसी प्रतीति हुई, वह तो ज्ञायक स्वभाव पर जायेगा तब उसे प्रतीति होगी।' उस दिन इतना नहीं कहा था। (उस दिन तो) इतना कहा था कि, केवलज्ञान ऐसा है वैसा ज्ञान में आयेगा जब तो उसे भव नहीं रहेंगे। वैसा कहा था। आहा...! हीराजी महाराज सुन रहे थे। किन्तु दूसरे साधु ने विरोध किया कि, वैसा नहीं। (किन्तु मैंने कहा) `है तो वैसा ही !' दुनिया माने या ना माने... भगवान सर्वज्ञ परमात्मा दुनिया में हैं - वह ज्ञान का निर्णय, (जब) ज्ञान में प्रवेश जाये तब सर्वज्ञस्वभाव है (उसकी प्रतीति होती है)। तब इतना सबकुछ नहीं कहा था किन्तु इतना ज्ञान में था कि, अंदर ज्ञान में सर्वज्ञ है इतना प्रवेश जाये, तो सर्वज्ञ ने उसके भव देखे

ही नहीं !

उसमें यह क्रमबद्ध तो बाद में आया। यह तो (टीका में) `क्रमनियमित' शब्द रचना है। एक लेख आया है उसमें ऐसा लिखा है। `यह बात `कानजीस्वामी' से निकली है। यह बात हम भी नहीं जानते थे।' जो (पर्याय होनेवाली) है वह होगी, वैसा जो जाने वह निमित्त से (कार्य) हो और व्यवहार से (निश्चय) हो, वैसा माने ही नहीं। वैसे सम्यक्‌दर्शन भी जिस समय होनेवाला है, वही समय होने का उसका काल है। आहा..हा...! और उस सम्यक्‌दर्शन के काल में वह पर्याय त्रिकाली ज्ञायक के प्रति जाती है। तब उसे सर्वज्ञ की श्रद्धा होती है, आहा...!

(लेख में ऐसा लिखा है) - `क्रमबद्धपर्याय दिगंबर जैन समाज का बहुचर्चित विषय है।' दिगंबर में चर्चा (शुरू हुई)। श्वेतांबर में तो यह बात है ही कहाँ ! इसलिये बेचारे (चर्चा भी कैसे करे) ! आज एक साधु आया था वह चिल्लाता था - `कर्म से होता है.. कर्म से गति, कर्म से विकार (होता है)... !' वैसे आत्मा को विभाव कैसा ? अरे ! भगवान ! यह करता है क्या ? (वे वैसा कहते थे) `कर्म से संसार होता है और कर्म टल जाये तो मोक्ष होता है !' अरे... भगवान ! यहाँपर कहते हैं - `इसकी चर्चा आज तत्त्वप्रेमी समाज में सर्वत्र होती देखी जाती है। `कानजीस्वामी' ने इस विषय को बड़ी गंभीरता से प्रस्तुत कर, अध्यात्म जगत में एक क्रांति का शंखनाद कर दिया है। यह महत्वपूर्ण विषय समाज में आज चर्चा का विषय बना है। तथापि इसकी गहराई में जानेवाले व्यक्ति कम ही नजर आते हैं। जैनदर्शन से अनुसंधान कर जिस गहराई में मंथन किया जाना चाहिये, वह दिखाई नहीं दे रहा। यह महान दार्शनिक उपलब्धि को व्यर्थ के वाद-विवाद में (नहीं ले जाना चाहिये)। यह तो महान दार्शनिक उपलब्धि है !' (वैसा लिखा है)। दर्शन अर्थात् जैनदर्शन। उसकी मूल उपलब्धि यह क्रमबद्ध में है। अब उसके निर्णय के तो ठिकाने नहीं और बातें करे कि, व्यवहार से हो, इससे हो और फलाँने से हो ! आहा..हा...!

जिस पर्याय में सर्वज्ञता का निर्णय हो (वह) प्रगट परिणमन में होता (है)। द्रव्य में (निर्णय) नहीं होता। परिणमन - पर्यायरहित द्रव्य नहीं और परिणमन में यदि सर्वज्ञ का निर्णय हो, (तो) उसकी दृष्टि द्रव्यरहित हो नहीं सकती, आहा..हा...!

(लेख में तो ऐसा कहा) यह तो दार्शनिक उपलब्धि है। जैन दर्शन का जो

स्वभाव है उसका मूलतत्त्व यह है ! यह अन्य दर्शन में तो है नहीं (मात्र) जैनदर्शन में ही है। उसके लिए गहराई से सोचते नहीं और टेढ़े-मेढ़े (तर्क करते हैं कि) ऐसा हो और वैसा हो।

यहाँपर (चालु विषय में) ऐसा कहते हैं कि, आत्मा में तीनकाल तीनलोक के पदार्थ जानने में आ गये यानी (कि) व्यवहार से अंदर में आये (वैसा कहा गया)! तीनकाल तीनलोक (जाने) ! भावी में जो द्रव्य की पर्याय अनंत होगी (उसे भी जानता है और) अपनी (जो पर्याय) होगी उसका (भी) ज्ञान उसे केवलज्ञान में हो गया है, आहा..हा...!

`...ऐसा व्यक्त करते हैं कि इस प्रकार पदार्थ ज्ञान में वर्तते हैं।'

नव होय अर्थों ज्ञानमां, तो ज्ञान सौ-गत पण नह।
ने सर्वगत छे ज्ञान तो क्यम ज्ञानस्थित अर्थों नहीं ?।।३१।।

आचार्यो ने भी (सत्) कहा है न !

टीका :- `यदि समस्त स्व-ज्ञेयाकारों के समर्पण द्वारा...'** क्या कहते हैं ? (अपने) आत्मा के सिवा जो अनंत पदार्थ हैं - अनंत आत्मा, अनंत परमाणु और उसकी भूत-भावी की पर्यायें, आहा..हा...! वे स्व-ज्ञेयाकार के - जो अनंत ज्ञेय हैं उनके आकार के, **`...समर्पण द्वारा (ज्ञान में) अवतरित होते हुए...' उसके आकार ज्ञान में उतरे बिना। **`...समस्त पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित न हों तो वह ज्ञान सर्वगत नहीं माना जाता।'** आहा..हा...! भगवान केवली परमात्मा की ज्ञानपर्याय में जितने ज्ञेय (हैं) - तीनकाल तीनलोक, सभी क्षेत्र (जानने में आता है)। वे उनके स्व-ज्ञेयाकार हैं। वे यदि ज्ञान में नहीं उतरते अर्थात् ज्ञान में नहीं ज्ञात होते। है (अंदर) ? `समर्पण द्वारा' (अर्थात्) वे सर्व ज्ञेयाकार ज्ञान में अर्पण कर देते हैं। (अर्थात्) जैसा उनका स्वरूप है वैसा वहाँपर ज्ञान में जानने में आता है। आहा..हा...! सूक्ष्म बात बहुत, भाई ! **`...समस्त पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित न हो तो वह ज्ञान सर्वगत नहीं माना जाता।'** तो सर्व को जाननेवाला ज्ञान कहा नहीं जायेगा, आ..हा..हा...!

भगवान के ज्ञान में तीनकाल तीनलोक जानने में आये और सर्वज्ञ ने देखा उसी तरह होगा। यह बात तो वैसी ही है। परंतु इसका निर्णय कौन करे ? आ..हा..हा...! वैसे तीनकाल तीनलोक एक ज्ञान की पर्याय में समर्पित हो गये। (अर्थात्) सब ज्ञेय

हैं वे इस ज्ञान में आ गये। ऐसे ज्ञान का जो निर्णय करे, उसे तो स्वभाव सन्मुख का-सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ हुआ। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। सूक्ष्म बात (है), बापू! आ..हा...! टेढ़ी-मेढ़ी पर्याय हो एवं पर का मैं कर सकूँ (वे सभी मान्यता उड़ जाय वैसा है)।

क्रमबद्ध में भी अकर्तापना सिद्ध करना है। भगवान ने देखा वैसा होगा (और) (सभी द्रव्य की) अवस्था क्रमसर होती है। ऐसा जिसका निर्णय हो, उसे वर्तमान राग को करूं, वैसी कर्ताबुद्धि रहती नहीं। वह तो रहती नहीं किन्तु पर्याय को करूं वैसी भी कर्ताबुद्धि रहती नहीं। क्योंकि द्रव्य में एक `भाव' नामक गुण है ताकि बिना वर्तमान पर्याय के द्रव्य होता नहीं, आ..हा..हा...! ४७ शक्ति हैं न ? (उनमें) `भाव' शक्ति है। उस भाव शक्ति का अर्थ यह है कि उसका वर्तमान पर्यायभाव होगा ही। भावगुण की वर्तमान (पर्याय होती ही है)। (भावगुण के कारण) अनंत गुण की (पर्याय है ही)। (वैसा) भावगुण है ! सूक्ष्म बात बहुत, बापू !

अनंत गुण में भावगुण का रूप है। और इससे वह भावगुण की पर्याय वर्तमान में भावरूप हुए बिना रहती नहीं। अत: अनंत गुण में वह भाव(गुण का) रूप है। इसलिये अनंतगुण की भी एक समय की पर्याय जिस समय (होती है वह) उसका भाव है, वह हुए बिना रहती नहीं। आहा..हा...! बहुत सूक्ष्म ! ऐसा जिसे निर्णय हो उसकी अंदर द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि जायेगी। आ..हा..हा...! सर्वज्ञ स्वभाव है-भगवान(आत्मा) तो सर्वज्ञ स्वभावी है। सर्वज्ञ ने देखा ऐसा होगा वैसा माना, उसका निर्णय सर्वज्ञ स्वभाव-ज्ञान पर जाये, वैसा कह दिया। यह `ज्ञान' शब्द माने सर्वज्ञ स्वभाव (कहना है)। उसके उपर दृष्टि जाए उसे समकित होता है। उसका पुरुषार्थ अंदर झुका है और उस समय पाँचों समवाय हैं। सूक्ष्म बातें बहुत ! आ..हा..हा...!

`क्रमबद्ध' का लेख अच्छा लिखा है। उसके पीछे ऐसा लिखा है - `यह निबंध अभी अपूर्ण है। आवश्यक संबोधन, संशोधन और परिमार्जन शेष (बाक़ी) है। शीघ्र प्रकाश इस निबंध के संदर्भ में विद्वानों की महत्वपूर्ण सलाह, सुझाव, सूचना सानुरोध अपेक्षित है। हम विश्वास दिलाते हैं कि, प्रकाशन पूर्व प्राप्त सुझावों पर गंभीरतापूर्वक विचार कर आवश्यक संशोधन अवश्य किये जायेंगे।' ठीक किया है। इसमें (क्रमबद्ध का निर्णय) करने जाये तो (दूसरी) बात सब उड़ जाती है। जिस समय जो पर्याय (होनेवाली)

है वह होती (है)।

अभी इसमें (निबंध में) `निजक्षण' की (बात) लिखी नहीं। (`प्रवचनसार') ९९ गाथा! जिस समय जो (पर्याय) होनेवाली है, (यानी कि) पूर्व अवसर पर होनेवाली है (वह पूर्व अवसर में होती है), वर्तमान में (होनेवाली वर्तमान में होती है)। प्रधान चीज यह है ! आ..हा..हा...!

यहाँपर ऐसा कहते हैं कि, केवलज्ञान की पर्याय में तीनोंकाल में जगत की जिस द्रव्य की, जिस आत्मा की पर्याय भावी में होनेवाली है, अतीत की बीत (गई) (और) वर्तमान में (होती है), वे सब ज्ञान में समर्पित हैं। सभी ज्ञेयाकार स्वज्ञेयाकार में (ज्ञान में) जानने में आते हैं। आहा..हा...! बहुत सूक्ष्म ! है ? **`...(ज्ञान में) अवतरित होते हुए समस्त पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित न हों तो वह ज्ञान सर्वगत नहीं माना जाता।'** `ज्ञान' शब्द से आत्मा। तो सर्व को जाननेवाला ज्ञान कहा नहीं जाय, आ..हा..हा...! सूक्ष्म बातें बहुत, बापू !

`...और यदि वह (ज्ञान) सर्वगत माना जाये,...'** `ज्ञान' शब्द अर्थात् आत्मा समझना। **`...तो फिर (पदार्थ) साक्षात् ज्ञानदर्पणभूमिका में...'** आ..हा..हा...! **`...अवतरित बिंब की भाँति...' आ..हा..हा...! `बिंब' का (अर्थ) निम्नलिखित है। `बिंब = जिसका दर्पण में प्रतिबिंब पड़ा हो वह। (ज्ञान को दर्पण की उपमा दी जाये तो, पदार्थों के ज्ञेयाकार बिंब समान हैं और ज्ञान में होनेवाले ज्ञान की अवस्थारूप ज्ञेयाकार प्रतिबिंब समान है)।' आइने के समक्ष अग्नि और बर्फ हो वे यहाँ प्रतिबिंबित हो, तो (अग्नि और बर्फ) बिंब कहलायेंगे। `(और ज्ञान में स्थित ज्ञान की अवस्थारूप ज्ञेयाकार प्रतिबिंब जैसे हैं)' आइना है (उसके समक्ष) अग्नि और बर्फ (रखें) हैं, उन्हें बिंब कहेंगे। और (आइने में) उनकी झलक दिखती हैं, वे प्रतिबिंब हैं। है तो वह आइने की अवस्था, किन्तु उसका प्रतिबिंब कहलाता है। वैसे ज्ञान की पर्याय में ज्ञेयाकार (होते हैं)। जगत के अनंत पदार्थ बिंब हैं और आत्मा की पर्याय में उनका प्रतिबिंब पड़ता हैं इसलिये जानता है। अरिहंत का निर्णय करने में कितना पुरुषार्थ है ! यह आत्मा का पुरुषार्थ है, आ..हा..हा...!

(अब कहते हैं) **`...बिंब की भाँति अपने अपने ज्ञेयाकारों के कारण (होनेसे)...'** क्या कहा ? सामने चीज है - जो अनंत आत्मा, अनंत परमाणु (हैं) उनकी जो त्रिकाली

पर्याय हैं, गुण हैं - वे उनके (अपने) ज्ञेयाकार हैं। वे **`...अपने-अपने ज्ञेयाकारों के कारण (होनेसे) और परंपरा से प्रतिबिंब का समान ज्ञेयाकारों के कारण होनेसे...'** आहा...! वे सभी पर्याय अपने-अपने कारण हैं। किन्तु यहाँपर (ज्ञान में) ज्ञेयाकार में वह व्यवहार कारण है। समझ में आया ?

`साक्षात् ज्ञानदर्पणभूमिका में अवतरित बिंब की भाँति अपने-अपने ज्ञेयाकारों के कारण (होनेसे)...' वास्तव में तो वे आत्मा और अनंत परमाणु अपने-अपने गुण-पर्याय के कारण हैं। वे अपने-अपने गुण-पर्याय के कारण (वैसे पदार्थ को) बिंब कहें (और) ज्ञान की पर्याय में जानने में आये उसे प्रतिबिंब कहें। ऐसी भाषा ! ऐसी बातें !

(उपवास आदि करना) वह तो सब राग की मंदता का शुभभाव है। वह पुण्यबंध का कारण (है)। यह कोई धर्म नहीं। धर्म तो ज्ञानरूपी भगवान(आत्मा में) सर्व जानने योग्य वस्तु, वे सभी यहाँ ज्ञान में जानने में आती है। वैसे ज्ञान की भीतर श्रद्धा करना, वैसा मानना यह पुरूषार्थ है और उसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान है, आहा..हा...!

सुबह में आया था न ? (कि) राग आदि पुद्गल की अवस्था (हैं) अब वहाँ (एकान्त) वैसा ही मान ले ! सुबह में एक साधु आया था, वह चिल्लाता था ! `हमें यह संमत होता नहीं... हमें यह संमत होता नहीं। कर्म से विभाव होता है...' श्वेतांबर में यही बड़ी बात है - कर्म से होता है ! अब... `कर्म बेचारे कौन ? भूल मेरी अधिकाई' तेरी पर्याय तू नहीं करता तो संसार किसका ? जड़ का संसार ! भटकने का भाव (किसका) ? आ..हा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, कर्म है ! केवलज्ञानी भगवान को भी चार कर्म बाक़ी हैं। चार घातीकर्मों का नाश हुआ है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय (इन चार का नाश हुआ है)। चार अघातीकर्म बाक़ी हैं - वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र। तथापि यह कर्म का ज्ञान यहाँ आत्मा में (होता) है। कर्म की अवस्था जो होगी, हुई और कब होगी - इन सभी ज्ञेयाकारों का केवलज्ञान में ज्ञान है, आ..हा..हा...! वैसे जो जड़ के और आत्मा के अपने-अपने ज्ञेयाकार हैं, वे अपने ज्ञेयाकार हैं।

`...परंपरा से प्रतिबिंब के समान ज्ञेयाकारों के कारण होनेसे...'** (अर्थात्) ज्ञान में (हुए) ज्ञेयाकार के कारण होने से, **`...पदार्थ कैसे ज्ञानस्थित निश्चित नहीं होते ? (अवश्य

ही ज्ञानस्थित निश्चित होते हैं)' यह क्या कहा ? कि, केवलज्ञानी भगवानआत्मा जो हैं और आत्मा के सिवा सब पदार्थ (जो हैं) वे अनंत सिद्ध, केवली, लाखों केवली सभी अपने ज्ञेयाकार के कारण हैं। (सर्व) द्रव्य, गुण, पर्याय अपने स्व(ज्ञेयाकार के) कारण हैं। यह केवलज्ञान में प्रतिबिंबरूप उभरते हैं, आहा..हा...! भगवान के ज्ञान में वे पूर्ण उभरते हैं, आ..हा..हा...!

श्वेतांबर के बत्तीस सूत्र में एक `विपाक अधिकार' है। उसमें दस अधिकार (हैं)। है तो सभी गलत ! (उसमें ऐसा आता है) साधु को आहार देनेवाला मिथ्यादृष्टि था। उस साधु को आहार देकर (उसने) परित संसार किया ! एक `युगमंधर' तीर्थंकर का नाम आता है। बाक़ी सभी साधु को (रखा हैं)। पर को आहार देना यह तो शुभभाव है। इससे संसार परित होता नहीं - क़म होता (नहीं), ये सब एतराज पहले से ही खड़े हुए थे।

(दूसरी बात ऐसी आती है कि) भगवान को रोग हुआ था और भगवान के लिये दवाई लेने गये थे। `रेवती' ने साधु को आहार दिया और उसका संसार परित हुआ। `भगवती' का पंद्रहवाँ शतक है, उसमें ऐसा पाठ है। झूठ कल्पना ! सब कुछ काल्पनिक! भगवान को रोग भी नहीं होता, दवाई भी नहीं लेते और जिसने आहार दिया उसका संसार परित हो, वैसा भी नहीं होता। यह तो (संवत्) '७७ के (साल की) बात है। केवली को आहार दिया !!! (वैसा कहते हैं)। अरे...! केवली को आहार होता नहीं। अरे...! सच्चे साधु-संत हो - अंदर सम्यग्दर्शन, ज्ञानसहित भावलिंग (हो) उनको आहार दिया जाय तथापि संसार परित होता नहीं। (मात्र) शुभभाव होता है, पुण्य होता है। अरे...! ऐसी बातें हैं !

श्रोता :- किन्तु तीर्थंकर गोत्र तो बांध सकते हैं न ?

समाधान :- उससे क्या ? यह शुभभाव है। इससे बांध नहीं सकते। एक लेख में आया है - `वह बंध का कारण है और समकिती को ही वैसे विकल्प होते हैं। तथापि यह भावना है, (धर्म) भाव नहीं। धर्म के भाव के लिए यह भाव कारण है, वैसा नहीं।' (सब बात) धीरे... धीरे... चर्चित होती है। क्या करे, बापू ? आ..हा...! जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बंधता है वह भाव धर्म हो सकता है ? धर्म से बंध होता है ? तीर्थंकर प्रकृति बंधती है यह भाव राग है, अधर्म है ! (लोग ऐसा सुनकर)

चिल्ला उठते (हैं) !

बोटाद संप्रदाय में '८५ की (साल में) व्याख्यान चलता था। हजारों आदमी, बहुत लोग (थे)। '८५ के पोष मास की बात है। उस दिन कहा था। कितने साल हुए ? पचास (हुए) ! उस दिन कहा था... आ..हा..हा...! जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बंधता है वह भाव धर्म नहीं, राग है, पुण्यबंध का कारण है, धर्म नहीं। आहा..हा...! खलबली मच गई...! (किन्तु) सभा सुनती रही। बापू ! `मोक्षपाहुड' में है न ? उसमें १६वीं गाथा में कहा है कि, (**परदव्वादो दुग्गइ**) - आत्मा जितना परद्रव्य के प्रति लक्ष करेगा, वह सब राग है। स्त्री, पुत्र के प्रति लक्ष करेगा तो (वह) अशुभराग है और देव, गुरु, शास्त्र के प्रति लक्ष करेगा तो वह शुभराग है। और यह शुभराग है वह आत्मा की - चैतन्य की गति नहीं। वह दुर्गति है, वैसा लिखा है। आ..हा..हा...! है न ? `मोक्षपाहुड' है, उसकी १६वीं गाथा है, आहा..हा...! `**परदव्वादो दुग्गइ**' भगवान ऐसा कहते हैं कि, हम पर लक्ष जायेगा और हमारा स्मरण करेगा तो राग होगा और वह `**परदव्वादो दुग्गइ**' (है)। हम तुझसे भिन्न परद्रव्य है। अत: हमारे प्रति तेरा लक्ष जायेगा, यह तेरी दुर्गति है। यह चैतन्य की गति नहीं, आ..हा..हा...! `**परदव्वादो दुग्गइ सद्‌वादो सुग्गइ**' भगवान आनंद का नाथ प्रभु ! ज्ञान का सागर प्रभु ! इस स्वद्रव्य का आश्रय करे उसे चैतन्य की सच्ची गति होती है, आहा..हा...! `**इय णाऊण**' - वैसा जानकर, `**सदव्वे कुणइ रई**' - अंदर स्वद्रव्य में लीन हो। रति (कर) ! `**विरह इयरम्मि**' तेरे द्रव्य के सिवा दूसरे अनंत द्रव्य (हैं)। भगवान वैसा कहते हैं कि, मुझसे भी तू निवृत्ति ले ! आ..हा...!

वहाँ (श्वेतांबर के शास्त्र में) पंद्रहवें अध्याय में वैसी बात आती है - रेवती ने आहार दिया ! सब ही कल्पित बातें हैं ! आहा..हा...! ऐसे सभी झूठे लेख, आहा..हा... क्या करे, प्रभु ! फेरफार हो गया। वीतराग (परमात्मा) नहीं रहे, इन्द्र और देव भी नहीं आते !

`ऋषभदेव भगवान' के काल में दूसरे चार हजार (राजा) साधु हुए थे। भगवान ने दीक्षा ली और उनके जो मित्र थे उनको वैसा लगा कि, प्रभु दीक्षा लेते हैं (इसलिये हमें भी लेनी चाहिये)। (इसलिये) चार हजार (राजाओं ने दीक्षा) ली। (दीक्षा ली) परंतु (आत्मा का) भान कुछ नहीं था। बाद में भगवान को तो बारह महीने तक आहार

नहीं मिला। वे तो अतीन्द्रिय आनंद में थे। और ये लोग (भूख) सह नहीं सके अत: ऐसा वैसा कुछ भी खाने लगे ! पत्तें, फल एवम् फूल (सब खाने लगे) ! (तब) देव ने आकर कहा कि, `नग्न वेश में यह सब करोगे तो दंडित करेंगें ! छोड़ दो नग्नपना ! दूसरा वेश पहनो ! चाहे तो पत्ते पहनो (किन्तु) नग्नपने में आपसे वैसा नहीं होगा।' (और) अब तो (वैसा कहनेवाला) कोई नहीं मिलता। देव भी नहीं मिलते और भगवान भी नहीं मिलते ! फिर तो सभी चार हजार (साधु) बदल गये, अन्यमती हो गये। `भरत' का एक बेटा `मरीचि' था। भगवान के बेटे `भरत' वे तो चक्रवर्ती थे और यह (चक्रवर्ती का राज) छोड़कर मोक्ष गये। केवल(ज्ञान) प्राप्त करके मोक्ष गये। परंतु उनका बेटा `मरीचि' था वह विरुद्ध पड़ा। (उसने) `सांख्यमत' रचा। आहा...! तथापि भगवान ने तो कहा था कि, यह मरीचि क्रोड़ जन्मों के बाद चौबीसवें तीर्थंकर होंगे।' आ..हा..हा...! हाल में उसकी दृष्टि विपरीत है, आ..हा..हा...! वह `मरीचि `भरत' का बेटा था। (उसने) मरकर बहुत जन्म धारण किये और बाद में `महावीर प्रभु' हुए। (उसके पहले) दसवें भव में सिंह थे। आहा..हा...! सिंह हरण को मार रहा था (तब) वहाँ दो मुनि ऊपर से उतरे ! उनको केवली ने कहा था कि, यह सिंह का जीव (है वह) तीर्थंकर का जीव है ! वे दसवें भव में `महावीर' (तीर्थंकर) होनेवाले (हैं), आ..हा..हा...!

आकाशगामी मुनि थे। इसलिये मुनि नीचे उतरे। नग्न दिगंबर मुनि ! आत्मध्यानी - ज्ञानी (थे) ! वे नीचे उतरे। इस प्रकार सिंह को (कहने लगे)। कौन जाने सिंह की भाषा कैसी (होगी) ! एवम् मुनि ने कैसे समझाया (होगा) ? मुनि ने कहा, `अरे सिंह !' है न यहाँपर फोटो ? सामने है । उसमें सिंह है न ! (उसे) मुनि कहते हैं कि, `अरे सिंह ! यह क्या करता है ?' (वह) भाषा कैसी होगी !? कि मुनि की भाषा समझ गया होगा !? मेल कैसा है ! (मुनि ने कहा) `क्या यह कर रहे हो ? तेरा जीव तो तीर्थंकर का (जीव) है। तू दसवें भव में `महावीर' होनेवाला है!' आ..हा..हा...! यह सुनते ही... सिंह की आँख में से आँसू (बहने) लगते हैं... इस प्रकार हाथ जोड़कर रोता है। सिंह...! दसवें भव में `महावीर' होनेवाले (हैं)! आ..हा..हा...! मुनिराज ने क्या कहा ? और उसकी भाषा (कैसी होगी) ? कहाँ के मुनि होंगे ? भगवान के सच्चे संत थे। दिगंबर मुनि (थे)। उन्होंने कहा और (सिंह की) आँखो

में से आँसू बह गये ! और समकित को प्राप्त हुए ! एकदम उतर गये अंदर में ! आ..हा..हा...!

अन्य एक जगह भी कहा है न ? कि, आपकी काललब्धि पक गई है, वैसा (आता) है। वैसा तो जुगलियाँ में (आता) है। देवकुरू-उत्तरकुरू के जुगलियाँ हैं न? छ: जुगलियाँ हैं न ? दो एक साथ में पैदा होते हैं। ऐसे में मुनि ने आकर एक जुगलिये को कहा 'हे जुगलियों ! तुम्हारी काललब्धि पक गई है, समकित को प्राप्त करो !' (वैसा) लेख है। 'आदिपुराण' में ऐसी कथा आती है। आहा..हा...! अब यह मुनि की भाषा और (सामने) जुगलियाँ हैं। कैसे समझे होंगे ? पात्रता किस प्रकार (प्रगट हुई) ? आ..हा..हा...! वे (जुगलियाँ) वहाँ समकित को प्राप्त होते हैं ! आ..हा..हा...! जुगलियाँ की अवस्था में समकित प्राप्त किया है ! वैसे यह सिंह भी समकित को प्राप्त करता है। आ..हा..हा...! वैसे तो हिरन को मारकर (खाया) है, पेट में पड़ा है। किन्तु अंदर से भिन्न हो गये ! आ..हा..हा...! राग के विकल्प से सुनते हैं यह भी राग है। मुनि कहते हैं वह सुनता है वह भी राग है। परंतु इस राग से भिन्न होकर अंदर चैतन्य में उतर गये। आ..हा..हा...! सिंह के (भव में) सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है और वहाँ से मरकर स्वर्ग में गये हैं, आहा..हा...! दसवें भव में 'महावीर भगवान' हुए। आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, यह परमात्मा के ज्ञान में, तीनकाल तीनलोक - जगत की पर्यायें, द्रव्य-गुण, आत्मा में अर्पण कर देते हैं। यानी कि आत्मा में जानने में आते हैं। है न ? '**परदव्वदो दुग्गइ**' यह तो 'अष्टपाहुड' की बात है। सच्चे संत को आहार-पानी देना, यह भी राग है, विकार है। यह चैतन्य का परिणमन नहीं।

श्रोता :- इसे दुर्गति कहेंगे ?

समाधान :- उसे दुर्गति (कहते हैं)। चैतन्य की गति तो उसे कहा जाये कि, ज्ञान, आनंद और शांतिरूप परिणमन हो उसे चैतन्य की गति कहते हैं। आ..हा..हा...! और राग हो उसे दुर्गति (कहते हैं)। वह चैतन्य की जात नहीं। हमारे यहाँ तो बहुत (बार) बात हो गई हैं। आहा..हा...! (यह 'अष्टपाहुड') 'कुंदकुंदाचार्य' की रचित पुस्तक है। भगवान के पास से आकर (रची है)। आ..हा..हा...! चौरासी पुस्तक (बनायी हैं)।

यहाँ कहते हैं (वे समस्त पदार्थ ज्ञान में) '**...परंपरा से प्रतिबिंब के समान...**'

(ज्ञेयाकारों के कारण हैं)। वे परज्ञेयाकार सीधे तो अपने गुण और पर्याय में स्थित हैं और परंपरा से भगवान के ज्ञान में आये हैं - जानने में आये हैं, आहा..हा...! (इस कारण से) **`...पदार्थ कैसे ज्ञानस्थित निश्चित नहीं होते ? (अवश्य ही ज्ञानस्थित निश्चित होते हैं)।**' ज्ञान में (वे पदार्थ) जानने में आये अर्थात् पदार्थ ज्ञान में हैं, वैसा व्यवहार से कहने में आता है। आहा..हा...!

वैसे तो अरिहंत का केवलज्ञान कैसा ? उसका (निर्णय करने का) भी ठिकाना नहीं ! और `णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं...' रटते जाय ! आ..हा..हा...!

भावार्थ :- `दर्पण में मयूर, मंदिर, सूर्य, वृक्ष इत्यादि के प्रतिबिंब पड़ते हैं।**' दर्पण है न ? तो सामने मयूर हो तो (वह) प्रतिबिंबित होता है। मंदिर (हो), बड़ा मंदिर (हो) और बड़ा आइना हो तो प्रतिबिंबित होता है। सूर्य (प्रतिबिंबित) हो, वृक्ष आदि प्रतिबिंबित होते हैं। **`वहाँ निश्चय से तो प्रतिबिंब दर्पण की ही अवस्थायें हैं,...' प्रतिबिंब जो है वह वास्तव में तो दर्पण की ही अवस्था है। **`...तथापि दर्पण में प्रतिबिंब देखकर कार्य में कारण का उपचार करके...**' आहा..हा...! यह प्रतिबिंब है वह तो कार्य है और बाहर के पदार्थ है वे कारण (हैं) - निमित्त हैं। किन्तु **`...कार्य में कारण का उपचार करके व्यवहार से यह कहा जाता है कि `मयूरादि दर्पण में हैं'-**' वे मयूरादि आइने में हैं वैसे कहना, यह व्यवहार है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !

इसमें धर्म कैसे हो ? यह बताइये तो (मालूम पड़े)। यह धर्म यद्यपि (कैसे हो) यह समझ तो सही ! (वैसा) कहते हैं। भगवान ! तेरा स्वभाव ज्ञान है और उस ज्ञान का अनुभव होना, उसका नाम `धर्म' है। अंदर बीच में रागादि आते हैं किन्तु वह कोई धर्म नहीं, आहा..हा...!

`व्यवहार से यह कहा जाता है कि `मयूरादि दर्पण में हैं।'-' इसीप्रकार ज्ञानदर्पण में भी...' यह ज्ञानरुपी दर्पण (है), आहा...! **`...सर्व पदार्थों के समस्त ज्ञेयाकारों के प्रतिबिंब पड़ते हैं...**' (यानी कि) जानने में आते हैं। **`...अर्थात् पदार्थों के ज्ञेयाकारों के निमित्त से...**' सामनेवाले (पदार्थ के) द्रव्य-गुण के निमित्त से **`...ज्ञान में ज्ञान की अवस्थारूप ज्ञेयाकार होते हैं...**' ज्ञान की अवस्थारूप ज्ञेयाकार होते हैं। **`...(क्योंकि यदि ऐसा न हो तो ज्ञान सर्व पदार्थों को नहीं जान सकेगा)।**' इस अपेक्षा से कहा, आहा...!

`वहाँ निश्चय से ज्ञान में होनेवाले ज्ञेयाकार ज्ञान की ही अवस्थायें हैं,...'** (अर्थात्) ज्ञान में यह लोकालोक जानने में आते हैं, यह ज्ञान की अवस्था है। यह कोई पर की अवस्था नहीं, आहा..हा...! **`...ज्ञान में होनेवाले ज्ञेयाकारों के कारण पदार्थों के ज्ञेयाकार हैं, और उनके कारण पदार्थ हैं - इसप्रकार परंपरा से ज्ञान में होनेवाले ज्ञेयाकारों के कारण पदार्थ हैं; इसलिये उन (**ज्ञान की अवस्थारूप**) **ज्ञेयाकारों को ज्ञान में देखकर, कार्य में कारण का उपचार करके...'** ज्ञान की अवस्था तो यहाँ की है। यह कार्य है (और) वे (पदार्थ) तो कारण हैं। यह **`...कार्य में कारण का उपचार करके व्यवहार से ऐसा कहा जा सकता है कि `पदार्थ ज्ञान में हैं' ।'** आहा..हा...! वैसा उसका स्वभाव है।

`अब, इसप्रकार** (**व्यवहार से**) **आत्मा की पदार्थों के साथ एक दूसरे में प्रवृत्ति होनेपर भी,** (**निश्चय से**) **वह पर का ग्रहण-त्याग किये बिना...'** आ..हा..हा...! केवलज्ञान उन पदार्थो को ग्रहण नहीं करता वैसे छोड़ता भी नहीं। **`...तथा पररूप परिणमित हुए बिना...' (अर्थात्) ज्ञान है वह लोकालोक को जानते हुए (भी) पररूप परिणमन रहित **`...सबको देखता-जानता है इसलिये उसे** (**पदार्थों के साथ**) **अत्यंत भिन्नता है ऐसा बतलाते हैं:-'** आहा..हा...!

यह ज्ञान है न ! देखिए न ! यह सामने नीम है न ! यह नीम को जानता है, ज्ञान में जानने में आता है वह बिंब है और यहाँ (ज्ञान में) प्रतिबिंब है। तथापि यह ज्ञान में नीम आया है (वैसा कहा जाता है)। (वास्तव में तो) वह स्व-ज्ञेयाकार वहाँ है। और यहाँ ज्ञानाकार हुआ वह व्यवहार हुआ। तथापि नीम यहाँ आया नहीं। यहाँ तो ज्ञान की अवस्था अपने आप हुई है उसमें नीम का ज्ञान हुआ है। ऐसी बात (है)।

यह मकान है, मान लो न ! यह पुस्तक है। यह पर ज्ञेयाकार है। ज्ञान में यह पर ज्ञेयाकार प्रतिबिंबित होते हैं यानी कि जानते हैं। इससे व्यवहार से वैसा कहा जाता है कि, ज्ञेयाकार ज्ञान में (आये हैं) परंतु वास्तव में ज्ञेयाकार ज्ञान में आते नहीं, आहा..हा...!

श्रोता :- ज्ञान में पदार्थ आ जाय जब तो...

पूज्य गुरुदेवश्री :- (ज्ञान) जड़ हो जायेगा ! यह सामने कड़वा नीम है, लो!

यह ज्ञान जानता है। ज्ञान में यदि नीम आ जाय तो ज्ञान कड़वा हो जायेगा ! कठिन काम है, बापू ! प्रभु का मार्ग, जिनेश्वर का मार्ग कोई अलौकिक है !! आहा..हा...!

नींबू खट्टा है, उसका यहाँ ज्ञान होता है। परंतु खट्टापन यदि इसमें आ जाय तो ज्ञान खट्टा हो जायेगा - जड़ हो जायेगा !

शक्कर मीठी है, उसका यहाँ ज्ञान होता है कि, यह मीठी है। परंतु यदि मीठापन ज्ञान में आ जाय तो यह (मीठापन) जड़ है, तो यहाँपर ज्ञान (भी) जड़ हो जाय, आहा..हा...! वैसी बातें ! यह तो भेदज्ञान की बात है। पर से एकदम भिन्न (है), प्रभु ! आ..हा..हा...! (अब) बत्तीस (गाथा)।

❋ ❋ ❋

अथैवं ज्ञानिनोऽर्थैः सहान्योन्यवृत्तिमत्त्वेऽपि परग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावेन सर्वं पश्यतोऽध्यवस्यतश्चात्यन्तविविक्तत्वं भावयति –

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ।।३२।।
गृह्णाति नैव न मुञ्चति न परं परिणमति केवली भगवान्।
पश्यति समन्ततः स जानाति सर्वं निरवशेषम् ।।३२।।

अयं खल्वात्मा स्वभावत एव परद्रव्यग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावत्स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञान स्वरूपेण विपरिणम्य निष्कम्पोन्मज्जज्ज्योतिर्जात्यमणिकल्पो भूत्वाऽवतिष्ठमानः समन्ततः स्फुरितदर्शनज्ञानशक्तिः, समस्तमेव निःशेषतयात्मानमात्मनात्मनि संचेतयते। अथवा युगपदेव सर्वार्थसार्थसाक्षात्करणेन ज्ञप्तिपरिवर्तनाभावात् संभावितग्रहणमोक्षलक्षणक्रियाविरामः प्रथममेव समस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतत्वात् पुनः परमाकारान्तरमपरिणममानः समन्ततोऽपि विश्वमशेषं पश्यति जानाति च एवमस्यात्यन्तविविक्तत्वमेव।।।३२।।

अथ ज्ञानिनः पदार्थैः सह यद्यपि व्यवहारेण ग्राह्यग्राहकसम्बन्धोऽस्ति तथापि संश्लेषादिसम्बन्धो नास्ति, तेन कारणेन ज्ञेयपदार्थैः सहः भिन्नत्वमेवेति प्रतिपादयति–गेण्हदि णेव ण मुंचदि गृह्णाति नैव मुञ्चति नैव **ण परं परिणमदि** परं परद्रव्यं ज्ञेयपदार्थ नैव परिणमति। स कः कर्ता। **केवली भगवं** केवली भगवान् सर्वज्ञः। ततो ज्ञायते परद्रव्येण सह भिन्नत्वमेव। तर्हि किं परद्रव्यं न जानाति। **पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं** तथापि व्यवहारनयेन पश्यति समन्ततः सर्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्जानाति च सर्व निरवशेषम्। अथवा द्वितीयव्याख्यानम्–अभ्यन्तरे कामक्रोधादि बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिकं बर्हिर्द्रव्यं न गृह्णाति, स्वकीयानन्तज्ञानादिचतुष्टयं च न मुञ्चति यतस्ततः कारणादयं जीवः केवलज्ञानोत्पत्तिक्षण एव युगपत्सर्व जानन्सन् परं विकल्पान्तरं न परिणमति। तथाभूतः सन् किं करोति। स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञानज्योतिषा जात्यमणिकल्पो निःकम्पचैतन्यप्रकाशो भूत्वा स्वात्मानं स्वात्मना स्वात्मनि जानात्यनुभवति। तेनापि कारणेन परद्रव्यैः सह भिन्नत्वमेवेत्यभिप्रायः।।३२।।

अब, इसप्रकार (व्यवहारसे) आत्माकी पदार्थोंके साथ एक दूसरेमें प्रवृत्ति होनेपर भी, (निश्चयसे) वह परका ग्रहण-त्याग किये बिना तथा पररूप परिणमित हुए बिना

सबको देखता-जानता है इसलिये उसे (पदार्थोंके साथ) अत्यन्त भिन्नता है ऐसा बतलाते हैं :-

गाथा ३२

प्रभु केवली न ग्रहे, न छोड़े, पररूपे नव परिणमे।
देखे अने जाणे निःशेष सर्वतः ते सर्वने।।३२।।

अन्वयार्थ :- [केवली भगवान्] केवली भगवान **[परं]** परको **[न एव गृह्णाति]** ग्रहण नहीं करते, **[न मुंचति]** छोड़ते नहीं, **[न परिणमित]** पररूप परिणमित नहीं होते; **[सः]** वे **[निरवशेषं सर्व]** निरवशेषरूपसे सबको (सम्पूर्ण आत्माको, सर्व ज्ञेयोंको) **[समन्ततः]** सर्व ओरसे (सर्व आत्मप्रदेशोंसे) **[पश्यति जानाति]** देखते-जानते हैं।

टीका :- यह आत्मा, स्वभावसे ही परद्रव्यके ग्रहण-त्यागका तथा परद्रव्यरूपसे परिणमित होनेका (उसके) अभाव होनेसे, स्वतत्त्वभूत केवलज्ञानरूपसे परिणमित होकर निष्कंप निकलनेवाली ज्योतिवाला उत्तम मणि जैसा होकर रहता हुआ, (१) जिसके सर्व ओरसे (सर्व आत्मप्रदेशोंसे) दर्शनज्ञानशक्ति स्फुरित है ऐसा होता हुआ, निःशेषरूपसे परिपूर्ण आत्माको आत्मासे आत्मामें संचेतता-जानता-अनुभव करता है, अथवा (२) एकसाथ ही सर्व पदार्थोंके समूहका साक्षात्कार करनेके कारण ज्ञप्तिपरिवर्तनका अभाव होनेसे जिसके ग्रहणत्यागरूप क्रिया विरामको प्राप्त हुई है ऐसा होता हुआ, पहलेसे ही समस्त ज्ञेयाकाररूप परिणमित होनेसे फिर पररूपसे-आकारान्तररूपसे नहीं परिणमित होता हुआ सर्व प्रकारसे अशेष विश्वको, (मात्र) देखता-जानता है। इसप्रकार (पूर्वोक्त दोनों प्रकारसे) उसका (आत्माका पदार्थोंसे) अत्यन्त भिन्नत्व ही है।

भावार्थ :- केवलीभगवान सर्व आत्मप्रदेशोंसे अपनेको ही अनुभव करते रहते हैं; इसप्रकार वे परद्रव्योंसे सर्वथा भिन्न हैं। अथवा, केवलीभगवानको सर्व पदार्थोंका युगपत् ज्ञान होता है इसलिये उसका ज्ञान एक ज्ञेयमें से दूसरेमें और दूसरेसे तीसरेमें नहीं बदलता तथा उन्हें कुछ भी जानना शेष नहीं रहता इसलिये उनका ज्ञान किसी विशेष ज्ञेयाकारको जाननेके प्रति भी नहीं जाता; इसप्रकार भी वे परसे सर्वथा भिन्न हैं। (यदि जाननक्रिया बदलती हो तभी उसे विकल्प पर-निमित्तक रागद्वेष हो सकते हैं और तभी इतना परद्रव्यके साथका सम्बन्ध कहलाता है। किन्तु केवलीभगवानकी ज्ञप्तिका परिवर्तन नहीं होता इसलिये वे परसे अत्यन्त भिन्न हैं।) इसप्रकार केवलज्ञानप्राप्त आत्मा

परसे अत्यन्त भिन्न होनेसे और प्रत्येक आत्मा स्वभावसे केवलीभगवान जैसा ही होनेसे यह सिद्ध हुआ कि निश्चयसे प्रत्येक आत्मा परसे भिन्न है।।३२।।

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं।।३२।।

नीचे हरिगीत :-

प्रभु केवली न ग्रहे, न छोड़े, पररूपे नव परिणमे।
देखे अने जाणे निःशेषे सर्वतः ते सर्वने।।३२।।

एक तरफ से ऐसा कहे कि (परपदार्थ ज्ञान में) आ गये। किन्तु निश्चय से पर को ग्रहता नहीं। आहा..हा...! संतो ने सत्य को समझाने कि लिये भिन्न भिन्न प्रकार से (बात कही है)। विकल्प आया है और टीका हो गई है। टीका के करनेवाले भी वे नहीं। यह तो जड़ की पर्याय है, आहा..हा...! जड़ की पर्याय का ज्ञान होते हुए भी यह ज्ञान जड़ का नहीं। ज्ञान होता है वह आत्मा का है, आ..हा..हा...! ऐसी बातें (हैं) !

(एकबार) `विहुय रय मला' (कहा था न ?) `लींबडी' में दसाश्रीमाली और वीसाश्रीमाली के बीच विवाद (था)। दसाश्रीमाली की (एक) औरत सामायिक करने बैठी थी। उसकी मानी हुई ! सामायिक थी किस दिन ? दृष्टि अभी मिथ्यात्व की है वहाँ (सच्ची सामायिक कैसी) ? लोगस्स में - `लोगस्स उज्जोअगरे...' में `विहुय रय मला' (आता है)। (तो) `विहा रोई मळ्या' वैसा सीधा अर्थ किया ! अरर..र...! इतनी भी ख़बर नहीं !

`उमराला' में हम रहते थे वहाँ विधवाएँ बहुत (थी) वे (वैसी सामायिक) करती थी। किन्तु कुछ ख़बर नहीं ! भान नहीं ! मुँह पे मुँहपट्टी (लगायी हो), साथ में दस-बारह साल का लड़का हो, हम तो `मौसी' कहकर पुकारते थे न ! हमारी माताजी वहाँ की थी इसलिये हम `मौसी' कहते थे। `मासीबा सामायिक करने बैठी है' (वैसा कहते थे)। फ़जूल बातें - धूल के बराबर भी नहीं ! आहा..हा...! किसी भी तरह की मालूमात नहीं !

यह तो `विहुय रय मला' - यहाँ उसका अर्थ किया कि `विहा रोई मळया' !

अरे यह `विहा रोई मळ्या' लोगस्स में कहाँ से आया ? आहा..हा...! लोगस्स में आता है न ? `एवं मए अभिथुआ, विह्मरयमला पहीणजरमरणा' अरे...! कुछ अर्थ का भी अता-पता नहीं !

वहाँ तो वैसा (अर्थ है) - हे नाथ ! हे परमात्मा ! सिद्ध भगवान ! आपने `विह्य' अर्थात् नाश किया है - `रय' (अर्थात्) रज(कण)। जड़कर्म को `रज' कहा। और पुण्य-पाप के भाव को `मला' (अर्थात्) मल कहा। वैसा `रय मला' (का अर्थ है) रज-मल का, हे नाथ ! आपने नाश किया है, आहा..हा...! अरे..रे...! तत्त्व क्या चीज है (उसकी ख़बर नहीं)।

यहाँ कहते हैं - बत्तीस (गाथा की) **टीका :- `यह आत्मा, स्वभाव से ही परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का...'** आहा..हा...! वास्तव में तो आत्मा में परद्रव्य का ग्रहण और त्याग (नहीं) (इससे) आत्मा शून्य है। अनादि से (ऐसा है)। परमाणु को ग्रहता नहीं और परमाणु को छोड़ता नहीं। (वैसी) `त्याग-उपादानशून्यत्व' शक्ति (है)। आत्मा में अनंत गुण हैं। उसमें एक गुण ऐसा है कि, (उसके कारण) पर का त्याग और ग्रहण उसमें है ही नहीं। ज्यादा से ज्यादा रागरूप हो और आगे वीतरागरूप हो, वह होता है। परंतु पर को ग्रहे और छोड़े, वैसा आत्मा में है ही नहीं, आहा..हा...! ऐसा कहते हैं, देखिये !

`यह आत्मा, स्वभाव से ही परद्रव्य का ग्रहण-त्याग का तथा परद्रव्यरूप से परिणमित होनेका (उसके) अभाव होने से,...' यह लोकालोक को जानता है तथापि लोकालोक को ग्रहता नहीं, लोकालोक को छोड़ता नहीं और लोकालोकरूप परिणमित होता नहीं, आहा..हा...! भाषा तो बहुत थोड़ी है किन्तु भाव बहुत ऊँचे (हैं), बापू ! यह तो वीतराग परमेश्वर की वाणी है ! आ..हा..हा...! संत जगत को बताते हैं।

भाई ! आत्मा...! (कहतें) **`यह आत्मा, स्वभाव से ही...'** उसका स्वभाव ही ऐसा है कि, **`...परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का...'** अभाव होने से, **`...तथा परद्रव्यरूप से परिणमित होने का...'** आ..हा..हा...! आत्मा में स्वभाव से ही यह शरीर को ग्रहण-त्याग नहीं और शरीररूप परिणमित होना उसमें नहीं। आहा..हा...! उसका स्वभाव ही ऐसा है कि, परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का अभाव (है). आहा..हा...! समझ में आया ?

(अब कहते हैं) `...स्वतत्त्वभूत केवलज्ञानरूप से परिणमित होकर...' परमात्मा, सर्वज्ञ

अरिहंतदेव `...स्वतत्त्वभूत केवलज्ञान,...' (केवलज्ञान) स्वतत्त्वभूत है, आ..हा..हा...! (वैसे) `...केवलज्ञानरूप से परिणमित होकर निष्कंप निकलनेवाली ज्योतिवाला उत्तम मणि जैसा होकर...' निष्कंप निकलती ज्योतिसमान उत्तम मणि होती है न मणि ! उसमें से प्रकाश (निकलता है)। किन्तु प्रकाश बाहर जाता नहीं। प्रकाश वहीं का वहीं (रहता है)। उच्च प्रकार की मणि होती है न ? चमक...चमक...चमक... (होती है) किन्तु यह चमक वहीं की वहीं है। वह चमक वैसे बाहर आती नहीं, आहा..हा...! वैसे (केवलज्ञानरूप परिणमित आत्मा) `...निष्कंप निकलनेवाली ज्योतिवाला उत्तम मणि जैसा होकर रहता हुआ,...' आ..हा..हा...! मणि में जैसे चमक उठती है, किन्तु चमक उसमें (रहती) है। वैसे भगवान के ज्ञान की चमक उठती है। इस चमक में लोकालोक जानने में आते हैं। (यानी) `...ज्योतिवाला उत्तम मणि जैसा होकर रहता हुआ,...' (वैसा कहा), आ..हा..हा...!

सर्वज्ञ, केवलज्ञानरूप से हो, किन्तु प्रभु ! वह उत्तम मणि जैसा अपना (ज्ञान) प्रकाश में परिणमित होता है। परद्रव्य का प्रकाश वहाँ आता नहीं और परद्रव्य उसमें आता नहीं। आहा..हा...!

(१) `**जिसके सर्व ओर से (सर्व आत्मप्रदेशों से) दर्शनज्ञानशक्ति स्फुरित है...**' क्या कहते हैं ? भगवानआत्मा में दर्शन और ज्ञान स्वभाव है। अत: सर्व आत्मप्रदेश द्वारा उसे दर्शन और ज्ञान की पर्याय प्रगट हो गई है। है ? `**...सर्व ओर से (सर्व आत्मप्रदेशों से) दर्शनज्ञानशक्ति स्फुरित है ऐसा होता हुआ,...**' आ..हा..हा...! अपना जो दर्शन-ज्ञान स्वभाव है वह स्फुरित अर्थात् पर्याय में प्रगट हुआ है। यह दृष्टा-ज्ञातारूप परिणमित हुआ है। परद्रव्यरूप (भी) नहीं और पर के ग्रहण-त्यागरूप भी (परिणमित होता नहीं)। आहा..हा...! ऐसा तत्त्व जो केवली का है, वैसा तत्त्व तेरा है !!

वर्षीतप करे तब आहार को छोड़े। यहाँपर कहते हैं कि, छोड़ना-ग्रहण करना स्वरूप में है ही नहीं, आ..हा..हा...! उसका यहाँ ज्ञान होता है। यह (जो) ज्ञान होता (है) वह ज्ञानरूप परिणमित हो किन्तु (पर के) ग्रहण-त्याग से रहित और पर(रूप परिणमन के) परिणमन से रहित (है) आहा..हा...! ऐसा कब सीखें ? है (अंदर) ?

`**...नि:शेषरूप से परिपूर्ण आत्मा को आत्मा से आत्मा में संचेतना-जानता-अनुभव करता है,...**' आहा..हा...! (`नि:शेषरूप से' का अर्थ) नीचे है। नि:शेषरूप से = कुछ

भी किंचित् मात्र शेष न रहे इसप्रकार से। केवलज्ञान में कोई वस्तु (जानने की) बाक़ी नहीं रहे, उस प्रकार ज्ञानरूप परिणमता है। बिना जाने (कुछ भी बाक़ी रहता नहीं)। अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... काल के पश्चात् जो होगा उसे भी जाने बिना रहे नहीं, वैसा केवलज्ञानी का ज्ञान है, आ..हा..हा...!

निःशेषरूप से (अर्थात्) बाक़ी रखे बिना, आहा..हा...! **`...परिपूर्ण आत्मा को आत्मा से आत्मा में...'** आत्मा को आत्मा से आत्मा में जानता (है) - अनुभव करता है। (अर्थात्) वह तो अपने को जानता - देखता (है) और अनुभव करता है। वह पर को जाने और देखे वैसा है नहीं। क्योंकि पर(द्रव्य) तो भिन्न है, आ..हा..हा...! विशेष कहेंगे...

(**दिनांक ३-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-२८**)

प्रवचनसार, ३२वीं गाथा। पाँच पंक्तियाँ चली हैं। (किन्तु) फिर से लेंगे। इसमें क्या कहने में आता है ? कि, भगवानआत्मा को केवलज्ञान होता है, उसमें तीनकाल तीनलोक जानने में आते हैं। वैसे यह आत्मा ज्ञान में उस चीज को ग्रहण करता नहीं। वैसे उसे छोड़ता नहीं। ग्रहण-त्याग उसमें है नहीं। सिर्फ जानना... जानना... (होता है)। आहा..हा...! जिनेश्वरदेव जब केवलज्ञान प्राप्त करते हैं तब केवलज्ञान में पूरे तीनकाल तीनलोक जैसे हैं वैसे जानने में आते हैं। यह ज्ञान में तो जगत की जिस चीज की - जिस द्रव्य की जिस समयपर जो पर्याय होनेवाली है वही होगी, वैसे ज्ञान जानता है, आहा..हा...!

`जे जे देखी वीतरागने, ते ते होसी वीरा, अनहोनी कबहु न होसी, काहे होत अधीरा' - वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञदेव ने लोकालोक (देखें)। (उनमें) जगत (के) जिस द्रव्य की उस समय की पर्याय होनेवाली है वही होगी, ऐसा देखा है (और) वैसा होगा। हालाँकि देखा है इसलिये ज्ञान के कारण वहाँ (पर्याय) होगी, वैसा नहीं। होगी तो उस द्रव्य की अपनी पर्याय के कारण, आ..हा..हा...! परंतु भगवान ने ज्ञान

में देखा है कि, यह वस्तु की इस समय, इस क्षेत्र में, इस प्रकार पर्याय होगी। वैसे दूसरे (समय में), तीसरे (समय में)। वैसे अनादि-अनंत क्रमसर जो पर्याय होती है, यह भगवान के ज्ञान में सब जानने में आया है, आहा..हा...! और इस कारण तो प्रत्येक वस्तु की समय-समय की पर्याय क्रमबद्ध है, यह सिद्ध होता है।

यह विषय इतना सूक्ष्म है कि, लोगों को वैसा लगता है कि, यह (क्या) नया निकाला ? प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु की जिस समय (जो) पर्याय उत्पन्न होनेवाली है सो होगी। दूसरे समय जो होनेवाली है (वही होगी), तीसरे समय जो होनेवाली है (वही होगी), वैसे अनंतकाल में जिस समय (जो) होनेवाली है वही होगी, आगे-पीछे नहीं, आहा..हा...!

श्रोता :- (पूरी) खत्म कब हो ?

समाधान :- खत्म हो कब ? द्रव्य अनादि-अनंत है (तो) उसकी पर्याय भी अनादि की (है)। पहले पर्याय थी और द्रव्य नहीं था, वैसा है ? एवम् द्रव्य था और पर्याय नहीं थी, वैसा है ? सूक्ष्म बात (है) बापू ! द्रव्य-वस्तु भी अनादि से है और उसकी पर्याय यानी अवस्था भी अनादि से है। और अनंतकाल द्रव्य-वस्तु रहनेवाली है तो उसकी पर्याय भी अनंतकाल वैसी की वैसी होनेवीली है। आहा..हा...! कठिन काम, भाई ! और यह द्रव्य का स्वभाव (ही वैसा है कि) क्रमसर एक के बाद एक पर्याय हो - वैसा उसका स्वभाव है। वैसा भगवान ने देखा (है), आ..हा..हा...! केवलज्ञानी ने देखा है कि, इस जगत में यह पर्याय, इस समय होगी - उस प्रकार द्रव्य में पर्याय होती है, आहा..हा...! (यह) बात सुनी नहीं (इसलिये) लोगों को कठिन लगती है।

वैसे कहते हैं कि, भगवान ने देखा उसी प्रकार होगा तो फिर हमें पुरुषार्थ कहाँ करने को रहा ? वैसे प्रश्न उठता है। संप्रदाय में (थे) तब (संवत्) '७२ की (साल में) फागुन शुक्ल चौदस (का दिन था)। `विछियां' से `पालियाद' जाते बीच में `हरवा' नामक गाँव है। वहाँ रात को कुदरती प्रश्न निकला। हमारे संप्रदाय के गुरु थे वे वैसे तो शांत थे। परंतु ऐसी वस्तु कहीं भी नहीं थी। आप कहते हो कि, `केवलज्ञानी ने देखा होगा वैसा होगा उसमें पुरुषार्थ कहाँ रहा ?' आगे मैंने कहा, `भाई ! केवलज्ञानी ने देखा होगा वैसा होगा, यह बात बाद में। किन्तु केवलज्ञान

जगत में है - परमात्मा अरिहंत (हैं) उनका एक समय का ज्ञान तीनकाल को जाने वैसी पर्याय की सत्ता की तुझे श्रद्धा है ?' यह '७२ की (साल की) बात है। कितने साल हुए ? तिरेसठ वर्ष हुए !

श्रोता :- जब मोक्ष होने का होगा तब क्या नहीं होगा ?

समाधान :- होने का होगा (तब होगा) परंतु कब ? यह होनेवाला सो होगा, यह भगवान ने देखा है। परंतु किसे ? कि, जिसने जगत में केवलज्ञान है वैसा निर्णय किया है, जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, उसे क्रम-क्रम से मोक्ष होगा। समझ में आया ?

श्रोता :- केवली ने देखा है तब होगा !

पूज्य गुरुदेवश्री :- केवली ने देखा (तब होगा) किन्तु जगत में केवली है या नहीं ? उनकी सत्ता का स्वीकार किसने किया ? उन्होंने देखा (वैसा होगा)- वह बात बाद में। आहा..हा...! बड़ा प्रश्न उठा था। हमारे गुरु ने तो सुना था किन्तु दूसरे साधुओं ने (वैसा कहा) कि, `नहीं वैसा कहाँ से निकाला ?' मैंने कहा `देखो भाई ! इन बातों को छोड़ो। केवलज्ञानी हैं वे एक समय में तीनकाल (तीनलोक जानते हैं)। ज्ञानगुण है, उसकी एक समय की पर्याय है। यह पर्याय तीनकाल तीनलोक को देखती है। यह पर्याय जगत में है (उसका निर्णय है) ?' देखा (वैसा होगा) यह बात बाद में। यहाँ यही कहते हैं। जगत में अरिहंत को केवलज्ञान है (उसकी एक समय की पर्याय तीनकाल तीनलोक को जाने, वैसी पर्याय की सत्ता यानी होनेरूप है, उसकी आपको श्रद्धा है ? जहाँ केवलज्ञान एक समय में तीनकाल जाने वैसे केवली हैं - उनकी सत्ता है, उसका स्वीकार हो तो ज्ञान में उसकी दृष्टि चली जायेगी। उसकी दृष्टि पर्याय के ऊपर नहीं रहेगी, आ..हा..हा...! सूक्ष्म बात है, बापू! बहुत कठिन ! यह तो अंतर से आया था। जो `प्रवचनसार' की ८०(वीं) गाथा में आता है न ? **`जो जाणदि अरहंतं दवत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं'** (अर्थात्) जो कोई आत्मा अरिहंत के द्रव्य, गुण, पर्याय जाने वह आत्मा को जाने। क्योंकि मेरे में भी केवलज्ञान (स्वभाव) है।

यह (बात) यहाँपर अभी कहेंगे। भावार्थ में अंत में कहेंगे। भावार्थ की अंतिम पंक्ति है, भाई ! **`...आत्मा पर से अत्यंत भिन्न होने से और प्रत्येक आत्मा स्वभाव**

से केवली भगवान जैसा ही होने से...' ३२वीं गाथा के भावार्थ के अंतिम पंक्ति है। है (अंदर) ? '**...प्रत्येक आत्मा स्वभाव से केवली भगवान जैसा ही होने से यह सिद्ध हुआ कि निश्चय से प्रत्येक आत्मा पर से भिन्न है।**' आ..हा..हा...! उन दिनों तो ऐसा पढ़ा भी नहीं था !

बात वैसी है कि, जगत में जब केवलज्ञानी परमात्मा है - एक गुण की, एक समय की, एक पर्याय तीनकाल तीनलोक को जाने वैसी पर्याय की सत्ता है, वैसे केवली, सिद्ध(रूप से) तो अनंत हैं। अरिहंत रूप से (केवली) संख्यात-लाखों हैं। वैसी केवलज्ञान की पर्याय की जगत में सत्ता है, उसके अस्तित्व का स्वीकार करने जाय तो स्वयं तो अल्पज्ञ है, समझ में आया ? उस अल्पज्ञ(पने में) सर्वज्ञ का निर्णय करने जाय तब उसकी दृष्टि द्रव्य पर जायेगी - ज्ञान में जायेगी। उस दिन इतना कहा (था)। ज्ञान जो त्रिकाल स्वभाव है वहाँ उसकी दृष्टि पड़ेगी। यह बहुत सालों (पहले की) बातें हैं, आहा..हा...! **यह तो पूर्व के संस्कार थे न** ! आ..हा..हा...! आगे और दो व्यक्ति थी उन्होंने कहा कि, 'भगवान ने देखा होगा... इससे क्या भव कम होता है ?' किन्तु भगवान है वैसा निर्णय करने के बाद की बात है न ? आहा..हा...!

यह आत्मा ही स्वयं केवलज्ञानमय है ! ज्यों ही भगवान के आत्मा ने केवल(ज्ञान) प्राप्त किया और तीनकाल तीनलोक देखे, वैसा यह आत्मा केवलज्ञान(स्वभावी) है। केवल अर्थात् ज्ञानमय स्वरूप है। केवलज्ञान की सत्ता के अस्तित्व का स्वीकार करने जाय (तब तो) उसे ज्ञानस्वरूप भगवान का निर्णय हो जाय, आ..हा..हा...! उन दिनों तो यह '**जो जाणदि अरहंत...**' पढ़ा भी नहीं था। परंतु यह जो ८०वीं गाथा है - वही भाव अंदर से आया था ! आ..हा..हा...!

एक समय में तीनकाल तीनलोक भगवान के ज्ञान में जानने में आये और वैसा होगा, वहाँ वैसा ही होगा। जिस समय में जहाँ (जो) होनेवाला है, यह भगवान ने जाना है। किन्तु भगवान का ज्ञान पूर्ण है, यह सत्ता का स्वीकार - 'है' उसका स्वीकार करने जाये, तब उसकी पर्याय के ऊपर दृष्टि नहीं रहेगी, उसकी दृष्टि ज्ञान में चली जायेगी। उन दिनों वैसा नहीं आया था। किन्तु अब कहते हैं कि, ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञस्वभाव। सर्वज्ञस्वभाव पर दृष्टि जायेगी तब उसे केवली का निर्णय होगा एवम् अपना (निर्णय) होगा, आ..हा..हा...! वैसा है, बापू !

यहाँ कहते हैं... टीका :- `यह आत्मा, स्वभाव से ही परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का...' भगवान केवलज्ञान में सब तीनकाल तीनलोक को जाने। तथापि इस ज्ञेय को ग्रहण करना और छोड़ना, यह उसके आत्मा में नहीं, आ..हा..हा...! और केवलज्ञान की पर्याय ने जाना है कि, इसकी पर्याय यह (होगी)। तो यह जाना है इसलिये वहाँ होती है, वैसा नहीं। यह तो उसके द्रव्य के पर्याय की लियाक़त से ही वहाँ पर्याय होती है, आहा...! क्या करे ?

`यह आत्मा, स्वभाव से ही परद्रव्य के ग्रहण-त्याग का तथा परद्रव्यरूप से परिणमित होने का (उसके) अभाव...' क्या कहा ? भगवान ने ज्ञान में तीनकाल तीनलोक देखें, अत: भगवान ने तीनकाल तीनलोक का ग्रहण किया हैं, वैसा नहीं। उनको ज्ञान में ग्रहण-त्याग है ही नहीं।

श्रोता :- सब जानने में आये उसमें ग्रहण-त्याग कहाँ है ?

समाधान :- यह तो पहले आया था न ? कि, सबको जानते अंदर प्रवेश हो गया, वैसा व्यवहार से जो कहा था न ? उसका यहाँ स्पष्टीकरण करते हैं, आहा..हा...! अप्रविष्ट-प्रविष्ट दोनों हैं, वैसा आया था।

भगवान अरिहंत परमेश्वर का ज्ञान, जिनके ज्ञान की एक समय की पर्याय, एक समय की...! तीनकाल तीनलोक को जाने, तथापि (तीन) लोक तीनकाल को ग्रहण करते नहीं। उसका ज्ञान अपने में अपने से होता है, आ..हा..हा...! है ? **`...स्वतत्त्वभूत केवलज्ञानरूप से परिणमित होकर...'** पर का ग्रहण-त्याग रहित और पररूप होने के अभाव (स्वभाव) स्वरूप (है), आहा..हा...! पररूप होने के अभावस्वरूप होने से, **`...स्वतत्त्वभूत केवलज्ञानरूप से परिणमित होकर...'** अपना ज्ञानस्वरूप (है)। भगवान सर्वज्ञ (को) केवलज्ञान है, वे केवलज्ञानरूप परिणमित होते हैं। `स्वतत्त्वभूत !' (कहा है)। आ..हा..हा...! स्वतत्त्वभूत केवलज्ञानरूप होता है। (वैसे) **`...(केवलज्ञानरूप से परिणमित होकर निष्कंप निकलनेवाली ज्योतिवाला उत्तम मणि जैसा...'** मणि-रत्न जैसे कि लाख (रुपये का) हो यह निष्कंप है, कंपनरहित-स्थिर है। तथापि चमक चमक दिखाई देती है। वैसे भगवान का ज्ञान तीनकाल तीनलोक को जानते कंपनरहित है, हिलता नहीं, अस्थिर होता नहीं, आ..हा..हा...! यद्यपि यह तो अरिहंत को पहचानने की बातें हैं, आ..हा..हा...! और जिसने अरिहंत के द्रव्य, गुण, पर्याय को जाना है कि भगवान की पर्याय ऐसी (है) !! ८०वीं गाथा

में आयेगा। ये स्वयं अपनी पर्याय को गुण में मिश्रित करके - द्रव्य, गुण में सम्यग्दर्शन का अनुभव करे, तब उसे अपनी पर्याय का अनुभव हुआ और सर्वज्ञ की पर्याय पर है, वैसा अनुभव हुआ, आहा..हा...! मार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू ! ऐसे में इस वर्तमान में ऐसी सब विपरीतता हो गई है।

भगवानआत्मा ! केवलज्ञानरूप हुआ वह स्वयं परिणमित होकर **`...निष्कंप निकलनेवाली ज्योतिज्वाला उत्तम मणि जैसा होकर रहता हुआ...'** है। अब (कहते हैं) **`(१) जिसके सर्व ओर से (सर्व आत्मप्रदेशों से)...'** (आत्मा के) असंख्य प्रदेश हैं, उनकी भी ख़बर नहीं। **`...दर्शनज्ञानशक्ति स्फुरित है...'** ( यानी कि) दर्शन और ज्ञान की पर्याय जिसे प्रगट हो गई है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी शक्तिरूप तो था (परंतु) जिसे पर्याय में सर्वदर्शन एवम् सर्वज्ञान प्रगट हो गये हैं, आहा..हा...! यह तो अभी अरिहंत की पहचान कराते हैं। आगे वैसा ही आत्मा है, वैसा कहेंगे। आहा...! **`...ऐसा होता हुआ, नि:शेषरूप परिपूर्ण आत्मा को आत्मा से आत्मा में...'** सारे आत्मा को (यानी) परिपूर्ण भगवानआत्मा को आत्मा से (यानी) अपने से, आत्मा में (यानी) अपने में **`...संचेतता-जानता-अनुभव करता है,...'** आहा..हा...! भगवान अरिहंतदेव का आत्मा अपने में अपने से अपने का अनुभव करता (है)-जानता है, आहा..हा...! है ? यहाँ तक कल आया था।

(अब कहते हैं), **`अथवा (२) एकसाथ ही सर्व पदार्थों के समूह का...'** (अर्थात्) एक ही समय में, एक साथ तीनकाल तीनलोक के पदार्थ का **`...साक्षात्कार करने के कारण...'** साक्षात्कार याने प्रत्यक्ष होने के कारण। एक ही समय में तीनकाल और तीनलोक को (प्रत्यक्ष कर लेते हैं), आहा..हा...! आदि नहीं, अंत नहीं उसे भी प्रत्यक्ष कर लिया, आहा..हा...! (साक्षात्कार का अर्थ) है न नीचे ! साक्षात्कार करना = प्रत्यक्ष जानना। **`...साक्षात्कार करने के कारण ज्ञप्तिपरिवर्तन का अभाव होने से...'** क्या कहते हैं ? ज्ञान की पर्याय ने एकसाथ तीनकाल तीनलोक को देख (लिया) इसलिये ज्ञप्तिपरिवर्तन का (अभाव हो गया)। (ज्ञप्तिपरिवर्तन अर्थात् ज्ञान की पर्याय बदलनेवाली नहीं। वैसी ही वैसी पर्याय अनंतकाल रहेगी। आहा..हा...! है ?

`अथवा (२) एकसाथ ही सर्व पदार्थों के समूह का साक्षात्कार करने के कारण ज्ञप्तिपरिवर्तन का...'** अर्थात् पर्याय क्रम थी और बढ़ गई वैसे परिवर्तन का, **`...अभाव

होने से जिसके ग्रहणत्यागरूप क्रिया विराम को प्राप्त हुई है...' आहा..हा...! (ग्रहणत्यागरूप का अर्थ) है न नीचे ? ज्ञप्तिक्रिया का पलटना अर्थात् ज्ञान में एक ज्ञेय ग्रहण करना... पलटना अर्थात् ? ज्ञान में एक (ज्ञेय को) ग्रहण करना और दूसरे को छोड़ना, पहले को छोड़ना, दूसरे को ग्रहण करना - यह (जो) ग्रहण-त्याग है, वैसे इस (केवलज्ञान) में नहीं। भगवान को वैसा नहीं। निम्न (गुणस्थानवाले) तो कुछ ज्ञेय को जाने और बाद में छोड़े, बाद में दूसरे को जाने - वैसा भगवान को नहीं, आ..हा..हा...!

एक ही समय में तीनकाल तीनलोक जानने में आने से, पहले इसको जानना और बाद में उसको जानना, वैसा वहाँ रहता नहीं, आहा..हा...! देखिये यह अरिहंत का ज्ञान ! आ..हा..हा...! ऐसा है। वह परिवर्तनरूप **`...क्रिया विराम को प्राप्त हुई है...**' यानी कि उसे परिवर्तन नहीं। कौन सा परिवर्तन (विराम को प्राप्त हुआ है)? एक (ज्ञेय को) जानना और उसे छोड़कर दूसरा जानना, वैसा परिवर्तन नहीं। परिणमन है (परंतु परिवर्तन नहीं)। (अर्थात्) जो पहले समय में केवलज्ञान है, वह दूसरे समय में न रहे। दूसरे समय दूसरी पर्याय हो। पर्याय है न ! किन्तु यहाँपर वह बात करनी नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि, ज्ञेय को जानने में प्रथम कुछ ज्ञेय को जानने के बाद उसे छोड़कर दूसरे ज्ञेय को जाना, वैसा ज्ञेय का परिवर्तन केवली को होता नहीं, आहा..हा...! **`...जिसके ग्रहणत्यागरूप क्रिया विराम को प्राप्त हुई है...**' देखिये ! क्या कहा ? कुछ ज्ञेय को जाने और बाद में दूसरे (ज्ञेय को) जाने, ऐसी जो ज्ञप्तिक्रिया का परिवर्तन (है) उसका अभाव होने से, (ग्रहणत्यागस्वरूप क्रिया) **`...विराम को प्राप्त हुई है ऐसा होता हुआ, पहले से ही समस्त ज्ञेयाकाररूप परिणमित होने से...**' (अर्थात्) प्रथम ही समय में तीनकाल तीनलोक के जानने योग्य ज्ञेय के ज्ञानाकाररूप परिणमित होने से `...फिर पररूप से - आकारान्तररूप से नहीं परिणमित होता हुआ...' आ..हा..हा...! अन्य आकार - दूसरा आकार दूसरे समय में हो, वैसा है नहीं। जो प्रथम समय में है, वैसा ही दूसरे समय में है, वैसा ही तीसरे समय में (है)। पूर्ण...पूर्ण...पूर्ण... परमात्मा को (कभी भी पहचाना नहीं)। आ..हा..हा...! अरे...! किसको फिक्र है ? यह तो `णमो अरिहंताणं...णमो अरिहंताणं...' करके (मानता है कि) हो गये (दर्शन) ! कौन अरिहंत ? और (अरिहंत) किसे कहें ? केवली क्या है ? बापू ! आ..हा..हा...!

जिसकी एक सेकंड का असंख्यवाँ भाग - `क' बोले उसमें असंख्य समय व्यतीत हो, उनके असंख्यवें भाग में - एक समय में भगवान का ज्ञान तीनकाल तीनलोक को साथसाथ जानता (है)। इसलिये उनको प्रथम क्रम जाने, बाद में विशेष जाने वैसा परिवर्तन होता नहीं। आ..हा..हा...! ऐसा तो मार्ग कहाँ का होगा !? आहा..हा...! है?

**`...पररुप से - आकारान्तररूप से नहीं परिणमित होता हुआ सर्व प्रकार से अशेष विश्व को,...'** (यानी) सारे विश्व को। `विश्व' शब्द से सारा लोकालोक। भगवान तो सिर्फ देखते हैं और जानते हैं। एक समय में सब (जानते हैं) आ..हा..हा...!

अरे...भाई ! भगवान का ऐसा ज्ञान है। जिसकी सत्ता में (लोकालोक जानने में आते हैं)। जगत में वैसा अस्तित्व (है उसकी) - सत्ता का स्वीकार (कब होता है? कि) ज्ञानस्वभावी भगवान(आत्मा) के सन्मुख हो तब उसकी सत्ता का स्वीकार होता है। तब मैं भी सर्वज्ञस्वभावी हूँ (वैसा निर्णय होता है)। आ..हा..हा...! परमात्मा को सर्वज्ञ(पना) प्रगट हुआ (है) और मेरा त्रिकाल स्वभाव सर्वज्ञ है। था उसमें से आया है न ? `कुएँ में से होज़ में आये' - वैसे अंदर सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु आत्मा है। प्रत्येक आत्मा (सर्वज्ञस्वरूपी है)। उन सर्वज्ञ की जहाँ प्रतीति होती है, तब मैं भी सर्वज्ञस्वरूपी हूँ (वैसा स्वीकार हो जाता है)। आहा..हा...! और सर्वज्ञदेव, परमगुरु मैं हूँ ! आ..हा..हा...! जिन प्रतिमा हूँ ! पूर्ण ज्ञान और दर्शन से भरा पूर्ण भगवानस्वरूप हूँ ! आ..हा..हा..हा...!

`इसप्रकार (पूर्वोक्त दोनों प्रकार से) उसका (आत्मा का पदार्थों से) अत्यंत भिन्नत्व ही है।' (अर्थात्) सबको देखे - जाने तथापि पररूप होता नहीं, ग्रहण-त्याग करता नहीं (और) पररूप परिणमता नहीं, आहा..हा...! ऐसा उपदेश ! अनजान आदमी को तो ऐसा लगे कि, यह (क्या कहते हैं) !? कुछ (वैसा) कहो न कि, यह करो...व्रत का पालन करो, भक्ति करो, पूजा करो...परंतु क्या करना (है तुझे) ? सुन तो सही! यह करना...करना...तो मरना है ! यह तो राग है, आ..हा..हा...!

भगवान के ज्ञान में तीनकाल तीनलोक साथसाथ जानने में आये अत: उस ज्ञान में परिवर्तन यानी आकारान्तर (होता नहीं), बदलता नहीं, आहा..हा...! वैसा ही यह भगवानआत्मा है, सर्वज्ञस्वरूपी (है) !

गाथा में आया है न भाई ? कि, सर्वज्ञ सर्वदर्शी होनेपर भी (सर्व को सर्व प्रकार से जानता नहीं) यह प्रश्न चला था न ! आहा..हा...! (कोई) कहे कर्म के कारण

(आवरण) है। यहाँ कहते हैं कि (वैसा) नहीं। अपने विपरीत पुरुषार्थ के कारण केवलज्ञान अटका है। `निज कर्मरज आच्छादने' (ऐसा) पाठ है न ? टीकाकार ने `रज' का अर्थ ही अपना अपराध कहा (है)। भावकर्म (लिया है)। आहा..हा...! सर्व जीव सर्वदर्शी और सर्वज्ञ होते हुए भी अपने निज अपराध के कारण सर्व को देखता और जानता नहीं, आहा..हा...! बहुत बड़ी चर्चा हो (गई है)।

(`समयसार' की १६० गाथा है)। **`वह आत्मा (स्वभाव से) सर्व को जानने-देखनेवाला है तथापि...'** भगवानआत्मा सर्वज्ञानी और सर्वदर्शी है। **`वह आत्मा (स्वभाव से) सर्व को जानने-देखनेवाला है तथापि अपने कर्ममल से लिप्त होता हुआ...'** वे लोग वैसा कहते हैं कि, `कर्म यानी (जड़ द्रव्य) कर्म के कारण (सर्व को देखता-जानता नहीं)!' तो कहा `वैसा नहीं। भावकर्म (के) अपराध के कारण है।' यह बड़ी चर्चा हुई थी। वे ऐसा कहते थे कि, `दीपक समक्ष टोपी रखें तो दीपक ढक जाता है या नहीं?' यानी निमित्त से ढका है कि नहीं ? (ऐसा उनका कहना था)। वैसे (केवलज्ञान) कर्मरज से आच्छादित हो गया है। मैंने कहा `बिलकुल गलत बात है।'

देखिये ! (टीका में) अर्थ है। **`...जो स्वयं ही ज्ञान होने के कारण विश्व को...'** यह जो (`प्रवचनसार' में) `विश्व' आया न ? **`...(सर्व पदार्थो को) सामान्यविशेषतया जानने के स्वभाववाला है, ऐसा ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य, अनादिकाल से अपने पुरूषार्थ के अपराध से...'** चौंतीस वर्ष पहले (चर्चा) हुई थी। **`...अपने पुरुषार्थ के अपराध से प्रवर्तमान कर्ममल के द्वारा लिप्त...'** (अर्थात्) भावकर्म के द्वारा लिप्त है। आहा..हा...! अपराध उसकी पर्याय का है। यह बड़ी चर्चा हुई थी।

यहाँ कहते हैं, इसप्रकार आत्मा का (परपदार्थ से) अत्यंत भिन्नपना (है)। आत्मा (ज्ञान) की एक समय की पर्याय में तीनकाल तीनलोक को जानता है तथापि उसे ग्रहण-त्याग नहीं है और ज्ञेयान्तर होता नहीं। वैसा आत्मा का ज्ञान पर से भिन्न है। अपनी पर्याय `पर' (ऐसे) लोकालोक से भिन्न है। है ?

(अब) **भावार्थ :- `केवलीभगवान सर्व आत्मप्रदेशों से...'** (यानी कि) पूरे असंख्य प्रदेश से। **`...अपने को ही अनुभव करते रहते हैं;...'** आ..हा..हा...! **`...इसप्रकार वे परद्रव्यों से सर्वथा भिन्न हैं। अथवा, केवलीभगवान को सर्व पदार्थों का युगपत् ज्ञान होता है इसलिये'** एकसाथ तीनकाल तीनलोक को (जानते हैं)। आ..हा..हा...! प्रत्येक

द्रव्य की और प्रत्येक गुण की वर्तती अवस्था और नहीं वर्तती अवस्था (यानी कि) बीत चुकी और बीतेगी-होगी, (उन) सभी को भगवान एक समय में जानते हैं, आहा..हा...! भाई ! यह अंतर से संमत होना कठिन बात है, आहा...!

`...उनका ज्ञान एक ज्ञेय में से दूसरे में और दूसरेमें से तीसरे में नहीं बदलता...' एकसाथ सबको जाने (उसमें) इसको पहले जाने व इसको बाद में जाने, भूतकाल को पहले जाने व भविष्य(काल को) बाद में जाने, ऐसा है क्या ? आ..हा..हा...! अनंत... अनंतकाल भविष्य का और अनंतकाल भूतकाल - सब एक समय में भगवान जानते हैं। सर्वज्ञ किसे कहें ! सर्व + ज्ञ = सबको जाने। आहा..हा...! **`...तथा उन्हें कुछ भी जानना शेष नहीं रहता इसलिये उनका ज्ञान किसी विशेष ज्ञेयाकार को जानने के प्रति भी नहीं जाता; इसप्रकार भी वे पर से सर्वथा भिन्न हैं। (यदि जाननक्रिया बदलती हो तभी उसे विकल्प पर - निमित्तक रागद्वेष हो सकते हैं...)'** आहा..हा...! वहाँ फुरसत कहाँ (है) ?

एक समय एक लड़का आया था, जवान था। पच्चीस-तीस लाख रुपये (थे)। उसे एक दुकान खोलनी थी। सबको ऐसा (है) कि यहाँ (पूज्य गुरुदेवश्री के) दर्शन करके जाय तो कुछ होवे ! होता तो कुछ भी नहीं। उसके पुण्य के कारण हो, यहाँ के कारण कुछ होता नहीं। उससे पूछा कि, `यह आयुष्य कहने में आती है - ६० की, ५० की, और ७० (वर्ष की), यह शरीर की है या आत्मा की ?' उसने कहा, `मुझे मालूम नहीं !' आत्मा की कहाँ ख़बर है, आत्मा कौन है ? आत्मा तो अनादि-अनंत है। आत्मा की उम्र होती नहीं। यह उम्र तो देह की है कि, यह सत्तर हुए, नवासी हुए, पचपन हुए, इकसठ (हुए), बहत्तर हुए, यह सब जड़ के लिये है। प्रभु तो (आत्मा तो) अनादि-अनंत है। आहा..हा...! (पैसे मिलना) यह तो अपने पुण्य के अनुसार होता है, (किसी से) होता नहीं।

श्रोता :- शायद कभी सच निकला होगा !

पूज्य गुरुदेवश्री :- नहीं, नहीं..! उसके पुण्य के कारण (मिलता है)। जिसकी जिस समय जो पर्याय होनेवाली है यह उसके कारण होती है, दूसरे के कारण नहीं। यहाँपर तो स्पष्ट बात है। अरे...! यह आत्मा को समझो, बापू ! बाक़ी सब भ्रांति छोड़ दो न ! आहा..हा...!

यहाँपर यह कहते हैं, देखो ! इस तरह (आत्मा) पर से अत्यंत भिन्न है। कौंस में है न ? `(**यदि जाननक्रिया बदलती हो तभी उसे विकल्प पर - निमित्तक रागद्वेष हो सकते हैं और तभी इतना परद्रव्य के साथ का संबंध कहलाता है। किन्तु केवलीभगवान की ज्ञप्ति का...**)' (ज्ञप्ति को अर्थात्) केवलीभगवान की जानने की दशा को, `(**...परिवर्तन नहीं होता इसलिये वे पर से अत्यंत भिन्न हैं।**)' आहा..हा...! `**इसप्रकार केवलज्ञान प्राप्त आत्मा पर से अत्यंत भिन्न होने से...**' अब आत्मा पर सिद्धांत रखते हैं। केवलीभगवान पर से अत्यंत भिन्न होने से, `**...और प्रत्येक आत्मा स्वभाव से केवलीभगवान जैसा ही होने से...**' है ? प्रत्येक आत्मा स्वभाव से केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञ सर्वदर्शी स्वभावी होने से, `**...केवलीभगवान जैसा ही होने से...**' आहा..हा...! उसे पर्याय में (प्रगट) है, इसका (प्रत्येक आत्मा का) स्वभाव है। `स्वभाव' से कहा है न ? आ..हा..हा...! `स्वभाव' से कहा है न ? आहा..हा...!

भगवान केवलज्ञान की पर्यायरूप है, और यह प्रत्येक आत्मा मात्र ज्ञान-सर्वज्ञ और सर्वदर्शी स्वभाववाला है। भगवान जैसा ही उसका स्वभाव है। आहा..हा...! क्रमबद्ध की पर्याय का निर्णय करने जाय अर्थात् केवलज्ञान की पर्याय का निर्णय करने जाय तो जिनस्वरूप भगवान(आत्मा) है उसके ऊपर उसकी दृष्टि जायेगी। जिनस्वरूपी भगवान तो सर्वज्ञ सर्वदर्शीस्वरूपी प्रभु है। स्वभाव हाँ ! स्व + भाव = अपना भाव ! प्रत्येक आत्मा केवलज्ञानस्वभाव स्वरूप प्रभु है, आहा..हा...! स्वभाव से (वैसा है) ! इसलिये उसका ध्यान करने से पर्याय में, केवलज्ञान की पर्याय स्वभाव में से प्रगट होती है। ऐसा है। कोई व्यवहार - दया, दान और भक्ति करने से केवलज्ञान होता है, वैसा नहीं। ऐसा है। है ?

`...प्रत्येक आत्मा...' आ..हा..हा...! `सर्व जीव छे सिद्ध सम !' `श्रीमद्' ने भी कहा है। अंतर में सिद्धस्वरूपी प्रभु आत्मा है। निर्मलानंद पूर्ण शुद्ध (है), आ..हा..हा...! `सर्व जीव है सिद्धसम, जो समझे सो हो' जो इसका ज्ञान और अनुभव करे, उसे सर्वज्ञपना प्रगट होता है। `जो समझे सो हो' राग करे, दया पालन करे और व्रत करे तो हो, वैसा नहीं। ऐसा उनमें कहा है तथापि वे लोग कहते हैं कि, `हम भक्ति करें (तो) भक्ति से कल्याण होगा !' भक्ति में (तो) राग है, पुण्य है, यह कोई धर्म नहीं, आहा..हा...!

अंदर सर्वज्ञस्वभावी भगवान का अंदर में निर्णय (करना)-अनुभव करना, यह प्रथम तो सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान है। आगे उसमें निमग्न होते...होते...होते... केवलज्ञान प्रगट होता है, आहा..हा...! यह इसकी क्रिया है। बड़े विरोध (और) झगड़े करते हैं !

जो-जो वस्तु-द्रव्य है, परमाणु (या) आत्मा उसकी पर्याय होने का उसका जन्म - उत्पत्तिकाल है। निश्चय से तो ऐसी एक बात है कि, सम्यग्दर्शन होता है वह पर्याय भी षट्कारक के परिणमन से स्वलक्ष से होती है। एक समय की पर्याय के दो भाग ! जो सम्यग्दर्शन (की) पर्याय - धर्म की पहली अवस्था (प्रगट होती है उस अवस्था का) भले ही लक्ष द्रव्य का हो, किन्तु द्रव्य का लक्ष भी पर्याय खुद स्वतंत्र कर्ता होकर करती है। आहा..हा...! और वह भी षट्कारक के (परिणमन से उत्पन्न हुई है)। समकित की पर्याय कर्ता, पर्याय कार्य, पर्याय करण, पर्याय संप्रदान, पर्याय अपादान, पर्याय अधिकरण (इसप्रकार अपने षट्कारक से उत्पन्न हुई है), और उसके साथ राग की जो पर्याय है वह भी (अपने) षट्कारक से परिणमित है। आहा..हा...! उस निर्मल पर्याय के कारण मलिन (पर्याय) नहीं और मलिन (पर्याय के) कारण निर्मल (पर्याय) नहीं। अरे..अरे..! ऐसी बातें...! ऐसा है। क्योंकि आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शीस्वरूप (है), उसमें कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान (आदि) षट्कारक रहे हैं। और वास्तव में तो, ज्ञानगुण में भी पर्याय होती है यह षट्कारक के परिणमन से होती है। उसे पर की अपेक्षा नहीं। आहा..हा...! समझ में आया ? वास्तव में तो यह सम्यग्दर्शन की पर्याय परिणमित होती है, उसे द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नहीं। बड़े गज़ब की बात ! क्या कहते हैं यह ? और उस समय जो राग का परिणमन है (वह भी अपने षट्कारक से होता है)।

बड़ी चर्चा हुई थी। ('पंचास्तिकाय' की) ६२वीं गाथा में ऐसा कहा, राग (जो) होता है, पुण्य-पाप की पर्याय (जो होती है), वह षट्कारक के परिणमन द्वारा अपने से होती (है)। उसे कर्म की अपेक्षा नहीं। कल एक श्वेतांबर साधु आये थे। (वे ऐसा कहते थे कि) 'विभाव कर्म के कारण होता है, गति कर्म के कारण होती है।' हमने कहा 'वैसा नहीं, बापू !' विकार तो अपने से होता है, आहा..हा...! परंतु उनकी समझ में आया नहीं। यह श्वेतांबर में तो कर्म से विकार होता है, वैसा मानकर बैठे हैं।

कर्म तो जड़ है। विकार तो तेरी विपरीत दशा है। यह विपरीत दशा, सम्यग्दर्शन होते हुए भी जो राग होता है, वह षट्कारक परिणमन से होता है। पर की अपेक्षा से नहीं। निर्मल (पर्याय की) अपेक्षा से भी नहीं और पर की अपेक्षा से भी नहीं। अरे..रे..! ऐसा कौन (समझे) ? आहा..हा...!

आत्मा सर्वज्ञ सर्वदर्शीस्वभावी है। यह (स्वभाव) सर्वज्ञ परमात्मा को प्रगट हुआ, यह सर्वज्ञ स्वभाव की परिणति से (प्रगट हुआ)। षट्कारक की परिणति से यह सर्वज्ञपना प्रगट हुआ, आ..हा..हा...! यह सर्वज्ञ केवलज्ञान की पर्याय भी षट्कारक के परिणमन से प्रगट हुई (है)। सर्वज्ञ स्वभाव है, इसलिये यह पर्याय उसके आश्रित प्रगट हुई (ऐसा कहते हैं) यह तो आश्रय अर्थात् लक्ष वहाँ था, इतना (बताने का है)। परंतु उसकी पर्याय प्रगट होने में द्रव्य-गुण की अपेक्षा भी नहीं, आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !

यह सर्वज्ञ पर्याय हुई, यह ज्ञानावरणीय (कर्म का) अभाव हुआ इसलिये (प्रगट हुई) वैसा तो (नहीं)। पूर्व मोक्षमार्ग की चार ज्ञान की अवस्था थी इसलिये हुई, ऐसे (नहीं)। वैसे यह षट्कारकरूप परिणित यह द्रव्य-गुण की अपेक्षा भी (नहीं), आ..हा..हा...! वैसे ज्ञानावरणीय निमित्त के अभाव की भी अपेक्षा (नहीं)। ऐसा स्वरूप ! वैसा ही सत् है। आहा..हा...! क्या करे ? भाई !

(यहाँ) कहा न ? '**प्रत्येक आत्मा**' (अर्थात्) अभव्य की आत्मा भी ! '**सर्व जीव है सिद्धसम**' है न ? पर्याय में भले न प्रगट हो, परंतु उसका स्वभाव तो सर्वज्ञ सर्वदर्शी ही है, आहा..हा...! अभव्य हो या भव्य '**...प्रत्येक आत्मा स्वभाव से केवलीभगवान जैसा ही होने से यह सिद्ध हुआ कि निश्चय से प्रत्येक आत्मा पर से भिन्न है।**' आहा..हा...! यह राग से भिन्न है, निमित्त से भिन्न है, आहा..हा...! एक समय की पर्याय से भी सर्वज्ञ सर्वदर्शीस्वभाव भिन्न है, आ..हा..हा...! कठिन बात है ! सीधी बात है, बहुत सीधी बात है किन्तु अभी ज़रा कठिन और उटपटांग हो गया न ! (इसलिये कठिन लगे), आ..हा..हा...!

प्रत्येक द्रव्य में समय-समय में परिणमन है। पर्याय रहित कभी भी द्रव्य होता नहीं और जो पर्याय है वह षट्कारक शक्तिरूप में रही है, परंतु वर्तमान पर्याय है वह षट्कारक की शक्ति से भिन्न (है)। उसकी अपेक्षा रहित (स्वयं के) षट्कारक के परिणमन से परिणमित होती है। आ..हा..हा...! ऐसा है, भगवान ! परमात्मा ऐसे

कहते हैं और वैसा है !!

ऐसा कहा (कि), आत्मा स्वभाव से सर्वज्ञ सर्वदर्शी है। पर से भिन्न (है)। किन्तु जब उसमें सर्वज्ञ और सर्वदर्शी शक्ति है और उसमें से परिणमन होता है, (वहाँ) यह परिणमन शक्ति में से आया, वैसा कहना व्यवहार है। बाक़ी तो पर्याय अपने स्वतंत्ररूप (स्वयं के षट्कारक से परिणमित होती है), आहा..हा...! यह सर्वज्ञ सर्वदर्शी पर्याय - यह सर्वज्ञ की पर्याय (स्वयं) कर्ता, सर्वज्ञ की पर्याय यह कार्य, सर्वज्ञ की पर्याय यह साधन, एक ही समय में (है)। सर्वज्ञ पर्याय अपने लिये हुई है इसलिये संप्रदान, सर्वज्ञ की पर्याय पर्याय से हुई है इसलिये अपादान, पर्याय के आश्रय से पर्याय हुई है, गुण और द्रव्य के आश्रय से नहीं इसलिये अधिकरण (भी स्वयं ही है), आहा..हा...!

कल तो वह (साधु) आये थे वह (वैसा ही कहते थे कि) `बस ! कर्म के कारण होता है... सब कुछ कर्म के कारण होता है !'

यहाँपर कहते हैं, भगवानआत्मा का स्वभाव तो सर्वज्ञ सर्वदर्शी स्वभाव है। इसलिये वह पर से, राग से (और) पर्याय से भी भिन्न है। अब पर्याय में जब उसे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी (पना प्रगट होता है)...आहा..हा...! यह षट्कारक के त्रिकाल गुण तो गुण में रहे किन्तु उसका अंश जो पर्याय में आया वह स्वतंत्ररूप से आया है, आहा..हा...! प्रभु की वाणी न्यारी है, बापू ! आहा..हा...! लो, यह ३२ गाथा (पूर्ण) हुई... (विशेष कहेंगे...)

❋ ❋ ❋

अथ केवलज्ञानिश्रुतज्ञानिनोरविशेषदर्शनेन विशेषाकांक्षाक्षोभं क्षपयति-

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण

तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ।।३३।।

यो हि श्रुतेन विजानात्यात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन।

तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणन्ति लोकप्रदीपकराः ।।३३।।

यथा भगवान् युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यविशेषशालिना केवलज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंचेत्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनात् केवली, तथायं जनोऽपि क्रमपरिणममाणकतिपयचैतन्यविशेषशालिना श्रुतज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंचेत्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनात् श्रुतकेवली। अलं विशेषाकांक्षाक्षोभेण, स्वरूपनिश्चलैरेवावस्थीयते।।३३।।

एवं ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमतीत्यादिव्याख्यानरूपेण तृतीयस्थले गाथापञ्चकं गतम्। अथ यथा निरावरणसकलव्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानेनात्मपरिज्ञानं भवति तथा सावरणैकदेशव्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतेन स्वसंवेदनज्ञानरूपभावश्रुतेनाप्यात्मपरिज्ञानं भवतीति निश्चिनोति। अथवा द्वितीयपातनिका – यथा केवलज्ञानं प्रमाणं भवति तथा केवलज्ञानप्रणीतपदार्थप्रकाशकं श्रुतज्ञानमपि परोक्षप्रमाणं भवतीति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति – जो यः कर्ता हि स्फुटं सुदेण निर्विकारस्वसंवित्तिरूपभावश्रुतपरिणामेन **विजाणदि** विजानाति विशेषेण जानाति विषयसुखानन्दविलक्षणनिजशुद्धात्मभावनोत्थपरमानन्दैक-लक्षणसुखरसास्वादेनानुभवति। कम् । **अप्पाणं** निजात्मद्रव्यम्। **जाणगं** ज्ञायकं केवलज्ञानस्वरूपम्। केन कृत्वा। **सहावेण** समस्तविभावरहितस्वस्वभावेन **तं सुयकेवलि** तं महायोगीन्द्रं श्रुतकेवलिनं भणंति कथयन्ति। के कर्तारः। **इसिणो** ऋषयः। किंविशिष्टाः। **लोयप्पदीवयरा** लोकप्रदीपकरा लोकप्रकाशका इति। अतो विस्तर :– युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यशालिना केवलज्ञानेन अनाद्यनन्तनिष्कारणान्यद्रव्यासाधारणस्वसंवेद्यमानपरमचैतन्यसामान्यलक्षणस्य परद्रव्यपरहितत्वेन केवलस्यात्मन आत्मनि स्वानुभवनाद्यथा भगवान् केवली भवति, तथायं गणधरदेवादिनिश्चयरत्नत्रयाराधकजनोऽपि पूर्वोक्तलक्षणस्यात्मनो भावश्रुतज्ञानेन स्वसंवेदनान्निश्चयश्रुतकेवली भवतीति। किंच-यथा कोऽपि देवदत्त आदित्योदयेन दिवसे पश्यति, रात्रौ किमपि प्रदीपेनेति। तथादित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवसस्थानीयमोक्षपर्याये भगवानात्मानं पश्यति, संसारी विवेकिजनः पुनर्निशास्थानीयसंसारपर्याये प्रदीपस्थानीयेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिना निजात्मानं पश्यतीति। अयमत्राभिप्रायः – आत्मा परोक्षः, कथं ध्यानं कियते इति सन्देहं कृत्वा परमात्मभावना न त्याज्येति।।३३।।

अब केवलज्ञानीको और श्रुतज्ञानीको अविशेषरूपसे दिखाकर विशेष आकांक्षाके क्षोभका क्षय करते हैं (अर्थात् केवलज्ञानीमें और श्रुतज्ञानीमें अन्तर नहीं है ऐसा बतलाकर विशेष जाननेकी इच्छाके क्षोभको नष्ट करते हैं) :-

गाथा ३३

श्रुतज्ञानथी जाणे खरे ज्ञायकस्वभावी आत्मने।
ऋषिओ प्रकाशक लोकना श्रुतकेवली तेने कहे।।३३।।

अन्वयार्थ :- [यः हि] जो वास्तवमें **[श्रुतेन]** श्रुतज्ञानके द्वारा **[स्वभावेन ज्ञायकं]** स्वभावसे ज्ञायक (अर्थात् ज्ञायकस्वभाव) **[आत्मानं]** आत्माको **[विजानाति]** जानता है **[तं]** उसे **[लोकप्रदीपकराः]** लोकके प्रकाशक **[ऋषयः]** ऋषीश्वरगण **[श्रुतकेवलिनं भणन्ति]** श्रुतकेवली कहते हैं।

टीका :- जैसे भगवान, युगपत् परिणमन करते हुए समस्त चैतन्यविशेषयुक्त केवलज्ञानके द्वारा, अनादिनिधन-निष्कारण-असाधारण-स्वसंवेद्यमान चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतकस्वभावसे एकत्व होनेसे केवल (अकेला, शुद्ध, अखंड) है ऐसे आत्माको आत्मासे आत्मामें अनुभवकरनेके कारण केवली हैं; उसीप्रकार हम भी, क्रमशः परिणमित होते हुए कितने ही चैतन्यविशेषोंसेयुक्त श्रुतज्ञानके द्वारा, अनादिनिधन-निष्कारण-असाधारण-स्वसंवेद्यमान-चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक स्वभावके द्वारा एकत्व होनेसे केवल (अकेला) है ऐसे आत्माको आत्मासे आत्मामें अनुभवकरनेके कारण श्रुतकेवली हैं। (इसलिये) विशेष आकांक्षाके क्षोभसे बस हो; (हम तो) स्वरूपनिश्चल ही रहते हैं।

भावार्थ :- भगवान समस्त पदार्थोंको जानते हैं, मात्र इसलिये ही वे 'केवली' नहीं कहलाते, किन्तु केवल अर्थात् शुद्ध आत्माको जानने-अनुभव करनेसे 'केवली' कहलाते हैं। केवल (-शुद्ध) आत्माको जानने-अनुभव करनेवाला श्रुतज्ञानी भी 'श्रुतकेवली' कहलाता है। केवली और श्रुतकेवलीमें इतना मात्र अन्तर है कि-जिसमें चैतन्यके समस्त विशेष एक ही साथ परिणमित होते हैं ऐसे केवलज्ञानके द्वारा केवली केवल आत्माका अनुभव करते हैं और जिसमें चैतन्यके कुछ विशेष क्रमशः परिणमित होते हैं ऐसे श्रुतज्ञानके द्वारा श्रुतकेवली केवल आत्माका अनुभव करते हैं; अर्थात्, केवली सूर्यके समान केवलज्ञानके द्वारा आत्माको देखते और अनुभव करते हैं तथा श्रुतकेवली दीपकके

समान श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको देखते और अनुभव करते हैं, इसप्रकार केवली और श्रुतकेवलीमें स्वरूपस्थिरताकी तरतमतारूप भेद ही मुख्य है, कम-बढ़ (पदार्थ) जाननेरूप भेद अत्यन्त गौण है। इसलिये अधिक जाननेकी इच्छाका क्षोभ छोड़कर स्वरूपमें ही निश्चल रहना योग्य है। यही केवलज्ञान-प्राप्तिका उपाय है।।३३।।

(**दिनांक ४-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-२९**)

`प्रवचनसार', ३३ गाथा। (उसके ऊपर Heading) है न ? `**अब केवलज्ञानी को...**' (यानी) सर्वज्ञ परमात्मा को `**...और श्रुतज्ञानी को...**' आ..हा..हा...! भगवान केवलज्ञान के द्वारा आत्मा को जानते हैं। यहाँ ऐसा कहने का है, हाँ ! नीचे भी (चतुर्थ आदि गुणस्थान में भी) श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को जानते हैं। इस अपेक्षा से दोनों समान हैं, ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! सूक्ष्म बात है। `**...केवलज्ञानी को और श्रुतज्ञानी को...**' (उसमें) श्रुतज्ञानी समझ में आते हैं ? भावश्रुतज्ञानी, हाँ ! यानी कि जो आत्मा शुद्ध आनंद (और) ज्ञायकस्वरूप (है) उसे जानता है (वे श्रुतज्ञानी है)। (ऐसे आत्मा को) ये केवली भी जानते हैं। और नीचे श्रुतज्ञानी - भावश्रुतज्ञानी, भावश्रुतज्ञान के द्वारा यह आत्मा सामान्य है उसे जानते हैं। इस अपेक्षा से दोनों समान हैं, (वैसा) कहते हैं। केवली को प्रत्यक्ष है, इन्हें परोक्ष है, आ..हा..हा...! (आगे) टीका करेंगे।

`**...केवलज्ञानी को और श्रुतज्ञानी को अविशेषरूप से...**' (यानी) स्थिर - विशेष नहीं - सामान्यरूप `**...दिखाकर...**' आहा..हा...! जिसने केवलज्ञान से आत्मा को जाना और जिसने श्रुतज्ञान से (आत्मा को जाना वे दोनों समान हैं)। भावश्रुतज्ञान हाँ ! द्रव्यश्रुतज्ञान वाणी नहीं, वैसे द्रव्यश्रुतज्ञान कोई विकल्प, राग भी नहीं, (परंतु) अंतर में भावश्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को जाने तो केवली और श्रुतकेवली दोनों इस अपेक्षा से समान हैं, आहा..हा...! है ?

`**...विशेष आकांक्षा के क्षोभ का क्षय करते हैं...**' आ..हा..हा...! जिसने अंतर भावश्रुत से आत्मा को जाना (ये ऐसा कहते हैं) अब विशेष जानने के क्षोभ से बस हो ! आहा..हा...! जो जानता था वह जानने में आया, अब विशेष क्षयोपशम और उघाड़

की आकांक्षा से `**अलम**' (बस हो) ! आ..हा..हा...! संस्कृत में `**क्षोभं क्षपयति**' (है)। (यानी कि) वह क्षोभ को नाश करते हैं। यानी ? `(**अर्थात् केवलज्ञानी में और श्रुतज्ञानी में अंतर नहीं है ऐसा बतलाकर विशेष जानने की इच्छा के क्षोभ को नष्ट करते हैं**):-' आहा..हा...!

यह कलश में भी आया न ? कि, श्रुतज्ञान के द्वारा अनुभूति हुई उसे अब विशेष पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं। (आता) है ? शैली तो (देखो) ! आ..हा..हा...! कलश में (आता) है। बारह अंग के अंदर आत्मा आनंद और पूर्ण शुद्ध पवित्र स्वरूप (है) उसकी अनुभूति करने को कहा है, आ..हा..हा...! जिसने अंदर यह भावश्रुत-निर्मल भावश्रुत(ज्ञान) के द्वारा आत्मा को जाना, उसे अब शास्त्र पढ़ने की आवश्यकता नहीं, आ..हा..हा...! `कलशटीका' है न उसमें यह है। देखना है ?

(१३वां श्लोक है) `**ऐसा जानना कि आत्मानुभान मोक्षमार्ग है।**' आत्मा शुद्ध वीतरागमूर्ति प्रभु उसका अनुभव करना यह मोक्षमार्ग है। `**इसके बारे में दूसरा भी संशय होता है कि, कोई मानेगा कि द्वादशांगज्ञान कोई अपूर्व लब्धि है।**' (अर्थात्) बारह अंग का ज्ञान कोई अपूर्व है (ऐसा लगे तो) `**उसका समाधान इस प्रकार है कि द्वादशांगज्ञान भी विकल्प है।**' आ..हा..हा...! परलक्षी बारह अंग का ज्ञान भी भेद - विकल्प है। `**उसमें भी ऐसा कहा है कि शुद्धात्मभूति मोक्षमार्ग है।**' आ..हा..हा...! बारह अंग-भगवान की बारह अंग की वाणी, उसमें चौदह पूर्व भी आ गये, उसमें भी भगवान ने ऐसा कहा है कि, यह भगवानआत्मा ! पूर्ण शुद्ध आनंदघन (है) उसकी अनुभूति कर ! यह सब का सार है, आहा..हा...! ऐसा है, देखा ? `**इसलिये शुद्धात्मानुभूति होनेपर...**' आ..हा..हा...! कुछ समझ में आया ? शुद्ध आत्मा का अनुभव होनेपर `**...शास्त्र पढ़ने का कोई बंधन नहीं।**' यह तो चालु विषय के साथ मिलान करना है न ! आहा..हा...! जाननेवाला जानने में आ गया ! आहा..हा...! (यहाँपर) द्रव्यश्रुत नहीं - शास्त्रज्ञान नहीं (कहना)। शास्त्रज्ञान है यह तो परलक्षी है। उसे तो शब्दज्ञान कहा है। यह आत्मज्ञान नहीं, आ..हा..हा...!

भावश्रुत (माने) निर्मल मति और श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को जाने, यह अनुभूति करने का भगवान ने बारह अंग में कहा है। आहा..हा...! चार अनुयोग का सार वीतरागता कही है न ? (पंचास्तिकाय संग्रह-१७२ गाथा)। ओ..हो..हो...! कैसी शैली!!

चारों ओर से देखें तो (सत्य उपस्थित होता है) ! उसमें अनुभूति यह वीतरागी पर्याय है और यह अनुभूति वीतराग जिनस्वरूपी प्रभु (आत्मा) के आश्रित होती है, आहा..हा...! ऐसी आत्मा की अनुभूति जिसे हुई... आहा..हा...! अब उसे शास्त्र पढ़ना-वैसा कोई बंधन नहीं, आ..हा..हा...! समझ में आया ? जो जाननेवाला भगवान (है) यह उसे भीतर से जानने में आ गया, आहा..हा...! सूक्ष्म बात है, भाई !

प्रभु ! ज्ञान और आनंद (आदि) अनंत गुणों का सागर, प्रभु ! ऐसी जो सामान्य वस्तु यानी कि गुण-पर्याय के भेदरहित (और) राग के संबंधरहित, ऐसे आत्मा का जिसे भीतर ज्ञान हुआ - अनुभूति हुई, अब (उसे शास्त्र पढ़ने का) बंधन नहीं। (किन्तु ऐसा) विकल्प आये, पढ़े, सुने, विचार करे... आहा..हा...! यह अनुभूति हुई (यानी) उसने अब मोक्ष के बीज़ बोये ! आ..हा..हा...! बहुत कठिन काम (है)। सुबह में वैसी थी और अब यह (आई)। बात बहुत (कठिन है), बापू ! वस्तुस्थिति (और) परमात्मा की वाणी (ऐसी है) ! आ..हा..हा...!

श्वेतांबर शास्त्र किसी भगवान के कहे हुए नहीं। क्या कहें ? काल्पनिक हैं। उन्हें दुःख लगे किन्तु यह तो बापू ! सत्य की बात है, प्रभु ! आ..हा..हा...!

यह तो वीतरागी वाणी...! संतों...! वीतरागी संतों...! आ..हा..हा...! दिगंबर मुनिगण जंगलवासी...! उनके श्लोक हैं और उनकी यह टीका है, आ..हा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि (जिसे) अनुभूति हुई (उसे) अब शास्त्र विशेष से पढ़ना, क्षयोपशम हो - ऐसा कोई बंधन - आवश्यकता नहीं, आहा..हा...! `मोक्षमार्ग प्रकाशक' में तो ऐसा कहा कि, सामान्य से विशेष बलवान है। ये तो (इस) अपेक्षा से (कहा है कि) जिसे शास्त्र पढ़ना ही नहीं और प्रमाद में रहना है, उन्हें वैसा कहते हैं। आहा..हा...! चारों ओर शैली तो देखो ! आ..हा..हा...!

भगवान भीतर चैतन्यघन प्रभु ! जिन स्वरूपी ! वीतरागमूर्ति ! अतीन्द्रिय आनंद का कंद प्रभु ! (है) आ..हा..हा...! जिस प्रकार कंदमूल में मूल (होते) हैं न ? क्या कहे उसे ? मूली... मूली... मूली में सफेद कंद है न (वह) कसदार है। यह कंद है उसमें अनंत जीव हैं। एक रजकण में अनंत जीव हैं। (यह) कंद... कंद है। वैसे भगवान(आत्मा) अनंत आनंद का कंद है। उसे जिसने भीतर में अंतर्मुख होकर (जाना) वह और केवली दोनों समान हैं।

यहाँपर `**विजानाति**' शब्द है। (दूसरी जगह) `**अभिगच्छई**' (शब्द है)। आहा..हा...! जिसने वर्तमान निर्मल भावश्रुतज्ञान (द्वारा) आत्मा के सन्मुख होकर आत्मा को जाना, यहाँ कहते हैं कि जिसने भावश्रुत द्वारा आत्मा को `**विजानाति**' (यानी कि) जाना (और) केवली ने आत्मा को जाना, दोनों इस अपेक्षा से समान है, आ..हा..हा...! विशेष (टीका में) कहेंगे। यह तो अभी (सामान्य अर्थ कहते हैं)।

भाई ! यह कोई कथा-कहानी नहीं। यह तो तीनलोक के नाथ वीतराग की वाणी (है)। (जिसे) इन्द्र सुनने (आये) और एकावतारी इन्द्र सुनने आते (हैं) ! आ..हा..हा...!

(यहाँ कहते हैं) `(**...केवलज्ञानी में और श्रुतज्ञानी में अंतर नहीं है ऐसा बतलाकर विशेष जानने की इच्छा के क्षोभ को नष्ट करते हैं**)।' आहा..हा...! गाथा...! गाथा बहुत अच्छी आयी है ! `भावनगरवाले' इतवार को आते हैं तब ऐसा सबकुछ (आता है) ! आ..हा..हा...! गाथा :-

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा।।३३।।

नीचे हरिगीत :-

श्रुतज्ञानथी जाणे खरे ज्ञानस्वभावी आत्मने।
ऋषिओ प्रकाशक लोकना श्रुतकेवली तेने कहे।।३३।।

`अन्वयार्थ' लेंगे। पहले शब्दार्थ (दिया) है न ? शब्दार्थ लेते नहीं परंतु इसमें (लेंगे)। (**यः हि**) जो वास्तव में। `**हि**' है न `**हि**' ? (अर्थात् वास्तव में) `**य**' अर्थात् `**जो**'। `**यः हि**' आ..हा..हा...! `**जो वास्तव में श्रुतज्ञान के द्वारा**' (अर्थात्) अंतर के भावश्रुतज्ञान के द्वारा। `(**स्वभावेन ज्ञायकं**)' `**स्वभाव से ज्ञायक**' ऐसा जो आत्मा। स्वभाव से (यानी) सहज स्वभाव से ज्ञायक-जानन स्वभावी ऐसा आत्मा। उसे जो जानता है, `(**विजानाति**)' आ..हा..हा...! उसकी निर्मल श्रुतज्ञान की पर्याय के द्वारा जिसने जाना (ऐसा कहते हैं)। आ..हा..हा...! अरे..रे...! केवली का वियोग हुआ किन्तु केवली की वाणी रह गई ! आहा..हा...!

यह (श्रुतज्ञान के द्वारा जो) आत्मा को जानता है उसे `(**लोकप्रदीपकराः**)' `**लोक के प्रकाशक**' लोक का प्रकाश करनेवाले संतगण - ऋषिश्वर (यानी) केवलीगण और तीर्थंकरगण, उन्हें `श्रुतकेवली' कहते हैं। यह तो शब्दार्थ हुआ, आहा..हा...! अब उसकी

टीका। टीका है न ?

`जैसे भगवान,...**' पाठ में तो एक ही बात है, भाई ! कि, जिसने **`सुदेण' (यानी कि) भावश्रुत ज्ञान के द्वारा आत्मा को जाना वे श्रुतकेवली हैं। (यह) पाठ (है)। किन्तु टीकाकार अब उन्हें (श्रुतज्ञानी को) भगवान के साथ मिलान करते हैं। समझ में आया? पाठ तो इतना है - **`जो ही सुदेण विजाणदि**' **`विजाणदि**' (यानी) जैसा है वैसा भावश्रुत में जानने में आया, आ..हा..हा...! **`अप्पाणं**' (यानी) आत्मा को - जाणकस्वभाव को जाना, आ..हा..हा...! **`तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति**' उन्हें संतगण श्रुतकेवली कहते हैं। ऋषिगण-मुनिगण (ऐसा कहते हैं) अन्य मत के ऋषि की बात नहीं है हाँ...! यहाँपर ऋषि कहते हैं (यानी) मुनि, सच्चे संत - जैनियों के संत - आत्मा के आनंद के अनुभवीगण, (वैसे) ऋषिगण, जिन्होंने भावश्रुत के द्वारा आत्मा को जाना, उन्हें `श्रुतकेवली' कहते हैं, आ..हा..हा...! है टीका में ? ३३ (गाथा की) टीका।

`जैसे भगवान, युगपत्...**' यह तो टीकाकार स्वयं भगवान के साथ श्रुतकेवली का मिलान करते हैं। जैसे भगवान केवली परमात्मा **`...युगपत् परिणमन करते हुए' (अर्थात्) उनको तो एक समय में सभी परिणमन एक साथ है। भगवान को तो एक समय में तीनकाल तीनलोक का जानना (होता है)। `क' ऐसे उच्चारे तो उसमें असंख्य समय होता है। वैसे एक समय में भगवान अरिहंत केवली युगपत् तीनकाल तीनलोक को जानते हैं, आहा..हा...! वैसे (भगवान) **`...युगपत् परिणमन करते हुए समस्त चैतन्यविशेषयुक्त...**' (यानी कि) चैतन्य की विशेष अवस्थावाले, **`...केवलज्ञान के द्वारा...**' चैतन्य के विशेषयुक्त केवलज्ञान (के द्वारा), आहा..हा...! `सामान्य' बाद में कहेंगे।

यहाँपर तो चैतन्य विशेषयुक्त यह केवलज्ञान (है ऐसा कहना है)। चैतन्य की विशेष अवस्था-विशेषपना वैसा जो केवलज्ञान (उसकी बात करते हैं)। है (अंदर) ? इसके द्वारा (यानी) यह (केवलज्ञान के) द्वारा भगवान किसे जानते हैं ? **`...अनादिनिधन**' नीचे (अर्थ दिया) है। `अनादि-अनंत (चैतन्यसामान्य आदि तथा अंत रहित है)' क्या कहा ? चैतन्य के विशेषों के द्वारा अर्थात् केवलज्ञान के द्वारा सामान्य वैसे आत्मा को जानता है।

`सामान्य' अर्थात् क्या ? कि, त्रिकाली (आत्म) वस्तु। यह तो विशेष अवस्था हुई। केवलज्ञान तो चैतन्य की विशेष अवस्था हुई। परंतु यह विशेष द्वारा जानता है कौन?

कि, त्रिकाली जो भगवानआत्मा अनादि-अनंत (है, वह जानता है)। आहा..हा...! अनादि (माने) आदि नहीं (अनंत माने) अंत नहीं, ऐसा जो भीतर आत्मा - वस्तु प्रभु (है, उसे जानता है)। है ?

'**...निष्कारण...**' (माने) जिसका कोई कारण नहीं। (ऐसी) स्वयंसिद्ध वस्तु-सामान्य-ज्ञायकप्रभु, ज्ञान(स्वभाव) - ज्ञायकस्वभाव स्वरूप आत्मा स्वयंसिद्ध (है)। कोई उसका कर्ता है, किसी ने उसे बनाया है, वैसा नहीं। आहा..हा...! स्वयंसिद्ध आत्मा - ज्ञायक स्वयंसिद्ध आत्मा ! आ..हा..हा...! निष्कारण (है) किसी भी कारण से हुआ नहीं, आहा..हा...! अनादि-अनंत स्वत: चीज सत् है।

'**...असाधारण...**' (माने) जो अन्य कोई द्रव्य में नहीं वैसा। ज्ञान कहना है न! (इसलिये 'असाधारण' कहा), आ..हा..हा...! आत्मा ज्ञायकस्वभाव ऐसा है कि, यह जो ज्ञायकस्वभाव है, वह अन्य किसी द्रव्य में नहीं। है ? ऐसी बातें ! प्रत्येक शब्द में (गंभीरता भरी है) ! असाधारण माने कि अपने में वैसा अनादि-अनंत ज्ञायकस्वभाव-स्वरूप (है)।

'**...स्वसंवेद्यमान...**' स्व नाम अपने से वेदन में-अनुभव में आने से। स्वसंवेद्यमान-स्व नाम स्वयं अपने से अनुभव में आने से। ऐसा '...चैतन्यसामान्य...' आ..हा..हा...! पहले (जो) केवलज्ञान (कहा) वह चैतन्य की विशेष अवस्था है। और यह चैतन्य नित्य है वह सामान्य स्वरूप ध्रुव है, आ..हा..हा...! ऐसी कहानी-उपदेश ! नया आदमी हो (वैसे) लोगों को ऐसा लगे कि, क्या यह किस प्रकार का धर्म ? कहाँ से ऐसा निकाला ? अरे प्रभु ! धर्म तो अनादि का वैसा ही है। आहा..हा...! सुनने में नहीं आया इसलिये क्या नया है, कैसा है ? अरे, प्रभु ! मार्ग तो अलौकिक है ! आ..हा..हा...!

यहाँपर क्या कहना है ? कि, चैतन्य विशेषयुक्त जो केवलज्ञान की पर्याय (है) उसके द्वारा क्या जाना ? कि, **अनादिनिधन** - अनिधन माने अंत नहीं (वैसा अनंत)। **निष्कारण**-सामान्य-ज्ञायक (स्वरूप) जिसे विशेष ने (पर्याय ने) जाना, वैसा जो सामान्य (स्वरूप)। (निष्कारण) किसी कारण रहित। असाधारण - (जो) अन्य में न हो वैसा। **स्वसंवेद्यमान**-(माने) स्वयं अपने से वेदन में आ सके ऐसा (स्वरूप जाना)।

(ऐसा) '**चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है...**' आ..हा..हा...! क्या कहा यह ? केवलज्ञान(रूप) विशेष स्वभाव के द्वारा यानी पर्याय विशेष के द्वारा अनादि-अनंत,

असाधारण, निष्कारण, स्वंवेदनरूपी सामान्य वस्तु उसे केवली जानते हैं, आहा..हा...! है ? '**...जिसकी महिमा है तथा जो चेतकस्वभाव से एकत्व होने से...**' (चेतक माने) भगवानआत्मा का त्रिकाल दर्शक-ज्ञायक स्वभाव। आहा..हा...! (वेसे) '**...चेतकस्वभाव से एकत्व होने से केवल (अकेला,...)**' आ..हा..हा...! जिसमें राग तो नहीं परंतु विशेष केवलज्ञान की पर्याय भी जिसमें नहीं, वैसा अकेला - सामान्य (स्वभाव है), आहा..हा...! अरे..! यह क्या परंतु...?

'**...चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा चेतकस्वभाव से...**' (यानी कि) त्रिकाल दर्शन-ज्ञान स्वभाव के द्वारा '**...एकरूप होने से...**' यह एक स्वरूप है, आ..हा..हा...! '**...जो केवल (अकेला, शुद्ध,...)**' जिसमें पर्याय का भेद नहीं, आ..हा..हा...! वैसा चैतन्य ध्रुव तत्त्व प्रभु ! ज्ञायक और दर्शन स्वभावरूप एकरूप '**...(अकेला, शुद्ध, अखंड)...**' त्रिकाली प्रभु तो शुद्ध है। अखंड है - जिसमें पर्याय का भी खंड नहीं, आ..हा..हा...! सामान्य त्रिकाली ज्ञायक स्वरूपी अनादि-अनंत निष्कारण अकेला जिसका स्वरूप है वैसे चैतन्य स्वभाव की महिमावंत पदार्थ (है)।

आहा..हा...! '**...ऐसे आत्मा को...**' केवली (जानते हैं)। केवलज्ञान विशेष स्वभाव है। केवलज्ञान वैसे सामान्य स्वभाव नहीं। सामान्य तो त्रिकाल(स्वभाव) है। केवलज्ञान एक समय की पर्याय है - विशेष है, आहा..हा...! यह केवलज्ञान की पर्याय विशेष है उसके द्वारा अनादि-अनंत, निष्कारण - सहज स्वसंवेदन (स्वरूप) चैतन्य सामान्य! आहा...! '**...ऐसे आत्मा को...**' ऐसे आत्मा को '**...आत्मा से...**' आ..हा..हा...! '**...आत्मा में अनुभव करने के कारण केवली है;...**' यह तो वैसे केवली की व्याख्या हुई।

परमेश्वर जिनेश्वरदेव (को) एक समय का जो विशेष (केवल)ज्ञान प्रगट हुआ है, उस विशेष के द्वारा सामान्य को - एकरूपता को,... आ..हा..हा...! ऐसे आत्मा को आत्मा से (माने) स्वभाव से, आत्मा में (यानी) स्वभाव में अनुभव करने के कारण केवली है। गाथा बहुत ऊँची आयी है ! आ..हा..हा...! क्या कहा ? जो भगवानआत्मा अनादि-अनंत, निष्कारण, असाधारण (माने) वैसे गुण अन्य में नहीं, त्रिकाल स्वसंवेदन चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा चेतक स्वभाव के द्वारा (माने) जानन-देखन स्वभाव के द्वारा एकरूप होने से - अंदर भगवान(आत्मा) एक स्वरूप से है, आ...हा..हा...! ऐसी बातें अब कहाँ (सुनी हो) ? (यह तो) परमात्मा जिनेश्वरदेव की वाणी है, प्रभु!

अरे...! अरे...! (परंतु) इस समय विपरीतता हो गयी। सत्य बात को भी लोग एकान्त कहते (हैं) !! अरे..रे...! प्रभु ! आहा..हा...!

वस्तु-आत्मा में केवलज्ञान है यह पर्याय है। केवलज्ञान भी पर्याय है, गुण नहीं। ज्ञानगुण है वह त्रिकाल है। आत्मा त्रिकाल सामान्य है और केवलज्ञान की पर्याय एक समय की अवस्था है। इसलिये यह विशेषज्ञान द्वारा सामान्य त्रिकाली आत्मा को (यानी कि) मिलावट रहित (आत्मा को), अकेले को - आत्मा को आत्मा से आत्मा में (अनुभव करता है)। आहा..हा...! **`...ऐसे आत्मा को आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण केवली है;...'** यह तो अभी ऐसे केवली की व्याख्या कही। अरे.. प्रभु ! आ..हा..हा...! भाषा तो सरल है, प्रभु ! तेरी महिमा का कोई पार नहीं, भाई! आहा..हा...! ऐसा जो भगवान एकरूप अखंड उसे केवली जानते हैं, आहा..हा...! अत: (वैसे आत्मा को) अनुभव करने के कारण केवली है। यह तो दृष्टांत कहा। सिद्धांत तो अब कहना है। गाथा में जो कहना है सो तो अब कहना है। आहा..हा...!

(अब कहते हैं) **`...हम भी...'** आ..हा..हा...! है (अंदर) ? **`...हम भी...'**! (यह) पंचमकाल के मुनि (ऐसा कहते हैं) !! (एक) हजार वर्ष पहले तो यह `अमृतचंद्राचार्य' हुए। दो हजार वर्ष पहले भगवान `कुंदकुंदाचार्य' हुए। ये आचार्य स्वयं कहते हैं, आ..हा..हा...! **`...हम भी...'** जिस प्रकार केवली विशेष (केवलज्ञान) द्वारा सामान्य को जानते हैं, वैसे हम भी... आ..हा..हा...! आहा..हा..हा...! देखो ! यह संतगण ! जैन मुनिगण ! ऐसा होता है !! आहा..हा...! ऐसी बात है, आहा..हा...! हजार वर्ष पहले (हुए) `अमृतचंद्राचार्य' मूल गाथा की टीका करते हैं। गाथा दो हजार वर्ष पहले की है। `कुंदकुंदाचार्य' भगवान के पास गये थे। (`सीमंधर') प्रभु के पास जाकर, आठ दिन रहकर, (यहाँ) आकर उन शास्त्रों को बनाया। यह भगवान की वाणी की `कुंदकुंदाचार्य(देव ने)' शास्त्र में रचना की। एक हजार वर्ष (पश्चात) `अमृतचंद्राचार्य' दिगंबर संत हुए ! आ..हा..हा...! जिस प्रकार समुद्र के किनारे पानी की तरंग आती है, वैसे मुनि को (अपनी) अवस्था में अतीन्द्रिय आनंद की तरंग आती है ! आ..हा..हा...! बापू ! मुनि किसे कहें ! भाई ! आ..हा..हा...!

एक स्थानकवासी साधु ने `णमो लोए सव्व साहुणं' का अर्थ ऐसा किया कि, `देखो ! इसमें कहाँ कहा है कि जैन के साधु (ही को नमस्कार किया है) ?' अरे..!

प्रभु ! वैसा नहीं, बापू ! वीतरागमार्ग के ऐसे अनुभव करनेवाले (मुनिगण) हैं, वे लोक में किसी भी जगह हो, उनको हम वंदन करते हैं, वैसे कहते हैं। और मैं तो उससे अधिक कहता हूँ, `णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहुणं' अरे..बापू ! मार्ग न्यारा है, भाई ! आहा..हा...! उन चौरासी के अवतार करके दुःखी है, उनमें से छूटने का उपाय यह है, प्रभु !

केवलज्ञानी ने जिस प्रकार आत्मा को आत्मा से आत्मा में जाना... आ..हा..हा...! वैसे मुनिराज कहते हैं, हजार वर्ष पहले के संत कहते हैं... आ..हा...! `**...हम भी...**' है (पाठ में) ? `**भी**' क्यों लिया ? (क्योंकि) जिस प्रकार भगवान (आत्मा को जानते) हैं, वैसे `**हम भी**' (जानते हैं) !

श्रोता :- `त्रिकालवर्ती सव्व साहुणं' माने क्या ?

समाधान :- त्रिकालवर्ती माने तीनों काल के संतगण वैसे होते हैं, उनको मैं वंदन करता हूँ, वैसे उसका अर्थ है। भविष्य में होनेवाले को भी मैं अभी वंदन करता हूँ। यह `धवल' में पाठ है। वैसे तो, `णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्जायाणं, णमो लोएसव्व साहूणं' (है) (उनमें) `लोए सव्व' यह शब्द सबको (सभी परमेष्ठी को) लागू होते हैं। ऐसा पाठ है। यह अंत्यदीपक है। जैसे `णमो लोए सव्व साहूणं' (बोलते हैं) वैसे पहले से लेना - `णमो लोए सव्व अरिहंताणं, णमो लोए सव्व सिद्धाणं, णमो लोए सव्व आयरियाणं, णमो लोए सव्व उवज्जायाणं, णमो लोए सव्व साहुणं' ऐसा पाठ है। अब, तदुपरांत `धवल' में एक `त्रिकालवर्ती' का पाठ है। `णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहुणं' वैसे पहले से लेना - `णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं' (अर्थात्) अरिहंतदेवगण जो हुए, होते हैं और होंगे - वैसे त्रिकाल(वर्ती) भगवान को मैं नमन-वंदन करता हूँ, आ..हा..हा...! `णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती सिद्धाणं' - जो सिद्ध हो गये, (होते हैं और होंगे - (वैसे त्रिकालवर्ती सिद्धों को मैं वंदन करता हूँ)। `णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती आयरियाणं' - आचार्य भी यह (दिगंबर भावलिंगी संत) हाँ ! दूसरे-अन्य जैन के सिवा हैं वे साधु ही नहीं। वे सब अज्ञानी (हैं)।

(कोई) ऐसा कहता था कि, `इनमें हमारे साधु को भी रखो !' उन्होंने ऐसा कहा कि, `देखिये ! इसमें `णमो लोए सव्व साहुणं' कहा है। यहाँ अभी तो कोई साधु दिखते नहीं। इसलिये अन्यमती के भी साधु को समाविष्ट करना !' ऐसी बात

है नहीं, बापू ! तुझे पता नहीं, भाई ! (संवत्) '८२ (की साल में) मैंने उसे अंगत में कहा, `बापू ! यह मार्ग नहीं। आप जो क्रियाकांड करते हो, पौषध आदि, परंतु यह राग है, यह धर्म नहीं। उनसे पुण्यबंध होगा।' आदमी सौम्य (थे)। '८२ की बात है। कितने वर्ष हुए ? तिरपन (हुए)। उपाश्रय में हमारे पास अंगत में आये और कहा, `महाराज ! यह सब परिवर्तन हो जायेगा !' मैंने कहा `परिवर्तन हो तो क्या है ? बात तो यह है। लाइये आपका `ज्ञानसागर' !' `पुनातर' से छपा हुआ `ज्ञानसागर' है, (मैंने कहा) `देखो ! इसमें क्या कहा है ? चार कारण से पुण्य-शुभ बंध होता है, वे चार कारण कौन से ? देखो ! मन की सरलता, वचन की सरलता, काया की सरलता, कलहरहित भाव। वे शुभभाव (हैं)। उन शुभभावों से पुण्य बंध होता है, धर्म (होता) नहीं।' (कभी भी) सुना नहीं। आगे तो बेचारे सुनते थे। यह मन की सरलता शुभभाव (है)। उससे पुण्यबंध हो, धर्म नहीं। देखो ! यह `पुनातर' में से `ज्ञानसागर' छपा हुआ है उसमें लिखा है। सौम्य आदमी (थे)। आगे कुछ बोले नहीं।

यह तो बाहर की क्रिया - दया, व्रत, तप, भक्ति, पूजा (करे)। (परंतु) यह तो राग है, बापू ! तुझे पता नहीं। यह करूँ...करूँ...करूँ... यह तो वृत्ति का उत्थान है, राग है। यह पुण्यबंध का कारण है। धर्म नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि जैसे केवली (ने) - केवलज्ञान (की) विशेष अवस्था के द्वारा सामान्य (स्वरूप को) जाना... आ..हा..हा...! विशेष (क्या) और सामान्य क्या ? भाई ! विशेष पर्याय है। केवलज्ञान पर्याय है और यह विशेष है और वस्तु है यह त्रिकाली-सामान्य-ध्रुव है। केवली भगवान ने यह विशेष के द्वारा सामान्य को जाना।

अब, ये आचार्य स्वयं कहते हैं, **`...हम भी...'** आ..हा..हा...! **`...क्रमशः परिणमित होते हुए...'** (केवलज्ञानी में) पहली पंक्ति (में) **`युगपत् परिणमन करते हुए'** (कहा) था। केवली को तो एक समय में सारा-पूरा परिणमन है। श्रुतज्ञान में एकसाथ सारा-पूरा परिणमन नहीं। आहा..हा...! है ? उसके साथ (मिलान करें)। (ऊपर) **`जैसे भगवान'** (कहा) (तो यहाँ) **`उसीप्रकार हम भी'**, **यह `युगपत् परिणमन करते हुए'** है तो यह **`क्रमशः परिणमित होते हुए'** (है)। क्रम-क्रम से (जानते) हैं। एक समय में सब एकसाथ परिणमन नहीं। (क्योंकि) श्रुतज्ञान है न ! (यहाँपर) `क्रमशः परिणमित होते हुए कितने ही' (तो ऊपर में) **`युगपत् परिणमित होते हुए समस्त'** (है)। युगपत् परिणमित होते

हुए समस्त-इसमें क्रमश: परिणमित होते हुए कितने ही (है)। आहा..! है न ! देखिये अंदर ! आ..हा..हा...! बापू ! यह तो वीतराग परमात्मा (की वाणी है) ! आहा..हा...!

श्रोता :- दर्शन, ज्ञान क्रमश: परिणमित होता है, वैसा कहना है ?

समाधान :- ज्ञान क्रमश: (परिणमित होता है)। एकसाथ-पूरा (परिणमित होता नहीं)। यहाँ (तो) ज्ञान की बात है न ! ज्ञान में सब परिणमन एकसाथ नहीं, ऐसा कहते हैं। केवली को एक समय में सब (परिणमन) है। यह (श्रुतज्ञानी को) एक समय में सब (परिणमन) नहीं। सब जानने की शक्ति (है) सही ! परंतु (अभी) क्रमश: (जानते हैं), आ..हा..हा...!

(यहाँपर) `**क्रमश: परिणमित होते हुए कितने ही**' (है)-(ऊपर में) `**समस्त**' (है)। (ऊपर में) `**चैतन्यविशेषोंसेयुक्त**' (है) - यहाँपर भी `**चैतन्यविशेषयुक्त**' (है)। आहा..हा...! क्या कहते हैं ? बापू ! यह तो भगवान त्रिलोकनाथ (की वाणी है), आ..हा..हा...! यह कोई कथा-कहानी नहीं, भाई ! आहा..हा...! यह तो भागवत्-भगवत् स्वरूप प्रभु (निज आत्मा की) बात है। नाथ ! अरे..रे...! उसे महँगी लगे (किन्तु) भाषा तो सरल है, आ..हा..हा...!

केवली परमात्मा `**युगपत्...**' (अर्थात्) एकसाथ `**...परिणमन करते हुए समस्त चैतन्यविशेषयुक्त केवलज्ञान के द्वारा...**' यह (आचार्य) कहते हैं, `**...हम भी, क्रमश: परिणमित होते हुए कितने ही चैतन्यविशेषोंसेयुक्त...**' आ..हा..हा...! (ऊपर) कहा `**केवलज्ञान के द्वारा**' तो (यहाँ कहते हैं) हम `**श्रुतज्ञान के द्वारा**' (जानते हैं)। हमें भावश्रुत हुआ है उसके द्वारा (जानते हैं)। यह भावश्रुत ज्ञानविशेष है, समझ में आया ? भाषा तो सरल है, प्रभु ! तू अंदर वैसा सरल है... आ..हा..हा...! पूर्ण हीरा - चैतन्य-हीरा अंदर पड़ा है। जिसकी चमक़ में अनंत गुण चमकते हैं। ऐसा जो सामान्य तत्त्व उसे यहाँ कहते हैं, हम `**...श्रुतज्ञान के द्वारा, अनादिनिधन...**' पहले में (केवलज्ञान में) भी अनादिनिधन था। है ?

(अब कहते हैं) `**...निष्कारण...**' वस्तु जो सामान्य है वह अनादि-अनंत है। यह कारण रहित (है)। उसकी कोई उत्पत्ति है (या) किसी ने (उत्पन्न) की है वैसा है नहीं। ऐसा ध्रुव भगवानआत्मा ! सामान्य (अर्थात्) पर्याय के विशेष रहित (है)। विशेष पर्याय के द्वारा सामान्य जानने में आये - विशेष के द्वारा सामान्य जानने में आये,

यह सामान्य द्रव्य कैसा है ? आहा..हा...! कि, अनादि-अनंत निष्कारण (है)। वस्तु है वह कारण रहित है। `है' यह `है'। (कोई) इश्वर कैसा ? और कोई उसका कर्ता कैसा? आ..हा..हा...!

`**...स्वसंवेद्यमान...**' स्व नाम अपने से अनुभव में आये वैसा। `**...चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है...**' यह सब कथनी-भाषा एक आई। है न ? `**...अनादिनिधन-निष्कारण-असाधारण-स्वसंवेद्यमान चैतन्यमासान्य जिसकी महिमा है...**' वहाँ (ऊपर) भी वैसे शब्द (हैं) और यहाँ भी वैसे (शब्द हैं)। `**...तथा जो चेतकस्वभाव से...**' उसमें भी यह था। चेतकस्वभाव के द्वारा (अर्थात्) दर्शन और ज्ञान जिसका (स्वभाव) है। त्रिकाली ज्ञाता-दृष्टा उसका स्वभाव है, आ..हा..हा...! `**...एकत्व होने से...**' उसमें भी वैसा था - `**एकरूप होने से**'। सामान्यज्ञान त्रिकाल (है), दर्शन त्रिकाल (है)। (वैसा) यह एकरूप है। `**...एकत्व होने से केवल (अकेला) है...**' उसमें भी वैसा था - `**जो केवल एक अखंड है**', आहा..हा...!

`**...ऐसे आत्मा को...**' आ..हा..हा...! देखो ! ये मुनिगण स्वयं की बात जाहिर करते हैं ! उनको मान की आवश्यकता नहीं थी। यह तो विकल्प आया (और) टीका हो गई है, आहा..हा...! मुझे कोई पहचाने - जाने तो मैं टीका करूँ, वैसा नहीं। उसके (लिये) भी कहेंगे कि, अरेरे...! यह टीका हमने नहीं बनाई, भाई ! आ..हा..हा...! यह तो शब्द के द्वारा हो गई है। हम शब्द के कर्ता नहीं, प्रभु ! आ..हा..हा...! हम तो ज्ञान (द्वारा) - श्रुतज्ञान के विशेष के द्वारा त्रिकाली सामान्य अनादिनिधन निष्कारण स्वसंवेदन(मय) एकरूप वस्तु को अनुभव करते हैं, आहा..हा...! कहिये ! समझ में आया कि नहीं ?

बनिये को व्यापार के कारण फुरसत न मिले और ऐसी बातें...! आ..हा..हा...! भाई...! निवृत्ति लेनी होगी, प्रभु ! अरे..रे...! चौरासी के अवतार में भटकता है, भाई! आहा..हा...! रेलगाड़ी से कटकर मर जाते हैं ! आहा..हा...! इसप्रकार अनंतबार हुआ (है) बापू ! आहा..हा...! यहाँपर अभी हुआ था न ? एक आदमी मर गया। बस में दबकर मर गया ! आहा..हा...! दबकर तुरंत मर गया था। बसवाला खड़ी करने गया वहाँ... (तो) मोटरसाइकिलवाले दो आदमी थे। उनमें (से) एक आदमी (उसी समय) मर गया ! और एक आदमी मरने की तैयारी में था, आहा..हा...! (कोई)

कणबी था। बापू ! उस समय की अवस्था और छटपटाकर यह देह छूटे...! आहा..हा...! कोई माता-पिता, स्त्री, बच्चे कोई नहीं, आहा..हा...! बापू ! तेरी मौत इसप्रकार अनंतबार हुई है, आहा..हा...! इन जन्म-मरण के (इसप्रकार के) अवतार से छूटना हो तो भगवान(आत्मा) जो निष्कारण अनादि-अनंत चैतन्यवस्तु है उसे भावश्रुतज्ञान के द्वारा जानना होगा। आहा..हा...! द्रव्यश्रुत (जैसे) शास्त्र से भी जानने में नहीं आयेगा, आ..हा..हा...! शास्त्रज्ञान यह शब्दज्ञान है। शब्दज्ञान से भगवान जानने में आ जाय वैसा नहीं, आ..हा..हा...!

आहा..हा...! `हम भी' कहकर (आचार्य महाराज) जगत को जाहिर करते हैं कि, मुनि भी श्रुतकेवली है, आ..हा..हा...! वैसे तो, `समयसार' ९वीं गाथा में तो **`सुदेणहिगच्छदि'** (अर्थात्) भावश्रुत(ज्ञान से) आत्मा (को) जाने वह श्रुतकेवली (है)। यह चौथे गुणस्थान में भी वहाँ `श्रुतकेवली' कहा है। निश्चय से तो वैसा है, वह तो मुनि है। नग्न दिगंबर मुनि भीतर आत्मा के अनुभवी (है)। पंचमहाव्रत का विकल्प भी उसका स्वभाव नहीं, वह तो राग है, आहा..हा...!

`अमेरिका' में एक...हाल में बहुत गिरते हैं, क्या कहते हैं यह बड़ा ? प्लेन! `अमेरिका' में एक बड़ा प्लेन गिरा था। कितने आदमी (थे)...! जंगल में गिरा और सब मर गये ! एक सतरह वर्ष की लड़की थी, वह बेहोश हो गई। वैसे देखे तो वहाँ माता-पिता और सब मर गये थे। जंगल में...! और साँप और बिच्छू और किस प्रकार के मेढक ? विषैले-जहरीले मेढक ! सतरह वर्ष की जवान बेटी ! यूँ आँख खोली वहाँ... आ..हा..हा...! उस जंगल में ग्यारह दिन तक भटकी। वहाँ मनुष्य नहीं, कोई नहीं। वहाँ उसने क्या किया होगा ? कहाँ खाया होगा ? ग्यारह दिन तक भटकी फिरी। पैर में फोडे निकले। (एसे) जंगल में पैर में कीड़े पड़े। आ..हा..हा...! बारहवें दिन उसे जंगल में शिकारी की एक झोंपड़ी मिली, शिकारी वहाँ आते होंगे। वह झोंपड़ी के पास खड़ी रही। अरे..रे...! कहाँ जाए ? कहीं गाँव न मिले, पच्चीस-पचास (मील तक) ! अरे..रे...! पैर में फोडे पड़े, कीड़े निकले ! आ..हा..हा...! उस समय वे शिकारी आये। लड़की को देखकर (कहा) `अरे..! बहन ! आप यहाँ कहाँ से ?' जंगल...जंगल... केवल नाग, सर्प और बिच्छू ! (लड़की ने कहा) `भाई ! यह प्लेन गिर गया है और ग्यारह दिनों से भटकती हूँ।' शरीर में सूजन थी। सब जगह (कीड़ों ने) काट खाया था इसलिये सूजन...सूजन...सूजन...(हो गई थी)। आयुष्य

था न इसलिये वे बेचारे लोग ले गये, आहा..हा...! दूर गाँव होगा वहाँ अस्पताल में ले गये, आहा..हा...! देखो ! ऐसी हालत ! ग्यारह दिन कैसे गुजारे होंगे !? जंगल...! ऊपर आकाश नीचे धरती ! और बीच में साँप - बिच्छू और जहरीले मेढक ! आहा..हा...! आयुष्य था इसलिये (बच गई)। (परंतु) सारे शरीर में सूजन ! पैर में फोडे निकले। वे शिकारी आये उसे दया हुई, अरर..र..! यह..! उसको ले गये शहर के अस्पताल में, आहा..हा...! उस समय वहाँ उसे क्या होता होगा ? अरे...! पानी कहाँ ? खाना कहाँ ? कहीं पे अनजान फल होंगे वे खाये होंगे और ग्यारह दिन निकाले। ऐसे अवतार हुए हैं, बापू ! आ..हा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, इन जन्म-मरण से छूटना हो तो, प्रभु ! तेरे भावश्रुतज्ञान के द्वारा तू त्रिकाली भगवान को देख ! उसे जान (तो) तुझे समकित होगा और उससे जन्म-मरण का अंत होगा। आहा..हा...! तेरे ज्ञान की पर्याय में तू पर को ज्ञेय बनाता है, ऐसा तो अनादि से बनाया, प्रभु ! यह कोई तू नहीं। परंतु ज्ञान की पर्याय में (तू) तुझे-त्रिकाल (स्वभाव को) ज्ञेय बना ! आ..हा..हा...! कौन सी बात है यह !! भगवान की बात है, प्रभु ! आहा..हा...! भगवान, भगवान बनने की बात कहते हैं !! आहा..हा...!

यह 'अमृतचंद्राचार्य' कहते हैं, '**हम भी, क्रमशः परिणमित होते हुए कितने ही चैतन्यविशेषोंसेयुक्त...**' श्रुतज्ञान है न ! (यह) विशेष अवस्था (है) जैसे केवलज्ञान विशेष (अवस्था) है, वैसे यह भी (विशेष अवस्था है)। (ऐसे) '**...श्रुतज्ञान के द्वारा, अनादिनिधन-निष्कारण-असाधारण-स्वसंवेद्यमान चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है...**' (यानी कि) आत्मा एकरूप रहनेवाला (है)। श्रुतज्ञान तो पर्याय है। केवलज्ञान भी विशेष अवस्था है। यह विशेष रहित '**...चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक स्वभाव के द्वारा एकत्व होने से केवल (अकेला) है ऐसे आत्मा को आत्मा से आत्मा में अनुभवकरने के कारण श्रुतकेवली हैं।**' आ..हा..हा... यह जगत को करुणा से दिखाते हैं, हाँ! आहा..हा...! हम भी श्रुतकेवली हैं ! भगवान ने भी केवल(ज्ञान) से आत्मा को जाना (वैसे) हमने भी श्रुतज्ञान से आत्मा को जाना। (इसलिये श्रुतकेवली हैं)। भगवान ने तीनकाल तीनलोक को जाना यह बात नहीं कही, आहा..हा...!

केवलज्ञानी ने विशेष के द्वारा सामान्य ऐसे आत्मा को आत्मा से आत्मा में जाना।

वैसे हमने भी भावश्रुतज्ञान के द्वारा वैसे ही अनादिनिधन आत्मा को आत्मा से (आत्मा में) जाना (है)। अर्थात् राग और विकल्प बीच में (आये) उससे जानने में आया, (वैसा) नहीं, आ..हा..हा...! ऐसा कहते (हैं), बीच में शुभराग तो आता है, पूर्ण न (हो तब तक), परंतु उस राग से आत्मा जानने में आता नहीं, आहा..हा...! व्रत और तप का विकल्प होता है किन्तु वह राग है, उनसे आत्मा जानने में नहीं आयेगा, आ..हा..हा...! समझ में आया ?

(ऐसे आत्मा को) `**...अनुभव करने के कारण श्रुतकेवली हैं। (इसलिये) विशेष आकांक्षा के क्षोभ से बस हो;...**' विशेष जानने की अपेक्षा से क्षोभ होता है उसे बस करो। `**अलं**' आहा..हा...! `**स्वरूपनिश्चलैरेवावस्थीयते**' आ..हा..हा...! `**अलं**' शब्द (संस्कृत में) है न अंदर ? भाई ! `**अलं**' - `**अलं**' अर्थात् बस हो...! संस्कृत में है न ? संस्कृत (टीका में) है। `**क्षोभ से बस हो**' यह `अलं' का अर्थ है, आ..हा..हा...! इसे पढ़े, इसे सुने, इसे करें और इसे लिखें - इन सभी आकांक्षा से बस हो ! (ऐसा) कहते हैं। हम भी जहाँ आत्मा को जानते हैं वहाँ स्थिर होते हैं। यह बात है। वैसे सब अब क्षयोपशमज्ञान कम-अधिक (हो) उसके साथ कोई (मतलब नहीं)। (उनसे) बस हो...! है (अंदर) ? `**...आकांक्षा के क्षोभ से बस हो; (हम तो) स्वरूपनिश्चल ही रहते हैं।**' स्वरूपनिश्चल जानकर हम वहाँ रहते हैं, आहा..हा...! हम अपने घर में रहते हैं। उन (विशेष आकांक्षा से) बस हो ! अन्य अब विशेष जानना हो या न जाने... उनका अर्थ कहेंगे...

(दिनांक ५-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-३०)

(प्रवचनसार) ३३वीं गाथा का भावार्थ। क्या कहते हैं ? कि, `**भगवान समस्त पदार्थों को जानते हैं, मात्र इसलिये ही वे `केवली' नहीं कहलाते,...**' आ..हा..हा...! केवली भगवान सर्व पदार्थों को जानते हैं इसलिये वे केवली कहलाते नहीं। `**...किन्तु केवल (-शुद्ध) आत्मा को जानने...**' भगवानआत्मा ! शुद्धचैतन्य वस्तु उसे `**...जानते-अनुभव करने से `केवली' कहलाते हैं।**' आहा..हा...! केवली सर्वज्ञ परमात्मा लोकालोक

को जानते हैं, इसलिये `केवली' कहलाते हैं, वैसा नहीं। आहा..हा...! क्योंकि लोकालोक को जानते हैं वैसा कहना यह तो व्यवहार है, आ..हा..हा...! परंतु अपना भगवानआत्मा! अनंत-अनंतगुणों का सागर-समंदर प्रभु ! उनको वे जानते हैं इसलिये `केवली' कहलाते हैं। केवल (अर्थात्) अकेला भगवानआत्मा ज्ञान में जानने में आता है इसलिये वे `केवली' कहलाते हैं, आ..हा..हा...!

`केवल (-शुद्ध) आत्मा को जाननेवाला...'** अब कहते हैं कि, भगवान सर्वज्ञ प्रभु अपना अकेला पूर्ण शुद्ध आत्मा उसे जानता (है) इसलिये केवली (कहलाते हैं)। केवल एक को जाने इसलिये केवली (है)। आ..हा..हा...! इसप्रकार **`...केवल (-शुद्ध) आत्मा को जाननेवाला...' (अर्थात्) शुद्ध स्वरूप जो आत्मा अकेला ध्रुव सामान्य त्रिकाल को जाननेवाला, **`...अनुभवकरनेवाला श्रुतज्ञानी भी `श्रुतकेवली' कहलाता है।'** आ..हा..हा...! सूक्ष्म बात है, आहा..हा...!

`केवली' ! केवल पूर्ण आत्मा जो अनंत शुद्ध गुण का पिंड (है) उसे जानते (हैं) इसलिये `केवली' कहलाते हैं, आ..हा..हा...! वैसे श्रुतकेवली (कि जो) नीचे दरजे के (-गुणस्थान में) छद्मस्थ (हैं) परंतु केवल शुद्ध भगवान पूर्णानंद को ज्ञेय बनाकर जानते हैं। आहा..हा...! (ऐसे शुद्ध आत्मा को जाननेवाला) केवली समान (हैं)। है (अंदर)? **`...श्रुतज्ञानी भी `श्रुतकेवली' कहलाता है।'** आ..हा..हा...! भावश्रुतज्ञान...हाँ ! शब्द-द्रव्य(श्रुतज्ञान) नहीं। भावश्रुतज्ञान है यह राग रहित (है)। त्रिकाली स्वभाव तरफ झुका हुआ भावश्रुतज्ञान उसमें श्रुतज्ञानी केवल पूर्ण (शुद्ध स्वभाव को) जानते हैं, इसलिये वे `श्रुतकेवली' कहलाते हैं, आ..हा...! ऐसा है।

(अब कहते हैं कि) **`केवली और श्रुतकेवली में इतना मात्र अंतर है...'** आ..हा..हा...! नीचे के (गुणस्थान में) श्रुतज्ञान-भावश्रुतज्ञान से आत्मा को जानते हैं इसलिये वे `श्रुतकेवली' कहलाते हैं। भावश्रुत (ज्ञान से) केवल - अकेला - पूर्ण आत्मा को जानते हैं इसलिये `श्रुतकेवली' कहलाते हैं। आहा..हा...! तब (कहते हैं कि) दोनों में फर्क कितना ? आ..हा..हा...! ऐसा विषय...! **`केवली और श्रुतकेवली में मात्र अंतर है कि - जिसमें चैतन्य के समस्त विशेष...'** चैतन्य के समस्त विशेष !! कि जो **`...एक ही साथ परिणमित होते हैं...'** आहा..हा...! भगवान परमेश्वर केवली को चैतन्य के विषय पूर्ण एक ही साथ परिणमित होते हैं, आ..हा..हा...! **`...ऐसे केवलज्ञान के द्वारा केवली केवल आत्मा**

का अनुभव करते हैं और जिसमें चैतन्य के कुछ विशेष क्रमशः परिणमित होते हैं...' आ..हा..हा...! केवलज्ञानी को पर्याय में (चैतन्य के) विशेष एक ही साथ परिणमित होते हैं। (यानी कि) पूरे आत्मा को जानता है, आहा..हा...! और श्रुतकेवली को कुछ विशेष क्रमशः परिणमित होते हैं। क्योंकि केवल प्रत्यक्ष पूरा ज्ञान नहीं है न ! आहा..हा...! (इसलिये क्रमशः परिणमित होते हैं)।

`**...कुछ विशेष...**' यानी ? ज्ञान की पर्याय के कुछ विशेष। `**...क्रमशः परिणमित होते हैं...**' आहा..हा...! ऐसा अधिकार आया ! धर्मी जीव को (यानी) नीचे दरजेवाले (गुणस्थानवाले) जीव को आत्मा के चैतन्य के विशेष-प्रकार-भेद-क्रमशः परिणमित होते हैं। है ? आ..हा..हा...! `**...ऐसे श्रुतज्ञान के द्वारा श्रुतकेवली केवल आत्मा का अनुभव करते हैं;...**' अकेला आत्मा का (अनुभव करते हैं)। केवलज्ञानी को केवलज्ञान के विशेष एक समय में पूर्ण परिणमित होते हैं। (यानी कि) जानते हैं। और श्रुतकेवली को चैतन्य के विशेष (क्रमशः परिणमित होते हैं)। सामान्य तो त्रिकाल है। (परंतु) उसके विशेष क्रमशः क्रमशः जानते होने से - क्रमशः क्रमशः परिणमित होने से, `**...ऐसे श्रुतज्ञान के द्वारा श्रुतकेवली केवल आत्मा का अनुभव करते हैं;...**' आ..हा..हा...!

केवलीप्रभु, चैतन्यसामान्य जो उसका स्वभाव (है) उसे पूर्ण विशेषों से जानते हैं। उनके विशेषों की परिपूर्णता से उसे (चैतन्यसामान्य को) जानते हैं।

श्रोता :- यह अविभाग प्रतिच्छेद की बात है ?

समाधान :- विशेष अवस्था की बात है। यह (अविभाग प्रतिच्छेद की) यहाँ बात नहीं। यहाँ कहा न ! भाषा तो सब प्रकार की होती है। केवली परमात्मा के ज्ञान के विशेष एक साथ परिपूर्णरूप परिणमित होते हैं। विशेष (परिणमित होते हैं) ! और श्रुतकेवली को ज्ञान के विशेष क्रमशः परिणमित होते हैं, आ..हा..हा...! अलौकिक विषय है, बापू ! आ..हा..हा...! है ? फिर से (लेते हैं)।

`**...केवली और श्रुतकेवली में इतना मात्र अंतर है कि - जिसमें चैतन्य के समस्त विशेष...**' (विशेष यानी) पर्याय, `**...एक ही साथ परिणमित होते हैं...**' (अर्थात्) पूर्ण (परिणमित होते हैं)। `**...ऐसे केवलज्ञान के द्वारा...**' यहाँपर केवलज्ञान के द्वारा (कहा अर्थात्) पूर्ण विशेषरूप परिणमित होता है ऐसे केवलज्ञान के द्वारा आत्मा को जानते हैं। अलौकिक बातें हैं, बापू ! आ..हा..हा...!

`...और श्रुतकेवली...'** नीचे के (गुणस्थानों में रहे) सम्यक्दृष्टि, सम्यक्ज्ञानी श्रुतज्ञान के द्वारा, **`...जिसमें चैतन्य के कुछ विशेष क्रमशः परिणमित होते हैं...' आ..हा..हा...! (अर्थात्) एक समय में चैतन्य के विशेष पूर्णरूप (परिणमित होते हैं) वैसा उन्हें नहीं। अतः चैतन्य के विशेष क्रमशः क्रमशः परिणमित होते हैं, आहा..हा...! **`...ऐसे श्रुतज्ञान के द्वारा श्रुतज्ञानी केवल आत्मा का अनुभव करते हैं;...'** चाहे केवली चैतन्य के समस्त विशेष के द्वारा (आत्मा को) जानते हैं और श्रुतज्ञानी ज्ञान के क्रमशः परिणमित विशेष के द्वारा आत्मा को जानते हैं, आ..हा..हा...! देखिये ! यह धर्म की दृष्टि ! आ..हा..हा...! गज़ब बात है !!

श्रोता :- `कुछ' और `क्रमशः' ऐसे दो शब्द हैं।

समाधान :- कुछ क्रमशः है न ! सभी कहाँ एकसाथ परिणमित होते हैं ? पूर्ण केवलज्ञान कहाँ है ? `कुछ' परिणमित होते हैं (वैसे पहले कहा) बाद में `क्रमशः' परिणमित होते हैं, वैसे कहते हैं, आहा..हा...! केवलज्ञानी को केवलज्ञान के विशेष एक साथ पूरा-पूर्ण परिणमित होते हैं। वे पूर्ण परिणमित होते हैं, उसके द्वारा आत्मा को जानते हैं और श्रुतज्ञानी को कुछ (विशेष) क्रमशः परिणमित होते (हैं)। सबका एकसाथ परिणमन उसे नहीं। इसलिये कुछ क्रमशः परिणमित होते हैं उनके द्वारा आत्मा को जानते हैं, आ..हा..हा...! विषय तो ऐसा आया है...! समझ में आया ? आ..हा..हा...!

(श्रुतज्ञानी को) **`...विशेष क्रमशः परिणमित होते हैं...'** एकसाथ परिणमित होते (नहीं)। केवल(ज्ञान का) जैसे पूर्ण परिणमन है वैसा यहाँपर परिणमन नहीं, वैसा (कहना है)। तथापि श्रुतज्ञानी परोक्षरूप से पूर्ण जानते (हैं), वैसा कहा जाता है। किन्तु यह क्रमशः परिणमित (विशेष के द्वारा) पूर्ण को जानते (हैं)। समझ में आया ? आ..हा..हा...!

श्रोता :- कुछ अर्थात् कुछ-थोड़े, ऐसा कहना है ?

समाधान :- कुछ माने केवलज्ञान को है ऐसे सब पूर्ण चैतन्य के विशेष हैं, वैसे पूर्ण विशेष (श्रुतज्ञानी को) कहां है ! केवलज्ञानी को एक समय में पूर्ण विशेष (परिणमित होते) हैं, उतने पूर्ण विशेष श्रुतज्ञान में कहाँ है ! छद्मस्थ है न ! आ..हा..हा...! अलौकिक बातें हैं, बापू ! आहा..हा...! परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म, भाई ! आ..हा..हा...!

केवलज्ञानी परमात्मा (को) है तो एक समय की पर्याय, परंतु पूर्ण विशेष है और श्रुतज्ञानी को केवलज्ञान का पूर्ण पर्याय नहीं, अत: कुछ (विशेष) क्रमश: परिणमित होते हैं। किन्तु कुछ क्रमश: परिणमित होते (हैं) उनके द्वारा आत्मा को जानते हैं। (केवलज्ञानी) पूर्ण समस्त एक साथ विशेष परिणमित होते हैं उनके द्वारा जानते हैं और यह (श्रुतज्ञानी) क्रमश: परिणमित कुछ ज्ञान (विशेष) के द्वारा आत्मा को जानते हैं। इसप्रकार तो दोनों आत्मा को जानते हैं, इस अपेक्षा से दोनों समान (हैं)। कभी भी सुना नहीं था कहीं भी ! ऐसी बातें बहुत कठिन (लगे) बापू ! (परंतु) है तो उसकी अपनी चीज़, बापू ! आ..हा..हा...!

(श्रुतज्ञानी को) ज्ञान में (जितने) विशेष हैं उन्हें कोई पर की सहाय नहीं। केवलज्ञानी को ज्ञान (के) पूर्ण विशेष हैं उन्हें भी किसी पर की सहाय नहीं। स्वतंत्ररूप से वह केवलज्ञान के पूर्ण विशेष पूर्ण को-पूर्ण केवल (ज्ञानस्वरूप को) जानते हैं। वैसे यह (श्रुतज्ञानी) कुछ विशेष के द्वारा पूर्ण प्रभु को जानते हैं। इतना अंतर है, आहा..हा...! मार्ग प्रभु कठिन, भाई ! आ..हा..हा...! है तो सत्स्वरूप, प्रभु ! चैतन्य सत्-सूर्य ! जगमग प्रकाशमान ज्योति (स्वरूप) है ! आ..हा..हा...! जगत के प्रकाश समक्ष यह प्रकाश कोई अलौकिक है !! पूर्ण (चैतन्य सूर्य) हाँ...! पूर्ण...! आहा...!

ऐसा चैतन्य प्रकाश का पुंज प्रभु...! (ऐसे) सामान्य (स्वरूप को) केवली पूर्ण समस्त विशेष के द्वारा जानते हैं। वैसा ही चैतन्य सूर्य...! पूर्ण प्रकाश का पुंज प्रभु...! (उसे) श्रुतज्ञानी कुछ क्रमश: परिणमित ज्ञान (विशेष) के द्वारा जानते हैं, आहा..हा...! भाषा तो सरल है, बापू ! परंतु भाव तो (सूक्ष्म है), भाई ! क्या करे ? भाई ! आ..हा..हा...!

(यहाँपर कहते हैं) '**...ऐसे श्रुतज्ञान के द्वारा...**' कैसे श्रुतज्ञान (के द्वारा) ? '**...चैतन्य के कुछ विशेष क्रमश: परिणमित होते हैं ऐसे श्रुतज्ञान के द्वारा...**' किन्तु जानते हैं (केवल आत्मा को)। '**...केवल आत्मा का अनुभव करते हैं;...**' यहाँपर यह सिद्ध करना है। केवलज्ञानी समस्त विशेष के द्वारा, एक ही साथ परिणमित होते हैं (ऐसे विशेषों के) द्वारा आत्मा को जानते हैं ! आ..हा..हा...! यहाँ तो पर ज्ञेय है और स्वयं ज्ञान है, वैसे भी नहीं। (अर्थात्) अपने केवलज्ञान के पूर्ण विशेष के द्वारा अपने को जानते हैं। आहा..! यह स्वज्ञेय है, देखिये ! आ..हा..हा...! और श्रुतज्ञानी भी (कि) जिसके अंत:करण में पूर्ण आनंदस्वरूप भगवान की दृष्टि और ज्ञान हुआ है, वैसा धर्मी जीव

भी, स्वयं चैतन्य के कुछ विशेष के द्वारा परिणमित, जानता है पूर्ण आत्मा को ! अंतर मात्र (इतना है कि) (यहाँपर) कुछ विशेष (हैं) और (केवलज्ञानी को) पूर्ण विशेष (हैं)। बाक़ी (दोनों) जानते हैं आत्मा को ! आ..हा..हा...! समझ में आया ? आहा..हा...!

श्रोता :- केवली और सर्वज्ञ के बीच वास्तव में कोई अंतर है ?

समाधान :- सर्वज्ञ कहो या केवली कहो (दोनों एकार्थ हैं) सर्वज्ञ माने आत्मज्ञ।

श्रोता :- सर्वज्ञ सबको जानते हैं।

समाधान :- नहीं, ऐसा नहीं.. नहीं... सर्वज्ञ का अर्थ ही `आत्मज्ञ' है। (४७) शक्ति में आया है। आहा..हा...! सर्वज्ञ अर्थात् ? सर्व अर्थात् पूरिपूर्ण भगवान (आत्मा का) आत्मज्ञान (है)। (अत: जो) आत्मज्ञ है। उसको जानना यह तो एक समय की पर्याय में अपनी सामर्थ्य से जानते हैं। ऐसे जो स्वयं के स्वयं से हुए विशेष के द्वारा आत्मा को जानते हैं, आ..हा..हा...! ऐसा मार्ग...!

`केवल आत्मा को' शब्द (है) - यहाँ वज़न है, हाँ...! `के..व..ल.. आत्मा को' यहाँ वज़न है। विशेष है न यह पर्याय (है)। केवली (भगवान ऐसी) एक समय की विशेष पर्याय के द्वारा, एक समय में विशेष(रूप) परिणमित (पर्याय के) द्वारा केवल-अकेला भगवानआत्मा को जानते हैं। वैसे श्रुतज्ञानी (कुछ विशेष के द्वारा आत्मा को जानते हैं)। आ..हा..हा...! राग का यहाँपर ज़रा भी काम नहीं। (ऐसा) कहते हैं। दया, दान, व्रत और भक्ति तो राग है। उनसे आत्मा जानने में आये वैसा है नहीं। ऐसा सिद्ध करते हैं, आ..हा..हा...!

धर्मी जीव चाहे गृहस्थाश्रम में हो, राज-कुटुंब में हो ! किन्तु जिसको अंदर भावश्रुतज्ञान प्रगट हुआ है, वे श्रुतज्ञान के प्रकार उसे एक साथ पूर्ण नहीं (प्रगट हुए) अर्थात् क्रमश: परिणमित कुछ परिणमन के द्वारा भी जानते हैं केवल भगवानआत्मा को ! जानने के (विषय में) अंतर नहीं परंतु जानने की अवस्था में अंतर है। इतना अंतर है, भाई ! आ..हा..हा...!

(अब) दृष्टांत (कहते हैं)। **`...केवली सूर्य के समान केवलज्ञान के द्वारा...'** आ..हा..हा...! यह अधिकार ऐसा आया...! (शरीर में व्याधि आ जाय) किन्तु क्या हो? आहा..हा...! ऐसी अवस्था है, बापू ! जिस समय जड़ की जो अवस्था होनेवाली (हो) वह होती है, आहा..हा...! उसे जाननेवाला जाननहार जाननेवाले में (रहकर) जाने,

आ..हा..हा...! (यह तो) मक्खन है), प्रभु ! आ..हा..हा...! केवलज्ञान अर्थात् पर्याय। पर्याय अर्थात् विशेष। और यह विशेष-एक साथ पूर्ण विशेष है। और उसे एक साथ पूर्ण परिणमित विशेष के द्वारा भगवानआत्मा-पूर्ण स्वरूप को जानते हैं। केवल-अकेले आत्मा को जानता है। आहा..हा...!

अरे... भाई ! यह निश्चित करना होगा, भाई ! (अनादि से) चौरासी में भटकता है, बापू ! आहा...! दुःखी है... आहा...! (परंतु) दुःख उसका स्वरूप नहीं, आहा..हा...! भगवान(आत्मा) तो आनंदस्वरूप है।

वैसे पूर्ण आनंदस्वरूप को केवलज्ञानी की पर्याय (जानती है)। पर्याय तो विशेष है किन्तु यह विशेष में एक साथ पूरा परिणमन है। पूर्ण विशेष के द्वारा सामान्य को जानते हैं, आहा..हा...! और श्रुतज्ञानी क्रमशः परिणमित विशेष (के द्वारा) - वैसे परिणमन के द्वारा आत्मा को जानते हैं। आहा..हा...! (दोनों के बीच) फर्क मात्र (इतना है कि) (केवलज्ञानी) पूर्ण-समस्त विशेष के द्वारा (आत्मा को जानते हैं) और यहाँ (श्रुतज्ञानी) क्रमशः परिणमित (कुछ) विशेष के द्वारा (आत्मा को जानते हैं)। इतना फर्क (है)। आहा...! किन्तु जानते हैं, तीनलोक का नाथ परमात्मा स्वयं (को) ! आहा..हा...!

जिसमें एक समय की पूर्ण विशेष अवस्था (प्रगट है), ऐसी-ऐसी तो अनंत पूर्ण अवस्था का पिंड तो प्रभु ज्ञान(गुण) है। और भगवान को वैसी-वैसी श्रद्धा की - समकित की अनंत पर्याय है। पूर्ण पर्याय है। ऐसी-ऐसी पर्याय का पिंड तो यहाँ श्रद्धागुण है। भगवान के स्वरूप में स्थिरता के जो यथाख्यात (चारित्र के) परिणाम हैं... आ..हा..हा...! वैसी-वैसी अनंत पर्याय का पिंड तो भीतर यह चारित्रगुण है। भगवान को पर्याय में जो विशेषरूप आनंद प्रगट हुआ है, ऐसे आनंद की परिपूर्णता भी विशेष अवस्था है। वैसी अनंत अनंत आनंद की अवस्था-शक्ति का पिंड प्रभु आनंदगुण है। केवली (भगवान को) ऐसी-ऐसी अनंत पर्याय एक समय में (प्रगट है)। आ..हा..हा...! वैसे केवलज्ञान की पर्याय के द्वारा क्रमशः परिणमन रहित संपूर्ण विशेष (अर्थात्) अक्रम(रूप) परिणमन के द्वारा सामान्य (स्वरूप) भगवान को जानते हैं, आ..हा..हा...!

तब श्रुतज्ञानी (यानी कि) भावश्रुतज्ञानी, कुछ क्रमशः परिणमित (विशेष के द्वारा आत्मा को जानते हैं)। पूर्ण हो तो एक समय में (जानने में) आ जाय। आहा..हा...! ज्ञानादि गुण की क्रमशः परिणमित कुछ पर्याय-विशेष के द्वारा भगवानआत्मा को जानते

हैं। आत्मा को जानने में तो दोनों समान हैं। परंतु (दोनों की) पर्याय में (फर्क है)। (श्रुतज्ञानी) क्रमशः परिणमित होते हैं (और केवलज्ञानी) एक साथ पूर्ण (परिणमते हैं)। इतना फर्क है, आ..हा..हा...! धन्य दिन... धन्य काल...!

अब (दोनों के बीच) तफावत-फर्क का दृष्टांत देते हैं। **`अर्थात् केवली सूर्य के समान केवलज्ञान के द्वारा आत्मा को देखते और अनुभव करते हैं...**' आ..हा..हा...! सर्वज्ञ परमात्मा अरिहंतदेव सूर्यसमान केवलज्ञान के द्वारा आत्मा को देखते (हैं) और अनुभव करते हैं। **`...और श्रुतकेवली दीपक के समान श्रुतज्ञान के द्वारा...**' (आत्मा का अनुभव करते हैं)। इतना फर्क है। आ..हा..हा...! (केवली भगवान) केवलज्ञान(रूप) सूर्य के द्वारा जानते हैं। जानते तो हैं भगवान पूर्णानंद प्रभु द्रव्यस्वभाव जो है (उसे जानते हैं)। आहा..हा...! आ..हा..हा...! वीतराग... वीतराग... वीतराग... !! जैसे सूर्य के द्वारा (सब) जानने में आता है वैसे वीतराग केवलज्ञान की पूर्ण पर्याय-विशेष के द्वारा (भगवानआत्मा को) जानते हैं। और नीचे के (गुणस्थान में वर्तते) श्रुतकेवली - धर्मीजीव... आ..हा..हा...! **`...दीपक के समान श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को देखते और अनुभव करते हैं।**' आ..हा..हा...! ऐसा है, प्रभु !

(एक) सूर्य के द्वारा देखे और एक दीपक के द्वारा देखे। देखने में कोई फर्क है ? आहा..हा...! एक अमृत का कुंड हो उसे सूर्य के प्रकाश के द्वारा देखें और उसी अमृतकुंड को दीपक के द्वारा देखें (दोनों में) देखने में कोई फर्क है ? आहा..हा...!

श्रोता :- बहुत बड़ा फर्क कहलायेगा !

समाधान :- यहाँ तो प्रकाश (के द्वारा) देखते हैं, उसमें फर्क नहीं वैसा (कहना है)। दीपक है वह कम पर्याय है और (सूर्य) है वह अधिक (पर्याय) है। परंतु देखते हैं पूर्ण (वस्तु को)। दीपक के द्वारा भी दिखता है अमृत का कुंड ! और सूर्य के द्वारा (भी) दिखता है अमृत का कुंड ! आ..हा..हा...! मात्र देखने की पर्याय में फर्क है। परंतु (जिस चीज को) देखते हैं उसमें कोई फर्क नहीं, आ..हा..हा...! ऐसी बातें (हैं), भाई !

अरे...! संतगण जगत के समक्ष जाहिर करते हैं, प्रभु ! तू यदि समकिती हो... आ..हा..हा...! यदि तुझमें धर्म परिणमित हुआ हो, तुझे यदि सम्यग्दर्शन, ज्ञान हुआ हो... आ..हा..हा...! तो तू, केवलज्ञानी परमात्मा जैसे सूर्य की भाँति सूर्यरूप देखें, वैसे

भले ही तुझे श्रुतज्ञान की पर्याय है,... आ..हा..हा...! (उसके द्वारा आत्मा को जान)। (वह श्रुतज्ञान की पर्याय) दीपक समान है। प्रकाश में फर्क है, परंतु दिखाई देनेवाली वस्तु में फर्क नहीं। ऐसी बातें हैं, प्रभु ! आ..हा..हा...!

श्रोता :- (एक को) देखने में असंख्य समय का उपयोग है और (एक को) एक समय का उपयोग है।

समाधान :- (श्रुतज्ञानी को) असंख्य समय का (उपयोग है) इसलिये क्रमशः कार्य होता है और (केवलज्ञानी को) एक साथ (कार्य होता है)।

यहाँपर तो यह सिद्ध करना है कि, केवल भगवान पूर्णस्वरूप महा परमात्मस्वरूप प्रभु ! आत्मा परमात्मस्वरूप ही है !! जिन स्वरूप ही है ! वीतराग स्वरूप ही है! अकषायस्वरूप है ! आ..हा..हा...! उसे जाननेवाले के दो प्रकार (हैं)। एक केवली जाने और श्रुतज्ञानी जाने। जानने का तो एक ही तत्त्व (है कि) जो पूर्ण है, आहा..हा...! केवलज्ञानी सूर्यसमान (केवलज्ञान के द्वारा) आत्मा को जाने। श्रुतज्ञानी दीपकसमान (श्रुतज्ञान के द्वारा) जाने) - परंतु जाने आत्मा को ! आ..हा..हा...! दीपक के द्वारा एक अमृतकुंड देखा और एक सूर्य से देखा (तो) कुछ अमृतकुड में फर्क है? आ..हा..हा...!

श्रोता :- एक एरोप्लेन में जाता है और दूसरा बैलगाड़ी में जाता है !

समाधान :- यहाँपर अभी यह (बात) नहीं। यहाँ तो अंतरदशा में भले ही ज्ञान की क्रमशः (परिणमित) विशेष अवस्थाएँ हो, तथापि जाननेवाला पूर्ण उसमें जानने में आता है, आ..हा..हा...! कठिन बातें हैं, बापू ! अरे..! ये तो परमात्मा के घर की बाते हैं, भाई !

जिनेश्वरदेव, सर्वज्ञ ऐसा फरमाते हैं कि, हम केवलज्ञानी हैं, इसलिये हम आत्मा को पूर्ण जानते हैं। और छद्मस्थ श्रुतज्ञानी धर्मी हो, (वे क्रमशः परिणमित कुछ विशेष के द्वारा आत्मा को जानते हैं)। भले ही उसे (केवलज्ञानी को) पूर्ण अवस्था-विशेष पूर्ण अवस्था अक्रम से होती है, तथापि जाननेवाला भगवान (है) उसे वे अक्रमिक विशेष अवस्था के द्वारा जानते हैं। आ..हा..हा...! भाई ! यह बात सुनने मिलना, प्रभु ! भाग्य हो तब मिले !! आ..हा..हा...!

प्रभु का वियोग हुआ परंतु प्रभु तो यहाँ कहते हैं, भले ही मैं वहाँ नहीं हूँ और तुझे केवलज्ञान नहीं, किन्तु यदि तुझे अंदर आत्मा का ज्ञान-ध्यान हुआ हो तो उस

श्रुतज्ञान के क्रमशः परिणमित विशेष के द्वारा भी तू स्वयं को जानता है, आ..हा..हा...! आ..हा..हा...! ऐसा व्यवहार के रसिकों को कठिन लगे ! आहा...!

एक लेख आया है (उसमें लिखा है कि), (सर्व पर्याय) क्रमसर है। नग्न साधु ने लिखा है। `जिस समय, जिस समय की जिस द्रव्य की पर्याय होनेवाली है वह होगी। नियत है !' वैसा लिखा है। `और उसमें (वैसा मानने में) आकुलता टलती है।' वैसा लिखा है। जिस समयपर (पर्याय) होती है, उसे जानते हैं, फिर आकुलता कैसी ? आ..हा..हा...!

श्रोता :- मोक्ष की भी इच्छा नहीं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- इच्छा हुई तब आकुलता हुई न ! यदि नियत है वहाँ उसकी इच्छा वर्तमान में करे तो (आकुलता) करनी पड़े। मात्र उसे इतना अधिक लिखना चाहिये कि, जिस समयपर जो होनेवाली है वह होगी परंतु उसका लक्ष द्रव्य के ऊपर है। और अतः उसे स्वभाव का ज्ञान है, स्वभाव का पुरुषार्थ है, काललब्धि उस समय होनेवाली है इसलिये हुई, उस समय उस प्रकार का भाव होनेवाला था (इसलिये) भवितव्यता हुई, और उस समय उतने कर्म के निमित्त का अभाव ही होता है, आहा..हा...! भाई !

पहले सब विरोध करते (थे)। दिगंबर के (बड़े) विद्वान ने विरोध किया था (कि) क्रमसर एक के बाद एक (पर्याय) होती है (यह बराबर है)। (परंतु) इसके बाद यह ही हो वैसा नहीं। एक के बाद एक हो परंतु यह (हो) बाद में वह ही होती है,... इसके बाद यह ही हो, वैसा नहीं। (यहाँपर) इसके बाद यही होती है (ऐसा कहना है) ! आ..हा..हा...!

(यहाँपर कहते हैं) भगवान ! ऐसा जो श्रुतज्ञान (अर्थात्) शास्त्र नहीं। आगे बाद में कहेंगे कि श्रुत-भगवान की वाणी है यह तो पुद्गल है। वह कोई ज्ञान नहीं। परंतु यह पुद्गल-श्रुतवाणी-भगवान की वाणी है उसका जो यहाँ ज्ञान हो-ज्ञप्ति (अर्थात्) ज्ञान हो, वह ज्ञान है। उस ज्ञान को श्रुत उपाधि का लगाना छोड देना। श्रुतज्ञान अर्थात् सुना हुआ ज्ञान, ऐसी जो उपाधि है उस उपाधि को छोड़ दो ! आ..हा..हा...! समझ में आया ? यह आगे की गाथा में कहेंगे। इतना यहाँ कहकर आगे कहेंगे, आ..हा..हा...!

(अब कहते हैं) `**...श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को देखते और अनुभव करते हैं, इसप्रकार केवली और श्रुतकेवली में स्वरूपस्थिरता की तरतमतारूप...**' क्या कहते हैं? केवली परमात्मा को स्वरूप की पूर्ण स्थिरता है। ज्ञान के द्वारा जानने में दोनों में फर्क नहीं। श्रुतज्ञानी को स्वरूप की स्थिरता थोड़ी कम है। अस्थिरता थोड़ी है, आहा..हा...! भगवान को पूर्ण स्थिरता है। परमात्मा आनंद में - पूर्ण आनंद में लीन है। नीचे (अर्थात्) श्रुतज्ञानी को इतनी स्थिरता नहीं। परंतु ज्ञान का जो स्वभाव है, उससे जाननेवाला जो है उसे तो वह पूर्ण जानता है, आहा...! ऐसी बात रह गई! आ..हा..हा..हा...!

`मोक्षमार्ग प्रकाशक' में आया था न ? तिर्यंच का समकित और सिद्ध का समकित- उनमें कोई फर्क नहीं। अरे...! यह कैसे (संमत हो) ? बापू ! क्या कहते हैं ? तिर्यंच है-पशु (है)... अढ़ाई दीप के बाहर असंख्य पशु हैं। (उसमें) समकिती असंख्य हैं !! भले ही एक समकिती (हो) और असंख्य मिथ्यादृष्टि (हो)। (फिर) भी असंख्य आत्मज्ञान (सहित) समकिती जीव हैं। उनके समकित में और केवली के समकित में कोई फर्क नहीं, आ..हा..हा...!

वैसे यहाँपर कहते हैं कि, केवली आत्मा को जाने और श्रुतज्ञानी आत्मा को जाने - उसमें जानने में फर्क नहीं। पर्याय में फर्क है। आ..हा..हा...! है ? `**...केवली और श्रुतकेवली में स्वरूपस्थिरता की तरतमतारूप भेद ही मुख्य है,...**' उसे यहाँपर लेना नहीं। और जाननेरूप भेद अत्यंत गौण है। (श्रुतज्ञानी को) थोड़े विशेष हैं न? (इसलिये वैसा कहा)।

`**इसलिये अधिक जानने की इच्छा का क्षोभ छोड़कर...**' आ..हा..हा...! `**...स्वरूप में ही निश्चल रहना योग्य है।**' आ..हा..हा...! `**यही केवलज्ञान-प्राप्ति का उपाय है**' आ..हा..हा...!

श्रुतज्ञान के द्वारा जिस आत्मा को जाना, यह जानने में तो केवली ने जाना और (श्रुतज्ञानी ने) जाना, सब समान (हैं)। (दोनों की) स्थिरता में फर्क है। तेरी स्थिरता कम है और भगवान की स्थिरता पूर्ण है, तो कहते हैं कि, अब अधिक जानने का क्षोभ मिटाकर स्वरूप में स्थिरता कर ! तुझे केवलज्ञान हो जायेगा !! विशेष कहेंगे...

❋ ❋ ❋

अथ ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदमुदस्यति –

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया।।३४।।

सूत्रं जिनोपदिष्टं पुद्गलद्रव्यात्मकैर्वचनैः
तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानं सूत्रस्य च ज्ञप्तिर्भणिता।।३४।।

श्रुतं हि तावत्सूत्रम्। तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञं स्यात्कारकेतनं पौद्गलिकं शब्दब्रह्म। तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानम्। श्रुतं तु तत्कारणत्वात् ज्ञानत्वेनोपचर्यत एव। एवं सति सूत्रस्य ज्ञप्तिः श्रुतज्ञानमित्यायाति। अथ सूत्रमुपाधित्वान्नाद्रियते ज्ञप्तिरेवावशिष्यते। सा च केवलिनः श्रुतकेवलिनश्चात्मसंचेतने तुल्यैव इति नास्ति ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदः।।३४।।

अथ शब्दरूपं द्रव्यश्रुतं व्यवहारेण ज्ञानं निश्चयेनार्थपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतमेव ज्ञानमिति कथयति। अथवात्मभावनारतो निश्चयश्रुतकेवली भवतीति पूर्वसूत्रे भणितम्। अयं तु व्यवहारश्रुतकेवलीति कथ्यते—**सुत्तं** द्रव्यश्रुतम्। कथम्भूतम्। **जिणोवदिट्ठं** जिनोपदिष्टम्। कैः कृत्वा। **पोग्गलदव्वप्पगेहिं** वयणेहिं पुद्गलद्रव्यात्मकैर्दिव्यध्वनिवचनैः। **तं जाणणा हि णाणं** तेन पूर्वोक्तशब्दश्रुताधारेण ज्ञप्तिरर्थपरिच्छित्तिर्ज्ञानं भण्यते **हि** स्फुटम्। **सुत्तस्स य जाणणा भणिया** पूर्वोक्तद्रव्यश्रुतस्यापि व्यवहारेण ज्ञानव्यपदेशो भवति न तु निश्चयेनेति। तथा हि-यथा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवः पश्चाद्व्यवहारेण नरनारकादिरूपोऽपि जीवो भण्यते; तथा निश्चयेनाखण्डैकप्रतिभासरूपं समस्तवस्तुप्रकाशकं ज्ञानं भण्यते, पश्चाद्व्यवहारेण मेघपटलावृतादित्यस्यावस्थाविशेषवत्कर्मपटलावृताखण्डैकज्ञानरूपजीवस्य मतिज्ञानश्रुतज्ञानादिव्यपदेशो भवतीति भावार्थः।।३४।।

अब, ज्ञानके श्रुत-उपाधिकृत भेदको दूर करते हैं (अर्थात् ऐसा बतलाते हैं कि श्रुतज्ञान भी ज्ञान ही है, श्रुतरूप उपाधिके कारण ज्ञानमें कोई भेद नहीं होता) :-

गाथा ३४

पुद्गलस्वरूप वचनोथी जिन-उपदिष्ट जे ते सूत्र छे।
छे ज्ञप्ति तेनी ज्ञान, तेने सूत्रनी ज्ञप्ति कहे।।३४।।

अन्वयार्थ :- **[सूत्रं]** सूत्र अर्थात् **[पुद्गलद्रव्यात्मकैः वचनैः]** पुद्गलद्रव्यात्मक वचनोंके द्वारा **[जिनोपदिष्टं]** जिनेन्द्र भगवानके द्वारा उपदिष्ट वह **[तज्ज्ञप्तिः हि]**

उसकी ज्ञप्ति **[ज्ञानं]** ज्ञान है **[च]** और उसे **[सूत्रस्य ज्ञप्तिः]** सूत्रकी ज्ञप्ति (श्रुतज्ञान) **[भणिता]** कहा गया है।

टीका :- प्रथम तो श्रुत हो सूत्र है; और वह सूत्र भगवान अर्हंत-सर्वज्ञके द्वारा स्वयं जानकर उपदिष्ट स्यात्कार चिह्नयुक्त, पौद्गलिक शब्दब्रह्म है। उसकी ज्ञप्ति (-शब्दब्रह्मको जाननेवाली ज्ञातृक्रिया) सो ज्ञान है; श्रुत (-सूत्र) तो उसका (-ज्ञानका) कारण होनेसे ज्ञानके रूपमें उपचारसे ही कहा जाता है (जैसे कि अन्नको प्राण कहा जाता है)। ऐसा होनेसे यह फलित हुआ कि `सूत्रकी ज्ञप्ति' सो श्रुतज्ञान है। अब यदि सूत्र तो उपाधि होनेसे उसका आदर न किया जाये तो `ज्ञप्ति' ही शेष रह जाती है; (`सूत्रकी ज्ञप्ति' कहने पर निश्चयसे ज्ञप्ति कहीं पौद्गलिक सूत्रकी नहीं, किन्तु आत्माकी है; सूत्र ज्ञप्तिका स्वरूपभूत नहीं, किन्तु विशेष वस्तु अर्थात् उपाधि है; क्योंकि सूत्र न हो तो वहाँ भी ज्ञप्ति तो होती ही है। इसलिये यदि सूत्रको न गिना जाय तो `ज्ञप्ति' ही शेष रहती है।) और वह (-ज्ञप्ति) केवली और श्रुतकेवलीके आत्मानुभवनमें समान ही है। इसलिये ज्ञानमें श्रुत-उपाधिकृत भेद नहीं है।।३४।।

(**दिनांक ६-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-३१**)

`प्रवचनसार', गाथा-३४। ऊपर दो पंक्तियाँ हैं न ? यहाँ क्या कहते हैं ? ज़रा सूक्ष्म बात है। यह आत्मा जो है आत्मा ! सो त्रिकाली शुद्ध चैतन्यघन (है)। अनंत अनंत गुणों का पिंड आत्मा है। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वरदेव केवलज्ञान के द्वारा सारे पूर्ण आत्मा को एक समय में जानते हैं। इससे वे `केवली' कहलाते हैं। लोकालोक पर को जानते हैं सो तो (व्यवहार से कहलाता है)। (एक) सेकंड का असंख्यवाँ भाग (सो) एक समय (है)। (ऐसा) आत्मा स्वयं एक समय में अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... पवित्र गुण का पिंड आत्मा वस्तु (है)। जिनस्वरूप, वीतरागस्वरूप, परमात्मस्वरूप आत्मा है, आहा..हा...! उसे जो केवलज्ञानी केवलज्ञान के द्वारा जानते हैं, यह पूर्ण पर्याय से एक समय में पूर्ण परिणमन से जानते हैं। वैसे नीचे (के गुणस्थान वर्तित) धर्मीजीव... आहा..हा...! धर्मी उसे कहे कि नीचे-निम्न अवस्था में भले ही उन्हें केवलज्ञान

नहीं परंतु भावश्रुतज्ञान है, भावश्रुतज्ञान (के द्वारा आत्मा को जानते हैं)। सूक्ष्म बात बहुत, बापू ! भावश्रुतज्ञान है सो सम्यक्ज्ञान की निर्मल पर्याय है, उसे `भावश्रुतज्ञान' कहेंगे। उसमें वह पूर्णस्वरूप को जानते हैं। आहा...! अतः उन्हें `श्रुतकेवली' कहते हैं। केवलज्ञानी परमात्मा केवलज्ञान के द्वारा (आत्मा को) जाने अतः (उन्हें) `केवली' कहते हैं। शरीर, वाणी, मन तो जड़-मिट्टी है। वैसे पर के प्रति जो राग और द्वेष के विकल्प उठते हैं वे भी कोई आत्मा नहीं। उनसे आत्मा जानने में आये वैसा नहीं, आहा..हा...! आत्मा आनंदस्वरूप और अनंत शांति का सागर प्रभु! (है)। नीचे दरजे के छद्मस्थ को श्रुतज्ञान-भावश्रुतज्ञान (कि) जो ज्ञान निर्मल है, राग के संबंध रहित है, (सो) है भले ही अल्प, परंतु यह श्रुतज्ञान त्रिकाली आत्मा को जानता है। इससे वे श्रुतकेवली-धर्मी कहलाते हैं, आहा..हा...! ऐसी कठिन बातें हैं।

जिनेश्वरदेव परमात्मा ऐसा कहते हैं कि, देखिये ! **`अब ज्ञान के श्रुत-उपाधिकृत भेद को दूर करते हैं...'** है पंक्ति ? `श्रुतशब्द' आया न ? भगवान को केवलज्ञान है वे तो एक समय में तीनकाल, तीनलोक सहित सारे आत्मा को (अर्थात्) पूर्ण त्रिकाली (स्वरूप को) जानते हैं। अब, श्रुतज्ञानी भी आत्मा को जानते हैं। तो `श्रुत' शब्द है वह (श्रुत शब्द के) उपाधिकृत भेद को दूर करता है। (अर्थात्) श्रुत माने सुनना। और सुनने से ज्ञान होना, यह दूर करते हैं। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !

सम्यक्दृष्टि जीव को-धर्म की पहली सीढ़ी, चौथे गुणस्थान में (भावश्रुतज्ञान होता है)। श्रावक तो पंचम (गुणस्थान में होते हैं)। यह संप्रदाय के श्रावक कोई श्रावक है नहीं। श्रावक होने के पूर्व भी सम्यग्दर्शन के साथ भावश्रुतज्ञान होता है। यहाँ ज्ञान की प्रधानता से कथन है न ? यह श्रुतज्ञान से आत्मा को जाने। यह `श्रुत' (शब्द) है अर्थात् सुना हुआ - वैसी उपाधि उसे नहीं। है (अंदर) ? **`...ज्ञान के श्रुत-उपाधि...'** श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को जाने (यानी कि) अंतर में राग रहित और भावश्रुतज्ञान की शुद्ध परिणति के द्वारा आत्मा को जाने वह धर्मी। आहा...! ऐसी बात है। उसे धर्म हुआ वैसा कहेंगे। आहा...! बाक़ी क्रियाकांड-दया, दान और व्रत, भक्ति, पूजा आदि करें, यह राग है, यह कोई धर्म नहीं, आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, केवली भगवान जैसे पूर्ण आत्मा को जानते (हैं) वैसे यहाँ नीचे श्रुतज्ञानी आत्मा को जाने, परंतु वह श्रुत की उपाधि उन्हें नहीं। `श्रुत' शब्द

भले ही हो ! परंतु यह श्रुत-उपाधिकृत भेद (उन्हें नहीं)। वीतरागी वाणी है सो जड़ है, ये अभी कहेंगे। भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव की वाणी है सो जड़ है। यह वाणी श्रुत-ज्ञान में निमित्त है, परंतु यह श्रुत की उपाधि उन्हें नहीं। श्रुत के शब्दों से ज्ञान हुआ और श्रुत के शब्दों से ज्ञान हो, यह ज्ञान चाहे हो अपनी पर्याय में, परंतु यह ज्ञान परलक्षी है। ऐसा सूक्ष्म है, बापू ! वीतराग मार्ग और कहीं है नहीं। आहा...!

जैनशासन का जो आत्मा (अर्थात्) भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने जिस आत्मा को देखा उस आत्मा को नीचे श्रुतज्ञानी भी श्रुतज्ञान से जानते हैं। परंतु उसमें `श्रुत' शब्द पड़ा है। इसके माने सुना हुआ ज्ञान (है) और वीतराग की वाणी है सो ज्ञान (है) वैसा नहीं। वीतराग की वाणी है सो तो जड़ है।

भगवान परमात्मा `सीमंधरप्रभु' महाविदेह में बिराजित हैं। ॐ ध्वनि का उपदेश बहता है। वर्तमान (में) परमात्मा महाविदेह में बिराजमान हैं। बीस तीर्थंकर हैं, लाखों केवली हैं। तीर्थंकर की ध्वनि उठती है। ॐ...ऐसी ध्वनि उठे। ऐसी (अक्षररूप) वाणी उनको होती नहीं। तथापि कहते है कि, ॐ ध्वनि है वह पुद्गल की अवस्था है। यह श्रुत में पुद्गल को सुना इसलिये उसे ज्ञान हुआ, वैसा नहीं। अथवा श्रुत को (यानी कि) भगवान की वाणी सुनी और ज्ञान हुआ अपने को अपनी पर्याय में, परंतु यह श्रुत से हुआ ज्ञान परलक्षी है। आहा...! यह ज्ञान स्व को न जान सके। आहा..हा..हा...!

जो ज्ञान परलक्षित मिटकर अंतःकरण लक्षित हो, यह भावश्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा जानने में आता है। ऐसी बातें...! अब इसमें कहीं (सुनने नहीं मिले ऐसा है)। `मुंबई' में तो उपाधि की सीमा नहीं, पूरी उपाधि...सारा दिन होली जले ! यह करूं और यह करूं और यह करूं...! उसमें यह आत्मा क्या चीज है ? (यह सुनने को भी नहीं मिले)। आ..हा...!

आत्मा अंदर सत् चिदानंद-सत् नाम शाश्वत ज्ञान और आनंद के शाश्वत स्वभाव से भरा प्रभु है। अरे.. आहा...! ऐसे आत्मा को जाननेवाला जो ज्ञान उसे भले ही नीचे (के गुणस्थान में) `श्रुतज्ञान' कहें। परंतु यह श्रुत है यह सुना हुआ (है) और उसके द्वारा ज्ञान हुआ, वैसी उपाधि उन्हें नहीं। आहा..हा...! वीतराग मार्ग सूक्ष्म बहुत, बापू...! भव का अंत करे ऐसा श्रुतज्ञान कोई अलौकिक है !!

श्रोता :- केवलज्ञान का अंश है ?

समाधान :- केवलज्ञान का अंश है। परंतु पहले `श्रुत' कहा न ? यानी जैसे कि भगवान की वाणी की उन्हें उपाधि है ? सुना है इसलिये वैसा है ? तो कहते हैं, `नहीं !' यह कहते हैं। देखिये ! **`...ज्ञान के श्रुत-उपाधिकृत भेद को दूर करते हैं (अर्थात् ऐसा बतलाते हैं कि श्रुतज्ञान भी ज्ञान ही है,...)'** (अर्थात्) अंतःकरण का ज्ञान जो राग के विकल्प की वृत्ति रहित है और स्व त्रिकाली भगवान को जाननेवाला जो ज्ञान ये श्रुतज्ञान (है)। यह **`(...श्रुतरूप उपाधि के कारण ज्ञान में कोई भेद नहीं होता)।'** उपाधि के कारण ज्ञान में कोई भेद पड़ते नहीं यानी वाणी है और इसके द्वारा यहाँ ज्ञान हुआ, वैसा नहीं। आहा..हा...!

यहाँपर तो भगवानआत्मा अपने वर्तमान भावश्रुतज्ञान के द्वारा अंतःकरण में झुकता है तब उसे आत्मा का ज्ञान यानी आत्मज्ञान (होता है)। तब उसे सम्यग्दर्शन (यानी) धर्म होता है। आहा..! समझ में आया ? यह कहते हैं, देखिये! मूलगाथा-३४। गाथाः-

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया।।३४।।

नीचे हरिगीत :-

पुद्‌गलस्वरूप वचनोथी जिन-उपदिष्ट जे ते सूत्र छे।
छे प्राप्ति तेनी ज्ञान, तेने सूत्रनी ज्ञप्ति कहे।।३४।।

उसकी टीका। पीछे की ओर टीका (है)। **`प्रथम तो सूत्र ही सूत्र है...'** `सूत्र' (कहा)। यहाँ `श्रुत' है न उसका अर्थ किया - सूत्र। **`...और वह सूत्र भगवान अर्हंत-सर्वज्ञ के द्वारा स्वयं जानकर उपदिष्ट...'** त्रिलोकनाथ अरिहंत परमात्मा सर्वज्ञदेव ! भगवान अर्हंतदेव ने अर्थात् परमात्मा ने। आहा...! **`...स्वयं जानकर...'** (यानी) स्वयं त्रिकाली आत्मा को जानकर। **`...उपदिष्ट...'** वाणी निकली।

`ॐ कार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे' भगवान के मुख में ऐसी (अक्षररूप) वाणी होती नहीं। होंठ बंद हो, कंठ हिले नहीं (और) सारे शरीर में से (ॐ ध्वनि निकलती है)। वे तो सर्वज्ञ हैं, वीतराग हैं। उनको वाणी बोलना - ऐसा कुछ भी नहीं। परमात्मा-पूर्ण परमात्मा वीतराग हैं, किन्तु इच्छा रहित भीतर वाणी का-ॐ का प्रपात उठता है ! `ॐ कार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे' संतों-गौतम आदि गणधर

यहाँपर थे (वैसे) वहाँ महाविदेह में भगवान समीप गणधर हैं। वे भगवान की वाणी `ॐ कार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे, रची आगम उपदेशे भविक जीव संशय निवारे' (अर्थात्) भगवान की वाणी सुनते ही ज्ञान की पर्याय हुई, उसे भी छोड़कर अंतःकरण की ज्ञान पर्याय के द्वारा आत्मा को जाने। आहा..हा...! कठिन काम है, भाई...!

वीतरागमार्ग अनंतकाल में एक सेकंड भी कभी जाना नहीं। साधु हुआ, पंचमहाव्रत पालें... `मुनिव्रत धार अनंत बैर ग्रैविक उपजायो, पर आतमज्ञान बिन सुख लेश न पायो' - आत्मज्ञान किया नहीं। वह नग्न दिगंबर हुआ, पंचमहाव्रत पालें, २८ मूलगुण पालें परंतु वे पंचमहाव्रत के परिणाम तो राग और दुःख हैं, आहा..हा...! वे तो आस्रव हैं। उनसे भिन्न भगवान(आत्मा) है उसका उसने ज्ञान किया नहीं। इसलिये अनंतबार पंचमहाव्रती साधु हुआ तथापि नरक और निगोद में भटकता रहा, आहा..हा...!

भगवानआत्मा जिसे सर्वज्ञ परमेश्वरने कहा है वह, हाँ...! अज्ञानी अन्यमतवाले जितने आत्मा... आत्मा करते हैं वे सब कल्पना के द्वारा कहते हैं। यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर! वीतरागदेव ने जिस आत्मा को देखा, जाना, अनुभव किया और कहा, ये कहा सो **`...उपदिष्ट...'** (यह) शब्द (है)। **`...स्यात्कार चिह्नयुक्त,...'** `स्यात्कार = `स्यात' शब्द। (स्यात् = कथंचित्; किसी अपेक्षा से)।' (अर्थात्) भगवान की वाणी स्याद्वाद होती है। जैसे आत्मा त्रिकाली नित्य है। कथंचित् नित्य है और पर्याय से बदलता है, इसलिये अनित्य है। वैसे भगवान की वाणी में, एक-एक गुण का कथंचित् ध्रुवरूप है और अध्रुव है वह पर्यायपना है। वैसे प्रभु ने कथंचित् स्याद्वाद के द्वारा बात कही है।

त्रिलोकनाथ `महावीर' परमात्मा यहाँ थे तब तो वाणी थी। (वे) अरिहंत थे। अब तो सिद्ध हो गये - `णमो सिद्धाणं !' अब वाणी, शरीर नहीं। चारकर्म शेष थे उन चारों का (क्षय हो गया)। अरिहंत (पद में) थे तब वाणी थी। (सीमंधर) भगवान महाविदेह में बिराजित हैं। उनके चार कर्मों का नाश है और चार कर्म शेष हैं। वाणी ॐ ध्वनि निकलती है। यह ॐ ध्वनि कैसी है ? कि, **`...स्यात्कार चिह्नयुक्त,...'** (है)। (अर्थात्) किसी अपेक्षा से कहना। नित्य और हमेशा रहे इसलिये आत्मा, अनित्य और बदले इसलिये। आहा..हा...! गुण और त्रिकाली ध्रुव है इसलिये। पर्याय और एक क्षण की अवस्था बदले इसलिये। वैसे भगवान की वाणी में **`...स्यात्कार चिह्नयुक्त...'** किन्तु है कैसा ? (तो कहते हैं) **`...पौद्गलिक शब्दब्रह्म है।'** वह पुद्गल जड़ की पर्याय है,

आहा..हा..हा...! ॐ ध्वनि उठती है, परंतु है वह पुद्‌गल की पर्याय। जड़ की-परमाणु की पर्याय (है), आत्मा की नहीं। आहाहा...!

श्रोता :- श्वेतांबर का कहना है कि उपमा अलंकार किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री :- श्वेतांबर की बात में कोई (दम नहीं)। यह तो वस्तुस्थिति है। सूक्ष्म बात है, भाई ! श्वेतांबर में तो बड़ा फर्क है। वे तो भगवान को रोग (हुआ) कहें, वे दवाई लें (वैसा कहें), दवाई से रोग ठीक हो ! ये सब बातें वीतराग को होती नहीं। आहा..हा...! और अतः (भगवान को) छः महीना तक मल में खून बहा, आहा..हा...! उपदेश बंद रहा। ये सब काल्पनिक बातें हैं। यह तो त्रिकाली भगवान की वाणी है, आहा..हा...!

भगवान ऐसे फरमाते हैं कि, जो वाणी निकली वह पुद्‌गल की अवस्था है। आहा..हा..हा...! आत्मा तो अरूपी (है)। वाणी से भिन्न है। क्या यह कहते हैं ? वीतराग की वाणी यह पुद्‌गल की जड़ की अवस्था है ! यह वाणी है न, देखिये ! यह तो जड़ की अवस्था है। यह आत्मा है ? आत्मा तो जड़ की अवस्था से भिन्न है। आहा..हा..हा...!

यहाँपर यह कहते हैं, '**...स्यात्कार चिह्नयुक्त, पौद्‌गलिक शब्दब्रह्म है।**' (अर्थात्) यह पुद्‌गल का शब्दब्रह्म (है)। माने ? इस शब्दब्रह्म में सब कहने में आता है। इसलिये 'शब्दब्रह्म' कहने में आता है। वाणी में स्वपर कहने की शक्ति है। स्वपर कथन करने की शक्ति है। आत्मा में स्वपर जानने की शक्ति है। वाणी में स्वपर कहने की शक्ति है, परंतु है वह जड़। आहा..हा...! भाई ! वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू !

अनंतबार नौवीं ग्रैवेयक गया, अनंत भव किये, दिगंबर साधु होकर हाँ...! आहा..हा...! परंतु यह राग से भिन्न (अर्थात्) यह दया, दान और व्रत के विकल्प आस्रव हैं- दुःख हैं, इनसे भिन्न भगवान(आत्मा) है, उसका उसने भावश्रुतज्ञान के द्वारा ज्ञान किया नहीं। इसलिये उसके जन्म-मरण मिटे नहीं। आहा...! आहाहा...! समझ में आया ?

भगवान की वाणी पौद्‌गलिक शब्दब्रह्म (है)। शब्दब्रह्म क्यों कहा ? कि, जैसे भगवान केवलज्ञानी आनंदब्रह्म हैं, वैसे यह शब्दब्रह्म (है)। केवलज्ञान में जैसे सब जानने में आता है वैसे शब्द में सब कहने में आता है। बात बात में फर्क है, बापू ! मार्ग न्यारा, भाई ! आहा..हा...! आहा..हा...!

भगवान की वाणी ॐ निकलती है। ऐसे उन्हें (छद्मस्थ जैसी) वाणी होती नहीं। (क्योंकि) वे तो वीतराग हैं। राग का नाश करके वीतराग हुए हैं और वीतराग होने के पश्चात् केवल(ज्ञान) हुआ है। वीतराग तो बारहवें गुणस्थान में होते हैं। चौदह गुणस्थान हैं। (उनमें) केवलज्ञान तेरहवें (गुणस्थान में) होता है। आहा..हा...! सीढ़ी के जिस प्रकार चौदह सोपान (होते) हैं न ? आहा..हा...! वैसे चौदह गुणस्थान (हैं, वे) सोपान हैं। बारहवें गुणस्थानपर परमात्मा वीतराग होते हैं। (यानी) इच्छा का नाश हो जाय तब तेरहवें (गुणस्थान में) केवलज्ञान होता है। तब इच्छा भी नहीं और चार धातीकर्म भी नहीं, नाश हो गये। उन्हें जो वाणी का योग (है, वह) पहले नामकर्म का बंध पड़ा है, (इसलिये) यह वाणी निकलती (है)। होंठ बंद (हो), कंठ का कंपन न हो, सारे शरीर में से ॐ वैसी ध्वनि उठे। परंतु यह ध्वनि पुद्गल की अवस्था है। (वैसे यहाँपर) कहते हैं। है ? `**पौद्गलिक शब्दब्रह्म** !' आ..हा..हा...!

(अब कहते हैं) `**उसकी ज्ञप्ति...**' उन शब्दों का ज्ञान। `**(-शब्दब्रह्म को जाननेवाली ज्ञातृक्रिया) सो ज्ञान है;...**' यहाँ शब्दब्रह्म को जाननेवाली क्रिया सो ज्ञान है, (वैसा कहा) परंतु उस ज्ञान को जीव ने जाना इसलिये उसे ज्ञान कहते हैं। मात्र शब्द को जानने का ज्ञान सो (ज्ञान नहीं)। यह तो `बंध अधिकार' लिया है न, भाई ? यह शब्दज्ञान है। आहा..हा...! यहाँ तो कहने का आशय यह है (कि) उसका (शब्दब्रह्म का) ज्ञान होने से स्व का ज्ञान हुआ तब उसका (शब्दब्रह्म का) ज्ञान हुआ (ऐसा कहने में आता है)। आहा...! समझ में आया ?

भगवानआत्मा सत् चिदानंद प्रभु ! `सिद्ध समान सदा पद मेरो' ऐसा उसे अंतरज्ञान हुआ तब पहले वाणी से ज्ञान (हुआ) था वह तो निमित्तरूप ज्ञान (था)। परंतु उस ज्ञान ने जब स्व को जाना तब (जो) ज्ञान हुआ तब उसने स्व और पर को जाना ऐसा ज्ञान कहने में आता है। आहा..हा...! भारी बातें ! ऐसा मार्ग है, भाई !

संवत् ४९ (में) `कुंदकुंदाचार्य' दिगंबर मुनि भगवान के पास गये थे। संवत् ४९...! दो हजार वर्ष हुए। (`सीमंधर') भगवान का आयुष्य तो बड़ा (है), क्रोड़ पूर्व का है। दो हजार हाथ ऊँचा पाँच सौ धनुष्य का देह है। महाविदेह में भगवान बिराजते हैं। करोड़ पूर्व का आयुष्य है। एक पूर्व में ७० लाख ५६ हजार करोड़ वर्ष व्यतीत हों। आहा..हा...! यह सामायिक में भगवान की आज्ञा लेते हैं न ? उसे यह भी

कहाँ ख़बर है कि, भगवान क्या है ? और केवली किसे कहें ? आहा..हा...! सामायिक करते समय आज्ञा मांगते हैं न ? ये परमात्मा बिराजते हैं। उनकी वाणी भी पुद्गल है, (ऐसा) कहते हैं। आहा..हा...! उस वाणी का ज्ञान होना, यह ज्ञान हुआ कब कहलायेगा? कि, उस ज्ञान ने स्व को जाना तब वाणी का ज्ञान है, वैसे निमित्त से कहलायेगा। आहा..हा...!

क्योंकि वाणी में ऐसा कहने में आया था कि, `प्रभु ! पूर्णानंद का नाथ हो न नाथ ! उसे जान न !' वैसे वाणी में कहने में आया था। वैसा ज्ञान होकर स्वयं ने स्वयं को जाना तब उस ज्ञान में सूत्र की उपाधि दूर हो गई। सूत्र द्वारा जाना हुआ ज्ञान वह दूर हो गया ! भाई ! बात कठिन है, भाई ! आहा..हा...! प्रभु ! शांति से समझने जैसा है, बापू ! यह तो तीनलोक के नाथ (की वाणी है)। अरे..रे...! तीर्थंकर का वियोग हुआ, भरतक्षेत्र में वाणी रह गई। (परंतु) उनके अर्थ समझानेवाले उलटे हो गये। आहा..हा...!

यहाँपर तो कहते हैं... आहा..हा...! क्या शैली ! कहते हैं कि, `श्रुत' जो शब्द आया (अर्थात्) ज्ञानी श्रुतज्ञान के द्वारा जानते हैं (ऐसा जो कहा तो उसमें) `श्रुत' शब्द आया तो जैसे, श्रुत माने वाणी और वाणी का ज्ञान सो श्रुत ! (परंतु) वैसा नहीं। आहा..हा...! भगवान की वाणी में ऐसा आया था (कि) `प्रभु ! तू पूर्णानंद का नाथ हो उसकी दृष्टि कर ! उसे जान !' वीतराग की वाणी का तात्पर्य वीतरागता है न ? और वीतरागता तात्पर्य है तो वीतरागता की पर्याय कब प्रगट हो ? कि, त्रिकाली द्रव्य जिनस्वरूपी प्रभु है उसका आश्रय करे तो वीतरागी पर्याय (प्रगट हो)। इसलिये वाणी में ऐसा आया था। आहा..हा...! तब यहाँपर जो ज्ञान हुआ (उसमें) वाणी निमित्त (है)। यानी श्रुत की उपाधि उन्हें नहीं। परंतु यह ज्ञान भी कब कहलाया ? कि, उस ज्ञान ने आत्मा का ज्ञान किया तब ज्ञान कहलाया। आ..हा..हा...! ऐसा है ! जगत को कठिनाई लगे। संप्रदाय में बातें सब अलग चले (और) मार्ग कोई अलग ! आहा..हा...!

यहाँ ये कहते हैं कि, यह पौद्गलिक शब्दब्रह्म, `उसकी ज्ञप्ति (-शब्दब्रह्म को जाननेवाली ज्ञातृक्रिया) सो ज्ञान है;...' परंतु उस ज्ञान का अर्थ ? वह श्रवण किया हुआ ज्ञान है सो भी उपाधिकृत है, (ऐसा) कहते हैं। परंतु श्रवण करने में ऐसा आया

था कि, `तेरा जो स्वरूप है उसका ज्ञान कर !' वह ज्ञान (है)। वैसा जब उसने स्वरूप का ज्ञान किया तब वह श्रुत भावश्रुत हुआ। उसमें से द्रव्यश्रुत यानी श्रुत की उपाधि रही नहीं परंतु श्रुतद्वारा हुआ (पर)लक्षवाला ज्ञान भी रहा नहीं। आ..हा..हा...! ऐसी बातें हैं, बापू !

अनंतकाल से भटकता है। चौरासी के अवतार कर कर दुःखी... दुःखी... दुःखी... दुःखी (हो रहा है)। अरबपति, करोड़पति बेचारे दुःखी हैं। आत्मा का ज्ञान नहीं वे बेचारे दुःखी हैं, भिखारी हैं ! मांगते हैं... पैसे लाओ ! पत्नी लाओ...! ये बड़े भिखमंगे...! आहा..हा...! अंतर में अतीन्द्रिय आनंद का नथा भरा पड़ा है उसके ऊपर उसकी दृष्टि नहीं, वहाँ तो उनकी मंगनी नहीं। मंगनी यह इस धूल की (करते है), पैसे लाओ, औरत लाओ, बच्चे लाओ, आबरु लाओ, कोई बड़ा माने... अरर..र...! भिखारी बाहर की भीख मांगता है !

अंदर भगवान बादशाह पड़ा है ! अनंत ज्ञान और अनंत आनंद से भरा हुआ भगवान (है)। उसका जिसने ज्ञान किया तब वह श्रुत-उपाधि (गई)। यानी श्रुत का निमित्तपना था (वैसा) (परलक्षी) ज्ञान और उपाधि भी गई। आहा..हा...! समझ में आये उतना समझना प्रभु ! यह तो तीनलोक के नाथ जिनेश्वरदेव की वाणी है ! संतगण...दिगंबर संतगण आढ़तिया बनकर केवली की बातें करते हैं ! आहा..हा...! माल तो सर्वज्ञ का है, आहा..हा...! परंतु श्रुतज्ञानी संत यह स्वयं बात करते हैं कि, प्रभु ! हमें जो ज्ञान हुआ यह वाणी से हुआ नहीं। वाणी से (हुआ) परलक्षी जो हमारा ज्ञान वह भी सच्चा ज्ञान नहीं, आ..हा..हा...! यह उपाधि रहित, आत्मा त्रिकाली आनंद का नाथ उसका हमें ज्ञान हुआ उसे हम `श्रुतज्ञान' कहते हैं। आ..हा..हा...! उसे हम `भावश्रुतज्ञान' और उन्हें हम `श्रुतकेवली' कहते हैं, आहा..हा...! यह तो आ गया है न ? पहले आ गया है। `हम श्रुतकेवली हैं !' आ..हा..हा..हा...!

दिगंबर मुनि जंगल में नग्नरूप बसते थे। उन्हें वस्त्र का धागा भी नहीं था, प्रभु ! अंदर विकल्प का अंश भी स्वरूप की दृष्टि और अनुभव में नहीं था, आहा..हा...! वैसे मुनिराज जंगल में बसते थे। यह वस्त्र सहित श्वेतांबर तो बाद में निकले। दो हजार वर्ष हुए। वे दिगंबर में से निकले। वस्त्रपना स्थापित किया और... ये सभी काल्पनिक बातें हैं। यह तो अनादि सनातन वीतरागमार्ग वहाँ वर्तता है - महाविदेह में वर्तता

है, सो बात है ! आहा..हा...!

यहाँ तो ऐसा कहा कि, श्रुतज्ञान से आत्मा को जाने। तो `श्रुत' (जो आया) यह तो सुना हुआ (हुआ) (और) यह तो उपाधि है। आहा..हा...! वाणी (सुनना) यह तो उपाधि है ! आहा..हा...! भगवान की वाणी तो अनंतबार सुनी है। समवसरण में अनंतबार गया है। महाविदेह में भगवान तीर्थंकर का वियोग होता नहीं। बीस तीर्थंकर तो बिराजमान हैं। मोक्ष जाये तो दूसरे होते हैं। वहाँ भगवान तो हमेशा बिराजते (हैं)। और वहाँ जीव का अनंतबार अवतार हुआ है। अनंत पुद्गल परावर्तन में वहाँ अवतार किये (हैं)। वहाँ अवतार लेकर अनंतबार समवसरण में गया है। वाणी भी अनंतबार उसने सुनी है। परंतु वाणी में क्या कहना है ? (जिसमें) स्व का ज्ञान कराना है वह ज्ञान उसने किया नहीं। आहा..हा...! वाणी का ज्ञान करके वहाँ अटक गया कि, हमें भगवान की बहुत (महिमा) है। आ..हा..हा...!

वास्तव में तो श्रुत का ज्ञान है वह शब्दब्रह्म है, भाई ! बंध अधिकार में आया न ? शास्त्र का ज्ञान होता है, वाणी सुनकर ज्ञान होता है, यह सब शब्दब्रह्म है, यह आत्मज्ञान नहीं। आहा..हा...! आ..हा..हा..हा...! (यहाँपर यह) कहते हैं कि, यह शब्दब्रह्म (से हुआ) जो शास्त्र-ज्ञान है, सुनकर हुआ (जो ज्ञान है सो) हुआ है अपने उपादान से, परंतु उसकी उपाधि छोड़कर... आ..हा..हा...! निज आनंद का नाथ स्वयं शुद्ध चैतन्य परमात्मस्वरूप है। `जिन सो ही आत्मा, अन्य सो ही कर्म, एहि वचन से समझ ले जिन प्रवचन का मर्म' आहा..हा...! कैसे समझे ? एक बीड़ी पीये तब तलफ़ना चढ़ आये अंदर से ! सुबह में डेढ़ पाव सेर चाय का काढ़ा पीये (बाद में करे) `दिमाग स्थिर है !' (या ऐसा कहे) `बिना चाय पीये आया हूँ तो दिमाग ठिकाने पर नहीं !!' आहा..हा...! तेरे दुर्गुण तो देख ! डेढ़ पाव सेर चाय का काढ़ा तेरे दिमाग को ठिकाने रखे !! आहा..हा...! प्रभु ! तू कहाँ गया ?! आ..हा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, यह तो कहीं दूर रह गया, किन्तु त्रिलोकनाथ की वाणी सुनकर जो ज्ञान हुआ वह ज्ञान भी उपाधियुक्त है ! आ..हा..हा..हा...! उसे छोड़कर जिसने अंदर आत्मा का ज्ञान किया उसे श्रुत की ज्ञप्ति कहने में आता है। आहा..हा...! ऐसा है, बापू ! आहा..हा...! यह तो ज्ञान का निमित्त कारण है। भगवान की वाणी निमित्त है। और वाणी के निमित्त से परलक्षी ज्ञान हुआ वह भी स्वरूप के ज्ञान

में निमित्त है। यानी कि उससे होता नहीं। आ..हा..हा...! है (अंदर) ?

ज्ञप्ति माने `**...(-शब्दब्रह्म को जाननेवाली ज्ञातृक्रिया) सो ज्ञान है;...**' आहा..हा...! शब्दब्रह्म को जाननेवाली (ज्ञातृक्रिया) सो ज्ञान है। उसका अर्थ ? कि, शास्त्र का ज्ञान और वाणी का ज्ञान हुआ, उसे भी जाननेवाला ज्ञान। आहा..हा...! यह स्व को जाननेवाला ज्ञान तो उसे भी जाननेवाला ज्ञान सो ज्ञप्तिक्रिया है। आहा..हा...! भाषा (की) भिन्न जाति ! उनमें तो एकन्द्रिया, बेइन्द्रिया, तेइन्द्रिया, चोइन्द्रिया, अभिया, वत्तीया, लेश्या... मिच्छामी दुक्कडम्...! हो गया। (उसमें) कुछ समझना है ? तस्सउत्तरी,... ठाणंग... अप्पाणं... वोसिरामी...! अप्पाणं अर्थात् क्या ? और वोसिरे अर्थात् क्या ? उसकी ख़बर नहीं। आत्मा वोसिरे... वोसिरे... !!

यहाँ कहते हैं कि, शब्दब्रह्म को जाननेवाली जाननक्रिया सो आत्मा है। उसका अर्थ ? कि, शब्दब्रह्म जो वाणी है उसके द्वारा जो ज्ञान हुआ उससे भी भिन्न भगवान की ज्ञप्ति है, सो ज्ञान है। आ..हा..हा...! उसे सम्यक्ज्ञान कहें, उसे अज्ञान का नाश कहें और उसे अनंत भव के भ्रमण का नाश हो जाता है। आहा..हा...! समझ में आया... ? अब इससे बनिये को फुरसत कहाँ मिले ! सारा दिन व्यापार... पाप का...! उसमें मोहमयीनगरी - मुंबई !! सारा दिन यह किया और वह दिया, भले ही पाँच-पचास लाख की कमाई होती हो... धूल... ! थोड़ा समय मिले तो औरत-बच्चों को खुश रखने में बिताए। छे-सात घँटे नींद में जाये ! सुनने के (लिए) घँटे(भर का) समय मिले, तहाँ कुगुरु लूट ले...!! `तुम व्रत करो, तप करो, उससे कल्याण होगा!' आहा..हा...! व्रत, तप, दया, दान, पूजा, भक्ति वे सब विकल्प और राग हैं, भाई! तुझे ख़बर नहीं।

चैतन्यमूर्ति प्रभु तो अंदर राग से भिन्न है। आहा..हा...! उसके ज्ञान को `ज्ञान' कहते हैं। वाणी का ज्ञान यह शब्दब्रह्म है। इससे भिन्न होकर स्व का ज्ञान किया उसे ज्ञप्ति और आत्मा का ज्ञान कहेंगे। समझ में आये इतना समझो बापू ! यह तो वीतराग त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ की वाणी है। यह सीधी वहाँ से आयी है !! आहा..हा...!

(आगे कहते हैं), `**...श्रुत (सूत्र) तो उसका (-ज्ञान का) कारण होने से ज्ञान के रूप में उपचार से ही कहा जाता है...**' यह `श्रुत' शब्द से (ऐसा कहने का है कि) ये श्रुत का ज्ञान स्वयं उपाधि है और श्रुत का ज्ञान भी उपचार से `श्रुतज्ञान' कहलाता

है। आत्मा का ज्ञान सो वास्तविक ज्ञान है। आहा..हा...! कुछ समझे ? आहा...! मात्र वह श्रुत (सूत्र) तो (ज्ञान का) कारण होने से ज्ञान के रूप में उपचार-व्यवहार से (कहा जाता है)। उपचार कहो या व्यवहार कहो (दोनों एकार्थ हैं)। '**...(जैसे कि अन्न को प्राण कहा जाता है)।**' 'अन्न समा प्राण' वैसे हम गुजराती में कहते है न? आपके हिन्दी में ('अन्न वही प्राण' कहे)। हमारे गुजराती में 'अन्न समा प्राण' है, बापू! अन्न हो तो प्राण रहे...! धूल भी नहीं...! 'अन्न समा प्राण' अपने गुजराती में कहा जाता है।

(जैसे) अन्न को प्राण कहते हैं वैसे यह सूत्र के ज्ञान को ज्ञान (कहने में आता है)। अन्न को प्राण कहने में आता है, वैसा व्यवहार है। आहा..हा..हा...! 'ऐसा होने से यह फलित हुआ कि 'श्रुत की ज्ञप्ति'...' (अर्थात्) वह सूत्र का ज्ञान, '**...सो श्रुतज्ञान है।**' आहा..हा..हा...! सूत्र की ज्ञप्ति अथवा श्रुत द्वारा हुआ, निमित्त से शुद्ध उपादान में हुआ ज्ञान, उसकी ज्ञप्ति। आहा..हा...!

इसलिये बहुत से कहते हैं न कि, 'सोनगढ' ने नया धर्म निकाला ! अरे प्रभु...! नया धर्म नहीं, बापू ! यह तो अनादि (से) परमात्मा का (कहा हुआ है)। त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव वहाँ महाविदेहक्षेत्र में फरमा रहे हैं। इन्द्र, गणधर, वहाँ जाते हैं, आहा...! यह वाणी यहाँ आयी है, प्रभु ! संतों ने इस वाणी की शास्त्र में रचना की है, आहा..हा...!

(अब कहते हैं), '**...'सूत्र की ज्ञप्ति' सो श्रुतज्ञान है। अब यदि सूत्र तो उपाधि होने से उसका आदर न किया जाय...**' आहा..हा..हा...! ये सूत्र शब्द और उनसे उत्पादित ज्ञान-शब्दज्ञान (उसे उपाधि कहा) ! समझ में आया ? भगवान की वाणी सुनी और ज्ञान की पर्याय हुई (उसमें) उन सूत्रों को और शब्दों को जाना। शब्दों को जाना इसलिये इस ज्ञान को 'शब्दज्ञान' कहने में आता (है)। इस शब्दज्ञान से भी भगवानआत्मा का भावश्रुतज्ञान भिन्न है। समझ में आया ? उसमें 'शब्दब्रह्म' कहा है न भाई ? वीतराग की वाणी(रूप) शब्द तो शब्द भले ही रहे। परंतु ये वाणी का निमित्त है और यहाँ ज्ञान हुआ वह शब्दब्रह्म है। आहा..हा..हा...! ऐसी उपाधि का लक्ष छोड़कर... (वैसा कहते हैं)। और भगवान पूर्णानंद का नाथ उसे भावश्रुतज्ञान के द्वारा (अर्थात्) उसे जाननेवाले ज्ञान से उस ज्ञान को (यानी कि आत्मा को) जान। आहा..हा...!

अरे..! ऐसा वैसे तो सुनने मिले नहीं ! और मिले तो पकड़ना कठिन पड़े। अरे..रे...! वह किस दिन आत्मा का ज्ञान करे ? और उसे जन्म-मरण का चक्र (कब मिटे) ? अरबपति जिसे आत्मा क्या चीज है उसका ज्ञान नहीं, वे मरकर जानवर-पशु में अवतार लेंगे ! वैसे भगवान कहते हैं। क्योंकि उसने तो राग और द्वेष, विषय कषायों के भाव सेवन किये (हैं)। भले कोई पुण्य (किये) हो (तो) वह भी राग-विकार है। यह भगवान के स्वभाव से विकारभाव (है वह) विपरीतता है (अर्थात् विरुद्धभाव है)। उन विपरीतता का सेवन करनेवाले तिर्यंच (होकर) टेढ़े शरीरवाले होंगे। यह मनुष्य ऐसे खड़ा है। वे तिर्यंच ऐसे टेढ़े हैं। गाय, भेंस, घोड़ा, गिलहरी, नेवला इस प्रकार टेढ़े हैं, टेढ़े। वे विपरीतता के कारण टेढ़े शरीर में अवतरित (हैं), प्रभु ! आहाहा...! आहा..हा...! यहाँ अरबपति हो, हीरे के... क्या कहते हो तुम लोग ? हाँ ? पलंग... पलंग ! भूल जाते (हैं) तुम्हारी भाषा ! हीरे के पलंग में सोता हो वह देह छोड़कर पशु में अवतरे ! और यदि मांस और दारू पीता हो तो मरकर नरक में अवतरे !!

`ब्रह्मदत्त' जैसा चक्रवर्ती ! (जिसे) ९६ हजार स्त्री, ४८ हजार पाटण, ७२ हजार नगर, ९६ क्रोड़ पायदल, ९६ क्रोड़ गाँव (होते हैं), आहा..हा...! परंतु उसने आत्मज्ञान किया नहीं, अनुभव किया नहीं। पुण्य भी किये नहीं ! शास्त्रवाचन, श्रवण, सत्समागम हो तो उसे पुण्य भी हो। धर्म तो अलग चीज है, बापू ! वह तो कठिन (वस्तु है)। (इस प्रकार) पुण्य भी नहीं और धर्म भी नहीं, (इसलिये) मरकर सातवीं नरक का नारकी हुआ। अंतिम `ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती !' अब तक सिर्फ ८५ हजार वर्ष व्यतीत हुए हैं। अभी तो ३३ सागर (का) (आयुष्य है)। असंख्य क्रोड़ा-क्रोड़ी पल्योपम वर्ष का एक पल्योपम ! आहा..हा...! वैसे ३३ सागर की सातवीं नरक की स्थिति है। यह जीव अनंतबार वहाँ जाकर आया है, हाँ ! आहा..हा...! (परंतु) भूल गया... भूल ! परंतु भूल जाय इसलिये था नहीं, प्रभु ! वैसा कैसे कहें ? आहा...! जन्म लेकर छह महीने, बारह महीने माता ने तुझे क्या स्तनपान कराया, स्नान करवाया उसकी ख़बर है ? ख़बर नहीं इसलिये था नहीं (ऐसा) कैसे कहा जाय ? भाई ! आहा..हा...! वैसे अनंत अनंत सागर में... ३३-३३ सागर नरक में अनंतबार गया। आहा..हा...! निगोद...! ये लहसुन की कली और प्याज के छोटे से टुकड़े में अनंतबार पैदा

हुआ है। आहा..हा...! भूल गया इसलिये नहीं था, प्रभु ! ऐसा कैसे कहें ? भाई! आहा..हा...! उसको मिटाने का उपाय यह है।

जिस ज्ञान के द्वारा आत्मा जानने में आये और जो आत्मा को जाननेवाला ज्ञान वह भावश्रुत(ज्ञान) है और (इससे) भव का अंत है। आहा..हा...! समझ में आया ? आहा..हा...! बाक़ी पैसे से बड़े हुए और आबरु से बड़े हुए और बारह-बारह संतान हुए और एक-एक लड़का दो-दो लाख की कमाई में (है) और (माने) बहुत बढ़ गये ! पाप में बढ़त हुई है ! सूजनें बढ़ी हैं !! ये सूजनें उतर जायेंगी, बापू ! उस दिन चिल्लायेगा !!

अंतर भगवान पूर्ण आनंद और पूर्ण ज्ञान की शांति का सागर (है) उसे जो जाने उसे `ज्ञान' कहने में आता है। बाक़ी ये सब आपके वक़ालत के ज्ञान, एल. एल. बी. के पूँछे (उपाधि), डोक्टर के, एम.बी.बी.एस. की बड़ी पूँछे. ये सब कुज्ञान हैं। मरकर जायेंगे (संसार में भटकने)। दुनिया प्रशंसा करे इससे क्या हो ? आहा..हा...! ऐसी बातें कहा हैं, बापू ! आहा...! लोग तो कहे - व्रत करो और उपवास करो, भक्ति करो और पूजा करो, दान करो और दया करो, ये सब राग की क्रियाएं हैं, बापू ! तुझे ख़बर नहीं, भाई ! ये धर्म नहीं...! आहा..हा...! राग से भिन्न ज्ञान के द्वारा आत्मा को पहचाने वैसा जो आत्मज्ञान और सम्यग्दर्शन वह भव-भ्रमण के नाश का उपाय है। बाक़ी सब... थोथे... थोथे... हैं। आहा..हा...!

वह यहाँ कहा, **`ऐसा होने से यह फलित हुआ कि `सूत्र की ज्ञप्ति' सो श्रुतज्ञान है। अब यदि सूत्र तो उपाधि होने से उसका आदर न किया जाये तो `ज्ञप्ति' ही शेष रह जाती है;...'** आहा..हा...! वास्तव में तो यह सूत्र का ज्ञान वह ज्ञप्ति (है)। सूत्र और सूत्र के ज्ञान से उसका ज्ञान। तो उसका ज्ञान माने आत्मा का ज्ञान। आहा..हा...! यह ज्ञप्ति (माने) स्व को जाननेवाली ज्ञप्ति। यहाँ तो अब इसे केवली से मिलान करना है कि, जैसे केवली भगवान अपने ज्ञान से त्रिकाल आत्मा को जानते (हैं) वैसे श्रुतज्ञानी अपनी ज्ञप्ति क्रिया के द्वारा आत्मा को जानते हैं। इसलिये इस अपेक्षा से दोनों समान हैं। आहा..हा...! समझ में आया ?

(सूत्र का) **`...आदर न किया जाय तो `ज्ञप्ति' ही शेष रह जाती है; (`सूत्र की ज्ञप्ति' कहने पर निश्चय से ज्ञप्ति कहीं पौद्गलिक सूत्र की नहीं,...)'** आहा..हा...!

यह शब्दब्रह्म में शब्द भी पुद्गल है न ? शास्त्र का ज्ञान होना यह शब्दब्रह्म है। यह भी वास्तव में जड़ का ज्ञान है। आ..हा..हा...!

अंदर सत्‌चिदानंद प्रभु ! सर्वज्ञ परमेश्वर के द्वारा कहा गया सो; ऐसा जो आत्मा उसे अंदर में जानना, उसके सन्मुख होकर उसका ज्ञान (हुआ) (अर्थात्) ये ज्ञान उसके सन्मुख होकर हुआ, उसे ज्ञप्ति-ज्ञान की क्रिया-आत्मा की क्रिया कहने में आता है। आहा..हा...! है ? आहा...! **`...सूत्र ज्ञप्ति का स्वरूपभूत नहीं,...'** सूत्र-शब्द और शब्दों के द्वारा परिणमित ज्ञान, यह ज्ञप्ति के स्वरूपभूत नहीं, आहा..हा..हा...!

भगवानआत्मा त्रिकाली को जाने ऐसा जो ज्ञान वह ज्ञप्तिक्रिया (है)। है (अंदर)? **`...सूत्र ज्ञप्ति का स्वरूपभूत नहीं, किन्तु विशेष वस्तु अर्थात् उपाधि है; क्योंकि सूत्र न हो तो वहाँ भी ज्ञप्ति तो होती ही है।'** आहा..हा...! यह सूत्र (माने) भगवान की वाणी और वाणी द्वारा हुआ ज्ञान... आहा..हा...! यह (सूत्र) न हो तथापि ज्ञप्ति तो होती है। आहा..हा...! इस बार ज़रा नया अर्थ आया है !

आहा..हा...! चैतन्यप्रकाश का पूर अंदर है ! क्रोड़ों-क्रोड़ों सूर्य के प्रकाश से भी प्रभु चैतन्यप्रकाश अंदर अनंत गुना पड़ा है ! क्रोड़ों-क्रोड़ों चंद्र से भी अनंत गुनी शीतलता भगवानआत्मा के अंदर पड़ी है ! आ..हा..हा...! करोड़ों सागर से, करोड़ों सागर की गंभीरता से भी अनंत गुना गंभीरता भगवानआत्मा में पड़ी है ! अरे... कहाँ उसे कुछ ख़बर है ? आहा...! और जहाँ आकाश का अंत नहीं... आकाश कहाँ (पूरा) हो रहा है (ऐसा) है कहीं ? आकाश... आकाश... आकाश... लोक (के) बाहर आकाश कहाँ विस्तरित हो रहा है ? (जैसे) आकाश का अंत नहीं, वैसे भगवान(आत्मा के) अनंत गुण का अंदर अंत नहीं !! आहा..हा..हा...! ऐसे आत्मा को जिसने श्रुतज्ञान के द्वारा जाना उन्हें श्रुतकेवली (अर्थात्) श्रुत में पूर्ण है वैसा कहने में आता है, आ..हा..हा...! यह तो सब भारी बातें !

कहावत है न ? `आनंद कहे परमानंदा, माणसे माणसे फेर, एक लाखे तो न मळे ने एक तांबियाना तेर' इस प्रकार भगवान कहते हैं कि, तुझमें और मुझमें बापू! बात-बात में फर्क है, भाई ! आहा..हा...! ऐसी बात है, बापू ! आहा..हा...! तू भगवान हो न प्रभु ! आहा..हा...! उस भगवानआत्मा का जिसे ज्ञान हो, उसे ज्ञान कहते (हैं)। वैसे मात्र शास्त्र का ज्ञान और यह सब एम.ए. और एल.एल.बी. की पूँछे, ये

सब ज्ञान तो बंध के कारण हैं। यह ज्ञप्तिक्रिया - आत्मा का ज्ञान यह तो अबंध का कारण है। आहा..हा...! जितना समझ में आये उतना समझना, प्रभु !

तेरी महानता की कोई सीमा नहीं, प्रभु ! आहा...! तेरी महानता वीतराग की वाणी में भी पूरी समा सकी नहीं ! वाणी जड़ और अंदर प्रभु चैतन्य ! दुश्मन के पास सज्जन की बातें करानी हो (तो) वह कितनी करेगा ? वैसे यह वाणी जड़ मिट्टी, ॐ ध्वनि भी जड़-पुद्गल, यह भगवान(आत्मा) अनंत आनंद का नाथ - यह उसकी कितनी बातें करेगा ? आ..हा..हा...!

`(**...इसलिये यदि सूत्र को न गिना जाय तो `ज्ञप्ति' ही शेष रहती है।**) **और वह** (-**ज्ञप्ति**) **केवली और श्रुतकेवली के आत्मानुभव में समान ही है।**' आहा..हा...! देखिये! ज़ोड़ (Total) यह लिया है। ज्ञप्ति उसे कहा। वह सूत्र की उपाधि का ज्ञान भी दूर किया... आहा..हा...! (अब कहते हैं) केवली और श्रुतकेवली (अर्थात्) केवलज्ञानी परमात्मा जिसने तीनकाल तीनलोक सहित त्रिकाली आत्मा को जाना और यह ज्ञप्तिक्रियावाले ने भी आत्मा को जाना (इसलिये वे दोनों समान हैं)। आहा..हा...! है? `**...आत्मानुभव में समान ही है।**' आत्मा को जानने में समान हैं, वैसा यहाँ लेना है। श्रुतज्ञान को जानना यह बात नहीं ली। आहा..हा...!

`**इसलिये ज्ञान में श्रुत-उपाधिकृत भेद नहीं है।**' यह (केवलज्ञानी की) ज्ञान की निर्मल पर्याय स्वयं को जानती है। वैसे श्रुतकेवली भी स्वयं को जानते हैं। इस अपेक्षा से जानने में दोनों समान हैं। विशेष कहेंगे...

(**दिनांक ७-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-३२**)

(`प्रवचनसार'), ३४ गाथा हुई। आखिर की दो पंक्तियाँ दुबारा लेंगे। देखिये! है ? `(**...इसलिये यदि सूत्र को न गिना जाय तो `ज्ञप्ति' ही शेष रहती है।**)**...**' क्या कहते हैं ? कि, भगवान की वाणी है वह `सूत्र' कहलाती है। यह पुद्गल की अवस्था है। उसे सुनने से अपनी जो ज्ञान की पर्याय होती है वह भी परलक्षी उपाधि(रूप)

है। यहाँपर तो जो ज्ञान आत्मा को जानने का कार्य करता है वह `ज्ञप्ति' (है)। (वह ज्ञप्ति माने) जानने की क्रिया केवली और श्रुतकेवली को (दोनों को) समान है, (वैसा कहते हैं)। सूक्ष्म बात है, भाई !

यह आपकी पढ़ाई-फढ़ाई का ज्ञान तो कुज्ञान (है)। उससे तो आत्मा जानने में आता नहीं, ऐसा कहते हैं। कुज्ञान... ! महीने छह-सात हजार की तनख्वाह, आठ हजार की तनख्वाह (हो तो) जैसे बड़ा होशियार हो गया ! (वैसे अज्ञानी मानते हैं)। परंतु यहाँ उस (ज्ञान की बात) नहीं, ऐसा कहते हैं।

यहाँ की बात में ज़रा खूबी यह है कि, सूत्रज्ञान ऐसा कहा-श्रुतज्ञान ! उसमें `सूत्र' शब्द आया इसलिये कोई ऐसा माने की भगवान की वाणी है वह सूत्र है, और इससे आत्मा का ज्ञान होता है, (तो) वैसा नहीं। - एक बात।

दूसरी बात - कि, सूत्र-भगवान की वाणी तो पुद्गल-जड़ है। उससे यहाँ सुना और सुनने में जो ज्ञान की पर्याय हुई, वह हुई है अपने से। तथापि वह ज्ञान भी परलक्षी है। उस ज्ञान से आत्मा जानने में आता नहीं, आ..हा..हा...!

श्रोता :- आत्मा जानने में ही नहीं आता, यह तो वैसा हुआ !

समाधान :- उससे जानने में आता नहीं। इसलिये तो यहाँ बात रखी। भगवानआत्मा ज्ञान, आनंदस्वरूप (है) उसके लक्ष से जो ज्ञान होता है (उस ज्ञान के द्वारा जानने में आता है)। भावश्रुतज्ञान के द्वारा वह जानने में आता है। यह ज्ञावश्रुतज्ञान, सूत्र का-शास्त्र का ज्ञान (है) उससे भिन्न है। अरे...! ऐसी बातें... ! वकालत और यह आपके एम.ए. के और डोक्टर की जानकारी के सब उपाधि कुज्ञान (हैं) ! उनसे आत्मा जानने में नहीं आता, ऐसा कहते हैं।

यह तो ठीक, परंतु भगवान की वाणी सुनकर जो ज्ञान होता है; हो भले ही अपने उपादान में, परंतु उससे आत्मा जानने में आता नहीं, आ..हा..हा...! क्योंकि यह भी परलक्षी उपाधिज्ञान है !

यहाँपर तो आत्मा ज्ञान का सागर, भगवान चैतन्यमूर्ति प्रभु ! उसके लक्ष के द्वारा या जो भावश्रुतज्ञान (कि) जो सूत्र के ज्ञान से भी भिन्न (है), वैसी ज्ञप्तिक्रिया -जानने की क्रिया से आत्मा जानने में आता है। (श्रुतज्ञानी को) यह जानने की क्रिया से (आत्मा) जानने में आता है (और) केवली को केवलज्ञान के द्वारा जानने में आता

है। दोनों का (ज्ञान) समान है। ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। समझ में आया ? आ..हा..हा...! ऐसा कहना है न ? देखिये न !

`...**वह (ज्ञप्ति केवली और श्रुतकेवली के आत्मानुभव में समान ही है।**' आखिरि शब्द है उसका अर्थ यह है कि, जो भगवानआत्मा चैतन्यस्वरूप प्रभु ! उसे जो जानने की ज्ञप्ति (क्रिया) - जानने की क्रिया (वैसा) जो सम्यक्ज्ञान है, वह ज्ञप्ति क्रिया है, उसके द्वारा आत्मा जानता है। केवली केवलज्ञान के द्वारा (आत्मा को) जानते हैं और यह (श्रुतकेवली) भावश्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को जानते हैं। दोनों जानने की अपेक्षा से समान हैं, वैसा कहना है। आ..हा..हा...!

यहाँपर तो (ऐसा कहना हैं कि), शास्त्रज्ञान जो होता है वह भी परज्ञेय में निष्ठ है ! यह कोई स्वज्ञेय का ज्ञान नहीं, आहा..हा...! आ..हा..हा...! यहाँपर तो परमात्मा ऐसा कहते हैं कि, हमारी वाणी जो जड़ है, वह सूत्ररूप ज्ञान को `सूत्र' - शब्दों की उपाधि है, यह (बात) दूर रही, परंतु उन सूत्र के शब्दों से परिणमित ज्ञान वह भी शब्दज्ञान है ! आ..हा..हा...! यह शब्दज्ञान है ! उस शब्दज्ञान से आत्मा जानने में आता नहीं। भाई ! `बंध अधिकार' में आता है न ? कल यह बात ज़रा नई थी। पहले नहीं आई थी।

आत्मा...! सूत्रज्ञान से वह आत्मा जानने में आता नहीं, आहा..हा...! क्योंकि सूत्र जो वीतराग की वाणी (है) सो सूत्र पुद्‌गल (है)। और दूसरी रीति से कहा जाय तो भगवान सूत्रज्ञान के द्वारा बात करते हैं, केवल द्वारा नहीं। यह क्या कहा ?

केवली परमात्मा श्रुत के द्वारा श्रुत का ज्ञान करते हैं। क्योंकि उनकी वाणी में सूत्रज्ञान आता है। क्या कहें इसे ? `धवल'...! `धवल' में पाठ है कि, भगवान की वाणी जड़ (है) और उसके लक्ष द्वारा परिणमित ज्ञान परज्ञेय का ज्ञान है। ये स्वज्ञेय-चैतन्य प्रभु है उसका ज्ञान नहीं। आ..हा..हा...!

ये आपके संसार की सभी बुद्धिमत्ता जड़ हैं (ऐसा) कहते हैं। उनसे आत्मा जानने में नहीं आता। आ..हा..हा...! मात्र आत्मज्ञान से आत्मा जानने में आता है, आ..हा..हा...!

यह ज्ञप्तिक्रिया-जाननक्रिया उसके द्वारा आत्मा जानने में आता है (और) केवली को केवल द्वारा जानने में आता है। यह जानने की अपेक्षा से दोनों समान हैं। भले ही यहाँपर क्रम ज्ञान है, वहाँ पूर्ण (ज्ञान) है, परंतु ज्ञप्तिक्रिया तो चैतन्य को जानती

है वैसी क्रिया से आत्मा जानने में आता है। केवली केवलज्ञान के द्वारा (जानते हैं)। है (पाठ में) ? `**...केवली और श्रुतकेवली के आत्मानुभव में समान ही है।**' - `**आत्मानुभव में समान ही है।**' (ऐसा कहा), आ..हा..हा...! भगवान को तो निरावरण पूर्ण ज्ञान हो चुका है और श्रुतज्ञान में वैसे आवरण हैं। परंतु उन आवरण को छोड़कर यानी कि जो कुछ भी परलक्षी ज्ञान होता है इतना आवरण है, आहा..हा...! उसे छोड़कर (परलक्षी ज्ञान को छोड़कर) जिस अंश से चैतन्य को जानने का विकास हुआ है, वैसी ज्ञप्ति की-जाननविकास क्रिया, उसके द्वारा भगवान जानने में आता है, आ..हा..हा...! ऐसा स्वरूप !! मार्ग ऐसा है, भाई ! आहा..हा...!

हालाँकि, (ऐसा) कहा कि, दोनों समान हैं। (निज स्वरूप) जानने में.. हाँ..! पर्याय में भले ही फर्क है। जो आत्मा आनंद का नाथ प्रभु (है) वह भावश्रुतज्ञान के द्वारा (जानने में आता है)। सूत्र-भगवान की वाणी हुई उनसे (आत्मा जानने में) आता नहीं। और उसके द्वारा यहाँपर ज्ञान हुआ - हुआ है तो अपने से - यह तो निमित्त है, उसके द्वारा (-यह परलक्षी ज्ञान से भी आत्मा जानने में आता) नहीं। परंतु भावश्रुतज्ञान की जो पर्याय स्वद्रव्याश्रित हुई (वह) भावश्रुत(ज्ञान) है, वह स्वद्रव्य को जानती है। उसका नाम `आत्मज्ञान' कहने में आता है, आहा..हा...!

श्रोता :- आत्मज्ञान प्रगट करने की कोई विधि बताएँ !

समाधान :- यह विधि है, आ..हा..हा...! अंतरस्वरूप का लक्ष करना। पूर्णानंद का नाथ ! निश्चय से उसके प्रत्येक गुण में `अकार्यकारण' नामक शक्ति है, आ..हा..हा...! अत: सूत्र का जो ज्ञान है, वह कारण और ज्ञप्ति कार्य हो, ऐसा नहीं। `अकार्यकारण!' भगवानआत्मा में जो ज्ञानगुण है उसमें अकार्यकारण का रूप है। भले ही अकार्यकारण शक्ति उसमें नहीं (परंतु उसका रूप है)।

बहुत विचार किये ! एक `विभु शक्ति' आती है न ! (उसका अर्थ) व्यापक (होता है)। परंतु यह व्यापक है। परंतु उसका `रूप' निकलता नहीं। भाई ! `विभु शक्ति' आती है न ? `प्रभु' और `विभु' (ऐसी दो आती हैं)। यह आठवीं (शक्ति है)। जीवतर, चिति, दशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व-आठवीं। `विभुत्वशक्ति' का अर्थ ऐसा है कि, (वह) प्रत्येक गुण में व्याप्त है। और ज्ञान भी सब में व्याप्त है - इतना। परंतु प्रत्येक गुण का रूप (प्रत्येक में है) यह कहाँ से निकालें ? यह ज़रा कठिन

पड़ता है। समझ में आया ?

प्रत्येक गुण में अकार्यकारण (शक्ति का) रूप है। यानी ? प्रभु आत्मा में एक अकार्यकारण नामक गुण है। (इस गुण के कारण) किसी के कारणवश यह प्रगटे और किसी का यह कार्य हो, वैसा आत्मा नहीं, आ..हा..हा...! ऐसी बातें अब...! पहले तो सीधा-सरल था - दया पालना, व्रत करना... लो...! ये तो सभी मूढ़ता थी !! आहा...!

यहाँ तो परमात्मा जिनेश्वरदेव ऐसा फरमाते हैं कि, जो ज्ञान के द्वारा आत्मा जानने में आता है वह भावश्रुतज्ञान पर की अपेक्षा रहित है, आहा..हा...! सूत्र द्वारा (जो) ज्ञान हुआ उसकी अपेक्षा रहित (भावश्रुत)ज्ञान है। भाई ! आहा..हा...! सूक्ष्म बात है, भाई !

सूत्र-शब्द जैसे पुद्गल (है और) अतिरिक्त चीज है, ऐसे सूत्र द्वारा हुआ ज्ञान वह भी अतिरिक्त चीज है, आ..हा..हा...! प्रभु... प्रभु... प्रभु... ! ओ..हो..हो...! यह भावश्रुतज्ञान ही है, इस ज्ञान को शास्त्र के ज्ञान की भी अपेक्षा नहीं, आहा..हा...! ऐसा जो ज्ञान-ज्ञप्ति, उसके द्वारा आत्मा जाने (और) भगवान केवलज्ञान के द्वारा (आत्मा) जाने - (यह) आत्मा को जानने की अपेक्षा दोनों समान हैं, आ..हा..हा...! ऐसा तो कहीं भी आपके (लौकिक) पढ़ाई में आया नहीं होगा ! आहा..हा...! यहाँ कहते हैं कि, सूत्र का जो ज्ञान है उसके द्वारा आत्मा जानने में आये, वैसा यह नहीं। आहा..हा...!

भगवान ! तू स्वतंत्र है न, प्रभु ! तेरे एक-एक गुण पर के कारण की अपेक्षा रहित है और पर के कार्य आत्मा करे नहीं-वैसा तो तेरे में गुण है ! आ..हा..हा...! प्रभु में एक `अकर्तृत्व' नामक गुण है। आत्मा को `प्रभु' कहते हैं ! इस अकर्तृत्व गुण में अकार्यकारण (शक्ति का) रूप है। `अकर्तृत्व' (गुण के कारण), कर्म के निमित्त द्वारा जो राग होता है उसका वह कर्ता नहीं, वैसे राग का यह कारण नहीं, वैसे राग का यह कार्य नहीं। राग था इसलिये यहाँ ज्ञान हुआ वैसा नहीं। और ज्ञान हुआ इसलिये राग हुआ (अर्थात्) ज्ञान कारण और राग कार्य, वैसा नहीं। बातें भारी, भाई ! आहा..हा...! पढ़े-लिखों का पानी उतर जाय वैसा है !!

श्रोता :- इस समय `प्रवचनसार' के अर्थ ही अलग प्रकार होते हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- यह दिव्यध्वनि (है) ! बिलकुल अलग अर्थ ! कल विस्तार

से (अर्थ) किया था, आ...हा..हा...!

यहाँ तो फिर (ऐसा कहा कि) ज्ञप्ति से (आत्मा को) जानता है और केवली (केवलज्ञान द्वारा आत्मा को जानते हैं, दोनों जाननेवाले (को) समान कहा ! (तो फिर) यह ज्ञान किस प्रकार का ? यह सूत्र का ज्ञान नहीं, आ..हा..हा...! बहुत सूक्ष्म बापू! जन्म-मरण रहित होने का उपाय अलौकिक है ! आ..हा..हा...!

हम अभी अंतिम पंक्ति का अर्थ (कर रहे हैं)। **`...केवली और श्रुतकेवली के आत्माअनुभव में समान ही है। इसलिये ज्ञान में श्रुत-उपाधिकृत भेद नहीं है।**' आ..हा..हा...! क्या शैली ! क्या संतों की शैली !! दिगंबर मुनिगण... केवलज्ञान के पथानुगामी...!! आ..हा..हा...! और पहले (३३ गाथा में) आ गया है - `हम श्रुतकेवली हैं !' अरे... प्रभु ! क्या कहते हैं आप ? (क्योंकि) `हमने भावश्रुत(ज्ञान से) आत्मा को जाना (है इसलिये) हम श्रुतकेवली हैं !' (यह) पंचमकाल के (संत कहते हैं) !! काल-फाल कहाँ अंदर में था ? आहा...! हम तो श्रुतकेवली हैं ! आ..हा..हा...! भले हमें बारह अंग आदि का ज्ञान न हो ! परंतु भगवानआत्मा ! अंतर आनंद का नाथ जो ज्ञान द्वारा जानने में आया यह भावश्रुत(ज्ञान) है। यह भावश्रुत(ज्ञान) द्वारा जानने में आया। इसलिये भावश्रुत केवली हैं ! श्रुतकेवली हैं !! आ..हा..हा...! देखिये यह अवस्था !!

`इसलिये ज्ञान में...**' (यानी कि) आत्मा को जानने का जो ज्ञान है उसमें और केवली आत्मा को जानते हैं उसमें **`...श्रुत-उपाधिकृत भेद नहीं है।' (अर्थात्) यहाँ `श्रुतज्ञान' कहा इसलिये उसमें श्रुत उपाधि है, वैसा नहीं, आहा..हा...! यह ३४ (गाथा पूर्ण) हुई। अब, ३५ (गाथा)।

❋ ❋ ❋

अथात्मज्ञानयोः कर्तृकरणताकृतं भेदमपनुदति –

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे।।३५।।

यो जानाति स ज्ञानं न भवति ज्ञानेन ज्ञायक आत्मा।
ज्ञानं परिणमते स्वयमर्था ज्ञानस्थिताः सर्वे।।३५।।

अपृथग्भूतकर्तृकरणत्वशक्तिपारमैश्वर्ययोगित्वादात्मनो य एव स्वयमेव जानाति स एव ज्ञानमन्तर्लीनसाधकतमोष्णत्वशक्तेः स्वतंत्रस्य जातवेदसो दहनक्रियाप्रसिद्धेरुष्णव्यपदेशवत्। न तु यथा पृथग्वर्तिना दात्रेण लावको भवति देवदत्तस्तथा ज्ञानेन ज्ञायको भवत्यात्मा। तथा सत्युभयोरचेतनत्वमचेतनयोः संयोगेऽपि न परिच्छित्तिनिषत्तिः। पृथक्त्ववर्तिनोरपि परिच्छेदाभ्युपगमे परपरिच्छेदेन परस्य परिच्छित्तिर्भूतिप्रभृतीनां च परिच्छित्तिप्रसूतिरनङ्कुशा स्यात्। किंच-स्वतोऽव्यतिरिक्तसमस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतं ज्ञानं स्वयं परिणममानस्य कार्यभूतसमस्तज्ञेयाकारकारणीभूताः सर्वेऽर्था ज्ञानवर्तिन एव कथंचिद्भवन्ति; किं ज्ञातृज्ञानविभागक्लेशकल्पनया।।३५।।

अथ भिन्नज्ञानेनात्मा ज्ञानी न भवतीत्युपदिशति – **जो जाणदि सो णाणं** यः कर्ता जानाति स ज्ञानं भवतीति। तथा हि – यथा संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि सति पश्चादभेदनयेन दहनक्रियासमर्थोष्णगुणेन परिणतोऽग्निरप्युष्णो भण्यते, तथार्थक्रियापरिच्छित्तिसमर्थज्ञानगुणेन परिणत आत्मापि ज्ञानं भण्यते। तथा चोक्तम् – 'जानातीति ज्ञानमात्मा'। **ण हवदि णाणेण जाणगो आदा** सर्वथैव भिन्नज्ञानेनात्मा ज्ञायको न भवतीति। अथ मतम्-यथा भिन्नदात्रेण लावको देवदत्तस्तथा भिन्नज्ञानेन ज्ञायको भवतु को दोष इति। नैवम्। छेदनक्रियाविषये दात्रं बहिरङ्गोपकरणं तद्भिन्नं भवतु, अभ्यन्तपकरणं तु देवदत्तस्य छेदनक्रियाविषये शक्तिविशेषस्तच्चाभिन्नमेवभवति; तथार्थपरिच्छित्तिविषये ज्ञानमेवाभ्यन्तरोपकरणं तथाभिन्नमेव भवति, उपाध्यायप्रकाशादिबहिरङ्गोपकरणं तद्भिन्नमपि भवतु दोषो नास्ति। यदि च भिन्नज्ञानेन ज्ञानी भवति तर्हि परकीयज्ञानेन सर्वेऽपि कुम्भस्तम्भादिजड़पदार्था ज्ञानिनो भवन्तु, न च तथा। **णाणं परिणमदि सयं** यत एव भिन्नज्ञानेन ज्ञानी न भवति तत एव घटोत्पत्तौ मृत्पिण्ड इव स्वयमेवोपादानरूपेणात्मा ज्ञानं परिणमति। **अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे** व्यवहारेण ज्ञेयपदार्था आदर्शे बिम्बमिव परिच्छित्त्याकारेण ज्ञाने तिष्ठन्तीत्यभिप्रायः।।३५।।

अब, आत्मा और ज्ञानका कर्त्तृत्व-करणत्वकृत भेद दूर करते हैं (अर्थात् परमार्थतः अभेद आत्मामें, 'आत्मा ज्ञातृक्रियाका कर्ता है और ज्ञान करण है' ऐसा व्यवहारसे भेद किया जाता है, तथापि आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं हैं इसलिये अभेदनयसे 'आत्मा ही ज्ञान है' ऐसा समझाते हैं) :-

गाथा ३५

जे जाणतो ते ज्ञान, नहि जीव ज्ञानथी ज्ञायक बने।
पोते प्रणमतो ज्ञानरूप, ने ज्ञानस्थित सौ अर्थ छे।।३५।।

अन्वयार्थ :- [यः जानाति] जो जानता है **[सः ज्ञानं]** सो ज्ञान है (अर्थात् जो ज्ञायक है वही ज्ञान है), **[ज्ञानेन]** ज्ञानके द्वारा **[आत्मा]** आत्मा **[ज्ञायकः भवति]** ज्ञायक है **[न]** ऐसा नहीं है। **[स्वयं]** स्वयं ही **[ज्ञानं परिणमते]** ज्ञानरूप परिणमित होता है **[सर्वे अर्थाः]** और सर्व पदार्थ **[ज्ञानस्थिताः]** ज्ञानस्थित हैं।

टीका :- आत्मा अपृथग्भूत कर्तृत्व और करणत्वकी शक्तिरूप पारमैश्वर्यवान होनेसे जो स्वयमेव जानता है (अर्थात् जो ज्ञायक है) वही ज्ञान है; जैसे-जिसमें साधकतम उष्णत्वशक्ति अन्तर्लीन है, ऐसी स्वतंत्र अग्निके दहनक्रियाकी प्रसिद्धि होनेसे उष्णता कही जाती है। परन्तु ऐसा नहीं है कि जैसे पृथग्वर्ती हँसियेसे देवदत्त काटनेवाला कहलाता है उसीप्रकार (पृथग्वर्ती) ज्ञानसे आत्मा जाननेवाला (-ज्ञायक) है। यदि ऐसा हो तो दोनोंके अचेतना आजायेगी और दो अचेतनोंका संयोग होने पर भी ज्ञप्ति उत्पन्न नहीं होगी। आत्मा और ज्ञानके पृथग्वर्ती होने पर भी यदि आत्माके ज्ञप्ति होना माना जाये तो परज्ञानके द्वारा परको ज्ञप्ति होजायेगी और इसप्रकार राख इत्यादिके भी ज्ञप्तिका उद्भव निरंकुश होजायेगा। ('आत्मा और ज्ञान पृथक् हैं किन्तु ज्ञान आत्माके साथ युक्त होजाता है इसलिये आत्मा जाननेका कार्य करता है' यदि ऐसा माना जाये तो जैसे ज्ञान आत्माके साथ युक्त होता है, उसीप्रकार राख, घड़ा, स्तंभ इत्यादि समस्त पदार्थोंके साथ युक्त होजाये और उससे वे सब पदार्थ भी जाननेका कार्य करने लगें; किन्तु ऐसा तो नहीं होता, इसलिये आत्मा और ज्ञान पृथक् नहीं हैं।) और, अपनेसे अभिन्न ऐसे समस्त ज्ञेयाकाररूप परिणमित जो ज्ञान है उसरूप स्वयं परिणमित होनेवालेको, कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारोंके कारणभूत समस्त पदार्थ ज्ञानवर्ती ही कथंचित् हैं। (इसलिये) ज्ञाता और ज्ञानके विभागकी क्लिष्ट कल्पनासे क्या प्रयोजन है ?।।३५।।

`अब आत्मा और ज्ञान का कर्तृत्व-करणत्वकृत भेद दूर करते हैं...'** आ..हा..हा...! (अर्थात्) आत्मा कर्ता और ज्ञान - करण के द्वारा जानते हैं, ऐसा भेद दूर करते हैं, आहा..हा...! है (पाठ में) ? **`अब आत्मा और ज्ञान का कर्तृत्व-करणत्वभेद दूर करते हैं (अर्थात् परमार्थतः अभेद आत्मा में, `आत्मा ज्ञातृक्रिया का कर्ता है और ज्ञान करण है' ऐसा व्यवहार से भेद किया जाता है,...'** आ..हा..हा...! यह वस्तु ! सिद्धांत तो देखिये ! भाई ! आहा...! **`...तथापि आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं है इसलिये अभेदनय से `आत्मा ही ज्ञान है'...)' (अर्थात्) आत्मा ही जानता है। आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है, ऐसा नहीं, आहा..हा...! यह ३५ गाथा (में) कहते हैं।

`जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।'** आहा..हा...! **`ण हवदि णाणेण जाणगो' अर्थात् ज्ञान के द्वारा जानते (हैं), ऐसा नहीं। (जो) जाने वह स्वयं ज्ञान है। **`णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे।'**

नीचे हरिगीत :-

जे जाणतो ते ज्ञान, नहि जीव ज्ञानथी ज्ञायक बने।
पोते प्रणमतो ज्ञानरूप, ने ज्ञानस्थित सौ अर्थ छे।।३५।।

(किसी को ऐसा लगे) ऐसा जैनदर्शन का मार्ग ! ऐसा जैनधर्म होगा !? वेदांती बड़ी बड़ी बातें कहते हैं - `आत्मा सर्वव्यापक है। आत्मा और आत्मा का अनुभव ऐसे भेद कहाँ है ?' (ऐसे) कहते हैं। यहाँ कहते हैं कि, आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है - ऐसा भेद कहाँ है ? आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है, आत्मा ही जाननेवाला है। आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है, ऐसा भी भेद यहाँ (तो) नहीं। आ..हा..हा...! समझ में आया? ऐसी बातें हैं, लीजिये...!

टीका :- **`आत्मा अपृथग्भूत कर्तृत्व और करणत्व की शक्तिरूप...'** यानी कर्ता और साधन दोनों आत्मा में ही हैं। साधन ज्ञान और कर्ता आत्मा (या) आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है, ऐसा नहीं। आत्मा अपृथक नाम भिन्न नहीं, ऐसा कर्तृत्व और करण (माने) साधन (की) शक्तिरूप **`...पारमेश्वर्यवान होने से...'** आ..हा..हा...! (आत्मा) ज्ञान का कर्ता (है) और ज्ञान(रूप) करण (है), ऐसा भेद नहीं। आत्मा में ही कर्ता और करण शक्ति पड़ी हैं। आहा...! (आत्मा) ही ज्ञान का कर्ता (है) और ज्ञायक (ही) जानता है, यह उसकी करण और कर्ता शक्ति अपने में पड़ी है। ज्ञान के

द्वारा (आत्मा) जानता है, ऐसा भेद उसमें नहीं, (वैसे कहते हैं) आहा..हा...! बहुत सूक्ष्म...! है ?

राग के द्वारा जानता है ऐसा तो नहीं, देव-गुरु-शास्त्र से जानता है वह तो नहीं,... आ..हा..हा...! सूत्र के ज्ञान से जानता है वैसा तो नहीं, परंतु आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है - अपने ज्ञान के द्वारा जानता है, वैसा भेद (भी) नहीं। क्योंकि कर्ता और करण दोनों गुण आत्मा में पड़े हुए ही हैं। इसलिये उसे करण भिन्न है, ऐसा नहीं, आहा..हा...! ऐसा सूक्ष्म है ! आ..हा..हा...!

श्रोता :- आप हमें तिलक कर दें !

पूज्य गुरुदेवश्री :- यह बात कोई तिलक करने से मिले वैसी है ? आहा..हा...!

वहाँ (३४ गाथा में) तो ऐसा कहा था कि, ज्ञान-ज्ञप्ति से आत्मा को जानता (है)। अब, यहाँ कहते हैं कि, आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है (यानी कि) आत्मा कर्ता और ज्ञान करण - साधन के द्वारा (जानता है), ऐसा भेद भी उसमें नहीं। अपने में ही (कर्ता) और करण शक्ति है। आत्मा ही कर्ता (है) और आत्मा ही आत्मा के द्वारा जाननेवाला (है)। सूक्ष्म बातें हैं, बापू ! कुछ समझ में आया ?

(कहते हैं कि) 'आत्मा अपृथग्भूत कर्तृत्व और करणत्व की शक्तिरूप पारमेश्वर्यवान होने से...' (पारमेश्वर्यवान अर्थात्) परम सामर्थ्य, परमेश्वरता। ऐसा परम सामर्थ्यवान प्रभु है। स्वयं ही जाननेवाला और स्वयं ही जानने की क्रिया का साधन, आहा..हा...! समझ में आया ? धीरे से तो कहते हैं।

श्रोता :- साहब ! आपका यह कुछ याद रहता नहीं, भूल जाते हैं !

समाधान :- यह पढ़ाई कितनी याद रहती (है) !

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु ! एकबार सुन तो सही ! आहा..हा...! आत्मा राग के द्वारा तो जानने में आता नहीं, शास्त्रज्ञान के द्वारा जानने में आता नहीं परंतु ज्ञान के द्वारा जाने ऐसा भेद भी उसमें नहीं, आहा..हा...! है ?

आत्मा भिन्न नहीं ऐसा कर्तृत्व और करणत्व (शक्तिरूप)। अपृथग्भूत अर्थात् भिन्न नहीं - पृथक नहीं। (अर्थात्) आत्मा से कर्तृत्व, करणत्व पृथक नहीं। अर्थात् आत्मा कर्ता और ज्ञान करण, ऐसा नहीं। (आत्मा) कर्ता और करण की शक्तिरूप पारमेश्वर्यवान है, स्वयं ही वैसी शक्तिवान है।

(अब कहते हैं) **`...जो स्वयमेव जानता है...'** ज्ञान के द्वारा जानता है, ऐसे नहीं। स्वयमेव जानता है। आहा..हा...! ऐसा है। **`...(अर्थात् जो ज्ञायक है)...'** यह ज्ञायक -जाननेवाला ही है। ज्ञान के द्वारा जानता है, वैसे नहीं। यह जाननेवाला ही है। ऐसा भेद...! आत्मा कर्ता और ज्ञान करण-उनके द्वारा आत्मा जानता है, वैसा नहीं। आहा..हा...! समझ में आया ?

श्रोता :- तो फिर क्या भेद है ?

समाधान :- भेद है ही नहीं। भेद से कथन (किया) है। वस्तु में भेद है ही नहीं। गुण-गुणी (का) भेद नहीं तो फिर कर्ता और करण का भेद कहाँ है !

श्रोता :- स्वरूप भेद से भेद तो है न ?

समाधान :- यह तो गुण का भेद मानों तो व्यवहार से है। निश्चय से गुण और गुणी दोनों एक ही अभेद हैं। आहा..हा...! काम भारी, भाई ! ओहो...! ऐसा उपदेश अब ! यह तो किस प्रकार का होगा !! बापू ! भगवान के घर का यह है। समझ में आया ? प्रत्येक पंक्ति में कितना भरा पड़ा है !!

श्रोता :- आप भाव भी वैसे निकालते हैं न !!

पूज्य गुरुदेवश्री :- उसमें है...!

भगवानआत्मा ! उससे भिन्न नहीं (ऐसा) कर्तृत्व और करणत्व (अर्थात्) कर्ता और साधन दोनों भिन्न नहीं, वैसी कर्तृत्व और करणत्व की शक्तिरूप ही स्वयं है। ऐसा पारमेश्वर्यवान स्वयं है ! आ..हा..हा...! ऐसा परम सामर्थ्य और परमेश्वरता होने से **`...जो स्वयमेव जानता है...'** (अर्थात्) ज्ञायक है इसलिये स्वयमेव जानता है। **`...वही ज्ञान है...'** आत्मा सो ही ज्ञान है, ऐसे। (जो) स्वयमेव जानता है वही ज्ञान है। आत्मा भिन्न और ज्ञान भिन्न, ऐसा है नहीं। आहा..हा...! ऐसी बातें अब !

`...जैसे-जिसमें साधकतम उष्णत्वशक्ति अंतर्लीन है,...'** (ऐसा) अग्नि। साधकतम (नीचे अर्थ) है ? `उत्कृष्ट साधन वह करण।', उत्कृष्ट साधनतम। - (पाठ में) `साधकतम' है न ? साघकतम (अर्थात्) उत्कृष्ट साधन। (साधकतम) उष्णत्व शक्ति जिसमें (अर्थात्) अग्नि में उष्णत्वशक्ति लीन है। अग्नि में उष्णत्व शक्ति लीन है, `...ऐसी स्वतंत्र अग्नि के...' (स्वतंत्र का अर्थ) जो स्वतंत्ररूप करे सो कर्ता (ऐसी) अग्नि के **`...दहनक्रिया की प्रसिद्धि...' (दहनक्रिया अर्थात्) अग्नि जलाने की क्रिया करती होने से अग्नि को

उष्णता अर्थात् गरमी कहने में आता है। अग्नि उष्णता के द्वारा जलाती है, ऐसा नहीं। अग्नि स्वयं ही जलाती है, वैसा कहते हैं। उष्णता और गरमी दोनों भिन्न नहीं। आ..हा..हा...! धीरे-धीरे समझने की बातें हैं, बापू !

`...जैसे-जिसमें साधकतम उष्णत्वशक्ति...'** (अर्थात्) अग्नि में साधकतम उष्णत्वशक्ति (है)। ऐसी (उष्णशक्ति) अग्नि में अंतर्लीन है। **`...ऐसी स्वतंत्र अग्नि के...' (अर्थात्) अग्नि के इस प्रकार की दहनक्रिया की प्रसिद्धि होने से उष्णता-गरमी कहने में आती है। उष्णता भिन्न (है, ऐसा नहीं)। अग्नि ही गरम है, आहा...! अग्नि ही उष्णतास्वरूप है। है ? (वैसे स्वतंत्र अग्नि को, दहनक्रिया की) **`...प्रसिद्धि होने से उष्णता कही जाती है,...'** अग्नि को उष्णता कही जाती है। वैसे ज्ञायक सो ज्ञान है।

अब (ऐसा सिद्ध करते हैं कि) ज्ञायक ज्ञान के द्वारा जानता (है, ऐसा नहीं)। परंतु ज्ञायक स्वयं ही ज्ञान है। (जैसे) उष्णता स्वयं ही अग्नि है (वैसे)। आहा..हा...! जैसे उष्णता के द्वारा अग्नि गरम है, वैसा नहीं। उष्णता ही गरमी है, गरमी ही अग्नि है,... गरमी ही अग्नि है। वैसे (ज्ञायक) ज्ञान के द्वारा जानता है, ऐसा नहीं। आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है। अरे...! ऐसा फर्क...! समझ में आया ?

(अब दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं)। **`परंतु ऐसा नहीं है कि जैसे पृथग्वर्ती हँसियेसे देवदत्त काटनेवाला कहलाता है...'** आहा..हा...! `देवदत्त' नामक मनुष्य हँसिये के द्वारा काटता है, वैसे नहीं। आहा..हा...! **`...उसीप्रकार (पृथग्वर्ती) ज्ञान से आत्मा जाननेवाला (-ज्ञायक) है।'** इसप्रकार आत्मा से ज्ञान भिन्न है और ज्ञान के द्वारा जानता है, (वैसा नहीं)। जैसे वो (देवदत्त) हँसिये के द्वारा काटता है, वैसे यह ज्ञान के द्वारा जानता है, वैसा भेद नहीं। आहा...! जाननेवाला ही ज्ञायक है। आत्मा जाननेवाला ही ज्ञानस्वरूप है, आहा..हा...! यह ज्ञान का अधिकार है न ! आहा..हा...! क्या कहा ?

जिस प्रकार अग्नि उष्णता के द्वारा जलाती है - ऐसा न कहते हुए अग्नि स्वयं उष्णतास्वरूप है। इसलिये अग्नि ही गरमी है, अग्नि ही गरम है। उष्णता के द्वारा गरम है, वैसा नहीं। अग्नि स्वयं ही गरम है। इसप्रकार आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है, वैसा नहीं। जैसे `देवदत्त' नामक मनुष्य हँसिये के द्वारा काटता है, ऐसे आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है, वैसा नहीं। आहा..हा...! ऐसा उपदेश अब...!

`...ज्ञान से आत्मा जाननेवाला (-ज्ञायक) है। यदि ऐसा हो तो दोनों के अचेतनता

आजायेगी...' क्या कहते हैं ? आत्मा ज्ञान के द्वारा (जानता है)-ऐसा भेद करें तो ज्ञान आत्मा से भिन्न हो गया और आत्मा ज्ञान से भिन्न रह गया। (तो) दोनों अचेतन हुए। सूक्ष्म बात है, बापू ! यह तो न्यायमार्ग है न ! Logic से सिद्ध करते हैं। उस प्रकार वैसे ही मानना, यह वस्तु नहीं। उस प्रकार वैसे मानेगा तो आगे दूसरा कोई कुछ कहेगा तो बदल जायेगा। (उस) वास्तविक तत्त्व को Logic-न्याय से समझेगा तो बदलेगा नहीं। आहा..हा...!

जैसे उष्णता अग्नि में अंतर्लीन है, उष्णता भिन्न और अग्नि भिन्न हो तो यह अग्नि उष्णता रहित और उष्णता अग्नि रहित भिन्न हो जाय। वैसे भगवानआत्मा ! हँसिये के द्वारा जैसे `देवदत्त' काटता है, ऐसा (आत्मा) ज्ञान के द्वारा जानता है और आत्मा जाननेवाला भिन्न है - वैसा यदि कहा जाय तो दोनों अचेतन हो जायेंगे। ज्ञान में आत्मा नहीं रह पायेगा और आत्मा में ज्ञान नहीं रह पायेगा। ऐसा है ! आहा..हा...! वस्तु की स्थिति इसप्रकार है। उसकी इस प्रकार पहचान कराते हैं। यदि ऐसा यथार्थ ज्ञान नहीं किया तो उसे वास्तविक ज्ञान होगा नहीं। वास्तविक ज्ञान न हुआ तो अज्ञान (चालू) रहेगा और भटककर मर जायेगा। आहा..हा...!

(दोनों को अचेतनपना आ जाये वैसा कहा तो) दोनों को किसे ? आत्मा और जाननेवाला। आत्मा ही ज्ञायक है। परंतु पृथग्वर्ती ज्ञान के द्वारा आत्मा जाननेवाला है, वैसा नहीं। आत्मा ही जाननेवाला है। आहा..हा...! प्रत्येक शब्द में कितना भरा पड़ा है ! **`...हँसिये से देवदत्त काटनेवाला कहलाता है उसीप्रकार (पृथग्वर्ती) ज्ञान से आत्मा जाननेवाला है। यदि ऐसा हो तो दोनों के अचेतनता आजायेगी...**' (अर्थात्) ज्ञान भिन्न और आत्मा भिन्न-(यदि ऐसा हो) तो आत्मा रहित ज्ञान (हुआ) तो आत्मा अचेतन हो जायेगा। और आत्मा रहित ज्ञान अचेतन हो जायेगा।

श्रोता :- यहाँ तो बराबर कहते हैं परंतु कहाँ तक ज्ञान में बराबर रहता है, यह सोचने की बात है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह कैसे याद रहता है ? किसी ने गाली दी हो तो कैसे याद रहता है ? पच्चीस साल तक याद रखे कि, फलाने की शादी में उसका दामाद आया हो और ठीक वक्त पे ऐसा (कह दिया हो कि) `आप तो कुछ भी समझते ही नहीं !' ऐसा यदि कहा तो पच्चीस साल तक याद रखे कि, `मेरे ससुर

ने मुझे लड़की की शादी में या लड़के के साले की शादी में मुझे ऐसा कहा था!!' गाली याद रहती है तो यह गुण क्यों नहीं याद रहे ? यह तो न्याय की (बात है न) ! आहा..हा...!

`बोटाद' के पास `खलह' गाँव है, वहाँ का किस्सा है। वहाँ एक साला-बहनोई थे। (जाति के) काठी (राजपूत) थे। ऐसे में बहनोई ने साले को किसी समय कुछ कह दिया होगा। यह उसने याद रखा। ऐसे में (एक दिन साला) छुरा लेकर (गया)। उसका बहनोई खाने बैठा था। उसकी बहन खाना पकाती थी। यह (बहनोई को) कुछ ख़बर नहीं थी। (उसने कहा) `आइये, आइये...! आपा आइये !' वह वहाँ गया, (तब) उसके साले ने छुरा भोंक दिया !! पहले कुछ शब्द कहे होंगे। वह अपमान याद करके (मार डाला)। सगे बहनोई को ! बहन बैठी थी, रसोई बनाती थी (और) यह खा रहा था। छुरा लेकर गया, उसे मालूम न हो (इस तरह), साथ में बैठा (और छुरा भोंक दिया) ! आहा..हा...! वह बात याद रखता है, जबकि यह बात याद रखने जैसी है, यह याद नहीं रखे ! आहा..हा...!

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं कि, आत्मा का कर्ताज्ञान, और करण-ज्ञान, यह उसकी अपनी शक्ति है। ज्ञान का कारण है इसलिये जाने, वैसा नहीं। करण तो अपनी शक्ति है। कर्ता भी शक्ति है और करण शक्तिवाला प्रभु परमेश्वर है। वह स्वयं ही ज्ञायक है। ज्ञान के द्वारा जानता है, ऐसा नहीं है। स्वयं ही ज्ञायक है। वह ज्ञान से जानता है अर्थात् आत्मा से जानता है। आहा..! इसमें फेरफार क्या है ? भेद पड़ा वह विरोध है, (ऐसा) कहते हैं। क्योंकि यदि आत्मा और ज्ञान दो भिन्न पड़े तो ज्ञान आत्मा रहित रहे तो अचेतन हो जाय। कहिये ! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं ! ऐसा उपदेश कभी भी कोई उपाश्रय में नहीं होता, देरासर में (सुनने) मिले नहीं !

श्रोता :- आत्मा और ज्ञान अभेद हैं (ऐसा कहना है) ?

समाधान :- भेद नहीं। आत्मा स्वयं ही ज्ञानस्वरूप है। (श्रोता :- ज्ञान और आत्मा एक ही है)। जैसे अग्नि और उष्णता एक है, वैसे (ज्ञान और आत्मा) एक ही है। आहा..हा...!

यहाँ तो इतना सिद्ध करते हैं कि, यह आत्मा वस्तु (है) और उसका ज्ञानगुण

(है) तो आत्मा वह गुण के द्वारा जानता है, वैसा भी उसमें नहीं। वह स्वयं ही ज्ञानस्वरूप है, वह ज्ञायक है। वह ज्ञायक है सो जानता है (यानी कि) आत्मा जानता है। ज्ञान के द्वारा जानता है वैसा नहीं कहकर आत्मा जानता है। अरे... ऐसे भेद ! आहा..हा...!

यदि ऐसा न हो तो ज्ञान और आत्मा दोनों भेद-अलग पड़ जाये। भेद पड़ने पर, आत्मा ज्ञानस्वरूप है ऐसा न मानो तो ज्ञान से भिन्न हुआ आत्मा भिन्न हो जाय, तो आत्मा ज्ञान रहित अचेतन हो जायेगा। (और) ज्ञान आत्मा रहित (होनेपर) यह ज्ञान अचेतन हो जायेगा। ऐसा मार्ग है, बापू ! वीतराग तीनलोक के नाथ चैतन्य को सिद्ध करते हैं, प्रभु ! आहा...!

जैसे अग्नि उष्णस्वरूप ही है, अग्नि उष्णता के द्वारा जलाती है, वैसा नहीं। अग्नि स्वयं ही गरम है वह जलाती है। ऐसे आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है, वैसा नहीं। आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है अतः आत्मा ज्ञायक है और जाननेवाला है, आहा..हा...!

(कहते हैं) `...दोनों को अचेतनता आ जायेगी...' किसे ? ज्ञान को और आत्मा को। `...और दो अचेतनों का संयोग होने पर भी ज्ञप्ति उत्पन्न नहीं होगी।' (अर्थात्) जानने की क्रिया उत्पन्न नहीं होगी, आ..हा..हा..हा...! ज्ञप्तिक्रिया के द्वारा आत्मा को जानता है, यह सिद्ध करने (यह न्याय देते हैं)। आहा..हा...! भगवानआत्मा अपने भावश्रुतज्ञान (के द्वारा) जानता है। परंतु कहते हैं कि, यह ज्ञान स्वयं ही ज्ञायक है इसलिये जानता है। समझ में आया ?

बापू ! (यह तो) वीतरागवाणी है, भाई ! जिनेश्वरदेव तीनलोक का नाथ (जो बात कहे) क्या वह सामान्य बात होगी ? जिन्हें इन्द्रगण सुनने आते हैं, जिन्हें गणधर-चार ज्ञान के स्वामी सुनते हैं ! यह बात कैसी होगी !! वो चिड़िया लाई चावल का दाना, नर चिड़ा लाया मूंग का दाना, उनकी बनाई खिचड़ी, वह कुम्हार को दी, और कुम्हार ने घड़ा बनाया... कुम्हार ने घड़ा दिया और घड़े का खजूर दिया...! ये बचपन में बातें करते थे ! (उसके जैसी भगवान की वाणी होगी ?) बापू ! ये सभी कथाएँ (हैं), आहा..हा...! (जब) यह तो धर्मकथा (है) !! तीनलोक के नाथ (यह बात फरमाते हैं) !!

आत्मा और (ज्ञान)गुण भिन्न माने तो दोनों अचेतन हो जायेंगे। इसलिये आत्मा ज्ञानस्वरूप है। अग्नि और उष्णता भिन्न मानने में आये तो अग्नि और उष्णता भिन्न

रहते नहीं। अग्नि उष्ण नहीं रह पायेगी और उष्णता में अग्नि नहीं रह पायेगी, आ..हा..हा...! सूक्ष्म है, बापू ! (परंतु) अपूर्व बात है !! आहा...!

(यहाँ कहते हैं) **`...दो अचेतनों का संयोग होनेपर...'** क्या कहा यह ? कि, ज्ञान और आत्मा को भिन्न मानने से, ज्ञान रहित आत्मा अचेतन (हो जाय) और आत्मा ज्ञान रहित अचेतन (हो जाय)। इस प्रकार दो का संयोग होनेपर (यानी कि) अचेतन का संयोग होनेपर भी जड़ (ही) होगा। आ..हा..हा...! (दो अचेतनों का संयोग) **`...होने पर भी ज्ञप्ति उत्पन्न नहीं होगी।'** (अर्थात्) जानने की क्रिया होगी नहीं, आहा..हा...! जाननेवाला आत्मा और जाननेवाला ज्ञान - वे दो भिन्न हो तो दो अचेतन हो गये। और दो अचेतन के संयोग में जानने की क्रिया नहीं होगी। आहा..हा...!

(अब कहते हैं) **`आत्मा और ज्ञान पृथग्वर्ती होने पर भी...'** (अर्थात्) आत्मा और ज्ञान भिन्न होनेपर भी, **`...यदि आत्मा के ज्ञप्ति होना माना जाये तो परज्ञान के द्वारा पर को ज्ञप्ति होजायेगी...'** आ..हा..हा...! क्या कहते हैं ? कि, ज्ञान और आत्मा दो भिन्न माने तो दो अचेतन हुए। दो अचेतन के संयोग से ज्ञप्तिक्रिया होती नहीं और संयोग होता नहीं। और **`आत्मा और ज्ञान के पृथग्वर्ती होने पर भी यदि आत्मा के ज्ञप्ति होना माना जाये तो परज्ञान के द्वारा पर को ज्ञप्ति होजायेगी...'** (अर्थात्) राख और घड़े में भी ज्ञान का संधान हो जायेगा ! आहा..हा...! **`...परज्ञान के द्वारा पर को ज्ञप्ति होजायेगी और इसप्रकार राख इत्यादि के भी ज्ञप्ति का उद्‌भव निरंकुश होजायेगा।'** तो राख में भी जानने की क्रिया होगी। ज्ञान भिन्न और आत्मा भिन्न वैसा माने तो वह ज्ञान राख में प्रविष्ट हो, दो का संयोग होनेपर राख में भी ज्ञान का संयोग होगा, तो राख भी जानने लगे ! सूक्ष्म बहुत, बापू ! आहा..हा...!

आत्मा (का)-वस्तु स्वरूप क्या है ? यह भगवान ने (जो) देखा सो यहाँ सिद्ध करते हैं। यह जानने की क्रिया ज्ञान के द्वारा हुई है और आत्मा के द्वारा नहीं (हुई है) तो ये सब भेद पड़ते हैं। आहा...! और भेद पड़ने से दोनों अचेतन हो जाते हैं। और अचेतन होनेपर दोनों के संयोग होनेपर भी जानने की क्रिया होती नहीं। क्यों ? (क्योंकि) जैसे राख को ज्ञान का संयोग हो तो ज्ञप्तिक्रिया वहाँ होनी चाहिये। आत्मा के साथ (ज्ञान जुड़कर) जैसे ज्ञप्तिक्रिया हो और जानना हो तो राख के साथ भी (ज्ञान का) संधान हो जाय तो राख भी जानने का (कार्य) करे। है

(अंदर) ? आहा...! **`...राख इत्यादि के भी ज्ञप्ति का उद्‌भव निरंकुश होजायेगा।'**

`(`आत्मा और ज्ञान पृथक हैं किन्तु ज्ञान आत्मा के साथ युक्त होजाता है इसलिये आत्मा जानने का कार्य करता है' यदि ऐसा माना जाये तो जैसे ज्ञान आत्मा के साथ युक्त होता है, उसीप्रकार राख, घड़ा, स्तंभ इत्यादि समस्त पदार्थों के साथ युक्त हो जाये...)' आत्मा के साथ युक्त हो सो ज्ञान भिन्न है (इसलिये) जड़ के साथ भी युक्त हो। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं ! ओ..हो..हो...! राग से तो भिन्न (है) परंतु यदि ज्ञान से भी भिन्न माना जाये तो दोनों भिन्न भिन्न अचेतन हो जायेंगे। और दो भिन्न इकट्ठे होकर भी अचेतन ही रहेंगे। और जब तो फिर ज्ञान, जड़ राख के साथ युक्त हो जाये, स्तंभ के साथ युक्त हो जाये तो वहाँ भी ज्ञप्तिक्रिया हो जायेगी ! समझ में आया ? क्या कहा यह ?

जानने का गुण और आत्मा - दो बिलकुल भिन्न हो और युक्त होकर कार्य करे जब तो ज्ञान जिसप्रकार आत्मा के साथ युक्त होता है, वैसे ज्ञान राख के साथ, स्तंभ के साथ, घड़े के साथ युक्त होता है। तो वहाँ भी निरंकुश ज्ञान होता है। अंकुश रहित जानने का कार्य वहाँ भी होता है। ऐसा सूक्ष्म है। (कोई) कहता था कि कहाँ तक ऐसा सूक्ष्म (आयेगा) ? कहाँ तक क्या, वैसे सुना नहीं ! भाई ! मार्ग न्यारा... बापू ! आहा..हा...! अरे...! भगवान का कहा कथन क्या है ? कोई अलौलिक है !! उनकी सूक्ष्म बातें, अपूर्व बातें, जिन्होंने सुनी नहीं ! आहा...! कहते हैं कि, एक बार सुन तो सही प्रभु !

यदि आत्मा ज्ञान के द्वारा जाने; (अर्थात्) जैसे `देवदत्त' हँसिये के द्वारा कार्य करता है - वैसे आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है तो दोनों भिन्न हो गये, और ज्ञान भिन्न और आत्मा भिन्न (हो गयें)। तो फिर ज्ञान और आत्मा दोनों अचेतन हुए। और दो अचेतनों के संयोग होनेपर ज्ञप्तिक्रिया होगी नहीं। यह (ज्ञप्तिक्रिया) नहीं होनेपर, जैसे भिन्न ज्ञान आत्मा के साथ युक्त होता है, वैसे ज्ञान राख के साथ भी युक्त होगा, स्तंभ के साथ भी युक्त होगा, इस लकड़ी के साथ भी युक्त होगा, तो वहाँ भी जानने की क्रिया उत्पन्न होगी। परंतु ऐसा है नहीं। ऐसा सूक्ष्म है ! आ..हा..हा...! ऐसा उपदेश (कैसा) ? बापू ! तुझे ख़बर नहीं।

ज्ञानस्वरूप ही प्रभु है, यह ज्ञायकस्वरूप है, ज्ञायक है। वह ज्ञान के द्वारा जानता

है, ऐसा नहीं। वह जाननेवाला... जाननेवाला जानता है, आहा..हा...! ऐसा (वस्तु का स्वरूप) प्रभु को सिद्ध करना है !! समझ में आया ? आहा...! `(`**आत्मा और ज्ञान पृथक हैं किन्तु ज्ञान आत्मा के साथ युक्त हो जाता है इसलिये आत्मा जानने का कार्य करता है' यदि ऐसा माना जाये तो जैसे ज्ञान आत्मा के साथ युक्त होता है, उसीप्रकार राख, घड़ा, स्तंभ, इत्यादि समस्त पदार्थों के साथ युक्त होजाये और उससे वे सब पदार्थ भी जानने का कार्य करने लगें; किन्तु ऐसा तो नहीं होता, इसलिये आत्मा और ज्ञान पृथक नहीं।**' आ..हा..हा...! कितना Logic-न्याय रखा है!! यह रंग लगाने की बात करते हैं ! आहा...! बापू ! ज्ञान और आत्मा का रंग एक है, आहा..हा...!

राग भिन्न है, शरीर भिन्न है, वाणी भिन्न है - ऐसे कोई ज्ञान और आत्मा भिन्न मान ले तो मेल-मिलाप होगा नहीं। आहा..हा...! आत्मा ही स्वयं ज्ञायक है इसलिये आत्मा ही जाननेवाला है। ज्ञान के द्वारा जानता है, वैसा नहीं। उसमें कर्तृत्व और करणत्वशक्ति अपने में पड़ी है। यानी पर के करण के द्वारा जानता है, ऐसा है नहीं। यह करणशक्ति अपने में है, कर्ताशक्ति अपने में है। आहा..हा...! समझ में आया ? ये नई-नई औरतें (बहनें), नये अनजान आये उन्हें ऐसा लगे कि, ये क्या कहते हैं !? बापू, तुझे ख़बर नहीं, भाई !

भगवानआत्मा...! ज्ञानस्वरूप ही है, (जैसे) अग्नि उष्णस्वरूप ही है। वैसे प्रभु ज्ञायकस्वरूप ही है। उसमें भी ज्ञान भिन्न और आत्मा भिन्न (ऐसा नहीं)। ज्ञान के द्वारा आत्मा जाने (या) आत्मा कर्ता और ज्ञान करण-(ऐसे दो) भेद पड़े वैसा नहीं। आत्मा करनेवाला और ज्ञान साधन-करण वैसा नहीं। यह कर्ता और करण(शक्ति) आत्मा का स्वयं का ही स्वरूप है। आहा..हा...! भारी बात..! (इसप्रकार आत्मा का और ज्ञान का भिन्नपना) होता नहीं। `(**...इसलिये आत्मा और ज्ञान पृथक नहीं हैं**)।'

अब, दूसरी बात करते हैं, `**...और अपने से अभिन्न ऐसे समस्त ज्ञेयाकाररूप...**' (अर्थात्) ज्ञान जिन ज्ञेयों को जानता है न ! वह ज्ञान ज्ञेयाकाररूप हुआ है, यह ज्ञानाकार है। आ..हा..हा...! `**...समस्त ज्ञेयाकाररूप परिणमित जो ज्ञान है उसरूप स्वयं परिणमित होनेवाले को, कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारों के कारणभूत समस्त पदार्थ ज्ञानवर्ती ही कथंचित् हैं।**' (अर्थात्) यह ज्ञान सब ज्ञेयाकारों को जानता है, अतः वह ज्ञेयाकार परिणमित ज्ञान - जैसे कि पर का ज्ञान है, (जैसे कि) पर उसमें प्रविष्ट हो गये !

वैसे कथंचित् (व्यवहार से) कहने में आता है। लोकालोक के ज्ञेयों का ज्ञान (होने से) यह ज्ञेयाकार जैसे कि ज्ञानाकार में आ गये हो ऐसा कथंचित् व्यवहार से कहने में आता है। वैसे वास्तव में तो ज्ञेय ज्ञेय में हैं और ज्ञान ज्ञान में है।

`**(इसलिये) ज्ञाता और ज्ञान के विभाग की क्लिष्ट कल्पना से क्या प्रयोजन है?**' (अर्थात्) यह जाननेवाला और जाननहार - वैसा विभाजन-भिन्न करने (की) क्लिष्ट कल्पना से क्या प्रयोजन ? विशेष कहेंगे...

❋ ❋ ❋

अथ किं ज्ञानं किं ज्ञेयमिति व्यनक्ति –

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं।।३६।।

तस्मात् ज्ञानं जीवो ज्ञेयं द्रव्यं त्रिधा समाख्यातम्।
द्रव्यमिति पुनरात्मा परश्च परिणामसंबद्धः।।३६।।

यतः परिच्छेदरूपेण स्वयं विपरिणम्य स्वतंत्र एव परिच्छिनत्ति ततो जीव एव ज्ञानमन्यद्रव्याणां तथा परिणन्तुं परिच्छेत्तुं चाशक्तेः। ज्ञेयं तु वृत्तवर्तमानवर्तिष्यमाणविचित्रपर्याय-परम्पराप्रकारेण त्रिधाकालकोटिस्पर्शित्वादनाद्यनन्तं द्रव्य।तत्तु ज्ञेयतामापद्यमानं द्वेधात्मपरविकल्पात्। इष्यते हि स्वपरपरिच्छेदकत्वादवबोधस्य बोध्यस्यैवंविधं द्वैविध्यम्।

ननु स्वात्मनि क्रियाविरोधात् कथं नामात्मपरिच्छेदकत्वम्। का हि नाम क्रिया कीदृशश्च विरोधः। क्रिया ह्यत्र विरोधिनी समुत्पत्तिरूपा वा ज्ञप्तिरूपा वा। उत्पत्तिरूपा हि तावन्नैकं स्वस्मात्प्रजायत इत्यागमाद्विरुद्धैव। ज्ञप्तिरूपायास्तु प्रकाशनक्रिययेव प्रत्यवस्थितत्वान्न तत्र विप्रतिषेधस्यावतारः। यथा हि प्रकाशस्य प्रदीपस्य परं प्रकाश्यतामापन्न प्रकाशयतः स्वस्मिन् प्रकाश्ये न प्रकाशकान्तरं मृग्यं, स्वयमेव प्रकाशनक्रियायाः समुपलम्भात्। तथा परिच्छेदकस्यात्मनः परं परिच्छेद्यतामापन्नं परिच्छिन्दतः स्वस्मिन् परिच्छेद्ये न परिच्छेदकान्तरं मृग्यं, स्वयमेव परिच्छेदनक्रियायाः समुपलम्भात्।

ननु कुत आत्मनो द्रव्यज्ञानरूपत्वं द्रव्याणां च आत्मज्ञेयरूपत्वं च। परिणामसंबन्धत्वात्। यतः खलु आत्मा द्रव्याणि च परिणामैः सह संबध्यन्ते, तत आत्मनो द्रव्यालम्बनज्ञानेन द्रव्याणां तु ज्ञानमालम्ब्य ज्ञेयाकारेण परिणतिरबाधिता प्रतपति।।३६।।

अथात्मा ज्ञानं भवति शेषं तु ज्ञेयमित्यावेदयति – **तम्हा णाणं जीवो** यस्मादात्मैवोपादानरूपेण ज्ञानं परिणमति तथैव पदार्थान् परिच्छिनत्ति, इति भणितं पूर्वसूत्रे, तस्मादात्मैव ज्ञानं। **णेयं दव्वं** तस्य ज्ञानरूपस्यात्मनो ज्ञेयं भवति। किम्। द्रव्यम्। **तिहा समक्खादं** तच्च द्रव्यं कालत्रयपर्यायपरिणतिरूपेण द्रव्यगुणपर्यायरूपेण वा तथैवोत्पादव्ययध्रौव्यरूपेण च त्रिधा समाख्यातम्। **दव्वं ति पुणो आदा परं च** तच्च ज्ञेयभूतं द्रव्यमात्मा भवति परं च। कस्मात्। यतो ज्ञानं स्वं जानाति परं चेति प्रदीपवत्। तच्च स्वपरद्रव्यं कथंभूतम्। **परिणामसंबद्धं** कथंचित्परिणामीत्यर्थः। नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह – ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात् घटादिवत्।

परिहारमाह-प्रदीपेन व्यभिचारः, प्रदीपस्तावत्प्रमेयः परिच्छेद्यो ज्ञेयो भवति न च प्रदीपान्तरेण प्रकाश्यते, तथा ज्ञानमपि स्वयमेवात्मानं प्रकाशयति न च ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यते। यदि पुनर्ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यते तर्हि गगनावलम्बिनी महती दुर्निवारानवस्था प्राप्नोतीति सूत्रार्थः । ।३६।।

अब, यह व्यक्त करते हैं कि ज्ञान क्या है और ज्ञेय क्या है :-

गाथा ३६

छे ज्ञान तेथी जीव ज्ञेय, त्रिधा कहेलुं द्रव्य छे।
अे द्रव्य पर ने आतमा, परिणामसंयुत जेह छे।।३६।।

अन्वयार्थ :- [तस्मात्] इसलिये **[जीवः ज्ञानं]** जीव ज्ञान है **[ज्ञेयं]** और ज्ञेय **[त्रिधा समाख्यातं]** तीन प्रकारसे वर्णित (त्रिकालस्पर्शी) **[द्रव्यं]** द्रव्य है। **[पुनः द्रव्यं इति]** (वह ज्ञेयभूत) द्रव्य अर्थात् **[आत्मा]** आत्मा (स्वात्मा) **[परः च]** और पर **[परिणामसम्बद्धः]** जोकि परिणाम वाले हैं।

टीका :- (पूर्वोक्त प्रकार) ज्ञानरूपसे स्वयं परिणमित होकर स्वतंत्रतया ही जानता है इसलिये जीव ही ज्ञान है, क्योंकि अन्य द्रव्य इसप्रकार (ज्ञानरूप) परिणमित होने तथा जाननेमें असमर्थ हैं। और ज्ञेय, वर्त, चुकी, वर्त रही और वर्तनेवाली ऐसी विचित्र पर्यायोंकी परम्पराके प्रकारसे त्रिविध कालकोटिको स्पर्श करता होनेसे अनादि अन्तत ऐसा द्रव्य है। (आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञेय समस्त द्रव्य हैं) वह ज्ञेयभूत द्रव्य आत्मा और पर (-स्व और पर) ऐसे दो भेदसे दो प्रकारका है। ज्ञान स्वपरज्ञायक है, इसलिये ज्ञेयकी ऐसी द्विविधता मानी जाती है।

(**प्रश्न**)**:-** अपनेमें क्रियाके हो सकनेका विरोध है, इसलिये आत्माके स्वज्ञायकता कैसे घटित होती है ?

(**उत्तर**) **:-** कौनसी क्रिया है और किस प्रकारका विरोध है ? जो यहाँ (प्रश्नमें) विरोधी क्रिया कही गई है वह या तो उत्पत्तिरूप होगी या ज्ञप्तिरूप होगी। प्रथम, उत्पत्तिरूप क्रिया तो 'कहीं स्वयं अपनेमेंसे उत्पन्न नहीं हो सकती' इस आगमकथनसे विरुद्ध ही है; परन्तु ज्ञप्तिरूप क्रियामें विरोध नहीं आता, क्योंकि वह, प्रकाशनक्रियाकी भाँति, उत्पत्तिक्रियासे विरुद्ध प्रकारसे (भिन्न प्रकारसे) होती है। जैसे जो प्रकाश्यभूत

परको प्रकाशित करता है ऐसे प्रकाशक दीपकको स्व प्रकाश्यको प्रकाशित करनेके सम्बन्धमें अन्य प्रकाशककी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसके स्वयमेव प्रकाशन क्रियाकी प्राप्ति है; उसीप्रकार जो ज्ञेयभूत परको जानता है ऐसे ज्ञायक आत्माको स्व ज्ञेयके जाननेके सम्बन्धमें अन्य ज्ञायक की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि स्वयमेव ज्ञान-क्रिया की प्राप्ति है। (इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान स्वको भी जान सकता है।)

(**प्रश्न**) **:-** आत्माको द्रव्योंकी ज्ञानरूपता और द्रव्योंको आत्माकी ज्ञेयरूपता कैसे (किसप्रकार घटित) है ?

(**उत्तर**) **:-** वे परिणामवाले होनेसे। आत्मा और द्रव्य परिणामयुक्त हैं, इसलिये आत्माके, द्रव्य जिसका आलम्बन हैं ऐसे ज्ञानरूपसे (परिणति), और द्रव्योंके, ज्ञानका अवलम्बन लेकर ज्ञेयाकाररूपसे परिणति अबाधितरूपसे तपती है-प्रतापवंत वर्तती है। (आत्मा और द्रव्य समय-समय पर परिणमन किया करते हैं, वे कूटस्थ नहीं हैं; इसलिये आत्मा ज्ञान स्वभावसे और द्रव्य ज्ञेय स्वभावसे परिणमन करता है, इसप्रकार ज्ञान स्वभावमें परिणमित आत्मा ज्ञानके आलम्बनभूत द्रव्योंको जानता है और ज्ञेय-स्वभावसे परिणमित द्रव्य ज्ञेयके आल्मबनभूत ज्ञानमें-आत्मामें ज्ञात होते हैं)।।३६।।

(**दिनांक ८-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-३३**)

'प्रवचनसार', ३६ गाथा। (३५वीं गाथा में) तो ऐसा कहा गया कि, आत्मा और ज्ञान अभेद है। आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है, ऐसा भेद नहीं करके आत्मा ही ज्ञायक है, जाननेवाला है - वैसी अभेद दृष्टि करना। आहा..हा...! राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव तो उससे भिन्न हैं किन्तु गुण-गुणी का भेद भी निकाल देना। आहा...! आत्मा गुणी और ज्ञान गुण, यह ज्ञानगुण के द्वारा जानता है, कर्ता आत्मा और करण-साधन ज्ञान, ऐसा भेद भी वहाँ करने जैसा नहीं, ओ..हो..हो...! ऐसा सूक्ष्म है !

यह तो ज्ञायक स्वरूप है। ज्ञायक है, यह जाननेवाला स्वयं अपने से जानता है। ज्ञान के द्वारा जाने और कर्ता आत्मा (ऐसे नहीं)। कर्ता-करण शक्ति ही उसकी

अपनी है। आहा..हा...! ऐसा सूक्ष्म है !

अब, केवलज्ञान को सिद्ध करते हुए (ऐसा कहते हैं कि), केवलज्ञानी भी ऐसे हैं और यह आत्मा भी वैसा है। आहा..हा...! आत्मा भी शरीर, वाणी, मन से भिन्न (है)। पुण्य-पाप के राग, दया, दान के विकल्प से भी भिन्न है। और वह ज्ञान के द्वारा जानता है इतना भी उसमें भेद नहीं, (ऐसा) कहते हैं। आहा..! आत्मा ही जाननेवाला है-ऐसी आत्मा की अंतरदृष्टि करना। जैसे केवलज्ञान का पर से कोई संबंध नहीं। पर को जानता है ऐसा कहना यह भी एक व्यवहार है। ऐसे यह भगवानआत्मा (को) राग, पुण्य, दया, दान, काम, क्रोध के विकल्प के साथ कोई संबंध नहीं। आहा..हा...! वह उसको जानता है। जाननेवाला केवलज्ञान समान प्रभु है ! उसे जानता है, इतना व्यवहार संबंध कहने में आता है। निश्चय से तो ज्ञायक ज्ञायक को जानता है, आहा..हा...!

अब यहाँपर कहते हैं, - **`...क्या ज्ञान है और ज्ञेय क्या है।**' ज्ञान और आत्मा दो अभिन्न कहें (तो) ज्ञान क्या (है) ? और जतानेयोग्य ज्ञेय क्या चीज़ है ? **`...यह व्यक्त करते हैं...**' प्रगट (करते हैं)। ३६ गाथा।

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं।।३६।।
छे ज्ञान तेथी जीव, ज्ञेय त्रिधा कहेलुं द्रव्य छे।
ए द्रव्य पर ने आतमा, परिणामसंयुत जेह छे।।३६।।

टीका :- `(पूर्वोक्त प्रकार) ज्ञानरूप से स्वयं परिणमित होकर...**' ऐसा (कहते हैं) कि, ज्ञान के द्वारा (आत्मा) जानता है ऐसा नहीं (परंतु) ज्ञानरूप स्वयं परिणमित होकर - वैसे। आहा..हा...! **`...स्वतंत्रतया ही जानता है इसलिये...' जीव ज्ञान के द्वारा (जानता) है ऐसे नहीं (परंतु) स्वयं ही जानता है, आहा...! **`...जीव ही ज्ञान है,...**' (अर्थात्) आत्मा ही ज्ञान है। ज्ञान माने यह शास्त्र के पन्ने (का) ज्ञान नहीं। जानने का जो स्वभाव है वह ज्ञान (है)। (और) वह जीव है। आहा..हा...! बीच में जो कोई राग, द्वेष, दया, दान, काम, क्रोध के परिणाम होते हैं - सो जीव नहीं, वे जीव में नही, ये जीव का स्वभाव नहीं, आहा..हा...! भगवानआत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। ऐसी बातें...!

`...क्योंकि अन्य द्रव्य इसप्रकार (ज्ञानरूप) परिणमित होने तथा जानने में असमर्थ

हैं।' क्या कहा वह ? आत्मा ही ज्ञान है, आहा..हा...! क्योंकि अन्य द्रव्य अर्थात् आत्मा रहित अन्य द्रव्य, इसप्रकार (अर्थात्) ज्ञानरूप परिणमित होने-जाननरूप होने में असमर्थ हैं। जैसे आत्मा ज्ञानरूप से परिणमित होता है वैसे परद्रव्य ज्ञानरूप से परिणमित होने और जानने में असमर्थ हैं। अन्य पदार्थ ज्ञानरूप से परिणमित होने और जानने में असमर्थ हैं। समझ में आया ? ज्ञान स्वयं स्वतंत्ररूप से जानने में समर्थ है, आहा..हा...! ज्ञान के द्वारा (जाने) इतना भेद भी जहाँ नहीं, आ..हा..हा...! ऐसा जो ज्ञान (है) सो आत्मा (है)। आहा...!

यहाँ तो जाननेवाला सो आत्मा (ऐसा कहना है)। ज्ञान के द्वारा जाने ऐसे भी नहीं - जाननेवाला सो आत्मा ! आ..हा...! और उस जाननेवाले को जाने, जाननेवाले को माने और जाननहार में स्थित हो - यह जिन की नीति है। आहा..हा...! लौकिक में जिसप्रकार नीति कहने में आती है - कोई आदमी सज्जन हो, परस्त्री का त्याग हो, ऐसे छल-प्रपंच आदि न करे - (वह) लौकिक सज्जन (कहलाते हैं)। लौकिकनीति यह तो संसार का कारण है। यह तो जिननीति (है) ! भाई ! आता है न ? '**जिननीति अलंघ्यं**' ! आहा..हा...!

वीतराग जिन की यह नीति है कि, स्वयं ज्ञानस्वरूपी, वीतरागस्वरूप है उसकी नीति। (अर्थात्) ज्ञानस्वरूप का श्रद्धान करे, ज्ञानस्वरूप को जाने और ज्ञानस्वरूप में स्थित हो - यह मोक्ष का मार्ग (है), यह जिन की नीति है। व्रत और तप और भक्ति के विकल्प हैं, वह जिननीति नहीं, आहा..हा...! समझ में आया ?

वह यहाँ कहते हैं कि, ज्ञानस्वरूप आत्मा (है)। अब ज्ञेय अर्थात् क्या ? कि, ज्ञेय (अर्थात्) वह स्वयं ज्ञेय है और परज्ञेय हैं। है ? (और ज्ञेय), '**...वर्त चुकी,...**' (अर्थात्) भूतकाल में बीत चुकी पर्यायें। '**...वर्त रही...**' (अर्थात्) वर्तमान में (वर्तती) पर्यायें। '**...और...**' भविष्य में '**...वर्तनेवाली ऐसी विचित्र पर्यायों की परंपरा के प्रकार से...**' 'विचित्र पर्याय' ! आ..हा..हा...! रागादि की पर्याय हो गई, ज्ञानपर्याय हो गई, वर्तमान में रागादि और ज्ञान की पर्याय होती है और भविष्य में जीव को रागादि और ज्ञान की पर्याय होगी और केवलज्ञानी को भविष्य में केवलज्ञान की पर्याय हो, आहा..हा...!

'**...ऐसी विचित्र पर्यायों की परंपरा के प्रकार से त्रिविध कालकोटि को स्पर्श करता होने से...**' (कौन ?) ज्ञान। (ज्ञान) सो द्रव्य। ज्ञान इसे जाने ऐसा ऐसा कहते

हैं। `...**त्रिविध कालकोटि को स्पर्श करता होने से अनादिअनंत ऐसा द्रव्य है।**' तीनकाल के प्रकार को स्पर्श करता है - ऐसी वस्तु (है)। अनंत अवस्थाएँ-पर्यायें बीत गई, पर्यायें वर्तती हैं और (भविष्य में) वर्तनेवाली-ऐसे तीनकाल की पर्याय को स्पर्शकरनेवाला द्रव्य। अरे.. अरे..! ऐसी बातें...! (अर्थात्) `(आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञेय समस्त द्रव्य हैं)।'

`...**वह ज्ञेयभूत द्रव्य आत्मा...**' (अर्थात्) ज्ञेय आत्मा और पर भी ज्ञेय (वैसे)। स्व और पर सो ज्ञेय हैं। क्या कहते हैं ? आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु है। और उनके ज्ञेय-तीनकाल की पर्यायें - बीत चुकी, वर्तमान और भविष्य - ऐसी पर्याय को स्पर्श करनेवाला जो द्रव्य - सो स्वद्रव्य (भी ज्ञेय) है। दोनों (ज्ञेय) हैं। स्वद्रव्य सो स्वज्ञेय है-ज्ञान उसे जानता है। और त्रिकाली पर्यायवाला परद्रव्य उसे भी जानता है। आ..हा..हा...! ऐसा सूक्ष्म है ! करने-धरने का इसमें कुछ नहीं, ऐसा कहते हैं। आहा..हा...!

`**विचित्र पर्यायों की परंपरा**' (ऐसा कहा है न ?) (अर्थात्) किसी की केवलज्ञान की पर्याय और किसी की मिथ्यात्व की पर्याय-ऐसी सब पर्यायों का समूह सो द्रव्य। आहा..हा...! वह (भी) द्रव्य और यह आत्मा भी द्रव्य। अपने ज्ञान में स्वज्ञेय को जानता है और परज्ञेय को जानता है। `जानना' यह उसका स्वरूप है। परद्रव्य का कुछ करना या परद्रव्य प्रति के लक्षवाला राग - यह उसका स्वरूप नहीं। परद्रव्य को जानना और स्वद्रव्य को जानना यह उसका स्वरूप नहीं। जानना-ऐसा व्यवहार सिद्ध करना है न (इसलिये वैसा कहा) समझ में आया ? आहा..हा...! पर की दया का पालन कर सके, पर का रक्षण कर सके, ऐसा आत्मा के ज्ञान में नहीं, आहा..हा...!

भगवान ज्ञानस्वरूप (है)। ज्ञान की प्रधानता से (ज्ञानस्वरूप कहलाता है)। वैसे अनंत गुण स्वरूप (है)। सुबह में (`समयसार' गाथा-९६ में) आया था न ? `बेहद शुद्ध चैतन्यधातु है।' भगवान तो बेहद-जिनके ज्ञान की सीमा नहीं, मर्यादा नहीं - ऐसा जिनका बेहद शुद्ध ज्ञान, चैतन्यधातु (स्वरूप) होनेपर भी उसे भूलकर अज्ञानी दया, दान के राग का कर्ता होता है और परद्रव्य मेरे हैं (ऐसा मानता है)। आ..हा..हा...! यह मेरा बेटा है और यह मेरी पत्नी है, यह मेरे पैसे हैं और यह मेरा मकान है - वैसे मूढ़जीव परद्रव्य को अपना मानकर, जानकर जो विकल्प करता है, वह अज्ञानी विकल्प का कर्ता है। आत्मा के ज्ञान का कर्ता नहीं। आहा..हा...! ऐसा गंभीर

स्वरूप है !!

यहाँ कहते हैं कि, `**...ज्ञेय, वर्त चुकी, वर्त रही और वर्तनेवाली ऐसी विचित्र पर्यायों की परंपरा के प्रकार से त्रिविध कालकोटि को स्पर्श करता होने से अनादिअनंत ऐसा द्रव्य है। (आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञेय समस्त द्रव्य हैं) वह ज्ञेयभूत आत्मा...**' (अर्थात्) ज्ञान में आत्मा भी जानने योग्य (है)। यह तो वीतराग की वाणी है, बापू! यह कोई साधारण कथा-कहानी नहीं, आहा..हा...! भगवानआत्मा ज्ञायक स्वरूप ही है। ज्ञान के द्वारा जानता है (ऐसा नहीं)। (परंतु) ज्ञायकस्वरूप है (इसलिये) आत्मा जाननेवाला जानता है। वह जानने में क्या जानता है ? त्रिकाली स्वयं का स्वरूप है उसे भी जानता है और त्रिकाली पर्यायों को स्पर्श करनेवाला (ऐसा पर)द्रव्य - अनंत परद्रव्यों को भी जानता है, आहा..हा...! केवलज्ञानी जो केवलज्ञान की पर्यायरूप परिणमित हुए हैं, उन्हें भी यह ज्ञान परज्ञेय की तरह जानता है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा...!

अपना स्वभाव ज्ञानस्वरूप है। सो ज्ञानस्वरुप प्रभु आत्मा के द्वारा स्व को जानता है और आत्मा के द्वारा पर को जानता है। जानने के दो द्रव्य-स्वद्रव्य और त्रिकाली अन्य परद्रव्य। आहा..हा...! यह जानने का व्यवहार संबंध व्यवहार से कहलाता है। परंतु `अपना' रूप मानना ऐसा संबंध स्वरूप में नहीं। ऐसा सूक्ष्म है ! कब निवृत्ति लेकर (इसे प्राप्त करे ?) जन्म-मरण का नाश करने का तो यह उपाय है। वैसे तो मरकर... भटककर... (चले जाने का) ! आहा..हा...!

ये अरबोंपति यहाँ सब ठाठ-माठ में रहते हैं किन्तु वे मरकर बापू...! (भटकने चले जायेंगे)। जिन्होंने राग और पुण्य के विकारी परिणाम को अपना माना है, उनका वह जाननेवाला है, ऐसा न मानकर, वे `मेरे हैं' वैसा माना है, यह जिन-नीति से बाहर-दूर निकल गया है। वह भटकने के पंथ में पड़ा है ! आहा..हा...! यह चौरासी के अवतार में कहाँ जाकर गिरेगा ? प्रभु !

यहाँ कहते हैं, प्रभु ! आत्मा भी तीनकाल की पर्याय को स्पर्श करनेवाला ऐसा स्वद्रव्य (है) उसे (भी) आत्मा जानता है और तीनकाल की पर्याय को स्पर्श करनेवाले ऐसे परद्रव्य (उन्हें भी आत्मा जानता है)। केवली भी परद्रव्य में शामिल ! भाई! आ..हा..हा...! केवलज्ञानी जो होते हैं, अनंत केवली, सिद्ध (हुए) वह केवलज्ञान की

पर्याय, पर की सब पर्याय, तीनकाल की पर्याय का समुदाय सो द्रव्य। ज्ञान उन द्रव्यों को जाने, आहा..हा...! किन्तु वे केवली मेरे हैं - वैसा (मानना) वस्तु के स्वरूप में नहीं। आहा...! तो फिर यह पत्नी, बच्चे, कुटुंब और पैसे-धूल-धानी वे मेरे और मैं उनका... (ऐसी बातें तो दूर की रही) !! अरे.. प्रभु ! मर गया तू, हाँ...! ज्ञानस्वरूपी प्रभु को तुने मारडाला !! आहा...! जाननेवाले को तुने कर्ता ठहराया! आ..हा..हा...!

प्रभु का जाननेवाले का जीवन (है)। जाननेवाले का (जाननरूप) प्रभु का-आत्मा का जीवन है। उसे पर के कर्तापने का जीवन मानकर, जाननेवाले का जीवन वह मैं नहीं, ऐसा (मानकर) आत्मा की हिंसा की है। प्रभु ! आ..हा..हा...! ऐसा मार्ग...!

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं - प्रभु ! तू जाननेवाला स्वयं (है)। ज्ञान के द्वारा जाननेवाला वैसे भी नहीं, आ..हा..हा...! 'ज्ञायक' सिद्ध करने का है न ! जाननेवाला भगवान स्वयं, यह अपने ज्ञान में अपनी तीनकाल की पर्याय सहित स्वद्रव्य को जानता है और तीनकाल की पर्याय को स्पर्श करनेवाले ऐसे दूसरे अनंत द्रव्यों को ज्ञान जानता है। यह आत्मा का ज्ञान होनेपर, वह ज्ञान स्व को जाने और पर को जाने, आ..हा..हा...! ऐसा यह जीव का-भगवान का स्वभाव है ! आहा..हा...! और यह जिननीति है। ज्ञान, ज्ञान को-आत्मा को जानता है और पर को जानता है। यह जानने का कार्य उसका (है)। इसप्रकार उसको मानने का और इसप्रकार स्थित होने का उसका (स्वरूप है)। आहा..हा...! ऐसी बातें सुनने मिले नहीं (इसलिये) ऐसा लगे कि, यह तो क्या होगा? बापू ! पंचमकाल के भी धर्मीजीव इसप्रकार के होते हैं, ऐसा कहते हैं। वरना उसे धर्म नहीं। आ..हा..हा...!

भगवानआत्मा जाननेवाला (है)। वह ज्ञान के (द्वारा जानता है ऐसे नहीं)। परंतु जाननेवाला (स्वयं है)। यह त्रिकाली स्व-स्वभाव है उसे जानता है और उसमें रागादि होते हैं उसे परद्रव्यरूप जानता है, आहा..हा...! और परद्रव्य जो शुद्धरूप परिणमित और अशुद्धरूप परिणमित पूरा द्रव्य जो है, उसे परद्रव्यरूप ज्ञान जानता है। स्वद्रव्यरूप अपने ज्ञायकभाव को जानता है। अरे...! ऐसी बातें हैं। मनुष्य को कहाँ फुरसत (मिलती है) ? भाई ! जन्म-मरण रहित (होने का) पंथ कोई न्यारा है ! आ..हा..हा...!

हमारे यहाँ सुबह में एक शब्द आया था न ? 'बेहद शुद्ध चैतन्यधातु है तथापि...' ऐसा आया था, आहा..हा...! उसमें से आगे बहुत दूर के विचार हो गये !! कि,

बेहद अर्थात् अनंत चैतन्यधातु है। ऐसे बेहद अनंत जीवत्वधातु है। धातु (अर्थात्) जीवत्वशक्ति है। उसने धारणकर रखी है न ! ऐसे बेहद अनंत शुद्ध चितिशक्तिरूप धातु धारणकर रखी है। ऐसे बेहद वैसी दशिशक्तिरूप धातु धारण की है। ऐसी बेहद सुखशक्ति की धातु धार रखी है। अनंत बेहद वीर्यशक्ति की धातु उसने धारण की है। वैसे अनंत गुणों की धातु उसने धारण की है। आ..हा..हा...! भगवान ! तू ऐसा है न प्रभु ! आहा..! आ..हा..हा...! दया, दान के विकल्प को धारण किया है, सो आत्मा नहीं, आहा..हा...! कठिन कार्य, बापू ! जैनधर्म... जैननीति और जैन का मार्ग अभी कहीं भी दुनिया में मिलान हो ऐसा नहीं। आहा..हा...!

यहाँ तो कहते हैं - हमने ३५ (गाथा में) ऐसा कहा था कि, ज्ञान के द्वारा जानता है वैसा भी नहीं। ऐसा भेद पड़े वैसा (स्वरूप) नहीं। आत्मा तो जाननेवाला है... जाननहार है... जाननेवाला जाननेवाले के द्वारा जानता है, आहा..हा...! किसे जानता है ? कि, स्व को भी जानता है और पर को भी जानता है। इतना अभी सिद्ध करने का है। समझ में आया ? वास्तव में तो स्व को जानता है, और पर को जानता है, ऐसा जो ज्ञान है, उसे वह जानता है। यह ज्ञेय स्वयं द्रव्य, गुण, पर्याय है उसे जानता है, आ..हा..हा...!

यहाँ तो इससमय स्व-परप्रकाशक (स्वभाव) सिद्ध करना है न ! जाननेवाला पर को अपना माननेवाला-ऐसा उसके स्वरूप में नहीं। परंतु पर को और स्व को जानना-जाननेवाला-ऐसा उसका स्वरूप है। ऐसा कहकर स्व-परप्रकाशक (स्वभाव) सिद्ध करना है, आहा..हा...!

'...**(-स्व और पर) ऐसे दो भेद से...**' है ? '**...वह ज्ञेयभूत द्रव्य आत्मा...**' (अर्थात्) जनाने योग्य द्रव्य स्वयं और पर - दो (ज्ञेय)। जताने योग्य ज्ञेय दो-स्वज्ञेय और परज्ञेय, आहा..हा...! है ? ऊपर क्या कहा ? '**(आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञेय समस्त द्रव्य हैं)।**' उसका स्पष्टीकरण (करते हैं)। '**वह ज्ञेयभूत द्रव्य आत्मा...**' (अर्थात्) स्वयं। जाननेवाले आत्मा से आत्मा को जाना है और जाननेवाले आत्मा ने पर को जाना है, आहा..हा...! संतों ने टीका की होगी वह कैसा (कार्य) हुआ होगा भीतर में!! आ..हा..हा...! (टीका करने का) विकल्प उठा है उसके भी हम जाननेवाले हैं। स्व को और पर को जाननेवाले हैं। हम आत्मा में हैं, हम राग में नहीं। आहा..हा...!

ऐसा स्वरूप...!

`...ऐसे दो भेद से...'** **`ऐसे दो भेद' अर्थात् क्या ? जानने योग्य द्रव्य आत्मा और पर। **`...ऐसे दो भेद से दो प्रकार का है।'** ज्ञेय दो प्रकार का है। जाननेवाले को दो प्रकार का ज्ञेय है। जाननेवाले को स्वज्ञेय और परज्ञेय ऐसे दो प्रकार के ज्ञेय हैं। आहा..हा...! `ज्ञान स्वपरज्ञायक है, इसलिये ज्ञेय की ऐसी द्विविधता मानी जाती है।'

(अब प्रश्न पूछते हैं)। **`प्रश्न :- अपने में क्रिया के हो सकने का विरोध है, इसलिये आत्मा के स्वज्ञायकता कैसे घटित होती है ?'** आहा..हा...! (ऐसा कहते हैं) कि, आत्मा (को) स्वक्रिया करने का विरोध होने से (यानी) ज्ञान उत्पन्न हो और ज्ञान को जाने ऐसा कैसे हो सकता है ? यह तो विरोध है। ज्ञान स्व-पर को जानने का उत्पन्न होता है और जानने को उत्पन्न हुआ ज्ञान स्व और पर को जानता है (ऐसा कभी हो सकता है ?) आहा..हा...! केवल Logic-न्याय से बात सिद्ध करते हैं! आहा..हा...! वकीलों के लोजीक तो सब मानने जैसे हैं ! सरकारी दायरे में रहकर न्याय (करते हैं)। यह तो तीनलोक के नाथ सर्वज्ञ परमात्मा ने सर्वज्ञस्वभाव को सिद्ध करने के लिये Logic से बात कही है, आहा..हा...!

प्रभु ! तू सर्वज्ञस्वरूपी है, हाँ ! `सर्वज्ञ' शब्द से `आत्मस्वरूप' (हो)। आहा..हा...! स्व और पर को जाने वह आत्मस्वरूप है। परंतु `सर्वज्ञ' क्यों कहा ? कि, अन्य जानने में आते हैं इस अपेक्षा से कहा, वैसे सर्वज्ञपना वह आत्मपना है। यह (४७) शक्ति में आया है न ? भाई ! आहा..हा...!

(यहाँपर शिष्य का प्रश्न है - **`अपने में क्रिया के हो सकने का विरोध है, इसलिये आत्मा के स्वज्ञायकता कैसे घटित होती है ?'** (अर्थात्) स्वयं उत्पन्न हो और स्वयं को जाने - यह तो विरोध है, (ऐसा) कहते हैं। उत्पन्न होना और स्वज्ञायक - स्वयं को जाने ? (तो) गुरु पूछते हैं - **`कौन सी क्रिया है और किस प्रकार का विरोध है ?'** किस प्रकार का विरोध और कौन सी क्रिया की तू बात करता है ? आहा...! **`...जो यहाँ (प्रश्न में) विरोधी क्रिया कही गई है वह या तो उत्पत्तिरूप होगी या ज्ञप्तिरूप होगी।'** (अर्थात्) वह ज्ञान की पर्याय उत्पत्ति(रूप) होगी या ज्ञप्तिरूप होगी। समझ में आया ?

(आगे कहते हैं), **`प्रथम, उत्पत्तिरूप क्रिया तो `कहीं अपनेमें से उत्पन्न नहीं हो सकती'...'** (अर्थात्) पर्याय पर्याय में से उत्पन्न हो सकती नहीं। यह (बात) तो बराबर है। क्या Logic रखा है !! कोई स्वयं स्वयं में से उत्पन्न हो सकता नहीं। `है' वह स्वयं स्वयं में से उत्पन्न हो सकता (नहीं)। वह तो द्रव्य में से (उत्पन्न) होता है। **`...इस आगम कथन से विरुद्ध ही है;...'** तेरी यह बात तो बराबर है।

`...परंतु ज्ञप्तिरूप क्रिया में विरोध नहीं आता,...' आ..हा..हा...! क्या कहा वह? जो उत्पन्न होता है, यह उत्पन्न होता है, उसमें से उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं। द्रव्य से यह उत्पन्न होता है। परंतु ज्ञान की पर्याय जो उत्पन्न हुई है, वह ज्ञान उत्पन्न होकर (ज्ञान को) जानता है, उसमें विरोध नहीं। आहा..हा...! यह Logic से तो बात (करते हैं)।

जो ज्ञान की पर्याय उत्पन्न होती है, उस पर्याय में से पर्याय उत्पन्न होती नहीं। वह तो द्रव्य में से (उत्पन्न) होती है। परंतु जो ज्ञान की पर्याय उत्पन्न होती है, वह स्वयं उत्पन्न होती है और स्वयं को नहीं जाने, ऐसा नहीं है। उत्पन्न होती है और स्वयं को जानती है, यह साथ में है। समझ में आया ? आहा..हा...! क्या कहते हैं ?

शिष्य ने प्रश्न किया कि, यह (ज्ञान की पर्याय) स्वयं उत्पन्न होती है और वैसे स्वयं स्वयं को जाने - यह क्या ? एक समय में दो किस तरह होता है ? (तब गुरु पूछते हैं कि) भाई ! तू किसप्रकार कहता है ? क्या कहता है ? कि, उत्पन्न होती है वह पर्याय में से पर्याय उत्पन्न होती है, वैसे नहीं। उत्पन्न होती है सो द्रव्य से उत्पन्न होती है। परंतु उत्पन्न होती है ऐसी ज्ञान की क्रिया, वह उत्पन्न होती है और स्व को जानती है, उसमें विरोध नहीं। आ..हा..हा...! ऐसा मार्ग है ! क्या कहा ?

(दुबारा) शिष्य का प्रश्न है कि, **`अपने में क्रिया के हो सकने का विरोध है, इसलिये...'** (अर्थात्) पर्याय उत्पन्न होती है - वह उत्पन्न में से उत्पन्न होती है, यह विरोध है। और वह **`...आत्मा के स्वज्ञायकता कैसे घटित होती है ?'** (यानी कि) उत्पन्न होता है और स्व को जानता है - यह किस तरह घटित होता है ? (तो गुरु कहते हैं) सुन ! **`कौन सी क्रिया है और किस प्रकार का विरोध है...'** आता

है ? `**जो यहाँ** (**प्रश्न में**) **विरोधी क्रिया कही गई है वह या तो उत्पत्तिरूप होगी या ज्ञप्तिरूप होगी। प्रथम, उत्पत्तिरूप क्रिया तो `कहीं स्वयं अपनेमें से उत्पन्न नहीं हो सकती'...**' (अर्थात्) पर्याय में से पर्याय उत्पन्न हो सकती नहीं। आहा..हा...! बनिये को व्यापार-धंधे की आड़ में फुरसत मिले नहीं और (उसमें) यह (समझना) ! सारा दिन पाप ! धंधा-पानी, पैसे आये और गये...! अब, यहाँपर यह Logic-न्याय, भगवान के कायदे समझने...!! आहा..हा...!

शिष्य का प्रश्न इसप्रकार था कि, उत्पन्न होती है... यह स्वयं स्वयं में से उत्पन्न होती है ? उत्पन्न हुई सो स्वयं से उत्पन्न हुई है ? और उत्पन्न हुई है सो स्व को जानती है ? अभी उत्पन्न हुई और उत्पन्न हुई पर्याय स्व को जानती है ? भाई, सुन... !

देखिये ! (अब क्या कहते हैं ?) `**...ज्ञप्तिरूप क्रिया में विरोध नहीं आता, क्योंकि वह, प्रकाशनक्रिया की भाँति,...**' दीपक की प्रकाशशक्ति है न ? `**...उत्पत्तिक्रिया से विरुद्ध प्रकार से** (**भिन्न प्रकार से**) **होती है।**' आहा...! उत्पत्ति उत्पत्तिरूप रहती है। `**...जैसे जो प्रकाश्यभुत पर को प्रकाशित करता है...**' (अर्थात्) प्रकाशभुत पर्याय उत्पन्न होती है और पर को प्रकाशित करती है। `**...ऐसे प्रकाशक दीपक को स्व प्रकाश्य को प्रकाशित करने के संबंध में अन्य प्रकाशक की आवश्यकता नहीं होती,...**' क्या कहते हैं ?

दीपक का जो प्रकाश उत्पन्न हुआ वह प्रकाश स्वयं प्रकाशित करता है, उसमें विरोध नहीं। प्रकाश हुआ उसे भी प्रकाशित करता है, यह प्रकाश हुआ है दीपक के द्वारा परंतु (यह) प्रकाश (जो) हुआ है वह प्रकाश में से प्रकाशित हुआ नहीं, वह दीपक के द्वारा हुआ है। परंतु प्रकाश हुआ है वह अपने को प्रकाशित करता है। उत्पन्न हुआ और स्वयं को प्रकाशित करता है - यह तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। समझ में आया ? ऐसी फुरसत कहाँ (है) मनुष्य को ! `इच्छामि पड्ढिकम्मणा... तस्स उत्तरी करणेणं...' जाओ ! हो गई सामायिक ! धूल भी नहीं ! सामायिक तेरे कहाँ थी ! अभी तेरी दृष्टि में ठिकाना नहीं (वहाँ सामायिक आयी कहाँ से) ?

(क्या कहते हैं यहाँपर ?) `**...(प्रकाशक दीपक को स्व प्रकाश्य को प्रकाशित करने के संबंध में अन्य प्रकाशक की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसके स्वयमेव प्रकाशन क्रिया की प्राप्ति है;...**' किसको ? दीपक को। दीपक की प्रकाशक्रिया प्रकाशशक्ति

जानती (है)-प्रकाशित करती है, वह स्वयमेव है। (जो) प्रकाशशक्ति उत्पन्न हुई उसको प्रकाशित करने में अन्य किसी की आवश्यकता नहीं। यह प्रकाशशक्ति उत्पन्न हुई वह स्वयं ही (स्वयं को) प्रकाशित करती है, आहा..हा...! है (अंदर) ?

`...उसीप्रकार जो ज्ञेयभूत परको जानता है ऐसे ज्ञायक आत्माको स्व ज्ञेयके जाननेके संबंधमें अन्य ज्ञायक की आवश्यकता नहीं होती,...' आहा..हा...! ज्ञेयभूत ऐसा जो आत्मा और ज्ञेयभूत ऐसा जो पर, उसमें जानने की क्रिया जो उत्पन्न हुई, वह उत्पत्ति स्व को भी जानती है। उत्पन्न होता है और स्व को जानता है, एक समय में दोनों साथ हैं। आहा...! ज्ञान की उत्पत्ति हुई उसे जानने के लिये अन्य की आवश्यकता नहीं, ऐसा कहते हैं। (जैसे) दीपक के प्रकाश की पर्याय को प्रकाशित करने में अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं। दीपक के प्रकाश को प्रकाशित करने में वह प्रकाशशक्ति स्वयं स्वयं को प्रकाशित करती है। वैसे ज्ञानपर्याय को जानने में अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं। (जो) ज्ञान (की) उत्पत्ति हुई है वही उसे जानता है, आ..हा..हा...! इसप्रकार आप अपने आप पढ़ने बैठो तो (समझ में आये) ? नहीं ? होशियार कहलाते हो न ? सूक्ष्म पड़े।

(यह) `प्रवचनसार' है ! यह तो वीतराग की दिव्यध्वनि !! तीनलोक के नाथ अरिहंतों तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि है !! आ..हा..हा..! भगवान का वियोग हुआ परंतु वाणी रह गई, आहा..हा...!

श्रोता :- दो रह गये। वाणी भी रह गई और वाणी के समझानेवाले आचार्यगण भी रह गये !!

पूज्य गुरुदेवश्री :- आचार्यगण समझानेवाले हुए, तब (वाणी) रह गई ऐसा कहलायेगा न ! आहा..हा...!

देखा ! **`...क्योंकि उसके स्वयमेव प्रकाशन क्रिया की प्राप्ति है;...'** क्या कहा? नीचे... नीचे... (अर्थ) दिया है न ! `कोई पर्याय स्वयं अपने में से उत्पन्न नहीं हो सकती,...' (अर्थात्) पर्याय पर्याय में से उत्पन्न हो सकती नहीं। `...किन्तु वह द्रव्य के आधार से-द्रव्यमें से-उत्पन्न होती है...' द्रव्य में से पर्याय उत्पन्न होती है। उत्पन्न में से उत्पन्न नहीं हो सकती। उत्पन्न होता है सो द्रव्य में से उत्पन्न होता है। `क्योंकि यदि ऐसा न हो तो द्रव्यरूप आधार के बिना पर्यायें उत्पन्न होने लगे और जल

के बिना तरंग होने लगें;...' जल रहित तरंग उठे, तरंग की उत्पत्ति (होती है)। तरंग में से तरंग की (उत्पत्ति होती) नहीं, तरंग जल में से उठती हैं। 'यह सब प्रत्यक्ष विरुद्ध है; इसलिये पर्याय के उत्पन्न होने के लिये द्रव्यरूप आधार आवश्यक है।

'इसप्रकार ज्ञानपर्याय भी स्वयं अपने में से उत्पन्न नहीं हो सकती,...' क्या कहा यह ? जाननेवाली पर्याय (उत्पन्न) हुई है, स्व और पर को जाननेवाली पर्याय हुई है, यह पर्याय पर्याय में से उत्पन्न नहीं होती। यह बात तो बराबर है। 'आत्मद्रव्य में से उत्पन्न हो सकती है जो कि ठीक ही है। परंतु ज्ञानपर्याय स्वयं अपने से ही ज्ञात नहीं हो सकती यह बात यथार्थ नहीं है। आत्मद्रव्य में से उत्पन्न होनेवाली ज्ञानपर्याय स्वयं अपने से ही ज्ञात होती है।' तथापि यह उत्पन्न हुआ ज्ञान की पर्याय, उत्पन्न होती है और उसे वह उस समय जानती है। ज्ञान की पर्याय उत्पन्न हुई, यह उत्पन्न हुई (परंतु) पर्याय में से पर्याय हुई नहीं, पर्याय द्रव्य में से उत्पन्न हुई। परंतु (जो) पर्याय उत्पन्न हुई उसे वह उस समय जानती है। ऐसी बात है ! यह तो वीतराग की कोर्ट है !! आहा...! वीतराग की कोलेज है !! थोड़ा जाना हो, जानपना किया हो, वाचन किया हो, विचार किया हो उसे यह बात समझ में आये। परंतु तुरंत ऊपर से (समझने बैठे तो ऐसा लगे) कि, यह क्या कहते हैं ? आहा...!

ऐसा कहते हैं कि, ज्ञान की पर्याय उत्पन्न होती है वह पर्याय, पर्याय में से उत्पन्न हुई, ऐसा नहीं। यह पर्याय द्रव्य में से उत्पन्न हुई है, यह बराबर है। पर्याय में से पर्याय की उत्पत्ति हो, इस क्रिया का विरोध है। परंतु (द्रव्य से) ज्ञान की पर्याय उत्पन्न हुई और उसी समय वह जानती है, उसमें विरोध नहीं। जिस समय ज्ञान की पर्याय (उत्पन्न हुई) - केवलज्ञान (की पर्याय उत्पन्न हुई) और इस राग को जानने की ज्ञान की पर्याय उत्पन्न हुई, उस समय वह ज्ञान की पर्याय ज्ञान को भी जानती है। उसे जानने के लिये कोई अलग समय चाहिये या दूसरों की मदद चाहिये, वैसा नहीं। आहा..हा...!

ऐसा कहकर सिद्ध क्या करना है ? कि, ज्ञानपर्याय (अर्थात्) आत्मा जो जानता है वैसी पर्याय, यह पर्याय में से पर्याय हुई नहीं। (परंतु) जाननहार में से हुई (है)। वैसे वह पर्याय (जो) उत्पन्न हुई, उसे वह उसी समय जानती है। उत्पन्न हुई और उसे वह (जानती है)। उत्पन्न (होने का) समय (है) वही उसे जानने का समय (है)।

आहा..हा..हा...! समझ में आया ? भाषा तो सरल (है) परंतु भाव बापू...! वीतराग संतगण के (भाव) ऐसे सूक्ष्म हैं !! दिगंबर संतों की वाणी अलौकिक है !! आहा...! सर्वज्ञ के केडायत...! सर्वज्ञ की पर्याय को सिद्ध करने के लिये यह सब तर्क उठाये हैं! आहा..हा...!

केवलज्ञान की पर्याय, पर्याय में से पर्याय होती नहीं, द्रव्य में से होती है। परंतु केवलज्ञान की पर्याय, पर्याय को न जाने, ऐसा नहीं। उत्पन्न हुई और उसी समय उसे जाने, ऐसा उसका स्वभाव है ! आहा..हा...! (यह) स्वप्रकाशक की बात कही।

यहाँपर नीचे (के गुणस्थान में) भी राग को जाने, ऐसी जो ज्ञान की पर्याय (है), यह राग से उत्पन्न हुई नहीं, वैसे पर्याय से उत्पन्न हुई नहीं। यह पर्याय ज्ञायकस्वभाव से उत्पन्न हुई है। फिर भी यह उत्पन्न हुई ज्ञानपर्याय को (ज्ञान)पर्याय जानती है, उसका समय (भी) वही है, आ..हा..हा...! समझ में आया ?

आहा...! चैतन्यपर्याय जो उत्पन्न हुई, वह उत्पन्न (हुई पर्याय में से) उत्पन्न हुई नहीं, वह द्रव्य में से हुई (है)। परंतु पर्याय में से पर्याय होती नहीं। परंतु पर्याय हुई वह पर्याय को (स्वयं को) नहीं जाने, ऐसा नहीं। आ..हा..हा...! स्व की पर्याय उत्पन्न हुई और स्व को जाने। आहा...! यह ज्ञान की पर्याय उत्पन्न हुई वह द्रव्य से (हुई)। फिर भी उत्पन्न हुई पर्याय स्वद्रव्य-गुण को (जाने)। स्व की पर्याय उसे जाने। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। ऐसा कहाँ (सुना हो) ! आहा..हा...! क्या संतों की युक्ति और न्याय!! आ..हा..हा...!

प्रभु ! तू कौन है ? तू जाननेवाला है ! आत्मा के द्वारा जाननेवाला है, हाँ! आ..हा..हा...! और यह जाननेवाले की जानने की पर्याय उत्पन्न होती है, यह पर्याय जाननेवाले में से हुई है। पर्याय में से पर्याय उत्पन्न (हुई) नहीं। आहा..हा...! परंतु जाननेवाले की जो पर्याय हुई है उसी समय उसे न जाने, ऐसा नहीं। उत्पन्न हुई है और उसे वह जानती है - (दोनों का) समय एकसाथ है। आहा..हा...! ऐसा सुनने मिले नहीं और विरोध करे ! 'एजी...! सोनगढी तो सिर्फ निश्चय की बातें (करते हैं) !' भगवान! सुन तो सही प्रभु ! तेरे घर की बातें हैं, प्रभु !

आहा...! तू जाननेवाला है ! जाननेवाला द्रव्य तत्त्व (है) ! अब जाननेवाले की जानने की जो पर्याय होती है... आ..हा..हा...! यह पर्याय पर्याय में से उत्पन्न होती

नहीं। ऐसा तेरा विरोध हो तो बराबर है, परंतु उत्पन्न हुई पर्याय स्वयं को जाने नहीं, ऐसा नहीं। आहा..हा...! कितना न्याय सिद्ध किया है !! न्यारा मार्ग है ! उसे भीतर में समझ होनी चाहिये, बापू ! आहा..हा...!

(यहाँपर कहते हैं) **`...स्वयमेव प्रकाशन क्रिया की प्राप्ति है;...'** नीचे कहा वह। है न (नीचे) ? `आत्मद्रव्य में से उत्पन्न हो सकती है जो कि ठीक ही है। परंतु ज्ञानपर्याय स्वयं अपने से ही ज्ञात नहीं हो सकती यह बात यथार्थ नहीं है। आत्मद्रव्य में से उत्पन्न होनेवाली ज्ञानपर्याय स्वयं अपने से ही ज्ञात होती है।' ज्ञान के द्वारा उत्पन्न हुई पर्याय स्वयं अपने को (जानती है)। `जैसे दीपकरूपी आधार में से उत्पन्न होनेवाली प्रकाशपर्याय...' दीपक में से प्रकाशपर्याय उत्पन्न हुई। पर्याय है न वह तो ! वो `...प्रकाशपर्याय स्व-पर को प्रकाशित करती है,...' वह प्रकाशपर्याय स्व को प्रकाशित करती है और घट-पट को भी प्रकाशित करती है। दीपक की प्रकाशपर्याय वह दीपक के द्वारा उत्पन्न होती है। यह प्रकाशपर्याय पर्याय में से उत्पन्न नहीं हुई है। परंतु वह उत्पन्न हुई प्रकाशपर्याय स्वयं को प्रकाशित करती है और पर को प्रकाशित करती है। अपनी प्रकाश की पर्याय को प्रकाशित करती है और घट-पट हैं उन्हें भी प्रकाशित करती है। उसमें विरोध क्या है ? कहते हैं। आहा...!

`...उसी प्रकार आत्मारूपी आधार में से उत्पन्न होनेवाली ज्ञानपर्याय...' पर्याय है न यहाँ तो ? आहा...! द्रव्य तो त्रिकाली ज्ञायक है। परंतु ज्ञायक में से ज्ञायक को जाननेवाली जो पर्याय उत्पन्न हुई, वह उत्पन्न हुई पर्याय ज्ञायक को जानती है, गुण को जानती है और पर्याय को जानती है। आहा..हा...! समझ में आया ?

`जैसे दीपकरूपी आधार में से उत्पन्न होनेवाली प्रकाशपर्याय स्व-पर को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार आत्मारूपी आधार में से उत्पन्न होनेवाली ज्ञानपर्याय स्वपर को जानती है।' देखा ? आहा..हा...! `और यह अनुभव सिद्ध भी है कि ज्ञान स्वयं अपने को जानता है।' (अर्थात्) जानने की पर्याय जाननेवाले को-पर्याय को जानती है यह भी अनुभव सिद्ध है - प्रत्यक्ष है। जानने की पर्याय जानती है कि नहीं ? या जानने की पर्याय स्वयं को जानती नहीं ? और (केवल) पर को जानती है ? या पर की सहाय से जानती है ? आहा..हा...!

जानने की पर्याय द्रव्य के द्वारा उत्पन्न हुई, परंतु जानने की पर्याय... आ..हा..हा...!

द्रव्य का आश्रय है इसलिये पर्याय द्रव्य को जानती है, ऐसा नहीं। यहाँ तो ऐसा कहते हैं। क्या कहा ? जानने की जो पर्याय हुई, वह द्रव्य में से उत्पन्न हुई, परंतु वह जाननेवाली पर्याय द्रव्य, गुण, पर्याय को उस समय जानती है। वह स्व को जानती है। `कलशटीका' में आया था न ! `परिणति जानती है, उसमें द्रव्य, गुण, पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लिया था ।' `कलशटीका' में आया था। आहा..हा...!

वैसे यहाँ जाननेवाली पर्याय द्रव्य में से उत्पन्न हुई, परंतु (जो) जाननेवाली पर्याय उत्पन्न हुई वह जाननेवाली पर्याय उस समयपर द्रव्य-गुण-पर्याय को ज्ञप्तिरूप जानती है। आहा..हा...! द्रव्य में से उत्पन्न हुई उस समयपर द्रव्य को जानती है। द्रव्य में से उत्पन्न हुई उस समय गुण को जानती है। जिस समय वह पर्याय उत्पन्न हुई (उस) पर्याय को (वह) जानती है। आहा..हा...! स्व (को) जानती है, स्व को लेना है न! केवल पर्याय (लेनी नहीं)। भाई ! वहाँ कलशटीका में आया था न ? स्व-पर परिणति। परिणति का अर्थ किया था - द्रव्य, गुण, पर्याय और उत्पाद्, व्यय, ध्रुव।

ऐसा सूक्ष्म ! सम्यक्-सत्य निश्चय करने को फुरसत कहाँ है मनुष्य को ! समय व्यतीत हो रहा है, प्रभु ! और चौरासी के अवतार में चल बसेगा, आहा..हा...! वहाँ किसी का कोई साथ नहीं मिलेगा। जैसे वास्तविक तत्त्व की दृष्टि नहीं और विपरीत दृष्टि है, बापू ! उसका फल (बहुत कठिन हैं) ! भले ही उसने दया, दान, कदाचित किया हो तो स्वर्ग में जायेगा परंतु वहाँ से आगे चार गतियों में भटकेगा ! ये भटकने के भाव हैं ! आ..हा..हा...!

(यहाँपर कहते हैं) जाननेवाला जानने की पर्याय को उत्पन्न करता है या जाननेवाले के द्वारा उत्पन्न हुई, वह पर्याय स्वद्रव्य, गुण, पर्याय को उत्पन्न होते ही जानती है। आहा..हा...! ऐसा तेरा ज्ञाता-दृष्टा पर्याय का स्वभाव है। ऐसा अंदर अनुभव होना... आ..हा..हा...! उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। और यह सम्यग्दर्शन के अलावा सभी थोथा (हैं)। व्रत और तप और भक्ति और दान और दया... (सब) चार गतियों में भटकने के (भाव) हैं ! ऐसा है ! बहुत अच्छी बात (है), सुबह में भी बहुत अच्छी थी ! आहा...!

सुबह में (दो मुमुक्षु) आये थे। उन्होंने कहा, `मुंबई' में `समयसार' आदि के व्याख्यान छपवाने हैं। यह (टेप में) उतारे हैं, उसमें से छपवाने हैं। करीब तीस-पैंतीस पुस्तक

छपवानी हैं। बहिन की पुस्तक यह `बहिनश्री के वचनामृत' पच्चीस हजार (छपवानी हैं)। और तीस-पैंतीस पुस्तक छपवानी हैं। वे लोग कहते थे, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड (इत्यादि के) व्याख्यानों के तीस-पैंतीस पुस्तक होंगी !! ओ..हो..हो...!

श्रोता :- बहुत अच्छी बात है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- बहुत अच्छी बात !! और बहिन के पच्चीस हजार (छपेंगे), आहा..हा...! लोगों को जानकारी तो हो कि, तत्त्व क्या है ? अरे...! सम्यग्दर्शन रहित उसे यह बात समझ में न आये। आहा...! समयक्ज्ञान का यथार्थरूप क्या है ऐसा जानने में न आये तबतक उसकी वास्तविक दृष्टि न होगी। वास्तविक दृष्टि रहित ज्ञान भी झूठा और व्रत, तप इत्यादि सब बालतप और बालव्रत (हैं) ! मूर्खतापूर्ण व्रत और तप (हैं) !! आहा..हा...!

`(इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान स्व को भी जान सकता है।)' ऐसा कहते हैं कि स्वयं उत्पन्न होता है और अपने को जाने ? ऐसा। बापू ! उसका (ऐसा) स्वभाव है। उत्पन्न होते हुए भी उसका स्व-पर को जानने का स्वभाव है। आहा..हा...! उत्पन्न हुई है ज्ञान की पर्याय, उत्पन्न हुई है उत्पाद्। वास्तव में तो यह उत्पाद्रूप पर्याय को द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं। परंतु यहाँ तो उत्पन्न (सिद्ध करना) है न इसलिये द्रव्य में से होता है, वैसा कहा। आ..हा..हा...! वैसे तो जो ज्ञान की स्व-परप्रकाशक पर्याय उत्पन्न होती है, (उस) उत्पाद् को द्रव्य और गुण की अपेक्षा नहीं, व्यय की (अपेक्षा नहीं)। आहा..हा...! ऐसा निरालंबी तत्त्व, प्रभु !! उसकी जिसे ख़बर नहीं और उसे धर्म हो जाये...! (यह कैसे हो) ? आ..हा..हा...!

अब प्रश्न है। `**प्रश्न :- आत्माको द्रव्योंकी ज्ञानरूपता और द्रव्योंको आत्माकी ज्ञेयरूपता कैसे (-किसप्रकार घटित) है ?**' क्या पूछते हैं ? कि, यह आत्मा को (अर्थात्) जाननरूप को पर और स्व की ज्ञानरूपता । और द्रव्यों को आत्मा की ज्ञेयरूपता (अर्थात्) ये जो परद्रव्य हैं उनकी ज्ञेयरूपता। वे स्वयं बदलते (द्रव्य) हैं और यह परस्पर एक दूसरे को एक साथ जाने (अर्थात्) यह जाने और वे जानने में आये। (क्योंकि) बदलती पर्याय-परिणाम संबंध है इसलिये जानती है। स्व को जाने, पर को जाने। यह ज़रा सूक्ष्म बात है। है ? मूल पाठ है। ३६ (गाथा) है न ? मूल पाठ है :- `**दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं।**' यह चौथे पद की व्याख्या है।

`परिणामसंबद्धं' - यह चौथे पद की व्याख्या अब पूछते हैं। तीन की व्याख्या हो गई, चौथे की विशेष आयेगी...

(**दिनांक ९-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-३४**)

`प्रवचनसार', ३६ गाथा। (अंतिम पैराग्राफ में प्रश्न पूछते हैं)। **`प्रश्न :- आत्माको द्रव्योंकी ज्ञानरूपता और द्रव्योंको आत्माकी ज्ञेयरूपता कैसे (-किसप्रकार घटित) है ?'** ऐसा (कहते हैं) कि, आत्मा ज्ञान स्वरूप - जाननेवाला और ज्ञेयस्वरूप ज्ञात है, (तो यह) दोनों का मेल-मिलाप किस प्रकार है ? प्रश्न समझ में आया ? **`आत्मा को द्रव्यों की ज्ञानरूपता...'** (अर्थात्) आत्मा को दूसरे अनंत त्रिकाली द्रव्यों (हैं) उनकी ज्ञानरूपता। **`...और द्रव्यों को आत्मा की ज्ञेयरूपता...'** (अर्थात्) द्रव्य आत्मा में ज्ञेयरूप जानने में आये। ऐसा ज्ञेयरूप, **`(-किसप्रकार घटित) है ?'**

`उत्तर :- वे परिणामवाले होने से।' वस्तु यहाँ है। आत्मा और परद्रव्य दोनों परिणमनशील-बदलनेवाले हैं। यदि बदलनेवाले न हो तो परस्पर (जाने नहीं तथा ज्ञात नहीं हों)। जाननेवाला यदि बदलता न हो और ज्ञात होने योग्य बदलता न हो तो, परस्पर जाने भी कैसे ? आहा..हा...! सूक्ष्म बात है। न्याय से सिद्ध करते हैं।

`वे परिणामवाले...'** (है)। दोनों परिणाम(वाले)-बदलनेवाले हैं। आत्मा का अनंत ज्ञानादि स्वरूप (है) वह भी बदलती अवस्थारूप है। परिणाम (अर्थात्) परिणमनरूप है। और उसमें जो ज्ञेय जानने में आयें वे भी परिणमनरूप है। **`वे परिणमनवाले होने से। आत्मा और द्रव्य परिणामयुक्त हैं,...' आत्मा भी, भले ही केवलज्ञानी हो, परंतु बदलनेवाले-परिणमनवाले हैं। प्रत्येक गण की समय-समयपर परिणति - परिणाम (होते) हैं। (अतः) आत्मा और द्रव्य दोनों परिणामयुक्त हैं।

आत्मा के ज्ञान में ज्ञात है वह ज्ञान भी परिणमनवाला है और ज्ञेय जो इसमें (ज्ञान में) ज्ञात हो, वे ज्ञेय भी परिणमनवाले हैं, कूटस्थ नहीं। आहा..हा...! **`...इसलिये...'** (अर्थात्) दोनों का परिणमनवाला-बदलनेवाला स्वभाव होने से, **`...आत्मा के द्रव्य जिसका आलंबन हैं...'** `द्रव्य जिसका आलंबन (हैं)' - (उसका अर्थ) नीचे है - `ज्ञान के ज्ञेयभूत

द्रव्य आलंबन अर्थात् निमित्त हैं।' क्या कहा यह ? आत्मा का ज्ञान केवलज्ञानरूप परिणमित होता है उसमें जो ज्ञेय हैं सो निमित्त हैं। आलंबन अर्थात् निमित्त। है (अंदर)? `ज्ञान को ज्ञेयभूत द्रव्य आलंबन अर्थात् निमित्त हैं। यदि ज्ञान ज्ञेय को न जाने तो ज्ञान का ज्ञानत्व क्या ?' (अर्थात्) ज्ञान अनंत अनंत ज्ञेयों को न जाने तो ज्ञान का जाननरूप-ज्ञानत्व क्या ? आहा...!

दूसरे लोग (वस्तु को-आत्मा को) कूटस्थ मानते हैं न ! वेदांती आदि कूटस्थ मानते हैं (इसलिये ऐसा कहा है)। आज अन्यमती का एक बड़ा आध्यात्मिक मासिक आया है। (उसमें ऐसा लिखा है कि) `अवतार पुरुष हैं और ऐसा होगा और...' गप्पे-बाजी...! `अवतारी पुरुष हैं और उन्होंने ऐसा कहा है कि...' ऐस लंबा पत्र है। यहाँ का (`सोनगढ' का) आध्यात्म (क्षेत्र) बड़ा रहा इसलिये भेजा करते हैं। और एक बहिन ने `पोरबंदर' में यहाँ का व्याख्यान पढ़ा होगा। और घर जानेपर भीतर प्रकाश हो गया ! (तो उसका) पत्र आया है (कि) `क्या है यह ?' ये सब चैतन्य को छोड़कर बातें हैं ! (आगे लिखा है) `मेरी भूल है तो कहाँ है ?' कौन लिखें ? मूल यह चीज तो सर्वज्ञ के अलावा और वैसे भी दिगंबर धर्म के अलावा और कहीं भी नहीं। सत्य कहीं है नहीं।

यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर...! एक समय में तीनकाल तीनलोक के ज्ञेयों को जिन्होंने प्रत्यक्ष जाना है, ऐसा जिनका ज्ञान प्रगट हुआ, इसमें वाणी के द्वारा यह वस्तु आई। आहा..हा...! यह वाणी-यह संतों की वाणी, यह केवली की वाणी है !! आहा..हा...! कठिन बातें...!

यहाँ तो ऐसा सिद्ध करते हैं - नीचे के (गुणस्थान की बात) यदि ली जाये तो आत्मा ज्ञानस्वरूप है ऐसा अनुभव-भान हुआ तो अबतक ज्ञान की पर्याय बदलती ही रहती है और सामने राग-द्वेष भी एक प्रकार के होते नहीं। क्या कहा समझ में आया ? साधकजीव-धर्मी को ज्ञायक आत्मा शुद्ध चैतन्यघन है, ऐसा ज्ञान-परिणमित हुआ। भले ही पूर्ण केवलज्ञान नहीं। यह ज्ञान का परिणमन बदलता है। क्योंकि सामने राग और द्वेष, दया, दान के विकल्प उठते हैं वे भी एक जाति के नहीं। परिणाम...परिणाम... भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। यह जो भिन्न-भिन्न प्रकार का परिणमन (होता है) और यहाँ ज्ञान का परिणमन (जो होता है) उन ज्ञान के परिणमन में ज्ञेय,

जानने में निमित्त है, और (जो) ज्ञेय ज्ञातव्य में ज्ञेय हैं उन्हें ज्ञान निमित्त है, आहा..हा...!

(एक जगहपर) कहा है न ? लोकालोक है वह केवलज्ञान में निमित्त है। निमित्त का अर्थ - कुछ करे (ऐसा नहीं)। और लोकालोक को केवलज्ञान निमित्त है। अरे...! ऐसी बातें अब ! समझ में आया ?

वैसे यहाँपर जो केवलज्ञान हुआ उसके परिणमन में अनंत ज्ञेय हैं सो निमित्त हैं। आलंबन है अर्थात् निमित्त हैं। समझ में आया ? क्योंकि जिस प्रकार ज्ञेय बदलते जाते हैं (अर्थात्) भविष्य की पर्याय वर्तमान होती है और वर्तमान की पर्याय भूत(काल) में जाती है, तो यहाँ ज्ञान भी उस तरह परिणमित होता है। उसकी वर्तमान पर्याय को वर्तमानरूप जाने, बीत चुकी उसे उस तरह जाने, भविष्य की पर्याय वर्तमान हो गई और वर्तमान की पर्याय भूत(काल) की हो गई, इस प्रकार यहाँ न जाने तो उसका ज्ञान क्या ? आहा...! ऐसी बातें हैं ! और ज्ञेय भी परिणमित ज्ञान के आलंबन अर्थात् निमित्त न हो तो ज्ञेय का ज्ञेयत्व क्या ? आहा..हा...!

यहाँपर तो केवलज्ञान की बात है। परंतु साधक (अवस्था में) भी धर्मीजीव जिसे कहा जाय उसे आत्मा आनंदस्वरूप है, पूर्ण आनंदघन है (उसका भान हुआ है, उसे भी ज्ञान और ज्ञेय की ऐसी स्थिति वर्तती है)।

'धातु' शब्द पर विचार किया था, भाई ! एक जगह 'धातु' अर्थात् स्वरूप (ऐसा) अर्थ भी आता है। 'चैतन्यधातु... चैतन्यस्वरूप' ऐसा आता है। सुबह में ('समयसार'-९६ गाथा में) 'अनुभूति' (की बात) आयी थी न ? 'भावक' (जो आया था) यह 'भावक' द्रव्य है। अनुभूति (अर्थात्) पर्याय नहीं। 'भावक' है सही। 'भावक' अर्थात् त्रिकाली सो 'भावक' है और वर्तमान निर्मलपर्याय उसका 'भव्य' है। 'भावक' कहा था न ? (अर्थात्) वहाँ पर्याय लेनी (नहीं)। क्योंकि, 'भावक' है न ? भाव करनेवाला है। 'अनुभूति' अर्थात् त्रिकाली द्रव्य - जो ('समयसार') ७३ (गाथा में) कहा था सो। तिहत्तर में आया था न ? बहुत सूक्ष्म बातें...!

एक (समय की) पर्याय का षट्कारक का परिणमन है। निर्मलपर्याय हाँ...! वह पर्याय पर्याय की कर्ता, पर्याय कर्म, पर्याय करण-साधन, पर्याय संप्रदान, पर्याय से पर्याय हुई (अपादान), पर्याय के आश्रित पर्याय हुई - ये षट्कारक। उन षट्कारक के परिणमन से अनुभूति भिन्न है, अनुभूति अर्थात् द्रव्य। क्या यह कहते हैं ? वीतरागमार्ग

ऐसा कोई सूक्ष्म है !! लोगों को मिला ही नहीं। अजैनपना मिला और मानने लगे कि हम `जैन' हैं ! आहा..हा...!

यहाँपर कहते हैं, आत्मा का जो ज्ञान है - उस ज्ञान का भान हुआ, फिर भी सम्यक्दृष्टि का ज्ञान भी परिणमित होता है। यह भिन्न-भिन्न प्रकार का परिणमन है अतः यहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान का परिणमन है। (यह) अपने से (है)। इस ज्ञान के परिणमन में भिन्न-भिन्न प्रकार का परिणमन निमित्त है। और ज्ञेय के भिन्न-भिन्न प्रकार के परिणमन में ज्ञान निमित्त है। ऐसी बातें अब...! बनिये को समय कहाँ मिलता है ! व्रत, करो और दया का पालन करो...! मर गया अनंतकाल से करते करते...! वस्तु क्या है ? उसकी दृष्टि की समझ प्राप्त नहीं। आ..हा..हा...! समझ में आया ?

यहाँ केवलज्ञान को सिद्ध करने से साधकपना भी सिद्ध होता है, भाई ! आत्मा ज्ञानस्वरूप है त्रिकाली हाँ...! उसका ज्ञान-भान हुआ तो परिणमन में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ। उन सम्यग्दर्शन और (सम्यक्)ज्ञान का भी परिणमन है। और सामने दया, दान आदि रागादि आयें, कोई तीव्र राग आ जाय, मंद राग आ जाय, इच्छा उत्पन्न हो - उन भिन्न-भिन्न प्रकार के विकार का परिणमन, वे भी यहाँपर ज्ञान में निमित्त होते हैं। और भिन्न-भिन्न प्रकार के राग का परिणमन (है) उसे ज्ञान निमित्त होता है। ऐसी बातें हैं ! (संप्रदाय में) तो एकन्द्रिया, बेइन्द्रिया... कर लो मिच्छामी दुक्कडम्... जाओ...! हो गया...! अरे...भाई ! सामायिक क्या, अबतक तुझे सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं, सम्यक्ज्ञान नहीं और व्रत और तप आये कहाँ से ! आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, **`...आत्मा के द्रव्य जिसका आलंबन हैं...'** (अर्थात्) आत्मा ज्ञानस्वरूप परिणमित हुआ है उसमें परद्रव्य निमित्त है। `...ऐसे ज्ञानरूप से...' (अर्थात्) परद्रव्य निमित्त हैं ऐसे ज्ञानरूप, `...(परिणति)...' आ..हा..हा...! केवलज्ञान की पर्याय परिणमित है। केवलज्ञान की पर्याय एक समयपर हुई वह वैसी की वैसी रहती नहीं। दूसरे समय में दूसरी... तीसरे समय में तीसरी... केवलज्ञान की पर्याय...हाँ...! आहा..हा...! गुण है सो त्रिकाल है, द्रव्य है सो त्रिकाल है। परंतु उसकी परिणति जो केवलज्ञान है, वह परिणति समय समयपर बदलती है। और समय समयपर बदलती है ऐसी परिणति में ज्ञेय जो समय समयपर परिणमिते हैं, उन ज्ञेयों में यह ज्ञान निमित्त है।

वे ज्ञेय ज्ञान में निमित्त है और ज्ञेय जो परिणमित होते हैं, उनमें ज्ञान उन्हें निमित्त है। आ..हा..हा...!

समय समयपर लोकालोक परिणमित होता है, उसमें ज्ञान निमित्त है। और ज्ञान परिणमित होता है उसमें लोकालोक ज्ञेय निमित्त है। निमित्त का अर्थ-उसके द्वारा होता है, यह प्रश्न नहीं, वह निमित्त नहीं। (केवल) वह चीज है, आहा..हा...! लोकालोक को केवलज्ञान निमित्त है तो क्या लोकालोक ने यह केवलज्ञान की पर्याय बनाई है? ऐसी बहुत सूक्ष्म बातें, बापू ! वीतराग मार्ग...! आहा..हा...!

(यहाँपर कहते हैं) **`...द्रव्य जिसका आलंबन है...'** आलंबन अर्थात् निमित्त। किसे? आत्मा के केवलज्ञान की पर्याय में तीनकाल के तीनलोक के जो अनंत द्रव्य (हैं) (ऐसा) लोकालोक, और अनंत सिद्धगण, अनंत निगोद, उन सबके द्रव्य-गुण-पर्याय केवलज्ञान में निमित्त हैं। **`...ऐसे ज्ञानरूप से (परिणति)...'**

(कल) रात परिणाम संबंध की बात ली थी न ? कि, केवल आत्मा ही परिणमित होता है, ऐसा नहीं। दोनों परिणमित होते हैं। जानते हैं और परिणमित होते हैं। वैसे परिणमित होता है इतना सिद्ध नहीं करना। यहाँ तो (ऐसा कहना है कि) जाननेवाला परिणमित होता है और जो ज्ञात होता है वह चीज भी परिणमित होती है। समझ में आया ? (दृष्टांत के तौर पर) ज्ञान में जानने में आया कि ये पन्ने इस प्रकार हैं। अब पन्ने इस प्रकार हुए (तो) यह अवस्था का बदलाव-पलटना हुआ। (तो इस तरफ) ज्ञान में भी ज्ञान ऐसा जानता है, आहा..हा...!

ऐसे, नीचे (के गुणस्थान में) आत्मज्ञान हुआ, आत्मज्ञान हुआ माने आत्मा चिदानंद पूर्ण शुद्ध (स्वरूप के) सम्मुख होकर, उससा आश्रय लेकर जो ज्ञान हुआ - (वह) सम्यक्ज्ञान में भी अबतक ज्ञान का परिणमन है। ज्ञान एकरूप रहता नहीं। गुण एकरूप रहते (हैं)। पर्याय एकरूप रहती नहीं। अतः वह परिणति एकरूप रहती नहीं। उसमें सामने रागादि होते हैं वे भी एकरूप रहते नहीं। सामने रागादि होते हैं वे ज्ञान की परिणति में निमित्त हैं। इस प्रकार ज्ञानरूप परिणमित ज्ञान (की बात करते हैं)। ऐसी बातें अब...! अरे..रे...! वीतरागमार्ग बहुत लुप्त हो गया है ! लोगों ने बाहर के क्रियाकांड में-राग में जो अजैनपना है उसमें धर्म मनवाया है !! आहा...!

यहाँ तो कहते हैं कि, राग जो होता है वह राग भी एकरूप रहता (नहीं),

परिणमित होता है। और उसका यहाँ ज्ञान होता है वह भी एकरूप रहता नहीं। उस ज्ञान में राग ज्ञेय-निमित्त है और ज्ञेय को-राग को ज्ञान निमित्त है। आहा..हा...! ऐसा है !

अब पर की (बात करते हैं)। **`...और द्रव्यों के...'** (अर्थात्) जो सामने द्रव्य हैं न ! केवलीगण, निगोद के जीव, परमाणु, स्कंध - वे `...ज्ञान का अवलंबन लेकर...' यानी कि ज्ञेयों को आत्मा का जो ज्ञान है वह निमित्त है। `...ज्ञान का अवलंबन लेकर...' यानी कि ज्ञान को ज्ञेय निमित्त है किन्तु ज्ञेय को ज्ञान निमित्त है। है नीचे? `ज्ञेय का ज्ञान आलंबन अर्थात् निमित्त है। यदि ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात न हो तो ज्ञेय का ज्ञेयत्व क्या ?' आहा..हा...! अनेक Logic-न्याय से सिद्ध करते हैं, भाई !

`...द्रव्यों के...'** अर्थात् त्रिकाली वस्तु को। **`...ज्ञान का अवलंबन लेकर...' अर्थात् ज्ञान में निमित्त हो वैसी। **`...ज्ञेयाकाररूप से परिणति...'** (अर्थात्) यह ज्ञेय को ज्ञान निमित्त होता है उस प्रकार सामने ज्ञेयाकाररूप परिणति। **`...अबाधितरूप से तपती है-प्रतापवंत वर्तती है।'** आहा..हा...! सामने ज्ञेय का परिणमन (है) और यहाँपर ज्ञान का परिणमन (है)। इस ज्ञान के परिणमन में ज्ञेय का परिणमन निमित्त (है) और ज्ञेय के परिणमन में ज्ञान का परिणमन निमित्त (है)। इस प्रकार अबाधित प्रताप वर्तता है। आ..हा..हा...! समझ में आया ?

(उपरोक्त का अर्थघटन करते हैं) - `**(आत्मा और द्रव्य समय-समय पर परिणमन किया करते हैं,...)**' भगवानआत्मा ने केवलज्ञान प्राप्त किया फिर भी समय-समय पर (केवलज्ञान) बदलता रहता है। पर्याय है न ? केवलज्ञान की पर्याय भी समय-समय पर बदलती रहती है।

पहले हमने तीन बोल लिये थे न ? कि, संसार का नाश और मुक्ति की उत्पत्ति- एक यह भी व्यय-उत्पाद् है। सिद्ध में भी इस प्रकार है। और दूसरा - अगुरुलघु - (गुण के) द्वारा भी उसमें परिणमन बदलता रहता है। तीसरा - जो ज्ञेय बदलते हैं उस प्रकार यहाँ ज्ञानाकार भी बदलते हैं। (इस प्रकार) तीन बोल थे। आहा...! मार्ग (को) न्याय के द्वारा समझे नहीं तब (तक) उसे सच्ची श्रद्धा होती नहीं और सच्ची श्रद्धा के बिना सब थोथे-थोथा (हैं) ! वह उपवास करे या तपस्या करे या साधुरूप होकर महाव्रत (का पालन करे) - सब शून्य हैं।

कल कहा था न ? `जिननीति' ! जिननीति अर्थात् जैन का मार्ग, जिनमार्ग ! आहा...! अर्थात् जिन जैसा जो आत्मा का स्वरूप उसकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणता - ऐसा जो मोक्ष का मार्ग वह `जिननीति' है। आहा..हा...! यह लौकिक नीति कहते हैं न कि, लौकिक में सज्जनता (हो), किसी से धन के बारे में विश्वासघात न करें, सज्जनता से काम (करें) - वे तो लौकिक बातें हैं। यह धर्मनीति लौकोत्तर नीति है। `समयसार' में `जैननीति-जैननीति' ऐसा पाठ है। जिन जैसा भगवानआत्मा का वीतराग स्वभाव (है), आ..हा..हा...! उसे मानना, उसे जानना और उसमें स्थित होना - यह जिननीति है। यह जिन का मार्ग है। भीतर रागादि हो सो जैननीति-जैनमार्ग नहीं। आहा...!

ज्ञान स्वयं अपने में रहकर, रागादि होते हैं उन्हें बिना स्पर्श किये-छूए (जानता है)। और वह ज्ञेय है इसलिये उसका यहाँ ज्ञान होता है, वैसा नहीं। आहा...! राग और पुण्य के दया, दान के विकल्प होते हैं, किन्तु वे वास्तव में धर्मी के ज्ञान में परज्ञेयरूप हैं। `मेरे' रूप वे नहीं। `मेरे' रूप माने जब तो वह जैन ही नहीं, मिथ्यादृष्टि है। आहा..हा...! ऐसा समझने की फुरसत कहाँ (है) ? मार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू ! आहा..हा...!

परमेश्वर जिनेश्वर ने कहा है कि, प्रभु ! तू तो जिनस्वरूप है न ! हम पर्याय में जिन हुए हैं। तेरा `स्वभाव' जिनस्वरूप है !! यह जिनस्वरूप का मार्ग जो हमने कहा हुआ मार्ग (है)। आहा..हा...! वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा ! अमृत का विज्ञानघन (है)। उसकी जो श्रद्धा अंदर (स्वभाव) सन्मुख होकर होती है, वैसे विज्ञानघन का ज्ञान होता है और विज्ञानघन में - पर्याय में उसकी रमणता होती है, वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र (है)। यह जिननीति है। आहा..हा...! बहुत फर्क... बात-बात में फर्क...!

यहाँ केवलज्ञान की बात है। परंतु उसका अर्थ साधकज्ञान में भी वही (होता है)। `(**आत्मा और द्रव्य समय-समय पर परिणमन किया करते हैं,...**)' देखिये ! दोनों हाँ...! केवल आत्मा (परिणमित होता है) ऐसे नहीं। दोनों (परिणमित होते हैं)। `(**...वे कूटस्थ नहीं हैं;...**)' कूटस्थ अर्थात् जैसे शिखर होता है और (वह) हिलता नहीं, वैसे (आत्मा) नहीं। पानी में जैसे तरंग उठती हैं वैसे प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय में बदलते रहते हैं-तरंगित होते रहते हैं। द्रवित होना...द्रवित (होते रहते हैं)। आ..हा..हा...!

`(**...इसलिये आत्मा ज्ञान स्वभाव से परिणमन करता है...**)' पर्याय लेनी है न

यहाँपर! कूटस्थ नहीं। (इसलिये) आत्मा ज्ञानस्वभाव के द्वारा होता है-परिणमित है `**(...और द्रव्य ज्ञेय स्वभाव से परिणमन करता है,...)**' यहाँ दोनों लेना है। `**(...इस प्रकार ज्ञान स्वभाव में परिणमित आत्मा ज्ञान के आलंबनभूत द्रव्यों को जानता है...)**' (अर्थात्) ज्ञान के निमित्तभूत द्रव्यों को जानता है। आलंबनभूत अर्थात् निमित्त। भगवान का ज्ञान तीनकाल तीनलोक के सब (द्रव्यों को) जानता है। आहा..हा...! `**(...और ज्ञेय-स्वभाव से परिणमित द्रव्य ज्ञेय के आलंबनभूत ज्ञान में-आत्मा में-ज्ञात होते हैं)।** आहा..हा...! ऐसा सूक्ष्म है !

अभी तो केवलज्ञान किसे कहते हैं उसकी ख़बर नहीं ! `लोगस्स' के तीन बोल आज याद आये! `चंदेसु निम्मलयरा, आईच्चेसु पयासयरा; सागरवरगंभीरा' (ये) तीन बोल उसमें आते हैं। लोगस्स में... !

`चंदेसु निम्मलयरा' (अर्थात्) हे प्रभु ! आपका ज्ञान चंद्र के निर्मल (प्रकाश से) भी निर्मलतर (है) ! - अनंत गुना निर्मल है !

`आईच्चेसु अहियं पयासयरा' - `आईच्चेसु' - आदित-आदि अर्थात् सूर्य। `आईच्चेसु अहियं पयासयरा' - हे नाथ ! आपका ज्ञान तो सूर्यप्रकाश से भी अनंत गुना प्रकाशित है !! आ..हा..हा...!

`सागरवरगंभीरा' (अर्थात्) सागर जो समुद्र है, असंख्य योजन का स्वयंभूरमण समुद्र (है), महागंभीर...! आ..हा..हा...! ऐसे प्रभु ! आपका ज्ञान `सागरवरगंभीरा' (है) !!

(उसमें) एक चौथा (पद) आकाश (का) लिया ! आकाश जिस प्रकार अमाप है, कहीं भी (उसका) नाप नहीं, ऐसे प्रभु ! आपके ज्ञान का कोई नाप नहीं !! आ..हा..हा...!

(यहाँपर कहते हैं) `**(...ज्ञेय-स्वभाव से परिणमित द्रव्य ज्ञेय के आलंबनभूत ज्ञान में-आत्मा में-ज्ञात होते हैं।)**' यह `**परिणामसंबंद्ध**' की व्याख्या हुई। ३६वीं गाथा है न? (उसमें चौथे पद में) `**परिणामसंबद्धं**' (है)। तीन पद की व्याख्या हो गई थी। यह चौथे पद की व्याख्या हाल में चली - `**परिणामसंबद्धं**' ! यानी कि, यहाँपर परिणमन (है) और वहाँ परिणमन (है), उसका संबंध है। निमित्त-नैमित्तिक (संबंध है)। आ..हा..हा...! `**परिणामसंबद्धं**' - (यह) एक पद की इतनी व्याख्या की !! आधा घंटा हुआ !!

यह ज्ञान अधिकार है न ! ऊपर है न ? - `**ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन**' ! बाद में `**ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन**' दूसरा विभाग आयेगा। यहाँ ज्ञानतत्त्व का अधिकार है। (इसलिये कहते हैं)

ज्ञानस्वरूप भगवानआत्मा ! केवलज्ञान-सर्वज्ञ स्वरूपी ही है ! ऐसे सर्वज्ञस्वरूप का पर्याय में-ध्यान में प्रतीत करके, सर्वज्ञस्वरूप का ज्ञान करके, सर्वज्ञस्वरूप में स्थित होकर- उसे (सम्यक्) दर्शन, ज्ञान, चारित्र कहते हैं। उसके द्वारा उसके फल अनुसार केवलज्ञान प्राप्त होता है।

जैसा सर्वज्ञस्वरूप है... राग की प्रतीति नहीं (और) पर्याय जितना नहीं। आ..हा..हा...! भगवान ! चैतन्य सर्वज्ञसूर्य प्रभु ! सबका हाँ...! सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु ! (है)।

(आज) एक ख़त आया है। यहाँपर अध्यात्म की चर्चा है, ऐसा जानते हैं इसलिये बड़ा (ख़त) आया है। (उसमें लिखा है) `अवतारी पुरुष ऐसे होंगे और वैसे होंगे...!' गप पे गप हैं सब ! वीतराग सर्वज्ञ के अलावा किसी ने वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जाना नहीं। आहा..हा...! (लिखा है) `अवतार इस तरह होंगे और आगे ऐसे होंगे... परमात्मा का अवतार होगा और परमात्मा ने यह जगत बनाया है... !' सब कल्पनाएँ हैं ! आ..हा..हा...!

यहाँ तो (कहते हैं)। आत्मा राग को तो उत्पन्न करता नहीं। आत्मा को तो कोई भी उत्पन्न करता नहीं, आत्मा के किसी गुण को उत्पन्न करता नहीं, उसकी पर्याय को भी आत्मा उत्पन्न करता नहीं ! पर्याय पर्याय से उत्पन्न होती है ! आ..हा..हा...! ऐसा उसका स्वरूप ही है। ऐसा भगवान ने देखा और भगवान ने कहा (है)। अरे...! सुनने भी मिले नहीं ! और भगवान के नामपर... बेचारे (लोगों का) जीवन चला जाता है ! आहा..हा...! और उसकी वास्तविक श्रद्धा और ज्ञान के अलावा उसके जन्म-मरण मिटनेवाले नहीं, प्रभु ! आहा...!

अरबपति सब, दस-दस लाख, बीस-बीस लाख की कमाई(वाले) बनिया हो (इसलिये) मांस, दारू खाते नहीं हो, परंतु वे मरकर... बापू ! क्या कहें ? (तिर्यंच में जायेंगे)! प्रभु ऐसा कहते हैं कि, पंचेन्द्रिय तिर्यंच-पशु की जाति बहुत हैं ! उनमें वे (अरबपति) पशु होनेवाले हैं !! अर..र..र...! दारू और मांस खानेवाले तो मरकर नर्क में जायेंगे। परंतु (यह सब) बनिये को - आर्य मनुष्य को तो हो नहीं सकता, समझ में आया? परंतु धर्म की ख़बर नहीं। सम्यग्दर्शन क्या ? और उसका विषय क्या ? वैसे चार चार घंटो का सत्समागम और सच्चे शास्त्र (का) पठन हो तो उसे पुण्य बंध भी हो, यह भी प्राप्त नहीं ! आधा घंटा-घंटा पढ़कर (पूरा करे) ! अरे..रे...! भाई !

तीनलोक के नाथ जिनेश्वरदेव `आत्मा' किसे कहते हैं ? `गुण' किसे कहते हैं ? उसके `धर्म की पर्याय' किसे कहते हैं ? उसके `अधर्म की पर्याय' किसे कहते हैं? उसकी ख़बर बिना बापू...! कहाँ जायेगा भाई ! आहा...! सम्यग्ज्ञान का धागा नहीं पिरोया होगा तो धागारहित सुई खो जायेगी, भाई ! आ..हा..हा...! भले ही पाँच-पचास लाख इकट्ठे किये हो और हर साल दस हजार-बीस हजार का दान करते हो, उतना तो देते नहीं परंतु शायद देते हो मान लें ! (किन्तु इससे क्या ?) यह क्या चीज है ? भगवान क्या कहते हैं उसका ज्ञान भी सच्चा न हो तो यह धागारहित सुई खो जायेगी ! भाई ! चौरासी के अवतार में कहाँ जायेगा ? आहा..हा...!

श्रोता :- ज्यादातर लोगों को तो पुनःजन्मपर भरोसा नहीं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- यहाँ से जाना है, बापू ! यह देह तो पाँच-पचास-सौ वर्ष (है)। आगे देह छोड़कर कहाँ जायेगा, भाई ? आत्मा कोई नाश होनेवाला नहीं, आहा..हा...! कैसे तेरे परिणाम हैं और उन परिणाम के फल (में) कहाँ जायेगा, बापू...! आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं - ओ..हो..हो...! आत्मा का केवलज्ञान स्वभाव, अरिहंत के केवलज्ञान स्वभाव का यह वर्णन है !!

३७ गाथा (में) ऊपर (आमुख है)। **`अब, ऐसा उद्योत करते हैं कि द्रव्यों की अतीत...**' वस्तु के अतीत अर्थात् भूतकाल हो गया उसकी अनंत पर्याय। **`...अनागत पर्यायें भी...**' और भविष्य की नहीं उत्पन्न हुई ऐसी अनागत की अनंत पर्यायें... अनंत... अनंत... आहा..हा...! **`...तात्कालिक पर्यायों की भाँति...**' जैसे अभी यह है - वैसे वर्तमान में भगवान केवलज्ञानी जानते हैं। समझ में आया ?

अनंतकाल हुआ और अनंत अवस्थाएँ बीत गई और भविष्य अभी अनंतकाल है उसकी पर्यायें (उत्पन्न) हुई नहीं किन्तु भगवान का ज्ञान, वर्तमान जिस तरह ऐसे देखते हैं वैसे तीनकाल और वर्तमान देखते (हैं) !! आहा..हा...! प्रभु ! तेरे ज्ञान के स्वभाव की स्थिति-मर्यादा तो देख ! आहा...! ऐसा सर्वज्ञस्वभाव प्रभु ! तेरे में भरा पड़ा है!! आ..हा..हा..हा...!

अनंत पर्यायें बीत गई। अनंत परमाणुओं की, अनंत आत्माओं की, एक धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल की अनंत पर्यायें बीत गई। और अनंत पर्यायें भविष्य में होंगी। अंत रहित अनंती पर्यायें...! आ..हा..हा...! उन सब पर्यायों को-अवस्थाओं

को भगवान का ज्ञान... आहा..हा...! `**...तात्कालिक पर्यायों की भाँति...**' यह वर्तमान है, ऐसे जाने !! वैसे। आ..हा..हा...! `**...पृथकरूप से...**' वैसे प्रत्येक पर्याय भिन्न भिन्न है उस प्रकार ज्ञान जानता है ! आ..हा..हा...! अनंत परमाणुओं की, अनंत सिद्धों की, (अनंत) जीवों की अनंत पर्याय बीत गई, उन्हें भिन्न-भिन्न (जानता है)। प्रत्येक को भिन्न-भिन्न (जानते हैं)। दो की खिचड़ी की तरह नहीं। आहा..हा...! क्या बात है !!

श्रोता :- यह भी एक चमत्कार है !!

पूज्य गुरुदेवश्री :- चैतन्य चमत्कार !! प्रभु ! चैतन्य अर्थात् क्या !! बापू...! यह ज्ञान परमेश्वर है !! आहा...! उसके प्रत्येक गुण में प्रभुता पड़ी है। उसके ज्ञानगुण में ईश्वरता पड़ी है। उसके दर्शनगुण में ईश्वरता-प्रभुता पड़ी है। उसके आनंदगुण में प्रभुता पड़ी है। ऐसे अनंतगुण में प्रभुता पड़ी है। आहा..हा...!

ऐसा जो प्रभु ! जिसने (उसके) अंतर में से सर्वज्ञपना प्रगट किया है। `है' यह ऐसे प्राप्त की प्राप्ति की है, ऐसे केवलज्ञानी परमात्मा अनंत अनंत पदार्थ की पर्यायें बीत गई है और अभी भविष्य की अनंत (पर्याय) हुई नहीं, उसे इसप्रकार वर्तमानवत् जानते हैं !! आहा...हा...! (टीका में) दृष्टांत लेंगे।

जैसे (एक) सामान्य औरत है (उसने) आटे के पिंड में से (थोड़ा पिंड) निकाला। उसके खयाल में है कि यह पर्याय है। उसी (समय) ख़याल में है कि पहले आटे की पर्याय थी। उसे वर्तमान (में) ख़याल है। और इसकी रोटी बनेगी, उस समय यह ख़याल में आ जाता है, आहा..हा...! यह तो एक दृष्टांत (है)। वैसे प्रत्येक द्रव्य की पर्याय का ज्ञान छद्मस्थ को भी आ जाता है, आहा..हा...! किन्तु उसने कब विचार किया है ? आहा..हा...! समझ में आया ? आहा..हा...!

रोटी का थोड़ा आटा लिया ऐसे... किन्तु उसके ख़याल में आया था कि पहले यह पिंड था, अभी जो बेलने की क्रिया हो रही है इसलिये चौड़ी हो रही है और आगे रोटी बनेगी। छद्मस्थ को भी उसका एक समय का वर्तमानवत् ख़याल आ जाता है !

वैसे कुम्हार (का दृष्टांत है)। कुम्हार के ख़याल में मिट्टी है, उसकी पर्याय का ख़याल है। इस मिट्टी में से घड़ा होगा, पिंड की अवस्था का व्यय होगा, (आगे) घड़े की अवस्था होगी। यह (घड़े की अवस्था) होगी। यह (घड़े की अवस्था) होगी,

यह पहले से ख़याल में है (कि) ऐसा घड़ा होगा ! आहा..हा...! समझ में आया?

ऐसे कलम करते हैं कलम... तो कलम करने से पहले ऐसी पर्याय थी, अब ऐसी हो रही है और वैसी रहेगी। उसका उसे ख़याल आ जाता है या नहीं ?

श्रोता :- एक ही साथ आता है या क्रमशः-क्रमशः ?

समाधान :- एक साथ ! (ख़याल में आता है)। ऐसा उसका 'स्वभाव' है ! आ..हा..हा...! समझ में आया ? इसप्रकार एकसाथ ख़याल में है। भले ही क्रम पड़े परंतु ऐसे एकसाथ ख़याल में आता है।

ऐसे भगवान के ज्ञान में अनंत द्रव्य जो है, उनकी अनंत पर्याय हो गई, अनंत पर्यायें भविष्य में होंगी - उसे इसप्रकार वर्तमानवत् जानते हैं ! यह है... यह है... (वैसे) ! आ..हा..हा...! यह ज्ञान का सामर्थ्य है ! पर्याय का हाँ...! आहा..हा...! और ज्ञेयों की भी ऐसी शक्ति है कि, (स्वयं) जिस प्रकार जैसा है-वह उसे अर्पित करता है ! ज्ञान में ज्ञात हो जाता है। आहा..हा...!

यहाँ तो केवलज्ञान को सिद्ध करना है। किन्तु ज्ञानस्वरूपी प्रभु ! उस ज्ञान का जब भान हुआ तब वह वर्तमान पर्याय को जानता है, भविष्य की ऐसी (पर्याय) होगी उसे भी जानता है और यह बीत गई उसे भी जानता है। ऐसा ज्ञानपर्याय का स्वभाव (है)। और सामने रागादि, शरीरादि की पर्याय हुई, (होती) है और होगी उसका भी उसे ख़याल (है)। (दृ.रू.) शरीर अभी इसप्रकार है, यह लेने के लिए इस तरह झुकेगा। सब्जी लेने के लिये (जो) इसप्रकार है सो ऐसे मुड़ेगा - (ऐसी) यह वर्तमान पर्याय, मुड़ेगी ऐसी पर्याय और हो गई पर्याय, यह भी उसके ख़याल में आ जाती है। उसे करता नहीं। (परंतु उसके ज्ञान में आ जाता है), आ..हा..हा...! ऐसी बातें अब...! ऐसा उपदेश...!

'सर्व व्यापक' (मानते हैं) उसका बड़ा ख़त आया है। यहाँ का नाम अध्यात्म में (बड़ा) है न इसलिये भेजा है। (किसी ने लिखा है, कोई) 'अवतारी पुरूष हुये हैं और अवतार लेंगे और इस-इसप्रकार की औरतें (स्त्रियाँ) हो गई और...!' अरे..रे...! भाई ! मार्ग बापू...! वीतराग सर्वज्ञ के अलावा कहीं भी है नहीं। आहा...! अपने संप्रदाय को मालूम नहीं तो औरों को कहाँ (ख़बर हो) ? आहा...!

अथातिवाहितानागतानामपि द्रव्यपर्यायाणां तादात्विकवत् पृथक्त्वेन ज्ञाने वृत्तिमुद्योतयति-

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तार्सि।

वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।।३७।।

तात्कालिका इव सर्वे सदसद्भूता हि पर्यायास्तासाम्।

वर्तन्ते ते ज्ञाने विशेषतो द्रव्यजातीनाम्।।३७।।

सर्वासामेव हि द्रव्यजातीनां त्रिसमयावच्छिन्नात्मलाभभूमिकत्वेन क्रमप्रतपत्स्वरूपसंपदः सद्भूतासद्भूततामायान्तो ये यावन्तः पर्यायास्ते तावन्तस्तात्कालिका इवात्यन्तसंकरेणाप्यवधारित-विशेषलक्षणा एकक्षण एवावबोधसौधस्थितिमवतरन्ति। न खल्वेतदयुक्तं-दृष्टाविरोधात्। दृश्यते हि छद्मस्थस्यापि वर्तमानमिव व्यतीतमनागतं वा वस्तु चिन्तयतः संविदालम्बितस्तदाकारः। किंच चित्रपटीस्थानीयत्वात् संविदः; यथा हि चित्रपट्यामतिवाहितानामनुपस्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनामालेख्याकाराः साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते, तथा संविद्भित्तावपि। किंच सर्वज्ञेयाकाराणां तादात्विकत्वाविरोधात्; यथा हि प्रध्वस्तानामनुदितानां च वस्तूनामालेख्याकारा वर्तमाना एव, तथातीतानामनागतानां च पर्यायाणां ज्ञेयाकारा वर्तमाना एव भवन्ति।।३७।।

एवं निश्चयश्रुतकेवलिव्यवहारश्रुतकेवलिकथनमुख्यत्वेन भिन्नज्ञाननिराकरणेन ज्ञानज्ञेयस्वरूपकथनेन च चतुर्थस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्। अथातीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने सांप्रता इव दृश्यन्त इति निरूपयति–**सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया** सर्वे सद्भूता अपि पर्यायाः ये हि स्फुटं वट्टंते ते ते पूर्वोक्ताः पर्याया वर्तन्ते प्रतिभासन्ते प्रतिस्फुरन्ति। क्व। **णाणे** केवलज्ञाने। कथंभूता इव। **तक्कालिगेव** तात्कालिका इव वर्तमाना इव। कासां सम्बन्धिनः। **तासिं दव्वजादीणं** तासां प्रसिद्धानां शुद्धजीवद्रव्यादिद्रव्यजातीनामिति। व्यवहितसंबन्धः। कस्मात्। **विसेसदो** स्वकीयस्वकीयप्रदेशकालाकारविशेषैः संकरव्यतिकरपरिहारेणेत्यर्थः। **किंच**-यथा छद्मस्थपुरुषस्यातीतानागतपर्याया मनसि चिन्तयतः प्रतिस्फुरन्ति, यथा च चित्रभित्तौ बाहुबलिभरतादिव्यतिक्रान्तरूपाणि श्रेणिकतीर्थंकरादिभाविरूपाणि च वर्तमानानीव प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते तथा चित्रभित्तिस्थानीयकेवलज्ञाने भूतभाविनश्च पर्याया युगपत्प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते, नास्ति विरोधः। यथायं केवली भगवान् परद्रव्यपर्यायान् परिच्छित्तिमात्रेण जानाति, न च तन्मयत्वेन, निश्चयेन तु केवलज्ञानादिगुणाधारभूतं स्वकीयसिद्धपर्यायमेव स्वसंवित्त्याकारेण तन्मयो भूत्वा परिच्छिनत्ति जानाति, तथासन्नभव्यजीवेनापि निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयपर्याय एव सर्वतात्पर्येण ज्ञातव्य इति तात्पर्यम्।।३७।।

अब, ऐसा उद्योत करते हैं कि द्रव्योंकी अतीत और अनागत पर्यायें भी तात्कालिक पर्यायोंकी भाँति पृथक्‌रूपसे ज्ञानमें वर्तती हैं :-

गाथा ३७

ते द्रव्यना सद्‌भूत-असद्‌भूत पर्ययौ सौ वर्तता।
तत्कालना पर्याय जेम, विशेषपूर्वक ज्ञानमां।।३७।।

अन्वयार्थ :- [तासाम् द्रव्यजातीनाम्] उन (जीवादि) द्रव्यजातियोंकी **[ते सर्वे]** समस्त **[सदसद्‌भूताः हि]** विद्यमान और अविद्यमान **[पर्यायाः]** पर्यायें **[तात्कालिकाः इव]** तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायोंकी भाँति, **[विशेषतः]** विशिष्टतापूर्वक (अपने-अपने भिन्न-भिन्न स्वरूपमें) **[ज्ञाने वर्तन्ते]** ज्ञानमें वर्तती हैं।

टीका :- (जीवादिक) समस्त द्रव्यजातियोंकी पर्यायोंकी उत्पत्तिकी मर्यादा तीनोंकालकी मर्यादा जितनी होनेसे (वे तीनोंकालमें उत्पन्न हुआ करती हैं इसलिये), उनकी (उन समस्त द्रव्य-जातियोंकी), क्रमपूर्वक तपती हुई स्वरूप-सम्पदा वाली (-एकके बाद दूसरी प्रगट होनेवाली), विद्यमानता और अविद्यमानताको प्राप्त जो जितनी पर्यायें हैं, वे सब तात्कालिक (वर्तमानकालीन) पर्यायोंकी भाँति, अत्यन्त मिश्रित होनेपर भी सब पर्यायोंके विशिष्ट लक्षण स्पष्ट ज्ञात हों इसप्रकार, एक क्षणमें ही, ज्ञानमंदिरमें स्थितिको प्राप्त होती हैं। यह (तीनोंकालकी पर्यायोंका वर्तमान पर्यायोंकी भाँति ज्ञानमें ज्ञात होना) अयुक्त नहीं है; क्योंकि -

(१) उसका दृष्टके साथ (जगतमें जो दिखाई देता है-अनुभवमें आता है उसके साथ) अविरोध है। (जगतमें) दिखाई देता है कि छद्मस्थके भी, जैसे वर्तमान वस्तुका चिंतवन करते हुए ज्ञान उसके आकारका अवलम्बन करता है उसीप्रकार भूत और भविष्यत वस्तुका चिंतवन करते हुए (भी) ज्ञान उसके आकारका अवलम्बन करता है।

(२) और ज्ञान चित्रपटके समान है। जैसे चित्रपटमें अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुओंके आलेख्याकार साक्षात् एक क्षणमें ही भासित होते हैं; उसीप्रकार ज्ञानरूपी भित्तिमें (-ज्ञानभूमिकामें, ज्ञानपटमें) भी अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायोंके ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षणमें ही भासित होते हैं।

(३) और सर्व ज्ञेयाकारोंकी तात्कालिकता (वर्तमानता, साम्प्रतिकता) अविरुद्ध है। जैसे नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओंके आलेख्याकार वर्तमान ही हैं, उसीप्रकार अतीत और

अनागत पर्यायोंके ज्ञेयाकार वर्तमान ही हैं।

भावार्थ :- केवलज्ञान समस्त द्रव्योंकी तीनों कालकी पर्यायोंको युगपद् जानता है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायोंको वर्तमान कालमें कैसे जान सकता है ? उसका समाधान है कि-जगतमें भी देखा जाता है कि अल्पज्ञ जीवका ज्ञान भी नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओंका चिंतवन कर सकता है, अनुमानके द्वारा जान सकता है, तदाकार हो सकता है; तब फिर पूर्ण ज्ञान नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायोंको क्यों न जान सकेगा ? ज्ञानशक्ति ही ऐसी है कि वह चित्रपटकी भाँति अतीत और अनागत पर्यायोंको भी जान सकती है। और आलेख्यत्वशक्तिकी भाँति, द्रव्योंकी ज्ञेयत्व शक्ति ऐसी है कि उनकी अतीत और अनागत पर्यायें भी ज्ञानमें ज्ञेयरूप होती हैं ज्ञात होती हैं। इस प्रकार आत्माकी अद्भूत ज्ञानशक्ति और द्रव्योंकी अद्भूत ज्ञेयत्व शक्तिके कारण केवलज्ञानमें समस्त द्रव्योंकी तीनोंकालकी पर्यायोंका एक ही समयमें भासित होना अविरुद्ध है।।३७।।

(**दिनांक १०-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-३५**)

(३७ गाथा)।

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।

वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।।३७।।

`**तक्कालिगेव...**' (अर्थात्) `**तात्कालिका इव...**' (संस्कृत में है न ?) (वह उसका अर्थ है)। `**विसेसदो दव्वजादीणं...**' (अर्थात्) भिन्न-भिन्न प्रकार से सब हैं सो सब जानते हैं।

हरिगीत :-

ते द्रव्यना सद्भूत-असद्भूत पर्ययौ सो वर्तता।

तत्कालना पर्याय जेम, विशेषपूर्वक ज्ञानमां।।३७।।

`सद्भूत' अर्थात् वर्तमान और `असद्भूत' अर्थात् भूत(काल) और भविष्य(काल)। आहा..हा...! भगवान ! तेरा स्वभाव जानने का है ! किसी राग का करना या

शरीर का करना, व्यापार का करना - यह तेरा स्वरूप ही नहीं, आहा..हा...! (कलश में से) थोड़ा देखा था - `स्वरूपग्राहीज्ञान उसे जानता है...' (`समयसार'-६० नंबर के) कलश में आता है न ? अग्नि उष्ण है, पानी गर्म है और वस्तु ठंडी है। ऐसा जानता कौन है ? कि, जिसे स्वरूप का ज्ञान हुआ हो वह उसको बराबर जानता है। कलश में (आता) है न ? (जब कि) `कलशटीका' में ऐसा कहा है - **`ज्ञानेन भेदज्ञान...**' ऐसे कहकर (लिया है)। जिसे, राग से भिन्न आत्मा चैतन्यस्वरूप है उसका ज्ञान हुआ है - वैसा भेदज्ञानी जीव अग्नि गरम है और पानी ठंडा है और यह गरम हुआ है - इसप्रकार दो का भेद, स्वरूप का ज्ञान हुआ हो सो पर को यथार्थ जानता है। परंतु जिसे स्वरूप का ज्ञान नहीं वह पर को यथार्थ जान सकता नहीं। यह कलश में - `कलशटीका' में आ गया है - `स्वरूपग्राहीज्ञान' ! उसका अर्थ क्या किया है ? (यह देखा)। इसमें (`समयसार' में) क्या किया है ? और (`कलशटीका' में) क्या किया है ? वह दोपहर में देखा, आहा...!

इसका अर्थ यह हुआ कि, यह आत्मा आनंद और ज्ञानस्वरूप है, यह राग से भिन्न है, एक समय की पर्याय मात्र भी नहीं, ऐसा जिसे ज्ञान हुआ वह स्वरूप का ज्ञान हुआ। यह स्वरूप का जो ज्ञान हुआ वह परवस्तु को जैसा है वैसा बराबर जान सकता है। स्वरूप का जिसे ज्ञान नहीं वह परवस्तु को यथार्थ जान सकता नहीं। कुछ न कुछ अंदर में से विपरीतता उठेगी ! आहा..हा...! ऐसा है !

टीका :- **`(जिवादि),...**' छः द्रव्य **`...समस्त द्रव्यजातियों की पर्यायों की उत्पत्ति की मर्यादा...**' (अर्थात्) प्रत्येक परमाणु, प्रत्येक आत्मा, धर्मास्ति आदि छः द्रव्यजाति। द्रव्य की छः जाति हैं न ? **`समस्त द्रव्यजातियों की पर्यायों**' अर्थात् अवस्थाएँ। **`...उसकी उत्पत्ति की तीनोंकाल की मर्यादा जितनी होने से...**' (अर्थात्) भूतकाल में उत्पन्न हुई, वर्तमान में उत्पन्न (होती है) और भविष्य में उत्पन्न (होगी)। प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक आत्मा-जितने जगत में पदार्थ हैं - अनंत परमाणु और अनंत आत्मा, उनकी जो पर्यायें हो गई है और होगी - उन तीनोंकाल की मर्यादा जितनी है।

प्रत्येक द्रव्य की तीनोंकाल की मर्यादा जितनी पर्यायें हैं, आहा..हा...! यह शरीर (के) परमाणु हैं, उनमें भी समय-समय की अनंत पर्याय हो गई हैं और भविष्य में होंगी - उन तीनोंकाल के समय की पर्यायों को तीनकाल स्पर्श करते हैं, आहा..हा...!

इसप्रकार आत्मा की जो पर्याय हैं - तीनकाल (की) अवस्थाएँ (हैं) (उसकी) उत्पत्ति की मर्यादा तीनकाल की मर्यादा जितनी (है), आहा..हा...! सूक्ष्म बहुत, बापू ! वीतराग मार्ग सूक्ष्म बहुत !!

`समस्त द्रव्यजाति' अर्थात् `छः' द्रव्यजाति। (परंतु) संख्या से अनंत। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, पुद्गल (और) जीव। (इसप्रकार) छः द्रव्य हैं - जाति छः हैं परंतु संख्या अनंत हैं। प्रत्येक पर्याय की मर्यादा (अर्थात्) प्रत्येक द्रव्य और पदार्थ की अवस्था की उत्पत्ति का काल-मर्यादा-सीमा-तीनकाल की सीमा जितनी है, आ..हा..हा...! अनंतकाल बीत गया उनकी अनंत पर्यायें उत्पन्न हुई थी, हाल में अनंत गुण की अनंत पर्यायें हैं और भविष्य में अनंत होगी - उन तीनोंकाल की मर्यादा जितनी पर्यायें हैं, आ..हा..हा...!

`...(वे तीनोंकाल में उत्पन्न हुआ करती हैं इसलिये),...'** देखा ? वस्तु जो है सो तो द्रव्य और गुण त्रिकाल हैं परंतु उसकी जो अवस्था है वह उत्पन्न होती रहती है। **`(...तीनोंकाल में उत्पन्न हुआ करती हैं इसलिये), उनकी (उन समस्त द्रव्य-जातियों की), क्रमपूर्वक तपती हुई,...' आ..हा..हा...! प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमशः - एक के बाद एक... एक के बाद एक... क्रमपूर्वक होती है। यह तो `क्रमबद्ध' आ गया!! आ..हा...! ऐसे भी `क्रमवर्ती पर्याय' कहलाती है न ! उस `क्रमवर्ती' (को) यहाँ `क्रमपूर्वक' कहा ! दूसरी जगह `क्रमबद्ध' कहा। (अर्थात्) क्रमशः होती है और नियमित (अर्थात्) (जो) पर्याय होनेवाली है वही होती है।

प्रत्येक आत्मा और रजकण की जिस समय जो पर्याय होती है सो क्रमपूर्वक होगी। जिस समय जो होनेवाली है सो उसका जन्म(क्षण)-उत्पत्तिकाल है, जन्मकाल है। आत्मा में और परमाणु में जिस समय जो पर्याय होनेवाली है... जो होनेवाली... सो उसका उत्पत्ति-जन्मक्षण है, उत्पत्ति का काल है, आहा..हा...! आगे-पीछे नहीं होगी। आज जो होनेवाली है (सो) बाद में होगी, बाद में होनेवाली (आज होगी) उसका मतलब क्या ? आहा..हा...! `क्रमवर्ती' ली है न ? यहाँपर `क्रमपूर्वक' (कहा है)। **`...क्रमपूर्वक तपती हुई स्वरूप-संपदा,...'** आ..हा..हा...!

सर्वज्ञ वीतराग केवली हैं, (वे) एक समय में तीनकाल तीनलोक को जानते हैं, उनका कहा हुआ यह मार्ग है ! केवलज्ञान है (उसमें) प्रत्यक्ष देखा है। जिस समयपर

जो पर्याय होनेवाली है (सो) भगवान ने देखी है, आहा..हा...! `जे जे देखी वीतरागने, ते ते होसी वीरा, अनहोनी कबहु न होसे, काहे होत अधीरा ?' आहा..हा...!

श्रोता :- `क्रमबद्धपर्याय' है सो सर्वज्ञ का प्राण है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- प्राण है...! पर्याय व्यवस्थित क्रमपूर्वक होती है। आत्मा में और परमाणु में जिस समय जो (पर्याय) होनेवाली है वह होती है, दूसरे समय जो होनेवाली है वह होती है, तीसरे समय जो होनेवाली है वह होती है... आ..हा..हा...! परंतु वह क्रमपूर्वक पर्याय का निर्णय करनेवाला पर्यायपर दृष्टि रखकर निर्णय नहीं कर सकेगा। ज्ञायकस्वरूप भगवानआत्मा है उसका निर्णय करने से यह क्रमपूर्वक का ज्ञान उसे यथार्थ होगा। भारी बातें, बापू...! आ..हा..हा...!

श्रोता :- पहले धारणा में तो स्पष्ट निर्धारित होना चाहिये !

पूज्य गुरुदेवश्री :- धारणा में बराबर ख़याल आये तो ज्ञान कार्य करता है। अभी तो धारणा में ही ज्ञान अयथार्थ (हो), इसका कर दूँ... उसका कर दूँ... और आगे-पीछे कर दूँ (इसप्रकार) होता है, आहा..हा...! कौन कर सकता है ? जो होनेवाली थी वह पर्याय भविष्य में होगी, आहा..हा...! सूक्ष्म बातें हैं, भाई...! विशेष कहेंगे...

`प्रवचनसार', गाथा-३७। यहाँ तक १ अंक पहले आ गया है। क्या कहा है इसमें ? कि, आत्मा है सो सर्वज्ञस्वरूपी है। प्रत्येक आत्मा...! यानी कि शक्ति से केवलज्ञानस्वरूपी ही है। उस (शक्ति) की जब प्रगटता-केवलज्ञान होता है; सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के साधन द्वारा एक समय में तीनकाल, तीनलोक को जाने वैसा केवलज्ञान होता (है), (तब) यह केवलज्ञान तीनकाल, तीनलोक के द्रव्य, गुण, पर्याय को जानता है।. वर्तमान वर्तती पर्याय को तो जानता है परंतु भूतकाल-बीते काल की जो पर्यायें नष्ट हो गई हैं उन्हें भी वर्तमानवत् जानता है !! आहा..हा...! और भविष्य में (होनेवाली) जो अनंत पर्याय होंगी, अभी तक नहीं हुई, उन्हें भी वर्तमानवत् जानता है !! ओ..हो..हो...! ऐसा चैतन्य का चमत्कारिक स्वभाव है !! आहा...!

वैसा केवलज्ञान जगत में है और तीनकाल, तीनलोक की पर्यायें जानता है। तो उसका अर्थ ऐसा हुआ कि, वीतराग ने जिस समयपर, जो पर्याय, जिसकी (होनेवाली) देखी है, सो होगी। उसमें वीतराग (को) भी अपनी (जो) पर्याय जिस समय होगी

सो होती है, उसे (स्वयं वीतराग) भी बदल सकते नहीं। तो दूसरों की पर्याय दूसरा बदल तो सकता नहीं परंतु वह दूसरा भी अपनी पर्याय को आगे-पीछे कर सके (या) फेरफार (कर सके) वैसा होता नहीं। अरे...! ऐसी बात ! सूक्ष्म मार्ग है !

भगवान ने जो देखा - ''जे जे देखी वीतराग ने, ते ते होसी वीरा, अनहोनी कबहु न होसी, काहे होत अधीरा ?' ऐसी जिसकी दृष्टि होती है, उसकी दृष्टि का विषय सर्वज्ञप्रभु है। उस सर्वज्ञ को (अर्थात्) अपने स्वभाव को वह जानता और मानता है। आहा...! और सर्वज्ञरूपी प्रभु यानी कि ज्ञानस्वरूपी-पूर्ण ज्ञानस्वरूप को जो जानते हैं और स्वसम्मुख होकर उसकी प्रतीति करता है और स्वरूप में रमणता करता है उसे केवलज्ञान होता है, आहा..हा...! किसी क्रियाकांड के द्वारा केवलज्ञान होता है, वैसा नहीं। क्योंकि उसका जानने का स्वभाव है कि जिसके द्वारा केवलज्ञान तीनकाल, तीनलोक की पर्याय को जानता है।

वैसे नीचे श्रुतज्ञानी भी परोक्ष रीति से तीनकाल, तीनलोक के द्रव्य, गुण, पर्याय को जानते हैं। और जानते हुए भी उनकी दृष्टि स्वरूप पर होती है। धर्मी की दृष्टि पर्याय को जानती है, परंतु दृष्टि उसपर होती नहीं। अरे...! ऐसी बातें हैं ! त्रिकाली ज्ञायक स्वरूप है उसपर उसकी दृष्टि होती है इसलिये उसे सम्यग्दर्शन में श्रद्धा है कि जिस समयपर जिस जड़ की जिस चेतन की जो पर्याय होती है सो होती है, ऐसी मान्यता के कारण वह पर का भी बदलाव कर सकता नहीं; पर का तो कर सकते नहीं परंतु अपनी पर्याय में बदलाव कर सकता नहीं, आहा..हा...!

प्रश्न :- कर्म मे तो बदलाव होता है कि नहीं ?

समाधान :- कर्म में भी कोई बदलाव (हो सकता नहीं)। क्रमबद्धपर्याय उसमें जो होनेवाली है सो होती है।

प्रश्न :- उदीरणा क्यों कही जाती है ?

समाधान :- उदीरणा तो नाम कहलाता है। वैसे उस समय में उदीरणा होने लायक है (अतः होती है)। ऐसा पाठ शास्त्र में है। उदीरणा जिसकी होने लायक है उसकी उदीरणा होती है, ऐसी बात है।

प्रश्न :- जल्द उदय आ गया ?

समाधान :- नहीं...नहीं... उदीरणा का वह समय है। उस समय उस कर्म की

उदीरणा का पर्याय होने का अपना स्वकाल है। ऐसी बात है ! सूक्ष्म बहुत... ! `समझ में आया ? यह प्रश्न हमारे संप्रदाय में भी बहुत चर्चित हुआ है कि, इस कर्म को तो बदल सके न ? परंतु कर्म के परमाणु में भी जिस समय में जो पर्याय कर्म की होनेवाली है उसी समय होती है और जिस समय जानेवाली है उसी समय जाती है। आत्मा ने पुरुषार्थ किया इसलिये वह वहाँ जाती (है, ऐसा नहीं है)। उसके पर्याय में कर्मरूप नहीं होने की पर्याय की लायकी थी इसलिये अकर्मरूप हुई है। कठिन काम बहुत !

जीव में ही क्रमबद्ध है और जड़ में नहीं, ऐसा नहीं है। प्रत्येक परमाणु में भी जिस समयपर जो पर्याय की उत्पत्ति का जन्मक्षण है, उसी समय वह पर्याय उत्पन्न होती है। आत्मा के कारण नहीं। और जिस समयपर वह पर्याय का व्यय होनेवाला है उसी समय होता है, वह आत्मा के कारण नहीं, आहा..हा...! वीतरागमार्ग सूक्ष्म बहुत, बापू !

यहाँपर तो यह सिद्ध करना है कि, `(**तीनोंकाल की पर्यायों का वर्तमान पर्यायों की भाँति...**)' है १ अंक के ऊपर ? `तीनोंकाल के पर्यायों का' - पर्याय अर्थात् अवस्था। आहा..हा...!

अबतक यह बड़ा विवाद (चल) रहा है न ! कि, पर्याय को आगे-पीछे-बदल सकते हैं ! उसने पदार्थ की व्यवस्था जानी नहीं (और) केवलज्ञान में जो जाना सो होता है, उसकी उसे श्रद्धा नहीं। आहा..हा...! कठिन बात है !

`स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में आता है न, भाई ? `कालादि लब्धि देखते,...' (अर्थात्) जिस समय वह पर्याय की काल प्राप्ति है उसी समयपर (वह पर्याय) होगी। जड़ में या चैतन्य में या छः द्रव्यों में (सब में यह सिद्धांत लागू होता है)। आहा..हा...! कठिन काम, भाई ! अबतक तो विपरीतता बहुत हो चुकी है।

उसका दृष्टि ज्ञायक स्वरूप (ऊपर) है। और भगवान जिस प्रकार जानते हैं वैसे मैं भी एक जाननेवाला हूँ। भले ही अल्पज्ञान में (वैसे जानता है) परंतु जाननेवाला त्रिकाल है न ! उस त्रिकाली जाननेवाले पर जिसकी दृष्टि है, उसे जिस समय जो पर्याय होनेवाली है, उसका वह जाननेवाला रहेगा। आहा..हा...! सूक्ष्म सही...!

वास्तव में तो उसमें एक `भाव' नामक गुण है। उस गुण के द्वारा उस समय

पर्याय होती है। होनेवाली है सो (होती) है। अनंतगुण की (पर्याय) होगी। `भाव' (गुण के) कारण (होगी) किन्तु `भाव' का रूप सब गुणों में है न ! तो ज्ञान में भी जिस समय की जो पर्याय होनेवाली है, वैसा ज्ञानगुण में भावगुण का रूप है। आहा..हा...! कठिन काम बहुत, बापू ! वीतरागमार्ग (बहुत सूक्ष्म) ! बनिये को फुरसत मिले नहीं और दो घड़ी सुनने जाय और जो कहे, उसमें हामी (भर दे)...! आहा..हा...!

सर्वज्ञ परमेश्वर एक समय में तीनकाल की पर्याय को जानते हैं ! आ..हा..हा...! बीत चुकी है, है और होनेवाली। यह कहा न (यहाँपर) ? `(**तीनों काल की पर्यायों का...**)' पर्याय अर्थात् अवस्था। `(**...वर्तमान पर्यायों की भाँति...**)' आ..हा..हा...! वर्तमान अवस्था वर्त रही है उसकी भाँति ! तीनोंकाल की पर्याय उसकी (वर्तमान पर्याय की) भाँति, `(**...ज्ञान में ज्ञात होना**) **अयुक्त नहीं है;...**' आ..हा..हा...!

जिस समयपर जो पर्याय जिसकी जो होनेवाली है सो सो द्रव्य की होती है। और सो सो भगवान ने देखा है, इसलिये ऐसी होगी वैसा भी नहीं। वहाँ होने का काल है इसलिये वहाँ होती है, आहा..हा...!

(यहाँपर) यह कहते हैं, `(**तीनोंकाल की पर्यायों का वर्तमान पर्यायों की भाँति ज्ञान में ज्ञात होना**) **अयुक्त नहीं है...**' यहाँ तक आया था। `क्योंकि-' अब न्याय देते हैं।

(१) `**उसका दृष्टि के साथ** (**जगत में जो दिखाई देता है-अनुभव में आता है उसके साथ**) **अविरोध है।**' (अर्थात् उसके साथ) बाधा नहीं आती। क्या ? `(**जगत में**) **दिखाई देता है कि छद्मस्थ के भी, जैसे वर्तमान वस्तु का चिंतवन करते हुए ज्ञान उसके आकार का अवलंबन करता है उसीप्रकार...**' आ..हा..हा...! कल `आटे' का दृष्टांत दिया था न ?

आटा जो है, उसमें से इस तरह कटाई होती है, यह काटने की क्रिया तो उस समय होनेवाली थी, अँगुली के द्वारा हुई नहीं। और उस समय आटे की रोटी बनेगी, वह इसप्रकार होगी ऐसा ज्ञान तो उसी समय हो जाता है। वर्तमान आटे का लोया... `लोया' कहते हैं न क्या कहे उसे ? पिंड...! उसकी पर्याय का ज्ञान, भूत(काल) में गेहूँ स्वरूप थे, आटा हुआ और उस आटे का (पिंड) हुआ है। उस गेहूँ के पर्याय का ज्ञान, आटे का ज्ञान और आगे रोटी बनेगी - इसे भी वर्तमान

में जानते हैं, आहा..हा...! ऐसी बात... धर्म के नामपर... ! बापू ! वीतरागधर्म बहुत सूक्ष्म है ! लोगों ने (जो) जैनधर्म माना है उससे विरुद्ध-न्यारा (है)। आहा..हा...!

जिस समय जो पर्याय होती है सो वस्तु का स्वभाव है। आगे ९९ (गाथा में) `हार' का दृष्टांत आयेगा। हार है न हार ? उसमें जिस जगह मोती है उसी जगह में (वह) है। आगे-पीछे स्थान में नहीं। वैसे आत्मारूपी हार और परमाणुरूपी हार, उनकी जिस समयपर जो पर्याय होती है, उसी समयपर वह होगी। (हार में मोती का) क्षेत्र है (यहाँपर आत्मा और परमाणु में) काल (लेना) है। तत्त्व का स्वरूप ही ऐसा है ! अब उसके स्वरूप की जानकारी न हो और उसे धर्म हो जाय... (ऐसा कभी होता नहीं)। सम्यक्ज्ञान भी न हो, सम्यग्दर्शन न हो और उसे चारित्र-सामायिक और पौषध और प्रतिक्रमण और साधुपना हो जाय... !! (वैसा) तीनकाल में होता नहीं, आहा..हा...!

(यहाँपर कहते हैं) **`(जगत में) दिखाई देता है कि छद्मस्थ के भी,...'** (अर्थात्) अल्पज्ञानी को भी, **`...जैसे वर्तमान वस्तु का चिंतवन करते हुए...'** आहा..हा...! (दृष्टांत में) यह गेहूँ लीजिये, इसप्रकार गेहूँ (हैं)। गेहूँ कहलाते हैं न ? पहले उसकी पर्याय धूल की थी, अब गेहूँ की हुई और उन गेहूँ का इसप्रकार आटा बनेगा। उसकी पर्याय ख़याल में (आ जाती है)। (इसप्रकार) गेहूँ का ख़याल आते ही भूत-वर्तमान-भविष्य का क्या ख़याल नहीं आता ? समझ में आया ? आहा...!

मान लीजिये, यह हाथ है ! उसकी यह वर्तमान पर्याय है। पहली पर्याय ऐसी थी और आगे इसप्रकार हुई तो यह पहली पर्याय का ज्ञान है, वर्तमान का ज्ञान है और आगे की पर्याय भी इसप्रकार होगी-उसप्रकार होगी उनका भी उसे एक समय में ज्ञान है। आत्मा करेगा सो होगा, यह प्रश्न नहीं। सूक्ष्म बहुत ऐसा !

वीतराग परमेश्वर केवलज्ञानी परमात्मा ने जो देखा है, आ..हा..हा...! वह तीनोंकाल की पर्यायों वर्तमानवत् देखी हैं, (ऐसा) कहते हैं। वर्तमान में पर्याय अभूतार्थ है तथापि केवलज्ञान तो भूतार्थरूप जानता है ! समझ में आया ? ऐसी धर्म की बातें ! संसार की पढ़ाई में एम.ए. जैसे में रुकना (पढ़ना) हो तो पाँच-दस वर्ष निकालते हैं, वीतराग कहते हैं यह तत्त्व क्या है उसे समझने के लिये समय नहीं !! आहा..हा...!

यहाँपर कहते हैं कि, **`(जगत में) दिखाई देता है कि छद्मस्थ के भी, जैसे**

वर्तमान वस्तु का चिंतवन करते हुए ज्ञान उसके आकार का अवलंबन करता है...' जैसे एक शरीर है वह वह जीवरहित मुर्दा हुआ। तो पहले जीव भीतर था तो इसप्रकार हिलती अवस्था थी, अभी (मुर्दारूप) स्थिर अवस्था (है) और अभी इन परमाणु की पर्याय राख होगी, (वैसा) ख़याल में आता है कि नहीं ? आहा..हा...! जगत के छद्मस्थ मनुष्य भी परपदार्थ के चिंतवन करते समय उसके भूत, वर्तमान और भविष्य-तीनों का आकार उनके ख़याल (में) आ जाता है। तो सर्वज्ञ परमात्मा को तीनकाल, तीनलोक का ख़याल आ जाये उसमें विशेषता क्या है ? आ..हा..हा...! कठिन काम है ! है (अंदर)?

`**...छद्मस्थ के भी, जैसे वर्तमान वस्तु का चिंतवन करते हुए ज्ञान उसके आकार का अवलंबन करता है...**' अवलंबन (अर्थात्) ज्ञान में वह निमित्तरूप ज्ञात हो, आहा...! `**...उसीप्रकार भूत और भविष्यत वस्तु का चिंतवन करते हुए (भी) ज्ञान उसके आकार का अवलंबन करता है।**' यानी कि उसके ज्ञान में वह वस्तु ज्ञात होती है, आहा..हा...!

दृष्टांत (लेंगे)। एक पेन्सील है। पेन्सिल कहते हैं न ? अब यह (पेन्सिल) पहले अखंड थी, आगे इसप्रकार छुरी चली इसलिये अवस्था (ऐसी) हुई, अब पहले (जो पर्याय) थी उस पर्याय का भी ख़याल है और यह वर्तमान हुई उसका खयाल है और वह टूट जायेगी-खंडित हो जायेगी तब इसप्रकार होगी, उसका भी ख़याल है। अथवा (पेन्सिल द्वारा) इसप्रकार लिखाई होगी, उस लिखाई की पर्याय का ख़याल है। करेंगे तो लिखाई होगी ऐसा यहाँ नहीं (कहना), आहा..हा...! ऐसा है !

लौकी... ! लौकी... लौकी... (होती है न) ? लौकी ऐसी है यह ख़याल में है। अब उसके टुकड़े होते हैं। होते हैं हाँ...! टुकड़े करता है (वैसा) नहीं। तो अखंड लौकी का ख़याल है और टुकड़े हुए उसका खयाल है और यह अब आगे पकेगी तब नर्म हो जायेगी, उसका भी ख़याल है। है कि नहीं ? आ..हा..हा...!

छद्मस्थ भी जगत की चीज का विचार करते होने से, उनके भूत, वर्तामान और भविष्य तीनोंकाल का उसके ज्ञान में ख़याल आ जाता है, आहा..हा...! वे किसी को करते हैं, ऐसा यहाँ प्रश्न नहीं। जो हो रहा है उनके वर्तमान, भूत और भविष्य को जानते हैं, आहा...! उसे मैं ऐसा करूँ, कलम इसप्रकार करूँ, पेन्सिल इसप्रकार करूँ - सो प्रश्न नहीं। यह कुछ भी आत्मा कर सकता नहीं, आहा..हा...! ऐसा अब...!

भाई ! धर्म कैसे होता है हमें कहिये न ! परंतु ये यह बात है। तेरा ज्ञानस्वभाव-धर्म ऐसा है कि एक समय में तीनकाल को जाने वैसा ताक़तवाला तेरा स्वरूप है, आहा..हा...! ऐसे सर्वज्ञस्वभावी की दृष्टि कर और उसमें स्थित हो, उसका नाम धर्म है। ऐसी कठिन बातें !

(संप्रदाय में) तो कहते हैं, 'व्रत करो और उपवास करो और भक्ति करो या पूजा करो और यात्रा करो... !' ये तो राग हैं और शरीर चले वह तो जड़ की क्रिया है। 'गिरनार' या 'शत्रुंजय' की यात्रा में जड़ शरीर चलता है सो तो जड़ की क्रिया है और उस जड़ की उस समय वह पर्याय (होती है) और यह पैर इसप्रकार होते हैं, यह ख़याल में है। करता है नहीं (परंतु) ख़याल में है। इसप्रकार होते-बनते यह पैर ऐसे जायेंगे इसका भी ख़याल है, आहा...! ख़याल में है, हाँ...! आत्मा उसका कर्ता नहीं। यह तो अज्ञानी (ऐसा मानता है) कि, शरीर की अवस्था को मैं करता हूँ, पैर को उठाता हूँ और इसप्रकार रखता हूँ - उस पर की क्रिया का कर्ता मिथ्यादृष्टि है। उसे जैनधर्म की ख़बर नहीं, आहा..हा...! ऐसा काम है! पहला अंक (१) था (सो पूरा हुआ)।

(२) '**और ज्ञान चित्रपट के समान है। जैसे चित्रपट में अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुओं के आलेख्याकार...**' जैसे पटिया में या स्तंभ में गतकाल के तीर्थंकर, वर्तमान के तीर्थंकर और भविष्य के तीर्थंकर इसप्रकार चित्रित करें तो (उसका) एक समय में सब ख़याल आ जाता है। (श्री 'जयसेनाचार्यदेव' ने) 'बाहुबली' का दृष्टांत दिया है। '**बाहुबलीभरतादि...**' किन्तु उन बाहुबली को चित्रित किया हो (या) तीर्थंकर की स्तंभ में कोरनी की हो, चौबीस तीर्थंकर - भूतकाल में हुए उन्हें वर्तमान और भविष्य की (कोरनी की हो) तो यहाँ एक समय में सब तीर्थंकर ज्ञात होते हैं। जानने में आते हैं या नहीं ? आहा..हा...! भले ही छद्मस्थ को थोड़ा क्रम लगे, यह वस्तु अलग है। समझ में आया ? किन्तु उसका स्वभाव तो एक समय में जानने का ही है। आहा...! किसी पर का कुछ कर सकूँ यह वस्तु नहीं है। क्योंकि परवस्तु में जिस समय जो पर्याय होनेवाली है सो होकर रहेगी, अब उसे दूसरा करे क्या? आहा...! ऐसा है ! सारे जगत से उलटी बात है। उलटे में से उलटी (बात) है ! जगत की बातें सभी उलटी और भगवान का मार्ग उससे भी उलटा ! आहा..हा...!

यहाँपर कहते हैं कि, छद्मस्थ अल्पज्ञानी भी किसी भी चीज को चिंतवन करते हुए उसकी वर्तमान पर्याय, बीत चुकी वह पर्याय और भविष्य की पर्याय (उनके) ख़याल में आ जाती है, आहा..हा...!

(दृ.तौ.) चने का आटा है, इसके पहले वह पूरा चना था, उस पर्याय का ख़याल आ जाता है। हाल में यह (आटा) है और तुरंत इससमय सेकेंगे (यानी) पकौड़ी बनेगी। मैं सेंकूँ और अग्नि के द्वारा सेंकने की क्रिया हो, यह प्रश्न यहाँ अभी नहीं। भजिया कहते हैं क्या कहते हैं (हिन्दी में) ? `पकोड़ा...' आहा..हा...!

यह ऐनक है, देखो ! पहली अवस्था ऐसी है (अभी) इसप्रकार होती है और आगे भी इसप्रकार उतारेंगे तब वैसा होगा, ऐसा एक समय में ख़याल आता है। उसे कर सकता है या कानपर लगा सकते हैं, यह प्रश्न यहाँपर है नहीं, आहा..हा...!

कुरता लो कुरता... ! क्या कहते हैं अभी उसको ? `क़मीज़... क़मीज़...!' यह क़मीज़ अभी खुला है, (आगे) हाथ डाला, (उससमय) ख़याल आयेगा कि इस क़मीज़ की (बाँह) ऐसी है, वह यहाँ (ऊपर) आ जायेगी, होगी। (तो) पहली अवस्था, रहेगी वह अवस्था और आगे वापिस तुरंत अवस्था बदलेगी - ऐसी हो... वैसी हो... उसका भी ख़याल है। उसकी अवस्था बदलेगी हाँ...! आत्मा बदलवायेगा, ऐसा नहीं ! आहा..हा...!

यह तो तीनकाल तीनलोक को भगवान जानते हैं अतः क्रमबद्धपर्याय होती है, ऐसी समकिती को श्रद्धा होती है। आहा...! किसी भी समय की पर्याय कोई बदल सके, दूसरा तो उसे कर नहीं सके परंतु वह स्वयं बदल सके, ऐसा नहीं। आता है न भाई `स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में ? तीनकाल, तीनलोक की जिस समय जो पर्याय होनेवाली हैं उन्हें जिनेन्द्र भी बदल सकते नहीं। (मात्र) देखते हैं ! आहा..हा...! यह बात अंतर से (स्वीकार होना चाहिये)।

जाननेवाला मैं हूँ, यह जाननेवाला जानने का काम करता है। यहाँ तो पर को जानता है इतनी अपेक्षा लेनी है न ? यह पर(पदार्थ) जिस स्थिति में है और पहली स्थिति में था और आगे की स्थिति में होगा उसे ज्ञान जानता है। परंतु ज्ञान पर को बदल डाले या तीनकाल नहीं जाने, ऐसा नहीं। वर्तमान ही जाने और भूत-भविष्य को नहीं जाने, वैसा नहीं। आहा..हा...! जब इसप्रकार जिसके ज्ञान में इस बात (का) निर्णय हो जाय तब उस क्रमबद्ध की पर्याय को जाननेवाला होता है, करनेवाला नहीं,

आहा... !

वस्तु है - उसका निर्णय जिस ज्ञान में हुआ वह निर्णय (जो) हुआ, सो भी उसका समय है, आहा..हा...! और वह निर्णय भी षट्कारक के परिणमन से हुआ है, आहा..हा...! मात्र लक्ष है ज्ञायक पर। (भले ही) लक्ष है, लक्ष होनेपर भी कर्ता होकर, अपना कर्म, करण और संप्रदान अपने से करता है, आहा..हा...! समझ में आया ? वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म, भाई ! यह तो वीतरागता की कोलेज है !! आहा...! जिसे उस ज्ञान का भान नहीं और कर्ता होकर सारा दिन फिरता रहता है, उसका मिथ्यात्व का पोषण करके चारगति में भटकने का लक्षण है ! ऐसी बात है, भाई! आहा..हा...! है ?

यह (ज्ञान) चित्रपट (समान) है। चित्रपट होता है न ऐसा ? (उसमें) तीनकाल के तीर्थंकर चित्रित किये हों (तो) ख़याल में आ जाता है या नहीं ? चित्रपट में सिंह चित्रित किया हो, लो ! बाघ चित्रित किया हो - गतकाल में ऐसा था, अभी ऐसा है और भविष्य में मर गया - ऐसा चित्रित किया हो (तो) ख़याल में आ जाता है या नहीं ? आहा..हा...!

जिस प्रकार `महावीर भगवान' का आत्मा दसवें भव में सिंह था, सिंह...! `भगवान महावीर' का आत्मा दसवें भव में सिंह (था)। (वह) हिरन को मारता था, उसी समय मुनिराज पधारें और मुनि ने कहा कि, `अरे... सिंह ! तू तो दसवें भव में (होनेवाला) तीर्थंकर `महावीर' का जीव (है) ! यह क्या करता है ?' सिंह को भी ख़याल में (है) कि, प्रथम अवस्था ऐसी थी, इसप्रकार हो गई और इस प्रकार रहेगी - यह ख़याल में है या नहीं ? आहा..हा...! परंतु इसमें `धर्म' क्या आया ? धर्म यह है कि, जिस समय जो पर्याय होती है उसका तू जाननेवाला है ! उसे बदलनेवाला कर्ता तू नहीं। ऐसा जो सम्यग्दर्शन(रूपी) धर्म (सो) इसप्रकार होता है। आहा..हा...! समझ में आया ?

(इसलिये) **`...ज्ञान चित्रपट के समान है। जैसे चित्रपट में अतीत,...'** अर्थात् बीता काल, **`...अनागत...'** (अर्थात्) भविष्य, **`...और वर्तमान वस्तुओं के आलेख्याकार...'** है न ? आहा..हा...! (नीचे अर्थ है) आलेख्य = आलेखन योग्य, चित्रित करने योग्य। **`...साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं; उसीप्रकार ज्ञानरूपी भित्ति में (-ज्ञानभूमिका**

में, ज्ञानपट में) भी अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों के ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं।' आहा..हा...!

भगवान केवलज्ञान के द्वारा आत्मा को जानते हैं, (ऐसा) आया था न ? (३३ गाथा में) आया था न ? आचार्य कहते (हैं) हम भी श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा ज्ञायक त्रिकाल है उसे हम जानते हैं, आहा...! हम भी 'श्रुतकेवली' हैं ! आ..हा..हा...! केवलज्ञानी परमात्मा केवलज्ञान के द्वारा आत्मा को जानते हैं (और) हम श्रुतज्ञान के द्वारा जानते (हैं)। भले ही क्रमशः (होती हुई) कुछ पर्याय (के द्वारा जानते हैं), परंतु उन पर्याय के द्वारा जानते हैं भगवानआत्मा को ! आहा..हा...! तो भूतकाल में हमारी यह अवस्था विपरीत थी उसे भी जाना, वर्तमान में सम्यक् हुई उसे भी जाना और आगे उसकी यह पर्याय रहेगी उसे भी जाना, आहा..हा...! ऐसा है !

जैनदर्शन में तो आठ-आठ वर्ष के बालक सम्यग्दर्शन प्राप्त करते थे !! आहा..हा...! भगवानआत्मा अंदर... आ..हा..हा...! चैतन्यस्वरूप, आनंदस्वरूप को ग्रहणकर जब 'सम्यक्' निर्णय होता है तब उसे तीनकाल के, तीनलोक के, जो द्रव्य-पर्याय हैं, उनका उसे परोक्षज्ञान होता है, आहा..हा...! मैं किसी का कर दूँ और मेरे में पर के द्वारा कुछ हो - ऐसा सम्यग्दृष्टि को रहता नहीं, आहा..हा...! इनमें व्रत करना, और तप करना, यह कहाँ आया ? परंतु सम्यग्दर्शन रहित व्रत, तप आये कहाँ से तेरे ?

ज्ञानस्वभाव जाननेवाला ही है। राग का भी करनेवाला नहीं, पर का भी करनेवाला नहीं। पर (पदार्थ) भी उसकी पर्याय के कारण (परिणमित हो रहे हैं)। राग भी क्रमशः आया हुआ राग आयेगा और उस समय ज्ञान भी उसे जानने के क्रम में उसे और स्व को जानेगा। बात समझ में आती है ? आहा..हा...!

ज्ञानपर्याय जो (होती) है वह भी क्रमबद्ध ज्ञान की पर्याय है। और क्रमबद्ध में राग जिसप्रकार का आया, वह है इसलिये यहाँ जानते हैं (ऐसा) नहीं। उसके ज्ञान के क्रम में स्व का और पर का ज्ञान (करनेवाली) पर्याय (उसके) क्रम में आई इसलिये उसमें वह ज्ञात हुआ है। बहुत, सूक्ष्म बापू ! यह आपके थोथे व्यापार में कहीं भी हाथ लगनेवाला नहीं।

अरे..रे...! उसके भटकने में समय निकाला ! आहा..हा...! परंतु मैं एक जाननेवाला (तत्त्व) हूँ (ऐसा निर्णय किया नहीं)। जैसे भगवान सब-तीनकाल, तीनलोक को जानते

हैं (परंतु) किसी के वे कर्ता नहीं। वैसे मैं भी एक जाननेवाला हूँ। जगत की चीजें जिसप्रकार वर्तती है, वर्तेगी (और) वर्त चुकी, उसे मैं जाननेवाला हूँ। उनको मैं बदलनेवाला या बदल डालूँ, वैसा मैं नहीं, आहा..हा...!

यह बड़े पथ्थरों के कारखाने बनाते हैं (तो) कहते हैं कि, यह जगह पहले ऐसी थी ऐसा जाना, आगे वहाँ कारखाना होने जा रहा है, वह इसप्रकार होगा वह भी पहले से ही ज्ञात है।

कुम्हार ने मिट्टी ली मिट्टी... ! और मिट्टी का पिंड है उसका ज्ञान है और पिंड अवस्था पलटकर अभी घड़ा बनेगा। उस पिंड के समय भी घड़ा का ज्ञान, ज्ञान में ज्ञात है, आ..हा..हा...! समझ में आया ? कुम्हार घड़ा बनाता नहीं है परंतु घड़े की अवस्था पहले पिंड की थी, आगे घड़े की हुई और उसके पहले सामान्य मिट्टी की थी - उसे जानता है। आत्मा का स्वभाव जानना है। किसी चीज को बनाना और बदलना, यह आत्मा का स्वभाव नहीं। अरे...! अपनी जो पर्याय होनेवाली है उसे भी बदलने का उसका सामर्थ्य नहीं, आहा..हा...! यह वीतरागता है !!

इसमें यह कहा `**...ज्ञानरूपी भित्ति में (-ज्ञानभूमिका में, ज्ञानपट में)...**' तीनकाल के चित्रित चित्र, `**...भी अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों के ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं।**' आहा..हा...! (यह दूसरा हुआ)।

(३) `**और सर्व ज्ञेयाकारों की तात्कालिकता (वर्तमानता, साम्प्रतिकता) अविरुद्ध है।**' क्या कहते हैं ? जगत की सभी चीजें-ज्ञेय हैं उनके पर्यायों के आकार, (उनका तात्कालिकता (वर्तमानता, साम्प्रतिकता) अविरुद्ध है)। `**जैसे नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं के आलेख्याकार वर्तमान ही हैं,...**' आ..हा..हा...! नीचे अर्थ है न ? आलेख्य = (आलेखन योग्य, चित्रित करने योग्य)।

किसी भी चीज की पर्याय बदली और नष्ट और अनुत्पन्न (अर्थात्) वह वस्तु उत्पन्न हुई नहीं। उन वस्तुओं के आलेख्याकार खयाल में आ जाते हैं, आहा...! `...वर्तमान ही हैं,...' आ..हा..हा...!

और कोई ऐसा भी कहता है कि, `जो पर्याय उत्पन्न हुई नहीं उसे केवली जानते हैं वह तो असत्य हुआ !' यह प्रश्न आता है। असत्य नहीं है, प्रभु ! उसे ख़बर नहीं। हुई है, (होती) है और होगी-वे (पर्याय जो) होगी, उसका (ज्ञान) वर्तमान (जैसे

दिखाई देता है) वैसा ही यहाँपर दिखाई देता है, आहा..हा...! होगी तब ज्ञात होगी, ऐसा नहीं। (भविष्य में जो) होगी वह वर्तमान में ज्ञात होती है, आहा..हा...! समझ में आया ?

सर्व ज्ञेयाकारों की तात्कालिकता (अविरुद्ध है)। **`जैसे नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं के आलेख्याकार वर्तमान ही हैं, उसीप्रकार अतीत और अनागत पर्यायों के ज्ञेयाकार वर्तमान ही हैं।'** आ..हा..हा...! अनंत आत्मा और अनंत परमाणु जो ज्ञेय (हैं) और भविष्य में होनेवाले उनके आकार भी वर्तमानवत् ही ज्ञान में ज्ञात हैं। यह केवलज्ञान !! और ऐसा केवलज्ञान आत्मा का स्वभाव !! यह केवलज्ञान तो एक समय की पर्याय है परंतु ऐसी अनंत अनंत पर्याय होने का ज्ञानगुण का स्वभाव (है) ! उस ज्ञानगुण का धारण करनेवाला `मैं' (हूँ) ! ऐसा ज्ञायक का अनुभव होना उसका नाम `सम्यग्दर्शन' है। और यह सम्यग्दर्शन (होने के) बाद स्वरूप में स्थित होता है उसका नाम `चारित्र' है। चारित्र कोई नग्नपना या महाव्रत के परिणाम (का पालन करे), यह कोई चारित्र नहीं, आहा..हा...! सूक्ष्म बहुत !

क्रमबद्ध में जिस समय जो (पर्याय) होनेवाली है (वह होनेवाली ही है) ऐसा जिसके ज्ञान में संमत हो, उसका ज्ञान सर्वज्ञस्वभावी के ऊपर ढल जाता है। यह तो कहा था न ? (संवत) '७२ की साल में संप्रदाय में बड़ा प्रश्न उपस्थित हुआ। तिरेसठ साल हुए। `केवलज्ञानी ने देखा होगा ऐसा होगा। होनेवाला होगा सो होगा, उसमें हम क्या कर सकते हैं ?' (इसप्रकार संप्रदाय में कहते थे)। (हमने कहा) `होनेवाला (होगा) सो होगा, (यह) किसने देखा ?' (तो उन्होंने कहा) `केवलज्ञानी ने।' (अतः हमने कहा) `केवलज्ञानी जगत में है ऐसा किसने निर्णय किया ?' यह तो '७२ की बात है। कितने साल हुये ? तिरेसठ ! तिरेसठ वर्ष पहले की बात है !

मनुष्य को ऐसा लगता है कि, हम पर का कुछ कर सकते (हैं)। पर की दया का पालन कर सकते हैं, हिंसा कर सकते हैं, पैसों की कमाई कर सकते हैं, पैसे खर्च कर सकते हैं। `स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा है, भाई ! कि, `तुझे पैसे मिले हैं तो दान करना ! उपकार करना !' ऐसा आता है, हाँ ! वाचन में बात हो गई थी। यह मात्र शुभभाव (की बात है)। (अशुभभाव की तीव्रता मिटाने की बात की। समझ में आया ? `स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में है। तुझे पूर्व के पुण्य के

कारण पैसे मिले हैं, यह कोई तेरे प्रयत्न से मिले नहीं। उसमें कुछ करना ! हिस्सा देना ! दान में, भक्ति में, प्रभावना में,... आहा..हा...! सुना है ? उसमें है कहीं। शुरूआत में कहींपे है। कहाँ होगा क्या मालूम ? काललब्धि ! (२३२ गाथा है)। `जीव द्रव्य है वह अपने चेतनस्वरूप में, अपने ही क्षेत्र में, अपने ही द्रव्य में तथा अपने परिणमनरूप समय में रहकर ही अपने पर्यायस्वरूप कार्य को साधता है।' आहा..हा...! यह `स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' ! `समयसार' से भी (पुराना) ! दान का कहीं (आता) है। यहाँ (२२९ गाथा में) यह (कहते) हैं। `तीनोंकाल में एक एक समय में पूर्व-उत्तर परिणामों का आश्रय कर जीवादिक वस्तुओं में नये नये कार्य विशेष होते हैं अर्थात् नई नई पर्यायें उत्पन्न होती हैं।' (अर्थात्) उसके काल में उसी उसी समय में पर्याय उत्पन्न होती है। यह `स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' `समयसार' से पुराना ग्रंथ है ! `श्रीमद्' को मिला तब बहुत (प्रसन्न हुए थे) !

उसमें कहीं दान का है सही ! हाथ में आये तब मालूम पड़े न ! उसमें कुछ करना, ऐसा (कहा है)। उसमें दान की बात है। हमारे यहाँ उसका वाचन हो गया है। जीव का राग घटाने की बात की जाय तो उसी की बात हो। `पद्मनंदीपंचविंशती' में `दान अधिकार' में आता है न ? कि, भाई ! तुझे पूर्व के कोई पुण्य से तो यह लक्ष्मी प्राप्त हुई है। अब यदि लक्ष्मी में कुछ हिस्सा रखा (अर्थात्) दान में, पूजा में, भक्ति में, प्रभावना में (खर्च नहीं किया तो) कंजूस हो जायेगा ! आहा...! ऐसी बात है। `पद्मनंदीपंचविंशती' में भी है और इसमें (`स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में) भी है, हाँ ! यहाँ तो वहाँतक कहा (है) कि लोभ कम करने के लिये (दान) करना! यह भी वास्तव में तो समयपर होता है। परंतु उसे जब राग कम करने को कहा जाय तब तो ऐसे स्थापित करे न ! समझ में आया ? तीव्र लोभ है उसे कुछ कम कर कम कर ! घटाओ ! वरना तीव्र लोभ में तो मनुष्य पापबंधन में पड़ेगा और पाप में भव खराब कर के कहींका कहीं चला जायेगा। है उसमें कहीं दान का (आता) है।

यहाँपर कहते हैं कि, सर्व ज्ञेयाकार तात्कालिकता से (ज्ञात हैं), आहा..हा...! यह पैसों की पर्याय यहाँपर पैसों के रूप आयी यह भी उसका समय था। आगे कहीं

और जानेवाली है तब भी उसका वह समय था, आहा..हा...! उसने पैसे दिये हैं इसलिये गये हैं (अथवा) अवस्था हुई है, ऐसा नहीं। आ..हा..हा...! यह तो ज्ञान मे जाननेवाला है कि, यह पैसे यहाँपर थे और वहाँ गये। उन (पैसों के) परमाणु जो हैं सो वहाँ जानेवाले थे। उसकी पर्याय वहाँ जाने की थी वह हुई है। आत्मा तो उसका जाननेवाला है। (उसके बजाय) ऐसा माने कि, `मैंने दिया है, वह मेरी चीज थी और मैंने दी है !' (तो वह तो) भ्रम है। अज्ञान है। ऐसा है, आहा...हा...!

यहाँपर तो (कहते हैं) **`जैसे नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं के आलेख्याकार वर्तमान ही हैं, उसीप्रकार अतीत और अनागत पर्यायों के ज्ञेयाकार वर्तमान ही हैं।'** आहा..हा...!

भावार्थ :- `केवलज्ञान समस्त द्रव्यों की तीनों काल की पर्यायों को युगपद् जानता है।' अभी (तो अज्ञानी को) केवलज्ञान के निर्णय की ख़बर नहीं ! (और क्रमबद्ध की बात संमत नहीं होती) क्योंकि (अज्ञानी को) करना... करना.. और करने की बुद्धि है। दूसरों का कर दूँ, दूसरों का इसप्रकार कर दूँ ! यहाँ कहते हैं कि, केवलज्ञान समस्त द्रव्यों की तीनोंकाल की पर्यायों को-अवस्थाओं को एक समय में जानता है।

`यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायों को वर्तमान काल में कैसे जान सकता है ?'** (अर्थात्) जो पर्याय हो गई (वह) अभी है नहीं - नष्ट हो गई है। जो होनेवाली है वह अभी हुई नहीं। आहा..हा...! है ? (ऐसी) **`...नष्ट और अनुत्पन्न...' भूतकाल की (और) भविष्यकाल की अनुत्पन्न (ऐसी) **`...पर्यायों को ज्ञान वर्तमान काल में कैसे जान सकता है ?'**

`उसका समाधान है कि - जगत में भी देखा जाता है कि अल्पज्ञ जीव का ज्ञान भी नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं का चिंतवन कर सकता है,...' है न ? आहा..हा...! (अर्थात्) पहले बाल्यावस्था थी, आगे युवान हुई, आगे वृद्ध होगी- उन सब अवस्थाओं को क्या नहीं जानता ? आहा...! (उन्हें) वर्तमान में जानता है या नहीं ? शरीर बालक था, बाद में जवान हुआ, फिर वृद्ध हुआ और वृद्ध होने के पश्चात् स्मशान की राख होगा, आहा..हा...! मरेगा और जलायेगा, यह प्रश्न यहाँपर है नहीं। यहाँ तो (इतना ही कहना है कि) होगा, हो रहा है और हो चुका - उनको जानने का ज्ञानस्वभाव है, भगवानआत्मा का (स्वभाव है)। आत्मा का हाँ...! भगवान का तो है और यह आत्मा का भी वैसा स्वभाव है, आहा..हा...! ऐसा है। **`...अनुमान के द्वारा जान सकता है,**

तदाकार हो सकता है;...' देखा ? जैसा सामने भूत-भविष्य का स्वरूप है उन आकार भी ख़याल में आ सकते हैं, आहा...! '**...तब फिर पूर्ण ज्ञान नष्ट और अनुत्पन्न पर्यायों को क्यों न जान सकेगा ?**'

'**ज्ञानशक्ति ही ऐसी है कि वह चित्रपट की भाँति...**' आ..हा..हा...! ज्ञानस्वभाव ही ऐसा है कि, उसे कोई भूत और भविष्य की बात जानने में नहीं आये वैसा (नहीं)। यह तो चैतन्य चमत्कारी वस्तु है ! आ..हा..हा...! और वहाँ 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में तो ऐसा भी कहा (है) कि, समय-समय पर जो तीनकाल की पर्याय होनेवाली है, जिनेन्द्र(भगवान ने) देखी है उसीप्रकार माने तो सम्यक्‌दृष्टि है। उससे विरुद्ध मानकर कि, 'मैं कुछ कर दूँ या इसका मैंने किया !' - (तो) वह मिथ्यादृष्टि है, आहा..हा...! जिससमय, जिसप्रकार (पर्याय) होनेवाली है, हुई है और होगी उसे ज्ञान जानता है। परंतु 'पर का कर दूँ, और मैंने कहा इसलिये उसे ऐसा हुआ, मैंने पैसों के बारे में उपदेश दिया इसलिये उसने दान दिया, उसके कारण वैसा हुआ !' - ये सब भ्रमणा हैं, आहा..हा...! भूखों को भोजन दो, प्यासे को पानी पिलाओ, रोगी को दवा दो - ये सब बातें जिससमय होनेवाली हैं तब होगी। उसे 'मैं दूँ और करूं' यह बात वस्तु में नहीं। भगवान का स्वभाव तो जानना है, बस भगवान यानी आत्मा हाँ...! केवली का जानने का (स्वभाव है) उसप्रकार भगवानआत्मा का जानने का स्वभाव (है)। हुआ, हो रहा है और होगा, उसे उसी समय वर्तमानवत् जानते हैं, आहा..हा...!

और, '**ज्ञानशक्ति ही ऐसी है कि वह वह चित्रपट की भाँति, अतीत और अनागत पर्यायों को भी...**' ऐसे। 'भी' क्यों कहा ? (क्योंकि) वर्तमान तो जानते हैं परंतु (अतीत और अनागत को) '**...भी जान सकती है। और आलेख्यत्वशक्ति की भाँति,...**' (अर्थात्) चित्रित किये गये चित्र जिसप्रकार देखने में आते हैं यानी यह पूर्व भव था, यह वर्तमान है और यह भविष्य का भव है। चित्र को इसप्रकार रखते हैं न ? भगवान का पूर्व भव सिंह का भव था, आगे यह भव था और अब भगवान हैं। इसप्रकार एक साथ दिखाई देता हैं न ! आहा..हा...!

'**और आलेख्यत्वशक्ति की भाँति, द्रव्यों की ज्ञेयत्वशक्ति ऐसी है...**' (अर्थात्) वस्तु की ज्ञातव्य शक्ति ऐसी है, '**...कि उनकी अतीत और अनागत पर्यायें भी ज्ञान में**

ज्ञेयरूप होती हैं-ज्ञात होती हैं।' जाननेवाला तो जानता है परंतु उस ज्ञेय का ऐसा स्वभाव है कि, भूत-भविष्य का जिस समय जो हुआ वह जानने में आता है। यह ज्ञेय का ऐसा स्वभाव है। आहा..हा...! ऐसा है !

`इसप्रकार आत्मा की अद्‌भुत ज्ञानशक्ति...**' आ..हा..हा... ! जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जानता है... जानता है... जानता है... ! गत अवस्था, वर्तमान और भविष्य (को) जाननेवाली ऐसी आत्मा की अद्‌भुत शक्ति !! **`...और द्रव्यों की अद्‌भुत ज्ञेयत्वशक्ति...' आ..हा..हा...! उन ज्ञेयों की भी जो अवस्था हुई नहीं सो यहाँपर ज्ञान में ज्ञात होता है ऐसी ज्ञेय की शक्ति !! ज्ञान की तो शक्ति है परंतु ज्ञेय भी वैसा है ! आहा..हा...!

**`इसप्रकार आत्मा की अद्‌भुत ज्ञानशक्ति और द्रव्यों की अद्‌भुत ज्ञेयत्वशक्ति के कारण केवलज्ञान में समस्त द्रव्यों की तीनोंकाल की पर्यायों का एक ही समय में भासित होना अविरुद्ध है।**' एक समय में (सब) भासित हो ! आहा..हा...! समझने में कठिन पड़े, भाई ! अभिमान है न कि, `उसे मैं कर दूँ !! मेरे कारण यह हुआ! मैंने जगतपर उपकार किया !!' कौन करे ? आहा..हा...! उसकी जो पर्याय वहाँ होनेवाली थी वह उसके कारण हुई (है)। आहा..हा...! `मैंने दवाई दी इसलिये उसका रोग अच्छा हो गया !' यह भी अभिमान-अज्ञान है। उस समय पर्याय क्रमशः अच्छी होने की थी, सो अच्छी हुई (है), दवाई के द्वारा अच्छा हुआ नहीं, आहा..हा...!

श्रोता :- उसे (अज्ञानी को) ऐसा लगता है कि उसमें पुरुषार्थ का नाश हो जाता है !

समाधान :- उसमें ही पुरुषार्थ है ! `मैं जाननेवाला हूँ' - (ऐसा परिणमन होना) यह पुरुषार्थ है। `पर का करनेवाला हूँ' - यह बात तीनकाल में नहीं, यह पुरुषार्थ (है), वह तो विपरीत मान्यता है। आहा...! (इस तरह) `...तीनोंकाल की पर्यायों का एक ही समय में भासित होना अविरुद्ध है।' यह ३७ (गाथा पूर्ण) हुई।

`अब अविद्यमान पर्यायों की (भी) (**-किसी प्रकार से; किसी अपेक्षा से**) **विद्यमानता बतलाते हैं:-...**' यह बात विशेष कहेंगे...

❋ ❋ ❋

अथासद्भूतपर्यायाणां कथंचित्सद्भूतत्वं विदधाति–

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।

ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा।।३८।।

ये नैव हि संजाता ये खलु नष्टा भूत्वा पर्यायाः।

ते भवन्ति असद्भूताः पर्याया ज्ञानप्रत्यक्षाः।।३८।।

ये खलु नाद्यापि संभूतिमनुभवन्ति, ये चात्मलाभमनुभूय विलयमुपगतास्ते किलासद्भ्दूता अपि परिच्छेदं प्रति नियतत्वात् ज्ञानप्रत्यक्षतामनुभवन्तः शिलास्तम्भोत्कीर्णभूतभाविदेववदप्रकम्पा–र्पितस्वरूपाः सद्भ्दूता एव भवन्ति।।३८।।

अथातीतानागतपर्यायाणामसद्भूतसंज्ञा भवतीति प्रतिपादयति–**जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया** ये नैव संजाता नाद्यापि भवन्ति, भाविन इत्यर्थः। हि स्फुटं ये च खलु नष्टा विनष्टाः पर्यायाः। किं कृत्वा। भूत्वा। **ते होंति असब्भूदा पज्जाया** ते पूर्वोक्ता भूता भाविनश्च पर्याया अविद्यमानत्वादसद्भूता भण्यन्ते। **णाणपच्चक्खा** ते चाविद्यमानत्वादसद्भूता अपि वर्तमानज्ञानविषयत्वाद्व्यवहारेण भूतार्था भण्यन्ते, तथैव ज्ञानप्रत्यक्षाश्चेति। यथायं भगवान्निश्चयेन परमानन्दैकलक्षणसुखस्वभावं मोक्षपर्यायमेव तन्मयत्वेन परिच्छिनत्ति, परद्रव्यपर्यायं तु व्यवहारेणेति; तथा भावितात्मना पुरुषेण रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसंवेदनपर्याय एव तात्पर्येण ज्ञातव्यः, बहिर्द्रव्यपर्यायश्च गौणवृत्त्येति भावार्थः।।३८।।

अब, अविद्यमान पर्यायोंकी (भी) कथंचित् (-किसी प्रकारसे; किसी अपेक्षासे) विद्यमानता बतलाते हैं :-

गाथा ३८

जे पर्यायो अणजात छे, वली जन्मीने प्रविनष्ट जे।

ते सौ असद्भूत पर्ययो पण ज्ञानमां प्रत्यक्ष छे।।३८।।

अन्वयार्थ :- [ये पर्यायाः] जो पर्यायें **[हि]** वास्तवमें **[न एव संजाताः]** उत्पन्न नहीं हुई हैं, तथा **[ये]** जो पर्यायें **[खलु]** वास्तवमें **[भूत्वा नष्टाः]** उत्पन्न होकर नष्ट होगई हैं, **[ते]** वे **[असद्भूताः पर्यायाः]** अविद्यमान पर्यायें **[ज्ञानप्रत्यक्षाः भवन्ति]** ज्ञान प्रत्यक्ष हैं।

टीका :- जो (पर्यायें) अभी तक भी उत्पन्न नहीं हुई और जो उत्पन्न होकर नष्ट होगई हैं, वे (पर्यायें) वास्तवमें अविद्यमान होने पर भी, ज्ञानके प्रति नियत होनेसे (ज्ञानमें निश्चित-स्थिर-लगी हुई होनेसे, ज्ञानमें सीधी ज्ञात होनेसे) ज्ञानप्रत्यक्ष वर्तती हुई, पाषाण स्तम्भमें उत्कीर्ण, भूत और भावी देवों (तीर्थंकरदेवों)की भाँति अपने स्वरूपको अकम्पतया (ज्ञानको) अर्पित करती हुई (वे पर्यायें) विद्यमान ही हैं)।।३८।।

(**दिनांक ११-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-३६**)

(`प्रवचनसार'), ३८ (गाथा का) शीर्षक। (यहाँपर) केवलज्ञान को सिद्ध करते हैं। `तत्त्वार्थसूत्र' में (२९वें सूत्र में आता) है न ?! **`सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य'** ! यह तो `तत्त्वार्थसूत्र' में (आता) है। सर्व द्रव्य और त्रिकाल पर्याय केवलज्ञान में (ज्ञात होती है)। वह यहाँपर कहते हैं, देखिये !

**`अब, अविद्यमान पर्यायों की...'** है ? (अर्थात्) द्रव्य में भूतकाल की और भविष्य की अविद्यमान (पर्यायें)। क्या कहते हैं ? जैनदर्शन का बहुत ही तात्त्विक विषय (आया) है। `स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के `धर्मानुप्रेक्षा' में आया है न ? (वहाँ) `धर्मानुप्रेक्षा' में (ऐसा कहा कि) धर्म के मूल कहनेवाले वक्ता `सर्वज्ञ' हैं। (वैसा) `धर्मानुप्रेक्षा' में आया है, `स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' ! जिसे सर्वज्ञ का जहाँतक निर्णय नहीं उसे तो जिनशासन की किसी वस्तु का निर्णय नहीं, आहा...! वैसा `धर्मानुप्रेक्षा' में आया है, यह बात हम ले चुके हैं। जैनधर्म का मूल तो सर्वज्ञ हैं।

अन्य प्रकार से कहें तो जीव का स्वभाव ही सर्वज्ञ है। `सर्वज्ञशक्ति' है कि नहीं? `सर्वदर्शी, सर्वज्ञ(शक्ति) !' आहा...! चिति, दृशि, ज्ञान इत्यादि (शक्ति) लो ! ये शक्ति पूर्ण हैं। स्वभाव परमात्मस्वरूप ही है। सर्वज्ञ स्वरूपी, अनंत अमृतरूप विज्ञानघनरूपी! अनंत प्रभुत्वस्वरूपी ! आ..हा..हा...! `बेहद' आया था न ? आहा...! ऐसा उसका स्वभाव ही (है)। सर्वज्ञप्रभु का - प्रत्येक आत्मा का (ऐसा स्वभाव) है। अभव्य का स्वभाव भी सर्वज्ञ है ! आहा..हा...!

यह प्रश्न (संवत्) '८५ (की साल में) पैदा हुआ था। कितने वर्ष हुए ? पचास! उस समय प्रश्न पैदा हुआ था कि, जीव को अनादि (से) मिथ्यात्व, मिश्र और समकित यह तीन प्रकृति होती है, वैसा (एक आदमी ने) कहा। भले ही समकितमोहनी न हो किन्तु दो तो होती ही हैं - (मिथ्यात्वमोहनी) और मिश्र (मोहनी)। अर्थात् भव्य जीव को अट्ठाईस प्रकृति होती हैं। (वैसे तो) अभव्य को भी अट्ठाईस होती हैं। बात समझ में आती है ? (उसने कहा कि), भवी है वह समकित पानेवाला है। इसलिये उसे समकितमोहनी, मिश्रमोहनी (और मिथ्यात्वमोहनी) ऐसी अट्ठाईस प्रकृति होती हैं। (और) अभव्य को छब्बीस (प्रकृति) हैं। (मैंने कहा) वैसा नहीं। यह तो '८५ में चर्चा (हुई थी)।

मिथ्यादृष्टि को अनादि से छब्बीस ही प्रकृति होती है। सत्ताईस और अट्ठाईस प्रकृति होती है सो समकित होने के पश्चात्। उसकी ऐसी राय थी कि (जो) समकित प्राप्त करते हैं और केवलज्ञान प्राप्त करते हैं उन्हें केवलज्ञानावरणीय होता है ! परंतु जो केवलज्ञान प्राप्त नहीं करते उन्हें केवलज्ञानावरणीय होता नहीं ! इसमें क्या कहा कुछ समझ में आया ? भाई ! उसने ऐसा प्रश्न रखा... उसने मुझे '८० में पुस्तिका भेजी थी। पश्चात् '८५ में मिले तब बात कही कि, `आपकी बात गलत है।' मैं जब होता हूँ तब कोई व्याख्यान देता नहीं है ! सब बैठकर सुनते हैं ! (उन्होंने) कहा कि, `केवलज्ञानावरणीय अभव्य को होता नहीं।' क्यों (नहीं होता) ? (क्योंकि) उसको केवलज्ञान होता नहीं। मैंने कहा `गलत बात है।' (फिर मैंने पूछा कि), `तो अभव्य को कितनी प्रकृति होती हैं ?' तो कहे, `तीन (होती हैं)।' मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय (ऐसी) तीन होती हैं। (मनःपर्यय और केवलज्ञानावरणीय) दो नहीं होती। सुना भाई ? मैंने कहा `अभव्य को भी पाँच प्रकृति होती हैं।' क्योंकि अंदर उसका केवलज्ञानस्वरूप है। अर्थात् केवलज्ञानस्वरूप और केवलज्ञानावरणीय प्रकृति अभव्य को भी है, भाई ! सूक्ष्म बात है, बापू ! **यह तो अंदर पूर्व के संस्कार थे अतः अंतर से आता था** ! यह तो पचास वर्ष पहले की बात है ! वह कहता है कि, जिसे केवलज्ञान होता नहीं उसे केवलज्ञानावरणीय होता नहीं ! क्योंकि उसे अंदर केवलज्ञान कहाँ है ! मैंने कहा, गलत बात है ! अभव्य को भी पाँच आवरण हैं। मतिआवरण, श्रुतआवरण, अवधि, मनःपर्यय और केवल(ज्ञानआवरण)। (अभव्य को केवलज्ञान)

होता नहीं, यह अलग बात है परंतु आवरण पांच हैं। और भीतर केवलज्ञान(स्वरूप) है। यह तो '८५ और '७१ की सब पुरानी बातें पहले भी कह चुके हैं, आहा..हा...! आगे सामने बोले नहीं। दूसरे भाई ने कहा `कानजीमुनि क्या कहते हैं, सुनो ! वरना लोग आपका नहीं मानेंगे व उनका मानेंगे। उनकी प्रसिद्धि है !' यह तो '८५ की बात है, हाँ ! पंद्रह-सोलह साल की दीक्षा ! आहा...! मैंने कहा, `वैसा नहीं, अभव्य को भी केवलज्ञानावरणीय है।' हमे इसमें क्या सिद्ध करना है यह समझ में आता है ? (कि), केवलज्ञान है, सर्वज्ञपना है उसमें ! अतः केवलज्ञानावरणीय है, आहा..हा...! मनःपर्ययज्ञान होता नहीं इसलिये मनःपर्ययज्ञानावरणीय होता नहीं (परंतु ऐसा नहीं)। पाँचों हैं। अभव्य को भी पाँचों हैं और भव्य को (भी पाँचों हैं)। (वे) आगे बोले नहीं। पुस्तक छपायी था उनमें छाप डाला कि, अभवी को तीन प्रकृति होती है और दो नहीं होती। अनादि से भवी को सत्ताईस होती हैं और अभवी को छब्बीस होती है। मैंने कहा, सत्ताईस होती नहीं। अनादि से छब्बीस ही हैं। (उनका ऐसा कहना था कि) मिश्र और समकित(मोहनी) दोनों हो तो वह समकित पा सकता है। मैंने कहा, यह प्रश्न गलत है। इसमें न्याय समझ में आता है कुछ ? आहा..हा...! अभव्य और भव्य - सब जीव सर्वज्ञस्वरूपी ही है, आ..हा..हा...!

लोगों को निर्णय करना नहीं। सत्य वस्तु क्या है ? भगवान क्या कहते हैं ? और वस्तु का स्वभाव भी क्या है ? (उसका) उसे तटस्थ (होकर), मध्यस्थ (होकर) निर्णय करना चाहिये। बापू ! ऐसा समय कब मिलेगा ? आहा...!

अभव्य को आप छब्बीस प्रकृति कहते हो और भव्य को सत्ताईस (प्रकृति) कहते हो, यब भी गलत (है) और अभव्य को तीन आवरण हैं और भव्य को पाँच आवरण हैं, यह भी गलत ! बात समझ में आती है ? क्यों (सभी जीवों को पाँच आवरण हैं ?) (क्योंकि) जब केवलज्ञानावरणीय है तो अंदर केवलज्ञानशक्ति - सर्वज्ञशक्ति है। इसलिये उसे आवरण है। निश्चय से तो अपनी हीन हालत वह आवरण है। परंतु केवलज्ञानावरणीय निमित्त से आवरण कहलाता है, भाई !

हमारे यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित हुआ था। `स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में (आता) है न कि, `अपूर्व पुद्गल की शक्ति कि जिस केवलज्ञानावरणीय ने केवलज्ञान को रोका !' ऐसा पाठ है। पुस्तक हो तो बतायेंगे। `स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' है। (उसमें)

ऐसा पाठ है (तो किसी ने कहा था कि) `देखिये, यह पुद्‌गल की (शक्ति) !' (हमने कहा) पुद्‌गल की शक्ति अर्थात्‌ आवरण है, वैसा यहाँपर कहने का नहीं। यहाँपर तो कहना है कि, परमाणु में निमित्तरूप केवलज्ञानावरणीय(रूप) परमाणु परिणमन को प्राप्त है, ऐसी पर्याय उसे ही होती है। वैसी पर्याय पुद्‌गल में और होती नहीं। क्या कहा इसमें कुछ समझ में आया ? ऐसा ही ऐसा (समझे)... ! `पुद्‌गल की अपूर्व केवलज्ञानावरणीय शक्ति कि जो केवलज्ञान का आवरण हो !' ऐसा पाठ है। उसका अर्थ कि, निमित्त से कथन है। वह केवलज्ञानावरणीय निमित्त है, और अंदर स्वयं हीन भावरूप परिणमित होता है, ऐसा भावकर्म है, तब उस (कर्म को) निमित्त (कहने में आता) है। किन्तु ऐसा विस्तार नहीं करते हुए, वैसा कहने में आता है। एक बात (हुई)।

दूसरी बात कि, जगत में कई प्रकार से परमाणु परिणमित होते हैं, उनमें जो केवलज्ञानावरणीयरूप परिणमित होते हैं वे कोई अलौकिक रीति से (परिणमित होते) हैं ! समझ में आया ? अन्य परमाणु किसी और प्रकार से परिणमित हो - मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, साता-असाता(रूप परिणमित हो) परंतु परमाणु में केवलज्ञानावरणीय(रूप) जो पर्यायें होती हैं, वे वैसी कोई परमाणु (की) पर्याय में शक्ति (है), आ..हा..हा...! कि, यहाँ केवलज्ञान है उसके आवरण में निमित्त कहलाता है। आहा...! ऐसी लंबी बातें...! बड़ी चर्चा हुई थी !

यहाँपर तो ऐसा सिद्ध करना है कि, भगवान केवलज्ञान के द्वारा भूत और भविष्य की पर्यायें अविद्यमान होते हुए उनको जानते हैं, अतः (वे पर्यायें) अविद्यमान होनेपर भी, जानने की अपेक्षा से वे विद्यमान हैं वैसा कहने में आता है, आ..हा..हा...! समझ में आया ? इसलिये तो ऐसा कहा कि, यह न्याय है कि, यह आत्मा और परमाणु आदि छः द्रव्य हैं उनकी अनंत पर्यायें बीत चुकी, उनका अस्तित्व अभी नहीं। वर्तमान एक समय की अनंत (पर्यायें) हैं। एक समय की एक (पर्याय) है, परंतु एक गुण की एक है, किन्तु अनंत गुण की अनंत हैं। अनंत वैसी पर्यायें बीत गई, नष्ट हो गई और अभी तक अनंत पर्यायें अनुत्पन्न हैं। भविष्य की पर्याय उत्पन्न हुई नहीं। फिर भी यह अपेक्षा से उसे असद्‌भूत, अभूतार्थ वैसा कहने में आता है। तथापि यह ज्ञान का वैसा स्वभाव है (यानी कि) केवलज्ञान का वैसा स्वभाव है... आ..हा..हा...!

कि, उन अविद्यमान को भी वर्तमान भूतार्थ की तरह जानता (है)। `है' वैसा वह जानता है, आ..हा..हा...! समझ में आया ? अरे...! ऐसा निर्णय करे तब तो उसे सर्वज्ञस्वभावी (अपने आत्मा का) निर्णय हो जाता है। बात भी लोगों को रुचना (कठिन है)। मूल तो यह है। जैनदर्शन का मूल तो यह है।

(एक लेख में) लिखा है न ! (उसमें) `दार्शनिक' शब्द है, हाँ ! वास्तविक दर्शन -जैनदर्शन की दार्शनिक उपलब्धि की प्राप्ति है। `क्रमबद्ध' यह तो जैनदर्शन की दार्शनिक प्राप्ति है !! उसमें तो केवलदर्शन, केवलज्ञान और पदार्थ की व्यवस्थित सिद्धि होती है। आहा..हा...! तीन बोल रखे हैं। `इस महान दार्शनिक उपलब्धि को व्यर्थ वादविवाद ने सामाजिक व राजनीति का विषय बना लिया है। यह एक शुद्ध दार्शनिक विषय है। यह वादविवाद एवं हँसी-म्ज़ाक का विषय नहीं है।' (अर्थात्) आप तो जो होनेवाला है सो होगा...! वैसे माननेवाले हो ! ऐसा कहकर मज़ाक उड़ाते हैं ! `इस पर विशुद्ध दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से विचार किया जाना चाहिये।' विचार करना चाहिये। वैसा ही वैसा पंडितों को मान लेना, वैसा नहीं है। जैनदर्शन यह कोई संप्रदाय नहीं। जैनदर्शन यह वस्तु का दर्शन है। विश्व जैसा है, (जैसा उसका) स्वरूप है, उसे जाना है, वैसा उन्होंने कहा है और उस तरह मार्ग को साधना, क्योंकि भूतार्थ त्रिकाल वस्तु जो है उसका आश्रय लेना यह जैनदर्शन का तात्पर्य है। `क्रमबद्ध' (का) निर्णय करने में भी भूतार्थ का आश्रय करनेपर `क्रमबद्ध' का निर्णय होता है। भाई ! आ..हा..हा...! ग्यारहवीं गाथा (`समयसार') ! `भूदत्थमस्सिदो खलु' ! आ..हा..हा...! एक समय में भूतार्थ (वस्तु है)। `भूत'... `भूत'... अर्थात् भूत लगा है, यह नहीं ! यह `भूत' अर्थात् विद्यमान वस्तु, आहा...! विद्यमान पदार्थ ! सकल निवारण अखंड एक प्रभु आत्मा ! आ..हा..हा...! यह जैनदर्शन का रहस्य और तत्त्व है ! आ..हा..हा...!

एक विद्वान ने एक जगह लिखा है कि, `क्रमबद्धपर्याय की बात पहले हमारे ध्यान में नहीं आयी।' अबतक यह शब्द ही (ध्यान में) आया नहीं था। `और वह इस युग में एक ऐसे व्यक्ति के माध्यम से प्रस्तुत हुई...' (अर्थात्) यहाँ से (`पूज्य गुरुदेवश्री' से)। `...इस युग में एक ऐसे व्यक्ति से माध्यम से प्रस्तुत हुई जिसे हम किसी कारणवश पसंद नहीं करते,...' (यानी कि) स्थानकवासी में से निकले हुए... और इस व्यक्ति ने क्रमबद्ध निकाला ! और न थे पंडित, नहीं विद्वान या संस्कृत

व्याकरण के पाठी...! `...तो इसका मतलब यह तो नहीं होना चाहिये कि हम सर्वज्ञ की भविष्यज्ञता से भी इन्कार कर अपने पैरों पर ही कुल्हाड़ी मार लें !' भविष्य की जिस समय जो पर्याय होनेवाली है उनको भगवान अभी भी जानते हैं। यदि तू भविष्य की (जिस) प्रकार (पर्याय होनेवाली) है उसी प्रकार होती है, वैसा यदि न माने तो सर्वज्ञ के ऊपर कुल्हाड़ी पड़ती है !! समझ में आया ? आहा..हा...! सूक्ष्म बातें बहुत हैं, बापू!

लोग जैनदर्शन क्या है ? (यह) कुछ समझते नहीं और वैसे ही वैसे (चलते रहते हैं) ! जिस संप्रदाय में पैदा हुए (वैसी मान्यता कर ली)। जिस कुल में पैदा हुए और जिस की संगत (हुई) उसे माना, हो गई छुट्टी... ! व्यर्थ जिंदगी गवाँई!! आहा...!

यहाँ ऐसा कहा `...इन्कार कर अपने पैरों पर ही कुल्हाड़ी मार लें ! इस आत्मघाती कदम उठाने के पूर्व...' यह `आत्मघाती कदम' है !! `क्रमबद्ध' का निषेध करनेवाला सर्वज्ञ का निषेध करता है ! केवलज्ञानी तीनकाल को जानते हैं उनका निषेध करते हैं !! आहा...! `...यह आत्मघाती कदम उठाने के पूर्व चिंतकवर्ग से एकबार पुनः विचार कर लेने का सानुरोध आग्रह है।' विचार कीजिये ! एकबार विचार कीजिये.. विचार कीजिये...!! वैसे का वैसे न मानो। एक व्यक्ति ने कहा इसलिये हमें मान लेना ! हमारे इतने-इतने साधु हो गये (और) अब कोई कहते नहीं हैं और (उनका मान लिया जाय ?!) आहा...! बहुत अच्छा लिखा है !

आ..हा..हा...! यहाँ कहते हैं, `अब अविद्यमान पर्यायों...' है न ऊपर ? `अविद्यमान' अर्थात् भूतकालीन जो अभी है नहीं, भविष्य की उत्पन्न हुई नहीं है, उन्हें `...(भी) कथंचित् (-किसी प्रकार से; किसी अपेक्षा से)...' अर्थात् कि, वहाँ भूत(काल की पर्याय) हाल में नहीं है और भविष्य की है नहीं, परंतु ज्ञान का ऐसा कोई स्वभाव है कि, जो इस प्रकार होगा, जो हो (गई) जिस समय, वैसा ही यहाँ जानते हैं !! इस अपेक्षा से (अर्थात्) ज्ञान की अपेक्षा से उसे `भूतार्थ' कहने में आता है। आ..हा..हा...! समझ में आया ? Logic-न्याय बहुत सूक्ष्म है, भाई ! जैनदर्शन कोई अपूर्व चीज है!! जगत में कोई दूसरा है नहीं !! जैनदर्शन के अलावा कोई धर्म तीनकाल में सत्य है नहीं। समझ में आया ?

यह यहाँ कहते हैं। ऊपर शीर्षक चल रहा है। **`अविद्यमान पर्यायों...'** `अविद्यमान'

अर्थात् `नहीं'। भूत(काल) की नहीं भूत (अर्थात्) गत समय की, भविष्य की नहीं। उसका भी... ऐसा है न ? देखिये न ! (संस्कृत में है) **`अथासद्भूतपर्यायाणां कथंचित्सद्भूतत्वं विदधाति-**' (अर्थात्) किसी अपेक्षा से यानी कि `है' ऐसा कहते हैं। (किसी) अपेक्षा से अर्थात् ज्ञान वैसा जानता (है), सबकुछ प्रत्यक्ष जानता है। इसलिये `नहीं' उसे हम `है' वैसा कहते हैं ! आ..हा..हा...!

(अब) ३८ गाथा :-

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा।।३८।।

आ..हा..हा...! क्या गाथा है !! जैनदर्शन का प्राण है !!

हरिगीत :-

जे पर्ययो अणजाण छे, वली जन्मीने प्रविनष्ट जे।
ते सौ असद्भूत पर्ययो पण ज्ञानमां प्रत्यक्ष छे।।३८।।

आ..हा..हा...! भगवान परमेश्वर के महामंत्र हैं !! आ..हा..हा...! हम ऐसा करें व हम वैसा करके वैसा कर दें और किसी का कर दें एवम् मेरी पर्याय भी बदल दूँ और... आ..हा..हा...! ये सब अभिमान के जहर उतारने के मंत्र हैं !! सर्प के जहर को उतारने के लिये मंत्र होते हैं न ! वैसे ये मिथ्यात्व के जहर उतारने के मंत्र हैं !! आ..हा..हा...!

टीका :- **`जो (पर्यायें)...**' `पर्याय' समझ में आती है ? (पर्याय अर्थात्) अवस्था। प्रत्येक द्रव्य और गुण त्रिकाल रहते हैं और अवस्था क्षण... क्षण... क्षण... क्षण में पलटती है। क्रमसर पलटती है। एक के बाद एक... एक के बाद एक... एक के बाद एक... लोग गतकाल की (पर्यायों को केवलज्ञान जानता है) वैसा मानते हैं। गतकाल की प्रत्येक समयपर हुई है यह बराबर है, इसलिये उसे मानते हैं। परंतु भविष्य की हुई नहीं, जिस समय (होनेवाली) उसी समय होगी, वैसा मानना कठिन पड़ता है। क्योंकि गतकाल की जो पर्यायें हो गई हैं, हो गई वे तो उसी समय हुई थी वे (तो) उसी समय (ही) होनेवाली थी। इसलिये उन्हें कहो ठीक (है कि) क्रमबद्ध मान लेते हैं। परंतु भविष्य की जिस समय होगी उसी समय होगी, आगे-पीछे नहीं, आ..हा..हा...! ऐसा जो मानना यह लोगों को कठिन पड़ता (है)। इसलिये

वे सर्वज्ञ को भी उड़ाते हैं। क्योंकि सर्वज्ञ ही भविष्य की सभी पर्यायें (वर्तमान में) नहीं हैं - तथापि ज्ञान में प्रत्यक्ष (जानते) हैं, आ...हा..हा...! यह ज्ञान का-केवलज्ञान की पर्याय का कोई अलौकिक चैतन्यस्वभाव (है) कि, एक समय की पर्याय के अलावा अनंतकाल (की) भविष्य की कोई पर्याय वर्तमान में नहीं है तथापि भगवान के ज्ञान में ये वर्तमान हैं वैसे जानते हैं !! तब (अतिरिक्त) प्रश्न यह आया था कि, `(जो पर्याय) नहीं है उसे (प्रत्यक्ष) जाने यह तो विपरीत हुआ !' अरे...! परंतु सुन तो सही ! यह तो वहाँ उत्पन्न नहीं हुई है, उस अपेक्षा से नहीं है। परंतु ज्ञान में तो, जिस समय उत्पन्न होगी वैसा ही यहाँ ज्ञान हुआ है, आ..हा..हा...! ऐसी बातें हैं। बहुत कठिन काम! आहा..हा...! भविष्य की जिस समय जो पर्याय होगी उस समय होगी, यह मानना लोगों को (कठिन पड़ता है)। परंतु उसका मतलब ऐसा है प्रभु ! देखिये ! (यहाँ क्या कहते हैं ?)

`जो (पर्यायें) अभी तक भी उत्पन्न नहीं हुई है...**' है न ? भविष्य की...! भविष्य की पर्यायें वर्तमान में नहीं, अनुत्पन्न हैं। कल जो पर्याय होगी वह अभी उत्पन्न नहीं हुई है। अर्थात् कि ये पर्यायें, अब तक भी उत्पन्न हुई नहीं हैं **`...और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं,...' पर्यायें उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं, आहा..हा...! विलय हुई हैं वे वर्तमान में नहीं, उस अपेक्षा से (कहा है)। शेष (जो पर्याय विलय हुई हैं सो गई हैं द्रव्य में। आहा..हा...! परंतु वर्तमान विलय है न (इसलिये विलय हो गई, वैसा कहा है)। गतकाल की पर्याय वर्तमान नहीं। वे विलय हो गई हैं। और वे (भविष्य की) उत्पन्न हुई नहीं हैं।

`...वे (पर्यायें) वास्तव में अविद्यमान होने पर भी,...**' भाषा फिर ऐसी देखी ! यथार्थ में अभूतार्थ होने पर भी... आ..हा..हा...! वास्तव में `नहीं' वैसा होने पर भी अविद्यमान (होने) पर भी **`...ज्ञान के प्रति नियत होने से...' आ..हा..हा...! यह तो कोई बात (है)!! परंतु केवलज्ञान की पर्याय में तो प्रत्यक्ष... प्रत्यक्ष... प्रत्यक्ष... जिस प्रकार वर्तमान है उसी तरह भूत और भविष्य की (पर्यायों को) वर्तमान देखता है, आ..हा..हा...! यह तो कोई (बात है) !! यह चैतन्य की चमत्कारी पर्याय का सामर्थ्य है !! आ..हा..हा...!

जो पर्यायें उत्पन्न हुई नहीं और उत्पन्न होने के अलावा द्रव्य में तो जितनी शक्ति है उतनी नित्य रहती है !! पर्याय उत्पन्न हुई इसलिये पूर्ण (स्वरूप) है उसमें

कोई कमी आयी है, (वैसा नहीं)। यह भी कोई अचिंत्य बात है न !!

यहाँपर तो कहते हैं, प्रभु ! मार्ग प्रभु का ऐसा है... ! आहा...! जड़ और चैतन्य छः द्रव्य की भूतकाल की अवस्थाएँ और छः द्रव्य की भविष्य की अवस्थाएँ-अनुत्पन्न और विनष्ट (ऐसी पर्यायें) इस अपेक्षा से असद्भूत होनेपर भी... आ..हा..हा..! (उनको प्रत्यक्ष जानते हैं) !! प्रभु ! परंतु तेरी शक्ति ऐसी है न ! आ..हा..हा...! द्रव्य की शक्ति वैसी है और पर्याय की शक्ति वैसी है !! आ..हा..हा...! द्रव्य की शक्ति हो तो पर्याय की शक्ति में आये न ! आहा..हा...!

ज्ञान की एक समय की पर्याय विनष्ट-अवस्थाएँ हो गई और उत्पन्न हुई नहीं, उस अपेक्षा से उसे अविद्यमान कहते हैं। परंतु ज्ञान की अपेक्षा से प्रभु ! हम प्रत्यक्ष कहते (हैं) !! आ..हा..हा...! परंतु ज्ञान का कोई ऐसा स्वभाव (है)... आ..हा..हा...! केवलज्ञान की पर्याय का कोई ऐसा स्वभाव (है)... आ..हा..हा...! वास्तव में अविद्यमान (होने)पर भी ज्ञान में प्रत्यक्ष, वर्तमान, भूतार्थ है।

` यहाँ अपनी पर्याय भी हुई नहीं उसे भी केवलज्ञान (जानता) है। भविष्य की अनंत पर्यायें हुई नहीं उन्हें भी केवलज्ञान प्रत्यक्ष जानता है, आ..हा..हा...! केवलज्ञान भी एक समय में, दूसरे समय में, तीसरे (समय में)... नया-नया होता ही रहता है न! जो (पर्याय) अबतक हुई नहीं उसे भी केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, वैसे जानता है ! उस ज्ञान की अपेक्षा से उसे भूतार्थ कहने में आता है। बहुत सूक्ष्म बात है, भाई ! यहाँ `सोनगढ' में ऐसी बात न हो तो (और) कहाँ हो भाई ?

आ..हा..हा...! भगवान ! तू ऐसा (है), तेरे भीतर सामर्थ्य है कि, भूत और भविष्य की पर्याय नहीं होनेपर भी, ज्ञान में निर्णय करने जाय तो यह श्रुतज्ञान की पर्याय में भी (यह) परोक्ष है, केवलज्ञान में प्रत्यक्ष है। परंतु परोक्ष भी प्रमाण है न ! क्या कहा समझ में आया ? आहा...! केवलज्ञान की पर्याय में, नहीं और उत्पन्न हुई नहीं, होकर गई और नहीं हुई, उन अपेक्षा से तो वास्तव में अविद्यमान है। तथापि यह ज्ञान ऐसा है कि, ज्ञान उसे प्रत्यक्ष करता है ! इसलिये उसे व्यवहार से `भूतार्थ' कहने में आता है। (परंतु) `है' यह व्यवहार ! आ..हा..हा...! समझ में आया ? ऐसा मार्ग ! वह तो व्रत करना व तपस्या, उपवास करना और चौविहार करना... लो धर्म हो गया ! छः पर्व ब्रह्मचर्य का पालन, छः पर्व कंदमूल न खाना... बापू ! वे

सभी बातें... `यह मैं छोड़ता हूँ व यह मैं खाता हूँ' ये सब जड़ की क्रिया (हैं)। (यह) `मैं करता हूँ,' यह मान्यता ही मिथ्यात्व है ! आ..हा..हा...!

आहा...! यहाँपर तो (ऐसा कहते हैं कि) केवलज्ञान और तेरी श्रुतज्ञान की पर्याय भी जिस द्रव्य की पर्याय होकर गई और हुई नहीं, उसे श्रुतज्ञान की पर्याय परोक्ष रीति से है वैसे बैठाते हैं। परोक्ष भी प्रमाण है न ? आ..हा..हा...! समझ में आया ?

(अब कहते हैं) `... ज्ञान के प्रति नियत होने से (ज्ञान में निश्चित-)...' ज्ञान में तो निश्चित है, निश्चय है। (वर्तमान में) नहीं है इसलिये ज्ञान में व्यवहार है, ऐसा नहीं। आहा..हा...! ज्ञानस्वरूप भगवान में क्रमबद्ध जो पर्याय होनेवाली और हो गई वे ज्ञान में निश्चित हैं। **`...(ज्ञान में निश्चित-स्थिर-लगी हुई होने से,...)'** आ..हा..हा...! वे पर्यायें मानो ज्ञान में चिपक गयीं हों ! आ..हा..हा...! एक समय का (केवल)ज्ञान बापू ! यह क्या है,भाई ! आ..हा..हा...! समय एक जाने तीनकाल को ! समय एक - वर्तमान और जाने तीनकाल !! आहा..हा...! बापू ! नौ तत्त्वों में मोक्षतत्त्व - केवलज्ञानतत्त्व का निर्णय करना (पड़ेगा), भाई ! मोक्षतत्त्व है न ? केवलज्ञान...! आ..हा..हा...! यह होता है द्रव्य के आश्रय से, परंतु हुई पर्याय का इतना सामर्थ्य है (कि सबको) प्रत्यक्ष जानती है।

**`(...लगी हुई होने से, ज्ञान में सीधी ज्ञात होने से)...'** (अर्थात्) नहीं होनेपर भी ज्ञान में सीधी ज्ञात होती है, आ..हा..हा...! आ..हा..हा...! ऐसे `है' वैसे ज्ञान में ज्ञात होती है ! आहा...! प्रभु ! तेरे पर्याय में चैतन्य का स्वभाव तो देख !! आहा..हा...! सीधा... ज्ञान में सीधा (ज्ञात होता है)। (कोई) ऐसा कहे कि, होगी तब जानेंगे, वर्तमान में होगी तब जानेंगे, वैसे नहीं। वर्तमान में हुई नहीं उन्हें सीधा जानते हैं, आ..हा..हा...! आड़ में (जानना) होगा वैसै नहीं, (परंतु) सीधा जानते हैं, आहा..हा...! यह नौ तत्त्वों में मोक्षतत्त्व-केवलज्ञानतत्त्व का निर्णय कराते हैं ! आ..हा..हा...! यद्यपि है तो पर्याय का निर्णय, परंतु पर्याय का निर्णय द्रव्य के आश्रय से होता है। पर्याय का निर्णय पर्याय के आश्रय से होता नहीं।

आ..हा..हा...! केवलज्ञान का निर्णय करने जाय कि उसकी एक समय की पर्याय अनंत.. अनंत... पर्याय उत्पन्न हुई नहीं और अनंत उत्पन्न होकर गई हैं, उन्हें ज्ञान की पर्याय सीधा जानती है। `सीधा जानती है...' आ..हा..हा...! अर्थात् वर्तमान जैसा

है वैसा सीधा जानती है, आ..हा..हा...! यह वर्तमान पर्याय है इसलिये आगे भविष्य में क्रमिक होगी, ऐसा अनुमान या अन्य रीति से जानती नहीं। वैसा कहते हैं, आ..हा..हा...!

ज्ञान, एक समय की पर्याय को सीधा जानता है। अनंतकाल आगे जो पर्याय होगी उसे ज्ञान सीधा (अर्थात्) प्रत्यक्ष जानता है ! आ..हा..हा...! क्या कहते हैं यह! विचार और मंथन करने की यह बात है ! आहा...! वैसे ही वैसे मान ले यह कोई वस्तु नहीं है। अंदर में यह वास्तविक स्वभाव है (उसका निर्णय करना चाहिये)।

(जो पर्यायें) हो गई हैं और होगी उसे ज्ञान का कोई ऐसा स्वभाव है कि, सीधा (जानता है) !! यह वर्तमान है तो आगे (भविष्य) होगा, वर्तमान है तो भूतकाल था, वैसे (नहीं जानता)। समझ में आया ? आ..हा..हा...! धन्य भाग्य ! वीतराग की ऐसी वाणी मिले, बापू !

इसलिये तो `स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में ऐसा कहा है न ! भगवान, इन्द्र और जिनेन्द्र जिस समयपर जिसकी पर्याय होगी, जिस तरह, जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस निमित्त से जिस प्रकार (होनेवाली होगी उस प्रकार होगी। उसे इन्द्र या जिनेन्द्र कोई रोक सकते नहीं)। उस प्रकार से माने तो वह सम्यग्दृष्टि है और उससे विपरीत माने तो मिथ्यादृष्टि है। `स्वामी कार्तिकेय !' समझ में आया ? `स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में ३२१-३२२ गाथा (है), आ..हा..हा...! भाई ! यह तो वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है और प्रभु ने कहा है।

ऐसा एक बार `गंजपंथा' में प्रश्न हुआ था। (वहाँ) एक श्वेतांबर साधु थे। हमारे यहाँ का अध्ययन तथा सब बातें करते थे। हम गये तब वे आये, पैर छूये, परंतु बाद में आये नहीं। हमें तो शाम को जाना था (इसलिये बाद में) किवाड़ बंद करके बैंठे थे। (हम गये तब) पैर छूये। मैंने कहा `शास्त्र में पाठ है कि काल में मुक्ति होती है और अकाल में मुक्ति होती है, (वैसे) दो पाठ हैं। (`प्रवचनसार') ८७ नय में (आता है), काल में भी मृत्यु होता है और अकाल में भी मृत्यु होता है, (उसका) क्या है ?' (उन्होंने कहा) `मैंने कुछ विचार नहीं किया है।'

`प्रवचनसार' में ऐसा पाठ है कि, काल में भी मोक्ष होता है और अकाल में भी मोक्ष होता है। परंतु ऐसा ही माने कि जिस समय जो होनेवाला है वह होगा। तो यह अकाल में मोक्ष होता है, वैसा कहा है। (उसका अर्थ ऐसा है कि) काल

में (मोक्ष) होते समय स्वभाव, पुरुषार्थ है उसे अकाल कहने में आता है। पढ़-पढ़कर बैठाया था, न्याय से अंदर बैठा नहीं था। (मैंने कहा) काल में भी मोक्ष होता है और अकाल में भी मोक्ष होता है। (ऐसा) पाठ है। जिस काल में, जिस समय में (मोक्ष) होनेवाला है वह होगा ही। तथापि अकाल में मुक्ति (भी आती) है। है न इसमें? इसमें है ? यह `प्रवचनसार' है न ? ३० और ३१ (वाँ नय है)। ४९८ पन्ना है।

`आत्मद्रव्य कालनय से जिसकी सिद्धि समयपर आधार रखती है ऐसा है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भाँति। (कालनय से आत्मद्रव्य की सिद्धि समयपर आधार रखती है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम की भाँति।)' (३०)

**`आत्मद्रव्य अकालनय से जिसकी सिद्धि समयपर आधार नहीं रखती ऐसा है, कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भाँति।' (३१)** क्या है यह ? अतः यहाँ पुरुषार्थ और स्वभाव को साथ में स्थापित किया है। समझ में आया ? यह तो (संवत्) १३ (की साल की) बात है। यहाँ तो पहले से ही (यह बात) चर्चित है न ! यह इसमें है इसमें - `व्यवहार से मुक्ति होती है और निश्चय से मुक्ति होती है व क्रियानय से होती है व ज्ञाननय से होती है,' किन्तु इसका अर्थ क्या ? उस प्रकार की योग्यता उस समय गिनती में ली गई। बाक़ी तो जिस समय मुक्ति होनेवाली है, जिस समय भगवानने देखी उस समय वैसा ही होनेवाला है। आगे-पीछे होनेवाला (नहीं)। परंतु `अकाल से (मुक्ति)' कहा यह (क्या है) ? (उस समय) स्वभाव है, पुरुषार्थ है, केवल काल नहीं। अकाल से अर्थात् पुरुषार्थ, स्वभाव, भवितव्यता और भाव सब मिलकर है। उसे `अकाल' कहने में आता है। आहा..हा...! सूक्ष्म बातें बहुत, बापू ! वीतरागमार्ग सूक्ष्म बहुत, भाई ! आदमी को फुरसत न मिले... ! आ..हा..हा...!

श्रोता :- अकालमृत्यु कहने में आता है न ?

समाधान :- उसमें भी वही है। कर्म की स्थिति उस प्रकार वहाँ पूर्ण होनेवाली थी, इस कारण अकाल कहा। `पद्मनंदीपंचविंशती' ! `अनित्य अधिकार' हमने कल पढ़ा था। उसमें यह आया - जिस समय, जिस प्रकार, जिस क्षेत्र से देह की (स्थिति) पूर्ण होनेवाली है सो होगी। एक समय आगे-पीछे नहीं। और तुम्हारे यहाँ कहा जाता है न कि, `पंचमी की षष्ठी होती नहीं' ! कहने में आता है या नहीं ? पंचमी को

देह छूटनेवाला होगा तो पंचमी के (दिन ही छूटेगा), षष्ठी तीनकाल में (होनेवाली नहीं), आ..हा..हा...!

यहाँ कहते हैं, आ..हा..हा...! क्या बात (है) !! गतकाल की पर्याय वर्तमान (में) नहीं। अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... काल (का) भविष्य वर्तमान (में) नहीं। इस अपेक्षा से वास्तव में अविद्यमान ही है। परंतु ज्ञान का कोई ऐसा स्वभाव है कि, जैसे वह प्रत्यक्ष हो, विद्यमान हो वैसे प्रत्यक्ष जानता है !! आ..हा..हा...! ऐसा केवलज्ञान! बापू ! उसकी पर्याय की इतनी ताक़त !! तो उसके गुण का क्या कहना ! और अनंतगुण के पिंड (वैसा) द्रव्य का क्या कहना !! आ..हा..हा...! यह द्रव्य की दृष्टि!! ऐसी दृष्टि हुए बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं। आहा...हा...! पर्याय की दृष्टि नहीं। केवलज्ञान है यह भी `सद्भूत व्यवहारनय' का विषय है।

यह विषय भी जब आता है कि, अविद्यमान को भी प्रत्यक्ष जानता है, यह क्या है, बापू !? नहीं उसको प्रत्यक्ष जानता है कि, यह है !! ऐसे । आ..हा..हा...!

श्रोता :- द्रव्य में तो शक्तिरूप योग्यता रही हुई है (इसलिये तो जानता है)?

समाधान :- यह तो त्रिकाल (है)। यह प्रश्न नहीं है। यहाँ तो भविष्य की जो पर्याय हुई नहीं और भूत(काल की) हो गई, उसे वैसे प्रत्यक्ष जानता है कि, यह है !! द्रव्य को जानता (है) अतः है, वैसा नहीं। यह जानता है इसलिये है।

श्रोता :- द्रव्य में शक्तिभूत योग्यता विद्यमान है...

समाधान :- नहीं... नहीं... नहीं...! शक्तिरूप योग्यता (की बात नहीं)। यह तो उसकी गतकाल की और भविष्य की पर्याय वर्तमान में नहीं हैं, उन्हें ज्ञान में वर्तमान प्रत्यक्ष जानता है। द्रव्य में भविष्य की शक्ति है। इसलिये जानता है, वैसा नहीं। भविष्य की जिस समय, जिस प्रकार (पर्याय) होनेवाली है उसे ज्ञान वैसे प्रत्यक्ष जानता है !! यह तो बापू वीतराग की बातें (हैं) !! आ..हा..हा...! जिनेश्वरदेव, प्रभु परमात्मा... आ..हा..हा...! उनके एक-एक वाक्यों की श्रद्धा, उसका ज्ञान होना, बापू ! यह कोई अलौकिक बात है !! यह कोई सामान्य बात नहीं। आहा..हा...!

यह बात एक बार दोहरायी थी कि, भविष्य में (जो पर्याय होगी) यह सब वर्तमानवत् (केवलज्ञान को) निमित्त होती है। भविष्य में होगी इसलिये (यहाँ केवलज्ञान में) निमित्त होती है, वैसा नहीं। आ..हा..हा...! सूक्ष्म बात है, भाई ! ये सब प्रश्न उपस्थित हो

चुके हैं। यह द्रव्य की पर्याय जिस रूप होगी (उसके अनुसार जानता है)। वर्तमान योग्यता है वह वर्तमान को जानती है इसलिये भविष्य को जानती है, वैसा नहीं। समझ में आया ? वर्तमान द्रव्य में भविष्य की योग्यता है और भूतकाल की योग्यता है इसलिये उन्हें जानने से भूत-भविष्य को जानती (है), वैसा नहीं। यह तो उसकी पर्याय को जानता है। यह तो शक्ति को जानता है, वैसा कहा। आ..हा..हा...! भाई! यह वीतरागमार्ग कोई गंभीर है !! आ..हा..हा...! अरे..रे...! ऐसा मार्ग अलौकिक है, प्रभु !

(यहाँपर कहते हैं) वह पर्यायें **`...(... ज्ञान में सीधी ज्ञात होने से)...'** **`ज्ञान के प्रति नियत'** ऐसा है न ? उसका अर्थ किया है। ज्ञान के प्रति तो निश्चय है। वहाँ भले ही नहीं है परंतु ज्ञान के प्रति तो निश्चय है, आ..हा..हा...! उस **`... ज्ञानप्रत्यक्ष वर्तती हुई,...'** **`...ज्ञान के प्रति नियत होने से...'** (अर्थात्) ज्ञान के प्रति निश्चय होने से **`...ज्ञानप्रत्यक्ष वर्तती हुई...'** उस `ज्ञान में प्रत्यक्ष वर्तती हुई' (वैसा कहा है)। (अर्थात्) भूत और भविष्य ज्ञान में प्रत्यक्ष वर्तती हुई (वैसा कहते हैं)। आ..हा..हा...! समझ में आता है न ? आहा...! ऐसी बात है, बापू ! आ..हा..हा...! त्रिलोकनाथ, वीतराग का एक-एक वाक्य (शब्द) कोई अलौकिक है !! लोगों को सुनने मिला नहीं, आहा...! आ..हा..हा...! क्या कहते हैं ?

गतकाल में होकर नष्ट हो गई, भविष्य की उत्पन्न हुई नहीं, इस प्रकार वास्तव में तो (वे पर्यायें) अविद्यमान ही है, वर्तमान नहीं। परंतु ज्ञान का कोई ऐसा स्वभाव है कि, ज्ञान में वह नियत-प्रत्यक्ष ज्ञात होती है, आ..हा..हा...! होगी तब ज्ञात होगी, वैसा नहीं। वैसे द्रव्य में ऐसी योग्यता है इसलिये द्रव्य को जाने, इसलिये भविष्य की पर्याय को जाने, वैसा नहीं। आ..हा..हा...! ऐसा उपदेश !! है ?

`ज्ञान के प्रति' अर्थात् ज्ञान और आत्मा (के प्रति) नियत होने से (अर्थात्) निश्चय से सीधी ज्ञात होने से, ज्ञान में परिणमित होकर सीधी ज्ञात होने से **`...ज्ञानप्रत्यक्ष वर्तती हुई...'** (प्रत्यक्ष का) नीचे अर्थ किया है। प्रत्यक्ष अर्थात् अक्ष के प्रति। (उसके नीचे) अक्ष का अर्थ है। दो (अर्थ कहे हैं)। अक्ष अर्थात् आत्मा और अक्ष अर्थात् ज्ञान। प्रत्यक्ष=अक्ष के प्रति अर्थात् आत्मा के प्रति (और) ज्ञान के प्रति। अक्ष के सम्मुख अर्थात् आत्मा के सम्मुख (और) ज्ञान के सम्मुख। अक्ष के निकट अर्थात् आत्मा के निकट

(और) ज्ञान के निकट। अक्ष के संबंध में अर्थात् आत्मा के संबंध में (और) ज्ञान के संबंध में हो वैसा। अक्ष = (१) ज्ञान (२) आत्मा। समझ में आया ? भाई ! यह कोई कथा-कहानी नहीं, आ..हा..हा...! यह तो अंदर वस्तु का स्वरूप कोई अचिंत्य, अद्भुत (है उसकी बात चलती है) !! आ..हा..हा...! इस तरह न माने तो वह केवलज्ञान को मानता नहीं।

कई लोग केवलज्ञान में शंका उठाने लगे हैं (कि), भविष्य में होगा तब जानेंगे, अभी से कैसे जाने ! `क्रमबद्ध' की बात छेड़ी तब लोगों को ऐसा हो गया था, `ऐसा...! सर्वज्ञ वर्तमान एक समय में जानते हैं !?' भविष्य की पर्याय होगी सो वर्तमान में (जाने) !? अब, वैसा न जाने तो दिव्यज्ञान किसे कहेंगे ? आ..हा..हा...! भाई ! परमात्मा का एक तत्त्व - एक पर्याय - केवलज्ञान की एक पर्याय की भी इतनी विस्मयता!! आश्चर्यता !! आ..हा..हा...! यह **`...ज्ञानप्रत्यक्ष वर्तती हुई,...'** उनके बारे में विशेष आयेगा...

(दिनांक १२-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-३७)

(`प्रवचनसार', ३८वीं गाथा चल रही है)। जो छः द्रव्यों की पर्यायें उत्पन्न हुई नहीं, **`...और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं,...'** (अर्थात्) भूतकाल की (पर्यायें) उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं। **`...वे (पर्यायें) वास्तव में अविद्यमान होनेपर भी,...'** वास्तव में तो वर्तमान की अपेक्षा से तो अविद्यमान हैं, आहा..हा...! तीनकाल (की) भूत-भविष्य की पर्यायें-अवस्थाएँ वर्तमान अविद्यमान होनेपर भी, है न ? **`...ज्ञान के प्रति नियत होने से...'** आ..हा..हा...! ज्ञान की पर्याय में तो नियत हैं, निश्चित हैं। (वर्तमान की) अपेक्षा से भूत और भविष्य की पर्यायें असद्भूत हैं। किन्तु ज्ञान की अपेक्षा से प्रत्यक्ष-सद्भूत है, आहा..हा...! सूक्ष्म बातें बहुत !

यह केवलज्ञान की पर्याय का ऐसा स्वभाव (है) कि, भविष्य की पर्याय हुई नहीं, भूत की-गतकाल की होकर नष्ट हो गई, उस अपेक्षा से असद्भूत हैं। तथापि ज्ञान

के प्रति निश्चित हुई हैं। ज्ञान उन्हें प्रत्यक्ष-सद्भूत रूप जानता है, आ..हा..हा...! ज्ञान में वे तीनकाल की पर्यायें अंदर में नियत - निश्चय से ज्ञात हैं। ज्ञान का प्रत्यक्ष स्वभाव है, आहा..हा...! यह आपके `क्रमबद्ध' के बारे में आ गया !!

द्रव्य की जो पर्याय है, वह उस समय वास्तव में उत्पन्न होनेवाली है। और भूत(काल की) बीत गई वह भी, जिस समय थी उसी समय थी (और) इस समय बीत गई। भविष्य में भी जिस समय होनेवाली है उसी समय होगी, वह (वर्तमान में) उत्पन्न हुई नहीं। वे सभी क्रमबद्ध पर्याय हैं। एक के बाद एक, जो होने का समय है उसी तरह होगा। वैसा भगवान के ज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात है, वैसा कहते हैं।

अब, कोई ऐसा कहे कि पर्याय को हम बदल सकते हैं, पुरुषार्थ के द्वारा टेढ़ी-मेढ़ी कर सकते हैं, तो उसको केवलज्ञान का (विश्वास) नहीं बनता, आ..हा..हा...! केवलज्ञान को ही उसने जाना नहीं। समझ में आया ? (जिस समय जो पर्याय) होनेवाली है वह वहाँ होती है, बस ! भले ही निमित्त हो। निमित्त ने की नहीं और निमित्त के द्वारा हुई है, वैसा कहने में आये वह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिये है। ऐसी बातें हैं, किन्तु लोगों को अभ्यास कहाँ (है) ! आ..हा..हा...!

वह यहाँ कहते हैं - भूत और भविष्य की छः द्रव्यों (की पर्यायें) - परमाणु की अनंतकाल पश्चात् होने(वाली) पर्याय वे अभी तो अविद्यमान हैं। परंतु ज्ञान के लिये तो नियत-निश्चित है, आ..हा..हा...! (अर्थात्) ज्ञान तो उन्हें प्रत्यक्ष जानता है। आगे कभी जानेगा, वैसा नहीं। सूक्ष्म बात, भाई ! यहाँपर तो ज्ञानस्वभाव के पर्यायधर्म को सिद्ध करते हैं। आहा..हा...! उसमें एक समय का ज्ञानपर्याय - पूर्ण केवलज्ञान (भूत और भविष्य की पर्यायें) अविद्यमान होनेपर भी, यहाँपर तो असद्भूत का ज्ञान हो जाता है। असद्भूत का ज्ञान हो जाता है यह नियत-निश्चय होता है। (पर्याय) होगी तब (ज्ञान) होगा, वैसे नहीं। आ..हा..हा...! है ?

`...(**ज्ञान में निश्चित-स्थिर-लगी हुई होने से, ज्ञान में सीधी ज्ञात होने से**)...' देखा? होगा तब (ज्ञात होगा) वैसे नहीं, अभी सीधी ज्ञात है, आ..हा..हा...! भूत और भविष्य, गतकाल की और भविष्यकाल की पर्यायें वर्तमान में नहीं हैं, इस अपेक्षा से उन्हें असद्भूत कहा। परंतु ज्ञान की पर्याय में सर्वज्ञ परमात्मा को प्रत्यक्ष वर्तमान सीधी ज्ञात हैं। आ..हा..हा...! समझ में आया ? आ..हा..हा...! ऐसा वस्तु का स्वरूप (है)!

ऐसा समकितदृष्टि मानता है।

अज्ञानी तो (ऐसा मानता है कि) उसको मैं ऐसे कर दूँ, पर का ऐसे कर दूँ और पर से मुझ में कुछ हो, मैं ऐसे करूँ तो वैसे हो, ऐसा न करूँ तो वैसा न हो, यह प्रश्न ही वस्तु में नहीं है।

(यहाँपर कहते हैं) इस ज्ञान में सीधी ज्ञात हैं। **`...ज्ञानप्रत्यक्ष वर्तती हुई,...'** है? **`ज्ञानप्रत्यक्ष वर्तती हुई'** अक्ष अर्थात् आत्मा में ये भूत और भविष्य की पर्यायें प्रत्यक्ष वर्तती हुई। आत्मा में या आत्मा के ज्ञान में यह भूत और भविष्य की पर्याय वर्तमान प्रत्यक्ष वर्तती (हुई, वैसे कहते हैं)। आ..हा..हा...! कल यहाँतक आया था।

(अब आगे कहते हैं) **`...पाषाण स्तंभ में उत्कीर्ण,...'** जैसे पाषाणस्तंभ हो (उसमें) गतकाल के `भरत' और `बाहुबली' हो गये हैं, उन्हें स्तंभ में चित्रित किया हो। `बाहुबलीजी' और `भरत' ऐसे पाषाण में चित्रित किये हो - वे भूत(काल के)। भावी (के) - `श्रेणिकराजा' भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले हैं, उन्हें चित्रित किया हो। गतकाल के `भरत-बाहुबलीजी' और भविष्य के `श्रेणिकराजा' आदि। वे चित्रित हो तो एक समय में वैसे प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। समझ में आता है कुछ ? सूक्ष्म स्वभाव भाई, ऐसी बात है। अभी तो यह सब गडबड़ हो गई है।

भगवान ने जाना है उसके अनुसार यहाँ (पर्याय) होती है और इससे जाना इसलिये (वहाँ पर्याय) होती है, वैसे भी नहीं। वहाँ तो होने के काल में अपने कारण होती है, निमित्त के कारण नहीं। आ..हा..हा...! भगवान के ज्ञान में ज्ञात है इसलिये वहाँ होता है, वैसे भी नहीं। यह निमित्त है इसलिये उससे होता है, वैसे भी नहीं। आ..हा..हा...! ऐसा सूक्ष्म है !

ज्ञायकस्वभाव को सिद्ध करता हैं ! भगवानआत्मा का ज्ञायकस्वभाव है, भाई ! आ..हा..हा...! इस ज्ञायकस्वभाव की ज्ञायक और सर्वज्ञपर्याय प्रगट होनेपर यह तो सब एक समय में जानता है। (कोई ऐसा) कहे कि, भविष्य का निश्चित कहाँ है किसकी (पर्याय) कैसे होगी। (तो कहते हैं कि) निश्चित है। `श्रेणिकराजा' भविष्य में तीर्थंकर होंगे, यह निश्चित है। `ब्रह्मदत्त (चक्रवर्ती)' भविष्य में सातवीं नरक में ३३ सागर रहेगा, यह निश्चित है। आहा..हा...! भूतकाल में `भरत' और `बाहुबली' हो गये, वे बराबर हुए। परंतु वह तो हो गई (वह) उस काल में होनेवाली थी उसी काल

में (हुई)। परंतु (जो हुई) नहीं (वह) उसी काल में होगी यह कैसे ? तब तो नियत हो जायेगा ! नियत ही है ! जिस द्रव्य की जिस समय जो पर्याय होनेवाली (उसमें) इन्द्र, नरेन्द्र और गणधर आदि भी हेर-फेर कर सकते नहीं। आहा..हा...!

वह यहाँ कहते हैं, **`...पाषाण स्तंभ में उत्कीर्ण, भूत...**' भूत अर्थात् गतकाल के `भरत' और `बाहुबली' **`...और भावी देवों...**' अर्थात् `श्रेणिकराजा' आदि **`...(तीर्थंकरदेवों की) भाँति अपने स्वरूप को अकंपतया...**' पाषाण में उत्कीर्ण भूत और भावी वर्तमान प्रत्यक्ष दिखाई दे वैसे। **`...अपने स्वरूप को अकंपतया...**' जगत में जितने अनंत ज्ञेय हैं (और) उनकी जो भूत और भविष्य की पर्यायें हैं वे सभी **`... अपने स्वरूप अकंपतया (ज्ञान को) अर्पित करती हुई...**' (अर्थात्) वे ज्ञेय जो हैं वे अकंपतया ज्ञान में वर्तते हैं।

भाई ! आज तो एक विचार आया था - `परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति' है न ? आत्मा में एक `परिणम्य-परिणामकत्व' नामक गुण है। आ..हा..हा...! जगत के जो पदार्थों की द्रव्य-गुण आदि की पर्यायें हैं वे ज्ञेयाकार को ग्रहती है और अपने ज्ञानाकार को पर के ज्ञान में प्रमेय अनुसार ग्रहती है। क्या कहा यह ? गुण है न ? पंद्रहवाँ है। ४७ शक्ति हैं न (उसमें) पंद्रहवाँ है। जीवत्व, चिति, दशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व, सर्वदर्शीत्व, सर्वज्ञत्व, स्वच्छत्व, प्रकाश, असंकुचितविकासत्व, अकार्यकारणत्व, परिणम्यपरिणामकत्व। पंद्रहवीं शक्ति है। आत्मा में एक परिणम्य-परिणामकत्व नामक गुण है। यानी कि ज्ञेयों में समय समय में जो कुछ परिणाम-आकार होते हैं उन्हें ज्ञान जानता है, आहा..हा...! और अपने जो ज्ञानाकार हैं वे सामनेवाले केवलज्ञानादि पर्याय में वे ज्ञानाकार ग्रहण होते हैं। पर का प्रमेय करे और पर के ज्ञान में वह (स्वयं) प्रमेयत्व होता है। यह तो सूक्ष्म बातें बहुत, बापू ! आहा..हा..हा...! समझ में आया ? पंद्रहवाँ गुण है न ! `परिणम्यपरिणामकत्वशक्ति' ! यह परिणम्यपरिणामकत्व अर्थात् ज्ञेयाकार को ग्रहण करता है और ज्ञानाकार को ग्रहण कराता है। दूसरे के ज्ञान में ज्ञानाकार (ग्रहण कराते हैं)। उसके हिसाब से तो (दूसरे जीव के हिसाब से तो) यहाँ ज्ञेयत्व है न ! परंतु यहाँ ज्ञानाकार जैसी अपनी अवस्था है वैसा उसमें प्रमेयत्वरूप होता है-ज्ञात होता है। और पर का प्रमेयपना अपने में प्रमाण होता है, आ..हा..हा...! क्या कहा यह ?

तीनकाल तीनलोक की जितनी पर्यायें हैं वे सभी ज्ञेय अनुसार केवलज्ञान की पर्यायें अर्पित हो जाती हैं, आहा..हा...! है ? `**...अकंपतया** (**ज्ञान को**) **अर्पित करती हुई** (**वे पर्यायें**) **विद्यमान ही हैं।**' देखा ? आ..हा..हा...! बहुत अलौकिक बातें हैं, बापू! जैसा तैसा मानना वह कोई बात नहीं। आ..हा..हा...! ज्ञान की पर्याय में जितने ज्ञेय-पर्याय हैं वे सभी एक समय में यहाँपर ज्ञान में अकंपतया (स्वयं को) अर्पित करती हैं। जैसे कि, तीनोंकाल (का) सबकुछ एकदम स्थिर हो वैसा अकंपतया अर्पित होतीं है !! गतकाल की पर्याय, भविष्य की (पर्याय) और वर्तमान (की) सर्व (पर्याय) वैसे जैसे स्थिर हों !! इसप्रकार अर्पित होती हैं। आ..हा..हा...! ऐसा है ! अपनी भी जो पूर्ण ज्ञान की पर्याय है (और) अनंतगुणों की पर्यायें हैं वे भी पर के ज्ञान में ज्ञेयरूप अकंपतया वर्तती हैं। आ..हा..हा...!

ऐसा जहाँ स्वरूप है और क्रमबद्ध (यदि) न माने जब तो वह वस्तु की स्थिति ही मानता नहीं। और वस्तु की स्थिति को मानता नहीं तो केवलज्ञान को भी मानता नहीं। सूक्ष्म बात है। भाई ! आहा..हा...! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा... आ..हा..हा...! साक्षात् दिव्यध्वनि महाविदेह में वर्तती है !! यहाँ वही वाणी है !! वहाँ `कुंदकुंदाचार्य' गये थे, आठ दिन रहे थे (और वहाँ से) यह लाये हैं !! भव्यजनो के-लायक जीवों के लिये यह लाये हैं !! आहा...!

भाई ! तू ज्ञान है न ! तू आत्मा है न ! आत्मा अर्थात् ज्ञान। यह ज्ञान जगत की चीजों की पर्याय को - गतकाल की और भविष्य की सर्व (पर्यायों को) विद्यमान हैं वैसे जानता है न ! आ..हा..हा...! असद्भूत है और अविद्यमान है-(वैसा कहा तो) दोनों गलत नहीं होगा ? अब कोई वैसा कहता है। भूत और भविष्य अविद्यमान है, वैसा कहा। तथापि ज्ञान में (तो) विद्यमान ही है। बापू ! तुझे ख़बर नहीं, भाई ! ज्ञानस्वरूप में तो वह प्रत्यक्ष विद्यमान ही है। आहा...! वैसा ज्ञान का स्वभाव है !! आ..हा..हा...! प्रभु ! तेरा स्वभाव ही सर्वज्ञस्वभावी है ! यह सर्वज्ञस्वरूपी सर्वज्ञ पर्याय प्रगट होती है उसमें तीनकाल की पर्यायें अकंपतया अर्थात् ऐसे कंपित हो (वैसे नहीं परंतु) स्थिर बिंब जैसे पड़ा है !! आ..हा..हा...!

आ..हा..हा...! ऐसी बात है, भाई ! जैनदर्शन को समझना, मानना यह कोई अलौकिक बात है !! और जिसे यह ज्ञान में यथार्थ(रूप) बैठा उसे भव का अंत आ गया!!

आहा...! उसे केवलज्ञान निश्चितरूप से होगा। उसके क्रम में उसे केवलज्ञान आयेगा!! आ..हा..हा...! और उस क्रम में (जो) केवलज्ञान आयेगा वह भी दूसरे के ज्ञान में अकंपतया-ज्ञेयरूप वहाँ अर्पित हो चुका है। इस जगत में तीनकाल है तो तीनकाल को जाननेवाले तीनकाल में किसी समय न हो वैसा हो नहीं सकता। क्या कहा यह? तीनकाल की जो वस्तु-ज्ञेय हैं तब उसे जाननेवाला (यानी कि) तीनकाल को जाननेवाला तीनकाल में किसी समय न हो, वैसा (बनता) नहीं। भूतकाल में भी केवली हो गये, वर्तमान में हैं और भविष्य में (भी होंगे)। केवलियों का विरह कभी होता नहीं। आहा...! तीनकाल और तीनलोक ऐसा जो ज्ञेयस्वरूप है तो उन तीनकाल को एक समय में जाननेवालों का इस जगत में कभी भी विरह नहीं हो सकता। आ..हा..हा...! समझ में आया ? आहा..हा...!

भगवान `महावीर' का जीव सिंह (के भव में) था (तब) सिंह इस तरह हिरन को (मारकर खाता था)। (दो) मुनि ऊपर से उतरे ! (और कहा) `अरे सिंह ! तू तो आत्मा (है) ! तीर्थंकर द्रव्य (हो) ! दसवें भव में `महावीर' होगा !!' यह निश्चित हो गया था। आहा..हा...! सर्वज्ञ परमेश्वर ने मुनियों को कहा है। भाषा कैसी होगी मुनियों की !? आहा..हा...! आकाश में गमन करते थे (वहाँ) ऊपर से उतरे (और) सिंह के समीप आये। सिंह को ऐसा लगा कि, मेरे पास कोई जानवर या मनुष्य आये, नजदीक में आये वैसे भाग जाते हैं और ये दूर से ऊपर से मेरे समीप नीचे आयें !! (ऐसा देखता है वहाँ) एकदम वृत्ति में फर्क पड़ गया, यह क्या ? ओ..हो..हो...! यह क्या है किन्तु यह !? मेरे समीप कोई अनजान आ जाय तो भाग जाय और यह तो ऊपर से (नीचे आयें) !! ऐसे तिरछे (जमीन ऊपर से) समीप आये तो भी भागे (तो) ये तो ऊपर से (जा रहे थे) जहाँ मेरी नजर न जाये, मेरी छलांग न पहुँचे (और ये नीचे आ गये) !! आ..हा..हा...! वे मुनि आये और ऐसे हाथ किया... कैसी भाषा होगी मुनियों की !? वे तिर्यंचरूप में किस प्रकार भाषा को समझे होंगे?! आ..हा..हा...! कैसी सिंह की योग्यता और कैसी भाषा की योग्यता !! आहा...! संयोग कैसा मिलता है !! वह बराबर भाषा से भाषा समझा। अरे... प्रभु ! तू तो दसवें भव में तीर्थंकर `महावीर' होगा ! यह क्या ? आ..हा..हा...! (यहाँपर) है न हमारे चित्र ? आहा..हा...! (यह) निश्चित हो चुका था। आहा...!

(सिंह की) आँख में से आँसू बह निकलते हैं... ! अरे... यह क्या !? वैसे अंदर धारा चल रही है। वैसे अंदर विचारधारा में चढ़ते... आ..हा..हा...! कर्म की धारा हट जाती है और सम्यग्दर्शन पाता है !! बापू ! यह क्या वस्तु है, भाई ! सम्यग्दर्शन!! ऐसे हिरन एक तरफ पड़ा है... अंदर खाया होगा कि क्या ? किन्तु अंदर में (ऐसा होता है कि) क्या कहते हैं ये, प्रभु !? तू तीर्थंकर का जीव है ! दसवें भव में `महावीर' होगा ! प्रभु ! तू `वीर-महावीर' (होनेवाला है) !! आहा...! भाषा किस तरह समझे होंगे !? किस देश के मुनि ? किस देश की भाषा ? कहाँ यह जंगल का सिंह ? आहा..हा...! एक निमित्त-नैमित्तिक मेल मिल जाता है न ! आहा..हा...! उसके समझने की लियाक़त (थी वह) इस तरह समझता है ! आहा..हा...! पश्चाताप करते करते आँसू की धारा बह निकलती है... ! और अंतर स्वभाव के सम्मुख जाता है... आ..हा..हा...! वहाँ आगे सम्यग्दर्शन होता है !! `महावीर' भगवान का आत्मा दसवें भव में सिंह (की पर्याय में सम्यग्दर्शन पाता है) !! आ..हा..हा...! उस क्रम की पर्याय में उसे यह होनेवाला था। भगवान के ज्ञान में था। था कि नहीं ? तब तो मुनि ने कहा - `अरे... सिंह ! भगवान तुझे इस तरह कहते हैं। प्रभु ने मुझसे कहा है!' आ..हा..हा...! `तू अब इस स्थिति में है और तू तो भगवान तीर्थंकर होनेवाला हो!' आ..हा..हा...! वह (सिंह) अंदर ज्ञानस्वरूपी प्रभु है वहाँ मग्न हो जाता है ! आ..हा..हा...!

एक (और बात भी) आती है न ? `ऋषभदेव' भगवान को आहार दिया था तब नेवला आदि चार प्राणी थें, चार जानवर (थे)। और (आहारदान का) इस प्रकार प्रमोद किया और (फिर) मरकर जुगलीया हुए। भोगभूमि के जुगलीया ! ऐसे में मुनि आये हैं और इसप्रकार उपदेश देते हैं। नेवला आदि चार प्राणी हैं। हाल में (नेवला स्वरूप) नहीं है हाल में जुगलीया (स्वरूप है)। पूर्व में नेवला (आदि) थे। (मुनिराज) कहते हैं, `अरे... आत्माओं ! तुम्हारी काललब्धि पक गई है !' वहाँ ऐसा पाठ है। `तुम्हें जिस समय दर्शन-ज्ञान होने का है वह तुम्हारी काललब्धि पक गई (है) !' (इस तरह) मुनि कहते हैं ! गजब की बात है ! आ..हा..हा...! छद्मस्थ मुनि उसे देखकर कहते हैं। (सामने है) जुगलीया ! भोगभूमि के मनुष्य ! इसके पूर्व तिर्यंच थे। चार थे न? चार थे - बंदर, नेवला... (आदि थे)। कथा बहुत याद नहीं, (किन्तु) भाव अंदर याद है। (मुनिराज कहते हैं) `अरे... आत्माओं ! तुम्हारी काललब्धि पक गई है ! तुम

सम्यग्दर्शन (प्रगट) करो !' आ..हा..हा...! वहाँ वे इसप्रकार अंदर में उतर जाते हैं ! और समकित प्राप्त करते हैं !! भोगभूमि ! वहाँ बहन-भाई (रूप) जन्म लेते हैं (और) वे आगे पति-पत्नी होते हैं। आ..हा..हा...! किन्तु उसकी काललब्धि पक गई ! वैसा छद्मस्थ संतों ने कहा। आ..हा..हा...! प्रभु ! उसकी (यह) पर्याय होनेवाली है यह आपने कैसे जान लिया ? `प्रभु ! काललब्धि तुम्हारी पकी ! आप अब अंदर दृष्टि करो ! आपको सम्यग्दर्शन होने का काल आ गया !' आ..हा..हा...! यह भी नियत-क्रम में था। आ..हा..हा...! यह वीतरागमार्ग तो देखो ! ओ..हो..हो..हो...!

ये तिर्यंच ! भगवान को दूसरों ने आहार दिया वहाँ वे सिर्फ एक तरफ वैठे थे। (उनको ऐसे भाव हुए कि) `धन्य अवतार ! ये लोग आहार दे रहे हैं !' ऐसे भाव में भोगभूमि के जीव हुए। जुगलीया हुए ! पल्योपम का आयुष्य ! पल्योपम अर्थात् असंख्य अरब वर्ष !! आ..हा..हा...! कथा में भी भविष्य में यह होगा ऐसी बातें रखी हैं ! यह बदलनेवाला है ? आहा...! कुछ कथाओं में लिखा है कि, यह तीन भव में मोक्ष जायेगा, कोई पंद्रह भव में मोक्ष जायेगा ! आ..हा..हा...! यह जिस ज्ञान में ज्ञात है और उस क्रम में तब उसी तरह होनेवाला है, आहा...! उसे कौन बदले ? आहा..हा...! यह दुनिया से अलग जाति है, बापू ! आ..हा..हा...!

(यहाँपर कहते हैं) **`...भूत और भावी देवों की (तीर्थंकरदेवों की) भाँति...'** देव अर्थात् तीर्थंकर आदि। **`...अपने स्वरूप को अकंपतया (ज्ञान को) अर्पित करती हुई (वे पर्यायें) विद्यमान ही हैं।'** आ..हा..हा...! भूत और भविष्य अविद्यमान (हैं वैसा) तो स्वयं कहते हैं ! किन्तु ज्ञान में विद्यमान, प्रत्यक्ष हैं !! आ..हा..हा...! असद्भूत को भी वर्तमान भूतार्थ की तरह जानता है ! विद्यमान ही है उसे तो, ज्ञान में विद्यमान ही है इस प्रकार ! आ..हा..हा...! यह ज्ञान का अचिंत्य चिंतामणि रत्न का स्वभाव और ज्ञेयों का इस तरह होना वह उसे अर्पित करने का स्वभाव !! आ..हा..हा...! बापू ! उसकी श्रद्धा करना यह बहुत कठिन बात है ! आहा..हा...!

भूत और भविष्य के तीर्थंकर - `आदिश्वर' भगवान - आदि हुए उनको इस तरह स्तंभ में चित्रित किया हो (और) भविष्य में `श्रेणिक(राजा)' तीर्थंकर होनेवाले हैं, आ..हा..हा...! उन्हें इसतरह पाषाण में चित्रित किया हो। हम एक बड़े शहर में गये थे न ? वहाँ बनाया है। एक गृहस्थ ने स्तंभ में बड़ा बनाया है न ! नदी आदि सब बनाया

है न ! वहाँ देखने गये थे। लाखों खर्चकर बनाया है। सारे देश में घूमे हैं ! कौन सा गाँव (वह याद नहीं आता)। सारा इसप्रकार चित्रित किया है सब - इस तरह नदियाँ व स्तंभों में तीर्थंकर और बहुत बड़ा चित्र (बनाया है)। देखा है। कौन सा गाँव है याद है किसी को ? (जिसने बनाया है) वे स्वयं ही दिखाने ले गये थे। बड़ा मकान जबरदस्त ! भूत-भविष्य के तीर्थंकरों के चित्र सब बनाये हैं, सब नदियाँ बनाई हैं। गाँव कौन सा कहा वह ? `पोरबंदर' ! भूत, भविष्य के तीर्थंकर और दूसरा सब इस तरह वर्तमानवत् दिखाई दे वैसा बड़ा (बनाया है) !

यहाँ तो कहते हैं कि, पाषाण में उत्कीर्ण भूत, भविष्य के तीर्थंकरों की भांति दूसरे सर्व ज्ञेय अपना स्वरूप `**...(ज्ञान को) अर्पित करती हुई (वे पर्यायें) विद्यमान ही हैं।**' गज़ब बात है ! एक ओर कहते हैं कि, अविद्यमान हैं, वास्तव में अविद्यमान हैं ! उसकी अपेक्षा से वे अविद्यमान हैं। परंतु ज्ञान की अपेक्षा से विद्यमान हैं, आ..हा..हा...! यह तो कोई बात है !! गज़ब बात है ! बापू ! तेरा चैतन्य (स्वरूप) (और उसका) ज्ञानस्वभाव (उसकी) अचिंत्यता... !! आ..हा..हा...! उसे तू पहचान ! उसे जान ! और उसका अनुभव कर ! ऐसा कहते हैं। आ..हा..हा...! समझ में आया ? एक ही गाथा में (वैसा कहा) `**वास्तव में अविद्यमान होने पर भी**' भाषा इसप्रकार है - वास्तव में नहीं, आ..हा..हा...! परंतु ज्ञान प्रत्यक्ष विद्यमान ही है। `है', आ..हा..हा...! ऐसा कोई ज्ञान का स्वभाव (है)। प्रभु ! तेरा स्वभाव ऐसा है ! आहा..हा...! कि जो अविद्यमान को भी ज्ञान में प्रत्यक्ष करता है, इस प्रकार तेरे ज्ञान में प्रत्यक्ष है ! आ..हा..हा...!

एक ज्ञानगुण का भी ऐसा स्वभाव ! आ..हा..हा...! वैसे अनंत... अनंत... गुणों का कोई अलौकिक स्वभाव (है), आहा...! ऐसा चैतन्यद्रव्य कोई चमत्कारी वस्तु है!! अरे...! चैतन्य क्या जड़ भी ऐसी कोई चमत्कारी वस्तु है !! जड़ में जड़रूप अनुसार (पर्यायें) क्रम-क्रम से आयी है, आहा..हा...! परंतु यह जड़ उसे जानता नहीं। उसकी पर्याय क्रमिक हुई, होनेवाली होगी। उन परमाणु मात्र की पर्याय क्रमिक होती है। प्रत्येक परमाणु भिन्न है उसकी पर्याय स्वतंत्र उसमें होती है, ऐसे (दूसरे परमाणु के) नहीं। अपनी पर्याय अंदर भिन्न स्वतंत्र है। वह समय-समय की पर्याय परमाणु में क्रमबद्ध अपने से होती है। यह स्कंध जुड़ा हुआ है इसलिये (होता है वैसे) नहीं। आहा..हा...! ऐसे परमाणु की भी भूत और भविष्य की पर्यायें वर्तमान की अपेक्षा से, ज्ञेय की

अपेक्षा से अविद्यमान हैं। परंतु ज्ञान की अपेक्षा से विद्यमान हैं। यह क्या कहते हैं!! आ..हा..हा...! (ज्ञान को) ज्ञेय अर्पित हो गया। ज्ञेय में भी प्रमेयपना है न ! कहा न ! प्रमेयपना कहो या ज्ञेयपना (दोनों एकार्थी हैं)। दिखाई देने योग्य उसका स्वभाव है वह जाननेवाले में अर्पित हो गया है। प्रमेय हो गया है। आहा..हा...!

श्रोता :- ज्ञेय में विद्यमान गुण तो है !

समाधान :- (परंतु पर्याय) विद्यमान नहीं। इसी बात पर ही विरोध है न ! वैसा कहते हैं कि, `उसकी शक्ति में विद्यमान है न !' (परंतु) वैसा नहीं। मालूम है सब, यह प्रश्न कोई नया नहीं। यहाँ तो (वैसा कहना है कि) वर्तमान में नहीं है उसे यहाँपर प्रत्यक्ष विद्यमान कर दिखाता है ! ऐसा ही कोई ज्ञान का स्वभाव (है) !! ऐसी चीज़ है, बापू ! आत्मा अर्थात् क्या ?

यह आत्मा एक समय की पर्याय में ऐसा अनंत... अनंत... जानते हुए भी वैसी-वैसी अनंत पर्यायें भले ही हो, तथापि द्रव्य तो परिपूर्ण शुद्ध है वह है। ये (पर्यायें) होती हैं सो कोई विस्मय नहीं। भाई ! क्या कहा यह ?

जिसमें से केवलज्ञान की पर्याय प्रगट हुई तथापि वह वस्तु तो पूर्ण है ! ऐसी-ऐसी अनंत पर्यायें होंगी तब भी वस्तु तो प्रत्येक समय पूर्ण है। यह तो कोई बात है, बापू ! वस्तु का स्वभाव कोई अचिंत्य है, भाई !! आहा..हा...! समझ में आया?

प्रभु आत्मा ! अनंतगुण का पिंड है। उसमें से पर्याय प्रगट हुई, केवल(ज्ञान की पर्याय) प्रगट हुई। आ..हा..हा...! तो भी वह पूर्ण है। और निगोद के भव में अक्षर का अनंतवाँ भाग विकसित है तो भी द्रव्य तो पूर्ण है। यह क्या कहते हैं!? किसी भी समय हो द्रव्य तो पूर्ण ही है। जरा सी भी गुण में हीनता नहीं आयी। यह (हीनता) पर्याय में है, वस्तु पूर्ण है। यह तो अद्‌भुत है, बापू ! वीतराग सर्वज्ञ ने देखे हुए तत्त्वों और उन्होंने कही वे अलौकिक बातें (हैं), बापू !!

भगवान तू कौन है ! आ..हा..हा...! तेरे एक गुण की पूर्ण पर्याय प्रगट हो या अपूर्ण प्रगट हो परंतु वस्तु तो पूर्णरूप पूर्ण ही है। यह तो क्या बात है !? यह किस प्रकार है ? समझ में आया ? आ..हा..हा...!

एक समय में तीनकाल तीनलोक की पर्यायें अर्पित हो जाय इतना ज्ञान तेरा प्रगट हुआ है। वह पर्याय प्रगट हुई तथापि वैसे तो द्रव्य में से ही आई है। वैसे

द्रव्य में परिपूर्णता है !! इतनी बड़ी पर्याय आई इसलिये द्रव्य में कुछ हीनता हो गई है (वैसा नहीं)। क्या है यह तो !? समझ में आया ?

जिस तरह वह पर्याय अविद्यमान है तथापि ज्ञान के प्रति विद्यमान है, आ..हा..हा...! इस प्रकार एक समय में तीनकाल तीनलोक को पर्याय जाने उतनी प्रगट हो गई तथापि वस्तु है यह तो पूर्ण व पूर्ण (ही है)। घट-बढ़ उसमें हुई नहीं ! आ..हा..हा...! प्रभु ! ऐसा तेरा स्वभाव है !! आ..हा..हा...! उसने सुना नहीं, आहा..हा...! इस प्रकार गम्य-अगम्य जैसा लगे !!

(यहाँपर कहते हैं) वहाँ (पर्यायें) असद्भूत हैं, वास्तव में शब्द तो वैसा है। है न ? पाठ है न संस्कृत में ? मूल पाठ में है और संस्कृत में भी (है)। **`किलासद्भूता'** संस्कृत का मूल पाठ है न ! मूल गाथा में है और टीका में है। मूल गाथा में है, देखिये ! **`ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा'** आ..हा..हा..हा...! ये तो संतों की बातें ! वे दिगंबर मुनिगण तो केवलज्ञान के केडायत हैं !! आ..हा..हा...! अल्पकाल में केवलज्ञान होनेवाला है। आहा..हा...!

श्रोता :- प्रगट अपेक्षा से अविद्यमान है ?

समाधान :- प्रगट नहीं है इसलिये अविद्यमान है। परंतु ज्ञान में प्रगट, विद्यमान है। यह क्या ? आ..हा..हा...! बापू ! प्रभु ! यह कोई स्वभाव की बातें हैं, बापू ! आ..हा..हा...!

एक परमाणु के भी इतने अनंतगुण हैं। जितने आकाश के अनंत गुण हैं, इतने ही आत्मा में हैं और इतने ही एक परमाणु में हैं। इसे क्षेत्र की आवश्यकता नहीं कि, क्षेत्र बड़ा हो तो अनंत (गुण रह सके)। आ..हा..हा...! ऐसी ही कोई स्वाभाविक वस्तु है !!

इस तरह भगवानआत्मा को केवलज्ञान की पर्याय में (दूसरे पदार्थों की पर्यायें) असद्भूत होनेपर भी यहाँ विद्यमान के अनुसार प्रत्यक्ष है, आहा..हा...! प्रत्यक्ष है इसलिये विद्यमान है, इस तरह (है)। प्रत्यक्ष किसे कहें ? समझ में आया ? आहा..हा...! पौना घंटा हुआ। गज़ब बात है, भाई !

उसकी गंभीरता की कोई सीमा नहीं ! यह तो परमागम है! `प्रवचनसार', `समयसार' परमागम हैं !! इसकी गंभीरता इसकी गहराई की कोई सीमा नहीं !! शब्दों में तो

शब्दों के भाव हैं परंतु वे शब्द जिसे बताते हैं... आ..हा..हा...! यह चीज कोई अलौकिक है !! आ..हा..हा...!

श्रोता :- अनुभव की बात तर्क से पकड़ में आती है।

समाधान :- तर्क से ख्याल में आये इतना। परंतु सच्चा निर्णय अनुभव के बिना होता नहीं। पहले से ख्याल में वैसा आये, नय से, प्रमाण से, निक्षेप से (वैसा) आता है न ? तथापि यह विकल्प से निर्णय है। ('समयसार' की) ७३वीं गाथा में आता है न भाई ? पहले विकल्प से निर्णय (किया)। परंतु यह (विकल्प द्वारा हुआ) निर्णय सत्य निर्णय नहीं। अंतर ज्ञानस्वरूप प्रभु (है) इसके अंतर में जाकर जो अनुभव का निर्णय होता है, वैसा निर्णय विकल्प से नहीं होता। 'अनुभव रत्न चिंतामणि, अनुभव है रसकूप, अनुभव मारग मोक्षनो, अनुभव मोक्षस्वरूप' आहा..हा...! मोक्ष का मार्ग और मोक्षस्वरूप, कोई अचिंत्य बातें हैं, बापू ! आ..हा..हा...! 'प्रवचनसार' में भी कहा है न ? 'मोक्षतत्त्व' ! मोक्षमार्ग (प्रगट) हुआ है उसे 'मोक्षतत्त्व' कहा है ! 'प्रवचनसार' अंतिम पाँच गाथा (में आता है)। आ..हा..हा...! क्या कहते हैं, बापू ! निर्विकल्प स्वभाव ही कोई अलौकिक है !! इसका जहाँ पता लगा... उड़ गये... (इसके) भव उड़ गये ! भव होते नहीं ! आहा..हा...! यह ३८ गाथा पूरी हुई। इस दो पंक्ति में इतना हुआ ! ऐसा है !

❋ ❋ ❋

अथैतदेवासद्भूतानां ज्ञानप्रत्यक्षत्वं द्रढयति–

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।

ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति।।३९।।

यदि प्रत्यक्षोऽजातः पर्यायः प्रलयितश्च ज्ञानस्य।

न भवति वा तत् ज्ञानं दिव्यमिति हि के प्ररूपयन्ति।।३९।।

यदि खल्वसंभावितभावं संभावितभावं च पर्यायजातमप्रतिघविजृम्भिताखण्डितप्रतापप्रभुशक्तितया प्रसभेनैव नितान्तमाक्रम्याक्रमसमर्पितस्वरूपसर्वस्वमात्मानं प्रतिनियतं ज्ञानं न करोति, तदा तस्य कुतस्तनी दिव्यता स्यात्। अतः काष्ठाप्राप्तस्य परिच्छेदस्य सर्वमेतदुपपन्नम्।।३९।।

अथासद्भूतपर्यायाणां वर्तमानज्ञानप्रत्यक्षत्वं द्रढयति–**जइ पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स ण हवदि वा** यदि प्रत्यक्षो न भवति। स कः। अजातपर्यायो भाविपर्यायः। न केवलं भाविपर्यायः प्रलयितश्च वा। कस्य। ज्ञानस्य। **तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति** तद्ज्ञानं दिव्यमिति के प्ररूपयन्ति, न केऽपीति। तथा हि–यदि वर्तमानपर्यायवदतीतानागतपर्यायं ज्ञानं कर्तृ क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन साक्षात्प्रत्यक्षं न करोति, तर्हि तत् ज्ञानं दिव्यं न भवति। वस्तुतस्तु ज्ञानमेव न भवतीति। यथायं केवली परकीयद्रव्यपर्यायान् यद्यपि परिच्छित्तिमात्रेण जानाति, तथापि निश्चयनयेन सहजानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि तन्मयत्वेन परिच्छित्तिं करोति, तथा निर्मलविवेकिजनोऽपि यद्यपि व्यवहारेण परकीयद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानं करोति, तथापि निश्चयेन निर्विकारस्वसंवेदनपर्याये विषयत्वात्पर्यायेण परिज्ञानं करोतीति सूत्रतात्पर्यम्।।३९।।

अब, इन्हीं अविद्यमान पर्यायोंकी ज्ञानप्रत्यक्षताको दृढ़ करते हैं :-

गाथा ३९

ज्ञाने अजात-विनष्ट पर्यायो तणी प्रत्यक्षता।

नव होय जो, तो ज्ञानने अे `दिव्य' कोण कहे भला ?।।३९।।

अन्वयार्थ :- [यदि वा] यदि **[अजातः पर्यायः]** अनुत्पन्न पर्याय **[च]** तथा **[प्रलयितः]** नष्ट पर्याय **[ज्ञानस्य]** ज्ञानके (केवलज्ञानके) **[प्रत्यक्षः न भवति]** प्रत्यक्ष न हो तो **[तत् ज्ञानं]** उस ज्ञानको **[दिव्यं इति हि]** `दिव्य' **[के प्ररूपयंति]** कौन प्ररूपेगा ?

टीका :- जिसने अस्तित्वका अनुभव नहीं किया और जिसने अस्तित्वका अनुभव कर लिया है ऐसी (अनुत्पन्न और नष्ट) पर्यायमात्रको यदि ज्ञान अपनी निर्विघ्न विकसित, अखंडित प्रतापयुक्त प्रभुशक्तिके (-महा सामर्थ्य) द्वारा बलात् अत्यन्त आक्रमित करे (-प्राप्त करे), तथा वे पर्यायें अपने स्वरूपसर्वस्वको अक्रमसे अर्पित करें (-एकही साथ ज्ञानमें ज्ञात हों) इसप्रकार उन्हें अपने प्रति नियत न करे (-अपनेमें निश्चित न करे, प्रत्यक्ष न जाने), तो उस ज्ञानकी दिव्यता क्या है ? इससे (यह कहा गया है कि) पराकाष्ठाको प्राप्त ज्ञानके लिये यह सब योग्य है।

भावार्थ :- अनन्त महिमावान केवलज्ञानकी यह दिव्यता है कि वह अनन्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको (अतीत और आनागत पर्यायोंको भी) सम्पूर्णतया एक ही समय प्रत्यक्ष जानता है।।३९।।

भगवान तेरा स्वभाव कोई अलौकिक है !! स्वभाव की बात कोई सामान्य तर्क से नहीं बैठेगी। वैसे तो `सर्वविशुद्धज्ञान (अधिकार' में) आता है न ! `स्पष्ट तर्कणा से वस्तु सिद्ध हो सकती है।' वह `छेदन' का पूछा था न ! भाषा तो इस तरह भी आये - कर्म को छेदे ! `सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' में से आया है न ! `छेदे'... जिस प्रकार बंधन को जानते हुए भी बंधन को छेदता नहीं... आत्मा को बंधन है और शुद्ध होकर बंधन को छेदता नहीं... ! भाषा तो कैसी आये ? छेदन किसकी अपेक्षा से ? यह छेदन हो गया और नाश हो गया, इस अपेक्षा से छेदन कहने में आता है। बाक़ी आत्मा तो `छेदन' का नाममात्र कर्ता है ! यह आया है ? (`समयसार' की) ३८ गाथा ! ये तो अलौकिक बातें हैं, बापू ! आ..हा..हा...! राग का छेद करनेवाला अर्थात् नाश करनेवाला - वह भी आत्मा में नाममात्र है, परमार्थ से (निश्चय से) वह नहीं। आ..हा..हा...! क्या इसकी शैली !! आ..हा..हा...! भाई ! मार्ग गंभीर है ! आहा..हा...! अब ३९ गाथा।

`अब, इन्हीं अविद्यमान पर्यायों की ज्ञानप्रत्यक्षता को दृढ़ करते हैं :-' और दृढ़ करते हैं ! है ? अविद्यमानपना (स्वीकारते) हैं तथापि पर्याय के ज्ञान में प्रत्यक्षपना दृढ़ करते हैं ! यह तो अलौकिक बातें हैं, बापू ! आहा..हा...!

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।

ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति।।३९।।

नीचे (हरिगीत) :-

ज्ञाने अजात-विनष्ट पर्यायो तणी प्रत्यक्षता।

नव होय जो, तो ज्ञानने अे `दिव्य' कोण कहे भला ? ।।३९।।

`अजात' (अर्थात्) अनुत्पन्न। `विनष्ट' (अर्थात्) पूर्व से हुआ है वह। आ..हा..हा...! एक-एक तत्त्व भी ऐसा अलौकिक है ! यह केवलज्ञान तो `मोक्षतत्त्व' की बात है। आहा...! `मोक्ष' में तो ऐसा अर्थ आता है कि, दुःख से मुक्त हुआ ! `मोक्ष' वैसा शब्द है न ? परंतु वह भी नाममात्र से कथन है। आ..हा..हा...!

**टीका :- `जिसने अस्तित्व का अनुभव नहीं किया...'** (अर्थात्) भविष्य की पर्याय। भविष्य की पर्याय विद्यमान थी इस तरह अस्तित्व का अनुभव किया नहीं। भविष्य की पर्याय (का) अस्तित्व हुआ ही नहीं, आ..हा..हा...! यह तो `प्रवचनसार' है ! भगवान तीनलोक के नाथ की दिव्यध्वनि ! इसे `दिव्यध्वनि कहो या `प्रवचन'' कहो (दोनों एकार्थ है)। `प्र' अर्थात् दिव्य वचन। इसका सार - दिव्यध्वनि का सार। साक्षात् भगवान (बिराजमान हैं) ! आ..हा..हा...!

`जिसने अस्तित्व का अनुभव नहीं किया...'** किसने ? भविष्य की पर्याय ने। भविष्य की पर्याय अबतक अस्तित्वरूप हुई नहीं। **`...और जिसने अस्तित्व का अनुभव कर लिया है...' (अर्थात्) गतकाल की (पर्यायें)। गतकाल की पर्यायें अस्तित्व-सत्‌रूप हो गई है, अनुभव कर लिया है। आहा..हा...! गाथाएँ ये गाथाएँ हैं न !! `अमृतचंद्राचार्य' ने अमृत उँड़ेला है !!

`जिसने अस्तित्व का अनुभव नहीं किया...'** (अर्थात्) हुई नहीं। और जिसका अस्तित्व हो गया है। हो गया है, **`...ऐसी (अनुत्पन्न और नष्ट)...' (अर्थात्) उत्पन्न नहीं हुए हो और विलय हो चुके हो। ऐसी **`...पर्यायमात्र को...'** आ..हा..हा...! ऐसी पर्यायमात्र को **`...यदि ज्ञान अपनी निर्विघ्न विकसित, अखंडित प्रतापयुक्त...'** आ..हा..हा...! निर्विघ्न विकसित केवलज्ञान की पर्याय ! और अखंडित प्रतापयुक्त ! आ..हा..हा...! जिसके ज्ञान की पर्याय का अखंड प्रताप है !! `प्रभुत्वशक्ति' है न ? `प्रभुत्वशक्ति' आती है न ? `स्वतंत्ररूप जिसका अखंड प्रताप शोभित हो रहा है।' आ..हा..हा...! केवलज्ञान

में भी प्रभुत्वरूप है। इसकी पर्याय में भी प्रभुत्वरूप है, आ..हा..हा...! ज्ञान की पर्याय हाँ...! यह ज्ञान की पर्याय निर्विघ्न विकसित (है)। (अर्थात्) बिना विघ्न की अपने से विकसित ! आ..हा..हा...! जिस प्रकार लाख पंखुड़ी का कमल खिलता है इस प्रकार अनंत... अनंत.. गुण(रूपी) पंखुड़ी का पिंड प्रभु पर्याय में खिल उठता (है)। आ..हा..हा...! ऐसा है !

`**...अखंडित प्रतापयुक्त प्रभुशक्ति के (-महा सामर्थ्य) द्वारा...**' आ..हा..हा...! जो पर्यायें अनंत आत्मा में या जड़ में अबतक हुई नहीं और हो गई वह विलीन हो गई, इसे भी अपनी निर्विघ्न विकसित (पर्याय जान लेती है), (ऐसी) विकसित (अर्थात्) प्रगट पर्याय (का) अखंडित प्रताप है। जिसका प्रताप तीनकाल में कोई खंड नहीं कर सकता। ऐसी प्रभुत्वशक्ति द्वारा, आ..हा..हा...! `**...बलात् अत्यंत आक्रमित करे...**' आ..हा..हा...!

वो `कर्ता' आता है न ? (श्री `राजमल्लजी पांडे' ने) `कलश टीका' में `बलजोरी से कर्ता होता है' ऐसा अर्थ लिखा है। वस्तु स्वभाव राग का कर्ता नहीं है। परंतु बलजोरी से (अर्थात्) उल्टा होकर कर्ता होता है। `'कलशटीका' में `कर्तृत्व' का ऐसा अर्थ किया है।

जिस प्रकार उल्टा बलजोरी से कर्ता होता है वैसे (यहाँपर) अपनी बलजोरी से... आ..हा..हा...! `**...अत्यंत आक्रमित करे...**' अर्थात् पर्याय को `**...(-प्राप्त करे),...**' आहा..हा...! `**...तथा वे पर्यायें अपने स्वरूपसर्वस्व को अक्रम से अर्पित करे...**' वे पर्यायें अपने स्वरूपसर्वस्व को वर्तमान अर्पित करे ! आ..हा..हा...! (यानी कि) `**...(-एक ही साथ ज्ञान में ज्ञात हों)...**' आ..हा..हा...! भूतकाल की बीती हुई और भविष्य की हुई नहीं, अस्तित्व में आई नहीं व अस्तित्व का अनुभव नहीं हुआ, वे पर्यायें अपने स्वरूपसर्वस्व को अक्रम से अर्पित करती (हैं)। (अक्रम से अर्पित करती हैं अर्थात्) पहले वर्तमान में ज्ञात हो और आगे भविष्य का ज्ञात हो, भूत का पहले ज्ञात हो... वैसे नहीं। इन पर्यायों का ऐसा स्वभाव है ! आ..हा..हा...!

पहले भूत की पर्याय ज्ञात हो और आगे भविष्य की (ज्ञात हो) ऐसा इस प्रकार पर्यायों का वैसा स्वभाव नहीं। आ..हा..हा...!

`**...इस प्रकार उन्हें अपने प्रति नियत न करे (-अपने में निश्चित न करे, प्रत्यक्ष**

न जाने),...' आ..हा..हा...! `**...तो उस ज्ञान की दिव्यता क्या है ?**' उस ज्ञान की दिव्यता...! अलौकिकता...! विस्मयता...! है। आ..हा..हा...! `**...वे पर्यायें अपने स्वरूपसर्वस्व को अक्रम से अर्पित करें (-एक ही साथ ज्ञान में ज्ञात हों) इसप्रकार उन्हें अपने प्रति नियत न करे (-अपने में निश्चित न करे, प्रत्यक्ष न जाने), तो उस ज्ञान की दिव्यता क्या है ?**' आ..हा..हा...!

`**इससे (यह कहा गया है कि) पराकाष्ठा को प्राप्त ज्ञान के लिये यह सब योग्य है।**' `पराकाष्ठा को' (अर्थात्) अंतिम से अंतिम ज्ञान की उत्कृष्ट अवस्था हो गई उसे सब योग्य है। अनुत्पन्न और हो गई उन्हें भी वर्तमान प्रत्यक्ष जानता है वैसा ही कोई ज्ञान का स्वभाव है, (वैसा कहना है)। विशेष कहेंगे...

(**दिनांक १३-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-३८**)

(`प्रवचनसार'), ३९ गाथा का भावार्थ। `**अनंत महिमावान केवलज्ञान की यह दिव्यता है कि वह अनंत द्रव्यों की समस्त पर्यायों को...**' गतकाल के, भविष्य के और वर्तमान के। गतकाल की अनंत, उससे अनंतगुना भविष्य की (और) वर्तमान की पर्याय भी अनंत हैं। तीनकाल के समय से भी वर्तमान एक समय की पर्याय अनंत हैं। आहा..हा...! उस भूतकाल - गतकाल, भविष्य और वर्तमान को भगवान एक समय में `**...संपूर्णतया एक ही समय प्रत्यक्ष जानता है।**' इस प्रकार करके (समझकर) करना क्या किन्तु अब ?

आत्मा रागादि विकल्परहित (है) उसे स्वसंवेदन से जानना और उस स्वसंवेदन द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति होगी। समझ में आया ? राग से तो (आत्मा की) प्राप्ति नहीं, परंतु यहाँपर अब आगे कहेंगे (कि), इन्द्रिय के, मन के ज्ञान से प्राप्ति नहीं। सर्वज्ञपद ! लोगों को एकांत लगता है न, एकांत लगता है ! परंतु यहाँ तो कहते हैं (कि), यह निश्चय सर्वज्ञरूप सिद्ध किया परंतु उस सर्वज्ञपना की प्राप्ति कैसे हो? उसका तात्पर्य उसने बताया क्या ? (तो कहते हैं) आत्मा रागादि रहित सर्वज्ञस्वरूपी है। उसका स्वसंवेदनज्ञान से (अनुभव करे) उसे सर्वज्ञ की प्राप्ति होती है। आहा..हा...!

यहाँ ३९ (गाथा में) अंत में यह कहा (कि), एक ही समय (संपूर्णतया सर्व को) जाने वैसी जगत में जो पर्याय है, उसकी प्राप्ति अपने को करनी है तो उसे तो अतीन्द्रिय स्वरूप भगवानआत्मा के सम्मुख होकर, उसका स्व (अर्थात्) अपना वेदन करके जो कुछ शांति प्राप्त हो, उसके द्वारा उसे सर्वज्ञपद की प्राप्ति होती है, आ..हा..हा...! ऐसी बात है ! यह ३९ (गाथा पूर्ण) हुई।

❋ ❋ ❋

अथेन्द्रियज्ञानस्यैव प्रलीनमनुत्पन्नं च ज्ञातुमशक्यमिति वितर्कयति–

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं।।४०।।

अर्थमक्षनिपतितमीहापूर्वैर्ये विजानन्ति।
तेषां परोक्षभूतं ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्तम्।।४०।।

ये खलु विषयविषयिसन्निपातलक्षणमिन्द्रियार्थसन्निकर्षमधिगम्य क्रमोपजायमानेनेहादिकप्रक्रमेण परिच्छिन्दन्ति, ते किलातिवाहितस्वास्तित्वकालमनुपस्थितस्वास्तित्वकालं वा यथोदितलक्षणस्य ग्राह्यग्राहकसंबन्धस्यासंभवतः परिच्छेत्तुं न शक्नुवन्ति।।४०।।

अथातीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थानिन्द्रियज्ञानं न जानातीति विचारयति-**अत्थं** घटपटादिज्ञेयपदार्थं। कथंभूतं। **अक्खणिवदिदं** अक्षनिपतितं इन्द्रियप्राप्तं इन्द्रियसंबद्धं। इत्थंभूतमर्थं **ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति** अवग्रहेहावायादिक्रमेण ये पुरुषा विजानन्ति हि स्फुटं। **तेसिं परोक्खभूदं** तेषां सम्बन्धि ज्ञानं परोक्षभूतं सत् **णा दुममसक्कं ति पण्णतं** सूक्ष्मादिपदार्थान् ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्तं कथितम्। कैः। ज्ञानिभिरिति। तद्यथा – चक्षुरादीन्द्रियं घटपटादिपदार्थपार्श्वे गत्वा पश्चादर्थं जानातीति सन्निकर्षलक्षणं नैयायिकमते। अथवा संक्षेपेणेन्द्रियार्थयोः संबन्धः सन्निकर्षः स एव प्रमाणम्। स च सन्निकर्ष आकाशाद्यमूर्तपदार्थेषु देशान्तरितमेर्वादिपदार्थेषु कालान्तरितरामरावणादिषु स्वभावान्तरितभूतादिषु तथैवातिसूक्ष्मेषु परचेतोवृत्तिपुद्गलपरमाण्वादिषु च न प्रवर्तते। कस्मादिति चेत्। इन्द्रियाणां स्थूलविषयत्वात्, तथैव मूर्तविषयत्वाच्च। ततः कारणादिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवति। तत एव चातीन्द्रियज्ञानोत्पत्तिकारणं रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनज्ञानं विहाय पञ्चेन्द्रियसुखसाधनभूतेन्द्रियज्ञाने नानामनोरथविकल्पजालरूपे मानसज्ञाने च ये रतिं कुर्वन्ति ते सर्वज्ञपदं न लभन्ते इति सूत्राभिप्रायः।।४०।।

अब, इन्द्रियज्ञानके लिये नष्ट और अनुत्पन्नका जानना अशक्य है (अर्थात् इन्द्रियज्ञान ही नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थोंको-पर्यायोंको नहीं जान सकता) ऐसा न्यायसे निश्चित करते हैं।

गाथा ४०

ईहादिपर्वूक जाणता जे अक्षपतित पदार्थ ने।
तेने परोक्ष पदार्थ जाणवु शक्य ना-जिनजी कहे।।४०।।

अन्वयार्थ :- [ये] जो **[अक्षनिपतितं]** अक्षपतित अर्थात् इन्द्रियगोचर **[अर्थं]** पदार्थको **[ईहापूर्वैः]** ईहादिक द्वारा **[विजानन्ति]** जानते हैं, **[तेषां]** उनके लिये **[परोक्षभूतं]** परोक्षभूत पदार्थको **[ज्ञातुं]** जानना **[अशक्यं]** अशक्य है **[इति प्रज्ञप्तं]** ऐसा सर्वज्ञदेवने कहा है।

टीका :- विषय और विषयीका सन्निपात जिसका लक्षण (-स्वरूप) है, ऐसे इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षको प्राप्त करके, जो अनुक्रमसे उत्पन्न ईहादिकके क्रमसे जानते हैं वे उसे नहीं जान सकते जिसका स्व-अस्तित्वकाल बीत गया है तथा जिसका स्व-अस्तित्वकाल उपस्थित नहीं हुआ है क्योंकि (अतीत-अनागत पदार्थ और इन्द्रियके) यथोक्त लक्षण (-यथोक्तस्वरूप, ऊपर कहा जैसा) ग्राह्यग्राहकसम्बन्धका असंभव है।

भावार्थ :- इन्द्रियोंके साथ पदार्थका (अर्थात् विषयीके साथ विषयका) सन्निकर्षसम्बन्ध हो तभी (अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणारूप क्रमसे) इन्द्रियज्ञान पदार्थको जान सकता है। नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंका सन्निकर्ष-सम्बन्ध न होनेसे इन्द्रियज्ञान उन्हें नहीं जान सकता। इसलिये इन्द्रियज्ञान हीन है, हेय है।।४०।।

---

४० (गाथा)। (शीर्षक में कहते हैं) '**अब, इन्द्रियज्ञान के लिये...**' (अर्थात्) इन्द्रियज्ञान जो है उसके '...लिए नष्ट...' अर्थात् हो गई है अवस्थाएँ '**...और अनुत्पन्न का जानना अशक्य है...**' (अर्थात्) इन्द्रियज्ञान में, द्रव्य की जो अवस्थाएँ हो गई और होनेवाली है (होंगी) उसे जानना अशक्य है। '**...(अर्थात् इन्द्रियज्ञान ही नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थों को-पर्यायों को नहीं जान सकता) ऐसा न्याय से निश्चित करते हैं।**' आहा..हा...!

अनीन्द्रिय सर्वज्ञज्ञान, अनीन्द्रिय (अर्थात्) इन्द्रियातीत वस्तु जो भगवानआत्मा इसके ध्यान से और इसके वेदन से यह सर्वज्ञपद की प्राप्ति होती है। आहा..हा..हा...! इसका सार यह है। तात्पर्य यह है न ! आहा...! समझ में आया ?

इन्द्रियज्ञान है (इसमें) पूर्ण में बीत गया और (भविष्य में) होगा, उसे जानने की ताक़त नहीं, यह कहते हैं।

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं।।४०।।

ईहादिपूर्वक जाणता जे अक्षपतित पदार्थ ने।
तेने परोक्ष पदार्थ जाणवु शक्य ना-जिनजी कहे।।४०।।

`**पण्णत्तं**' है न ? (अर्थात्) भगवान सर्वज्ञ इसप्रकार कहते हैं। आ..हा..हा...! इन्द्रियज्ञान से बीती अवस्थाएँ और अनुत्पन्न अवस्थाओं को इन्द्रियज्ञान जान सकता नहीं। आहा..हा...! समझ में आया ? सूक्ष्म बात है बहुत, बापू ! आहा..हा...!

टीका :- `**विषय और विषयी का सन्निपात जिसका लक्षण...**' (है), (अर्थात्) मिलाप, संबंध। (अर्थात्) विषय है और यहाँ इन्द्रियज्ञान है इन दोनों का `**...सन्निपात जिसका लक्षण (-स्वरूप) है, ऐसे इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष को...**' (सन्निकर्ष अर्थात्) संबंध, समीपता। `**...प्राप्त करके,...**' (अर्थात्) इन्द्रियज्ञान का तो जो विषय है इसकी स्वयं समीपता पाकर। भूत और भविष्य तो गया - है नहीं, और वर्तमान जो है, इन्द्रियज्ञान इसकी समीपता पाकर, यह भी `**...अनुक्रम से उत्पन्न ईहादिक के क्रम से...**' पाठ तो यह है न ? `**ईहा**' शब्द पड़ा है न ? (अर्थात्) मतिज्ञान आदि इन्द्रियज्ञान है, यह तो पहले अवग्रह (अर्थात्) पकड़े आगे इसका विचार करे, आगे इसका निर्णय करे और फिर धारणा करे। यह `ईहा'पूर्वक, विचारपूर्वक उस इन्द्रिय का ज्ञान होता है। आहा..हा...!

`**...अनुक्रम से उत्पन्न ईहादिक के क्रम से जानते हैं वे उसे नहीं जान सकते जिसका स्व-अस्तित्वकाल बीत गया है...**' (अर्थात्) वह वस्तु (जो) है उसकी पर्यायों का अस्तित्व था उसका काल बीत गया है। हाल में है नहीं। द्रव्य की पर्याय जो है-अवस्था वह गतकाल की हो गई, बीत गई है। उसे `**...तथा जिसका स्व-अस्तित्वकाल उपस्थित नहीं हुआ है...**' (अर्थात्) भविष्य की अवस्था का काल उत्पन्न हुआ नहीं।

`**...(-अतीत तथा अनागत पदार्थ को) जान सकता नहीं...**' आ..हा..हा...! इन्द्रिय के निमित्त से - संबंध से (हुआ ज्ञान), (वैसे) तो अपना ज्ञान है, परंत इस इन्द्रिय के निमित्त से हुआ ज्ञान भूत और भविष्य की, हो गई और होगी (वैसी पर्यायक) ज्ञान उसे हो सकता नहीं। आ..हा..हा...!

`**...क्योंकि (-अतीत-अनागत पदार्थ और इन्द्रिय के) यथोक्त लक्षण (-यथोक्तस्वरूप, ऊपर कहा जैसा) ग्राह्यग्राहकसंबंध का असंभव है।**' (अर्थात्) वह (सामनेवाला पदार्थ) ग्राह्य और इन्द्रिय ग्राहक। वर्तमान पदार्थ ग्राह्य और स्वयं ग्राहक - वैसा संबंध है।

परंतु भूत, भविष्य के पदार्थ के साथ ग्राह्य-ग्राहक संबंध है नहीं। ज्ञायक और ज्ञेय, ऐसा भूत, भविष्य के साथ संबंध है नहीं। समझ में आया ? आहा...! `**...(-यथोक्तस्वरूप, ऊपर कहा वैसा)...**' अर्थात् समीप में `**...ग्राह्यग्राहकसंबंध का असंभव है।**' (अर्थात्) हो गई पर्याय और होगी, उसे इन्द्रियज्ञान के साथ वर्तमान मिलाप नहीं - संबंध नहीं। संबंध तो वर्तमान जो वर्तता है उस विषय और उसका विषयी ज्ञान, इतना संबंध इन्द्रिय का है, आहा..हा...! इसलिये वह इन्द्रियज्ञान हेय है, आहा...! (इसप्रकार) कहते हैं।

जिसे सर्वज्ञपना प्राप्त करना हो उसे (तो) राग का विकल्प है - दया, दान, व्रत, भक्ति का यह तो हेय है। आ..हा..हा...! परंतु यहाँ तो जिसे सर्वज्ञपना प्राप्त करना हो उसे इन्द्रियज्ञान भी हेय है। आहा..हा...! व्यवहार रत्नत्रयी जो देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा, पंचमहाव्रत के परिणाम, शास्त्रज्ञान इत्यादि विकल्प तो हेय हैं। जिसे सर्वज्ञपद - मोक्ष(पद) प्राप्त करना हो उसके लिये वे तो हेय हैं और अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप भगवान पूर्णानंद का नाथ यह उपादेय है। उसके उपादेयरूप से उसे सर्वज्ञपना प्राप्त होता है।

यहाँपर (कहते हैं) - इन्द्रियज्ञान, वर्तमान समीप में विषय हो और इन्द्रिय का मिलाप समीप हो तो उसे जानता है। अतः वह इन्द्रियज्ञान द्वारा सर्वज्ञज्ञान हो सकता नहीं। आ..हा..हा...! इन्द्रियज्ञान तो वर्तमान पर्याप्त है, वह भी समीप में - पास में हो उसके लिये। सर्वज्ञपना जो भूत-भविष्य और वर्तमान को एक समय में अक्रमिक जाने ऐसा जिसका स्वभाव (है), उसके साथ अतीन्द्रिय आनंद की दशा प्रगट होती है। (इसलिये जिसे ऐसा) अतीन्द्रिय आनंद और सर्वज्ञपना प्राप्त करना हो उसे इन्द्रियज्ञान को हेय करके और अतीन्द्रिय ऐसा जो भगवान उसका ज्ञान करके और उस ज्ञान में आनंद का अनुभव करके... आ..हा..हा...! सर्वज्ञ और अनंत अतीन्द्रिय आनंद की प्राप्ति उसके द्वारा (करता है)। आ..हा..हा...! अब, ऐसी बातें..!

(संप्रदाय) में तो कहते हैं, व्रत करो, व तप करो और भक्ति करो...! आहा...! (और यहाँपर ऐसी बात) अतः लोग यहाँ की बात को एकान्त कहते हैं। `एकान्तवादी हैं... एकान्तवादी हैं...!' क्योंकि राग की क्रिया से, व्यवहार से निश्चय (होना) मानते नहीं। बात उसकी सच है !

यहाँ तो (ऐसा कहते हैं कि) इन्द्रियज्ञान से भी आत्मा का ज्ञान (और) सर्वज्ञपना (प्रगट) होता नहीं। अरे...! इन्द्रियज्ञान से अंदर आत्मा का ज्ञान भी होता नहीं (तो सर्वज्ञपना किस प्रकार प्रगट हो ?) समझ में आया ? जिसे प्रथम आत्मज्ञान होता है वह इन्द्रियज्ञान से होता नहीं। आ..हा..हा...! अरे...! भगवान की वाणी सुनी और अपनी ज्ञान की पर्याय अपने से हुई, यह वाणी तो निमित्त है, उस समय जो ज्ञान की पर्याय हुई उसके द्वारा भी आत्मज्ञान होता नहीं। समझ में आया ? क्योंकि यह परलक्षीज्ञान है, परसत्तावलंबीज्ञान है। वास्तव में तो यह परलक्षीज्ञान है यह बंध का कारण है। आ..हा..हा...! ऐसी बातें हैं !

भगवान की वाणी सुनकर जो ज्ञान हुआ या शास्त्र पढ़कर जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान `शब्दज्ञान' शब्द का ज्ञान हुआ। इससे - शब्दज्ञान से आत्मज्ञान होता नहीं, आ..हा..हा...! ऐसी बात है, भाई ! औरों को तो (ऐसा) कठिन लगे (परंतु) क्या किया जाय ? वीतरागमार्ग तो यह है। आहा..हा...! ऐसे वीतराग स्वयं (कहते हैं)। `**पण्णत्तं**' कहा न यहाँपर ? इन्द्रियज्ञान से वर्तमान को जाने यह भूत-भविष्य को न जाने। इसप्रकार भगवान `**पण्णत्तं**' (अर्थात्) भगवान ने कहा। `**पण्णत्तं**' शब्द है न अंतिम ? ४० (गाथा में)। आ..हा..हा...!

भगवान ने ऐसा कहा कि, जिसे सर्वज्ञपद प्राप्त करना हो उसे इन्द्रियज्ञान को हेय कर और अनीन्द्रिय ऐसा भगवानआत्मा उसे उपादेय कर, उसका जो ज्ञान होता है वह `स्वसंवेदनज्ञान' है, इन्द्रियज्ञान नहीं। आ..हा..हा...! स्व अर्थात् स्वयं, (संवेदन नाम) स्वयं का वेदन (करता है)। (अर्थात्) ज्ञान ज्ञान का वेदन कर, ज्ञान आनंद का वेदन कर और अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनंद का जिसे आश्रय हुआ और जिसे पर्याय में अतीन्द्रियज्ञान-आत्मज्ञान, अतीन्द्रिय आनंद हुआ, उसके द्वारा सर्वज्ञ और पूर्ण अतीन्द्रिय आनंद की प्राप्ति इसके द्वारा (करते हैं), होती है, आ..हा..हा...! (यहाँपर तो) इतना सिद्ध करना है न ! अन्यथा तो, यह वर्तमान जो स्वसंवेदनज्ञान है इससे केवल(ज्ञान की) प्राप्ति होती है (ऐसा जो कहा) यह तो पूर्व की पर्याय को उपादान (कारण) मानकर और आगे की पर्याय को उपादेय (कार्य) मानकर कहने में आया है। आहा..हा...!

निश्चय से तो सर्वज्ञपना-सर्वज्ञपद कि प्राप्ति सर्वज्ञस्वरूपी भगवानआत्मा के अवलंबन

से होती है। आ..हा..हा...! क्योंकि स्वसंवेदनज्ञान का भी केवलज्ञान उत्पन्न होते ही व्यय होता है, आहा..हा...! अतः वास्तव में तो अतीन्द्रिय प्रभु मानसिकज्ञान से जानने में आता नहीं, आहा..हा...! ऐसा जो भगवानआत्मा ! उसे अतीन्द्रिय स्वसंवेदनज्ञान द्वारा जानने से... उसे जाननेपर, उसे जाना उसमें अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद साथ में आया। यह व्यवहार से ऐसा कहा जा सकता है कि, यह अतीन्द्रिय ज्ञान और आनंद द्वारा सर्वज्ञ की प्राप्ति होती है। राग के कारण नहीं होती (परंतु) इससे होती है, वैसे कहने में आता है।

शेष तो सर्वज्ञपद की प्राप्ति का उत्पाद होता है... आ..हा..हा...! उसे पूर्व की स्वसंवेदन की पर्याय थी उसकी भी अपेक्षा नहीं। सर्वज्ञ की पर्याय प्राप्त होती है उस पर्याय को, बहुत परमार्थ निश्चय से देखें तो उसे ध्रुव की अपेक्षा नहीं !! ऐसी बातें कहाँ (सुनी हो) ? मार्ग ऐसा (है), भाई ! आ..हा..हा...! साक्षात् भगवान बिराजमान हैं। आहा..हा...! समझ में आया ? आहा..हा...!

एक समय की वर्तमान अतीन्द्रिय अनंत पर्याय (को) भी इन्द्रिय कहाँ जान सकती है ? भाई ! वह तो जिस विषय का संबंध करता है उसमें ज्ञान जुड़ता है, वह उसको जानता है। परंतु एक समय की अनंत पर्याय इन्द्रिय का विषय किस प्रकार हो सकती है ? क्या कहा समझ में आया ? भूत, भविष्य को (जाने, वैसे) तो नहीं परंतु वर्तमान एक समय की अनंतगुण की अनंत पर्यायें... आ..ह..हा...! जिस पर्याय की संख्या तीनलोक के समय से अनंतगुनी ! उसे इन्द्रियज्ञान किस प्रकार जान सके ? भाई ! आ..हा..हा...! यह इन्द्रियज्ञान तो जो इसके समीप का विषय है उसका उसे मिलाप हो उसे इन्द्रिय जानती है, आहा..हा...! यह एक समय की अनंत पर्याय का इन्द्रिय को किस प्रकार मिलाप हो ? आ..हा..हा...!

श्रोता :- इन्द्रियज्ञान का विषय तो रूपी है और यह तो अरूपी पर्याय है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- (वैसे तो) मन का विषय अरूपी है, परंतु वैसे यह एक समय की अनंत पर्याय यह प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। समझ में आया ? आ..हा..हा...!

भगवानआत्मा ! अतीन्द्रिय पूर्ण स्वभाव का पिंड प्रभु ! उसके आश्रय से, उसमें से सर्वज्ञपर्याय प्रगट होती है। आहा..हा...! और व्यवहार से इसप्रकार कहा जाय कि, इन्द्रियज्ञान द्वारा (प्रगट होता नहीं) अर्थात् स्वसंवेदनज्ञान द्वारा (प्रगट) होता है, वैसे

कहने में आता है। आहा...! ऐसी बात है ! ऐसा कहीं सुना था ? ऐसा मार्ग है, भाई ! आहा..हा...! ओ..हो..हो...!

'**...ग्राह्यग्राहकसंबंध का असंभव है।**' उसमें से यह निकाला। एक समय की अनंत पर्याय भी इन्द्रिय ग्रहण करे और (वह) पर्याय ग्राह्य (होने के) लायक हो, वैसा स्वरूप नहीं। आहा..हा...! समझ में आया ? भगवान तो इन्द्रिय और मन से रहित है। अंदर प्रभु जो आत्मा है (वह तो) इन्द्रिय और मन के संबंध रहित है।

'समस्त वस्तुओं के संबंध से रहित' आया था न ? पहले आ गया है। सब-सर्व वस्तुओं के संबंध से रहित। किसमें आया था वह ? ('समयसार'-९६ गाथा की टीका में है)। '**...यह आत्मा यद्यपि समस्त वस्तुओं के संबंध से रहित अनंत शुद्ध चैतन्यधातुमय है...**' आहा...! मन और इन्द्रियाँ भी पर हैं। उनके संबंध से रहित आत्मा है। आहा...! अतः मन को... यह आ गया था (कि), मन का विषय छः द्रव्य। आया था न ? इन्द्रिय का विषय रूपी (पदार्थ)। (ऐसे) ९६ (गाथा में) तीन (बात) आयी थी। मन का विषय छः द्रव्य। क्योंकि विकल्प से अरूपी भी विषय (होता) है न! और इन्द्रिय का विषय रूपी। और अमृतरूप... आ..हा..हा...! अमृतरूप विज्ञानघन मृतक कलेवर में मूर्च्छित हुआ ! ये तीन बोल आये थे। आ..हा..हा...! यह तो मुर्दा है ! यह शरीर ! चैतन्य के अभावस्वरूपवाला है। ऐसे मृतक कलेवर में '**परम अमृतरूप विज्ञानघन**' वैसे शब्द हैं, आहा...! (उसमें) मूर्च्छित हो गया ! आहा...! वहाँ रुक गया। यह भी आया हुआ है न ? '**चैतन्यधातु रुकी होने से**' इसके पहले 'मन' के (बोल में) आया था। और 'इन्द्रिय' में आया था कि, '**केवल बोध (-ज्ञान) आच्छादित होने से**' आ..हा..हा...! इन्द्रिय के विषय में - रूपी में 'केवल बोध... आ..हा..हा...! रुका होने से...' और '**परम अमृतरूप विज्ञानघन**' मृतक कलेवर में मूर्च्छित हुआ ! आ..हा..हा...! ये तीन से रहित अंदर स्वरूप है यह चैतन्य है। आ..हा..हा...! मन और इन्द्रिय से (हुआ) ज्ञान उससे रहित भगवानआत्मा का ज्ञान है, आ..हा..हा...!

लोग बेचारे फिर एकान्त कहें, क्योंकि यह विषय चलता नहीं। दिगंबर में चलता नहीं तो और है ही कहाँ !? उनके तो शास्त्र में (भी) नहीं, आहा..हा...! इसमें जो स्पष्ट बात पड़ी है (यह दिगंबरों को मालूम नहीं) ! अतः यहाँ का एकान्त लगता है ! कि, 'अरे...! वो कहते हैं कि, राग से कहीं (धर्म) होता नहीं, इन्द्रियज्ञान से

आत्मज्ञान होता नहीं !'

समवसरण में साक्षात् भगवान की वाणी सुने और जो ज्ञान हो, (परंतु) यह हुआ है अपने उपादान से, फिर भी उस ज्ञान से भी आत्मज्ञान होता नहीं। अब ऐसी बात कहाँ (सुनी हो ?) शास्त्रज्ञान होता है... ग्यारह अंग पढ़े (उसमें) करोड़ों-अरबों श्लोक आते हैं ! इस शास्त्रज्ञान से भी आत्मज्ञान होता नहीं। क्योंकि शास्त्रज्ञान परलक्षीज्ञान-परज्ञेय है, स्वज्ञेय नहीं। आ..हा..हा...! ऐसी बात है !

श्रोता :- (लोग ऐसा कहते हैं कि) निश्चयाभासी हो गये हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- कहे.. कहे.. कह सकते हैं। (क्योंकि) यह बात थी नहीं और उसने सुनी नहीं। और गुरुगम नहीं है अपितु पूर्व के संस्कार नहीं। यह मार्ग बिना `गुरुगम' बैठे ऐसा नहीं, बापू ! आहा..हा...! और या गुरुगम पूर्व (भव) का होना चाहिये। इसके अलावा इस (बात) की समझ नहीं बैठेगी ! यह कपड़े में आता है न ? क्या कहते हैं उसे ? `अटलस'... ! इस `अटलस' को इसप्रकार खुल्ला करके मोड़ना है यह उसका जानकार ही मोड़ सकता है। `अटलस' होता है न `अटलस' ? क्या आप लोग कहते हो ? (कपड़े का थान...!) वह खुला हो उसे आगे मोड़ना हो तो, (उसे मोड़ना) आता हो वह मोड़ सकता है। मोड़... मोड़कर! यह तो एक जड़ की दशा ! और वह भी उसके कारण होनी हो तो होती है! यह तो भगवानआत्मा ! राग से भेदज्ञान (करे तो) उसकी प्राप्ति होती है। आहा...! इन्द्रियज्ञान से नहीं परंतु भेदज्ञान से प्राप्ति होती है ! आ..हा..हा...! ऐसी बात...! आ..हा..हा...!

भावार्थ :- `इन्द्रियों के साथ पदार्थ का (अर्थात् विषयी के साथ विषय का) सन्निकर्ष-संबंध हो तभी (अवग्रह-ईहाअवाय-धारणारूप क्रम से)...' दो बात (कही)। एक तो विषय के साथ इन्द्रियज्ञान का ऐसा संबंध हो और वह भी क्रम से। (अर्थात्) अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा इन क्रम से होता है। समझ में आया ? आ..हा..हा...!

ऐसी बात ! (समझने) फुरसत न मिले ! व्यापार की आड़ में फुरसत न मिले! सारा दिन पैसा व धूल-धानी ! स्त्री और बच्चें...! पाँच-पाँच करोड़.. और चार-चार करोड़... धूल में मर गये हैं ! आहा..हा...! पैसे का विषय भी समीप आये तब इन्द्रियज्ञान का विषय-संबंध होता है। यह पैसा तो उसका नहीं, परंतु उसके संबंध का जो इन्द्रियज्ञान है वह भी उसका वस्तुतः नहीं ! आ..हा..हा...! ऐसी बातें हैं, भाई ! आहा..हा...!

पैसा तो उसका नहीं, शरीर उसका नहीं, परंतु इन्द्रियज्ञान में उस पैसे के विषय का संबंध होता है वह ज्ञान भी आत्मज्ञान नहीं। और उस ज्ञान द्वारा आत्मज्ञान होता नहीं, आ..हा..हा...! ऐसा मार्ग है !

वह यहाँ कहा कि, इन्द्रिय और विषय का इसप्रकार जब संबंध होता है, आँख का जब इसप्रकार वस्तु के साथ संबंध होता है तब (जानता है), और यह भी क्रम से (होता है)। भगवान का ज्ञान और लोकालोक का विषय एक समय में सामने हैं। आहा..हा...! एक समय में केवलज्ञान - सर्वज्ञपना अपने से हुआ है वहाँ लोकालोक वर्तमान एक समय (में) निमित्त है। वर्तमान निमित्त है, हाँ...! भूत, भविष्य का ज्ञान भी वर्तमान में निमित्त है ! भाई ! क्या कहा समझ में आया ? `वर्तमानवत्' कहा था न ? तीनकाल की पर्यायें (वर्तमान में निमित्त हैं)। वर्तमान उपादान यह है तो निमित्त वर्तमान चाहिये न ? समझ में आता है कुछ ? उसमें (सामनेवाले पदार्थ में) शक्ति है इसप्रकार निमित्त है, (यह एक अलग बात है)। भूतकाल की पर्यायें उसमें गई, भविष्य की होनेवाली (उसमें) लियाकात है (इस तरह शक्ति के अनुसार निमित्त है, यह अलग बात है)। परंतु यहाँ तो पर्याय प्रगट है (वैसे जानता है)। भूत की गई, वर्तमान और होनेवाली, यह एक समय में केवलज्ञान उपादान है उसमें वह वर्तमान एक समय में निमित्त है। ऐसा है !

भविष्य में जो अनंतकाल के बाद होगी यह यहाँ केवलज्ञान में वर्तमान में निमित्त (है)। वर्तमान में निमित्त है ! आ..हा..हा...! (यह तो) कोई बात...!! वैसा ही भगवान ज्ञान का स्वभाव है !! उपादान यहाँ पूर्ण है और निमित्त भविष्य का है, ऐसा कैसे (हो सकता है) ? तब तो यह (वर्तमान) निमित्त कहलायेगा नहीं, भाई ! आ..हा..हा...!

एक बार कहा था, प्रभु ! परंतु वर्तमान का कहा था। भूत, भविष्य की पर्यायें उसमें है न ? परंतु वह है यह तो परोक्ष (हुआ)। परंतु यहाँ तो सर्वज्ञपद जहाँ प्रगट हुआ... पाठ है न ? कि, केवलज्ञान लोकालोक को निमित्त है और लोकालोक `वर्तमान' केवलज्ञान को निमित्त है। आ..हा..हा...! गजब बात...! अनंतकाल के पश्चात् पर्याय होगी यह वर्तमान में सर्वज्ञ में निमित्त है। आ..हा..हा...! कठिन काम बहुत, भाई ! यह तो अचिंत्य स्वभाव जिसका... आ..हा..हा...! ऐसा इन्द्रियज्ञान में हो सकता नहीं। अतः `**...(अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणारूप क्रम से) इन्द्रियज्ञान पदार्थ को जान सकता है**'

`नष्ट और अनुत्पन्न पदार्थों के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष-संबंध न होने से इन्द्रियज्ञान उन्हें नहीं जान सकता। इसलिये इन्द्रियज्ञान हीन है, हेय है।' इन्द्रियज्ञान हीन और हेय (है)। अतः जिसे आत्मज्ञान-सर्वज्ञपद प्राप्त करना हो उसे अतीन्द्रियज्ञानस्वरूप भगवान का वेदन करना, उसका ज्ञान करना। और इसमें से सर्वज्ञपद प्राप्त होता है, आ..हा..हा...!

अब कहते हैं, **`अब, अतीन्द्रियज्ञान के लिये जो जो कहा जाता है वह** (**सब**) **संभव है...'** जो जो कहा जाता है (यानी कि) भविष्य की पर्यायें भी वर्तमान ज्ञान में निमित्त है, आ..हा..हा...! भाई...! भविष्य की और भूत की पर्यायें वर्तमान ज्ञान में नियत ही हैं, विद्यमान हैं, आ..हा..हा...! क्या उसका स्वभाव...!! अतः अतीन्द्रियज्ञान में - सर्वज्ञ में जो जो कहें वह सब लागू पड़ता है, (वैसे) कहते हैं। आ..हा..हा...! और भविष्य की पर्यायें वर्तमान में निमित्त हैं वैसा कहे तो (भी) उसे लागू पड़ता है ! आ..हा..हा...! समझ में आया ? आहा..हा...!

❋ ❋ ❋

अथातीन्द्रियज्ञानस्य तु यद्यदुच्यते तत्तत्संभवतीति संभावयति–

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं।।४१।।

अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तं च पर्ययमजातम्।
प्रलयं गतं च जानाति तज्ज्ञानमतीन्द्रियं भणितम्।।४१।।

इन्द्रियज्ञानं नाम उपदेशान्तःकरणेन्द्रियादीनि विरूपकारणत्वेनोपलब्धिसंस्कारादीन् अन्तरङ्गस्वरूपकारणत्वेनोपादाय प्रवर्तते। प्रवर्तमानं च सप्रदेशमेवाध्यवस्यतिस्थूलोपलम्भकत्वान्नाप्रदेशम्। मूर्तमेवावगच्छति तथाविधविषयनिबन्धनसद्भावान्नामूर्तम्; वर्तमानमेव परिच्छिनत्ति विषयविषयिसन्निपातसद्भावान्न तु वृत्तं वर्त्स्यच्च। यत्तु पुनरनावरणमतीन्द्रियं ज्ञानं तस्य समिद्धधूमध्वजस्येवानेकप्रकारतालिङ्गितं दाह्यं दाह्यतानतिक्रमाद्दाह्यमेव यथा तथात्मनः अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तमजातमतिवाहितं च पर्यायजातं ज्ञेयतानतिक्रमात्परिच्छिद्यमेव भवतीति।।४१।।

अथातीन्द्रियज्ञानमतीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थान् जानातीत्युपदिशति–**अपदेसं** अप्रदेशं कालाणुपरमाण्वादि **सपदेसं** शुद्धजीवास्तिकायादिपञ्चास्तिकायस्वरूपं **मुत्तं** मूर्त पुद्गलद्रव्यं **अमुत्तं च** अमूर्तं च शुद्धजीवद्रव्यादि **पज्जयमजादं पलयं गयं च** पर्यायमजातं भाविनं प्रलयं गतं चातीतमेतत्सर्वं पूर्वोक्तं ज्ञेयं वस्तु **जाणदि** जानाति यद्ज्ञानं कर्तृ **तं णाणमदिंदियं भणियं** तद्ज्ञानमतीन्द्रियं भणितं, तेनैव सर्वज्ञो भवति। तत एव च पूर्वगाथोदितमिन्द्रियज्ञानं मानसज्ञानं च त्यक्त्वा ये निर्विकल्पसमाधिरूपस्त्रवसंवेदनज्ञाने समस्तविभावपरिणामत्यागेन रतिं कुर्वन्ति त एव परमाह्लादैकलक्षणसुखस्वभावं सर्वज्ञपदं लभन्ते इत्यभिप्रायः।।४१।।

अब, ऐसा स्पष्ट करते हैं कि अतीन्द्रिय ज्ञानके लिये जो जो कहा जाता है वह (सब) संभव है :-

गाथा ४१

जे जाणतु अप्रदेशने, सप्रदेश, मूर्त, अमूर्तने।
पर्याय नष्ट-अजातने, भाख्युं अतीन्द्रिय ज्ञान ते।।४१।।

अन्वयार्थ :- [अप्रदेशं] जो ज्ञान अप्रदेशको, **[सप्रदेशं]** सप्रदेशको, **[मूर्तं]** मूर्तको, **[अमूर्तं च]** और अमूर्तको तथा **[अजातं]** अनुत्पन्न **[च]** और **[प्रलयंगतं]** नष्ट **[पर्यायं]** पर्यायको **[जानाति]** जानता है, **[तत् ज्ञानं]** वह ज्ञान **[अतीन्द्रियं]** अतीन्द्रिय **[भणितम्]** कहा गया है।

टीका :- इन्द्रियज्ञान उपदेश, अन्तःकरण और इन्द्रिय इत्यादिको विरूपकारणतासे (ग्रहणकरके) और उपलब्धि (-क्षयोपशम), संस्कार इत्यादिको अंतरङ्ग स्वरूप-कारणतासे ग्रहण करके प्रवृत्त होता है; और वह प्रवृत्त होता हुआ सप्रदेशको ही जानता है क्योंकि वह स्थूलको जाननेवाला है, अप्रदेशको नहीं जानता, (क्योंकि वह सूक्ष्मको जाननेवाला नहीं है); वह मूर्तको ही जानता है क्योंकि वैसे (मूर्तिक) विषयके साथ उसका सम्बन्ध है, वह अर्मूतको नहीं जानता (क्योंकि अमूर्तिक विषयके साथ इन्द्रियज्ञानका सम्बन्ध नहीं है); वह वर्तमानको ही जानता है क्योंकि विषय-विषयीके सन्निपात सद्भाव है, वह प्रवर्तित हो चुकनेवालेको और भविष्यमें प्रवृत्त होनेवालेको नहीं जानता (क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षका अभाव है)।

परन्तु जो अनावरण अतीन्द्रिय ज्ञान है उसे अपने अप्रदेश, सप्रदेश, मूर्त और अमूर्त (पदार्थ मात्र) तथा अनुत्पन्न एवं व्यतीत पर्यायमात्र, ज्ञेयताका अतिक्रमण न करनेसे ज्ञेय ही है-जैसे प्रज्वलित अग्निको अनेक प्रकारका ईंधन, दाह्यताका अतिक्रमण न करनेसे, दाह्य ही है। (जैसे प्रदीप्त अग्नि दाह्यमात्रको-ईंधनमात्रको-जला देती है, उसीप्रकार निरावरण ज्ञान ज्ञेयमात्रको-द्रव्यपर्यायमात्रको-जानता है)।।४१।।

यह चैतन्यहीरा चैतन्यद्वारा सर्वज्ञरूप प्रकाशित है ! आ..हा..हा...! इसके लिये कहते हैं, **`...अतीन्द्रियज्ञान के लिये जो जो कहा जाता है...**' जो जो कहा जाय...! आ..हा..हा...! भविष्य की अनंतकाल में पर्याय होगी वह ज्ञान में वर्तमान निमित्त है, वैसे कहो तो भी उसे कह सकते हैं। आ..हा..हा...! ऐसा है ! (ऐसा) **`...संभव है ऐसा स्पष्ट करते हैं।**' ४१ (गाथा)।

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गदं च जाणदि तं णाणमदिंदियं भणियं।।४१।।

नीचे (हरिगीत) :-

जे जाणतु अप्रदेशने, सप्रदेश, मूर्त, अमूर्तने।
पर्याय नष्ट-अजातने, भाख्युं अतीन्द्रिय ज्ञान ते।।४१।।

**टीका :- `इन्द्रियज्ञान उपदेश, अन्तःकरण और इन्द्रिय इत्यादि को विरूपकारणता से** (**ग्रहणकरके**)**...**' आ..हा..हा...! भगवानआत्मा ! इन्द्रियज्ञान में `उपदेश' (को ग्रहणकर प्रवृत्त होता है तो वह) विरूपकारण है। आहा..हा...! आत्मा के स्वभाव से विरूपकारण है, आहा..हा...! (विरूप का अर्थ) विरूप = `ज्ञान के स्वरूप से भिन्न स्वरूपवाले (उपदेश, मन और इन्द्रियाँ पौद्‌गलिक होने से उनका रूप ज्ञान के स्वरूप से भिन्न हैं। वे इन्द्रियज्ञान में बहिरंग कारण हैं)।' आ..हा..हा...!

उसमें कहा है न भाई ? `स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में बारह भावना में `धर्मभावना' जो ली है और वहाँ पहली गाथा ली है कि, `धर्म का मूल सर्वज्ञ है।' सर्वज्ञ ने जाना है इसलिये उसका मूल सर्वज्ञ है। `स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में है। ३०२ गाथा। **आगे धर्मानुप्रेक्षा का निरूपण करते हैं वहाँ `धर्म का मूल सर्वज्ञदेव है', उसे प्रगट करते हैं।**' सर्वज्ञदेव के निर्णय बिना `धर्मानुप्रेक्षा' का निर्णय हो नहीं सकता, आ..हा..हा...! `स्वामी कार्तिकेय' !

जो जाणदि पच्चक्खं तियालगुणपज्जएहिं संज्जुत्तं।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देओ।।३०२।।

`**तियालगुणपज्जएहिं**' अर्थात् तीनकाल के गुण-पर्यायें। (इसे जो जानते हैं) उन्हें सर्वज्ञ कहने में आता है, आ..हा..हा...! `धर्मानुप्रेक्षा' में पहले सर्वज्ञ को रखा है ! क्योंकि सर्वज्ञ ने सब देखा, जाना और उन्होंने कहा, वह धर्म का स्वरूप है। अज्ञानी लोग कल्पना करके बात करते हैं (यह कोई धर्म का स्वरूप नहीं)। छद्मस्थ भी (सर्वज्ञ ने जो कहा वह जान के कहते हैं) समझें ? आहा...! (यह भावार्थ में है)। **`इसलिये यह धर्म का स्वरूप श्री सर्वज्ञदेव के वचन से ही प्रमाण है। अन्य छद्मस्थ का कहा प्रमाण नहीं परंतु सर्वज्ञ के वचन की परंपरापूर्वक छद्मस्थ कहे सो प्रमाण है,...**' आ..हा..हा...! समझ में आया ? **`...अतः धर्म के स्वरूप कथन में मूलकारणरूप सर्वज्ञ का यहाँ स्थापन किया।**' है। आ..हा..हा...!

यह क्रमबद्ध में भी है। क्रम-क्रम से जिस समय जो (पर्याय) होनेवाली है वह

(पर्याय) उस द्रव्य में होती है, उसमें सर्वज्ञ मूल है। क्योंकि सर्वज्ञ ने यह जाना है, केवलज्ञान में यह ज्ञात है, आहा..हा...! अर्थात् क्रमबद्ध का जिसे निर्णय करना है वह सर्वज्ञस्वभावी का निर्णय करे तब उसे क्रमबद्ध के निर्णय का यथार्थ ज्ञान होता है। समझ में आया कुछ ?

`सोगानी' में आता है, भाई ! `क्रमबद्ध... क्रमबद्ध करे परंतु सर्वज्ञस्वरूप का निर्णय नहीं, कर्ता होकर माने, और क्रमबद्ध है वैसा माने तो यह गलत है।' यह `द्रव्यदृष्टिप्रकाश' में है। `द्रव्यदृष्टिप्रकाश' में इस तरफ है। (नंबर) कहाँ याद रहे ? भाव का खयाल था कि इस तरफ लिखा हुआ है। (पढ़ने में) आया हो तब खयाल में आ गया हो। पन्ना याद नहीं रहा। ऐसा क्षयोपशम कहाँ है ! आहा..हा..हा...! समझ में आया कुछ ? आहा..हा...! क्या कहा ? `क्रमबद्ध' और दूसरा शब्द है `होनेवाला है सो होगा' `होनेवाला सो होगा', वैसे दो बोल हैं उसमें। वैसा कहनेवाला जिसने अबतक स्वयं का ज्ञान किया नहीं, स्वयं अकर्तारूप हुआ नहीं और `होनेवाला है सो होगा' कहे तो यह तो भाषा है। `द्रव्यदृष्टिप्रकाश' ! `सोगानी' पहले भाग का गुजराती हो गया है। यह तो करनेवाले करते हैं, हमने कहाँ कहा है कि करो या न करो! हमें क्या है ? आहा..हा...! इतने पुस्तक हुए कहा नहीं, एक `बहिन' के पुस्तक के लिये कहा है, बस ! बाक़ी तो होनेवाला है सो हो, करनेवाले करे, उसमें मुझे क्या? आहा...!

यहाँ कहते हैं, **`इन्द्रियज्ञान उपदेश,...'** आ..हा..हा...! देखा ? सर्वज्ञ की वाणी का उपदेश इन्द्रियज्ञान ! भगवान की वाणी सुने तो भी इन्द्रियज्ञान है ! यह तो `समयसार' की ३१वीं गाथा में कहा है न ! **`जो इंदिये जिणित्ता'** आ..हा..हा...! क्या शैली..! क्या शैली..!! वस्तु की स्थिति ! **`जो इंदिये जिणित्ता'** अर्थात् क्या ? कि, इन्द्रिय का लक्ष छोड़ना, भावेन्द्रिय का लक्ष छोड़ना - वे सब `इन्द्रिय' कहा जाय। और भगवान और भगवान की वाणी भी `इन्द्रिय' कहा जाय। उसका (भी) लक्ष छोड़ना। अर्थात् ? कि, सुना हुआ जो ज्ञान है वह इन्द्रियज्ञान है, आहा...! भगवान की वाणी सुनी है यह भी इन्द्रियज्ञान (है) और भगवान को इन्द्रिय कहा है ! ३१वीं गाथा में (ऐसा कहा है कि) इस आत्मा की अपेक्षा से यह इन्द्रिय है। है न ३१वीं (गाथा)? **`जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।'** (अर्थात्) जो कोई द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय

और इन्द्रिय का विषय भगवान, स्त्री, कुटुंब, परिवार तो (है ही) परंतु तीनलोक के नाथ भगवान भी इन्द्रिय का विषय (है) इसलिये इन्द्रिय हैं। भगवान इन्द्रिय हैं ! उनके लिये भले ही अनीन्द्रिय हो, इसके (अपने) लिये (इन्द्रिय हैं) !

श्रोता :- अनादर नहीं कहा जायेगा ?

समाधान :- भगवान ने ऐसा कहा कि, मैं तेरे हिसाब से इन्द्रिय में हूँ, वैसा तू जान तो इसका नाम आदर है !

(एक लेख में लिखा है) 'जिस क्रमबद्ध का यहाँपर से खुलासा हुआ है, इस युग में इस प्रकार की बात किसी समय कहीं भी थी नहीं। और यदि इसमें आप कोई शंका करोगे तो केवलज्ञान में शंका होगी। (और) तेरे पैर में कुल्हाड़ी पड़ेगी' है न ? 'आत्मधर्म' में भी आया है। आ..हा..हा...! तेरे पैर में चोट पड़ेगी। क्रमबद्ध के निर्णय में सर्वज्ञ है उसने जाना है उसके अनुसार तू न मान, भविष्य की जो पर्याय जिस समय होनेवाली है सो होगी, वैसा भगवान ने देख लिया है। उनमें तू बदलाव करने जायेगा तो मर जायेगा ! आहा..हा...! पंड़ितों के हृदय हिल जायेंगे! यदि उसमें कोई विरोध करेगा तो पूरा केवलज्ञान का विरोध हो जाता है ! परंतु आदमी को अंतर में से कुछ प्राप्त हो वैसा नहीं, परंतु कुछ बाहर इन्द्रिय का ज्ञान हो, मन का ज्ञान हो, फलाँना हो या राग हो तो उनसे प्राप्त हो यह उसे छोड़ना नहीं है। आहा..हा...! यह समझ में आया कि नहीं ? आहा..हा...!

यहाँ तो 'उपदेश' (शब्द) आया न ? (इसलिये यह लिया है कि) भगवान का उपदेश भी इन्द्रियज्ञान में आया ! आ..हा..हा...! क्योंकि भगवान परमात्मा तीनलोक के नाथ तीर्थंकरों को भी आत्मा की अपेक्षा से इन्द्रिय कहा है। जिस प्रकार यह जड़ इन्द्रिय को इन्द्रिय कहा, भाव इन्द्रिय जो एक-एक विषय को जाने उसे इन्द्रिय कहा, वैसे भगवान यह इन्द्रिय का विषय है अतः उन्हें भी इन्द्रिय कहा। ३१ गाथा। संस्कृत टीका ! उसे जो जीते यानी कि उन तीनों तरफ का जो लक्ष छोड़े ! यानी कि सुनकर जो ज्ञान हुआ है उसका भी लक्ष छोड़े ! क्योंकि, वह इन्द्रियज्ञान है, आ..हा..हा...! ऐसा है बापू ! क्या हो भाई ?

भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ तीर्थंकर का यह फरमान है ! कि, तेरे हिसाब से तो हम 'पर' हैं अर्थात् 'इन्द्रिय' हैं ! आ..हा..हा...! और भगवान ने तो 'मोक्षपाहुड'

में यहाँतक कहा न ? `**परदव्वादो**' - हम परद्रव्य हैं और यदि तेरा लक्ष हम पर पड़ेगा तो तुझे राग होगा, चैतन्य की गति बिगड़ जायेगी, दुर्गति होगी ! अरे..रे..! है ? `मोक्षपाहुड' १६वीं गाथा है ! `**परदव्वादो दुग्गई**' प्रभु ! तू चैतन्य है, भगवान! और हम परद्रव्य हैं और परद्रव्य के प्रति तेरा लक्ष गया तो तुझे राग होगा और राग होगा वहाँ स्वरूप की हिंसा होगी ! यह चैतन्य की गति और चैतन्य का परिणमन नहीं ! आ..हा..हा...! ऐसा तो कितने लोगोंने पहले-पहले सुना होगा ! आहा..हा...! बापू ! पहले जानना तो पड़ेगा न ! सत्य क्या है ? और सत्य के पंथ क्या है? आ..हा..हा...!

इसमें (चलते विषय में) तो `**इन्द्रियज्ञान उपदेश...**' है। उपदेश में शास्त्रज्ञान, भगवान को सुनना यह सब उपदेश है, आ..हा..हा...! `**..अंतःकरण...**' (अर्थात्) मन। उसमें मन भी इन्द्रिय में जाता है। `**...इन्द्रिय आदि को...**' (इत्यादि को अर्थात्) `**...उपदेश, अंतःकरण, इन्द्रिय इत्यादि को विरूप-कारणता से...**' (अर्थात्) ये तो ज्ञान के स्वरूप से भिन्न स्वरूपवाले हैं, प्रभु ! आ..हा..हा...! उपदेश, अंतःकरण और इन्द्रिय इत्यादि... इत्यादि... अर्थात् जो परलक्षी ज्ञान हुआ वह भी। `**...विरूप-कारणता से (ग्रहणकरके)...**' आ..हा..हा...! अब, ऐसा कहे तब एकान्त कहे न ! बेचारे मानते हैं, क्या करे ? कभी भी सुना न हो ! (इसलिये) कहे ! (परंतु) भगवान ! तू तेरा विरोध कर रहा है, भाई ! आ..हा..हा...!

(अब, कहते हैं) `**...उपलब्धि (-क्षयोपशम),...**' और जो क्षयोपशम हुआ... आ..हा..हा...! और `**...संस्कार इत्यादि को अंतरंग स्वरूप-कारणता से ग्रहण करके प्रवृत्त होता है;..**' समझ में आया ? ये (उपदेश इत्यादि) `विरूप-कारणता से' और ये उपलब्धि इत्यादि `अंतरंग स्वरूप-कारणता से' (कहा)। (यानी कि) अंतर (में) शास्त्र का ज्ञान हुआ यह क्षयोपशम और संस्कार `**...इत्यादि को अंतरंग स्वरूप-कारणता से ग्रहण करके प्रवृत्त होता है;...**' आ..हा..हा...! गजब बात करते हैं न !

इन्द्रियज्ञान, उपदेश, मन और इन्द्रिय इत्यादि `विरूप-कारण' हैं। प्रभु ! तेरे स्वरूप से विपरीत कारण हैं। उन्हें ग्रहण करके और उपलब्धि, क्षयोपशम इत्यादि अंतरंग कारण हैं, उन्हें ग्रहण करके प्रवृत्त है, आ..हा..हा...!

`**...और वह प्रवृत्त होता हुआ सप्रदेश को ही जानता है...**' (अर्थात्) प्रदेशवाली

बहुत स्थूल चीज़ - स्कंध इत्यादि को जानता है। `**...क्योंकि वह स्थूल को जाननेवाला है,...**' एक-एक परमाणु, एक-एक कालाणु को नहीं जानता। अप्रदेश है न यह ? आ..हा..हा...! `**...क्योंकि वह सूक्ष्म को जाननेवाला नहीं);...**'

`**...वह मूर्त को ही जानता है क्योंकि वैसे (मूर्तिक) विषय के साथ उसका संबंध है,...**' आहा..हा..हा...! `**...वह अमूर्त को नहीं जानता (क्योंकि अमूर्तिक विषय के साथ इन्द्रियज्ञान का संबंध नहीं है);...**' मिलाप नहीं, आ..हा..हा...! `**...वर्तमान को ही जानता है क्योंकि विषय-विषयी के सन्निपात सद्भाव है,...**' यानी कि हो गये, हुए उन्हें कुछ भी वर्तमान संबंध नहीं। आहा...! `**...वह प्रवर्तित हो चुकनेवाले को और भविष्य में प्रवृत्त होनेवाले को नहीं जानता (क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष का अभाव है)।**' भूत, भविष्य की पर्याय के साथ इन्द्रिय को और पदार्थ को (संन्निकर्ष का) अभाव है। इसलिये यह इन्द्रियज्ञान पराधीन और बंध का कारण है। विशेष कहेंगे...

(दिनांक १४-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-३९)

`प्रवचनसार', ४१ वीं गाथा की टीका। है न ४१ ? `**इन्द्रियज्ञान...**' वहाँ से लिया है। है टीका। इस इन्द्रिय से होता हुआ ज्ञान वह वर्तमान संबंध में हुए ज्ञेय को जानता है। इन्द्रियज्ञान हेय है वैसा बताना है। जिसप्रकार पुण्य और पाप के भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव राग हैं, वे भी सम्यग्दर्शन-धर्म जिसे प्रगट करना है उसे हेय है, छोड़ने योग्य है। उनसे सम्यग्दर्शन नहीं होगा। इसप्रकार जिसे आत्मज्ञान करना है और पूर्ण सर्वज्ञ परमात्मा(पद की) प्राप्ति के लिये, स्वसंवेदनज्ञान करनेवाले को इन्द्रियज्ञान हेय है। आहा..हा...! ऐसी बात है। इन्द्रिय द्वारा होता हुआ ज्ञान त्याग करने योग्य है, आहा..हा...! दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव और काम, क्रोध का भाव तो राग है, वह कोई धर्म नहीं, वैसे धर्म का कारण भी नहीं। यह त्याग करने योग्य है। वैसे यह इन्द्रियज्ञान भी त्याग करने योग्य है, वैसे (कहते हैं), आ..हा..हा...! ऐसा मार्ग है, भाई !

`**इन्द्रियज्ञान उपदेश,...**' उसे तो उपदेश मिले तब इन्द्रिय का ज्ञान हाता है, आहा..हा...! भगवान की वाणी सुने तो भी यह इन्द्रियज्ञान है। इन्द्रियज्ञान में वह उपदेश निमित्त है। समझ में आता है ? यह आत्मज्ञान नहीं। यह अतीन्द्रिय आत्मज्ञान - जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, वह इन्द्रिय से होनेवाले ज्ञान में उपदेश मिले, यह ज्ञान नहीं। यह यथार्थ ज्ञान नहीं, वैसा कहते हैं। आ..हा..हा...! मार्ग बहुत बापू (सूक्ष्म है) !

वीतराग जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा ऐसा फरमाते हैं, भाई ! कि, इन्द्रियज्ञान जो है (उसे) उपदेश मिले ऐसी पराधीनता है। उपदेश यह विपरीत कारण है, आहा..हा...! `**...अंतःकरण...**' (अर्थात्) मन... मन! यहाँ मन है यह विपरीत कारण है। इससे इन्द्रियज्ञान होता है। है अंतःकरण ? अंतःकरण अर्थात् मन। इन्द्रियज्ञान उपदेश से होता है, यह सब पराधीन है, आ..हा..हा...!

`**...इन्द्रिय इत्यादि को...**' `इन्द्रियज्ञान' `**...इन्द्रिय इत्यादि को विरूप-कारणता से (ग्रहण करके)...**' आ..हा..हा...! यह विरूप-कारण है। (विरूप अर्थात्) ज्ञान के स्वरूप से भिन्न स्वरूपवाले (हैं)। आहा...! स्वयं तो भगवानआत्मा अंदर जो है सो तो ज्ञानस्वभाव से प्रत्यक्ष हो ऐसा यह स्वभाव है। स्वसंवेदन - स्वयं चैतन्यमूर्ति प्रभु आनंदघन है। यह चैतन्यवस्तु है यह परमेश्वर जिनेश्वरदेव के शासन (के अलावा) और कहीं भी ऐसी बात नहीं। उन्होंने कहा जो आत्मा यह तो विज्ञानघन और आनंदमूर्तस्वरूप है! ऐसे स्वरूप को प्राप्त करने के लिये इन्द्रियज्ञान काम नहीं करेगा, कहते हैं। आ..हा..हा...! सूक्ष्म बात है ! (उपदेश) इत्यादि विरूप-कारण है। (अर्थात्) वे तो सब विपरीत - परकारण हैं। इनसे इन्द्रियज्ञान होता है, यह आत्मधर्म नहीं, यह सम्यक्ज्ञान नहीं। आ..हा..हा...!

`**...और उपलब्धि (-क्षयोपशम),...**' जो है - ज्ञान का विकास। यह मन का कारण है। इससे ज्ञान होता है यह भी सम्यक्ज्ञान नहीं, आ..हा..हा...! ऐसी बातें हैं ! यहाँपर आत्मा में क्षयोपशम अर्थात् ज्ञान का ज़रा सा विकास दिखाई देता है यह मन का कारण है। परंतु इससे इन्द्रियज्ञान होता है किन्तु आत्मज्ञान नहीं होता। आहा..हा...! सम्यग्दर्शन जो धर्म की पहली सीढी, धर्म का पहला मूल। यह क्षयोपशमज्ञान के आधार से होता नहीं, कहते हैं, आहा..हा...! उसके आश्रय से नहीं होता। और `'...संस्कार... (अर्थात्) पूर्व के कोई संस्कार हो, ज्ञान में संस्कार (हो) तो इसके द्वारा भी आत्मज्ञान

होता नहीं। आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ?

भगवानआत्मा सत्चिदानंद प्रभु ! सत्-शाश्वत और अतीन्द्रिय आनंद और ज्ञान का सागर प्रभु ! उसका ज्ञान होन के लिये वर्तमान क्षयोपशम और इसके संस्कार है वे काम नहीं करेंगे, कहते हैं। आ..हा..हा...! ऐसी बात है ! सूक्ष्म बात है, प्रभु ! वीतराग जिन परमेश्वर त्रिलोकनाथ का मार्ग कोई अपूर्व है !! आहा...! यह बात वीतराग के अलावा और कहीं (है नहीं)। हाल में तो संप्रदाय में भी ऐसी बात रही नहीं।

श्रोता :- (तप करने से) निर्जरा होती है ! ऐसा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री :- सब ख़बर है न ! दया पालो, व्रत करो, उपवास करो, यह तो सब विकल्प है, राग से धर्म होता है, वैसे मानते हैं। आ..हा..हा...! और इन शास्त्रों से, उपदेश से आपको ज्ञान हुआ, वैसे माने यह बात भी गलत (है)। आ..हा..हा...! बहुत काम (कठिन) ! ऐसे में समझ को धंधे की आड़ में फुरसत न मिले ! आहा..हा...! बाईस घंटे-तेईस घंटे उनमें (बिताना)। एक आध घंटा सुनने मिले, वह भी ऐसा सुने कि, `आप दया पालो, व्रत करो, उपवास करो इनसे (आपका) कल्याण होगा ! वे कुगुरु लूंट ले !!' (वैसा) `श्रीमद्' कहते हैं।

अरे... भाई ! अंदर आत्मा आनंदसागरप्रभु है ! अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियआनंद का सागर प्रभुआत्मा है। अभी हाँ...! आ..हा..हा...! इसका ज्ञान करने के लिये, इसका धर्म करने के लिये क्षयोपशम और संस्कार भी काम नहीं करते, कहते हैं। आ..हा..हा...! समझ में आया ?

(वह यहाँपर कहते हैं) **`...(-क्षयोपशम), संस्कार, इत्यादि को अंतरंग स्वरूप-कारणता से ग्रहण करके...**' यह कारण(रूप) मन में ग्रहण करके इन्द्रियज्ञान होता है। आ..हा..हा...! यह तो परालंबी, पराधीन है। यह सम्यग्दर्शन नहीं, यह सम्यग्ज्ञान नहीं। आ..हा..हा...!

श्रोता :- वैसे निर्णय तो हो सके !

समाधान :- निर्णय उसके द्वारा नहीं होगा, उससे नहीं होगा। अंदर उसके स्वरूप का आश्रय करे तब निर्णय होता है। सूक्ष्म बात है, भाई ! अनंत... अनंत... काल गया। चौरासी के अवतार कर-करके बापू...! जैनधर्म में आया, पंचमहाव्रत का पालन किया, साधु हुआ - परंतु यह सब राग की क्रिया को धर्म माना ! आ..हा..हा...!

वैसे द्रव्यलिंग अनंताबार धारण किया, कुटुंब-धंधा छोड़कर मुनि हुआ, परंतु अंदर पंचमहाव्रत के परिणाम आस्रव व राग है और जो सुना हुआ ज्ञान है यह ज्ञान नहीं, ऐसी उसे ख़बर हुई नहीं, आहा..हा...! जिंदगी वैसी की वैसी चली गई, आहा..हा...! `मुंबई' में ऐसा कठिन लगे ! अब तो (यूं तो) सुनते हैं कुछ ! ४४ वर्ष से तो यह चल रहा है। सुनिये बापू ! क्या करे ?

अंदर भगवानआत्मा चैतन्य सहजात्मस्वरूप भगवान सर्वज्ञ ने देखा कि, आहा..हा...! `प्रभु तुम जाणग रीति' हे नाथ ! हे सर्वज्ञ प्रभु ! भगवान बिराजमान हैं। महाविदेह में `सीमंधर' परमात्मा (आदि) बीस तीर्थंकर विद्यमान बिराजते हैं। आहा...! और लाखों केवली हैं वहाँ ! अरिहंत पद में हैं। `महावीर' आदि चौबीस तीर्थंकर तो सिद्धपद हो गये। वे तो `णमो लोए सव्व सिद्धाणं' में हो गये। उनको तो अब शरीर भी नहीं और वाणी भी नहीं। अरिहंत को भी शरीर और वाणी है। चार (घाती) कर्म का नाश हुआ है और चार (अघाती) कर्म शेष हैं। महाविदेह में भगवान बिराजमान हैं। (उनकी) वाणी नीकली और यह (उनकी) वाणी का सार है !! आहा..हा...!

प्रभु ! तूने इन्द्रियज्ञान द्वारा आत्मा को (वैसे) माना वह मिथ्या भ्रम है। आहा..हा...! अरे...! उपदेश से, श्रवण से, शास्त्रज्ञान-ग्यारह अंग का ज्ञान हुआ... आ..हा..हा...! यह भी इन्द्रियज्ञान है, यह आत्मज्ञान नहीं। आ..हा..हा...! ज्ञान की मूर्ति प्रभु ! ज्ञान-समझ का पिंड... ज्ञान का पिंड आत्मा है। जैसे शक्कर मीठापन का पिंड है, अफीम कड़वाहट का पिंड़ है - वैसे भगवानआत्मा तो ज्ञान का पिंड़ है। आहा...! ऐसा कहाँ, कभी भी (सुना हो) ? इस ज्ञान के पिंड के अंदर दृष्टि हो तब उसे स्वसंवेदन, स्व नाम स्वभाव का वेदन और आनंद का, ज्ञान का वेदन होता है उसे सम्यक्ज्ञान और उसे धर्म का उपाय कहा जाता है। ऐसा है, प्रभु ! आहा..हा...!

धंधे की आड़ में फुरसत मिले नहीं, वैसे पैसा बढ़ जाय... और धंधे में घुस गया, हो गई छूट्टी...! केवल पाप... सारा दिन ! इनमें से फुरसत निकाले वहाँ स्त्री, बच्चों का पालना या विषय सेवन करना। उनमें से फुरसत निकाले तो वहाँ छः-सात घंटे नींद (में जाय)। अरे..रे...! प्रभु ! तू कौन है ? इसका निर्णय करने का तेरे पास समय नहीं ? आहा...! करने का यह है, भव के अंत का उपाय तो यह है। आ..हा...! दया, दान, व्रत, भक्ति भी संसार है, विकार है और यह इन्द्रियज्ञान

भी पराधीन, परवस्तु है, आहा..हा...! इसे कहाँ जाना ? धंधे की आड़ में, पाप की आड़ में फुरसत न मिले ! करोड़ों रुपये, चार करोड़ व पाँच करोड़... ! परंतु समस्त दुःखी प्राणी हैं बेचारे ! भिखमंगे हैं ! मांग.. मांग.. भिखमंगे (हैं) ! पैसा लाव, स्त्री लाव, बच्चे लाव, आबरु लाव... बड़ा भिखमंगा... भिखारी...! आहा...! मन में अनंत आनंद और अनंत ज्ञान से भरपुर भगवान ! ऐसे स्वरूप की लक्ष्मी की तो जिसे ख़बर नहीं ! आहा...! अरे..रे...! ऐसा है ! ऐसा सुनना कठिन पड़ता है।

यह `जयसेनाचार्यदेव' की संस्कृत टीका में है। **`पूर्वगाथोदितमिन्द्रियज्ञानं मानसज्ञानं च त्यक्त्वा'** (अर्थात्) यह इन्द्रियज्ञान होता है उसे छोड़ ! **`त्यक्त्वा'** है। और **`निर्विकल्पसमाधिरूपरस्वसंवेदनज्ञाने'** आ..हा..हा...! दो टीकाएँ हैं - एक `अमृतचंद्राचार्य' की और एक `जयसेनाचार्य' की। `अमृतचंद्राचार्य' का अर्थ यहाँपर है और `जयसेनाचार्य' की टीका संस्कृत में है। है अंदर `जयसेनाचार्य' की ? संस्कृत में (नीचे से) तीसरी पंक्ति ! **`पूर्वगाथोदितमिन्द्रियज्ञानं'** और मन द्वारा हुआ **`मानसज्ञानं'** **`त्यक्त्वा'** (अर्थात्) छोड़ दे उसे ! आ..हा..हा...! **`त्यक्त्वा निर्विकल्परसमाधिरूपस्वसंवेदनज्ञाने'** है अंदर ? रागरहित अभेद चिदानंदस्वरूप भगवानआत्मा ! यह निर्विकल्प में रहे। समाधि अर्थात् शांति में रहे। उसे स्वसंवेदनज्ञान (कहा जाता है)। स्व (अर्थात्) अपने आत्मा का ज्ञान। `समस्तविभावपरिणामत्यागेन' (अर्थात्) पुण्य और पाप के जो विकल्प हैं, वे भी विभाव (हैं), उन्हें छोड़कर, आ..हा..हा...! यह तो अभी धंधे की आड़ में फुरसत नहीं, उसमें यह करना ! इसमें अतिरिक्त पाँच-पचास लाख, करोड़-दो करोड़ हो गये... तो देख लो ! `मैं चौड़ा और गली संकरी' हो जाय! जैसे बढ़ गया ! और न जाने कहाँ गया! दुर्गति में गया है !! आहा...! क्यों उसे दुर्गति कहा ? (क्योंकि) परद्रव्य के आश्रित जो विकल्प उठता है यह दुर्गति है। यह चैतन्य की गति-चैतन्य की जाति नहीं। समझ में आया ?

यहाँ यह (कहते हैं) **`समस्तविभावपरिणामत्यागेन रतिं कुर्वन्ति'** (अर्थात्) समस्त रागादि छोड़कर अंतर स्वरूप की रति-प्रेम करे। **`त एव परमाह्लादैकलक्षणसुखस्वभावं सर्वज्ञपदं लभन्ते'** अंदर मानसिकज्ञान, इन्द्रियज्ञान और पुण्य-पाप के भाव को छोड़कर, अंदर भगवान चैतन्य आनंद स्वरूप को ग्रहण करे और उसका वेदन करे तो इससे सर्वज्ञपद (की) प्राप्ति होती है। सर्वज्ञ भगवान हुए, जिनेश्वरदेव जो अनंत तीर्थंकर (हुए) (वे)

इसप्रकार हुए और अभी हैं, वे इसप्रकार हुए हैं। महाविदेह में सदा ही वर्तते हैं। वहाँ भी अनंतबार पैदा हुआ ! अनंतबार पैदा हुआ और अनंतबार समवसरण में गया, परंतु यह सब सुना तो इससे (उसे) ऐसा हो गया कि, `अपने को ज्ञान हो गया!' आ..हा..हा...! यह तो इन्द्रियज्ञान है, (इसप्रकार यहाँपर) कहते हैं। अरे..रे...! ऐसा मार्ग सुनना कठिन पड़े ! भाई ! प्रभु का मार्ग तो वीरों का - शूरवीरों का मार्ग है ! कायर का यहाँ काम नहीं ! `वचनामृत वीतरागना परमशांतरसमूल, औषध जे भवरोगना कायरने प्रतिकूळ' ! आ..हा..हा...!

इन्द्रियज्ञान से भी आत्मा का ज्ञान होता नहीं, उपदेश सुनने से भी आत्मज्ञान होता नहीं, मानसिकज्ञान से भी आत्मज्ञान नहीं होता, आहा..हा...! वैसे दया, दान, व व्रत के परिणाम से भी आत्मज्ञान नहीं होता। क्योंकि यह तो राग है। आ..हा...हा...! ऐसा कठिन लगे ! आहा..हा...! उसे अंदर कहाँ रास आया है ?

आ..हा..हा...! अंदर भगवान पूर्णानंद का नाथ बिराजमान हैं ! जिनस्वरूपी भगवानआत्मा है ! `घटघट अंतर जिन वसे, घटघट अंतर जैन' घट-घट में भगवान बिराजमान हैं ! यह देह तो मिट्टी-धूल है। अंदर (जड़) कर्म हैं वे मिट्टी-धूल हैं। और दया, दान, व्रत व काम, क्रोध के परिणाम होते हैं वे विकाररूप जहर हैं ! आहा..हा...! और इन्द्रियज्ञान होता है यह भी पराधीन और दुःखरूप है, आ..हा..हा...! इससे अंदर भिन्न भगवान (जानने में आता नहीं)। (परंतु) अपने आनंद का स्वभाव के वेदन द्वारा सम्यक्ज्ञान होता है (और) इस ज्ञान द्वारा उसे सर्वज्ञपद प्राप्त होता है। आहा..हा...! जितने कोई अबतक सिद्धपद (प्राप्त कर चुके हैं) और सर्वज्ञ केवली परमात्मा हुऐ हैं वे इन उपायों के द्वारा हुए हैं। `एक होय त्रणकालमां परमारथनो पंथ' आ..हा..हा...!

अरे..रे...! जिंदगी चली जा रही है, मृत्यु की समीप है, (देह छूटने की) जो अवधि है वह एक समय (भी) फिरनेवाली नहीं। जिस क्षेत्र से, जिस काल में, जिस प्रकार देह छूटनेवाला (है यह) निश्चित हो गया है। केवलज्ञान में भी निश्चित है। आ..हा..हा...! यह आयुष्य तो क़म होता जा रहा है और मृत्यु की समीप जा रहा है। यह मानता है कि `मैं बड़ा होता हूँ' ! भगवान कहते हैं कि, तेरी स्थिति मृत्यु की समीप जा रही है ! आहा...! भाई... ! इसके पहले यदि यह काम नहीं किया (तो) कहीं भी भटकने का चक्कर बंद नहीं होगा, प्रभु ! चौरासी के अवतार... आ..हा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, ऐसा ज्ञान (यानी कि) उपदेश, अंतःकरण व इन्द्रिय से हुआ, क्षयोपशम और संस्कार से हुआ (ज्ञान) वह सप्रदेश को ही जानता है। यह ज्ञान अप्रदेश-परमाणु को और आत्मा को जानता नहीं। आ..हा..हा...! समझ में आया ? **`...क्योंकि वह स्थूल को जाननेवाला है,...'** इन्द्रियज्ञान है यह तो स्थूल... स्थूल को जानता है। यह शब्द व रूप व गंध आदि (जानता है)। आहा..हा...! **`...अप्रदेश को नहीं जानता,...'** यह ज्ञान एक परमाणु, एक कालाणु और आत्मा को जानता नहीं। **`...(क्योंकि वह सूक्ष्म को जाननेवाला नहीं है);...'**

`...वह मूर्त को ही जानता है...'** इन्द्रियज्ञान मूर्त को (जानता है)। (अर्थात्) वर्ण, गंध, रस, स्पर्शवाले को जानता है। आहा..हा...! **`...क्योंकि वैसे (मूर्तिक) विषय के साथ उसका संबंध है,...' इन्द्रियज्ञान को रूपी पदार्थ के साथ संबंध है, अंदर अरूपी के साथ संबंध नहीं। भगवानआत्मा तो अरूपी है, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श रहित है। अरे...! ऐसी बातें अब...! **`...वह अमूर्त को नहीं जानता (क्योंकि अमूर्तिक विषय के साथ इन्द्रियज्ञान का संबंध नहीं है);...'** (अब) न्याय देते हैं। Logic-न्याय से, युक्ति से सिद्ध करते हैं, आहा...!

`...वह वर्तमान को ही जानता है...' इन्द्रियज्ञान तो वर्तमान पर्याप्त रूपी, जड़ (पदार्थ को) जानता है। **`...क्योंकि विषय-विषयी के सन्निपात सद्भाव है,...'** वर्तमान के साथ इन्द्रिय का संबंध है। भूत, भविष्य के साथ संबंध नहीं है। आ..हा..हा...! **`...वह प्रवर्तित हो चुकनेवाले को और भविष्य में प्रवृत होनेवाले को नहीं जानता...'** आत्मा और परमाणु (कि) जो जगत की चीज है, उसमें जो पर्यायें-अवस्थाएँ बीत गई और जो अवस्था अबतक नहीं हुई, उनके साथ इन्द्रिय को संबंध नहीं, मन को संबंध नहीं। इसलिये वह इसे जानता नहीं। आ..हा..हा..! ऐसी बातें अब...! यह किस प्रकार का उपदेश ऐसा !? बापू ! वीतराग का मार्ग यह है, भाई ! जिनेश्वरदेव, त्रिलोकनाथ, केवलज्ञानी के द्वारा कहा गया यह तत्त्व है ! लोगों को सुनने न मिला हो इसलिये क्या दूसरा हो जाय ? सत्य, असत्य हो जाय ? आ..हा..हा...!

वर्तमान के साथ **`...विषय-विषयी के सन्निपात सद्भाव है,...'** क्यों (वैसा कहा? (क्योंकि) वर्तमान (है)। यह शब्द, रूप, गंध है उसके साथ संबंध है। भूत, भविष्य के साथ इन्द्रियज्ञान का संबंध नहीं है। **`...यह प्रवर्तित हो चुकनेवाले को और भविष्य**

में प्रवृत्त होनेवाले को नहीं जानता (क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष का अभाव है)।' क्या कहते हैं ये ? (कि) आत्मा की और जड़ की भूतकाल की जो अवस्थाएँ हो गई और भविष्य में होगी, उनके साथ इन्द्रियज्ञान को संबंध नहीं है। उसे वर्तमान के साथ संबंध है, आ..हा..हा...!

न्याय से वस्तु को सिद्ध कर सकते हैं। इस संसार के - दुनिया के समस्त कायदें - Logic अलग हैं, हाँ...! सरकार के बनाये हुए वकालात के व वे तो सब... भटकने का... (Logic-कायदें हैं) ! आहा...! (यह श्वेतांबर, स्थानकवासी में आता है कि) `न्याय से बात सिद्ध होती है।' न्याय में `नि' धातु है। `नि' अर्थात् ज्ञान को सत्य की ओर ले जाना। जैसा इसका स्वरूप है उसमें ज्ञान को ले जाना, इसका नाम `न्याय'! आ..हा..हा...! `समझ में आया कुछ ?' अर्थात् क्या ? समझ में आ जाय जब तो ठीक ! परंतु `कुछ' अर्थात् किस प्रकार-(पद्धति) से कहा जाता है ? वैसे खयाल में आता है ? आहा...! जन्म-मरण रहित होने के मार्ग अलग तेरे !

अब, सर्वज्ञ की बात करते हैं। (पहले) इन्द्रियज्ञान की बात कही (कि, यह) छोड़ने लायक है, ऐसी बात कही। अब, आदरणीय हुई शक्ति (से) यह सर्वज्ञ होते हैं, परमात्मा जो सर्वज्ञ होते हैं, वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर हुए, वे सर्वज्ञ हुए वे क्या जानते हैं ? (यह कहते हैं)।

`परंतु जो अनावरण...**' है। सर्वज्ञ प्रभु को कोई आवरण नहीं। सर्वज्ञ का ज्ञान निरावरण हो गया। आ..हा..हा...! **`...अतीन्द्रिय ज्ञान है...' भगवान अरिहंत परमेश्वर को जो ज्ञान है वह अतीन्द्रिय ज्ञान है। आहा..हा...!

`...उसे अपने...**' प्रभु सर्वज्ञ परमात्मा को तो। जिनेश्वरदेव अरिहंत सर्वज्ञ प्रभु को। **`...अपने अप्रदेश....' (अर्थात्) एक परमाणु को जाने, आत्मा को जाने, आ..हा..हा...! यह (अँगुली) है न ! यह एक वस्तु नहीं है। यह तो अनंत परमाणु का स्कंध-पिंड, जड़-मिट्टी है। अंदर भगवानआत्मा भिन्न है। यह तो अनंत रजकण का (पिंड है)। (इसके) टुकड़े करे (और) करते... करते... करते... अंतिम Point रहे उसे प्रभु `परमाणु' कहते हैं। परम + अणु = अंतन से अंतिम, छोटे से छोटा अंश। इस परमाणु को भी सर्वज्ञपद प्रत्यक्ष जानता है। आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ? इन्द्रियज्ञान (के) सामने यह बात कही।

`**...सप्रदेश,...**' एक-एक परमाणु को जाने (वैसे) सप्रदेश को भी जाने, आ..हा..हा...! असंख्यप्रदेशी प्रभु आत्मा ! अनंत प्रदेशी आकाश ! असंख्यप्रदेशी धर्मास्तिकाय ! ये तत्त्व - छः द्रव्य भगवान ने देखें। भगवान के ज्ञान में छः द्रव्य दिखाई दिये। एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, एक आकाश, असंख्य कालाणु, अनंत आत्मा और अनंत परमाणु। यह भगवान ! सर्वज्ञ स्वभावी प्रभु ! सप्रदेश को भी जाने। बहुत परमाणु के समूह अर्थात् असंख्यप्रदेशी आत्मा, अनंतप्रदेशी आकाश - उसे भी जाने, आ..हा..हा...! समझ में कुछ आया ?

`**...मूर्त व अमूर्त...**' मूर्त को भी जाने और अमूर्त को भी जाने। आ..हा..हा...! मूर्त वस्तु जो स्कंध आदि को भी जाने और आत्मा अरूपी है, प्रभु आत्मा तो अमूर्त है। उसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श है नहीं। उसे भी जाने और रूपी को भी जाने। भगवान, सर्वज्ञ परमेश्वर (मूर्त, अमूर्त दोनों को जाने)।

`**...तथा अनुत्पन्न एवं व्यतीत पर्यायमात्र,...**' आ..हा..हा...! भविष्य की जो पर्यायें अर्थात् अवस्थाएँ अभी उत्पन्न हुई नहीं और जो होकर व्यतीत हो गई, गई। अवस्थाएँ-पर्यायें हुई, होकर गई। (अब भी बहुधा लोगों को) पर्याय क्या, द्रव्य क्या, गुण क्या? (उसकी ख़बर नहीं)। द्रव्य अर्थात् त्रिकाली वस्तु। गुण अर्थात् त्रिकाली वस्तु का स्वभाव और पर्याय अर्थात् वर्तमान उसकी हालत-दशा-अवस्था। प्रत्येक द्रव्य में ऐसी अनंत अवस्था बीत गई और अनंत अवस्था अबतक हुई नहीं। उसे भी भगवान जानते हैं। आ..हा..हा...! है ?

`**...अनुत्पन्न एवं व्यतीत पर्यायमात्र,...**' `पर्यायमात्र' ! आ..हा..हा...! `**...ज्ञेयता का अतिक्रमण न करने से...**' (अर्थात्) वे सभी पर्यायें ज्ञेयरूप हैं। ज्ञान में ज्ञात हो वैसी हैं। अतः ज्ञेय(रूप) यानी कि ज्ञात होने योग्य (रूप) को अतिक्रमण न करने से। गतकाल की अनंत अवस्थाएं और भविष्य की अनंत... अनंत... अनंत... अवस्थाएँ ज्ञेयपने को छोड़ती नहीं। (इसलिये) ज्ञेय हैं। ज्ञेय अर्थात् ज्ञान में ज्ञात होने योग्य है। ऐसा (समझने) कहाँ अब फुरसत मिले ?

आ..हा..हा...! `**...ज्ञेयता का अतिक्रमण न करने से ज्ञेय ही है...**' भले ही अनंत परमाणु और अनंत आत्मा की अवस्थाएँ - पर्याय - दशा अनंत हो गई और भविष्य की हुई नहीं, फिर भी वह ज्ञेय है। ज्ञात होने योग्य है। उसकी ज्ञेयता वह अतिक्रमण

नहीं करती। इसलिये सर्वज्ञ के ज्ञान में वे ज्ञेय ज्ञातव्य है। आहा..हा...! अतः सर्वज्ञपना प्राप्त करने योग्य है। यह कैसे प्राप्त हो ? कि, इन्द्रियज्ञान और राग को हेय जानकर, छोड़ने योग्य जानकर, स्वरूप की अंतरदृष्टि और अनुभव करे, तब उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। (और) उसके द्वारा केवलज्ञान प्राप्त होता है, आ..हा..हा...! न्याय से तो पकड़ में आये वैसा है, बापू ! यह वीतराग का मार्ग तो बहुत ही सीधा और सरल है। परंतु वर्तमान में पूरा खोह में चला गया है ! आहा..हा...! प्ररूपणा यह सब (हो गई) - `व्रत करो, अपवास करो, सामायिक करो...!' परंतु सम्यग्दर्शन अभी नहीं है वहाँ सामायिक कहाँ से आई ? अभीतक सम्यग्दर्शन नहीं है। पोषध करो, प्रतिक्रमण करो, चौविहार करो, कंदमूल न खाओ, छःपरबी ब्रह्मचर्य पालो...! ये तो सब राग की क्रियाएँ हैं। आहा..हा...!

श्रोता :- आप कोई लोकप्रसिद्ध बात करे तो समझ में आयें !

पूज्य गुरुदेवश्री :- यह लोकप्रसिद्ध बात की न ! यह सब सुन चुके हैं। नहीं (सुना) ?

श्रोता :- दया, दान, पूजा की बात करें तो वे लोकप्रसिद्ध हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- (यह) प्रसिद्ध है, दुनिया यही मानती है। आहा...! `परजीवों की दया पालो !' (परंतु) परजीवों की दया का पालन कौन कर सकता है ? उनका आयुष्य हो तब तक रहे। तू उनकी दया पाल सकता है ? आ..हा..हा...! सूक्ष्म बातें, बापू ! परद्रव्य की अवस्था अन्य परद्रव्य कर सकता है ? `अन्य को जिला दूँ, अन्य को मार दूँ, अन्य को सुखी-दुःखी करूं'! (वे सभी) अज्ञानीओं की भ्रमणा है ! यह सब मिथ्यादृष्टि का मिथ्याभाव है, आहा...! पर की दया तो पाल सकता नहीं परंतु पर की दया का भाव है सो राग है। भाई ! यह कैसे बैठे, बापू ? अरे..! वैसा तो अनंतबार किया है।

यहाँ तो कहते हैं, इस राग को भी छोड़कर अंदर स्वसंवेदनज्ञान को ग्रहण कर ! तो तुझे धर्म की शुरूआत होगी। वरना धर्म की शुरूआत भी है नहीं, आ..हा..हा...! बहुत कठिन काम...!

`...ज्ञेयता का अतिक्रमण न करने से...' क्या कहा यह ? अनंत आत्मा हैं। निगोद का एक राई जितना कण-कुटका लो तो उसमें असंख्य तो शरीर हैं और एक-

एक शरीर में अनंत आत्माएँ हैं। समझ में आता है कुछ ? यह लहसुन, प्याज...! उनका एक छोटा टुकड़ा लो... राई जितना...! तो उसमें असंख्य शरीर हैं और एक-एक शरीर में (अबतक) सिद्ध (हुए उनसे) भी अनंत जीव हैं ! इन जीवों के पूर्व जितनी पर्यायें हो गई और भविष्य में होगी... आ..हा..हा...! वे ज्ञेयता का अतिक्रमण नहीं करेंगे। (अर्थात्) वे तो ज्ञात होने योग्य हैं इसलिये ज्ञान में ज्ञात होगा। सर्वज्ञ उन्हें एक समय में जानते हैं। आ..हा..हा...! कठिन काम... भारी...!

यहाँ है न यहाँ सूक्ष्म जीव हैं। सारे लोक में भरे पड़े हैं। यहाँपर यहाँ...! सूक्ष्म हैं। निगोद के जीव हैं। इतने अँगुली के असंख्य भाग में असंख्य तो औदारिक शरीर हैं ! भगवान का ऐसा कथन है। और यह एक-एक शरीर में अनंत जीव हैं और एक-एक जीव को तेजस और कार्मण - दो शरीर हैं और एक-एक तेजस - कार्मण में अनंत स्कंध परमाणु हैं, अनंत स्कंध के परमाणु में एक-एक परमाणु में अनंतगुण हैं। वैसे अनंतगुण की एक समय की अनंत पर्याय हैं, आ..हा..हा...! वैसी अनंत पर्याय बीत गई और अनंत पर्याय हुई नहीं, परंतु वे ज्ञेयता का अतिक्रमण करती नहीं। ऐसी बातें हैं ! (बाहर में) हा..हो..हा..हो.. यह करो... यह करो...! परंतु अंदर चीज कौन है ? और यह कब प्राप्त हो ? उसकी ख़बर नहीं ! अरे..रे...! इन भटकने के भव का अंत कब आये प्रभु ! आहा..हा...! दिगंबर जैन साधु भी जीव अनंतबार हुआ ! पंचमहाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण का पालन किया, परंतु वह तो राग था और राग को उसने धर्म माना हुआ था ! आहा..हा...! समझ में आता है कुछ ?

अतः यहाँ कहते हैं कि, यह राग की क्रिया का भाव मेरा है यह छोड़ ! और इन्द्रियज्ञान के द्वारा मुझे ज्ञान होगा, यह छोड़ दे ! आहा..हा...! सर्वज्ञता तुझे प्राप्त करनी हो तो स्वसंवेदन में दृष्टि कर ! आ..हा..हा...! जहाँ सर्वज्ञ स्वभावी प्रभु बिराजमान हैं ! सर्वज्ञस्वभाव जीव का है। परमात्मा को सर्वज्ञ की जो दशा (प्रगट) होती है यह कहाँ से आती (है) ? यह बाहर से आती है ? सर्वज्ञस्वरूप आत्मा है ! उसकी शक्ति, उसका स्वभाव सर्वज्ञ है ! आ..हा..हा...! इस सर्वज्ञस्वभावी को पकड़! इन्द्रियज्ञान और राग को छोड़! आहा..हा...! ऐसा काम...!

अनंत अनंत काल बीत चुका, बापू ! लहसुन में, प्याज में, यह मूली... मूली... नहीं (आती) ? कंद... मूली में सफेद कंद होता है उसमें अनंत जीव हैं। उसके

पत्ते में असंख्य जीव हैं। यह मूली नहीं आती मूली... ? उसके पत्ते हैं वे प्रत्येक (वनस्पतिकाय) हैं। उनमें असंख्य शरीर हैं और असंख्य जीव हैं। एक-एक शरीर में एक-एक जीव हैं। परंतु यह कंद है उसमें तो (एक) कण में असंख्य शरीर हैं और एक-एक शरीर में अनंत जीव हैं। आहा...!

वैसे अनंत आत्मा और अनंत परमाणु की पर्यायें-अवस्थाएँ हो गई कि जो इन्द्रिय का विषय नहीं है और भविष्य में होंगी वह भी इन्द्रिय का विषय नहीं। उन ज्ञेयता को अतिक्रमण नहीं करतीं अवस्थाओं को सर्वज्ञ परमात्मा जानते हैं। समझ में आया कुछ ? आहा..हा...! है ?

`...ज्ञेयता का अतिक्रमण न करने से ज्ञेय ही हैं...' परमाणु और आत्मा की भले ही अनंतकाल के बाद अवस्था हो, परंतु यह ज्ञेय है। ज्ञेय है अतः ज्ञात होने योग्य है। आहा..हा...! प्रमेय है अतः प्रमाणज्ञान में ज्ञात होने योग्य है। अरे.. अरे.. ऐसी बातें अब...! बनिये को धंधे में वही का वही (करने का होता है) नये कोई तर्क तो होते नहीं।

हमारी शाला के एक बड़े मास्टरजी थे वे ऐसा कहते थे कि, `हम सब `पंतु' हैं ! सारा दिन वही की वही बात! इसमें कोई तर्क या न्याय (नहीं आता) ! एक का एक और दो का दो... वही के वही शब्द और वही की वही बातें...! वैसे इन धंधा करनेवाले को भी क्या ? सारा दिन वही का वही ! इतने रुपये में लिया और इतने रुपये में दिया...! वैसी उनकी यह भाषा...! नया कोई तर्क व (न्याय न मिले)।

यहाँ तो अंदर सम्यक्ज्ञान के तर्क से वस्तु को सिद्ध करनी है ! आहा..हा...! वैसे यहाँ कहते हैं, **`ज्ञेयता का अतिक्रमण न करने से ज्ञेय ही है...'** (अब) दृष्टांत देते हैं। **`...जैसे प्रज्वलित अग्नि को...'** अग्नि.. अग्नि...! **`...प्रज्वलित अग्नि को अनेक प्रकार का ईंधन,...'** (प्रज्वलित अर्थात् सुलगती अग्नि)। उसे अनेक प्रकार के ईंधन **`...दाह्यता का अतिक्रमण न करने से,...'** आ..हा..हा...! क्या दृष्टांत कहते हैं ? कि, अग्नि जो है अग्नि...! यह प्रज्वलित अग्नि हाँ... ऐसे...! ऐसे सुलगती हाँ ! यह अनेक प्रकार का ईंधन (अर्थात्) अनेक प्रकार का ईंधन, अडाया.. अडाया कण्डे होते हैं न ! अडाया अर्थात् गाय, भैंस के सूखे हुए गोबर को अडाया कहते हैं। अग्नि उन्हें भी जलाती है। यह दाह्य होने के लायक है और अग्नि (उन्हें) जलाती है।

अग्नि में कोई चीज़ दाह्य होने के लायक नहीं, वैसा नहीं, और यह कण्डे बनाते हैं न उपलें...! इसप्रकार सीधा गोबर लेकर बनाये इसे `उपलें' कहते हैं। उनको `अडाया' कहा जाता है। भैंस का व गाय का सूखा हो गया (गोबर) पड़ा हो उसे `अडाया' कहा जाता है। यह सभी ईंधन ही हैं। और यह ईंधन - लकड़ी, छोटे-बड़े टुकड़े, ये सब ईंधन, अनेक प्रकार के ईंधन **`...दाह्यता का अतिक्रमण न करने से,...'** (अर्थात्) जलने लायक हैं उन्हें छोड़ते नहीं। वे सभी जलने लायक हैं। आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ? हरी लकड़ी हो सो भी जलने लायक है। वे हरी हैं उसे भी अग्नि छूए तो सूखा होकर जले। आहा..हा...! वे सब हरे ईंधन हो या हरे पत्ते हो, परंतु वे सभी जलने लायक हैं। है (पाठ में) ?

`जैसे प्रज्वलित अग्नि को...'** आहा..हा...! (अर्थात्) प्रदीप्त अग्नि को। अनेक प्रकार के ईंधन, उपलें आदि **`...दाह्यता का अतिक्रमण न करनेसे,...' (अर्थात्) यह जलने की लायकात को छोड़ते नहीं। सभी जलने लायक हैं। जैसे भूत की - गतकाल की और भविष्य की पर्याय ज्ञेयता का अतिक्रमण करती नहीं, अतः वे सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान में ज्ञात होतीं है। समझे कुछ ? (वैसे) अनेक प्रकार के ईंधन दाह्यता को यानी जलने लायक का अतिक्रमण करते नहीं। दाह्य है, जलने लायक ही है। यह जलने लायक है उसे अग्नि जलाती है। वैसे भूत और भविष्य की पर्यायें ज्ञेयता को नहीं छोड़ती वे सर्वज्ञ के ज्ञान में ज्ञात होती हैं। आहा...! ऐसा न्याय तो देते हैं !

सर्वज्ञ अरिहंत कैसे होते हैं उसकी जानकारी नहीं ! सर्वज्ञ क्या है ? और सर्वज्ञता कैसे प्राप्त हो ? और सर्वज्ञ भूत, भविष्य को, तीनकाल, तीनलोक को किस प्रकार जानते हैं ? (यह कहते हैं)। उन्हें जानने लायक कोई चीज शेष नहीं। जिस प्रकार अग्नि के (लिये) जलाने लायक कोई चीज नहीं है, (वैसा) नहीं। वैसे सर्वज्ञ में जानने लायक कोई चीज नहीं, (वैसा) नहीं। आहा..हा....! अनंतकाल के बाद जो पर्याय होगी उसे भगवान वर्तमान में जानते हैं। ऐसी बात है।

यह आत्मा (की), परमाणु (की), गतकाल की अनंत पर्यायें हो गई और भविष्य की अनंती होंगी। भूत की अनंत हो गई, इससे अनंतगुना भविष्य की होंगी। भविष्य की पर्यायें - अवस्थाएँ अनंतगुनी हैं। आ..हा..हा...! एक-एक द्रव्य में, एक-एक परमाणु में और एक-एक आत्मा में (वैसी अनंत अवस्थाएँ हुई और होंगी)। वे सभी पर्यायें-

अवस्थाएँ ज्ञेयता को छोड़ती नहीं, अतिक्रमण करती नहीं। प्रमेयता (अर्थात्) ज्ञान में जताने लायक है उसे अतिक्रमण करती नहीं। अतः सर्वज्ञ के ज्ञान में तीनकाल, तीनलोक जानने में आते हैं।

(यहाँपर) कहते हैं) प्रज्वलित अग्नि जलने लायक ईंधन को (यानी कि) लकड़ियाँ जलने लायक हैं - वे दाह्य हैं उन्हें छोड़ती नहीं। जलने लायक ईंधन या (और) वस्तु हैं (उन्हें) छोड़ती नहीं। है ? '**...दाह्यता का अतिक्रमण न करने से,...**' (अर्थात्) जलने की लायकात को यह वस्तु अतिक्रमण न करने से '**...दाह्य ही है।**' (अर्थात्) जलने लायक ही है। '(**जैसे प्रदीप्त अग्नि...**)' 'प्रदीप्त अग्नि' (अर्थात्) सुलगी हुई अग्नि। '**...(...दाह्यमात्र को - ईंधनमात्र को - जला देती है, उसीप्रकार निरावरण ज्ञान...)...**' आ..हा..हा...! कहाँ इन्द्रिय का ज्ञान और कहाँ सर्वज्ञ का ज्ञान !! इस प्रकार दो साथ में मिलान करते हैं। आ..हा..हा...! '**...(...निरावरण ज्ञान ज्ञेयमात्र को - द्रव्यपर्यायमात्र को - जानता है)।**' आ..हा..हा...!

प्रत्येक द्रव्य जो है उसकी वर्तमान में भी अनंत पर्याय हैं। समय एक ! परंतु प्रत्येक द्रव्य में अनंतगुण हैं न ! एक आत्मा में जैसे संख्या में अनंतगुण हैं वैसे परमाणु में हैं, ऐसे अनंतगुण एक आकाश में हैं, आ..हा..हा...! ऐसे छः द्रव्य भगवान ने देखे हैं। छः द्रव्य ! धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, जीव और पुद्गल। इस प्रत्येक द्रव्य में अनंतगुण हैं। और इसकी एक समय की पर्याय में अनंत पर्याय हैं। जो पर्याय एक समय की हैं उन पर्यायों की गिनती (करने जाय) तो अंत नहीं कि यह कितनी ? अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... को गुणा करो...! एक समय की पर्याय... हाँ...! अब यह कैसे समझे ? तीनकाल के समय से एक द्रव्य की एक समय की पर्याय अनंतगुणा हैं।

अरे... भगवान ! ऐसा वीतराग का तत्त्व सूक्ष्म बहुत, भाई ! परमेश्वर सर्वज्ञ के अलावा और कहीं अज्ञानियों ने आत्मा... आत्मा... कहा हो (यह) बिना जाने बातें कही होने से वे सब गप्प है ! आहा..हा...! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर एक समय में ज्ञातव्य को जान लेते हैं ! (जैसे) जलने लायक को अग्नि जलाती है, वैसे। व्यापारी को - बनिये को ऐसी बातें करना व सुनना ! वहाँ उसके धंधे में (यह बात कहीं आये नहीं) ! आहा...!

हाल में `पालेज' गये थे न ! वहाँ नौ साल मैं रहा था न ! `पालेज' में अपनी दुकान थी। `भरूच' और `बडौदा' के बीच `पालेज' है। पिताश्री की दुकान थी। पाँच साल तक मैंने दुकान चलाई - सत्तरह वर्ष से बाईस वर्ष। बाईस वर्ष में दुकान छोड़ दी। हाल में नब्बे हुए। फूफी के तीन बेटे हैं। बड़ा गोदाम है। चालीस लाख रुपये हैं। आठ दिन सब लोग सुने। (जब निकलने के समय) खड़े हुए तब रोने लगे ! बापू ! मर गये, भाई ! वस्तु को बिना जाने धंधा-पानी में मर गये ! मार डाला आत्मा को !! आहा...! चालीस लाख व धूल और है उसमें क्या !

श्रोता :- क़ार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा है न कि `होनेवाला होगा सो होगा'...!

पूज्य गुरुदेवश्री :- हाँ, कहा न ! श्रावक... श्रावक जो समकिती हैं, जिन्हें आत्मज्ञान हुआ है वे ऐसा मानते हैं कि भवितव्य में जड़ की जो (पर्याय) होनेवाली सो होगी। उसमें मैं क्या करूँ ? (`स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा'-३८८) गाथा है। जो श्रावक होते हैं सच्चे...! (अर्थात्) समकिती ! इस संप्रदाय के श्रावक वे कोई श्रावक हैं नहीं। (उन्हें तो) अब तक सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं। जिस आत्मा को सम्यग्दर्शन हुआ है, आत्मा के आनंद का अनुभव हुआ है, अतीन्द्रिय आनंद का जिसे स्वाद आया है, तब तो उसे समकिती कहने में आता है। श्रावक को तो इससे आगे बढ़नेपर स्वरूप में स्थिरता शांति बढ़ जाय, वैसे **`जो श्रावक, पाप के मूल जो गृहस्थ के कार्य उनमें अनुमोदन करता नहीं, किस प्रकार ? `जो भवितव्य है वैसे ही होता है'-'** होनेवाला (हो सो) होता है उसे मैं क्या करूं ? आहा...! दो जगह (आता) है। `- **`जो भवितव्य है वैसे ही होता है' ऐसी भावना करते हुए; वह अनुमोदनाविरतिप्रतिमाधारी श्रावक है।'** है ? वैसा दूसरी जगह भी है। भवितव्यता यह तो क्रमबद्ध पर्याय जिसकी होनेवाली है सो होगी ही। यह तू कर तो हो, वैसा कुछ है नहीं, आ..हा..हा...! `क्रमबद्ध' का बड़ा प्रश्न बाहर आया था।

प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक आत्मा की क्रमबद्ध जो अवस्था होनेवाली है सो होगी। यह विषय हाल में था नहीं। प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक आत्मा में निरंतर (पर्यायें होती रहती है)। जिस प्रकार हार में मोती है - जिस जगह मोती है उसी जगह (यह मोती) है। ऐसे जगत में जड़-चैतन्य की पर्यायें जिस समय जो होनेवाली है सो होती है, आगे-पीछे नहीं। वह समय-समयपर क्रमबद्ध होती है। यह विषय था

नहीं। यह तो यहाँ से ही प्रथम से कहने में आया है। यद्यपि क्रमबद्ध की शैली तो मैं स्वयं संवत् '७२ की साल से कहता था। (संवत्) १९७२ की (साल में) संप्रदाय में बड़ी चर्चा चली थी - `केवली ने देखा है सो होगा। और हम क्या कर सकते हैं ?' यह चर्चा चलती थी। मैंने कहा, `केवली ने देखा होगा। परंतु जगत में सर्वज्ञ केवली हैं वे एक समय में तीनकाल तीनलोक को जानते हैं वैसी एक गुण की एक पर्याय है, इसकी सत्ता की श्रद्धा है ? आगे देखा सो होगा (यह कहो तो ठीक है)।' तत्त्व की जानकारी नहीं और केवली ने देखा सो होगा... केवली ने देखा सो होगा... (करो तो) इसका अर्थ क्या है ? यह तो '७२ की बात है। ६३ साल पहले !

दुकान पर थे तब '६३ (संवत् १९६३) की साल की बात है - `शिवरमणी रमनार तुं' सत्तरह वर्ष की उम्र थी। अब तो यह नब्बेवाँ बैठेगा, जन्म का हाँ...! वैशाख शुद-२, गर्भ का तो नब्बे चल रहा है ! सवा नौ महीने भगवान यहाँ के गिने न ! माता के पेट में यहाँ का आयुष्य है कि नहीं ? परंतु लोगों को जानकारी न हो अतः जन्म से गिने ! परंतु सवा नौ महीने यहाँ का आयुष्य होता है। इस हिसाब से अभी नब्बे चल रहा है। इस बैशाख शुद दूज को जन्म का नब्बेवाँ बैठेगा। १७ वर्ष की उम्र में यह बात थी। **`शीवरमणी रमनार तुं, तुं ही देवनो देव'** तू तो देव का देव है ! आ..हा..हा...! किन्तु विशेष खयाल नहीं आया था। यह क्या आया? बाद में तो सब ज्ञान हुआ।

यहाँ ऐसे कहते हैं **`...ज्ञेयमात्र को - द्रव्यपर्यायमात्र को - जानता है।'** अग्नि दाह्यमात्र को जलाती है वैसे सर्वज्ञ का ज्ञान ज्ञेयमात्र - लोक-अलोक, भूत और भविष्य की सभी पर्याय को जानता है। भगवान के ज्ञान में, भविष्य की कोई (पर्याय) हुई नहीं, इसलिये जानते नहीं, वैसा नहीं। आ..हा..हा...! जिस समय जिसकी जो पर्याय होगी उसकी यह (पर्याय) सर्वज्ञ वर्तमान में प्रत्यक्ष देखते हैं। ऐसा जिसे सर्वज्ञ का निर्णय करना हो उसे मेरा स्वभाव सर्वज्ञस्वरूप ही है, मैं चैतन्यमूर्ति हूँ, वैसा स्वसंवेदनज्ञान करे उसे स्व-सर्वज्ञ की श्रद्धा होती है। और सर्वज्ञ की श्रद्धा-ज्ञान में रमणता करता हुआ आगे जाकर सर्वज्ञता प्राप्त करता है ! विशेष कहेंगे...

❋ ❋ ❋

अथ ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया ज्ञानान्न भवतीति श्रद्दधाति–

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स।
णाणं ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता।।४२।।

परिणमति ज्ञेयमर्थं ज्ञाता यदि नैव क्षायिकं तस्य।
ज्ञानमिति तं जिनेन्द्राः क्षपयन्तं कर्मैवोक्तवन्तः।।४२।।

परिच्छेत्ता हि यत्परिच्छेद्यमर्थं परिणमति तन्न तस्य सकलकर्मकक्षक्षयप्रवृत्तस्वाभाविकपरिच्छेदनिदानमथवा ज्ञानमेव नास्ति तस्य; यतः प्रत्यर्थपरिणतिद्वारेण मृगतृष्णाम्भोभारसंभावनाकरणमानसः सुदुःसहं कर्मभारमेवोपभुञ्ज़ानः स जिनेन्द्रैरुद्गीतः।।४२।।

एवमतीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने प्रत्यक्षा न भवन्तीति बौद्धमतनिराकरणमुख्यत्वेन गाथात्रयं, तदनन्तरमिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवत्यतीन्द्रियज्ञानेन भवतीति नयायिकमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं च गाथाद्वयमिति समुदायेन पञ्चमस्थले गाथापञ्चकं गतम्।। अथ रागद्वेषमोहाः बन्धकारणं, न च ज्ञानमित्यादिकथनरूपेण गाथापञ्चकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तद्यथा – यस्येष्टानिष्टविकल्परूपेण कर्मबन्धकारणभूतेन ज्ञेयविषये परिणमनमस्ति तस्य क्षायिकज्ञानं नास्तीत्यावेदयति – **परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि** नीलमिदं पीतमिदमित्यादिविकल्परूपेण यदि ज्ञेयार्थं परिणमति ज्ञातात्मा **णेव खाइगं तस्स णाणं ति** तस्यात्मनः क्षायिकज्ञानं नैवास्ति। अथवा ज्ञानमेव नास्ति। कस्मान्नास्ति। **तं जिणिदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता** तं पुरुषं कर्मतापन्नं जिनेन्द्राः कर्तारः उक्तवन्तः। किं कुर्वन्तम्। क्षपयन्तमनुभवन्तम्। किमेव। कर्मैव। निर्विकारसहजानन्दैकसुखस्वभावानुभवनशून्यः सन्नुदयागतं स्वकीयकर्मैव स अनुभवन्नास्ते न च ज्ञानमित्यर्थः। अथवा द्वितीयव्याख्यानाम्–यदि ज्ञाता प्रत्यर्थं परिणम्य पश्चादर्थं जानाति तदा अर्थानामानन्त्यात्सर्वपदार्थपरिज्ञानं नास्ति। अथवा तृतीयव्याख्यानम्-बहिरङ्गज्ञेयपदार्थान् यदा छद्मस्थावस्थायां चिन्तयति तदा रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनज्ञानं नास्ति, तद्भावे क्षायिकज्ञानमेव नोत्पद्यते इत्यभिप्रायः।।४२।।

अब, ऐसी श्रद्धा व्यक्त करते हैं कि ज्ञेय पदार्थरूप परिणमन जिसका लक्षण है ऐसी (ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप) क्रिया ज्ञानमेंसे उत्पन्न नहीं होती :-

गाथा ४२

जो ज्ञेय अर्थे परिणमे ज्ञाता, न क्षायिक ज्ञान छे।
ते कर्मने ज अनुभवे छे एम जिनदेवो कहे।।४२।।

अन्वयार्थ :- [ज्ञाता] ज्ञाता **[यदि]** यदि **[ज्ञेयं अर्थं]** ज्ञेय पदार्थरूप **[परिणमति]** परिणमित होता हो तो **[तस्य]** उसके **[क्षायिकं ज्ञानं]** क्षायिक ज्ञान **[न एव इति]** होता ही नहीं। **[जिनेन्द्राः]** जिनेन्द्रदेवोंने **[तं]** उसे **[कर्म एव]** कर्मको ही **[क्षपयन्तं]** अनुभव करनेवाला **[उक्तवचन्तः]** कहा है।

टीका :- यदि ज्ञाता ज्ञेय पदार्थरूप परिणमित होता हो, तो उसे सकल कर्मवनके क्षयसे प्रवर्तमान स्वाभाविक जानपनका कारण (क्षायिक ज्ञान) नहीं है; अथवा उसे ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि प्रत्येक पदार्थरूपसे परिणतिसे द्वारा मृगतृष्णामें जलसमूहकी कल्पना करनेकी भावनावाला वह (आत्मा) अत्यन्त दुःसह कर्मभारको ही भोगता है ऐसा जिनेन्द्रोंने कहा है।

भावार्थ :- ज्ञेय पदार्थरूपसे परिणमन करना अर्थात् `यह हरा है, यह पीला है' इत्यादि विकल्परूपसे ज्ञेय पदार्थमें परिणमन करना वह कर्मका भोगना है, ज्ञानका नहीं। निर्विकार सहज आनन्दमें लीन रहकर सहजरूपसे जानते रहना वही ज्ञानका स्वरूप है; ज्ञेय पदार्थोंमें रुकना-उनके सन्मुख वृत्ति होना, वह ज्ञानका स्वरूप नहीं है।।४२।।

(**दिनांक १५-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-४०**)

`प्रवचनसार', ४२ गाथा। `**अब, ऐसी श्रद्धा व्यक्त करते हैं कि ज्ञेय पदार्थरूप परिणमन जिसका लक्षण है ऐसी** (**ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप**) **क्रिया ज्ञानमें से उत्पन्न नहीं होती :-**'

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स।
णाणं ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता।।४२।।

(हरिगीत) :-

जो ज्ञेय अर्थे परिणमे ज्ञाता, न क्षायिक ज्ञान छे।

ते कर्मने ज अनुभवे छे एम जिनदेवो कहे।।४२।।

टीका :- `यदि ज्ञाता...'** भगवान आत्मा ज्ञाता है, जाननेवाला है। वह **`...यदि ज्ञाता ज्ञेय पदार्थरूप परिणमित होता हो,...' (अर्थात्) जानने योग्य जो ज्ञेय है उसका लक्ष करके परिणमित हो **`... तो उसे सकल कर्मवन के क्षय से प्रवर्तमान स्वाभाविक जानपन का कारण (क्षायिक ज्ञान) नहीं है;...'** तो उसे क्षायिकज्ञान नहीं है। क्षायिकज्ञान तो नहीं परंतु ज्ञान ही नहीं, ऐसे यहाँ तो कहते हैं। क्यों ? (क्योंकि) आत्मा ज्ञानस्वरूप है यह एक-एक ज्ञेय को राग से जानकर परिणमित हो तब तो ज्ञान ही नहीं है। समझ में आया कुछ इसमें ?

सम्यक्ज्ञानी जीव, यह ज्ञेय जो राग है उस रूप परिणमित नहीं होता। उसने `ज्ञानस्वरूप आत्मा है' वैसा जाना है, इससे वह स्वयं ज्ञान को ज्ञेय बनाये, इस रूप परिणमित होता है। और इस (रूप) परिणमित होने से जो राग होता है उसका वह जाननेवाला है, आहा..हा...!

अज्ञानी (को), ज्ञानस्वरूप में जो परज्ञेय है (अर्थात्) भगवान वीतरागदेव सर्वज्ञ जिनेश्वर, (ऐसे) परद्रव्य का ज्ञान होने से उसमें राग होता है और रागरूप परिणमन सो ज्ञान नहीं, वह आत्मा नहीं ! आ..हा..हा...! समझ में आया ?

आत्मा चिदानंद ज्ञानस्वरूप है। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से भरा हुआ (है), ऐसा जिसे भान हो, वह ज्ञेय को जाननेपर राग होता है उस रूप परिणमित होता नहीं। सूक्ष्म बात बहुत, भाई ! है? **`यदि ज्ञाता-ज्ञेय पदार्थरूप परिणमित होता हो,...'** यानी कि, जानने में जानने योग्य पदार्थ के लक्ष में राग (रूप) होकर परिणमित होता हो तो उसे क्षायिकज्ञान नहीं है। क्षायिकज्ञान तो नहीं है परंतु उसे ज्ञान ही नहीं ! आ..हा..हा...! समझ में आया ? आत्मा जो ज्ञानस्वरूप है इसका यदि ज्ञान हो, तो परद्रव्य के - ज्ञेय के लक्ष में जो राग होता है उस रूप परिणमित हुआ नहीं। परिणमित होता है अपने ज्ञानस्वभाव से जिसमें राग होता है उसे जाननरूप परिणमित होता है। अरे... अरे... ऐसी सूक्ष्म बात लो...! समझ में आया ?

ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा ! यदि परज्ञेय का लक्ष करके राग(रूप परिणमित हो तो यह ज्ञान नहीं)। (अर्थात्) परज्ञेय का लक्ष करे अतः राग होता है। आहा..हा...! सर्वज्ञ परमेश्वर, देव, गुरु, ज्ञानी, स्त्री, पुत्र, समाज इत्यादि किन्हीं पदार्थ का लक्ष करने से राग होता है और रागरूप परिणमित हो तो यह ज्ञान नहीं, अज्ञान है। ऐसा है। समझ में आता है ? दोनों कहा - क्षायिकज्ञान

भी नहीं और ज्ञान ही नहीं, वैसे कहा। दोनों कहा न ?

पाठ में तो इतना ही है कि, क्षायिकज्ञान नहीं। पाठ में तो इतना ही है। `**परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स**' आ..हा..हा...! ज्ञाता ! `**णादा**'-ज्ञाता ! आ..हा..हा...! भगवान आत्मा तो आनंद और ज्ञानस्वरूप है। वह स्वयं अपने स्वभाव के ज्ञानरूप परिणमित होता है। परंतु इसे भूलकर परज्ञेय का विचार करनेपर, परज्ञेय तरफ झुकने से यदि राग होता है तो वह `ज्ञेयार्थकरूप' परिणमित हुआ (है)। रागरूप परिणमित हुआ सो जाननेयोग्य पदार्थरूप परिणमित हुआ, आ..हा..हा...! ऐसा सूक्ष्म है !

`जयसेनाचार्य' की टीका में लिया है। `**तस्यात्मनः क्षायिकज्ञानं नैवास्ति। अथवा ज्ञानमेव नास्ति**' यह इसमें लिया है। पाठ भले ही `क्षायिक' है। परंतु क्षायिक(ज्ञान नहीं है) अतः ज्ञान ही नहीं है। आ..हा..हा...! भगवान ज्ञानस्वरूप है, वैसा ज्ञाता-दृष्टा है। वह स्वयं ज्ञानरूप अपना स्वरूप है, (तो) इस प्रकार परिणमित होता है। परंतु, यह परज्ञेय जो है उसे जानने के लक्ष में परिणमित होता है तब उसमें राग होता है और रागरूप यदि परिणमित होता है तब ज्ञानरूप परिणमन अटक गया। अतः वह अज्ञानी है, उसे ज्ञान ही नहीं, ओ..हो..हो..हो...!

आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। उसमें ज्ञेय वस्तु नहीं है और ज्ञेय के लक्ष से जो राग होता है वह उसमें नहीं है। अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह ज्ञेयार्थ अर्थात् पर के प्रयोजन के लिये (अर्थात्) ज्ञेय को जानने के प्रयोजन में जाय तो उसे राग होता है। यह तो (हमारे यहाँ) आ गया है। `**परदव्वादो दुग्गई**' उसका यह न्याय ! आ..हा..हा...!

सर्वज्ञ प्रभु ऐसा कहते हैं कि, ज्ञानस्वरूप प्रभु है ! भगवान (ऐसा) कहते (हैं) कि, मुझे जानने से भी (राग होगा)। (क्योंकि) मैं परज्ञेय हूँ। मुझे जानने से उसका राग उपर इतना लक्ष जायगा और रागरूप परिणमित हो तो यह ज्ञान ही नहीं, आहा..हा...! (सम्यक्दृष्टि को) राग आता है परंतु राग से भिन्न है (और) यह ज्ञान आत्मारूप परिणमित होता है। अतः यह ज्ञेयार्थरूप परिणमित नहीं होता। ज्ञेय जो स्वज्ञेय (उसरूप) परिणमित होता है, आहा..हा...! समझ में आया? ये सूक्ष्म बातें हैं ! आहा..हा...!

`**यदि ज्ञाता ज्ञेय पदार्थरूप परिणमित होता हो,...**' यानी कि केवल ज्ञेयपदार्थ को जाननेरूप परिणमित होता हो तब तो राग ही हुआ। और (केवल) रागरूप परिणमित हो वह ज्ञानी नहीं, वह ज्ञान नहीं। आ..हा..हा...! यह सम्यक्ज्ञान ही नहीं। ज्ञेयार्थ ही परिणमित हो (तो वह ज्ञान ही नहीं)। `जयसेनाचार्यदेव' ने (टाका में) दो-तीन अर्थ किये हैं, परंतु मूल सार यह है। क्योंकि

जो ज्ञानस्वरूप स्वयं है, वह बंध का कारण नहीं। ४३ (गाथा में) और लेंगे। परंतु बंध का कारण तो पर को जाननेपर, पर को जानने में रुकने से जो राग होता है (वह बंध का कारण है)। आहा..हा...! रागरूप परिणमित हो, एक-एक ज्ञेय को भिन्न-भिन्न जानने के लिये परिणमित हो तो उसे ज्ञान ही न कहा जाय। तो क्षायिकज्ञान की तो बात कहाँ ? आ..हा..हा...! भारी कठिन...!

यह दया, दान, व्रत इत्यादि का जो राग है, यह परज्ञेय के प्रति लक्ष जानेसे होता है। और रागरूप परिणमित हो, वह आत्मा नहीं। वह ज्ञान नहीं, वह धर्मी नहीं, उसे धर्म नहीं ! आहा..हा...! ऐसा है ! कठिन लगे जगत को !

भगवान तो कहते हैं कि, ज्ञेय अर्थ परिणमित हो, यह ज्ञेय अर्थ परिणमित होता है (अर्थात्) उसका जो पर का जानना है उसके अर्थ परिणमित हो (वह ज्ञेयार्थ परिणमन है)। अपने ज्ञानार्थ परिणमित हो वह तो भिन्न पड़ (गया)। आहा..हा...! देव, गुरु का लक्ष हुआ तो कहते हैं - वे तो परद्रव्य हैं, वे ज्ञेय हैं। वे आत्मा का वास्तव में तो ज्ञेय हैं और उन ज्ञेय के लक्ष से जो राग होता है और रागरूप परिणमित होता है उसे ज्ञानरूप परिणमन है नहीं। वह सम्यक्ज्ञानी-धर्मी नहीं, आ..हा..हा...! समझ में आया ?

ज्ञाता-जाननेवाला प्रभु यदि परज्ञेय-पदार्थरूप परिणमित हो... परज्ञेय-पदार्थरूप परिणमित होता हुआ यानी ? कि, परपदार्थ के ऊपर लक्ष करके परिणमित होता है तो वहाँ तो राग ही है, वैसे। आ..हा..हा...! ऐसी बातें हैं ! यहाँ तो अभी देव, गुरु और शास्त्र व पर-स्त्री और बच्चें, कुटुंब का लक्ष करता है। लक्ष करने से राग होता है तो रागरूप परिणमित हो जाता है, तब उसे ज्ञान ही नहीं। वह धर्मी ही नहीं, उसे धर्म ही नहीं। आ..हा..हा...! अब, यहाँ तक जाना...!

पर का तो कर सकता नहीं, इसलिये यहाँपर वह न लेना। अब, स्वयं अज्ञान से पर को जानने के लिये राग करता है और रागरूप परिणमित हो तो ज्ञानस्वरूप परिणमित होना रह गया, रुक गया। समझ में आया ? ज्ञाता - यह तो जाननेवाला है। जाननेवाला स्व को जानने में (आये) तो ज्ञान की पर्याय होती है और यह पर्याय आगे भले ही पर को जाने। (इस प्रकार) जाने यानी कि पररूप परिणमित होता नहीं, आहा...!

यहाँपर तो कहते हैं, स्वयं ज्ञाता है वह स्वरूप परिणमित न होकर परचीज के लक्ष से परिणमित होता है, वह ज्ञेयरूप ही परिणमित होता है। क्योंकि परलक्ष से परिणमित होता है तो उसे राग होता है। जैसे परवस्तु ज्ञेय है, वैसे राग भी निश्चय से तो ज्ञेय है। आ..हा..हा...! कठिन बात...! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा का स्वरूप अलौकिक है !!

(यहाँपर) ऐसे कहते हैं कि, जो परज्ञेयार्थ परिणमित होता (है) उसे सम्यक्ज्ञान नहीं है। अर्थात् उसे सर्वज्ञपद की प्राप्ति नहीं होगी। परंतु जो कोई स्व-ज्ञाता है इसके लक्ष से ज्ञानरूप परिणमित होगा, निर्विकल्प शांतिरूप (परिणमित होगा उसे सर्वज्ञपद की प्राप्ति होगी)। और राग होते हुए भी उस संबंध का ज्ञान - अपने संबंध का ज्ञान होनेपर उसका (राग का) ज्ञान होता है। यह तो सम्यक्ज्ञानी (की बात कही)। परंतु स्वज्ञान को छोड़कर परज्ञेय अर्थात् आत्मा के सिवा परज्ञेय के अर्थ (अर्थात्) उसके अर्थ... ऐसा है न ? `**णेयमट्ठं**' ! `**णंयमट्ठं**' (अर्थात्) परज्ञेय के लिये परिणमित होता है, (वह अज्ञानी है)। ऐसा है। आहा..हा...!

आ..हा..हा...! यह `प्रवचनसार' ! भगवान तीनलोक के नाथ की दिव्यध्वनि !! उसमें यह आया है !! आ..हा..हा...! जैनधर्म ऐसा सूक्ष्म है ! हाल में तो सुनने मिलता नहीं।

भगवान की भक्ति करे तो यह परज्ञेयरूप - रागरूप परिणमित होता है। और स्वज्ञेय को भूलकर रागरूप परिणमन करे तो यह ज्ञान ही नहीं। आ..हा..हा...! बहुत अच्छी गाथा है !! `पर से खिसक ! स्व में बस ! इतना बस' यह बस ! परंतु जिसे स्व तरफ का आश्रय नहीं और वह ज्ञेय को जानने - परज्ञेय को जानने जाता है (तो रागरूप परिणमित होता है)। यह पहले आ गया था - धर्मास्ति को जानते हुए जो विकल्प उठता है, वह विकल्प का कर्ता होता है, वह परद्रव्य का कर्ता होता है, आ..हा..हा...! समझ में आया ? एक-एक गाथा बढ़िया आती है !!

शरीर, वाणी, मन-जड़रूप तो अज्ञानी भी कभी भी परिणमित नहीं होता। परंतु अज्ञानी, स्व-स्वस्वरूप जो ज्ञाता (है) उस ज्ञातारूप परिणमित होना चाहिये, उसे छोड़कर ज्ञेयार्थ (परिणमित होता है), जानने योग्य पदार्थ के प्रयोजन - उसके अर्थ जो परिणमित होता है, वहाँ उसका ज्ञान क्षायिक नहीं, वैसे तो उसे ज्ञान ही नहीं, आहा..हा...! समझ में आया ?

भगवान की भक्ति का या यात्रा का राग होता है, वह रागरूप परिणमित होता है, वह परज्ञेयार्थ परिणमित होता है, आहा..हा...! समझ में आया ? (वह) ज्ञान ही नहीं। ऐसी बात है! अरे..रे...! क्या करे ? ज्ञेय जो आत्मा-स्वज्ञेय, उसके अर्थ परिणमित हो सो तो यथार्थ ज्ञान (है)। परंतु स्वज्ञेय को छोड़कर, आत्मा के सिवा परपदार्थ के लक्ष से ज्ञेयार्थ परिणमन हो, वहीं पर को जानने के समय उसे राग उत्पन्न होता है। आहा..हा...! और जो रागरूप परिणमित होता है उसे ज्ञान ही नहीं है। वह सम्यक्दृष्टि नहीं, वह ज्ञान नहीं। आ..हा..हा...! ऐसी बात है ! समझ में आया ? है (अंदर) ?

`**...उसे सकल कर्मवन के क्षय से प्रवर्तमान स्वाभाविक जानपना का कारण** (**क्षायिकज्ञान**)

नहीं है;...' आ..हा..हा...! भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर लोकालोक को जानते हैं परंतु यह स्व को जानने में ज्ञान परिणमन में ज्ञात हो जाता है। यह वास्तव में तो अपनी ज्ञानपर्याय ज्ञात होती है। आहा..हा...! समझ में आया ? परंतु जिसे यह आत्मा चिदानंद ज्ञाता है (इसका ज्ञान नहीं) और रागरूप परिणमित (होता है) यह उसका स्वभाव ही नहीं। ज्ञानरूप परिणमन करना - परिणमित होना उसका स्वभाव है। आ..हा..हा...! ऐसी बातें हैं ! (परंतु) वह स्वयं ज्ञानार्थ न परिणमन करता हुआ, ज्ञेयार्थ परिणमित होता (है)। आ..हा..हा...!

जो आत्मा में परज्ञेय जानने के अर्थ (ज्ञान) प्रवर्तमान है यह उसका ज्ञान ही नहीं। उसे धर्मी कहते नहीं, उसे ज्ञान भी कहते नहीं। आ..हा..हा...! आत्मा अंदर जो आनंद का कंद प्रभु ! वह स्वयं ज्ञानस्वरूप, आनंदस्वरूप, शांतिस्वरूप राग से भिन्न होकर परिणमित होना चाहिये वह परिणमित न होते हुए... आ..हा..हा...! भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ऐसा फरमाते (हैं कि), मुझे जानने में रुकने से जो राग होता है और उस रूप परिणमित होता है तो यह उसका ज्ञान नहीं। आहा..हा...! वह ज्ञान मिथ्या है और मिथ्याज्ञान संसार में भटकने का कारण है। अरे..रे..रे...! समझ में आता है ?

`**...अथवा उसे ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि प्रत्येक पदार्थरूप से परिणति के द्वारा मृगतृष्णा में जलसमूह की कल्पना करने की भावनावाला...**' (अर्थात्) उसका मानसिक ज्ञान ही पर को जानने की कल्पनावाला है। (उसमें) स्व को जानने का रह गया। आहा..हा...! बहुत कठिन काम! अरिहंतदेव की प्रतिमा या अरिहंत भगवान साक्षात् समवसरण में बिराजमान हो, परंतु उसे परज्ञेय है (उस) रूप परिणमन हो तो वह राग है और रागरूप परिणमित होता है वह ज्ञानरूप परिणमित होता नहीं। आ..हा..हा...! ऐसी बात अब सुनने मिली (न हो) ! (इस समझ के बिना) उसके जन्म-मरण नहीं मिटेंगे ! आ..हा..हा...! वैसी भगवान की पुकार है !!

तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का ऐसा कथन है कि, जो स्वयं ज्ञाता स्वरूप है, उसे स्वज्ञेयरूप प्रयोजन से नहीं परिणमित होनेपर, हमारा लक्ष करके जो रागरूप परिणमित होता है, वह परज्ञेयार्थ ही परिणमित होता है ! रागरूप परिणमित हुआ वह परज्ञेय के अर्थ (ही परिणमित हुआ)। (क्योंकि) राग पर है। (अत:) वह परज्ञेयार्थ ही परिणमित हुआ, आ..हा..हा...! ऐसा सूक्ष्म है ! उसे (हम) धर्मी कहते नहीं, उसे ज्ञान कहते नहीं। आहा...! उसे धर्म की ख़बर नहीं, ऐसा कहते हैं। आ..हा..हा...! यहाँ(तक) जाना है ! अभी तो (जीव) `बाहर के कार्य कर सकता हूँ, ऐसा कर सकता हूँ।' आ..हा..हा...! यह तो अज्ञानभाव है !

यह तो सुबह में आया था - अपने ज्ञानरूप परिणमित हो या रागरूप परिणमित हो (परंतु) अपने भावरूप (परिणमित होता है)। यह अपना भाव है। रागरूप परिणमित हो यह भी अपना मिथ्यात्व का भाव है। और शुद्धज्ञानरूप परिणमित हो सो (भी) अपना भाव है। इसलिये या अज्ञान से रागरूप परिणमित हो या ज्ञानरूप वीतराग आनंदरूप परिणमित हो। परंतु पर का तो कुछ भी कर सकता नहीं। सुबह में आया था। समझ में आया ? श्लोक आया था न ? चाहे तो आत्मा ज्ञानरूप, आनंदरूप हो तो यह अपना स्वभाव है और वह अपने स्वभाव को भूलकर दया, दान और रागादि (रूप) परिणमित हो यह भी अपना ही विकारभाव है, मिथ्यात्वभाव है। मिथ्यात्वभावरूप परिणमित हो या सम्यक्‌भाव से परिणमित हो, यह आत्मा स्वतंत्र है, आहा...! परंतु पर का कुछ (परिणमन करावे) या कुछ कर सके (यह वस्तु के स्वरूप में नहीं)। आहा..हा...! ऐसी बात...!

भगवान की भक्ति में स्वाहा... (करते हैं), यह क्रिया तो आत्मा कर ही सकता नहीं। परंतु इसमें जो राग होता है यह रागरूप परिणमित हो तो (यह) परज्ञेयार्थ परिणमित हुआ है, यह ज्ञान नहीं है। आ..हा..हा...! ऐसी बात...! जगत को वीतराग मार्ग सुनने मिला नहीं ! वैसे ही वैसे अनादि से ढकोसले किये ! जैन में पैदा हुआ उसने (भी) ! आहा..हा...!

`**...क्योंकि प्रत्येक पदार्थरूप से परिणति के द्वारा मृगतृष्णा में जलसमूह की...**' (अर्थात्) जिस प्रकार मृगजल में पानी नहीं होते हुए भी मृग पानी समझकर दौड़ता है, आहा...! वैसे परज्ञेय जानने के लिये (अज्ञानी दौड़ता है उसे) ज्ञान नहीं है। यह तो परद्रव्य को जानने जाता है तब वहाँ राग होता है, आहा..हा...! मृग जिस प्रकार मृगजल देखकर पानी पीने के लिये दौड़ता रहता है, वैसे भगवान आत्मा का ज्ञान स्व-पर को जानने का है। यदि वह स्व तरफ झुककर जाने तब तो स्व-पर का (यथार्थ) ज्ञान होता है। (परंतु) स्व को भूलकर और परज्ञेयरूप जानने के प्रयोजन से परिणमित हो (तो वह ज्ञान ही नहीं है), आ..हा..हा...! ऐसी बात अब...! अब तक तो यहाँ दुकान-धंधे का काम कर सकता हूँ, यह छोड़ता नहीं ! लड़कों से काम करवाना, औरतों से काम करवाना, पर से काम करवाना - यह कर सकता हूँ, वैसा मानता है। मानता है (परंतु कर सकता नहीं)। यह तो कहते हैं, गलत बात है, परंतु अपना स्वरूप जो चिदानंद ज्ञानस्वरूप प्रभु ज्ञाता... आ..हा..हा...! `**परिणमदि णयमट्ठं णादा**' ज्ञाता...! आ..हा..हा...! भगवान ज्ञाता आत्मा, परज्ञेय के अर्थ परिणमित हो (तब) स्वज्ञेय के अर्थ परिणमित होने का उसका हुआ नहीं। उस ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं, आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ? गाथा बहुत (अच्छी आ गई) !!

श्रोता :- सारा ज्ञाता-दृष्टापना आ गया !

पूज्य गुरुदेवश्री :- ज्ञाता है न ! जाननेवाला जाननरूप न परिणमित होकर, जाननेवाला ज्ञेयरूप परिणमित होने से जो राग होता है उस रागरूप परिणमित होता है सो ज्ञान नहीं है, आ..हा..हा...! राग होता है उसे ज्ञानरूप (-ज्ञातारूप) जानता हुआ उसे जानता है, राग को (मात्र) जानता है। परंतु रागरूप परिणमित हो, वह ज्ञान नहीं। आ..हा..हा...! ऐसी बातें...! जगत को कहाँ रहना है और कहाँ जाना है ? आहा...! कठिन लगे यह ! (कुछ लोग कहते हैं) `यह `सोनगढी' है !!' यह `सोनगढ' का है ? किसका है यह ? `सोनगढ' ने ऐसा निकाला ! अनंत अनंत तीर्थंकरों ने यह कहा है। आहा...!

(यहाँपर कहते हैं) `मृगतृष्णा में जलसमूह की कल्पना करने की भावनावाला वह (आत्मा) अत्यंत दुःसह कर्मभार को ही भोगता है...' आ..हा..हा...! आत्मा को छोड़कर परज्ञेय की ओर जानेवाले राग (में) `**...दुःसह कर्मभार को ही भोगता है...**' (अर्थात्) राग को भोगना यह कर्मभार है ! राग का बोझा है। आहा...! राग के भार को - बोझ (को) भोगता है। भगवान आत्मा राग से रहित है इसका उसे ज्ञान नहीं, इसका उसे भान नहीं, आहा...!

आहा...! जाननेवाला जानने में आता है यह तो ज्ञान का परिणमन है। जाननेवाला पर को जानने जाये और उसमें राग हो (सो ज्ञान नहीं), आहा..हा...! `पद्मनंदीपंचविंशती' में आया है न भाई ! कि `शास्त्र में बुद्धि जाती है सो व्यभिचारिणी है !' आहा..हा...! यह `परघर' जाती है। आ..हा..हा...! ज्ञानी को शास्त्रवाचन हो, तथापि राग है, इसका वे ज्ञान करते हैं। और इस राग में एकाकार होती है वह व्यभिचारिणी बुद्धि है। स्व को छोड़कर पर का संयोग किया वह व्यभिचारी है ! आ..हा..हा...! (उसका ज्ञान परिवर्तन करता है) यह तो उसका क्षयोपशम पूरा नहीं है इसलिये। परंतु राग नहीं। ज्ञेयपरिवर्तन तो बारहवें (गुणस्थान) तक है। है न सब ज्ञान है ! परंतु इसको अभी कहाँ बीच में लें ! यह तो अपूर्ण ज्ञान (है) इसलिये पलटता है। परंतु यहाँ तो पर के जानने से ज्ञान रूकता है यह रागरूप परिणमित होता है, ऐसी बात है। समझ में आया कुछ ? आ..हा..हा...! भारी कठिन कार्य !

ये सब यात्राएँ निकलती हैं न उनको ऐसा कहे कि, `यह राग है और यह रागरूप परिणमन हो सो अज्ञान है !' हाय.. हाय...! (एक भाई) यात्रा करके आये और यहाँपर (व्याख्यान में) ऐसा आया कि, `यात्रा का भाव है सो राग है और राग है सो बंध का कारण है !' (सुनकर) भड़के...! आ..हा..हा...! बहुत साल पहले की बात है ! यात्रा करके आये तो जैसे धर्म हो गया...! अरे...!

सुन तो सही... तेरे पालीताणा क्या, गिरनार, शत्रुंजय, सम्मेदशिखर की यात्रा कर न...! यह तो राग है। और रागरूप परिणमन होना और ज्ञातापना से छूटना यह तो मिथ्यात्व है ! अरे..रे..रे...! ऐसी बातें अब...! कहाँ कहें ? किसे कहें ? आहा..हा...! यहाँ तो अबतक सारा दिन - `यह मैं ने किया व यह किया... और यह किया...! व्यवस्थित काम करने के लिये मैं बैठता हूँ तब व्यवस्थित काम चलता है ! दूसरा कोई दुकान पर बैठे तब व्यवस्थित काम नहीं चलता ! नौकर से सब काम व्यवस्थित नहीं होता ! परंतु मैं सब व्यवस्थित करता हूँ !' नहीं ? लड़कों को भी बैठाये तो व्यवस्थित काम नहीं चलता और स्वयं बैठे ! सुन तो सही...! वहाँ जड़ के काम तो जो क्रमबद्ध होनेवाले हैं (सो) होंगे, आ..हा..हा...!

कल कहा था न ? `भवितव्य' ! `स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में है - `भवतव्य' ! समकिती श्रावक आत्मज्ञानी जो है वह स्वयं आगे व्यापार छोड़े और निवृत्ति में रहते हैं (तो ऐसी भावना करते हैं कि) `व्यापार होनेवाला सो होगा, भवितव्य होगा सो होगा। यह मैं करुँ तो होगा, वैसा है नहीं। ' `स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में ३८८-३८९ (गाथा है)। आहा..हा...!

(ईश्वरकर्तावाले) ऐसा कहते हैं कि, `बिना ईश्वर के पत्ता हिले नहीं !' आज पढ़ने में आया है - `जैनी `ईश्वर' को मानते नहीं ! और बिना इश्वर के पत्ता हिले नहीं !' हमने यह `गढडा' में सुना था, १९६९ की साल ! दीक्षित होने से पहले ! मैं और (दूसरे भाई) देखने गये थे। हमारा तो मूल वतन ही था वह ! हमारे पिताजी वहाँ के थे और प्रसिद्ध `गिगा कुरा' बड़े ! उसे (वहाँ के साधु को) पता था कि यह दीक्षा लेनेवाला है ! (इसलिये कहा) कि, `बिना ईश्वर के पत्ता भी हिलता नहीं !' १९६९ की साल ! दीक्षा के पहले...! अरे...! क्या करता है यह ? (वहाँ) जिस प्रकार ईश्वरकर्ता मानते हैं वेसे ये राग का कर्ता मानते हैं और रागरूप परिणमित होता है, वे दोनों एक जाति के हैं !! ऐसी बात है !

हमारे (संप्रदाय के) गुरु थे उनको भी कोई जानकारी न थी। (वे कहते थे) `दया पालना, व्रत करना, परजीव को न मारना - यह जैन सिद्धांत का सार है !' यहाँपर कहते हैं कि, परजीव को जिलाना ऐसा भाव सो राग (है) और रागरूप परिणमित होना सो मिथ्यात्व (है)। ऐसा कहीं भी आपने दिगंबर में सुना था ? आहा...!

(यहाँपर कहते हैं, ज्ञेयपदार्थरूप परिणमित जीव) `**...दुःसह कर्मभार को ही भोगता है...**' भाषा देखी ? आहा..हा...! दुःखरूप कर्मभार ! रागरूप परिणमित होता है सो दुःखरूप परिणमित होता है, दुःख का बोझ ढोता है। आनंद का नाथ परंतु दुःख का बोझ ढोता है,

आ..हा..हा...! समझ में आया ? `**...ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।**' है ? `**णाणं ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता**' आहा...! है न ? `जिनदेव कहे' यह आया न ? `**वुत्ता**'...`**वुत्ता**' (अर्थात्) कहूँगा !

भगवान जिनेन्द्र सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने ऐसा कहा कि, जो कोई हमारे सामने (देखेगा उनके लिये) हम परज्ञेय हैं (अतः) तुझे राग होगा, परद्रव्य के अनुसरण से राग होगा। स्वद्रव्य अनुसरण से वीतरागता होगी। स्वद्रव्य स्वभाव के अनुसरण से वीतरागता होगी। परद्रव्य के अनुसरण से राग होगा। यदि रागरूप परिणमित हुआ तो ज्ञेयार्थरूप परिणमित हुआ तो तेरा ज्ञेय रह गया। स्वज्ञेय रह गया, आ..हा..हा...! ऐसी बात...!

(एक साधु थे)। वे हमारे पास `लींबडी' में आये थे। आकर कहा, `हम चर्चा करेंगे !' हमने कहा `हम चर्चा करते नहीं।' (उन्होंने कहा) `अरे...! आपका कितना नाम ! आपका इतना बड़प्पन, आप चर्चा नहीं करते तो आपकी इसमें क्या आबरु ?!' हमने कहा `जैसा भी मानो...!' क्योंकि `कुंदकुंदाचार्य' कहते हैं कि, `कर्म अनेक प्रकार के, लब्धि-क्षयोपशम अनेक प्रकार के, मान्यता, स्वच्छंद अनेक प्रकार के (हैं) इसलिये तू किसी के साथ वाद-विवाद करना नहीं !' `नियमसार' में कहा है। कौन सी अपेक्षा है ? और कौन सी लाईन है ? इसके ज्ञान बिना दूसरा ही कुछ निकालेगा, शास्त्र में से निकालेगा। देखिए ! भगवान ने उपकार किया कि नहीं ? परंतु बापू ! उपकार माने क्या ? यह वाणी निकली और जो समझे उसे निमित्त हुआ। और यह निमित्त हुआ इससे ज्ञान हुआ, यह भी अभी ज्ञान नहीं ! आ..हा..हा...! भगवान की जो वाणी सुनी कि, मार्ग यह है ! ऐसा उसके ज्ञान-लक्ष में आया। परंतु यह ज्ञान जो लक्ष में आया सो परलक्षीज्ञान है। वह परलक्षी ज्ञान से सम्यग्दर्शन नहीं होता ! आ..हा..हा...! ऐसी बातें (कठिन) लगे ! क्या करे ?

स्व चैतन्य ज्ञान का सागर प्रभु है, जिसे राग और पर्याय की अपेक्षा नहीं, वैसी स्वचैतन्यमूर्ति का आश्रय लो ! और सारे जैनशासन का, चारों अनुयोग का तात्पर्य तो `वीतरागता' है। और वीतरागता, यह वीतराग जैनस्वरूप प्रभु के आश्रय से उत्पन्न होती है। अतः वास्तव में चारों अनुयोग का सार - स्व का आश्रय करना (सो है)। आ..हा..हा...! और पर का आश्रय करने जायेगा तो उसे राग होगा और वह दुःसह कर्म के भार को ढोता है। यह ज्ञान की निर्मलता को करता नहीं। आ..हा..हा...! ऐसी बात कहाँ थी, बापू ! जिनेन्द्र की पुकार है, ऐसा कहते हैं। है न पाठ ? `जिणिंदा' !

जिनेश्वर तीनलोक के नाथ सर्वज्ञ प्रभु ! ऐसे फरमाते हैं कि, जो कोई परज्ञेयार्थ लक्षकर

राग करेगा और पर को जानने में रुकेगा, वह रागरूप परिणमित परज्ञेय(रूप) परिणमित है। उस ज्ञान को `मिथ्याज्ञान' कहा जाता है, आ..हा..हा...! ऐसा कहाँ सुना था ? (श्रीमद्वाले भी) ऐसा मानते हैं न कि, `भक्ति करते-करते होगा !' यह पर की भक्ति है सो भी राग है। और स्व को भूलकर रागरूप परिणमित होना यह मिथ्याज्ञान है, आ..हा..हा...! ऐसी बात है ! सहन करना कठिन ! आहा...! अतः लोगों को ऐसा (लगता है) कि, `ये तो सब व्यवहार का नाश करते हैं !' व्यवहार को व्यवहाररूप रखते हैं परंतु ज्ञान में इसे ज्ञेयरूप जानते हैं। व्यवहार रखते हैं, व्यवहार है। परंतु इस व्यवहार का स्वज्ञान में परज्ञेय (रूप) ज्ञान करते हैं। आहा..हा...!

इसमें `जयसेनाचार्य' ने दो-तीन बोल उतारे हैं। `**ज्ञाता प्रत्यर्थ परिणम्य पश्चादर्थ जानाति तदा अर्थानामानन्त्यात्सर्वपदार्थपरिज्ञानं नास्ति**' (अर्थात्) एक के बाद एक जाने तो उसे सर्व ज्ञान नहीं है, ऐसा। है ? (ऐसे) दो व्याख्यान हैं, हाँ...! पहला व्याख्यान यह किया (कि) `**ज्ञानमित्यर्थः**' पर में ज्ञेयार्थ परिणमित होता है, यह पहला (व्याख्यान)।

(दूसरा व्याख्यान) - `**द्वितीयव्याख्यानाम्-यदि ज्ञाता प्रत्यर्थ परिणम्य पश्चादर्थ जानाति...**' पहले एक को जाने बाद में दूसरे को जाने, `**तदा अर्थानामानन्त्यात्सर्वपदार्थपरिज्ञानं नास्ति**' (अर्थात्) एक के बाद एक को जाने तो उसे सर्वज्ञान नहीं है।

तृतीय (व्याख्यान) - `तृतीयव्याख्यानम्-बहिरऽगज्ञेयपदार्थान् यदा छद्मस्थावस्थायां चिन्तयति तदा रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनज्ञानं नास्ति' आहा..हा...! क्या कहा ? भले ज्ञान हो परंतु राग में विचार आया है और रागरूप परिणमित नहीं है फिर भी वहाँ स्वसंनेदनज्ञान नहीं है। स्थिरता - अनुभव नहीं। सम्यक्ज्ञान है परंतु स्वसंवेदनज्ञान अंदर वेदन में नहीं, आ..हा..हा...! अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञान ही नहीं। आ..हा..हा...!

केवल परपदार्थ के चिंतवन में रुक गया उसे रागादि विकल्परहित स्वसंवेदन ही नहीं। आहा..हा...! ऐसा जिनेन्द्रदेवों ने कहा है। है ? `**...ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है।**' अपने स्वभाव का आश्रय छोड़कर, परपदार्थ का आश्रय लेकर जो राग होता है, वह एक-एक करके पर को जानते... जानते... जानते... वह पूर्ण नहीं जान पायेगा, और एक-एक को जानने में रुकनेपर उसे राग से सर्वज्ञपद नहीं होगा। वर्तमान सर्वज्ञ तो नहीं है परंतु रागरूप परिणमित होगा उसे सर्वज्ञपद भी नहीं होगा। आ..हा..हा...! जो राग से भिन्न होकर स्वसंवेदनज्ञान करेगा उसे सर्वज्ञपना प्राप्त होगा। आहा..हा...! ऐसी बात...! अरबों रुपये (देने पर भी) मिले नहीं ऐसी है। भगवान की वाणी का मूल्य क्या !? अमूल्य बात है, बापू ! आहा...! ओ..हो..हो...!

भावार्थ :- `ज्ञेय पदार्थरूप से परिणमन करना अर्थात् `यह हरा है, यह पीला है' इत्यादि विकल्परूप से ज्ञेय पदार्थों में परिणमन करना...' ऐसे। स्पष्टता की है। `यह हरा है, यह पीला है' वैसे एक-एक ज्ञेय में `**...विकल्परूप से ज्ञेय पदार्थों में परिणमित होना...**' (अर्थात्) राग होकर `यह ऐसा है व वैसा है' (वैसे) वहाँ रुककर परिणमित होना। `**...वह कर्म का भोगना है,...**' यह राग का अनुभव है। `कर्म' अर्थात् विकारी परिणाम का उसे अनुभव है। उसे आत्मा का अनुभव नहीं, आ..हा..हा...!

`**-`यह हरा है, यह पीला है' इत्यादि...**' अथवा `ये भगवान हैं, यह स्त्री है, यह पैसा है' ऐसे विकल्प अर्थात् रागरूप `**...ज्ञेय पदार्थों में परिणमन करना यह कर्म का भोगना है,...**' यह राग का अनुभव है, आत्मा का नहीं, आ..हा..हा...! वह राग का अनुभव कर रहा है, जो (अपना) स्वरूप नहीं, आ..हा..हा...!

(यह) `**...ज्ञान का भोगना नहीं।**' आत्मा आनंदस्वरूप प्रभु यह राग में परिणमित हो वह दुःख में परिणमित (है), दुःख का अनुभव है। इसे आनंद का अनुभव नहीं। आनंद इसका स्वरूप है, वीतराग इसका स्वरूप है, इस रूप परिणमित होता नहीं, आ..हा..हा...!

`**निर्विकार सहज आनंद में लीन रहकर सहजरूप से जानते रहना वही ज्ञान का स्वरूप है;...**' आ..हा..हा...! निर्वीकारी स्वाभाविक आनंद में लीन होकर सहजता से जानते रहना... आ..हा..हा...! स्वयं को जानते हुए पर को सहजता से जानते रहना `**...वही ज्ञान का स्वरूप है;...**' आहा..हा...! कठिन काम बहुत !

आज (लेख) आया है - `एकांत है, मार्ग तो अनेकांत है।' परंतु अनेकांत माने क्या ? रागरूप परिणमन हो सो भी धर्म है और स्वभावरूप परिणमित हो सो भी धर्म है ! ऐसा अनेकांत (है) ? अब तो `क्रमबद्ध'में से अनेकांत निकालेंगे ! (परंतु लोग इस प्रकार निकालेंगे कि) `एकांत क्रमबद्ध है, वैसा नहीं।' (अन्य बड़े विद्वान ने भी) यह कहा था न ! कि, `एकांत इसके आगे यही होता है और इसके आगे यही होता है, वैसा क्रमबद्ध नहीं ! एक के बाद एक हो परंतु इसके आगे यही हो, वैसा नहीं !' परंतु यह बात थी नहीं इसलिये बेचारे क्या करे ? आहा..हा...! ऐसा कहते हैं कि, क्रमबद्ध ही हो तब तो अनेकांत न रहा ! परंतु क्रमबद्धपर्याय है और गुण अक्रम है - यह अनेकांत है। समझ में आया ? पर्याय क्रमबद्ध है (और) गुण अक्रमरूप है। यह अनेकांत है। परंतु पर्याय क्रमबद्ध भी है और अक्रम भी है - सो एकांत है, आहा..हा...!

(यहाँपर कहते हैं) `**...सहज आनंद में लीन रहकर सहजरूप से जानते रहना वही ज्ञान**

का स्वरूप है; ज्ञेय पदार्थों में रुकना-...' देखा ? मूल (बात) तो यह है। स्वयं को जानना छोड़कर पर को जानने में रुका रहना... '**...उनके सम्मुख वृत्ति होना,...**' (अर्थात्) परसम्मुख। '**...वह ज्ञान का स्वरूप नहीं।**' 'भावार्थ' में बहुत सुंदर स्पष्ट किया है ! समझ में आया ? परज्ञेयों में भगवान भी पर हैं ! गुरु भी पर हैं ! धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय पर हैं। स्त्री इत्यादि का जीव भी पर हैं। इन पर के जानने में अटकना, उनके सम्मुख वृत्ति होना, सो ज्ञान का स्वरूप नहीं। आहा...! ऐसी बात है ! यह अज्ञान है, मिथ्यात्व है। जिस मिथ्यात्व में अनंत भव करने की ताक़त है। (यह ४२ गाथा पूर्ण हुई)। (४३ गाथा)।

❁ ❁ ❁

अथ कुतस्तर्हि ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया तत्फलं च भवतीति विवेचयति–

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि।।४३।।

उदयगताः कर्मांशा जिनवरवृषभैः नियत्या भणिताः।
तेषु विमूढो रक्तो दुष्टो वा बन्धमनुभवति।।४३।।

संसारिणो हि नियमेन तावदुदयगताः पुद्‌गलकर्मांशाः सन्त्येव। अथ स सत्सु तेषु संचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यते। तत एव च क्रियाफलभूतं बन्धमनुभवति। अतो मोहोदयात् क्रियाक्रियाफले, न तु ज्ञानात्।।४३।।

अथानन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणमनेऽपि ज्ञानं बन्धकारणं न भवति, न च रागादिरहित-कर्मोदयोऽपीति निश्चिनोति–**उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया** उदयगता उदयं प्राप्ताः कर्मांशा ज्ञानावरणादिमूलोत्तरकर्मप्रकृतिभेदाः जिनवरवृषभैर्नियत्या स्वभावेन भणिताः, किंतु स्वकीयशुभाशुफलं दत्वा गच्छन्ति, न च रागादिपरिणामरहिताः सन्तो बन्धं कुर्वन्ति। तर्हि कथं बन्धं करोति जीवः इति चेत्। **तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बन्धमणुभवदि तेषु** उदयागतेषु सत्सु कर्मांशेषु मोहरागद्वेषविलक्षणनिजशुद्धात्मतत्त्वभावनारहितः सन् यो विशेषेण मूढो रक्तो दुष्टो वा भवति सः केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिलक्षणमोक्षाद्विलक्षणं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेश-भेदभिन्नं बन्धमनुभवति। ततः स्थितमेतत् ज्ञानं बन्धकारणं न भवति कर्मोदयोऽपि किंतु रागादयो बन्धकारणमिति।।४३।।

(यदि ऐसा है) तो फिर ज्ञेय पदार्थरूप परिणमन जिसका लक्षण है ऐसी (ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप) क्रिया और उसका फल कहाँसे (किस कारणसे) उत्पन्न होता है, ऐसा अब विवेचन करते हैं :-

गाथा ४३

भाख्यां जिने कर्मो उदयगत नियमथी संसारीने।
ते कर्म होतां मोही-रागी-द्वेषी बंध अनुभवे।।४३।।

अन्वयार्थ :- [उदयगताः कर्मांशाः] (संसारी जीवके) उदयप्राप्त कर्मांश (ज्ञानावरणीय आदि पुद्‌गलकर्मके भेद) **[नियत्या]** नियमसे **[जिनवरवृषभैः]** जिनवर वृषभोंने **[भणिताः]**

कहे हैं। **[तेषु]** जीव उन कर्मांशोंके होने पर, **[विमूढः रक्तः दुष्टः वा]** मोही, रागी अथवा द्वेषी होता हुआ **[बन्धं अनुभवति]** बन्धका अनुभव करता है।

टीका :- प्रथम तो, संसारीके नियमसे उदयगत पुद्गल कर्मांश होते ही हैं। अब वह संसारी, उन उदयगत कर्मांशोंके अस्तित्वमें, चेतते-जानते-अनुभव करते हुए, मोह-राग-द्वेषमें परिणत होनेसे ज्ञेय पदार्थोंमें परिणमन जिसका लक्षण है ऐसी (ज्ञेयार्थपरिणमन स्वरूप) क्रियाके साथ युक्त होता है; और इसीलिये क्रियाके फलभूत बन्धका अनुभव करता है। इससे (ऐसा कहा है कि) मोहके उदयसे ही (मोहके उदयमें युक्त होनेके कारणसे ही) क्रिया और क्रियाफल होता है, ज्ञानसे नहीं।

भावार्थ :- समस्त संसारी जीवोंके कर्मका उदय है, परन्तु वह उदय बन्धका कारण नहीं है। यदि कर्मनिमित्तक इष्ट-अनिष्ट भावोंमें जीव रागी-द्वेषी-मोही होकर परिणमन करे तो बन्ध होता है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान, उदयप्राप्त पौद्गलिक कर्म या कर्मोदयसे उत्पन्न देहादिकी क्रियाएं बन्धका कारण नहीं हैं, बन्धके कारण मात्र राग-द्वेष-मोहभाव हैं। इसलिये वे भाव सर्वप्रकारसे त्यागने योग्य हैं।।४३।।

`**(यदि ऐसा है) तो फिर ज्ञेय पदार्थरूप परिणमन जिसका लक्षण है ऐसी (ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप) क्रिया और उसका फल कहाँसे (किस कारण से) उत्पन्न होता है, ऐसा अब विवेचन करते हैं:-** अब ४३ गाथा का प्रश्न उठा। ज्ञेयपदार्थरूप परिणमन में रुककर रागरूप परिणमित होना `**...जिसका लक्षण है ऐसी (ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप) क्रिया और उसका फल कहाँसे (किस कारण से) उत्पन्न होता है, ऐसा अब विवेचन करते हैं:-**'

उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि।।४३।।

भाख्यां जिने कर्मो उदयगत नियमथी संसारीने ।
ते कर्म होतां मोही-रागी-द्वेषी बंध अनुभवे।।४३।।

ओ..हो..हो...! ४३ है न? (इसकी टीका) `**प्रथम तो, संसारी के नियम से उदयगत पुद्गल कर्मांश होते ही हैं।**' संसारी को कर्म का उदय तो निश्चय से होता है। `**अब वह संसारी, उन उदयगत कर्मांशों के अस्तित्व में,...**' जड़ कर्म का उदय है न `**...उन उदयगत कर्मांशों के**

अस्तित्व में, चेतते-जानते-अनुभव करते हुए, मोह-राग-द्वेष में परिणत होने से...' उनकी ओर ज्ञान करने से (और उनमें) रुकने से, यह उदय है इसलिये यहाँ बंध होता है, ऐसा नहीं। भगवान आत्मा का ज्ञानस्वभाव बंध का कारण नहीं वैसे कर्म का उदय बंध का कारण नहीं। बंध का कारण तो उनकी ओर का लक्ष करके, राग-द्वेष-मिथ्यात्व (रूप परिणमित होता है) वह बंध का कारण है। आहा..हा...! अंदर टीका में भी है और यहाँ खुलासा किया है।

`**अब वह संसारी, उन उदयगत कर्मांशों के अस्तित्व में,...**' (अर्थात्) कर्म का उदय भले ही है, परंतु `**...चेतते-जानते-अनुभव करते हुए, मोह-राग-द्वेष में परिणत होने से...**' यह कर्म का उदय है इसलिये यहाँ विकार होता है, ऐसा नहीं। कर्म का उदय है इसलिये वह बंध के भाव का अनुभव करता है, ऐसा नहीं। आ..हा..हा...! `**...मोह-राग-द्वेष में परिणत होने से ज्ञेय पदार्थों में परिणमन जिसका लक्षण है ऐसी (ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप) क्रिया के साथ युक्त होता है;...**' (यानी कि) विकार के साथ युक्त होता है, ऐसा कहते हैं। कर्म का उदय है इसलिये बंध नहीं है, ज्ञानस्वभाव है सो बंध का कारण नहीं। मात्र उनमें राग, द्वेष व मिथ्यात्वरूप परिणमित होता है वह बंध का कारण है। समझ में आया ? कोई ऐसा कहे कि, `कर्म का उदय है इसलिये हमें विकार करना पड़े !' यह बात गलत है। तीन बोल लिये। ज्ञानस्वरूप भगवान वह भी बंध का कारण नहीं। जड़ कर्म का उदय वह बंध का कारण नहीं। मात्र उसमें मोह, राग, द्वेष करे तो यह बंध का कारण है। आहा..हा...! अर्थात् इसमें ऐसा आ गया कि, कर्म का उदय है इसलिये यहाँ राग, द्वेष होता है, वैसा नहीं। तब तो उदय तो सभी को है, तो फिर कभी भी राग-द्वेष तोड़ सके ही नहीं। समझ में आया ? यह आगे ४५ गाथा में (`जयसेनाचार्यदेव' की टीका में) आयेगा। `**रागादिरहितकर्मोदयो बन्धकारणं न भवति विहारादिक्रिया च, तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढयति**' आहा..हा...! क्या कहा यह ?

कर्म का उदय है सो तो संसारी को होता ही है परंतु यह उदय बंध का कारण नहीं। उदय बंध का कारण हो तो कभी भी छूट सके नहीं। वैसे ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान हुआ, सो भी बंध का कारण नहीं। स्वभाव कभी बंध का कारण हो सकता नहीं ? आत्मा आनंद है, ज्ञान है ऐसा भान हुआ, (वह) बंध का कारण नहीं। उदय बंध का कारण नहीं, ज्ञानस्वभाव बंध का कारण नहीं। बंध का कारण क्या है ? कि, मोह व राग-द्वेषरूप परिणमित होता है यह बंध का कारण है। आहा..हा...! समझ में आया ? विशेष कहेंगे...

(दिनांक १६-२-१९७९ - प्रचचन नंबर-४१)

(`प्रवचनसार') ४३ (गाथा का) भावार्थ। `**समस्त संसारी जीवों के कर्म का उदय है, परंतु वह उदय बंध का कारण नहीं है।**' जड़ कर्म का उदय है सो बंध का कारण नहीं। `**यदि कर्मनिमित्तक इष्ट-अनिष्ट भावों में जीव रागी-द्वेषी-मोही होकर परिणमन करे...**' आहा...! कर्म के निमित्त से शरीर की, वाणी आदि से हुई क्रियाओं में `**...इष्ट-अनिष्ट भावों में जीव रागी-द्वेषी-मोही होकर परिणमन करे तो बंध होता है।**' आहा..हा...! `**इससे यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान,...**' बंध का कारण नहीं। आत्मा का ज्ञान बंध का कारण नहीं। `**...उदय प्राप्त पौद्‌गलिक कर्म...**' वह बंध का कारण नहीं। समझ में आया ? आत्मा ज्ञान स्वरूप है वह ज्ञान कोई बंध का कारण नहीं। कर्म का उदय है वह कोई बंध का कारण नहीं। तीसरा `**...कर्मोदय से उत्पन्न देहादिकी क्रियाएँ...**' आहा...! इस देह का चलना, फिरना, भाषा निकलनी ये सब जड़ की क्रियाएँ (हैं)। वे भी बंध का कारण नहीं। समझ में आया ?

ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा ! उसका ध्येय बनाकर जो दर्शनशुद्धि की है तो वह ज्ञान कोई बंध का कारण नहीं। वैसे जड़ कर्म का उदय है वह बंध का कारण नहीं। मात्र यह देह की, वाणी की क्रिया जो होती है सो भी बंध का कारण नहीं। बंध का कारण तो राग, द्वेष व मोह (है)। आहा..हा...!

`**...बंध के कारण मात्र राग-द्वेष-मोहभाव हैं।**' आहा..हा...! `**इसलिये वे भाव सर्व प्रकार से त्यागने योग्य हैं।**' उपदेश में तो ऐसा ही आये न ! (कि त्यागने योग्य हैं) ! यानी कि, ध्रुव चैतन्य भाव का आश्रय लेकर जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान होता है वह मोक्ष का मार्ग है। देह की, वाणी की क्रियाएँ होती हैं सो कोई बंध का कारण नहीं। यह अधर्म नहीं, कर्म का उदय भी अधर्म नहीं। आहा..हा...! मात्र इसमें मिथ्याश्रद्धा करे (यानी कि) राग है सो धर्म है, वैसी मान्यता करे तो वह मिथ्यात्व बंध का कारण है। और उसके साथ राग, द्वेष के अस्थिरता के परिणाम करे वह (भी) बंध का कारण है।

बंध का कारण तीन नहीं (परंतु) एक बंध का कारण है। (१) आत्मस्वरूप जो शुद्ध चैतन्य प्रभु ज्ञानस्वभाव - वह बंध का कारण होता नहीं। (२) कर्म का उदय है वह तो जड़ में है। वह भी बंध का कारण नहीं। (३) वैसे देह, वाणी की क्रिया होती है सो परमाणु की क्रिया है। वह कोई बंध का कारण नहीं। आहा..हा...! बंध का कारण तो - `यह क्रिया मेरी है, मैं जड़ की क्रिया करूँ' वैसा मिथ्यात्वभाव वह बंध का कारण है। आहा...! ऐसी बात है। `**इसलिये वे भाव सर्व प्रकार से त्यागने योग्य हैं।**' (यह ४३ गाथा पूर्ण हुई)। (अब ४४ गाथा)।

अथ केवलिनां क्रियापि क्रियाफलं न साधयतीत्यनुशास्ति–

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं।।४४।।

स्थाननिषद्याविहारा धर्मोपदेशश्च नियतयस्तेषाम्।
अर्हतां काले मायाचार इव स्त्रीणाम्।।४४।।

यथा हि महिलानां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्ठनागुण्ठितो व्यवहारः प्रवर्तते, तथा हि केवलिनां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्थानमासनं विहरणं धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते। अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात्। यथा खल्वम्भोधराकारपरिणतानां पुद्‌गलानां गमनमवस्थानं गर्जनमम्बुवर्षं च पुरुषप्रयत्नमन्तरेणापि दृश्यन्ते, तथा केवलिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते। अतोऽमी स्थानादयो मोहोदयपूर्वकत्वाभावात् क्रियाविशेषा अपि केवलिनां क्रियाफलभूतबन्धसाधनानि न भवन्ति।।४४।।

अथ केवलिनां रागाद्यभावाद्धर्मोपदेशादयोऽपि बन्धकारणं न भवन्तीति कथयति – **ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो** य स्थानमूर्ध्वस्थितिर्निषद्या चासनं श्रीविहारो धर्मोपदेशश्च **णियदयो** एते व्यापारा नियतयः स्वभावा अनीहिताः। केषाम्। **तेसिं अरहंताणं** तेषामर्हतां निर्दोषिपरमात्मनाम्। क्व। काले अर्हदवस्थायाम्। क इव। **मायाचारो व्व इत्थीणं** मायाचार इव स्त्रीणामिति। – तथा हि – यथा स्त्रीणां स्त्रीवेदोदयसद्भावात्प्रयत्नाभावेऽपि मायाचारः प्रवर्तते, तथा भगवतां शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतमोहोदयकार्येहापूर्वप्रयत्नाभावेऽपि श्रीविहारादयः प्रवर्तन्ते। मेघानां स्थानगमनगर्जनजलवर्षणादिवद्वा। ततः स्थितमेतत् मोहाद्यभावात् क्रियाविशेषा अपि बन्धकारणं न भवन्तीति।।४४।।

अब, ऐसा उपदेश देते हैं कि केवलीभगवानके क्रिया भी क्रियाफल (-बन्ध) उत्पन्न नहीं करती :-

गाथा ४४

धर्मोपदेश, विहार, आसन, स्थान श्री अर्हंतने।
वर्ते सहज ते कालमां, मायाचरण ज्यम नारीने।।४४।।

अन्वयार्थ :- [तेषाम् अर्हतां] उन अरहन्त भगवन्तोंके **[काले]** उस समय **[स्थाननिषद्याविहाराः]** खड़े रहना, बैठना, विहार **[धर्मोपदेशः च]** और धर्मोपदेश-**[स्त्रीणां मायाचारः इव]** स्त्रियोंके मायाचारकी भाँति, **[नियतयः]** स्वाभाविक ही-प्रयत्न बिना ही-होता है।

टीका :- जैसे स्त्रियोंके, प्रयत्नके बिना भी, उस प्रकारकी योग्यताका सद्भाव होनेसे स्वभावभूत ही मायाके ढक्कनसे ढँका हुआ व्यवहार प्रवर्तता है, उसीप्रकार केवलीभगवानके, प्रयत्नके बिना ही (-प्रयत्न न होनेपर भी) उस प्रकारकी योग्यताका सद्भाव होनेसे खड़े रहना, बैठना, विहार और धर्मदेशना स्वभावभूत ही प्रवर्तते हैं। और यह (प्रयत्नके बिना ही विहारादिका होना), बादलके दृष्टान्तसे अविरुद्ध है। जैसे बादलके आकाररूप परिणमित पुद्गलोंका गमन, स्थिरता, गर्जन और जलवृष्टि पुरुष-प्रयत्नके बिना भी देखी जाती है, उसीप्रकार केवलीभगवानके खड़े रहना इत्यादि अबुद्धिपूर्वक ही (इच्छाके बिना ही) देखा जाता है। इसलिये यह स्थानादिक (खड़े रहने-बैठने इत्यादिका व्यापार), मोहोदयपूर्वक न होनेसे, क्रियाविशेष (क्रियाके प्रकार) होने पर भी केवली भगवानके क्रियाफलभूत बन्धके साधन नहीं होते।

भावार्थ :- केवली भगवानके स्थान, आसन और विहार, यह काययोगसम्बन्धी क्रियाएं तथा दिव्यध्वनिसे निश्चय-व्यवहारस्वरूप धर्मका उपदेश-वचनयोग सम्बन्धी क्रिया-अघातीकर्मके निमित्तसे सहज ही होती है। उसमें केवली भगवानकी किंचित्मात्र इच्छा नहीं होती, क्योंकि जहाँ मोहनीय-कर्मका सर्वथा क्षय होगया है वहाँ उसकी कार्यभूत इच्छा कहाँसे होगी ? इसप्रकार इच्छाके बिना ही-मोह-राग-द्वेषके बिना ही-होनेसे केवली-भगवानके लिये वे क्रियाएं बन्धका कारण नहीं होतीं।।४४।।

`**अब, ऐसा उपदेश देते हैं कि केवलीभगवान के क्रिया भी...**' (अर्थात्) भगवान अरिहंत भी चलते हैं, उपदेश देते हैं, आहा...! ऐसी `**...क्रिया भी क्रियाफल (-बंध) उत्पन्न नहीं करती :-**' (अर्थात्) इन क्रियाओं का फल बंधन, उन क्रियाओं से उत्पन्न होता नहीं। चलना, फिरना, बोलना -ये क्रिया हैं। ये क्रिया वीतराग को बंध का कारण नहीं। क्योंकि उसे मोह व राग, द्वेष नहीं, आहा..हा...! यह ४४ गाथा में कहेंगे।

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले मायाचारो व्व इत्थीणं।।४४।।
धर्मोपदेश, विहार, आसन, स्थान श्री अर्हंतने।
वर्ते सहज ते काल मां, मायाचरण ज्यम नारीने।।४४।।

`**जैसे स्त्रियों के, प्रयत्न के बिना भी,...**' वैसे तो उसे प्रयत्न तो है परंतु प्रयत्न अर्थात् `ऐसा करूँ' वैसा नहीं। परंतु यह सहज ही मायाचार होता है। `**जैसे स्त्रियों के, प्रयत्न के बिना भी, उस प्रकार की योग्यता का सद्भाव होने से स्वभावभूत ही माया के ढक्कन से...**' (अर्थात्) स्त्री को सहज ही माया होती है। समझ में आया ? यह तो दृष्टांत है न ! माया होती है सो तो उलटे पुरुषार्थ से परंतु स्त्री के उदय में सहज ही माया हो जाय, वैसा उसका (प्रकृति) स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। `**...माया के ढक्कन से ढँका हुआ व्यवहार प्रवर्तता है,...**' आहा..हा...!

`**...उसी प्रकार केवलीभगवान के,प्रयत्न के बिना ही (- प्रयत्न न होनेपर भी) उस प्रकार की योग्यता का सद्भाव होने से खड़े रहना,...**' भगवान ऐसे सहजरूप खड़े रहते हैं। `**...बैठना, विहार...**' करते हैं। देह की क्रिया, विहार करते हैं। `**...और धर्मदेशना...**' (अर्थात्) उपदेश यह तो सहज ही है। स्वभावभूत ही है। `**...स्वभावभूत ही प्रवर्तते हैं।**'

`**और यह (प्रयत्न के बिना ही विहारादि का होना), बादल के दृष्टांत से अविरुद्ध है। जैसे बादल के आकाररूप परिणमित पुद्गलों का गमन,...**' यह बादल है न बादल सर पे (ऊपर)! वे सभी बदलियाँ हैं उन पुद्गलों का गमन `**...स्थिरता,...**' (अर्थात्) स्थिर हो जाय और `**...गर्जन...**' बादलों में गर्जना (होती हैं न) ! `मेघ गर्जना' ! ऐसे कहते हैं न ? `**...और जलवृष्टि...**' उन बादलों में बिना किसी प्रयत्न से `**...पुरुष-प्रयत्न के बिना भी देखी जाती है,...**' (जैसे) बादलों में गमन, अवस्थान (अर्थात्) स्थिरता, गर्जन और जलवृष्टि (देखने में आती है)।

`**...उसी प्रकार केवलीभगवान के...**' यहाँ मूल में क्या सिद्ध करना है कि, यह आत्मस्वभाव का जहाँ भान हुआ कि, यह आत्मा आनंद और ज्ञानस्वरूप है। इससे यह ज्ञानस्वभाव कोई बंध का कारण नहीं है। वैसे कर्म का उदय है सो बंध का कारण नहीं। क्योंकि कर्म का उदय तो सदा ही है और वह बंध का कारण हो तो बंध कभी भी टले नहीं। संसारी प्राणी को कर्म का उदय तो सदा ही है। यदि उदय बंध का कारण हो तो कभी भी उसे धर्म और निर्जरा होगी नहीं। और देहादि की क्रिया-शरीर, वाणी की क्रिया तो जड़ है - जड़ की है। आहा..हा...! इनसे भी आत्मा को कोई बंधन होता नहीं।

`**...केवलीभगवान के खड़े रहना इत्यादि अबुद्धिपूर्वक ही...**' अबुद्धिपूर्वक अर्थात् ? इच्छा रहित। केवली भगवान को इच्छा होती नहीं। फिर भी उपदेश दें, विहार करें...! करें क्या (यह तो) होता (है)। एक स्थान पर खड़े रहे। (यह सब) `**...(इच्छा के बिना ही) देखा जाता है। इसलिये यह स्थानादिक (खड़े रहने-बैठने) इत्यादि का व्यापार), मोहोदयपूर्वक न होनेसे,...**' (अर्थात्) अंदर मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष न होनेसे, आहा..हा...! `यह क्रिया मेरी है' ऐसा (परिणमन) वहाँ है नहीं। वे तो वीतराग सर्वज्ञ हैं। यह आने-जाने की क्रिया तो जड़ की है, आहा..हा...!

(यह) `**...क्रियाविशेष (क्रिया के प्रकार) होने पर भी...**' चलना, बैठना, धर्मोपदेश होने पर भी `**...केवली भगवान के क्रियाफलभूत बंध के साधन नहीं होते।**' उन्हें बंध का कारण होता नहीं। आहा..हा...! वह `मच्छ' है न `मच्छ' ! `तंदुलमच्छ' ! उसे तो कोई क्रिया है नहीं, परंतु अंदर मिथ्यात्वभाव है। इससे तंदुलमच्छ को क्रिया से बंधन नहीं है, परंतु उसका मिथ्यात्व का भाव है इसलिये उसे नर्क का बंधन होता है।

स्थानकवासी में एक साधु ऐसी बात करते थे कि, वह (तंदुलमच्छ) बड़े मच्छ के कान में बैठा हो और बड़े (मच्छ के) पेट में मछलियाँ आती हो तो यहाँपर (तंदुलमच्छ) इस प्रकार मुँह खोले वैसी क्रिया होती है, वैसी क्रिया से बंधन होता है ! क्रिया से उसे बंध बतलाना है न ! (इसलिये ऐसा कहते थे)।

देह की क्रिया, मुँह फाड़ना या भाषा की क्रिया (होती है), वह क्रिया बंध का कारण नहीं। आहा..हा...! उनमें अपनापन मानना कि, `यह जड़ की क्रिया मेरी है' ऐसा जो मिथ्यात्वभाव है वह बंध का कारण है। समझ में आया ? (ऐसी) सूक्ष्म बातें...!

(अतः यहाँपर कहते हैं कि वह) `**...(-क्रिया के प्रकार) होने पर भी केवली भगवान के क्रियाफलभूत...**' क्रिया का फल अर्थात् बंधन। `**...बंध के साधन नहीं होते।**'

भावार्थ :- `**केवली भगवान के स्थान, आसन...**' (अर्थात्) खड़े रहना, बैठना `**...और विहार, यह काययोगसंबंधी क्रियाएँ...**' (यह) काययोग की क्रिया-जड़ की (क्रिया है)। यहाँपर भी यह देह चलता है, यह जड़ की क्रिया है। आत्मा उसे कुछ भी करता नहीं। पैर इस प्रकार नीचे (रखे), यह बिना जमीन को छूए पैर की क्रिया होती है ! और आत्मा के भाव रहित उन परमाणु की क्रिया होती है। अरे... ऐसी बाते हैं !

श्रोता :- क़दम चलते नहीं ?

समाधान :- क़दम चले अर्थात् कौन ? क़दम चलना यह क्रिया जड़ की है। यह क़दम-बदम कोई चलता नहीं। यह जड़ की क्रिया है। जड़ की क्रिया है सो बंध का कारण नहीं। चलना, फिरना, क़दम भरना - यह तो समझाना है। वे स्वयं इस प्रकार क़दम चलते हैं, ऐसा है नहीं। यहाँ भी यह चलता है वह आत्मा द्वारा क्या इस प्रकार देह चलता है ? यहाँ तो यह देह चलता है वह नीचे जमीन को पैर छूते नहीं और पैर चलने की क्रिया करते हैं ! ऐसी बात कहाँ...? समझ में आया ?

यह जमीन है उनके रजकणों की घनता अलग है और शरीर के रजकण, पैर के रजकणों की घनता अलग है। वे चलते पैर के रजकण जमीन को छूते नहीं और चलते हैं। अब यह बात किस तरह संमत करे ? और आत्मा की इच्छा हुई इससे शरीर चलता है, वैसा नहीं। आ..हा..हा...!

यह वाणी निकलती है वह बंध का कारण है, ऐसा नहीं। और इच्छा हुई तो मैं बोलूँ, इसलिये वाणी निकलती है, ऐसा नहीं। ऐसी बातें...! यह तो सुबह में बहुत आया था - परिणाम - परिणामी व्याप्य-व्यापक, कर्ता-कर्म ! क्या कहा समझ में आया ? कि, यह देह की क्रिया इस प्रकार होती है, (उसमें) यह आत्मा कर्ता है और यह उसका कार्य है, वैसा नहीं। आहा..हा...! यदि ऐसा हो तो यह परिणाम - पर्याय होती है वह जड़ की है और उन परिणाम का आत्मा कर्ता - परिणामी (हुआ) तो परिणामी और परिणाम दोनों एक होना चाहिये। तो उस जड़ में तू एक हो गया ! आ..हा..हा...! ऐसी बातें हैं !

जड़ इस प्रकार चलता है, उसका कर्ता आत्मा और वह उसका कर्म-कार्य, ऐसा नहीं। जो चलता है सो व्याप्य और आत्मा व्यापक, ऐसा नहीं है। देह चलता है वह परिणाम और आत्मा परिणामी, ऐसा नहीं है। अरे..अरे...! ऐसी बातें अब...! जैन में बैठे-पैदा हुए परंतु जानकारी न मिले !! आहा...! यहाँ यह (बात) कहकर आगे भगवान में उतारेंगे।

'**केवली भगवान के स्थान, आसन और विहार, यह काययोगसंबंधी क्रियाएँ तथा दिव्यध्वनि से निश्चय-व्यवहाररूप धर्म का उपदेश...**' भगवान की वाणी में धर्म का उपदेश आये '-वचनयोग संबंधी क्रिया-अघातीकर्म के निमित्त से सहज ही होती है।' यह तो निमित्त होता है, उपादान तो इस प्रकार सहज है। (अर्थात्) अघाती कर्म है वह तो निमित्त है और यहाँ चलने-फिरने की जो क्रिया होती है वह अपना स्वतंत्र उपादान है। परंतु उस समय पर क्रमबद्ध में वह परमाणु की उस प्रकार चलने की क्रिया होनेवाली है सो होती है। आहा..हा...!

यहाँपर तो सारा दिन `यह मैंने किया और शरीर का यह किया !' (चलता हो) ! ऐसी बात (सुने फिर स्वच्छंद करे)। एक लड़का था वह ऐसे मारे (आगे ऐसे कहे कि) `मैंने कहाँ मारा है!' परंतु भाव किसने किये ? एक-दूजे को इस प्रकार थप्पड़ मारे ! परंतु कब ? राग-इच्छा है और क्रिया होते हुए भी इच्छा के कारण क्रिया हुई नहीं। ऐसी-ऐसी अब कहाँ खतौनी करे ? भगवान की क्रिया में उतारने के लिये यह बात कही।

`**...अघातीकर्म के निमित्त से सहज ही होती है। उसमें केवली भगवान की किंचित्मात्र इच्छा नहीं होती, क्योंकि जहाँ मोहनीय-कर्म का सर्वथा क्षय हो गया है वहाँ उसकी कार्यभूत इच्छा कहाँ से होगी ?**' भगवान के तो मोह का नाश हुआ है। उन्हें इच्छा तो है ही नहीं। फिर भी चलने-फिरने की क्रिया होती है वह तो जड़ के कारण सहज होती है, आ..हा..हा...! `**इसप्रकार इच्छा के बिना ही - मोह-राग-द्वेष के बिना ही - होने से केवली-भगवान के लिये वे क्रियाएँ बंध का कारण नहीं होतीं।**'

❋ ❋ ❋

अथैवं सति तीर्थकृतां पुण्यविपाकोऽकिंचित्कर एवेत्यवधारयति-

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइग त्ति मदा।।४५।।

पुण्यफला अर्हन्तस्तेषां क्रिया पुनर्हि औदयिकी।
मोहादिभिः विरहिता तस्मात् सा क्षायिकीति मता।।४५।।

अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति। क्रिया तु तेषां या काचन सा सर्वापि तदुदयानुभावसंभावितात्मसंभूतितया किलौदयिक्येव। अथैवंभूतापि सा समस्तमहामोहमूर्धाभिषिक्तस्कन्धावारस्यात्यन्तक्षये संभूतत्वान्मोहरागद्वेषरूपाणामुपरंजकानाम-भावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासादयन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य बन्धस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव कथं हि नाम नानुमन्येत। अथानुमन्येत चेत्तर्हि कर्मविपाकोऽपि न तेषां स्वभावविघाताय।।४५।।

अथ पूर्वं यदुक्तं रागादिरहितकर्मोदयो बन्धाकारणं न भवति विहारादिक्रिया च, तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढयति – **पुण्णफला अरहंता** पञ्चमहाकल्याणपूजाजनकं त्रैलोक्यविजयकरं यत्तीर्थंकरनाम पुण्यकर्म तत्फलभूता अर्हन्तो भवन्ति। **तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया** तेषां या दिव्यध्वनिरूपवचनव्यापारादिक्रिया सा निःक्रियशुद्धात्मतत्त्वविपरीतकर्मोदयजनितत्वात्सर्वाप्यौदयिकी भवति हि स्फुटम्। **मोहादीहिं विरहिया निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वप्रच्छादकममकाराहङ्कारोत्पादनसमर्थमोहादि-विरहितत्वाद्यतः तम्हा सा खायग त्ति मदा** तस्मात् सा यद्यप्यौदयिकी तथापि निर्विकारशुद्धात्म-तत्त्वस्य विक्रियामकुर्वती सती क्षायिकीति मता। अत्राह शिष्यः–'औदयिका भावाः बन्धकारणम्' इत्यागमवचनं तर्हि वृथा भवति। परिहारमाह-औदयिका भावा बन्धकारणं भवन्ति, परं किंतु मोहोदयसहिताः। द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बंधो न भवति। यदि पुनः कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात् सर्वदैव बन्ध एव, न मोक्ष इत्यभिप्रायः।।४५।।

इसप्रकार होनेसे तीर्थंकरोंके पुण्यका विपाक अकिंचित्कर ही है (-कुछ करता नहीं है, स्वभावका किंचित् घात नहीं करता) ऐसा अब निश्चित करते हैं :-

गाथा ४५

छे पुण्यफल अर्हंत, ने अर्हंतकिरिया उदयिकी।
मोहादिथी विरहित तेथी ते क्रिया क्षायिक गणी।।४५।।

अन्वयार्थ :- [अर्हन्तः] अरहन्तभगवान **[पुण्यफलाः]** पुण्यफलवाले हैं **[पुनः हि]** और **[तेषां क्रिया]** उनकी क्रिया **[औदयिकी]** औदयिकी है; **[मोहादिभिः विरहिता]** मोहादिसे रहित है। **[तस्मात्]** इसलिये **[सा]** वह **[क्षायिकी]** क्षायिकी **[इति मता]** मानी गई है।

टीका :- अरहन्तभगवान जिनके वास्तवमें पुण्यरूपी कल्पवृक्षके समस्त फल भलीभाँति परिपक्व हुए हैं ऐसे ही हैं, और उनकी जो भी क्रिया है वह सब उसके (-पुण्यके) उदयके प्रभावसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिकी ही है। किन्तु ऐसी (पुण्यके उदयसे होनेवाली) होने पर भी वह सदा औदयिकी क्रिया महामोहराजाकी समस्त सेनाके सर्वथा क्षयसे उत्पन्न होती है इसलिये मोहरागद्वेषरूपी उपरंजकोंका अभाव होनेसे चैतन्यके विकारका कारण नहीं होती इसलिये कार्यभूत बन्धकी अकारण भूततासे और कार्यभूत मोक्षकी कारणभूततासे क्षायिकी ही क्यों न माननी चाहिये ? (अवश्य माननी चाहिये) और जब क्षायिकी ही माने तब कर्मविपाक (-कर्मोदय) भी उनके (अरहन्तोंके) स्वभावविघातका कारण नहीं होता (ऐसा निश्चित होता है)।

भावार्थ :- अरहन्तभगवानके जो दिव्यध्वनि, विहार आदि क्रियाएं हैं वे निष्क्रिय शुद्ध आत्मतत्त्वके प्रदेशपरिस्पंदमें निमित्तभूत पूर्वबद्ध कर्मोदयसे उत्पन्न होती हैं इसलिये औदयिकी हैं। वे क्रियाएं अरहन्तभगवानके चैतन्यविकाररूप भावकर्म उत्पन्न नहीं करतीं, क्योंकि (उनके) निर्मोह शुद्ध आत्मतत्त्वके रागद्वेषमोहरूप विकारमें निमित्तभूत मोहनीयकर्मका क्षय हो चुका है। और वे क्रियाएं उन्हें, रागद्वेषमोहका अभाव होजानेसे नवीन बन्धमें कारणरूप नहीं होतीं, परन्तु वे पूर्वकर्मोंके क्षयमें कारणरूप हैं क्योंकि जिन कर्मोंके उदयसे वे क्रियाएं होती हैं वे कर्म अपना रस देकर खिर जाते हैं। इसप्रकार मोहनीयकर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेसे और कर्मोंके क्षयमें कारणभूत होनेसे अरहन्तभगवानकी वह औदयिकी क्रिया क्षायिकी कहलाती है।।४५।।

अब यह ४५ वीं गाथा तकरारी गाथा है। `**इसप्रकार होने से तीर्थंकरों के पुण्य का विपाक अकिंचित्कर ही है...**' भाषा देखी ? संस्कृत में है। तब वे लोग क्या कहते हैं ? कि, `पुण्यफला अरहंता' ! (अर्थात्) पुण्य के फलरूप अरिहंतपना प्राप्त होता है ! सब पंडित कहते हैं ! (मूल गाथा में) पाठ है देखो ! `**पुण्यफला अरहंता**' ! `**पुण्यफला अरहंता**' अर्थात् ? उन्हें चलने-फिरने की जो क्रिया - अतिशय है, यह सब पुण्य का फल है। यह पुण्य के कारण होता है। (परंतु) पुण्यफल के द्वारा अरिहंतपना प्राप्त होता है, ऐसा नहीं। है ? `**पुण्यफला अरहंता**' - इसमें पूर्ण विरोध है। (अज्ञानी) कहते हैं कि, `पुण्य के फलरूप अरिहंतपना प्राप्त होता है !' यहाँपर कहते हैं कि, `भगवान का जो चलना-फिरना, बोलना (इत्यादि) क्रिया होती हैं, यह सभी पुण्य की क्रिया हैं। आत्मा कुछ किंचित्मात्र करता नहीं !' देखो न ! शब्द है (शीर्षक में) ? `तीर्थंकरों के पुण्य का विपाक अकिंचित्कर ही है'। तब (अज्ञानी कहता है) `**पुण्यफला अरहंता**' ! अरिहंतपना पुण्य के कारण मिलता है ! बड़े-बड़े पंडित इस प्रकार अर्थ करते हैं ! दिगंबर के हाँ ! आहा..हा...!

यहाँपर तो कहते हैं, अरिहंत भगवान के जो अतिशय होते हैं - समवसरण होता है, वाणी निकलती है, चलना, यह सब पुण्य के फलरूप है। उदय (है)। फिर भी यह उदय खिर जाता है अतः इस उदय को `क्षायिक' कहा जाता है, वैसे यहाँपर कहना है। वैसे तो केवलज्ञान प्राप्त हुआ वह कोई पुण्य के फल द्वारा नहीं हुआ। यह तो अपने मोह व राग-द्वेष का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया है। अब केवलज्ञान प्राप्त किया है उसे यह भाषा, अतिशय, समवसरण होता है इत्यादि जो सब बातें हैं, वे सब पुण्य के फल हैं। और वह भी तीर्थंकर प्रकृति का उदय आता है। प्रभु को केवलज्ञान होता है तब तीर्थंकर प्रकृति का उदय आता है। अब, यह लोग कहते हैं कि, पुण्यफल वह अरिहंत हैं - यह इसमें कहाँ रहा ? लोगों ने सत्य के मार्ग को विपरीत कर डाला ! बड़ी तकरार ! `सोनगढ' के सामने ! `सोनगढ' कहता है कि, शुभभाव से धर्म नहीं होता ! तो इसके सामने ये बताते हैं कि) `यह रहा, पुण्यफल से अरिहंत होते हैं !!' (परंतु) पुण्यफल से अरिहंत होते हैं, वैसा वहाँ नहीं कहा। पुण्य के फल स्वरूप अरिहंत को समवसरण, वाणी इत्यादि होते हैं, यह सब उदय की क्रिया ये सब पुण्य हैं।

`**इसप्रकार होने से तीर्थंकरों का पुण्य का विपाक...**' देखा ? अर्थात् पुण्य का फल ! `**...अकिंचित्कर ही है (-कुछ करता नहीं है,...)...**' उसके आत्मा को। वाणी में करे (परंतु) उसके आत्मा को कुछ करता नहीं। आहा...! परंतु आदमी को इसमें फुरसत कहाँ है ? क्या सत्य है और क्या असत्य है ? उसका निर्णय करने का समय नहीं। (ऐसे में) उसे सत्य कहाँ से मिले?

और बिना सत् मिले धर्म (कहाँ से हो) ?

ध्रुव चैतन्य प्रभु ! जिसमें राग तो नहीं, जड़ की क्रिया का तो जिसमें अभाव है, परंतु जिसमें वर्तमान पर्याय है उसका उसमें अभाव है। आ..हा..हा...! उसमें अभाव है हाँ...! पर्याय, पर्याय में है। समझ में आया है इसमें ? ध्रुव चैतन्यघन जो है, नित्यानंद ध्रुव ! उसमें राग-द्वेष तो नहीं, देह की क्रिया, वाणी की क्रिया तो नहीं परंतु निर्मल पर्याय हुई है... केवलज्ञान...! वह भी ध्रुव वस्तु में नहीं। आ..हा..हा...! पर्याय पर्याय से पर्याय में पर्याय हुई है। समझ में आया इसमें ?

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिदा तम्हा सा खाइग त्ति मदा।।४५।।
छे पुण्यफल अर्हंत, ने अर्हंतकिरिया उदयिकी।
मोहादिथी विरहित तेथी ते क्रिया क्षायिक गणी।।४५।।

यह क्रिया होती है, सो है तो उदय की क्रिया। परंतु समय-समय पर वह उदय का नाश हो जाता है इसलिये उस उदय को क्षायिक में डाला गया है। क्षायिक केवलज्ञान हुआ है, उसकी यह बात नहीं। आहा..हा...! केवलज्ञान क्षायिकभाव रूप हुआ है। वह क्षायिकभाव भी वस्तु-द्रव्य में तो नहीं है। पर्याय में क्षायिकभाव हुआ यह कोई राग द्वारा, पुण्य द्वारा हुआ, ऐसा नहीं।

यह जड़ की क्रिया होती है (इसमें) कर्म के उदय का निमित्त है और यहाँ शरीर का चलना, फिरना यह क्रिया है। यह क्रिया जीव को कुछ करती नहीं। इसलिये जीव यह क्रिया करता नहीं। पूर्व के पुण्य के द्वारा यह क्रिया होती है अतः वह उदय क्षण-क्षण आकर खिर जाता है।

टीका :- `**अर्हंत भगवान जिन के वास्तव में पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के समस्त फल भलीभाँति परिपक्व हुए हैं,...**' देखा ? अरिहंत भगवान तीर्थंकर को पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के समस्त फल (अर्थात्) समवसरण, वाणी, ॐध्वनि, चलने की क्रिया, कई हजारों गाँव चले, यह सब पुण्यफल की क्रिया हैं। समझ में आया कुछ ?

बहुत साल पहले (संवत्) १९९५ (की साल में) शत्रुंजय गये थे (तब एक श्वेतांबर साधु ने कहा) `यह लोग ऐसा कहते हैं कि भगवान बोलते नहीं। (परंतु ऐसा) नहीं, पहले समय में परमाणु का ग्रहण करे और दूसरे समयपर छोड़ते हैं !' १९९५ की बात है, चालीस साल हुए ! (मैंने कहा) `यहाँ यह बात सच नहीं।' परमाणु का केवली ग्रहण करते नहीं और परमाणु को केवली

छोड़ते नहीं। आ..हा..हा...! यह बात हुई थी, पहले यह बात यहाँपर कही थी। (अपना और मुमुक्षुगण वहाँ गये थे) तब पूछा कि, 'आत्मा जड़ का कुछ कर सकता है ?' (तब उन्होंने कहा) 'परमाणु का न कर सके, शरीर का कर सके !'

आ..हा..हा...! यहाँ कहते हैं कि, शरीर की क्रिया आत्मा कर सकता नहीं। केवली भी शरीर की जो क्रिया हुई, वह आत्मा से हुई नहीं। मात्र पूर्व का कर्म पड़ा है उसका उदय आये वह निमित्त है। और उस समय की चलने-फिरने की उपादान की क्रिया (है सो) परमाणु द्वारा हुई (है)। आ..हा..हा...! कहाँ फर्क है सो समझना कठिन बहुत !

'**अर्हंत भगवान जिनके वास्तव में पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के समस्त फल भलीभाँति परिपक्व हुए हैं...**' और तीर्थंकर प्रकृति जिस भाव से बंधनयुक्त हुई सो तो जड़-मिट्टी है। यह जैसे जड़ है वैसे कर्म की प्रकृति जड़ है। वह जिस भाव के निमित्त से बंधनयुक्त हुई, उस भाव का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त होता है। तब वह प्रकृति का उदय आता है। अब, उसमें पुण्य के फल के कारण अरिहंतपना मिले, सो कहाँ आया ? बात समझ में आती है कुछ ?

भगवान अरिहंत परमात्मा के चलने-फिरने की, बोलने की जो क्रिया होती है सो पुण्य के द्वारा उदय है। आत्मा के द्वारा नहीं है। उसका आत्मा में उदय नहीं है और आत्मा में यह क्रिया है नहीं। आहा..हा...! वे समस्त पुण्य के फल हो गये। समवसरण में ॐध्वनि उठती है ! भगवान को ऐसी (अक्षरात्मक) भाषा होती नहीं। (उनके) होंठ हिलते नहीं, कंठ हिलता नहीं, ॐध्वनि (निकले) ! यह सब पुण्यकर्म का निमित्त है और यह होता है अपने उपादान के कारण। आत्मा इच्छा से बोलता है, ऐसा नहीं। भगवान के तो इच्छा है नहीं। इसलिये उन्हें पूर्व के पुण्यफल बराबर परिपक्व हो गये। अतः त्वरित वाणी और ध्वनि छूटती है। समवसरण चले, इन्द्र, यक्ष चामर ढाले (यह सब पुण्य का फल है)। अरे...! ऐसी बातें जैनपना में हैं, इसकी उसे जानकारी नहीं, तो अन्य में तो ऐसा है ही कहाँ ? आहा..हा...! ऐसे (लोग) इसका अर्थ करे ! 'पुण्यफला अरहंता है। पुण्य का फल अरिहंत है।' यह अरिहंतपना - केवलज्ञान पुण्य का फल (है), वैसा यहाँपर कुछ कहना नहीं है।

अरिहंत हुए हैं सो तो चार घाती (कर्म का) नाश करके, केवलज्ञानी स्वयं अपने से हुए हैं। परंतु उस समय उन्हें पूर्व के पुण्यफल-समवसरण, दिव्यध्वनि आदि हैं, यह पुण्य परिपक्व हो गया है। इसके कारण यह सब क्रियाएँ हैं। ऐसे तो ना कहा नहीं ? '**तीर्थंकरों के पुण्य का विपाक अकिंचत्कर ही है।**' ऊपर (शीर्षक में) लिखा है। अरे...! अरे...! क्या करे ? इस प्रकार झगड़े

चलते हैं ! वीतराग परमेश्वर मिले नहीं, वैसे कोई देव न (आए) ! और सत्य को असत्य ठहराते हैं कि, `आपका गलत है ! आप कहते हो कि, शुभभाव से केवल(ज्ञान) होता नहीं, (परंतु) देखिये! यह लिखा है, पुण्यफल से अरिहंत होते हैं !'

बापू ! इस पुण्य से अरिहंतपना-केवली होना, वैसे यहाँपर कहना नहीं है। पुण्य से तो अरिहंत के समवसरण, वाणी आदि होते हैं। यह सब उदय की क्रिया पुण्य द्वारा (होती है)। आ..हा..हा...! तीर्थंकरपना बंधे यह भाव अपराध है ! आ..हा..हा...! (ऐसा) राग है न ? क्या राग के फलरूप केवल की प्राप्ति हो ? आ..हा..हा...! अंतर में तो आनंदस्वरूप भगवान को तो सम्यग्दर्शन-अनुभव में पहले पकड़ा है, आगे स्वरूप में वीतरागभाव में स्थिर होता है, तब उसे केवलज्ञान होता है। आहा..हा...! यहाँ (लोग) कहते हैं कि, `पुण्य-शुभभाव है इससे अरिहंतपना प्राप्त हुआ !' इसका अर्थ क्या इसमें नहीं है ? `पुण्यफला अरहंता' का अर्थ इसमें नहीं है ?

इसका अर्थ (यह है कि) अरिहंतों को अरिहंतपना जो प्रगट हुआ है सो तो अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रगट हुआ है। परंतु उन्हें अभी वाणी व समवसरण आदि हैं, वे पूर्व के पुण्य से पक्व हो गये हैं।

श्रोता :- यह सब द्रव्यपुण्य का फल है, भावपुण्य का फल नहीं !

समाधान :- यहाँ यह बात ही नहीं। यहाँ तो पूर्व का पुण्य पड़ा है इसके द्वारा यह समवसरण आदि क्रिया है। और वह भी उदय की क्रिया है तथापि उसकी क्षायिक में खतौनी होगी। सूक्ष्म बात बहुत ! वीतरागी तत्त्व समझना यह भी सूक्ष्म बहुत ! आहा..हा...! अन्य(मत में) तो ईश्वर करते हैं, वैसा सब मानते हैं। `ईश्वरकर्ता है और बिना ईश्वर के पत्ता हिले नहीं !'

आहा...! यहाँ तो कहते (हैं), आत्मा रहित देह की क्रिया होती है। आत्मा रहित भाषा निकलती है। आत्मा रहित खड़े रहे, स्थिर हो जाय। आहा...! कैसे समझे... ? क्योंकि जड़ परमाणु अलग चीज है, इसका चलना-फिरना होता है वह तो पूर्व पुण्य के निमित्त से चलता है। `मैं चलू, विहार करुं' ऐसी प्रभु की इच्छा है ? `मैं बोलू, उपदेश दूँ' वैसा है प्रभु को ? वे तो वीतराग सर्वज्ञ हो गये। उन्हें इच्छा कैसी ? आहा..हा...!

श्रोता :- प्रायोगिक क्रिया और वैस्त्रसिक क्रिया का भेद क्यों किया ?

समाधान :- प्रायोगिक क्रिया वह अलग बात है। प्रायोगिक अर्थात् राग की क्रिया (और) वैस्त्रसिक क्रिया अर्थात् सहज जड़ की क्रिया। यहाँपर तो जो जड़ की क्रिया है - अतिशय की, दिव्यध्वनि, साढ़े बारह करोड़ बाजे बजे यह सब पूर्व के पुण्य का फलस्वरूप उदय है। आत्मा

को कुछ नहीं। आहा..हा...! अब भाई ! बिना समझे धर्म करता है तो बिना समझे धर्म करने दो न! वैसा (लोग) कहते हैं। यह धर्म कहाँ था ? धर्म क्या है ? धर्मी कहाँ से होते हैं ? उसके ज्ञान रहित (धर्म होगा कहाँ से) ? धर्म तो निर्मल पर्याय है। तो वह कहाँ से हो ? आहा..हा...! वह त्रिकालीनाथ चिदानंदप्रभु है उसके आश्रय से होता है। फिर भी वह (पर्याय) द्रव्य द्वारा होती नहीं। पर्याय पर्याय द्वारा होती है। आहा..हा...!

सुबह में आज (`समयसार' में) आया था न ? कि, आत्मा यदि घट, पट, रथ का करनेवाला हो तो आत्मा तो नित्य है, तो जहाँ-जहाँ कार्य हो वहाँ-वहाँ उसे उपस्थित रहना चाहिये। (परंतु) वैसा है नहीं, आ..हा..हा...! इसके बाद (ऐसा) आयेगा कि, जो आत्मद्रव्य है सो तो निमित्तरूप भी पर का कर्ता नहीं। पर की क्रिया-शरीर, वाणी मन की (क्रिया) अपने उपादान से होती है। इसमें आत्मद्रव्य निमित्त नहीं। निमित्त नहीं ! उपादान तो नहीं, किन्तु निमित्त भी नहीं !! आ..हा..हा...! यदि द्रव्य निमित्त हो तब तो द्रव्य को हमेशा पर की क्रिया में उपस्थित रहना पड़े! कभी भी रागरहित हो सके नहीं। आ..हा..हा...!

वह आगे कहेंगे - योग, उपयोग ! सामनेवाले की पर्याय तो उसके क्रमसर में आई हुई (है और) वह उसके समय में होती है। उसमें यह आत्मा निमित्त है इसलिये होती है अथवा उसके राग-द्वेष दिखाई दे (इससे होती है), ऐसा तो है नहीं। समझ में आया ? परंतु राग का कर्ता जो अज्ञानी (होता) है, (जो) संयोग और राग का कर्ता अज्ञानी है, वह राग और संयोग (सामनेवाले पदार्थ की पर्याय होने में निमित्त कहलाता है)। पर(पदार्थ की) अवस्था जिस समय होनेवाली है वह अपने समय में (होती है) उसमें अज्ञानी का संयोग और इच्छा निमित्त कहा जाता है। संयोग और इच्छा (निमित्त कहा जाय), आत्मा नहीं। आ..हा..हा...! ऐसा सब (समझना)...! सुबह में आगे (`समयसार' की) १००वीं गाथा में आयेगा। वह भी अज्ञानी का योग और राग (निमित्त होता है)। जो राग का कर्ता होता है, संयोग का कर्ता होता है। उस जीव के समक्ष जगत के जड़ (पदार्थों की) और चैतन्य की जो पर्याय होती है, तब उसका संयोग और इच्छा पर में निमित्त कहा जाता है। अज्ञानी का संयोग व राग। जो राग का और संयोग का कर्ता होता है वह अज्ञानी का संयोग व राग (निमित्त कहा जाता है)। पर की पर्याय के समय तो पर में (पर्याय) होती है, परंतु उसे `यह' निमित्ति कहा जाय। गजब बात है !

(यहाँपर कहते हैं) **`अर्हंतभगवान जिनके वास्तव में पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के समस्त फल...'** कि, जो पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के समस्त फलों में अरिहंतपना नहीं आया। अरिहंतपना उसमें नहीं

है। परंतु उसे पुण्य के `**... फल भलीभाँति परिपक्व हुए हैं ऐसे ही हैं, और उनकी जो भी क्रिया है...**' देखो ! यह उनकी `क्रिया' है, (ऐसा कहा है)। उनको जो जलने, फिरने की, बोलने की क्रिया है `**... वह सब उसके (-पुण्य के) उदय के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण...**' देखा ? वह क्रियारूप फल (आया है)। अरिहंतपना पुण्य के कारण मिला है, यहाँ यह प्रश्न नहीं है। क्या करे ?

टीका में (भी यह स्पष्टीकरण) है और ऊपर (शीर्षक में) भी है - `**तीर्थंकरों के पुण्य का विपाक अकिंचित्कर ही है।**' यह तो पहले लिया है। तब कोई (पूछे) कि, पुण्य क्या है ? (तो कहते हैं कि) पूर्व के पुण्य के कारण उन्हें चलने, फिरने, बोलने की क्रिया होती है, उन इच्छा रहित जड़ की क्रिया होती है। इसलिये वे पुण्य के फल हैं। आ..हा..हा...! कम फर्क में कहाँ मिथ्यात्व का फर्क (पड़ जाता) है ! इसकी उसे ख़बर नहीं।

श्रोता :- भोली जनता को भ्रमित कराते हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह कहा था न ? `जापान' का एक इतिहासकार है न ? बड़ी ६७ वर्ष की उम्र है। (उसने) लाखों पुस्तकें देखी हैं। (उसका) हाल में लेख आया है - `जैन का धर्म अनुभूति है, आत्मा शुद्ध चैतन्य है उसका अनुभव करना यह जैनधर्म है। रागादि, देहादि क्रिया, दया, दान, व्रतादि यह जैनधर्म नहीं।' वैसे आगे उसने कहा कि, `ऐसा जैनधर्म मिला बनिये को! और बनिये को व्यापार आदि से फुरसत न मिले।' ऐसा इतिहासकार कहता है ! `जापान' का! `जापान' का इतिहासकार है, वह और उसका बेटा दोनों इतिहासकार हैं। (वह कहता है) `जैनधर्म अनुभूति है। दया, दान व व्रत के परिणाम यह कोई जैनधर्म नहीं।' इतनी सारी तो उसे जानकारी नहीं होगी, परंतु इतना कहा - आत्मा आनंदमूर्ति प्रभु ! उसका अनुभव होना, वीतरागी पर्याय (होना), यह जैनधर्म है। परंतु (जैनधर्म) बनिये को मिला और बनिये को फुरसत नहीं ! इस दुनिया के पाप...! व धंधे और...! आ..हा..हा...! सारा दिन यह करें... और यह करें...! दो घड़ी सुनने को जाय... हो गई छुट्टी... ! जाओ...! शाम को दो घड़ी प्रतिक्रमण करे (और माने) पाप धूल गये... ! धूल भी नहीं सुन तो सही...!

यहाँपर कहते हैं, तीर्थंकर को पुण्य के फल परिपक्व हो गये हैं। `**...जो भी क्रिया है वह सब उसके (-पुण्य के) उदय के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण...**' ऐसा कहा ? ऐसा नहीं कहा कि, पुण्य के फलस्वरूप केवली हुए, अरिहंत हुए !

हाल में पंडित विरोध करते हैं ! सुना है कि नहीं ? आ..हा..हा...! क्या करे ? आदमी को

फुरसत नहीं, बनिये को...! कि, जिससे सच्चा-सत्य क्या है उसका निर्णय करे ! समूह इकट्ठा हो वहाँ (जाते हैं और) जी, हाँ... ! जी। हाँ... ! (करे) ! जाओ... ! वह गप लगावे तो भी जी, हाँ...!! जड़ का (कार्य) आत्मा कर सके, पर का न कर सके, (ऐसा कहे तो यह) दिगंबर धर्म नहीं ! तो कहते हैं, जी, हाँ... ! भान कहाँ है उसे ! उस (इतिहासकार ने) बनिये का मूल्य निकाल दिया!! जिसे जो धंधा है उसकी आड़ में उसे फुरसत नहीं है, वैसा कहते हैं।

यहाँपर तीन पंक्ति में सबकुछ है। **`अर्हंतभगवान जिनके वास्तव में पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के समस्त फल भलीभाँति परिपक्व हुए हैं ऐसे ही हैं, और उनकी जो भी क्रिया है...'** देखा ? चलने की, फिरने की, बोलने की, समवसरण की (इत्यादि की) जो क्रिया हैं `**... वह सब उसके** (**-पुण्य के**) **उदय के प्रभाव से...**' ऐसा कहा। (अर्थात्) वह क्रिया हुई सो पुण्य के फल के उदय से (हुई है)। अरिहंतपना पुण्य के उदय से हुआ, वैसा नहीं कहा। `**... वह सब उसके** (**-पुण्य के**) **उदय के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण औदयिकी ही है।**' देखा ? पुण्य के जो फल हैं सो उदय है। पुण्य के फलस्वरूप केवलज्ञान, क्षायिकभाव हुआ, ऐसी बात है नहीं। आहा..हा...!

वर्तमान सब साधु द्वारा यह बात ठसवानी है कि, यह दया, दान, व्रत, उपवास करे इनके द्वारा निर्जरा होती है और इनके द्वारा केवली अरिहंत होते हैं ! आहा..हा...! बनियों को फुरसत न मिले... और जी, हाँ...! (करे)। कोई आकर कहे कि, `तेरा बाप और मेरा बाप दोस्त थे। (तब) पाँच लाख दिये थे और तेरे पास अभी पच्चीस-पचास लाख की पूँजी है तो (मुझे) दो !' वहाँ `हाँ' कहता है ? वहाँ नहीं... नहीं... (करता है)। यहाँपर कुछ भान है नहीं और जी, हाँ...! (करता है)। पर की दया का पालन कर सके...! जी, हाँ,...! पर की दया का पालन करने से धर्म होता है...! जी, हाँ...! यह अहिंसा है...! (जी, हाँ...!) वह अहिंसा नहीं। पर की दया का पालन कर सकता नहीं। पर की दया पालने का भाव है सो राग है और राग है सो अपनी हिंसा है। आ..हा..हा...! ऐसी बात...! भगवान नित्यानंद प्रभु पर दृष्टि करके जो स्थिरता उत्पन्न होती है, वीतरागभाव उत्पन्न होता है, सो अहिंसा है। `अहिंसा परमो धर्म' यह है। पर जीव को न मारना वह अहिंसा है, ऐसी उसकी व्याख्या है नहीं। अरे...! फिरानी पड़े !

`अरहंतभगवान जिनके वास्तव में पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के समस्त फल भलीभाँति परिपक्व हुऐ हैं ऐसे ही हैं,...'** अब उस पुण्य का फल क्या ? कि, `... उनकी जो भी क्रिया है...**' देखा? `केवलज्ञान हुआ है', यह उसमें नहीं कहा ! अब, ऐसी तो स्पष्ट बात (है), संस्कृत टीका है। जो कुछ भी क्रिया है - बोलने की, चलने की `**... वह सब उसके** (**-पुण्य के**) **उदय के प्रभाव से...**'

यह क्रिया पुण्य के उदय के प्रभाव से (उत्पन्न हुई है)। इसमें तो ऐसा स्पष्ट (लिखा है) !

यहाँ के प्रतिपक्ष में विरोध की यह बड़ी तकरारी गाथा है ! क्योंकि यहाँ से पुकार निकली कि, किसी भी प्रकार के व्रत कर, व उपवास कर न ! यह सब राग है, धर्म नहीं, अधर्म है ! हाय... हाय... ! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे यह धर्म नहीं ! क्योंकि जो बंध का कारण हो सो धर्म हो सकता नहीं। बंध का कारण यह अधर्म है। शुभराग कहो या अधर्म कहो (सब एक ही है)! आ..हा..हा...! `षोडशकारण भावना भाय' आता है न ? (इससे) तीर्थंकरगोत्र का बंध होता है !

अरे प्रभु ! यहाँपर तो परमात्मस्वरूप भगवान ! जिसमें पर्याय का भी अभाव, वीतरागी पर्याय का भी जिसमें अभाव, राग का अभाव तो द्रव्य में है ही, परंतु जिसकी वीतरागी निर्मल पर्याय होती है, धर्म की वीतरागी पर्याय होती है उसका भी द्रव्य में अभाव है। ऐसे द्रव्य को पकड़ और अनुभव कर तो तुझे वीतरागी समकित होगा, आहा..हा...! इसके रहित लाख क्रिया कर न ! मर जा काय-क्लेष कर-करके (तो भी धर्म होगा नहीं) ! आहा..हा..हा...!

`**उनकी जो भी क्रिया है**' ऐसे लिया है। उनको जो कुछ केवलज्ञान हुआ और वीतराग हुए, वैसा नहीं (लिया)। है कि नहीं ? संसार के हिसाब का मिलान करना हो तो दीपावली में भाईसाहब सब बैठते हैं ! (ऐसा कहते हैं कि) `कितनी लेन-देन है, देखो !' वह कहे कि, आपके पास मुझे पाँच हजार लेना है ! दूसरा कहे `नहीं, दस हजार लेना है ! मिलान करो !' वहाँ बही का मेल करे ! केरोसीन जलाये ! यहाँ कुछ भी न करे ! ओ..हो..हो..हो...! अंदर संस्कृत है, हाँ...! जो कुछ भी क्रिया है वह सभी-चलने की, फिरने की, बोलने की... आ..हा..हा...! आहार की नहीं हाँ...! भगवान को आहार होता नहीं। (कोई ऐसा कहे कि) इस क्रिया के साथ आहार की भी क्रिया होती है ! (परंतु) भगवान को आहार होता नहीं ! भगवान - अनंत आनंद का अनुभव करनेवाले को आहार कैसा ? आ..हा..हा...!

श्वेतांबर में आता है कि, प्रभु को रोग हुआ था। छ: मास तक खूनी-दस्त रहा...! सब कल्पनाएँ...! कल्पना से शास्त्र बनाये (हैं)। वे वीतराग के (कहे) शास्त्र नहीं। आहा...! (एक पंडित) है, उनके साथ वहाँ तक की बात हुई थी, यह भगवान को आहार ! आहार तो है परंतु मांस (खाया) यह भी शास्त्र में है !! भगवान मांस खाये !! अर..र..र...! है उसमें लेख, उसकी टीका में है। यहाँ है न सभी सूत्र ! `भगवती' का पंद्रहवाँ शतक है और टीका में है। वृद्धों का कहना है कि, मूल चीज मांस है, वैसा अर्थ किया है !! यह उनको बताया था। भगवान को आहार होता नहीं वहाँ मांस की बात ? मांस तो समकिती को नहीं होता। है यहाँ `भगवती' है। पढ़ा है और

उसमें नीचे लिखा है - `वृद्धलोग मूल चीज को मांस कहते हैं।' अर..र..र...! बड़ी तकरार है! भगवान को कवल आहार ही होता नहीं। केवली-पूर्णानंद का नाथ अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव (जिन्हें), उन्हें आहार कैसा ? उन्हें क्षुधा कैसी ? तृषा कैसी ? आहा..हा...!

(यहाँपर कहते हैं) चलने - फिरने की, बोलने की जो क्रिया होती है `**...वह सभी उनके (-पुण्य के) उदय के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण...**' ठीक ! `**...औदयिकी ही है।**' `औदयिकी' कही ! (अर्थात्) चलना, फिरना, बोलना यह उदय की क्रिया है। पुण्य के फलस्वरूप अरिहंतपना मिला, यह इसमें कहाँ आया ? आ..हा..हा...! यहाँ अधिक (लेने का) कारण है कि, बड़ी तकरार है न !

`**अर्हंतभगवान जिनके वास्तव में पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के समस्त फल भलीभाँति परपक्व हुए हैं...**' तेहरवाँ गुणस्थान है तब वाणी आदि तीर्थंकर प्रकृति का फल आया है। ॐ ध्वनि छूटी ! भगवान को कहाँ इच्छा थी ? आहा...! `**... वह सब उसके (-पुण्य के) उदय के प्रभाव से उत्पन्न होनेके कारण...**' कौन सी ? जो उनकी चलने-फिरने की, बोलने की क्रिया है सो सभी उनके उदय के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण `**... औदयिकी ही है।**' यह तो पुण्य के फलस्वरूप उदय की क्रिया है, वैसा कहा। पुण्य के फलस्वरूप भगवान अरिहंतपना पाये, केवल पाया, वैसे यहाँपर कहाँ (कहा) है ? आहा..हा...! शास्त्र के भी विपरीत अर्थ करना ! आहा...!

यहाँ कहते हैं कि `**...औदयिकी ही है।**' कौन से उदय की (क्रिया है) ? केवलज्ञान पाये हैं सो तो क्षायिक है और यह तो औदयिकी है। पुण्य के फलस्वरूप केवलज्ञान प्राप्त किया, वैसा कहाँ कहा है ? यहाँ तो पुण्य के फलस्वरूप चलने, फिरने, बोलने की उदय की क्रिया हुई है, ऐसा कहा। आहा...! परंतु जिस फिरके में पैदा हुये, जिस कुल में पैदा हुये और जिसका वास और संग हुआ... यह हमारा धर्म और यह हम मानते हैं ! आ..हा..हा...! अरे...! वस्तु बापू ! यह तो कोई दलबंदी होगी ! यह तो वीतराग तीनलोक के नाथ ! तीर्थंकर जो कहते हैं वह कोई फिरका या संप्रदाय नहीं है। यह तो वस्तु का स्वरूप है, आ..हा..हा...!

(अब कहते हैं) `**किन्तु ऐसी (पुण्य के उदय से होनेवाली) होनेपर भी वह सदा औदयिकी क्रिया...**' देखा ? `पुण्य के उदय से होनेवाली क्रिया' - चलने, फिरने की `**...वह सदा औदयिकी क्रिया महामोहराजा की समस्त सेना के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होती है इसलिये...**' ठीक ! मोहराजा के क्षय से उत्पन्न हुई है। आहा..हा...! विशेष कहेंगे...

(दिनांक १७-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-४२)

`प्रवचनसार', ४५ गाथा, फिर से लेते हैं। क्या कहा जाता है ? कि, अरिहंत भगवान जो सर्वज्ञ परमेश्वर ! वे `**अरिहंतभगवान जिनके वास्तव में पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के समस्त फल भलीभाँति परिपक्व हुए हैं...**' आहा...! अरिहंत को ! `महावीर' आदि भगवान हो गये वे तो अब सिद्ध हो गये। वे अरिहंतपद में नहीं है। अरिहंत में अभी महाविदेहक्षेत्र में `सीमंधर भगवान' आदि बीस तीर्थंकर बिराजते हैं। उन अरिहंत को `**...पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के समस्त फल भलीभाँति परिपक्व हुए हैं...**' (अर्थात्) भगवान को जब केवलज्ञान हुआ तब पूर्व में तीर्थंकर प्रकृति के पुण्य जो थे (उनका) अब फल आया है। तीर्थंकर प्रकृति बँधी थी तब यह शुभभाव था इससे बँधी। अब वह प्रकृति तो रही। परंतु (आगे जब) शुभभाव का नाश करके और वीतरागता, सर्वज्ञपना, प्रभु ने प्रगट किया, तब पूर्व की तीर्थंकर प्रकृति (बँधी है) सो उदय में आयी। आहा..हा...! अतः (ऐसा कहते हैं कि) उनके पुण्य के फल परिपक्व हो गये हैं। भगवान का परिपूर्ण पुण्य प्राप्त हुआ।

अब, `**...उनकी जो भी क्रिया है...**' अब भगवान के चलने, फिरने की, बोलने की क्रिया है, वाणी है - भगवान को उपदेश में ॐ ध्वनि उठे, चले वह सभी `**...क्रिया है वह सब उसके (-पुण्य के) उदय के प्रभाव से उत्पन्न होनेके कारण...**' यह तो पूर्व के पुण्य के कारण वह चलना, फिरना, बोलना होता है सो पुण्य के कारण है। अतः `**...औदयिकी ही है।**' सूक्ष्म बात है !

`**किन्तु ऐसी (पुण्य के उदय से होनेवाली) होनेपर भी वह सदा औदयिकी क्रिया...**' कहते हैं कि, भले नामकर्म का कर्म (बँधा हुआ) था ऐसा उसे उदय में आया परंतु `**...महामोहराजा की समस्त सेना के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होती है इसलिये...**' (अर्थात् भगवान को) मोह है नहीं, राग-द्वेष है नहीं। (अब) तीर्थंकर प्रकृतिका उदय आया-समवसरण (हुआ), वाणी-ध्वनि निकले, सुबह में छः घड़ी, दोपहर को छः घड़ी, शाम को छः घड़ी ॐ ध्वनि उठे, बारह सभा हो, परंतु वह ॐ की क्रिया आदि जो है, यह वचनयोग की क्रिया और चलने-फिरने की काययोग की क्रिया, यह सब पूर्व के पुण्य के कारण है। (फिर भी) मोह व राग-द्वेष नहीं है अतः वह क्रिया बंध का कारण नहीं है। ऐसी बातें हैं। अब तक अरिहंत किसे कहें, इसकी ख़बर नहीं ! आ..हा..हा...!

परमेश्वर बोले ! ऐसे परमेश्वर बोलते नहीं, कहते हैं कि, यह तो पूर्व के कर्म का निमित्त है इसलिये वाणी निकलती है, आ..हा..हा...! वे तो वीतराग हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर पूर्ण हैं। उन्हें (जो)

चलने की क्रिया (होती है, उससे) `मैं चलता हूँ' वैसा नहीं है। यह तो देह की जड़ की क्रिया (है)। बोलने में भाषा होती है वह जड़ की (अवस्था) है। आ..हा..हा...! परंतु वह क्रिया मोह के सर्वथा क्षय होने से उत्पन्न हुई है इसलिये `**...मोहरागद्वेषरूपी उपरंजकों का अभाव होने से...**' (उपरंजक अर्थात् मलिनभाव)। भगवान को मलिनभाव नहीं है। आ..हा..हा...!

`**...चैतन्य के विकार का कारण नहीं होती इसलिये...**' यह क्रिया आत्मा के विकार का कारण नहीं होती। आहा...! जैसे अनादि अज्ञानी के चलने, फिरने, बोलने की क्रिया होती है सो राग-द्वेष सहित है। (अर्थात्) `मैं बोलूँ, देह को हिलाऊँ' वैसा अज्ञानी का मिथ्यात्वभाव है। आहा..हा...! सूक्ष्म बात है, भाई ! यह अज्ञानभाव है कि, `मैं बोल सकता हूँ, मैं चल सकता हूँ'! आ..हा..हा...! है ? `**...मोहरागद्वेषरूपी उपरंजकों का...**' उपरंजक अर्थात् विकारीभाव का `**...अभाव होने से चैतन्य के विकार का कारण नहीं होती इसलिये कार्यभूत बंध की अकारणभूतता से...**' आ..हा..हा...! (अर्थात्) जो बंध(रूप) कार्य आना चाहिये उसका अकारण है, (यानी कि) बंध होता नहीं। एक समय के कंपन की (क्रिया होती है), वह एक समय होती है परंतु उसका बंध खिर जाता है। वैसा यहाँ कहना है। समझ में आया ? आहा..हा...!

`...**बंध की अकारणभूतता से...**' आ..हा..हा...! देह की चलने, फिरने की क्रिया, बोलने की क्रिया यह `**...बंध की अकारणभूतता से और कार्यभूत मोक्ष की कारणभूतता से...**' आ..हा..हा...! इतना क्षय हो जाता है, नाश हो जाता है। यानी कि भाषा का जो उदय है वह नाश होता जाता है, चलते हैं उनके उदय का नाश होता जाता है। अत: यह (क्रिया) मोक्ष का कारण है, वैसा सिद्ध करते हैं ! आहा..हा...! बंध का अकाण है और `**...मोक्ष की कारणभूतता से क्षायिकी ही क्यों न माननी चाहिये ?**' समझ में आया ?

अनादि का जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव है उसे तो `मैं चलता हूँ, बोलता हूँ' वैसा उसे राग व द्वेष होता है। और चलने की क्रिया जड़ की है तथापि `मैं करता हूँ' वैसा मानता है। वह तो मिथ्यादृष्टि है, उसे `धर्म' की ख़बर नहीं, आहा..हा...! समझ में आता है कुछ ?

यहाँपर तो पूर्व के पुण्य का फल तेरहवें (गुणस्थान में) परिपक्व आया। क्योंकि तीर्थंकरप्रकृति का फल ही तेरहवें (गुणस्थानपर) आता है। प्रकृति चौथे, पाँचवे, छठ्ठवें बंधती है। यह समकिती को बंधती है। अज्ञानी (कि) जो अब तक राग में धर्म मानते हैं, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम यह राग है, उसे धर्म मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। उसे जैनधर्म की ख़बर नहीं। परंतु जिसको ख़बर है कि, यह राग है वह बंध का कारण है, मेरा प्रभु आत्मा (ज्ञान) स्वरूपी है वह

अबंधस्वरूपी है। `जो परस्सदि अप्पाणं' (अर्थात्) जिसने आत्मा को अबंध देखा (वह ज्ञानी है)। आहा..हा...! परिणाम में परिणाम से अंदर स्वयं अबंधस्वरूप भगवान पूर्ण ध्रुव है। उसे जिसने देखा और माना, उसे अब (जो) कुछ राग आये तो वह बंध का - पुण्य का कारण होता है। (परंतु) यह चलने, फिरने की क्रिया (बंध का कारण होती नहीं)। वह जो राग आया सो बंध का कारण होता है। आ..हा..हा...! वह (रागादि) भगवान को है नहीं।

यानी कि `**...बंध की अकारणभूतता से कार्यभूत मोक्ष की कारणभूतता से...**' आ..हा..हा...! अरिहंत कौन है ? और अरिहंत को क्या होता है ? (इसकी अज्ञानी को ख़बर नहीं है और) `णमो अरिहंताणं' (कहकर) जय नारायण...! हो गई छुट्टी... गिनती चलाई...! `णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं...' वह तो यह बोलता हूँ सो मेरी क्रिया है, ऐसा मानता है। `णमो अरिहंताणं' यह भाषा तो जड़ की क्रिया है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि, `यह मेरी क्रिया है, मैं बोलता हूँ।' आ..हा..हा...! जैनधर्म क्या है इसकी उसे ख़बर नहीं, आहा..हा...!

वह राग होता है सो मेरी क्रिया नहीं परंतु मैं तो चैतन्य, शुद्ध चैतन्य हूँ ! ऐसा जिसे सम्यग्दर्शन है... आहाययय! अब तक गृहस्थाश्रम में भले ही हो...! परंतु जिसने राग से भिन्न होकर अंदर शुद्ध आत्मा चैतन्य आनंदकंद है, सुख का सागर है, अतीन्द्रिय ज्ञान और आनंद से भरपूर प्रभु आत्मा है ! (वैसा जाना वही ज्ञानी है)। (किसी को ऐसा लगे) किसको ख़बर है कहाँ है ? आहा..हा...! ऐसे आत्मा का जिसे ज्ञान होता है, समकित होता है उसे ऐसा विकल्प आता है कि, `मैं जगत को धर्म प्राप्ति कराऊँ !' इसमें तीर्थंकरगोत्र बंध जाता है। यह तीर्थंकरगोत्र बंधता है उसका उदय कब आये ? कि, जब वह राग का नाश करे और केवल की प्राप्ति करे, अरिहंतपद की प्राप्ति करे तब यह प्रकृति का उदय आता है। अतः यहाँपर कहा कि, पुण्य के परिपक्व फल वहाँ आये ! आ..हा..हा...! कहिए, समझ में कुछ आता है ? सूक्ष्म बात, बापू !

अभी तो `णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं करो... और सामायिक करो व पौषध करो...! धूल भी नहीं ! तेरे सामायिक कहाँ थी ! अब तक आत्मा क्या है उसका भान नहीं ! आत्मा क्या कर सकता है उसकी ख़बर नहीं ! उसे सामायिक कैसी व पौषध कैसा ? यह तो अज्ञानभाव है, आहा..हा...!

यहाँपर तो कहते हैं, आत्मा रागरहित, देह की क्रिया रहित जीव है। ऐसे जीव के स्वरूप का, अनंत आनंद और ज्ञान का भान हुआ, यह ध्रुव चीज है, नित्य प्रभु है ! इस ध्रुव का जिसने ध्येय करके ध्यान किया और समकित हुआ... आहा..हा...! उन्हें अभी तक वीतराग नहीं होने

से राग होता है, इस राग के आने में तीर्थंकरगोत्र बंधता है। फिर भी यह तीर्थंकरगोत्र का फल राग है तब तक नहीं आयेगा। यह राग का नाश (करेंगे तब आयेगा)। ऐसी बातें हैं। भाई ! वीतरागमार्ग सूक्ष्म बहुत, बापू ! अभी तो सभी जगह बहुत गड़बड़ी फैल गई है ! आहा..हा...!

यह पुण्य का फल, तीर्थंकरगोत्र का उदय केवली को आता है। अतः यहाँपर कहा न? (कि), `**जिनके वास्तवमें पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के समस्त फल भलीभाँति परिपक्व हुए हैं**' है न ? तेरहवें (गुणस्थानपर) ! आ..हा..हा...! तथापि उन क्रिया के उदय में वाणी निकले, चले, भगवान हजारों कोस विहार करें... आहा..हा...! वह देह की क्रिया और वाणी की क्रिया पूर्व के पुण्य के उदय द्वारा होती है। आहा..हा...! है ? (अतः कहा कि) `**...बंध की अकारणभूतता से...**' यह कोई कहानी नहीं है ! यह तो वस्तु का तत्त्व है ! सूक्ष्म बहुत, भाई ! आहा...!

जगत को कहाँ दरकार है ? जिसमें पैदा हुआ, जिसमें (बड़ा) हुआ... यह धंधे करना व पैसे जमा हुये व स्त्री, पुत्रों को संभालना... ! केवल पाप... ! धर्म तो नहीं परंतु वहाँ तो पुण्य भी नहीं ! आहा...! समझ में आया कुछ ? परंतु हमेशा दो-चार घँटा सुनने मिले और उसमें शुभभाव रखे तो उसे पुण्य भी बंधता है। धर्म तो नहीं ! यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हैं, वे पुण्य हैं, राग है, आहा..हा...! इस राग से भिन्न चैतन्यमूर्ति भगवान का आत्मा जैसे वीतरागभावरूप प्रकट हुआ, वैसा ही आत्मा अंदर जिनस्वरूप वीतरागमूर्ति प्रभु है। (यह बात) कैसे बैठे... ?

`घट घट अंतर जिन वसे, घट घट अंतर जैन' अंदर जिनस्वरूपी प्रभु है ! तुझे ख़बर नहीं। आ..हा..हा...! इस जिनस्वरूपी भगवान आत्मा का ध्येय करके, परिणाम का लक्ष छोड़कर, आ..हा..हा...! राग का लक्ष छोड़कर, जिसने शुद्ध चैतन्यमूर्ति (पर) दृष्टि स्थापित की... आ..हा..हा...! उसे सम्यग्दर्शन होता है। तब उसे धर्म की पहली शुरूआत कहा जाय। आहा...! समझ में आया कुछ ? उसे जब ऐसा विकल्प आये कि, `अरे...! जगत के जीव धर्म प्राप्त करे !' तो इस विकल्प द्वारा तीर्थंकर प्रकृति बंध जाती है। परंतु इस बंध का फल कब मिले ? कि, वह राग का नाश करके वीतराग हो तब उस प्रकृति का फल आता है। आहा..हा...!

श्रोता :- उसमें उदीरणा नहीं होती ?

समाधान :- कुछ नहीं होता... ! सूक्ष्म बात है, बापू ! यह तो जिनेश्वर, परमेश्वर का मार्ग है ! ऐसा मार्ग कहीं और नहीं है। इसके संप्रदायवाले को भी अब तक ख़बर नहीं न ! संप्रदाय में पड़े व (माने कि) `हम श्रावक हैं ! और साधु (हैं) !' कहाँ साधु और श्रावक थे ! आहा..हा...! अब तक तो समकित किसे कहें इसका ठिकाना नहीं।

(यहाँपर) कहते हैं कि, भगवान को जो प्रकृति बंधी, यह जिस भाव से बंधी, उस भाव का जब नाश किया और स्वयं सर्वज्ञ हुए, तब पूर्ण प्रकृति का फल परिपक्व हो गया, आ गया। (वह फल) आया यानी कि विहार हुआ, भाषा निकले, ॐ ध्वनि निकले ! भगवान को ऐसी भाषा होती नहीं। वीतराग को होंठ बंध रहते हैं, कंठ बंध (होता है और) ॐ... ऐसी ध्वनि उठती है !

`ॐकार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे' संतगण इस भगवान की वाणी सुनकर विचारते हैं। इसमें से आगम की रचना करते हैं। इस आगम की रचना में से धर्मी जीव संदेह का नाश करते हैं। आगम में ऐसा कहा है कि, `प्रभु ! तू तेरे आत्मा में जा !' आ..हा..हा...! (`समयसार' - चतुर्थ कलश में) आया न ? `जिनवचसि रमन्ते' यानी कि अंदर शुद्ध आत्मा पूर्णानंद प्रभु है वहाँ तेरी दृष्टि लगा ! आ..हा..हा...! तो तुझे सम्यग्दर्शन होगा। धर्म की पहली सीढ़ी ! इसके बिना धर्म नहीं है। लाख व्रत व क्रोड़ क्रियाकांड करे... यह सब बंध का कारण है। आ..हा..हा...! यह बंध का कारण है वह मिथ्यात्व सहित बंध का कारण है। और आत्मज्ञान और सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् जो राग आया और उसमें तीर्थंकर प्रकृति का जो बंध पड़ा, उसका फल वह राग का नाश करे और केवल प्राप्त हो तब आता है। यानी कि राग के द्वारा अरिहंतपद मिला, वैसा नहीं है। आजकल इसमें बड़ी आपत्ति है ! पाठ आया है न इसमें ! `पुण्यफला अरहंता' ! (इसलिये कहते हैं) `पुण्य का फल अरिहंत है !' अरे... सुन तो सही...! पुण्य का फल तो जो क्रिया उदित हुई सो है। अरिहंतपना प्राप्त हुआ सो पुण्य के द्वारा है ?

यहाँ यह कहते हैं कि, भगवान के जब पुण्य का परिपक्व फल आया तब उनकी चलने, फिरने की, बोलने की सब क्रिया द्वारा उन्हें राग, द्वेष व मोह नहीं है इससे उन्हें बंध होता नहीं। यानी कि बंध का अकारण हुआ तब कार्यभूत मोक्ष का कारण हुआ। क्या कहा समझ में आया कुछ ? क्षण-क्षण पर जो विकृत दशा (होती है)... उदय हाँ...! अंदर `नामकर्म' का उदय ! वह क्षण-क्षणपर आकर खिर जाता है। इसलिये बंध का अकारण और मोक्ष का कार्य (ऐसी यह क्रिया है)। अरे..अरे...! ऐसी बातें अब...! धंधे की आड़ में फुरसत कब बनिये को ! सारा दिन पाप...! फुरसत मिले, घंटा सुनने जाय तो उसे ऐसा सुनने मिले... `व्रत करो, उपवास करो, तुम्हारा कल्याण होगा !' अब वह क्रिया तो राग की है। आ..हा..हा...! वैसा तो अनंतबार किया है। `मुनिव्रत धार अनंतबार, ग्रिवेयक उपजायो' हजारों रानियाँ छोड़कर मुनिपना अनंतबार लिया, पंचमहाव्रत का पालन किया, परंतु यह तो राग है। पंचमहाव्रत यह राग है, वह कोई धर्म नहीं! आ..हा..हा...!

यहाँपर कहते हैं कि, जिसे आत्मज्ञान हुआ, जिसे ध्रुव आत्मा के अवलंबनपूर्वक सम्यग्दर्शन हुआ... आ..हा..हा...! उस जीव को अब तीर्थंकरत्व के बंध का भाव आया। तीर्थंकर प्रकृति भी रागभाव से बँधती है। (यह) धर्म नहीं ! आ..हा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, जिसे आत्मज्ञान हुआ, जिसे ध्रुव आत्मा के अवलंबन द्वारा सम्यग्दर्शन हुआ... आ..हा..हा...! इस जीव को अब तीर्थंकरत्व के बंध का भाव आया। तीर्थंकर प्रकृति भी रागभाव से बंधती है। (यह) धर्म नहीं। आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ? आहा..हा...!

(संवत्) १९८५ की (साल में) जब संप्रदाय में थे, तब `बोटाद' में कहा... '८५ की साल! कितने साल हुए ? पचास...! पचास साल पहले ! दीक्षा (लिये) छियासठवाँ साल चल रहा है। छियासठ तो दीक्षा (लिये) हुए ! (इसी) बैशाख में शरीर के नब्बेवाँ वर्ष लगेगा ! `बोटाद' (में) हजारों लोग (सभा में) आते थे) ! बड़े लखपति ! पचास-पचास हजार की कमाईवाले ! बड़ी सभा...! उपाश्रय में समाविष्ट हो न पाय। इतना मान था न ! हमारी प्रसिद्धि थी अतः (लोग आवे) ! एक बार धीरे से कहा, `भाई ! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बंधता है सो भाव राग है, धर्म नहीं ! सख्त भाषा से कहे तो वह अधर्म है !' (क्योंकि) धर्म के द्वारा बंध होता नहीं। धर्म तो आत्मा का शुद्ध चैतन्यस्वभाव का भान होकर वीतरागी निर्मल दशा हो, वह धर्म है। इस धर्म से बंधन नहीं होता। आहा..हा...! यह बंधन हुआ है, वह भाव धर्म नहीं। परंतु उन दिनों तो हमारी प्रसिद्धि बड़ी थी न ! `कानजीस्वामी बोले तब उनके सामने बोलना नहीं चाहिये !' पचास साल पहले की बात है! बाद में तो जब परिवर्तन किया तब... हाय..हाय... (हो गया) ! भाई ! तुझे ख़बर नहीं। यह राग है, तीर्थंकर प्रकृति बंधती है सो राग है। बंधन का जो कारण हो, सो धर्म नहीं होता। धर्म तो निर्जरा का कारण होता है। आत्मा का ज्ञान व सम्यग्दर्शन होता है, वह बंध का कारण नहीं होता, आ..हा..हा...! परंतु किसको ऐसी दरकार है...! जय नारायण...! जिस संप्रदाय में पैदा हुये, अपने कुल में (जिसका) संग हुआ उसे माना ! दो घड़ी, घंटा जाकर आये, सुन आये... हो गया धर्म...! आहा..हा...! ऐसा ही सबने किया था न ! हम भी वैसा ही करते थे न !! आहा..हा...!

`पालेज' में पिताजी की अपनी दुकान थी। जब दुकान पर जाते थे तब पर्युषण के दिन हो तब शाम को प्रतिक्रमण करते थे ! यह तो सत्तर साल पहले की बात (है), हाँ...! प्रतिक्रमण करते, सामायिक करते, परंतु वे सभी राग की क्रिया...! उस समय ऐसा मानते थे कि, हम धर्म करते (हैं) ! उपवास करना यह तपस्या (कहलाये), और तपस्या वह निर्जरा ! धूल में भी नहीं...!

`स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में हाल में `उपवास' की व्याख्या बताई थी न ? `स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में ऐसी व्याख्या है कि, उपवास किसे कहे ? कि इन जड़ इन्द्रियों को जीतकर... यह इन्द्रियाँ तो जड़ हैं, मिट्टी हैं। एक-एक विषय को जाने वह भावेन्द्रिय है और उनके विषय भगवान व भगवान की वाणी व देव, गुरु, शास्त्र और स्त्री-पुत्र, ये सभी इनके विषय हैं। इन इन्द्रियों का लक्ष छोड़े और इन्द्रियों को जीते और आत्मा के आनंदस्वरूप में `उप' अर्थात् समीप में (`वास' अर्थात्) बसे, उसे `उपवास' कहते हैं। `स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में है। आ..हा..हा...! यह सभी लोग `वर्षीतप' करते हैं, सो तो सभी `लंघन' हैं ! कठिन बात है, प्रभु ! दुनिया बेचारी को कहाँ दरकार (है) ! मरकर कहाँ जायेंगे ? (इसकी कहाँ दरकार है)। दुकान की और धंधे की सारा दिन मजदूरी करे ! बड़े मजदूर... ! राग के मजदूर...! सच होगा ? सारा दिन (धंधा) करे यह मजदूरी होगी ? आ..हा..हा...! इसमें सारा दिन राग व द्वेष ! यह किया और वह किया ! फुरसत मिले तो स्त्री-पुत्रों को संभालने के लिये रुके ! इनसे छूट्टी ले तो - छः सात (घंटे) रात को सोने में बितायें ! वह फुरसत कब ले कि यह धर्म क्या है ?

आ..हा..हा...! यहाँ तो परमात्मा ऐसा कहते हैं, जिनेश्वरदेव का हुक्म है ! जिनेश्वरदेव की आज्ञा है कि, जिनेश्वरदेव की जो कुछ क्रिया हो सो पूर्व के पुण्य के फल-स्वरूप होती हैं। आहा..हा...! और वे क्रिया बंध का कारण नहीं। क्योंकि वहाँ मोह और राग का नाश हुआ है, आहा..हा...! आगे कहेंगे, हाँ...! कि, भगवान के राग व मोह का नाश हुआ इसलिये अन्य सभी को भी शुभाशुभभाव है ही नहीं, वैसा नहीं है। आगे ८६ (गाथा में) आयेगा। आहा..हा...! अज्ञानी प्राणी अनादि संसार में जो कुछ दया, दान, व्रत, भक्ति के परणाम करे सो राग हैं। वे शुभ हैं, इनसे पुण्य बंध होगा। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, दुकान में व्यवस्थित बैठकर धंधे में कमाना, ये सब पाप हैं, आहा..हा...! इस पुण्य-पाप के भावरूप अज्ञान से जीव परिणमित होता है। उसकी क्रिया में पुण्य-पाप का बंधन है नहीं, ऐसा है नहीं। ऐसा कहते हैं, आ..हा..हा...! ऐसा भारी काम, भाई !

यहाँ तो बखूबी क्या कही है ? ओ..हो..हो..हो...! कि, इस राग से बंधन हुआ, इस राग का नाश करके अंदर में आत्मा पूर्ण ध्रुव स्वरूप का पूर्ण आश्रयकर और जिनेश्वर परमात्मा को केवलज्ञान हुआ, वे परमेश्वर वाणी में ऐसा कहते हैं कि, जो यह वाणी निकले और चलने, फिरने की क्रिया हो, यह पूर्व के पुण्य के फल परिपक्व हो गये उनकी क्रिया हैं। और इससे वह बंध का कारण होती नहीं। क्योंकि उसमें मोह व राग-द्वेष नहीं। बंध का कारण होती नहीं, इसे तो

एक तरफ रखो ! परंतु कार्यभूत मोक्ष का कारण होती हैं ! खिर जाती है न ! (अतः मोक्ष का कारण होती है)। मोक्ष अर्थात् भावमोक्ष तो हो चुका है, परंतु जितना नामकर्म की प्रकृति का उदय आता है इतना खिर जाता है। अतः वहाँ उतनी क्षायिकभाव की शुद्धि होती जाती है, ऐसा है! तथापि वह क्षायिकभाव आत्मवस्तु में नहीं। ऐसी बातें अब...! क्षायिकभाव वह पर्याय है। और भगवान आत्मा सत् चिदानंद प्रभु ! शुद्ध आनंद का सागर ! द्रव्य है, उसमें यह क्षायिकभाव नहीं है। पर्याय में क्षायिकभाव है। आ..हा..हा...! परंतु वह क्षायिकभाव क्यों हुआ ? कि, द्रव्यस्वभाव जो आत्मा नित्यानंद प्रभु ! दृष्टि में इसका आश्रय लेकर उसके अंदर स्थिर हुआ... आ..हा..हा...! तब उसे केवलज्ञान और वीतरागता हुई, आ..हा..हा...!

ऐसी किस प्रकार की बात !! वीतरागता का मार्ग होगा यह !? जैन परमेश्वर का मार्ग होगा यह ? हम तो भाई ऐसा सुनते आये हैं कि, `सामायिक करो, पौषध करो, प्रतिक्रमण करो, छः परबी ब्रह्मचर्य पालन करो, कंदमूल न खाओ, चौविहार करो... ऐसा सुनते हैं !!' श्वेतांबर में `यह करो... पूजा करो... भक्ति करो... यात्रा करो... सिद्धचक्र (विधान करो) !' सुन...! सुन...! यह सभी राग की क्रिया की बातें हैं। आहा..हा...! इस राग से तो उसे बंधन (हो) और धर्म माने तो मिथ्यात्व का बंधन है।

आ..हा..हा...! यहाँपर तो जब परमात्मा को केवलज्ञान हुआ, (तब) बंधन के कारण का नाश किया। यह प्रकृति का बंधन हुआ था उसका कारण शुभराग था। इस शुभराग का नाश किया, तब वीतरागता होकर केवल हुआ, उस समय यह प्रकृति बँधी हुयी थी वह फल में प्राप्त हुई। आहा..हा...! अतः यह उदय की क्रिया समय-समयपर खिर जाती है इसलिये बंध का अकारण है और मोक्षरूपी कार्य हो सो इसका कारण है। अरे... अरे...! ऐसी बातें हैं !!

वे लोग तो इच्छामि पडिकमन - प्रतिक्रमण करे... जाओ...! उसमें कुछ समझने का है ? मिच्छामि दुक्कडम्... जाओ...! कुछ भी भान भी नहीं कि, यह शब्द क्या है ? यह बोलता हूँ सो वाणी किसकी है ? अंदर विकल्प उठते हैं सो राग है या आत्मा है ? (इसकी कुछ ख़बर नहीं)। आहा..हा...!

`लोगस्स' का एक बार कहा था न ? लोगस्स में आता है न ? `विहूयरयमला' ! `लीमडी' में एक दशाश्रीमाली की औरत थी। वहाँ दो उपाश्रय हैं - एक संघवी का उपाश्रय और एक शेठ का उपाश्रय। शेठ के उपाश्रय में बहुत दशाश्रीमाली और संघवी के उपाश्रय में वीशा। हमने तो दोनों देखें हैं न ! उनमें दशाश्रीमाली और वीशाश्रीमाली के बीच विरोध था। दशाश्रीमाली की

एक औरत सामायिक करने बैठी। उसकी मानी हुई...! इसमें `लोगस्स' आया `लोगस्स' ! `विहूयरयमला' ! वह ऐसा बोली कि, `वीशारोईमल्या' ! किसी ने कहा, अपना झगड़ा यह लोगस्स में कहाँ से आया ? उसे `विहूयरयमला' के अर्थ की भी ख़बर न थी ! गिनती चलाये जाय...! आ..हा..हा...! अपने वीशा-दशा की तकरार लोगस्स में कहाँ से आयी ? `वीशारोईमल्या' देखो तो सही !

यह तो `विहूयरयमला' है, `विह्य' यानी कि विशेषरूप से `हे्य' नाश किया। हे परमात्मा! हे सिद्ध प्रभु ! आपने `विहूयरयमला' विशेषरूप से `हे्य' नाश किया है। `रज' माने कर्मरज और `मल' माने पुण्य-पाप के भाव। `रयमला' के दो अर्थ हैं। `रज' माने कर्मरज और `मल' माने पुण्य-पाप का मैल। आपने इन दोनों का नाश किया है। यह `वहूयरयमला' का अर्थ है। क्या अर्थ होगा? किसे मालूम ? लोगस्स पढ़कर (वैसे के वैसे चल जाय)। और वह `नमोत्थुणं' ! आता है न ? `सरणं गई पईट्ठा'! `नमोत्थुणं' में आता है न ? `अरिहंताणं, भगवंताणं, आईगराणं... सरणं गई पईट्ठा...' एक औरत बोलने लगी `संध्या टाणे संघवी पीट्या' !! (संध्या के समय संघवी की पीटाई)। वह `सरणं गई पईट्ठा' आया न ? (उसमें वह बोली)। परंतु यह `नमोत्थुणं' में कहाँ से आया ? अर्थ की भी ख़बर न हो ! भाव तो कहाँ है ? आहा...! फुरसत भी कहाँ है इतनी सारी? भाई ! आता है न ? `सरणं गई पईट्ठा' ! `अपडिहयवर-नाणदंसणधराणं', `सरणं गई पईट्ठा' (अर्थात्) प्रभु ! आप तो शरण हो ! आत्मा के आधार हो ! व्यवहार से ऐसा कहा। तब वे लोग कहें `संध्या समय संघवी की पीटाई', परंतु यह अर्थ निकाला कहाँ से ? अर्थ की भी ख़बर नहीं! अब तक तो व्यवहार (की ख़बर नहीं) ! (वहाँ) निश्चय तो कहाँ है ! समकित तो कहाँ है ! परंतु व्यवहार के उसके अर्थ क्या ? और उस समय भाव शुभ है या कैसा (है) ? इसकी भी ख़बर नहीं। अंधी दौड़ सब चली है !! आहा...! आ..हा..हा...!

यहाँ परमात्मा जिनेश्वरदेव का हुक्म है ! उनका फरमान है ! उनकी आज्ञा है ! कि, जो कोई तीर्थंकर प्रकृति बंधे वह भाव राग है। यह राग सो अधर्म है। दो बोल कहे।

(संवत्) १९८५ की बात है। `बोटाद' ! बड़ी सभा..! हमारी तो आबरु बड़ी थी न ! `कानजीस्वामी' अर्थात् ओ..हो..हो...! ऐसी क्रिया भी कठिन करते थे, जड़ की...! (एक दिन कहा) `देखो ! जिस भाव से तीर्थकरगोत्र बंधता है वह भाव राग है, धर्म नहीं। और पंचमहाव्रत के परिणाम आस्त्रव हैं।' उस समय (कोई) बोला नहीं, (वैसा समझे कि) महाराज कुछ कहते होंगे! पंचमहाव्रत के परिणाम दया, अहिंसा, सत्य यह राग है। आस्त्रव है। यह बंध का कारण

है, धर्म नहीं। '८५ के पौष महीने की बात है। छियासठ (वर्ष) तो दीक्षा (लिये) हुए। बाईस में वर्ष में दुकान छोड़ी (और) साढ़े तेईसवें वर्ष में दीक्षा ली थी। `पालेज' दुकान है न ? `भरुच' और `बडौदा' के बीच `पालेज' है। बड़ी दुकान है। हाल में गये थे। चालीस लाख रुपये हैं। तीन-चार लाख की आमदनी है। मैंने वह दुकान पाँच साल चलाई थी ! तिरसठ की साल से अड़सठ (तक), पाँच वर्ष ! सत्तरह वर्ष से बाईस (तक), पाँच साल ! पाप ! आहा..हा...! परंतु इस वस्तु की ख़बर नहीं थी। आहा...! आगे तो जब अंदर से आया... ओह... भैया...! मार्ग तो और था...! दीक्षा ली थी... (परंतु) यह दीक्षा नहीं... ! आगे तो दीक्षा लेने हमारे पास बहुत लोग आते थे। (परंतु) `हम दीक्षा देते नहीं' ऐसा कहा। (उसे) ऐसा कैसे कहे कि, यह दीक्षा नहीं, साधुता ऐसी नहीं होती। आहा...! यह मार्ग न्यारा, भाई ! आ..हा.हा...!

यहाँ तो परमात्मा का फरमान है कि, हमें जो केवलज्ञान हुआ, वह हमने आत्मा का पूर्ण आश्रय लेकर, राग का अभाव कर केवलज्ञान प्राप्त किया है। परंतु जिस राग में बंधा हुआ था वह (तीर्थंकर) प्रकृति अब तक (सत्ता में) रही (है)। उस प्रकृति का उदय हमें केवलज्ञान हुआ तब आया, आहा...हा...! उस समय जो चलने-फिरने की क्रिया हुई उसमें पूर्व के पुण्य की नामकर्म की प्रकृति का निमित्त है। वह प्रतिक्षण खिरता जाता है। इसलिये बंध का अकारण है और कार्यभूत मोक्ष का कारण है। जितना खिरता जाये उतना आगे बढ़ते जाये, आहा..हा...! ऐसी बातें अब...! किस प्रकार की यह बात !!

श्रोता :- समकिती को भी ऐसा लागू होता है ?

समाधान :- समकिती को भी ऐसा है। राग आता है इतना उसे बंध है। खिरता है, (ऐसा) नहीं। यह तो दृष्टि के जोर में खिरता है, ऐसा कहा है, यह तो अपेक्षा से कहा है। (परंतु) जितना राग आता है उतना बंध का कारण है। पंचमहाव्रत के परिणाम आये, वह राग है, आस्रव है, बंध का कारण है। अंदर नित्यानंद प्रभु का जितना अवलंबन लेकर जो निर्मलता हुई है, वीतरागता (हुई है) उतना अबंध का कारण है, आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ?

श्रोता :- क्षण-क्षण शुद्धि की वृद्धि होती जाय ?

समाधान :- यह तो स्व का आश्रय है, इसके द्वारा (होता है)। स्व का इतना आश्रय सदा है न ! ध्रुव... ध्रुव... नित्यानंद प्रभु ! वहाँ दृष्टि को स्थापित किया है न ! आहा..हा...! समकिती धर्मी जीव ने वहाँ ध्रुव पर दृष्टि स्थापित की है। आहा...! अपने परिणाम पर उसकी दृष्टि नहीं होती। आ..हा..हा...! सूक्ष्म बातें, भाई ! शुभ-अशुभ परिणाम होते हैं उनके ऊपर दृष्टि नहीं होती।

अरे...! धर्म की शुद्धता प्रगट हो उस पर उसकी दृष्टि नहीं होती। नित्यानंद प्रभु ध्रुव ! आदि-अंत रहित ! उसका कोई कर्ता नहीं, (ऐसा) सहज प्रभु है। वैसा ध्रुव तत्त्व है।

`उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्' ! (उसमें) वह उत्पाद-व्यय है सो पर्याय है। ध्रुव है सो त्रिकाली द्रव्य है, आ..हा..हा...! उस उत्पाद-व्यय ऊपर धर्मी की दृष्टि नहीं, आहा..हा...! समझ में आया कुछ ? यह क्या होगा ? वह उत्पाद-व्यय है सो परिणाम है। उस परिणाम पर धर्मी की दृष्टि नहीं। धर्मी की दृष्टि ध्रुवपर है, आ..हा..हा...! अतः ध्रुवपर दृष्टि होने के कारण उसे शुद्धता बढ़ती जाती है और राग घटता जाता है। शुद्धता क्या है ? व राग क्या है ? ऐसा है, भाई !

(यहाँपर) ऐसा कहते हैं, `**...क्यों न माननी चाहिये ?**' है न ? `**...कार्यभूत मोक्ष की कारणभूतता से क्षायिकी ही क्यों न माननी चाहिये ? (अवश्य माननी चाहिये) और जब क्षायिकी ही माने तब कर्मविपाक (-कर्मोदय) भी उनके (अरहंतों के) स्वभावविघात का कारण नहीं होता (ऐसा निश्चित होता है)।**' आ..हा..हा...! (अर्थात्) यह पुण्य का फल बोलने की, चलने की (क्रियारूप) कर्मविपाक आया, यह उन्हें कोई विकार का कारण होता नहीं। `**...स्वभावविघात का कारण नहीं होता...**' (अर्थात्) स्वभाव का घात करे ऐसा होता नहीं। सूक्ष्म बहुत, भगवान ! आ..हा..हा...!

कितने कारण रखें ? कि, भगवान को (तीर्थंकर) नामकर्म का उदय आया उसके द्वारा वाणी निकले, चलना हो, वह क्रिया (होती है)। परंतु क्षण-क्षण मोह,राग, द्वेष के अभाव के कारण (पूर्वकर्म) खिरता जाता है। अतः (यह क्रिया) बंध का अकारण है और छूटता जाता है इतना मोक्ष का कारण है, आ..हा..हा...! भावमोक्ष तो हुआ है,परंतु अब द्रव्यमोक्ष क्षण-क्षणपर होता जाता है। आहा...! भाई ! मोक्ष का कारण क्या ? इस प्रकार भावमोक्ष-केवल(ज्ञान) तो हुआ है। परंतु कर्म का जो संबंध है, वह छूटता जाता है। उतना द्रव्यमोक्ष होता है। पूर्ण छूट जायेगा तब पूर्ण द्रव्यमोक्ष (होगा)। तब सिद्ध हो जायेंगे - `णमो सिद्धाणं' ! जब तक अर्हिहंतपद में हैं तब तक यह उदय की क्रिया अंदर होती है।

आ..हा..हा...! भगवान बिराजते हैं। `सीमंधर परमात्मा' ! इस तरफ देखो ! महाविदेह में अभी प्रभु बिराजते हैं !! पाँचसौ धनुष का देह ! आहा..हा...! करोड़ पूर्व का आयुष्य ! भगवान बिराजते हैं !! यह सामायिक में आज्ञा लेते हैं न ? उसे भान कहाँ है ? कहाँ भगवान ? व भगवान का केवल(ज्ञान) कैसा ? (कुछ भी ख़बर नहीं)। आ..हा..हा...! वह भगवान की यह वाणी है !! `सीमंधर भगवान' बिराजते (हैं), उनकी यह वाणी है !! `कुंदकुंदाचार्य' दिगंबर मुनि ! दो हजार

वर्ष पहले हुये। दिगंबर संत ! वे वहाँ प्रभु के पास गये थे। संवत् १९४९ ! आठ दिन वहाँ रहे थे। वहाँ से आकर इन शास्त्रों की रचना की। यह (ये) `कुंदकुंदाचार्य' ! और यह टीका की है एक हजार साल पहले...! इस तरफ `अमृतचंद्राचार्य' हैं ! यह उनकी टीका है। बातें बहुत न्यारी हैं, बापू !

(यहाँपर कहते हैं) `कर्मविपाक (-कर्मोदय) भी उनके (अरहंतों के) स्वभावविघात का कारण नहीं होता (ऐसा निश्चित होता है)।'

भावार्थ :- अरहंतभगवान के जो दिव्यध्वनि,... देखा ? ॐ ध्वनि उठे...! दिव्यध्वनि उठे...! दिव्यध्वनि ! भगवान तीर्थंकर केवली को ऐसी भाषा होती नहीं। होंठ हिले नहीं, कंठ कंपित न हो। ॐ... ऐसी ध्वनि सारे शरीर में से उठे ! वह दिव्यध्वनि ! `दिव्य' नाम प्रधान आवाज। ऐसी भाषा उन्हें होती नहीं। ॐ ध्वनि उठे ! `ॐ कार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे' (अर्थात्) गणधर् जो सच्चे संत आत्मज्ञानी धर्मात्मा हो वे भगवान की ध्वनि सुनकर अर्थ विचारते हैं। `रची आगम उपदेश' (अर्थात्) उपदेश में से सिद्धांत की - आगम की रचना करते हैं। और `भविक जीव संशय निवारे' (अर्थात्) भव्य-पात्र जीव हो सो सुनकर, अंतर्मुख होकर संशय का नाश करते हैं। आ..हा..हा...! क्योंकि वाणी में अंतर्मुख होने की बात आती है। (भले) लाख करोड़ श्लोक हो! सब बातें हों ! आ..हा..हा...! क्योंकि भगवान की वाणी में `वीतरागता' ही तात्पर्य है। और यह वीतरागता स्वद्रव्य भगवान दिव्य वस्तु है उसके आश्रय से (प्रगट होता है)। भगवान आत्मा के आश्रय से ही वीतरागता प्रगट होती है। इसलिये चारों अनुयोग का सार द्रव्य का आश्रय लेना, (सो है)। द्रव्य कौन ? पैसे ?

एक आदमी आया था वह पूछता था। वहाँ (स्वाध्याय मंदिर में) चकड़ा है न ! `द्रव्यदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि' ! (तो) उसने प्रश्न किया `महाराज ! यह `द्रव्यदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि' (यानी कि पैसेवाले सो सम्यग्दृष्टि ?)' उसे मालूम था कि, यहाँपर सब करोड़पति बहुत आते हैं। इसलिये (पूछा कि) `द्रव्यदृष्टि सो सम्यग्दृष्टि' ? यहाँ द्रव्य माने पैसा नहीं। यहाँ पैसे की बात कहाँ है ?

यहाँ तो `द्रव्यदृष्टि माने सम्यग्दृष्टि' ! द्रव्य माने आत्मा ! पूर्णानंद का नाथ प्रभु अंदर बिराजमान है, उसकी दृष्टि होना, पहचान होना, अनुभव होना, इसका नाम `समकित' है। यहाँ प्रश्न खड़ा हुआ था। यहाँपर तो बहुत लोग चारों ओर से आते हैं, बहुत बातें (होती हैं)। परंतु पढ़कर कुछ समझे नहीं बेचारे ! आहा..हा...!

`**अरहंतभगवान के जो दिव्यध्वनि, विहार...**' (अर्थात्) चलना, फिरना होता है न ! (वह)

`**...आदि क्रियाएँ हैं वे निष्क्रिय शुद्ध आत्मतत्त्व के...**' भगवान आत्मा तो निष्क्रिय शुद्ध तत्त्व है, प्रभु ! आ..हा..हा...! उसमें `**...प्रदेशपरिस्पंद में...**' (अर्थात्) उसके प्रदेश के कंपन में। आहा..हा...! प्रभु स्वयं तो अंदर निष्क्रिय तत्त्व है ! कंपनपना स्वरूप में नहीं। `**...शुद्ध आत्मतत्त्व के प्रदेशपरिस्पंद में निमित्तभूत...**' कौन ? `**...पूर्वबद्ध कर्मोदय...**' पूर्व के बंधे हुये कर्म का उदय। उन प्रदेशों का कंपन होता है। वाणी इस प्रकार निकलती है उसमें प्रदेश ऐसे-ऐसे होते हैं। आ..हा..हा...! यह `**...पूर्वबद्ध कर्मोदय से उत्पन्न होती हैं इसलिये औदयिकी हैं।**' अतः इस क्रिया को `उदय' कहा जाता है।

`**वे क्रियाएँ अर्हंतभगवान के चैतन्यविकाररूप भावकर्म उत्पन्न नहीं करती,...**' आ..हा..हा...! भगवान अरिहंत परमेश्वर परमात्मा जिनेश्वरदेव ! उनके चलना, फिरना, वाणी (हो उसमें) पूर्व के कर्म का निमित्त है। अतः उनको बंध का कारण है नहीं, आहा..हा..हा...! `**भावकर्म उत्पन्न नहीं करती...**' भावकर्म अर्थात् विकार। `**...क्योंकि (उनके) निर्मोह शुद्ध आत्मतत्त्व के रागद्वेषमोहरूप विकार में निमित्तभूत मोहनीयकर्म का क्षय हो चुका है।**' आ..हा..हा...! मोह का तो नाश हुआ है, (वैसा कहते हैं)।

`**और वे क्रियाएँ उन्हें, रागद्वेषमोह का अभाव हो जाने से नवीन बंध में कारण नहीं होती,...**' (अर्थात्) नवीन बंधन नहीं होता। `**...परंतु वे पूर्वकर्मों के क्षय में कारणरूप हैं...**' आ..हा..हा...! पूर्वकर्म खिर जाते हैं। `**...क्योंकि जिन कर्मों के उदय से वे क्रियाएँ होती हैं वे कर्म अपना रस देकर खिर जाते हैं।**' आ..हा..हा...! `**इसप्रकार मोहनीयकर्म के क्षय से उत्पन्न होने से और कर्मों के क्षय में कारणभूत होने से अरहंतभगवान की वह औदयिकी क्रिया क्षायिकी कहलाती है।**' यह (`प्रवचनसार') भी पाँचवीं बार पढ़ा जा रहा है ! सभा में पाँचवीं बार पढ़ा जा रहा है। `समयसार' उन्नीसवीं बार पढ़ा जा रहा है। ४४ साल तो यहाँ हुये। आहा...! (यह ४५ गाथा पूर्ण हुई)।

❋ ❋ ❋

अथ केवलिनामिव सर्वेषामपि स्वभावविघाताभावं निषेधयति-

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं।।४६।।

यदि स शुभो वा अशुभो न भवति आत्मा स्वयं स्वभावेन।
संसारोऽपि न विद्यते सर्वेषां जीवकायानाम्।।४६।।

यदि खल्वेकान्तेन शुभाशुभभावस्वभावेन स्वयमात्मा न परिणमते तदा सर्वदैव सर्वथा निर्विघातेन शुद्धस्वभावेनैवावतिष्ठते। तथा च सर्व एव भूतग्रामाः समस्तबन्धसाधनशून्यत्वादाजवंजवाभावस्वभावतो नित्यमुक्ततां प्रतिपद्येरन्। तच्च नाभ्युपगम्यते। आत्मनः परिणामधर्मत्वेन स्फटिकस्य जपातापिच्छरागस्वभावत्ववत् शुभाशुभस्वभावत्वद्योतनात्।।४६।।

अथ यथार्हतां शुभाशुभपरिणामविकारो नास्ति तथैकान्तेन संसारिणामपि नास्तीति सांख्यमतानुसारिशिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति दूषणद्वारेण परिहारं ददाति - **जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण** यथैव शुद्धनयेनात्मा शुभाशुभाभ्यां न परिणमति तथैवाशुद्धनयेनापि स्वयं स्वकीयोपादानकारणेन स्वभावेनाशुद्धनिश्चयरूपेणापि यदि न परिणमति तदा। किं दूषणं भवति। **संसारो वि ण विज्जदि** निस्संसारशुद्धात्मस्वरूपात्प्रतिपक्षभूतो व्यवहारनयेनापि संसारो न विद्यते। केषाम्। **सव्वेसिं जीवकायाणं** सर्वेषां जीवसंघातानामिति। तथा हि-आत्मा तावत्परिणामी, स च कर्मोपाधिनिमित्ते सति स्फटिकमणिरिवोपाधिं गृह्णाति, ततः कारणात्संसाराभावो न भवति। अथ मतम् - संसाराभावः सांख्यानां दूषणं न भवति, भूषणमेव। नैवम्। संसाराभावो हि मोक्षो भण्यते, स च संसारिजीवानां न दृश्यते, प्रत्यक्षविरोधादिति भावार्थः।।४६।।

अब, केवलीभगवानकी भाँति समस्त जीवोंके स्वभावविघातका अभाव होनेका निषेध करते हैं :-

गाथा ४६

आत्मा स्वयं निजभावथी जो शुभ अशुभ बने नहि।
तो सर्व जीवनिकायने संसार पण वर्ते नहि ?।।४६।।

अन्वयार्थ :- [यदि] यदि (ऐसा माना जाये कि) **[सः आत्मा]** आत्मा **[स्वयं]**

स्वयं **[स्वभावेन]** स्वभावसे (-अपने भावसे) **[शुभः वा अशुभः]** शुभ या अशुभ **[न भवति]** नहीं होता (शुभाशुभ भावमें परिणमित ही नहीं होता) **[सर्वेषां जीवकायानां]** तो समस्त जीवनिकायोंके **[संसारः अपि]** संसार भी **[न विद्यते]** विद्यमान नहीं है ऐसा सिद्ध होगा।

टीका :- यदि एकान्तसे ऐसा माना जाये कि शुभाशुभभावरूप स्वभावमें (-अपने भावमें) आत्मा स्वयं परिणमित नहीं होता, तो यह सिद्ध हुआ कि (वह) सदा ही सर्वथा निर्विघात शुद्धस्वभावसे ही अवस्थित है; और इसप्रकार समस्त जीवसमूह, समस्त बन्धकारणोंसे रहित सिद्ध होनेसे संसार अभावरूप स्वभावके कारण नित्यमुक्तताको प्राप्त हो जायेंगे अर्थात् नित्यमुक्त सिद्ध होवेंगे ! किन्तु ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि आत्मा परिणामधर्मवाला होनेसे, जैसे स्फटिकमणि, जवाकुसुम और तमालपुष्पके रंग-रूप स्वभावयुक्तासे प्रकाशित होता है उसीप्रकार, उसे (आत्माके) शुभाशुभ-स्वभावयुक्तता प्रकाशित होती है। (जैसे स्फटिकमणि लाल और काले फूलके निमित्तसे लाल और काले स्वभावमें परिणमित दिखाई देता है उसीप्रकार आत्मा कर्मोपाधिके निमित्तसे शुभाशुभ स्वभावरूप परिणमित होता हुआ दिखाई देता है)।

भावार्थ :- जैसे शुद्धनयसे कोई जीव शुभाशुभ भावरूप परिणमित नहीं होता उसीप्रकार यदि अशुद्धनयसे भी परिणमित न होता हो तो व्यवहारनयसे भी समस्त जीवोंके संसारका अभाव होजाये और सभी जीव सदा मुक्त ही सिद्ध होजावें ! किन्तु यह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इसलिये जैसे केवलीभगवानके शुभाशुभ परिणामोंका अभाव है उसीप्रकार सभी जीवोंके सर्वथा शुभाशुभ परिणामोंका अभाव नहीं समझना चाहिये।।४६।।

`**अब, केवलीभगवान की भाँति...**' अब क्या कहना है ? कि, भगवान को चलना, फिरना, बोलना हुआ। (परंतु) उन्हें शुभाशुभ भाव नहीं, राग-द्वेष नहीं, अतः उन्हें बंधन नहीं। और यह क्रिया खिर जाती है। परंतु कोई ऐसा माने कि, `**...केवलीभगवान की भाँति समस्त जीवों के स्वभावविघात का अभाव...**' है। (तो) वैसा नहीं। जिस प्रकार उनकी क्रिया स्वभावविघात का कारण नहीं, वैसे यह समस्त जीवों के शुभाशुभ भाव होते हैं। चलते, फिरते `मैं चलता हूँ, मैं बोलता हूँ' यह तो राग-द्वेष है। इस राग-द्वेष का सबको अभाव है यह `**...होने का निषेध करते हैं :-** ' क्या कहा ?

भगवान का चलना, फिरना, बोलना जिस प्रकार बंध का कारण नहीं, वैसे समस्त जीवों के चलने, फिरने की क्रिया के भाव में शुभाशुभ भाव नहीं, वैसा नहीं। आ..हा..हा...! `मैं इस प्रकार चला, मैं इस प्रकार बोला, मैंने जगत को समझाया' ! आहा..हा...! (ऐसी) भाषा और क्रिया

`...केवलीभगवान की भाँति समस्त जीवों के स्वभावविघात का अभाव होने का निषेध करते हैं:-

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं।।४६।।

सूक्ष्म बात बहुत, बापू ! क्या करे ? (नीचे हरिगीत) :-

आत्मा स्वयं निजभावथी जो शुभ अशुभ बने नहिं।
तो सर्व जीवनिकायने संसार पण वर्ते नहीं !।।४६।।

टीका :- यदि एकान्त से ऐसा माना जाये कि शुभाशुभभावरूप स्वभाव में (-अपने भाव में) आत्मा स्वयं परिणमित नहीं होता,... आहा...! क्या कहते हैं ? वस्तु जो प्रभु आत्मा है वह तो द्रव्य है। वह द्रव्य स्वयं शुभाशुभरूप परिणमित होता नहीं। द्रव्य जो त्रिकाली चैतन्यमूर्ति प्रभु है वह वीतराग बिंब है। अभी हाँ...! सदा ही...! परंतु उस द्रव्य में शुभाशुभ परिणाम जीव के नहीं, ऐसा यदि कोई कहे तो वह अज्ञानी है, उसे भान नहीं है। (यदि ऐसा हो तो) संसार ही नहीं है। क्या कहा ?

`**यदि एकान्त से ऐसा माना जाये कि शुभाशुभभावरूप स्वभाव में (-अपने भाव में) आत्मा स्वयं परिणमित नहीं होता,...**' वस्तु है यह त्रिकाल निर्मल ही है। इसलिये उसे यह दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के भाव होते हैं, उन भावरूप वह वस्तु होती ही नहीं, वैसा कोई माने तो यह अज्ञान है। शुभशुभभाव जीवपर्याय में परिणमित होते हैं। पर्याय क्या ? व ध्रुव क्या ? (इसकी ख़बर नहीं)। पर्याय अर्थात् अवस्था। द्रव्य अर्थात् त्रिकाली चीज़। आ..हा..हा...! नौ तत्त्वों के नाम भी अब तक मालूम न हो (वहाँ) उनके भाव कहाँ से जाने ? आ..हा..हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि, द्रव्य जो वस्तु है सो तो शुभाशुभरूप परिणमित होता नहीं। वैसे पर्याय में भी शुभाशुभ नहीं, वैसा यदि कहा जाय तो संसार का अभाव होगा। (तो फिर) संसार किसका? अज्ञानी उन शुभाशुभभावरूप परिणमित होता है। आहा..हा...! `यह मैंने हिंसा की, झूठ बोला, यह विषय सेवन किये' - यह सभी भाव पाप हैं। वह पापरूप होता है। वस्तु शुद्ध है, इसलिये पापरूप परिणमित होता नहीं, वैसा नहीं। आ..हा...! और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव करता है, यह शुभरागरूप मलिनभाव से वह परिणमित होता है। भले वस्तु शुद्ध है, परंतु अशुद्धनय से

वह शुभाशुभ परिणाम करती है। आ..हा..हा...! ऐसी बातें अब...! पकड़े किस प्रकार ?

वह तो लोगस्स किया, णमो अरिहंताणं, तिक्खुत्तो, इच्छामि तिक्खुत्तो, नमोत्थुणं... बस..! हो गई सामायिक लो...! धूल भी नहीं, सुन तो सही...! सामायिक कहाँ अबतक तो मिथ्यात्व बड़ा पड़ा है ! आहा...!

यहाँ कहते हैं कि, आत्मा जैसे शुभ-अशुभ परिणामरूप नहीं, वैसे उसका परिणमन भी शुभाशुभरूप नहीं, (तो ऐसा नहीं)। समझ में आया ? कर्म के कारण परिणमित होता है, वैसा नहीं। आहा..हा...! `**...शुभाशुभभावरूप स्वभाव में (-अपने भाव में) आत्मा स्वयं परिणमित नहीं होता, तो यह सिद्ध हुआ कि (वह) सदा ही सर्वथा निर्विघात शुद्धस्वभाव से ही अवस्थित है;...**' तब तो शुद्ध चैतन्य त्रिकाली है, वैसा तय हो। परंतु शुद्ध चैतन्य निष्क्रिय होने के अलावा उसकी पर्याय में -अवस्था में सक्रियपना - शुभाशुभभाव (रूप) अज्ञानी स्वयं परिणमित होता है। आ..हा..हा...! क्या कहते हैं यह ?

जिस प्रकार केवलीभगवंत की क्रिया हुई और उन्हें मोह, राग, द्वेष नहीं अतः बंध नहीं है। ऐसे अज्ञानी इन क्रियाओं को करे उनमें राग-द्वेष नहीं, शुभाशुभपना नहीं, वैसा नहीं है। बात तो बहुत Logic - न्याय से (सिद्ध करते हैं) परंतु (लोगों को) अभ्यास नहीं न !

(यहाँपर कहते हैं) `**...शुद्धस्वभाव से ही अवस्थित है; और इसप्रकार समस्त जीवसमूह, समस्त बंधकारणों से रहित सिद्ध होने से संसार अभावरूप स्वभाव के कारण नित्यमुक्तता को प्राप्त हो जायेंगे अर्थात् नित्यमुक्त सिद्ध होवेंगे** !' अर्थात् यदि शुभाशुभभाव न हो तब तो मुक्त ही है। शुभ-अशुभ भाव `हैं'। हिंसा, झूठ, चोरी, कमाई करना, विषय-वासना, दुकानपर बैठकर यह करूँ... यह करूँ.. यह समस्त पापभाव है, पापरूप परिणित होता है। और कोई दया, दान, व्रत के परिणाम हो तब शुभभावरूप परिणमित होता है। ये बंध के कारणरूप हैं। यदि बंध के कारण न हो तब तो मुक्त हो गया ! तो संसार किसका ? यह विशेष कहेंगे...

(**दिनांक १८-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-४३**)

`प्रवचनसार', गाथा-४६। जिस प्रकार अरिहंतभगवान को वाणी और चलने की क्रिया से राग-द्वेष नहीं है, इससे उन्हें बंध होता नहीं। ऐसे अन्य प्राणी भी वैसा माने कि, हमें भी शुभाशुभभाव है ही नहीं ! अनादि संसारी प्राणी ऐसा जाने कि, जैसे भगवान को शुभाशुभभाव नहीं

है तो हमें भी शुभाशुभभाव नहीं है !

भगवान को तो `पर्याय' में शुभाशुभभाव नहीं है। और संसारी प्राणी में `द्रव्य' में शुभाशुभभाव नहीं है। परंतु पर्याय में (वह) शुभाशुभभावरूप परिणमित होता है और इससे उसे बंध भी होता है। वह न माने और ऐसा कहे कि, जैसे भगवान राग-द्वेषरहित हैं, उन्हें कहाँ शुभाशुभभाव है ! (वैसे) हम भी आत्मा हैं ! (हमें भी राग-द्वेष नहीं)। परंतु आत्मा को शुभाशुभभाव नहीं, आत्मा में (शुभाशुभभाव नहीं है)। भगवान को तो आत्मा की पर्याय में शुभाशुभभाव नहीं है। ऐसा मानकर कोई ऐसा माने कि, हमारी पर्याय में भी हमें शुभाशुभभान नहीं है ! शुद्धनय से वस्तु को देखे तो शुभाशुभभाव रहित चीज पूर्ण अंदर पड़ी है। नित्यानंद सहज सुख का सागर ! उसमें तो शुभाशुभभाव है ही नहीं। परंतु भगवान की पर्याय में जैसे शुभाशुभभाव नहीं है, वैसे यह कहे कि,मेरी पर्याय में (भी) मुझे शुभाशुभ(भाव) नहीं है, तो (वैसा मानना) एकांत अज्ञान है, आहा..हा...!

`**यदि एकांत से ऐसा माना जाये कि...**' ऐसा आया न ? `एकांत' से ऐसा माना जाये ! `**...कि शुभाशुभभावरूप स्वभाव में (-अपने भाव में) आत्मा स्वयं परिणमित नहीं होता,...**' (अर्थात्) दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव शुभ(भाव) हैं और हिंसा, झूठ, चोरी आदि के (भाव) अशुभ(भाव) हैं। ये शुभ और अशुभभाव... `**...स्वभाव में आत्मा स्वयं परिणमित नहीं होता**' - `स्वभाव से' अर्थात् मेरी पर्याय में भी वह परिणमित नहीं होता, ऐसा कहते हैं। इसका त्रिकाल स्वभाव जो है सो तो शुभाशुभभाव रहित है। समझ में आया ? आहा..हा...! द्रव्य जिस प्रकार शुभाशुभभाव रहित है वैसे पर्याय में भी मैं शुभाशुभ रहित हूँ, वैसा माने तो एकांत अज्ञान है, आहा...!

यहाँपर उसकी पर्याय में शुभाशुभभाव है, वैसा सिद्ध करना है। `**यदि एकांत से ऐसा माना जाये कि शुभाशुभभावरूप स्वभाव में (-अपने भाव में) आत्मा स्वयं परिणमित नहीं होता, तो यह सिद्ध हुआ कि (वह) सदा ही सर्वथा...**' `सदा ही और सर्वथा' `**...निर्विघात शुद्धस्वभाव से ही अवस्थित है;...**' तब तो पर्याय में शुद्धस्वरूप है ऐसा सिद्ध हो। वस्तु में शुद्ध है वैसे पर्याय में भी शुद्ध सिद्ध हो। समझ में आया इसमें कुछ ?

वस्तु तो शुद्ध चैतन्यघन है। उसमें तो शुभाशुभभाव भी नहीं, उसमें तो उसके वर्तमान निर्मल परिणाम हैं, वह (भी) उसमें-वस्तु में नहीं। परंतु (यहाँपर) वस्तु में नहीं है, और (वहाँ) केवली में पर्याय में नहीं। ऐसा माने कि, मुझ में भी शुभाशुभ पर्याय नहीं, क्योंकि वस्तु में नहीं तो मुझे भी पर्याय में नहीं है। अरे...! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं !

श्रोता :- निश्चयाभास है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- एकान्त माननेवाला अज्ञानी है ! आ..हा..हा...! `एकान्त से शुभाशुभ स्वभाव में अर्थात् अपने भाव में स्वयं आत्मा...!' कर्म के कारण नहीं, कर्म तो निमित्तमात्र (है)। परंतु आत्मा स्वयं ही दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव (रूप परिणमित होता है)। यह शुभभाव पुण्य बंध का कारण (है)। हिंसा, झूठ, चोरी यह पाप का कारण (है)। परंतु वे दोनों शुभाशुभभावरूप स्वयं अपने आप से परिणमित होता है। समझ में आता है कुछ ?

`**...और इसप्रकार समस्त जीवसमूह,...**' तो अनंत समस्त जीवसमूह `**...समस्त बंधकारणों से रहित सिद्ध होने से...**' तो उन्हें बंध के कारण हैं ही नहीं। समस्त जीव को शुभ-अशुभभावरहित मानो तो बंध के कारण हैं नहीं। भगवान को जिसप्रकार बंध के कारण हैं नहीं, ऐसे उसे भी बंध का कारण है नहीं, वैसा सिद्ध होता है ? समझ में आया ? आ..हा..हा...!

`**...संसार अभावरूप स्वभाव के कारण...**' यदि शुभाशुभभाव न हो तब तो संसार का अभाव ही सिद्ध हुआ। `**...संसार अभावरूप स्वभाव के कारण नित्यमुक्तता को प्राप्त हो जायेंगे...**' तब तो आत्मा नित्य मुक्त ही है, वैसा हो। द्रव्य से (जो) नित्य है वह तो द्रव्य से मुक्त ही है, परंतु (यह तो) पर्याय भी मुक्त हुई ! समझ में आता है कुछ ?

वस्तु-पदार्थ जो है, आत्मा-तत्त्व यह तो त्रिकाल मुक्त ही है। परंतु यहाँपर तो पुण्य-पाप के भावरहित आत्मा है, ऐसा माने तो वह पर्याय में भी मुक्त है, वैसा मानता है। समझ में आया कुछ ? आहा...! यह बात गलत है, आहा...! यह वस्तु है पूर्णानंद ध्रुव आनंद सागर ! वह अबंध है, मुक्त ही है वस्तु ! इसकी दृष्टि होने से पर्याय में भी मुक्तपना का अंश आता है, समझ में आता है कुछ ? परंतु पर्याय में मुक्तता `सर्वथा' माने तो उसका अर्थ (यह) हुआ कि, उसे बंध का भाव है नहीं। तो पर्याय भी मुक्त है, वैसा हुआ। आहा..हा...! समझ में आया कुछ ? नित्यमुक्तता का प्रसंग आये (अर्थात्) `**...नित्यमुक्त सिद्ध होवेंगे ! किन्तु ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता;...**'

`**...क्योंकि आत्मा परिणामधर्मवाला होने से,...**' `परिणामधर्मवाला होने से' परिणामी तो त्रिकाल शुद्ध है, आहा..हा...! परंतु परिणाम(धर्मवाला) अर्थात् उसके बदलनेवाला धर्मवाला होने से। (अर्थात्) उसके परिणाम में शुभाशुभभाव अनादि संसारी को - अज्ञानी को होता है। आहा..हा...! `**...आत्मा परिणामधर्मवाला...**' अर्थात् क्या कहा ? कि, (आत्मा) नित्य परिणामी है। यहाँ परिणामधर्मवाला बतानेपर वस्तु नित्य है परंतु पर्याय में परिणाम उसका स्वभाव है। (अर्थात्) बदलने के परिणाम स्वभाववाला है। नित्य परिणामी है। सदा टिकनेवाला है, वह तो कूटस्थ है। परंतु उसकी पर्याय में पलटने के, बदलने के परिणाम स्वभाववाला है।

बात ऐसे तो सादी सी लगे, परंतु वस्तु को सिद्ध करती है। उसे पर्याय में अशुद्धता है। केवली को अशुद्धता नहीं, बाह्य भाषा, चलने की क्रिया (इत्यादि होते हुए भी), यह ऐसा कहता है कि, `हम भी अंदर शुद्ध ही हैं, हमें शुभाशुभभाव हैं नहीं !' तो वह अज्ञान है। तो उसकी पर्याय में मुक्तता आयी, वैसा सिद्ध होगा। (जैसी) वस्तु मुक्त है, वैसी पर्याय में मुक्त सिद्ध होगी। वस्तु मुक्त है, परंतु पर्याय में बंधभाव है। ऐसा है ! है (अंदर) ?

`...**परिणामधर्मवाला होने से...**' `परिणामधर्म' यानी समझ में आया ? बदलने के, पलटने के स्वभाववाला आत्मा है। केवल नित्य, ध्रुव है, ऐसा नहीं। सम्यग्दर्शन का विषय तो नित्य ध्रुव है। परंतु सम्यग्दर्शन है सो स्वयं पर्याय-परिणाम है। आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ?

`द्रव्यदृष्टिप्रकाश' में एक (जगह) आया है (बोल-२७) (प्रश्न पूछते हैं कि) `परिणामी परिणामवाला है ?' तब कहते हैं कि, `ऐसे रहने दो ! त्रिकाली (अपरिणामी) और परिणाम वैसे लो !' त्रिकाली है सो परिणामिक है और वर्तमान है सो परिणाम है। परिणाम और परिणामी माने तो परिणाम पहली अवस्था (हुई) और परिणामी आगे की (हुई)। आहा..हा...!

आत्मा को आप नित्य शुद्ध मुक्त कहते हो और वह द्रव्य अंदर मुक्तस्वरूप है। उसकी दृष्टि करने से उसके परिणाम की भी उसे (नजर) नहीं। नजर में उसे परिणाम भी नहीं। सम्यक्दृष्टि की नजर में ध्रुव है, आ..हा..हा...! सम्यग्दर्शन जो है सो पर्याय है, परंतु उसका विषय जो है सो ध्रुव है। जो मुक्तस्वरूप है। परंतु सम्यग्दर्शन के परिणाम होते हैं सो परिणामस्वभाववाला जीव है। इसलिये सम्यग्दर्शन के परिणाम होने के साथ उसे शुभाशुभ परिणाम भी होते हैं। अज्ञानी को तो होते हैं परंतु ज्ञानी को - धर्मी को भी होते (शुभाशुभ परिणाम होते हैं)। आहा..हा...! वस्तु है सो तो वर्तमान परिणाम से रहित है। वस्तु है उसमें तो केवलज्ञान की पर्याय भी नहीं ! क्योंकि केवलज्ञान की पर्याय सो वर्तमान पर्याय है और चीज त्रिकाली है। त्रिकाली में केवलज्ञान के पर्याय का भी अभाव है। उसकी पर्याय में केवलज्ञान है, वैसे अज्ञानी को त्रिकाल (स्वभाव में) तो परिणाम का अभाव है। परंतु उसके परिणाम में भी शुभाशुभभाव का अभाव सिद्ध हो तो संसार में जीव मुक्त सिद्ध होता है। ऐसी बातें हैं अब...! धर्म का उपदेश ऐसा है !

आहा...! (यहाँपर) नित्य परिणामी सिद्ध करते हैं। `परिणामधर्मवाला' कहा न ! पलटना-बदलना यह इसका धर्म है। धर्म अर्थात् स्वबाव ! आ..हा..हा...! क्योंकि `उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्' (ऐसा है)। (उसमें) उत्पाद-व्यय है, यह परिणाम-पर्याय है। यह पर्याय का परिणमित होने

का धर्म है। और ध्रुव जो है सो पर्यायरहित त्रिकाल एकरूप है, आहा..हा...! अतः जब दृष्टि का विषय बतलाना हो तब वह परिणाम रहित चीज है, वहाँ दृष्टि दो ! आ..हा..हा...!

यदि सम्यग्दर्शन करना हो, धर्म की पहली सीढ़ी...! तो वह सम्यग्दर्शन का विषय त्रिकाली ध्रुव परिणामरहित चीज (है), वह उसका विषय है। परंतु उसको जो विषय किया, उसके साथ जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान त्रिकाली को भी जानता है, वर्तमान सम्यक् परिणाम हुए उन्हें भी जानता है और उनके साथ शुभाशुभ परिणाम होते हैं उन्हें भी जानता है। ऐसा मान बैठना चाहिये नहीं कि, `हमें शुभाशुभ कुछ (है ही नहीं) ! हमें सम्यक् हो गया इसलिये हमें कोई शुभाशुभ है ही नहीं!!' समझ में आया ?

(अब कहते हैं) `**...जैसे स्फटिकमणि, जवाकुसुम और तमालपुष्प के रंग-रूप स्वभावयुक्तता से प्रकाशित होता है उसी प्रकार...**' कौन ? `स्फटिक' ! स्फटिक रत्न है - स्फटिक ! सफेद, स्वच्छ ! उसे काले और लाल फूल का संयोग हो तो लाल-काली झाँई दिखती है। यह उसमें-स्फटिक में है। उसकी पर्याय में लाल-काली झाँई है। वैसे स्वच्छ निर्मल चिदानंद प्रभु आत्मा है, तथापि अनादि कर्म के निमित्त की उपाधि से अंदर शुभाशुभभाव (है)। (जैसे) मैले, काले और लाल फूल की स्फटिक में झाँई है, वैसे इसके परिणाम में शुभाशुभभाव है, आ..हा..हा...! (इसके बदले ऐसा माने कि) `हम तो सिद्ध समान हैं, हमें क्या !' `सिद्ध समान सदा पद मेरो' ! यह तो द्रव्य की अपेक्षा से कहा है। पर्याय अपेक्षा से सिद्ध हो तब तो मुक्त हो गया !!

जिस प्रकार यह स्फटिक सफेद है तथापि काले और लाल फूल के संबंध से काली और लाल झाँई उसमें दिखाई देती है, वह (झाँई) उसकी `है', वह उसमें `है'। वह (फूल के) कारण नहीं। काले और लाल फूल तो निमित्त है। परंतु इसमें अपनी योग्यता से वहाँ काली-लाल झाँई है। समझ में आया कुछ ? आहा..हा...! इस लकड़ी के पास यहाँ ऐसे लाल फूल रखोगे तो उसमें झाँई नहीं दिखेगी। क्योंकि उसकी स्वयं की योग्यता नहीं है। और काले और लाल फूल के संग स्फटिक की पर्याय में लाल और काला होना वह स्वयं की योग्यता से अपने में (होता) है। समझ में आया कुछ ?

वैसे आत्मा में...! `जेम निर्मळता रे स्फटिक तणी, तेम ज जीवस्वभाव' (अर्थात्) उसका स्वभाव स्फटिक जैसा ही है। परंतु कर्म के निमित्त की उपाधि के संग में स्वयं की पर्याय में शुभ-अशुभभाव का रंग और रस है। (यानी कि) शुभाशुभभाव की पर्याय है। यह `नहीं' ऐसा माने और कर्म के कारण है, वैसा माने यह भी मिथ्या भ्रम है। समझ में आया कुछ ? यह यहाँपर सिद्ध

करना है।

`...**जैसे स्फटिकमणि, जवाकुसुम और तमालपुष्प के...**' काले और लाल `...**रंग-रूप स्वभावयुक्तता से प्रकाशित होता है उसी प्रकार, उसे (आत्मा के) शुभाशुभ-स्वभावयुक्तता प्रकाशित होती है।**' आ..हा..हा...! आत्मा स्वयं ही शुद्ध स्फटिक जैसा त्रिकाली (शुद्ध) होनेपर भी उसकी पर्याय में-अवस्था में कर्म के निमित्त की उपाधि के संग से शुभ और अशुभ का भाव है। कर्म के कारण नहीं और शुभाशुभभाव रहित नहीं। ऐसी बातें हैं ! परद्रव्य से भी (शुभाशुभभाव) नहीं।

यह तो अपने पहले आ गया कि, उदय है सो बंध का कारण नहीं। ज्ञानस्वभाव आत्मा बंध का कारण नहीं। कर्म का उदय बंध का कारण नहीं। बंध का कारण अंदर शुभाशुभभाव करता है सो बंध का कारण है।

भगवानआत्मा ज्ञान और शुद्ध चैतन्यस्वभाव है और उसके शुद्ध परिणाम हैं वे तो बंध के कारण नहीं। वैसे कर्म का उदय जड़ है वह कोई बंध का कारण नहीं। यदि उदय बंध का कारण हो तो समस्त संसारी को उदय तो है, तो सदा ही बंध हो, कभी भी बंधरहित हो सके नहीं। परंतु उदय के संग में स्वयं शुभाशुभभावरूप अपने में, अपने से, षट्कारकरूप (परिणमित होता है)। समझ में आया कुछ ? दया, दान का भाव यह राग है। हिंसा, झूठ का भाव वह द्वेष है। परंतु वह राग व द्वेष के परिणाम स्वयं अपने कर्तारूप होकर और वह उसका कार्य होकर, वह उसका साधन होकर, वह शुभाशुभभाव करके अपने लिये रखता है, अपने से होता है और अपने आधार से होता है। समझ में आया कुछ ? कर्म से नहीं, वैसे शुभ-अशुभभाव रहित नहीं, आहा...! अतः यहाँ कहा कि, स्फटिक की योग्यता ऐसी है कि जिससे पर्याय में लाल और काली झाँई दिखती है। वह काले फूल के कारण नहीं। आ..हा..हा...! ऐसा सब (समझना)...!

(संवत्) २०१३ की साल में चर्चा हुई थी न ? `ईसरी' ! (तब ऐसा कहा कि) `आत्मा में जो कुछ शुभ-अशुभभाव होता है सो कर्म के कारण नहीं। यह शुभ और अशुभभाव के परिणाम स्वयं ही करता है, अपना कार्य (स्वयं), स्वयं साधन... (वैसे) विकार स्वयं (अपने में) षट्कारकरूप परिणमित होता है।' (परंतु) न जँचा ! पंडितों को न जँचा। (परंतु) वैसा (ही) है। कर्म के कारण नहीं ! देखो ! `पंचास्तिकायसंग्रह' की ६२वीं गाथा ! `पंचास्तिकाय' है न ! (उसमें) ६२वीं गाथा! यह पुण्य और पाप, मिथ्यात्व के जो जीव परिणाम करता है, वह षट्कारक के कारक द्वारा स्वयं करता है। कर्म के कारण नहीं, (वैसे ही) द्रव्यस्वभाव में नहीं, आहा..हा...! इतना सब निर्णय करने

की (किसे जरूरत है) ?

वह यहाँ कहते हैं (कि), स्फटिक में लाल और काली झाँई (पड़ती है), वह फूल के कारण नहीं। उसकी स्वयं की योग्यता के कारण है। उसके कारण हो तो यह (ठवणी)पर फूल रखो ! देखो ! (झाँई) नहीं दिखेगी ! क्योंकि उसमें पकड़ने की शक्ति नहीं, योग्यता नहीं है। स्फटिक में लाल और कालेरूप होने की पर्याय में स्वयं से, अपने कारण योग्यता है। तब काले फूल को निमित्त कहा जाता है।

ऐसा यहाँ कहते हैं कि, तेरे आत्मा में द्रव्य तो शुद्ध है। परंतु पर्याय में कर्म के निमित्त की उपाधि से, उसके संग से तुझमें शुभ-अशुभभाव-विकार स्वयं खुद (होते हैं), करता है, आहा..हा...! यदि वह शुभाशुभभाव अपने में होता है वैसा न माने और कर्म से माने तो भी गलत और शुभाशुभभाव धर्म है वैसा माने (तो भी गलत)। अंदर दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम (होते हैं) सो शुभ(भाव) है, वह `धर्म' है, वैसा माने तो भी मिथ्यात्व है, अज्ञान है। आहा..हा...! समझ में आता है कुछ ?

यह बात यहाँ सिद्ध करते हैं। `ज्ञान अधिकार' है न ? यह `ज्ञान अधिकार' है। स्फटिक में योग्यता है। जैसे एक दियासलाई है... दियासलाई ! (इसके द्वारा) बीड़ी पीते हैं न ! तो अग्नि द्वारा वह जितना गर्म होगा उतना (होगा)। (दूसरे ओर का) छोर गर्म नहीं होगा। अन्यथा तो बीड़ी पी सके नहीं। उस लकड़ी के टुकड़े का ऐसा स्वभाव है कि, उष्णता अंदर में प्रवेश ही न कर सके। समझ में आया कुछ ? और लोहे का लंबा छड़ होगा परंतु उसे चार इंच यदि अग्नि में रखें तो आखिर तक उष्णता होगी। (वैसा होने की) उसकी अपनी योग्यता है। बात समझ में आती है ? आहा...! अग्नि के कारण नहीं। अग्नि के कारण होता तो (बीड़ी को) दियासलाई (जलानेपर, एक छोर पे गर्म) होता (दूसरे छोरपर) कुछ भी नहीं होता, ठंडा होता। वैसे चूल्हे में मान लो ईंधन हो ! दो हाथ लंबा ! (एक तरफ) जलता हो और दूसरी तरफ ठंडा हो। परंतु लोहे का छड यदि चार इंच भी अग्नि में हो तो आखिर तक (आखिर छोर तक) उष्ण (होगी)। क्योंकि उसकी योग्यता है, पर के कारण नहीं। आ..हा..हा...! समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म, बापू!

वैसे आत्मा में शुभ और अशुभ होने की स्वयं की योग्यता है। कर्म तो निमित्तमात्र है। परंतु स्वयं करता है, वैसी योग्यता है, उसकी पर्याय का स्वभाव है, इसलिये करता है। तब कोई ऐसा कहे कि, निमित्त से होता नहीं - उससे नहीं होता तो स्वभाव हो गया। उससे होता नहीं तथापि है तो विभाव ! आहा...! हाल में (यह) बड़ी चर्चा (चल) रही है। विकार आत्मा में होता है वह

स्वयं का स्वतंत्र परिणामधर्म होने से - परिणमित होने का स्वभाव होने से शुभ-अशुभभावरूप होता है, आहा..हा..हा...! कर्म के कारण नहीं वैसे त्रिकाली द्रव्य के कारण भी नहीं। समझ में आया कुछ ?

इस स्फटिक में जो लाल और काला रंग है वह उसके परिणाम का अपना स्वभाव है इसलिये (झाँई पड़ती है) उसी प्रकार शुभाशुभभावपना जीव में प्रकाशित है, यह अपनी योग्यता के कारण स्वयं ने किया है इसलिये होता है। कर्म के कारण नहीं, कर्म तो निमित्तमात्र है, आ..हा..हा...! ऐसी बातें हैं ! है कौंस में ?

`(**जेसे स्फटिकमणि लाल और काले फूल के निमित्त से...**)' निमित्त से अर्थात् दूसरी चीज है, इतना। `(**...लाल और काले स्वभाव में परिणमित दिखाई देता है...**)' वह उपादान उसका अपना है। स्फटिक का लाल, कालेरूप होने का उपादान स्वयं का है, वह (सामनेवाली) चीज तो निमित्त है। `(**...उसीप्रकार आत्मा कर्मोपाधि के निमित्त से...**)' कर्म की उपाधि का निमित्तमात्र है। परंतु निमित्त से यहाँ विकार होता है, वैसा नहीं। ऐसे शब्द हो तो उसे बाधा हो ! कर्मों का निमित्त है। निमित्त हाँ...! परंतु निमित्त वहाँ कुछ करता है, शभाशुभभाव करवाता है, वैसा नहीं। अरे... अरे...! ऐसी बातें अब...!

निमित्त तो दोनों में आया। स्फटिकमणि में भी काले, लाल फूल के निमित्त से काले-लाल (रंग) होते हैं, वह उसके कारण होता है ? उसके कारण होता तो कहा है न ! सिर्फ लकड़ी हो उसे नीचे रखे तो (लाल, काला) होगा नहीं। उसकी अपनी योग्यता नहीं है, अतः पर के कारण नहीं होगा, आहा..हा...!

ऐसे आत्मा में पुण्य-पाप, शुभाशुभभाव होने की पर्याय में अपने से, कर्तारूप कार्य हो, वैसी अपनी योग्यता है। यह बात मामूली नहीं ! बड़े पंडितों के बीच विवाद खड़ा हुआ है ! समझ में आया कुछ ? (है) किसी को फुरसत ? बनिये को व्यापार-धंधे की आड़ में फुरसत मिले नहीं! और यह भक्ति करे, यात्रा करे, दया-दान करे, (उसमें) थोड़ा शुभभाव हो, तो हो गई छूट्टी...! जय भगवान...! कैसे होता है ? और कैसे धर्म है ? (उसकी) उसे कहाँ दरकार है ? आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं `(...आत्मा कर्मोपाधि के निमित्त से...)' `निमित्त' शब्द वहाँ है, इतना ही। परंतु परिणमन तो अपने आप करता है। आहा..हा...! `(**...शुभाशुभ स्वभावरूप परिणमित होता...**)' देखा ? शुभाशुभ स्वभाव से पर्याय में `(**...परिणमित होता हुआ दिखाई देता है**)।' आहा..हा...!

प्रश्न :- परंतु निमित्त का संग करता है तब !

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह स्वयं आश्रय करता है अतः वहाँ योग्यता अपनी है। उसे तो राग छूता भी नहीं। वैसे यह उदय है, वह यहाँ राग होता है उसे छूता नहीं। क्या कहा यह ? यहाँपर जो शुभ-अशुभभाव होता है उसमें कर्म का उदय है वह उसे छूता भी नहीं, अछूता है। और यह शुभाशुभभाव होते हैं वे कर्म को छूते नहीं, आ..हा..हा...!

यह तो `समयसार' की तीसरी गाथा में कहा है न ! प्रत्येक पदार्थ अपने में स्थित गुण-पर्याय को स्पर्शते हैं-चूमते हैं। परंतु परद्रव्य को कोई छूता नहीं ! आहा..हा...! समझ में आया? बीड़ी सुलगती है (उसमें) यह दियासलाई बीड़ी को छूती नहीं ! फिर भी वह सुलगती है, वह अपने अशुद्ध उपादान की योग्यता से वहाँ सुलगती है। समझ में आया कुछ ? यह कैसे स्वीकार किया जाय ?

यह तो तीसरी गाथा में कहा है। कहा नहीं ? प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु अपने में स्थित गुण और पर्याय को छूते हैं...! `चूमते हैं' ऐसा (पाठ) है। परंतु परद्रव्य की पर्याय को, गुण को, द्रव्य को छूता नहीं, आ..हा..हा...! ऐसी बात...! बिच्छू का डंक शरीर को छूता नहीं। (परंतु यह) जहर चढ़ता है न !? यह जहर अपने कारण चढ़ता है, डंक के कारण नहीं। अर..र..र...! ऐसा स्वरूप (समझने की) किसे फुरसत है ?

भगवानआत्मा ! निर्मलानंद, सत् चिदानंद प्रभु है ! शुद्ध आनंदकंद सत् चिदानंद आत्मा...! उसकी शुद्धता में पर्याय की कोई अशुद्धता है नहीं। फिर भी उसकी पर्याय में-अवस्था में अशुद्धता है वह अपने कारण है। कर्म के कारण और पर के कारण नहीं। समझ में आता है कुछ? कहा न स्फटिक का ? कि, निर्मल स्फटिक है, उसकी निर्मलता में काले, लाल फूल जुड़े हो, तो काली, हरी झाँई दिखती है, सो यह काले, हरे फूल के कारण नहीं। यह अपनी पर्याय की लायकात-योग्यता के कारण काली, हरी पर्याय दिखाई देती है। आ..हा..हा...! क्या करे ? यह बैठे नहीं...!

वैसे यह भगवानआत्मा ! द्रव्यवस्तु तो सत् चिदानंद प्रभु है ! `सिद्ध समान सदा पद मेरो!' (आता) है न ? `चेतन रूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो, मोह महातम आतम अंग, कियो परसंग महा तम घेरौ', परंतु पर का मैंने संग किया अतः अंदर मुझे मिथ्यात्व व राग-द्वेष हुआ, वैसा कहते हैं। आहा...! `ज्ञानकला उपजी अब मोहि, कहों गुन नाटक आगमकेरो, जासु प्रसाद सधै शिवमारग, वेगि मिटै भववास बसेरो' (`समयसार नाटक'-११) इस हड्डी, चमड़े में आत्मा पड़ा है ! ये तो हड्डियाँ, चमड़े हैं। भगवान तो अंदर निर्मलानंद भिन्न चीज है। वह शरीर

को छूता तक नहीं ! `छूता नहीं' समझे ? हिन्दी भाषा में `छूते नहीं' (कहते हैं)। आ..हा..हा...! कठिन काम, भाई !

वीतरागमार्ग, परमेश्वर का मार्ग जानना बहुत (कठिन है) ! और उसके अलावा और कहीं सच्चा है नहीं। सर्वज्ञपरमात्मा जिनेश्वरदेव ने जो देखा और कहा, वैसा और कहीं है नहीं। परंतु मार्ग दुर्लभ बहुत ! कठिन बहुत !!

यहाँपर कहते हैं कि, आत्मा त्रिकाली शुद्ध है। यह तो सिद्ध समान स्वरूप है। परंतु उसकी पर्याय में-अवस्था में विकार है, यह कर्म के कारण नहीं, आ..हा..हा...! कहा न ? स्फटिक में जो सफेदी है...! हमने स्फटिक देखा है ! इतना स्फटिक (था)...!

(संवत्) '९१ की साल में `जामनगर' गये थे तब वहाँ (`समयसार' की) १००वीं गाथा चली थी। (यहाँपर) कल चली न ? आज सुबह भी चली ! '९१ के `मार्गशीर्ष' महिने में यह चलती थी। कितने साल हुए ? ४४ साल हुए ! `जामनगर' ! बड़ी सभा ! उस समय एक बड़ा डोक्टर आया था ! सभी लोग आते थे न ! ढ़ाई-ढ़ाई हजार व तीन हजार के पगारवाले सब आते थे ! बेचारे वे सभी सामान्य थे और उन्हें पगार हो पाँच हजार दस हजार ! उस धूल में है क्या? (तब) १०० वीं गाथा चली थी कि, आत्मा...! आ..हा..हा...! १०० में आया न ? जड़ के कार्य के काल में आत्मा स्वयं उसे निमित्तरूप भी कर्ता नहीं। उपादान कर्ता तो नहीं (परंतु निमित्तरूप भी कर्ता नहीं) ! आहा..हा...!

यह शरीर चलता है, देखो ! इस प्रकार.. इस प्रकार...! (चलने की) पर्याय है यह परमाणु का कार्य है, आत्मा का नहीं। आत्मा तो उसे निमित्त भी नहीं ! अरे..रे...! यह बात कैसे बैठे ? यह शरीर है, यह मिट्टी-धूल-जड़ है। अजीव ! अजीव तत्त्व हैं सो अनंत रजकण हैं। उनकी क्रियावर्ती शक्ति के द्वारा ऐसे-ऐसे चलते हैं ! यह पर्याय परमाणु का कार्य है। उन परमाणु के कार्य में आत्मा निमित्त भी नहीं। आत्मा से तो कार्य होता नहीं परंतु उसके कार्य में जो आत्मद्रव्य है सो निमित्त भी नहीं, आ..हा..हा...! यदि आत्मा उसके कार्य में निमित्त हो तो प्रत्येक अवस्था में आत्मा की उपस्थिति होनी चाहिये ! Logic-न्याय से समझना पड़ेगा, बापू ! आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ? तब यह कार्य जो हो रहा है, उसमें निमित्त किसे कहे ? निमित्त ! वह कार्य तो वहाँ हुआ परंतु निमित्त कहें किसे ? कि, आत्मा को नहीं ! यदि आत्मा को निमित्त कहो तो आत्मा तो नित्य है ! तो जगत की प्रत्येक अवस्था में वहाँ आत्मा की उपस्थिति होनी चाहिये। (यदि ऐसा हो तो) आत्मा कभी भी भिन्न हो सके नहीं। इसलिये आत्मद्रव्य उस कार्य में निमित्त

भी नहीं है, आ..हा..हा...! उपादान का तो उसका कार्य उससे (हुआ) है, आ..हा..हा...! ऐसी बात...!

यह जड़ की भाषा चलती है, सो जड़ का कार्य है। यह भाषा होती है सो जड़ का कार्य है। यह इस होंठ द्वारा नहीं। आत्मा के द्वारा तो नहीं ही। आ..हा..हा...! अरे.. यह बात...! क्योंकि वहाँ जड़ का जो कार्य होता है वह तो परमाणु स्वतंत्र कर्ता होकर कार्य होता है। तब (कोई ऐसा) कहे कि, यह आत्मा सचमुच निमित्त है या नहीं ? (तो कहते हैं) नहीं ! आत्मा निमित्त हो तो उसे जड़ की अवस्था के समय उपस्थित रहना पड़े। इसलिये यह वस्तु नहीं है। तब निमित्त कहें किसे ? कि, ऐसा कार्य जब होता है तब अज्ञानी के `योग' और `राग' को निमित्त कहने में आता है। क्यों (ऐसा है) यह राग और योग-कंपन का अज्ञानी कर्ता (होता) है। राग व इच्छा और कंपन का कर्ता (मैं हूँ, ऐसा) अज्ञानी मानता है। अतः यह अज्ञानी का आत्मा निमित्त नहीं परंतु अज्ञानी का `योग' और `राग', उस कार्य काल में उसे निमित्त कहने में आता है। तथापि वहाँ वह (कार्य) निमित्त से हुआ नहीं। ऐसी बातें अब...! फुरसत जैसे मिले नहीं ! एक तरफ सारा दिन व्यापार-धंधा ! (उसमें से) फुरसत मिले तो छःसात घंटे सोये ! दो-चार घंटे स्त्री-पुत्रों को खुश रखने में जाय !! हो गई छूट्टी...! जगत (ऐसे ही ऐसे) चला जाता है ! कहीं घंटेभर सुनने को जाये वहाँ मिले ऐसा (कि) `दया का पालन करो, व्रत करो, उपवास करो...!' ऐसी बेचारे बातें करते हैं... यह तो अज्ञान है। आ..हा..हा...! यह तो राग की क्रिया है, उसमें धर्म मनावे !! आहा..हा...!

अब, यह यहाँ कहते हैं कि, वहाँ जो राग होता है सो आत्मा के द्वारा नहीं। आत्मा तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति है ! वैसे राग होता है सो कर्म के द्वारा नहीं। क्योंकि कर्म तो परद्रव्य है। ऐसी बात है ! तब जो राग होता है, दया, दान, व्रत उपवास का (जो) विकल्प उठता है सो (शुभ) राग (है) और हिंसा, विषय, भोग, काम, क्रोध का भाव (उठता है) यह पाप (है)। वे दोनों पुण्य और पाप का भाव (होने में) कर्म का निमित्त हाँ ! परंतु करता है स्वयं ! करता है तब उसे निमित्त कहने में आता है। आ..हा..हा...! परंतु वह शुभाशुभ(भाव) करता ही नहीं...! (वैसा कहे तो यह अज्ञान है)। केवली परमात्मा को जैसे शुभाशुभभाव नहीं, अरिहंत परमात्मा चले, फिरे, बोले यह क्रिया उनकी नहीं, यह तो जड़ की क्रिया है और यह कोई बंध नहीं है। क्योंकि उसे राग, द्वेष व मोह नहीं है। (जैसे) उसे (राग, द्वेष, मोह) नहीं ऐसे अज्ञानी भी वैसे मान ले कि, अपनी भी चलने, फिरने की, बोलने की क्रिया में हमें भी राग-द्वेष है नहीं ! (तो) यह अज्ञान है, ऐसा सिद्ध करना

है। आ..हा..हा...! यह धर्म समझने में इतनी सब (बातें समझने की)...! धर्म तो यह `गिरनार' की या फलाँनी यात्रा की...! हो गया धर्म ! लो ! धूल में भी वहाँ धर्म नहीं...!

उस (यात्रा करते समय) कदम चलते हैं, `यह क्रिया मेरी है'-यह मानना ही मिथ्यात्व (और) अज्ञान है। और उसमें शुभराग होता है सो विकार है। यह बंध का कारण है और यह विकार स्वयं से होता है, कर्म से नहीं, द्रव्य से नहीं। द्रव्य यानी वस्तु जो त्रिकाली है उससे नहीं (और) कर्म से नहीं। उसके परिणाम में परिणामधर्म होने से उसे स्वयं से शुभभाव होता है। यह बंध का कारण है। आ..हा..हा...! यहाँ तो उसे धर्म मानना...! धर्म किया... जैसे धर्म किया...! `सम्मेदशिखर' की यात्रा ! आता है न ? एक बार वंदे जो कोई, नरक-पशु न होई' आता है न ? `सम्मेदशिखर' की सज्जाई आती है न ? `एक बार वंदे जो कोई...' यह तो शुभभाव की व्याख्या है। कई बार शुभभाव कोई अति उत्कट हो तो नर्क-पशु में जायेगा नहीं। परंतु यह शुभभाव धर्म है, वैसा नहीं। वैसे धर्म का कारण है, वैसा भी नहीं। आहा..हा...! समझ में आता है कुछ ? वैसे यह शुभभाव स्वयं परिणमित नहीं हुआ है, वैसा नहीं। आहा..हा...! ऐसा कितना स्मरण में रखना !? कमाई में ध्यान रखना, स्त्री-पुत्रों को संभालना (या यह करना) ? आहा..हा...! समझ में आया कुछ ?

वह स्फटिक जैसे स्वच्छता के स्वभाववाला होनेपर भी फूल के संग से स्वयं की योग्यता से (उसमें) काली, लाल झाँई दिखाई देती है। वैसे भगवानआत्मा निर्मलानंद स्वच्छ स्फटिक जैसा होनेपर भी उसकी पर्याय में-अवस्था में कर्म के निमित्त के संग से स्वयं के कारण वह शुभाशुभरूप परिणमित होना होता है। ऐसी बातें...! अबतक नौ तत्त्व में पुण्यतत्त्व क्या है ? पापतत्त्व क्या है ? आत्मतत्त्व क्या है ? (इसकी पहचान नहीं) ! आ..हा..हा...!

भावार्थ :- `**जैसे शुद्धनय से कोई जीव शुभाशुभ भावरूप परिणमित नहीं होता...**' देखा ? यह कहा ! शुद्धनय से देखा जाय तो त्रिकाली प्रभु है-द्रव्य है, यह शुभाशुभभावरूप परिणमित होता नहीं। आहा...! क्या कहा यह ? भगवानआत्मा ! सत् चिदानंद प्रभु ! `चेतन रूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो' - यह चीज जो है - सो वस्तु रागरूप कभी भी होती नहीं। उस `**...शुद्धनय से कोई जीव...**' शुद्धनय यानी त्रिकाली को (देखनेवाली) नय से देखते हुए। आ..हा..हा...! शुद्धनय से देखनेपर यानी कि सम्यग्दर्शन से देखने से त्रिकाली द्रव्य है सो वस्तु शुभाशुभभावरूप परिणमित होती नहीं। यह शुद्धनय का विषय जो द्रव्य है, यह द्रव्य कभी भी शुभाशुभभावरूप परिणमित होता नहीं, आ..हा..हा...!

`**...उसीप्रकार यदि अशुद्धनय से भी परिणमित न होता...**' आ..हा..हा...! यहाँ उसे

परिणमन पर दृष्टि करानी नहीं है। परंतु वस्तु है उसकी दृष्टि जिसे हुई नहीं उसे परिणाम में शुभाशुभभाव होते हैं, वह मानता नहीं, उसे शुभाशुभभाव होते हैं - तुझसे तुझे (होते हैं), ऐसा उसे सिद्ध करना है। समझ में आया कुछ ?

निश्चय से भगवानआत्मा शुद्धनय का, सम्यग्दर्शन का विषय (जो) है यह विषय है सो तो शुभाशुभभावरूप परिणमित होता ही नहीं। यह तो शुद्धभावरूप परिणमित होना (ऐसा उसका स्वभाव है)। क्या कहा यह ? निर्मलानंद प्रभु ! शुद्ध स्फटिक समान निर्मल सिद्धस्वरूपी प्रभु है! यह जिनस्वरूपी प्रभु है। आत्मा जिनस्वरूप है ! यह तो कहा था न ? और बहुधा कहते हैं - `घट घट अंतर जिन वसे, घट घट अंतर जैन, मत मदिरा के पान सो मतवाला समझे न,' अपने मत के - अभिप्राय के अहंकारी लोग उस वस्तु को समझते नहीं, आहा..हा...! अंदर जिनस्वरूपी प्रभु है। क्योंकि परमात्मा अरिहंत वीतराग होते हैं, यह पर्याय होती है कहाँ से ? बाहर से आती है? यह अंदर आत्मा वीतरागस्वरूप प्रभु है ! आ..हा..हा...! यह जिनस्वरूपी शुद्धनय का विषय है। आहा... ! (ऐसी) शुद्ध जो वस्तु (है) वह शुभाशुभभावरूप परिणमित होती नहीं।

आ..हा..हा...! शुद्ध जो है वैसी निश्चयनय की दृष्टि हुई और सम्यग्दर्शन हुआ, उसका विषय शुद्ध है, सो वह शुद्ध (वस्तु) तो शुद्धरूप परिणमित होती है। यह शुभाशुभभावरूप परिणमित होती नहीं। कमजोरी के कारण (राग) होता है परंतु वह उसका ज्ञाता-दृष्टा है। समझ में आया कुछ ? समकिती को भी शुद्ध चैतन्यमूर्ति चीज मैं - यह वस्तु की दृष्टि है। उसकी परिणाम की दृष्टि नहीं। परिणामी त्रिकाली परम परमभाव लक्षण निज परमात्म द्रव्य वह समकित का विषय है। (यह) शुद्धनय के विषय को देखें तो यह शुभाशुभरूप परिणमित होता नहीं। यह तो शुद्धरूप परिणमित होता है, वीतराग स्वभावरूप परिणमित होता है।

यहाँ कहते हैं कि, `**...यदि अशुद्धनय से भी परिणमित न होता हो...**' (अर्थात्) पर्यायदृष्टि से पर्याय में अशुद्धता से भी परिणमित न होता हो `**...तो व्यवहारनय से भी समस्त जीवों के संसार का अभाव हो जाये...**' निश्चय(नय से) तो संसार का अभाव है, परंतु (पर्याय में) विकार है और (तथापि वह) नहीं, ऐसा माने तो व्यवहारनय से भी संसार का अभाव होता है। क्या कहा वह ?

निश्चय से तो भगवानआत्मा...! आ..हा..हा...! `रिद्धि, सिद्धि, वृद्धि दीसे घट में प्रगट सदा, अंतर के अचानक सो लक्षपति है, समकिती दास भगवंत के, उदास रहे जगत सो' आ..हा..हा...! ऐसे जीव समकिती (हैं)। यह सम्यग्दर्शन जिसे हुआ उसे तो सच्चा त्रिकाली ज्ञायकभाव का दर्शन हुआ। आ..हा..हा...! धर्म की प्रथम सीढ़ी! त्रिकाली ज्ञायक चिदानंद प्रभु! आ..हा..हा...!

उसकी दृष्टि में तो परिणाम भी नहीं। सम्यग्दर्शन (स्वयं) परिणाम है तथापि सम्यग्दर्शन के परिणाम भी सम्यग्दर्शन के विषय में नहीं। आहा...! परंतु (कोई) ऐसा माने कि, जैसे सम्यग्दर्शन का विषय शुद्ध है और शुद्धरूप परिणमित होता है, वैसे पर्याय में अशुद्धनय से अशुद्धरूप नहीं है, व्यवहारनय से अशुद्धरूप परिणमित होता है, यह नहीं, ऐसा माने तो संसार का अभाव होगा। संसारदशा है उसका अभाव सिद्ध होगा। ऐसे Logic ! वह तो कहे, दया का पालन करो, व्रत करो...! कुछ समझने का (सही) ? उपवास करो, 'सम्मेदशिखर' की यात्रा करो...! वहाँ धूल में भी कुछ नहीं ! लाख-करोड़ यात्रा करे न ! (उसमें) राग मंद हो तो पुण्य बंधन होता है। वहाँ धर्म नहीं, आहा..हा...!

यहाँपर तो कहते हैं कि, धर्मीजीव को त्रिकालपर दृष्टि होने से यह शुद्धनय से तो शुद्धरूप परिणमित होता है, अशुद्धरूप परिणमित होता नहीं। परंतु उसे जितना अशुद्धपना है और अज्ञानी को भी जो अशुद्धपना है, सो अशुद्धरूप परिणमित होता है, आहा..हा...! यह शुभ-अशुभभाव जीव की पर्याय का है। यदि यह शुभ-अशुभभाव न हो तब तो अज्ञानी को भी संसार का अभाव ठहरेगा। कितना इसमें याद रखें ?

'**...अशुद्धनय से भी...**' ऐसा (कहा है)। (अर्थात्) शुद्धनय से तो शुभाशुभभावरूप परिणमित होता नहीं। परंतु अशुद्धनय-व्यवहारनय से भी यदि न परिणमित होता हो '**...तो व्यवहारनय से भी समस्त जीवों के संसार का अभाव हो जाये और सभी जीव सदा मुक्त ही सिद्ध हो जावें** !' (यानी कि) जिस प्रकार द्रव्य मुक्त है, वैसी पर्याय मुक्त ठहरेगी। समझ में आया कुछ ? परंतु पर्याय में तो बंधन, राग-द्वेष है, शुभाशुभ है और इस प्रकार परिणाम स्वभाववाला होने से स्वयं परिणमित हुआ है, आ..हा..हा...!

'**किन्तु यह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है।**' शुभाशुभभाव है नहीं और मुक्त है (वैसा कहे तो) यह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। '**इसलिये जैसे केवलीभगवान के...**' जोड़ यहाँ है। '**इसलिये जैसे केवलीभगवान के शुभाशुभ परिणामों का अभाव है उसीप्रकार सभी जीवों के सर्वथा शुभाशुभ परिणामों का अभाव नहीं समझना चाहिये।**' इस गाथा में सिद्ध यह किया। भगवान चले, फिरे, बोले (तो) है उनको कोई भाव ? परंतु उनको तो शुभाशुभभाव है नहीं, मोह है नहीं। तब (कोई ऐसा) कहे कि, 'हम भी चलते फिरते हैं,... हम (भी) आत्मा हैं, इसलिये हमें (भी) शुभाशुभभाव नहीं !' (तो) वैसा नहीं है, आ..हा..हा...!

सम्यग्दृष्टि को भी शुद्धनय का विषय होते हुए भी, उसका परिणमन शुद्ध होते हुए भी, अभी

कमजोरी है उतना अशुद्ध परिणमन है। उसे अशुद्ध (परिणाम) है ही नहीं, ऐसा माने (तो वैसा नहीं है)। समझ में आया ? अशुद्धता तो है, यदि अशुद्धता न हो तो पूर्ण केवलज्ञान होना चाहिये। पूर्ण केवलज्ञान नहीं है इसलिये अशुद्धता तो है। शुद्धता भी है और अशुद्धता भी है। समझ में आया? आहा..हा...! यह अशुद्ध परिणाम का अभाव माने तो संसार का अभाव ठहरेगा। बंध के कारण का अभाव होने से उसे बंध है - भावबंघ है यह सिद्ध होगा नहीं। द्रव्यबंध तो भले ही कर्म (है) परंतु भावबंध है न ? शुभाशुभभाव है सो भावबंध है, आ..हा..हा...!

इस विषय का ४५ वीं (गाथा) के साथ मिलान किया। ४५ (वीं गाथा में ऐसा कहा है कि) `पुण्यफला अरहंता' ! अरिहंत भगवान को केवलज्ञान हुआ यह तो अपने वीतराग स्वभाव द्वारा हुआ। परंतु अरिहंत भगवान को पूर्व तीर्थंकर प्रकृति बंधी थी उसका उदय केवलज्ञान होनेपर हुआ। और उस उदय के द्वारा चलने, फिरने, बोलने की जो क्रियाएँ हुए वे सभी ओदयिकी क्रिया हैं। वे आत्मा को कुछ नुकशान करती नहीं, वैसे आत्मा को लाभ करती नहीं। परंतु वह क्रिया उदय की है वह उसे खिर जाती है। उसे शुभाशुभभाव है नहीं।

उसीप्रकार अज्ञानी भी माने कि, `हमें भी शुभाशुभभाव नहीं है ! हम भी आत्मा शुद्धद्रव्य हैं!' द्रव्य से तो शुद्ध हो परंतु पर्याय में अशुद्धता नहीं है ऐसा माने तो अशुद्धता तो है। आहा...! यह केवली के साथ मिलान किया। और कर्म के कारण शुभाशुभभाव है। वैसा माने तो भी मिथ्यात्व, अज्ञान है। क्योंकि कर्म का उदय है सो भावबंध का कारण नहीं। यह तो संस्कृत में आ गया। (`जयसेनाचार्यदेव' की ४५ वीं गाथा की टीका) `**द्रव्यमोहोदयेऽपि सति**' देखो ! ४५ (गाथा में है), नीचे से तीसरी पंक्ति। संस्कृत है संस्कृत ! `**द्रव्यमोहोदयेऽपि सति**' (अर्थात्) द्रव्यमोह का उदय होनेपर भी। `**द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति**' देखो! भले कर्म का उदय हो परंतु भावरूप परिणमित नहीं होता तो वह बंध का कारण नहीं, आहा..हा...! यह बड़ी चर्चा हुई थी। `**द्रव्यमोहोदयेऽपि**' (अर्थात्) जड़ मोहकर्म का उदय होनेपर भी। `**यदि शुद्धात्मभावनाबलेन**' (अर्थात्) आत्मा अपने शुद्धस्वरूप की भावना की एकाग्रता के बल में। `**भावमोहेन न परिणमति**' द्रव्यमोह का उदय होनेपर भी शुद्धस्वभाव की दृष्टि करके भावमोहरूप परिणमित न हो तो उसे बंध है नहीं। है (पाठ में) `**तदा बंधो न भवति**' आहा..हा...! क्या (कहा) समझ में आया ?

जिस प्रकार लाल और पीले फूल हैं इसलिये यहाँपर लाल और पीली झाँई पड़ी, ऐसा नहीं। वैसे कर्म का उदय है इसलिये यहाँ शुभाशुभभाव होते हैं, वैसा नहीं। परंतु द्रव्यमोह का

उदय होनेपर भी भावमोहरूप परिणमित न हो तो बंध का कारण नहीं।

श्रोता :- यह उदय फिर निर्जरा कहलायेगी ?

समाधान :- यह उदय तो केवली को खिर जाता है। यह कहा न ? उदय है वह सब समय-समयपर खिर जाता है।

यहाँ तो कहते हैं, उदय भले हो, परंतु उदय होनेपर भी यदि आत्मा भावमोहरूप न परिणमित हो तो बंध का कारण होता नहीं, आहा...! यह विशेष कहेंगे...

❋ ❋ ❋

अथ पुनरपि प्रकृतमनुसृत्यातीन्द्रियज्ञानं सर्वज्ञत्वेनाभिनन्दति–

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं।।४७।।

यत्तात्कालिकमितरं जानाति युगपत्समन्ततः सर्वम्।
अर्थं विचित्रविषमं तत् ज्ञानं क्षायिकं भणितम्।।४७।।

तत्कालकलितवृत्तिकमतीतोदर्ककालकलितवृत्तिकं चाप्येकपद एव समन्ततोऽपि सकलमप्यर्थजातं, पृथक्त्ववृत्तस्वलक्षणलक्ष्मीकटाक्षितानेकप्रकारव्यञ्जितवैचित्र्यमितरेतरविरोध-धापितासमानजातीयत्वोद्दामितवैषम्यं क्षायिकं ज्ञानं किल जानीयात्; तस्य हि क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानां क्षयोपशमावस्थावस्थितज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलानामत्यन्ताभावात्तात्कालिकमतात्कालिकं वाप्यर्थजातं तुल्यकालमेव प्रकाशेत; सर्वतो विशुद्धस्य प्रतिनियतदेशविशुद्धेरन्तःप्लवनात् समन्ततोऽपि प्रकाशेत; सर्वावरणक्षयाद्देशावरणक्षयोपशमस्यानवस्थानात्सर्वमपि प्रकाशेत; [सर्वप्रकारज्ञानावरणीय-क्षयादसर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विलयनाद्विचित्रमपि प्रकाशेत;] असमानजातीयज्ञानावरण-क्षयात्समानजातीयज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विनाशनाद्विषममपि प्रकाशेत। अलमथवातिविस्तरेण, अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात् ।।४७।।

एवं रागादयो बन्धकारणं, न च ज्ञानमित्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथापञ्चकं गतम्। अथ प्रथमं तावत् केवलज्ञानमेव सर्वज्ञस्वरूपं, तदनन्तरं सर्वपरिज्ञाने सति एकपरिज्ञानं, एकपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञानमित्यादिकथनरूपेण गाथापञ्चकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तद्यथा– अत्र ज्ञानप्रपञ्चव्याख्यानं प्रकृतं तावत्तत्प्रस्तुतमनुसृत्य पुनरपि केवलज्ञानं सर्वज्ञत्वेन निरूपयति- **जं** यज्ज्ञानं कर्तृ **जाणदि** जानाति। कम्। अत्थं अर्थ पदार्थमिति विशेष्यपदम्। किंविशिष्टम्। **तक्कालियमिदरं** तात्कालिकं वर्तमानमितरं चातीतानागतम्। कथं जानाति। **जुगवं युगपदेकसमये समंतदो** समन्ततः सर्वात्मप्रदेशैः सर्वप्रकारेण वा। कतिसंख्योपेतम्। **सव्वं** समस्तम्। पुनरपि किंविशिष्टम्। **विचित्तं** नानाभेदभिन्नम्। पुनरपि किंरूपम्। **विसमं** मूर्तामूर्तचेतनाचेतनादिजात्यन्तर-विशेषैर्विसदृशं। **तं णाणं खाइयं भणियं** यदेवंगुणविशिष्टं ज्ञानं तत्क्षायिकं भणितम्। अभेदनयेन तदेव सर्वज्ञस्वरूपं तदेवोपादेयभूतानन्तसुखाद्यनन्तगुणानामाधारभूतं सर्वप्रकारोपादेयरूपेण भावनीयम्। इति तात्पर्यम्।।४७।।

अब, पुनः प्रकृतका (चालू विषयका) अनुसरण करके अतीन्द्रिय ज्ञानको सर्वज्ञरूपसे अभिनन्दन करते हैं। (अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञान सबका ज्ञाता है ऐसी उसकी प्रशंसा करते हैं) :-

गाथा ४७

सौ वर्तमान अवर्तमान, विचित्र विषम पदार्थ ने।
युगपत् सरवतः जाणतुं ते ज्ञान क्षायिक जिन कहे।।४७।।

अन्वयार्थ :- [यत्] जो **[युगपद्]** एकही साथ **[समन्ततः]** सर्वतः (सर्वआत्मप्रदेशोंसे) **[तात्कालिकं]** तात्कालिक **[इतरं]** या अतात्कालिक, **[विचित्रविषमं]** विचित्र (-अनेक प्रकारके) और विषम (मूर्त, अर्मूत आदि असमान जातिके) **[सर्व अर्थं]** समस्त पदार्थोंको **[जानाति]** जानता है **[तत् ज्ञानं]** उस ज्ञानको **[क्षायिकं भणितम्]** क्षायिक कहा है।

टीका :- क्षायिक ज्ञान वास्तवमें एक समयमें ही सर्वतः (सर्व आत्मप्रदेशोंसे), वर्तमानमें वर्तते तथा भूत-भविष्यत कालमें वर्तते उन समस्त पदार्थोंको जानता है जिनमें पृथक्‌रूपसे वर्तते स्वलक्षणरूप लक्ष्मीसे आलोकित अनेक प्रकारोंके कारण वैचित्र्य प्रगट हुआ है और जिनमें परस्पर विरोधसे उत्पन्न होनेवाली असमानजातीयताके कारण वैषम्य प्रगट हुआ है। (इसी बातको युक्तिपूर्वक समझाते हैं :-) क्रम-प्रवृत्तिके हेतुभूत, क्षयोपशम-अवस्थामें रहनेवाले ज्ञानावरणीय कर्मपुद्‌गलोंका उसके (क्षायिक ज्ञानके) अत्यन्त अभाव होनेसे वह तात्कालिक या अतात्कालिक पदार्थ-मात्रको समकालमें ही प्रकाशित करता है; (क्षायिक ज्ञान) सर्वतः विशुद्ध होनेके कारण प्रतिनियत प्रदेशोंकी विशुद्धि (सर्वतः विशुद्धि)के भीतर डूब जानेसे वह सर्वतः (सर्व आत्मप्रदेशोंसे) भी प्रकाशित करता है; सर्व आवरणोंका क्षय होनेसे, देश-आवरणका क्षयोपशम न रहनेसे वह सबको भी प्रकाशित करता है, सर्वप्रकार ज्ञानावरणके क्षयके कारण (-सर्व प्रकारके पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानके आवरणमें निमित्तभूत कर्मके क्षय होनेसे) असर्वप्रकारके ज्ञानावरणका क्षयोपशम (-अमुक ही प्रकारके पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानके आवरणमें निमित्तभूत कर्मोंका क्षयोपशम) विलयको प्राप्त होनेसे वह विचित्रको भी (अनेक प्रकारके पदार्थोंको भी) प्रकाशित करता है; असमानजातीय-ज्ञानावरणके क्षयके कारण (असमानजातिके पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानके आवरणमें निमित्तभूत कर्मोंके क्षयके कारण) समानजातीय ज्ञानावरणका क्षयोपशम (-समान जातिके

ही पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानके आवरणमें निमित्तभूत कर्मोंका क्षयोपशम) नष्ट होजानेसे वह विषमको भी (-असमानजातिके पदार्थोंको भी) प्रकाशित करता है। अथवा, अतिविस्तारसे पूरा पड़े (कुछ लाभ नहीं) ? जिसका अनिवार (रोका न जा सके ऐसा अमर्यादित) फैलाव है ऐसा प्रकाशमान होनेसे क्षायिक ज्ञान अवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वको जानता है।

भावार्थ :- क्रमपूर्वक जानना, नियत आत्मप्रदेशोंसे ही जानना, अमुकको ही जानना- इत्यादि मर्यादायें मति-श्रुतादि क्षायोपशमिक ज्ञानमें ही संभव हैं। क्षायिकज्ञानके अमर्यादित होनेसे एक ही साथ सर्व आत्मप्रदेशोंसे तीनों कालकी पर्यायोंके साथ सर्व पदार्थोंको- उन पदार्थोंके अनेक प्रकारके और विरुद्ध जातिके होने पर भी जानता है अर्थात् केवलज्ञान एक ही समयमें सर्व आत्मप्रदेशोंसे समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल भावको जानता है।।४७।।

(**दिनांक १९-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-४४**)

`प्रवचनसार', ४७ गाथा। `**अब, पुनः...**' अर्थात् क्या (कहते हैं) ? पहले क्षायिकज्ञान, केवलज्ञान का अधिकार कहा था। परंतु मध्य में ४५-४६ (गाथा में) ऐसा कहा न ? कि, अरिहंत भगवान सर्वज्ञ को जो सर्वज्ञपना प्रगट हुआ है, उस समय उन्हें पूर्व की पुण्य प्रकृति है वह उदय हुई है। उस उदय से उनका चलना-फिरना होता है। परंतु मोह और राग-द्वेष के अभाव होने से बंध का कारण नहीं। ऐसे सभी प्राणी को शुभाशुभभाव से रहितपना है, वैसा नहीं।

आहा..हा...! जैसे सर्वज्ञ वीतराग को तो देहादि की क्रिया से या बोलने, चलने, विहार से बंध है नहीं। यह पुण्य का फल है सो खिर जाता है, आ..हा..हा...! अतः उन्हें मोह का शुभाशुभभाव नहीं है। बोले तो उन्हें राग नहीं, चले तो उन्हें इच्छा नहीं, आहा..हा...! अतः उनका चलना, फिरना, बोलना सब मोहभाव के अभाव को लेकर बंध के अकारणभूत है और क्षायिकभाव के कारणभूत है। इतना (पूर्व कर्म का) क्षय होता जाता है न ! (यानी क्षायिकभाव के कारणभूत कहा), आहा..हा...! अंदर जो-जो उदय है उस-उस समय का आकर खिर जाता है। है वह औदयिक क्रिया, परंतु खिर जाती है इसलिये उसे `क्षायिक' कहने में आता है। अरे...! ऐसी बातें

अब...! यह बात मध्य में डाली।

`**अब, पुनः...**' (ऐसा कहकर) चालू विषय-केवलज्ञान का, सर्वज्ञ का विषय पुनः लेते हैं। `**...(चालू विषय का) अनुसरण करके अतीन्द्रिय ज्ञान को...**' (अर्थात्) अतीन्द्रिय ज्ञान जो आत्मा की पर्याय, आहा...! (उसे) `**...सर्वज्ञरूप से अभिनन्दन करते हैं।**' सर्वज्ञरूप से उसे अभिनन्दन करते (हैं) - उसकी प्रशंसा करते हैं, आ..हा..हा...! (यहाँपर कहने का) हेतु यह है कि, सर्वज्ञ परमेश्वर जो होते हैं उन्हें एक समय में सब जानने में आता है। परंतु वह सर्वज्ञपना प्रगट हुआ कैसे ? (जो कहते हैं कि), त्रिकाली सर्वज्ञस्वभाव जो ध्रुव है उसे कारणरूप ग्रहणकर प्रगट हुआ है। वह पहले आया है न ? पहले आ गया है।

२१ (वीं गाथा में) आ गया है। `**...अनादि, अनंत, अहेतुक और असाधारण ज्ञानस्वभाव को ही कारणरूप ग्रहण करने से तत्काल ही प्रगट होनेवाले केवलज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमित होते हैं;...**' आ..हा..हा...! यानी यहाँ परमात्मा का सर्वज्ञरूप बताकर उसकी शक्ति की अद्‌भुतता है (ऐसा बताना है)। पूर्व में कोई व्रत और तपस्या करी इसलिये प्रगट हुई, ऐसा नहीं। वास्तव में तो पूर्व क्षयोपशम ज्ञान था इससे सर्वज्ञपना प्रगट हुआ, वैसा भी नहीं। आ..हा..हा...! यह सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु ध्रुव है, उसका आश्रय लेकर (सर्वज्ञपना प्रगट हुआ है)। आश्रय (लेने में) भी पर्याय को कोई पराधीनता नहीं। क्या कहा ?

सर्वज्ञस्वभाव जो त्रिकाली ध्रुव आत्मा ! उसका पर्याय आश्रय (करती है)। `**भूदत्थमस्सिदो**' ऐसा शब्द है न ? (यानी) त्रिकाली ज्ञायकभाव का आश्रय। आश्रय में कोई पर्याय को कोई पराधीनता नहीं। मात्र पर्याय कर्तारूप, स्वतंत्ररूप स्व तरफ लक्ष करती है। इससे अंदर त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव (है) उसे कारणरूप ग्रहणकर केवलज्ञान होता है। वैसा कहा। समझ में आया कुछ ?

यह तो सुबह में कह दिया था न ? कि, केवलज्ञान है सो लोकालोक को निमित्त है। निमित्त कर्ता नहीं। और लोकालोक केवलज्ञान को निमित्त है। `निमित्त है' अर्थात् क्या मगर ? लोग `निमित्त' के बारे में चिल्लाते हैं न ! एक चीज है। लोकालोक के कारण केवलज्ञान हुआ है, ऐसा नहीं। वैसे केवलज्ञान उसे निमित्त है, इसलिये केवलज्ञान के कारण लोकालोक हुआ है, वैसा नहीं। शब्द तो `निमित्त' कहलवाया ! आ..हा..हा...! ऐसे नीचे के (गुणस्थान में) भी, आत्मा सर्वज्ञरूपी ध्रुव स्वभाव है, ऐसी अंदर जिसने पकड़ की, (अर्थात्) असाधारण त्रिकाल ज्ञान (को कारणरूप ग्रहण किया) उसे सम्यग्दर्शन और सम्यक्‌ज्ञान होता है। यह सम्यक्‌ज्ञान भी जगत

की चीज को निमित्त है, आ..हा..हा...! भगवानआत्मा सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु ! उसका जिसने पर्याय में स्वतंत्र कर्ता हेतु से आश्रय लिया... आ..हा..हा...! उसे पर्याय में सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान आनंदास्वादित (प्रगट) होता है। समझ में आता है कुछ ? उसे योग और राग होता है (सही) परंतु उसमें वह ज्ञान निमित्त है। और योग और राग को जो परवस्तु है वह इस (सम्यक्) ज्ञान में निमित्त है।

`निमित्त' का यह बड़ा झगड़ा (चलता) है न ! निमित्त है यानी कि वस्तु है। समझ में आया? यह निमित्त उपादान का बड़ा झगड़ा है न ! (निमित्त-उपादान के) ४७ दोहे हैं न ? (तो उसे देखकर) एक शास्त्री ऐसा कहते थे कि, `(उसमें) निमित्त ने जो दलील की है सो सच है। उपादान ने दलील की वह बात उटपटांग है !' अरे... प्रभु !

वैसे यहाँ ऐसा जब कहना है कि, भगवान का सर्वज्ञज्ञान लोकालोक को निमित्त है। आ..हा..हा...! यानी सिद्ध भगवान जो केवली हैं और उनको भी यह सर्वज्ञज्ञान निमित्त है। और वे केवलज्ञानादि जो सिद्ध जो हैं वे लोकालोक में कहलाते हैं, यह यहाँ केवलज्ञान में निमित्त है। निमित्त है इसलिये उससे हुआ है, यह शब्द ही नहीं, आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ?

यह सर्वज्ञ को सिद्ध करने का हेतु यह है... बारबार सिद्ध कर चुके हैं और पुनः भी कहेंगे, ऐसा कहा न ? आ..हा..हा...! कि, यह ज्ञान कोई अलौकिक है, बापू ! यह ज्ञान जिसे प्रगट हुआ है, वह ज्ञान जगत की चीज में निमित्त कहलाता है। और यह ज्ञान, प्रगट होने का कारण भगवानआत्मा सर्वज्ञशक्ति का पिंड है (सो है)। यह केवलज्ञान की पर्याय जैसी तो अनंत पर्याय का (पिंड) भगवान ज्ञानगुण है ! आ..हा..हा...! और त्रिकाली ज्ञानस्वभाव की जो शक्ति है उसका आश्रय लेकर सर्वज्ञ होता है। समझ में आया कुछ ? इस बात से यहाँ सर्वज्ञ को खूब सिद्ध करते हैं।

दूसरे प्रकार से (कहे तो) सर्वज्ञ है सो तीनकाल तीनलोक के पदार्थों को जानते हैं। यानी कि उनके ज्ञान में तीनकाल के द्रव्य की पर्याय है, (वह) उनके वर्तमान (ज्ञान में) ज्ञात होती है। यह भूतकाल की और भविष्य की पर्याय वर्तमान में न होते हुए भी असद्भूत होते हुए भी ज्ञान प्रति तो निश्चय-नियत है। अतः वह अभूतार्थ है, आ..हा..हा...!

ऐसा ज्ञान सिद्ध करके (यह कहना है कि) यह ज्ञान की उत्पत्ति सर्वज्ञ के आश्रय से होती है (यानी कि सर्वज्ञ)स्वभाव के आश्रय से होती है। ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। उसका तात्पर्य (यह है)। उसे यह सर्वज्ञस्वभाव, मोक्षस्वभाव, केवलज्ञानस्वभाव जानता है। समझ में आया कुछ ? लो!

ऐसा धर्म...! धर्म करने में हमें ऐसा (समझने की) क्या जरूरत है !? परंतु धर्म कैसे होता है, उसकी तुझे कहाँ ख़बर है ! आहा...!

धर्म (अर्थात्) `सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र' ! यह धर्म ! यानी मोक्ष का मार्ग ! यह होता है किस तरह ? यह क्या दया, दान, व्रत व पूजा-भक्ति करने से होता है ? यह तो राग है। जिसके स्वभाव में ज्ञान का पूर्ण स्वरूप भरा है, उसे कारणरूप ग्रहण करे तब उसका केवलज्ञानरूप कार्य होता है। उसमें भी प्रश्न था न ? कि, द्रव्य है - ध्रुव है यह फिर कारण कैसे हो ? ऐसा कहते हैं। ऐसा प्रश्न खड़ा हुआ (था)। यहाँ पर्याय स्वयं उसका आश्रय लेती है, इसलिये कारणरूप कहने में आता (है)। बहुत प्रश्न (आ गये)। आजकल मूल चीज की ख़बर नहीं और बाहर से सब चलाया।

इसलिये (ऐसा कहा हैं कि), कारणपरमात्मा है, सो कारण कैसे हो सकता है ? वस्तु ध्रुव है सो कारण कैस हो ? ऐसा कहा न भाई ने ? (यह) एक बात। और कारणपरमात्मा है... वस्तु ध्रुव स्वयं कारणभगवान ही है ! सर्वज्ञस्वरूपी यह कारणप्रभु ही है। यदि कारण हो तो कार्य क्यों नहीं होता ? यह दूसरा प्रश्न (था)। और यहाँ प्रश्न यह कि, स्वयं द्रव्य को कारण कहते हो तो कारण तो पर्याय है, द्रव्य कैसे कारण हो सकता है ? भाई, तुझे ख़बर नहीं ! यह तो २१ (वीं गाथा में) कहा न ? `असाधारण ज्ञान को कारणरूप ग्रहण करके' यह तो पर्याय जो है (सो) उसका आश्रय लेती है इसलिये उसे कारण कहने में आता है, आहा..हा...! आश्रय ले तब ! आश्रय लेता नहीं है तब तो उसे कारण है कि नहीं उसकी ख़बर भी कहाँ है ? ऐसी बातें हैं ! ऐसा वीतराग मार्ग ! अरे...! इसके बिना जन्म-मरण नहीं मिटेगा, प्रभु !

चौरासी के अवतार... आ..हा..हा...! यहाँ रत्न के पलंग में सोता हो, अरबों रुपये दिन की आमदनी हो... हाल अभी है न वो `अरबस्तान' में ! मुसलमान राजा ! एक दिन की अरब की आमदनी है ! हाल है ! एक दिन की अरब की आमदनी ! पेट्रोल निकला... देश छोटा...! `इरान' में तो दूसरा है। उसे तो एक घंटे की डेढ़ करोड़ की आमदनी है ! एक घंटे में डेढ़ करोड़ की कमाई !! यानी छत्तीस करोड़ हुए। पहला (जो कहा सो) दूसरा एक देश है। उसे एक दिन की एक अरब की आमदनी है। यह तो पूर्व के पुण्य के परमाणु हो उसका उसका उस प्रकार का संयोग आये। परंतु इससे आत्मा को कोई लाभ होता है ? `यह पैसे आये और मुझे मिले, (मुझे) मिले' - उसमें (ऐसा मानने में) नुकसान होता है। आ..हा..हा...!

यहाँपर कहते हैं कि, सर्वज्ञस्वरूपी प्रभु की हम पुनः बात करते हैं। कह दिया बहुत !

क्योंकि सर्वज्ञस्वरूप को सिद्ध करने से जगत की पर्यायें क्रमसर - जिस समयपर होनेवाली है उसी समयपर होती है, आगे-पीछे न हो। क्योंकि सर्वज्ञ ने तीनकाल तीनलोक को एक समय में इस प्रकार जान लिया है। इसलिये उलटी-सीधी पर्याय हो वैसा द्रव्य के स्वरूप में नहीं है। और अतः सर्वज्ञ, उलटी-सीधी (हुए) बिना जो क्रमबद्धपर्याय होती है उसे भगवान जानते हैं। उस क्रमबद्ध की पर्याय को केवलज्ञान निमित्त है, आ..हा..हा...! और केवलज्ञान की पर्यायवाला द्रव्य सर्व ज्ञान को निमित्त है। ऐसी बातें अब...! अतः सर्वज्ञ को बारबार सिद्ध करते हैं। समझ में आया कुछ ? और सर्वज्ञ को सिद्ध करने में, जगत के पदार्थों की क्रमसर पर्याय होती (है, ऐसा सिद्ध होता है)। अतः जीव राग का कर्ता नहीं, वास्तव में जो द्रव्य है सो पर्याय का भी कर्ता नहीं ! यह वहाँ सिद्ध करना है, आ..हा..हा...!

यह कोई संप्रदाय नहीं। यह तो वस्तु का स्वरूप है। सर्वज्ञ भगवान ने (सर्वज्ञपना) देखा और सर्वज्ञपना का स्वभाव (है) उसके आश्रय से सर्वज्ञपना प्रगट किया और सर्वज्ञपना कैसे प्रगट हो ? यह उपाय उन्होंने बताया। यह तो वस्तु की स्थिति है। यह कोई पक्ष और संप्रदाय की बात नहीं, आहा..हा...! इसलिये इस तरह जहाँ मान्यता नहीं उन सबके साथ एक करना (मिलान करना) यह किस तरह हो सके ? समझ में आया कुछ ?

यहाँ '**...पुनः...**' शब्द है न ? '**...प्रकृत का...**' अर्थात् चालू विषय जो 'सर्वज्ञ' का है, चालू विषय 'सर्वज्ञ' का है। आ..हा..हा...! उसे '**...अनुसरण करके अतीन्द्रिय ज्ञान को सर्वज्ञरूप से अभिननन्द करते हैं। (अर्थात् अतीन्द्रिय ज्ञान सबका ज्ञाता है ऐसी उसकी प्रशंसा करते हैं):-**

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं।।४७।।
सौ वर्तमान अवर्तमान, विचित्र, विषम पदार्थने।
युगपत् सरवतः जाणतुं ते ज्ञान क्षायिक जिन कहे।।४७।।

एक (बात) फिर ऐसी दिमाग में आयी कि, जो सर्वज्ञ पर्याय है उसे द्रव्य निमित्त कहलाता है ! यानी कि इससे (केवलज्ञान) हुआ नहीं। 'योगीन्द्रदेव' में आता है न ? कि, 'द्रव्य निमित्त और संप्रदेश विकारी परिणाम निमित्त' उसमें द्रव्य निमित्त है। निमित्त अर्थात् कुछ करता नहीं, ऐसा अर्थ होता है। कठिन काम...!

वैसे वस्तु नित्यानंद प्रभु ! यह केवलज्ञान-सर्वज्ञ के परिणाम को भी करता नहीं। भले परिणाम ने उसे - त्रिकाली ज्ञानस्वभाव को कारणरूप ग्रहण किया, परंतु यह परिणाम द्रव्य

करता नहीं। परिणाम परिणाम को करता है। अरे...! ऐसी बातें...! समझ में आया कुछ ? यह (तो) शांति का मार्ग है, बापू ! आहा...! निश्चय से, द्रव्य से परिणाम सर्वथा भिन्न हैं। उसके द्वारा (उस कारण से) सर्वथा भिन्न है उसे द्रव्य क्या करे ? आ..हा..हा...! द्रव्य क्या करे ? आ..हा..हा...! वीतराग त्रिलोकीनाथ प्रभु का मार्ग कोई अलौकिक है !! अरे..रे...! संप्रदाय में पैदा हुए उन्हें भी सुनने मिले नहीं ! क्या सत्य है ? और सत्य का परिणाम क्या आये ? (उसकी ख़बर नहीं)। आहा..हा...! अरे...! जीवन तो चला जा रहा है, अकेला जायेगा। दृष्टि की ख़बर नहीं और वस्तु की स्थिति की (ख़बर नहीं इसलिये) चारगति में अकेला भटकेगा, आहा...! समझ में आया कुछ? आहा..हा...!

`सोगानी' ने तो एक (बात) ऐसी भी कही है कि, `आखिर तो तू अकेला होनेवाला है न ! (तो) अभी से ही अकेला हो न !' ऐसा कहीं (आता) है।

आ..हा..हा...! यह प्रभु चैतन्यमूर्ति को राग के साथ संबंध नहीं। यह द्रव्य है वह राग का भी कर्ता नहीं, आ..हा..हा...! और निश्चय से तो - परमार्थदृष्टि से तो भगवान ध्रुव है यह परिणाम का भी कर्ता नहीं। क्योंकि यह सर्वज्ञ की जो पर्याय है वह कर्ता,कर्म, करण आदि के षट्कारक से वह परिणति खड़ी होती है, द्रव्य के कारण नहीं, आ..हा..हा...! ऐसा वीतरागस्वरूप ऐसा सूक्ष्म (है), बापू !

`पंचास्तिकाय संग्रह' की ६२ गाथा में कहा न ? विकार के परिणाम जो हैं, मिथ्यात्व के- विपरीत श्रद्धा के जो परिणाम हैं और राग-द्वेष के (परिणाम हैं), उन परिणामों का कर्ता भी परिणाम (है), परिणाम का कर्ता द्रव्य नहीं। आ..हा..हा...! यह मिथ्यात्व, राग-द्वेष के परिणाम का कर्ता परिणाम, परिणाम के लिये परिणाम किया, परिणाम से परिणाम हुए, परिणाम के आधार से परिणाम हुए, द्रव्य के आधार से नहीं - द्रव्य से नहीं, आ..हा..हा...! भाई...! तब यह सर्वज्ञस्वभाव भी निश्चय से देखो (तो) प्रभु...! आ..हा..हा...! व्यवहार से चाहे जितनी बातें आयी हो (कि), पूर्व मोक्षमार्ग था और उसके द्वारा केवल हुआ और द्रव्य के आश्रय से हुआ...! पूर्व की पर्याय से होता है, यह निकाल दें। (अर्थात्) उत्पाद की अपेक्षा से केवलज्ञान का उत्पाद हुआ उसे पूर्व के कोई व्यय की अपेक्षा नहीं, उसे निमित्त की अपेक्षा नहीं, उसे ध्रुव की अपेक्षा नहीं!! आ..हा..हा..हा...! यह तो कोई वीतराग का तत्त्वज्ञान...!! बहुत सूक्ष्म, भाई ! आ..हा..हा...!

इस प्रकार ध्रुव की ओर देखे बिना, जो कोई क्रियाकांड के लाखों-करोड़ों क्लेष करे, अरे...! ज्ञान का क्षयोपशम किसी भी प्रकार का करे ! इससे कोई आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी।

ज्ञान का क्षयोपशम विशेष हो इससे जैसे मुझे ज्ञान हुआ (ऐसा मानकर) ऐसा अभिमान बढ़ता जाय! आ..हा..हा...!

श्रोता :- मूल नींव की बात है !

पुज्य गुरुदेवश्री :- यह मूल बात है, बापू ! आ..हा..हा...! यह वस्तु आपकी भगवान, त्रिकाली आनंदकंद नाथ ! यह चीज स्वयं तो पड़ी है, बस ! परंतु वर्तमान परिणाम उसका आश्रय ले वह भी स्वतंत्ररूप से लेता (है) ! द्रव्य के दबाव से लेता है, ऐसा नहीं। समझ में आया कुछ ? और उसका आश्रय लिया इसलिये द्रव्य ने उसकी मदद की, (ऐसा नहीं)। अरे... अरे... ऐसी बातें...! यह परिणाम स्वयं ही षट्कारकरूप से परिणमन होने से अवस्था उत्पन्न होती है। इसके कारण द्रव्य निमित्त कहलाता है। `निमित्त' का अर्थ कि, वह करता नहीं, ऐसा है। भाई! यह तो निमित्त का भी स्पष्टीकरण होता है। `निमित्त'... `निमित्त' जहाँ आये अतः निमित्त ने किया, (ऐसा नहीं)। यह तो (वहाँ दूसरी) वस्तु (हाजिर) है, ऐसा बताया, बस ! आ..हा..हा...!

श्रोता :- निमित्त-नैमित्तिक संबंध तो दो पर्याय के बीच होता है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- (हाँ), पर्याय के साथ है न ! द्रव्य के साथ क्या है ! पर के साथ निमित्त-(नैमित्तिक) संबंध (कहना) यह भी व्यवहार है। ऐसी बातें...! समझ में आया कुछ ? आहा..हा...! ऐसा मार्ग है !

टीका...! ४७ (गाथा की) टीका। लो ! यह ४७ नय, ४७ शक्ति, ४७ (निमित्त-उपादान के दोहे आते हैं वैसे) यह ४७ गाथा आयी ! आ..हा..हा...! `**क्षायिक ज्ञान...**' यहाँ से शुरू किया है, लो ! `**क्षायिक ज्ञान**' आ..हा..हा...! यह क्षायिक ज्ञान कर्म का क्षय हुआ अतः हुआ, यह तो जताने के लिये है। यूँ तो क्षायिक ज्ञान अपनी पर्याय की ताक़त से उत्पन्न हुआ है, आहा...! तथापि निमित्त से समझायेंगे। `**क्षायिक ज्ञान वास्तव में एक समय में ही...**' एक ही काल में `**...सर्वतः (सर्व आत्मप्रदेशों से),...**' आ..हा..हा...! एक बात (की)। क्षयोपशमज्ञान (होता) है यह कुछ एक प्रदेश से (होता) है। कुछ एक प्रदेश से है, असंख्यप्रदेश से (होता है), ऐसा नहीं। और यह (क्षायिक ज्ञान) तो सारे असंख्यप्रदेश से (होता है), आ..हा..हा...! यहाँ देखो न ! यहाँ क्षयोपशम है, यह भावेन्द्रिय का इस प्रकार का क्षयोपशम है न ! इससे वहाँ जानता है। ऐसे (जिसे क्षायिक ज्ञान हुआ है ऐसे) आत्मा को वैसा नहीं।

`**...एक समय में ही सर्वतः ( सर्व आत्मप्रदेशों से),...**' है ? सूक्ष्म बात है, भाई ! यह (कोई) कहानी नहीं, आ..हा..हा...! `सर्व आत्मप्रदेशों से' यानी असंख्य प्रदेशों से। `**...वर्तमान में वर्तते**

तथा भूत-भविष्यत काल में वर्तते...' (अर्थात्) वर्तमान जगत के द्रव्यों की पर्याय और द्रव्य, गुण (ये वर्तमान वर्तते)। और अवर्तमान (यानी) अनागत-जो वस्तु में पर्याय हुई नहीं और हो गई। ये सभी अतीत और अनागत की पर्याय को (एक ही समय में जानते हैं)। है (पाठ में) ? `**वर्तमान में वर्तते**' - एक। `**...भूत-भविष्यत काल में वर्तते**' - दो। ऐसे होकर तीन हुए।

जगत में वर्तमान में जो द्रव्यों की पर्याय वर्तती है - (यह) एक (बात हुई)। और अतीत-भूतकाल की वर्तती पर्यायें - (यह) दो (बात हुई) और भविष्य में - अनागत में होनेवाली पर्यायें - (यह) तीन (हुई), वे तीनों `**...काल में वर्तते उन समस्त पदार्थों को जानता है जिनमें पृथक्रूप से वर्तते...**' आ..हा..हा...! (पृथक्रूप वर्तते माने) `द्रव्यों के भिन्न भिन्न वर्तते ऐसे निज निज लक्षण' (अर्थात्) प्रत्येक द्रव्यों का भिन्न-भिन्न निज लक्षण है, आ..हा..हा...! प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक परमाणु इत्यादि छःओं द्रव्य भिन्न हैं न ! `द्रव्यों के भिन्न भिन्न वर्तते ऐसे निज निज लक्षण यह द्रव्यों की लक्ष्मी-संपत्ति-शोभा है।' आ..हा..हा...!

क्षायिक ज्ञान...! आहा..हा...! जिसकी पर्याय की इतनी ताक़त ! उसके द्रव्यस्वभाव का क्या कहना !! आ..हा..हा...! द्रव्यस्वभाव ! अंदर बड़ा गंभीर समुद्र पड़ा है ! आ..हा..हा...! अनंत चैतन्य रत्नाकर का बड़ा खज़ाना पड़ा है !! आ..हा..हा...! जिसकी क्षायिक पर्याय उत्पन्न हुई और दूसरे समय उसका नाश होकर दूसरे समय दूसरी उत्पन्न होती है, ऐसी-ऐसी क्षायिक ज्ञान की पर्याय का तो समुद्र भगवान है !! यह (क्षायिक ज्ञान) तो एक ही समय की पर्याय ! अंदर वस्तु है - सर्वज्ञस्वभाव यह तो अनंत पर्याय का सागर है !! आ..हा..हा...! यहाँ समझ में आये उतना समझना, यहाँ ऐसी बात निकलनेपर... सूक्ष्म यहाँ न निकले तो फिर निकाले कहाँ !? आ..हा..हा...!

`सर्व आत्मप्रदेशों से' - एक बात। `वर्तमान में वर्तते और भूत-भविष्यत काल में वर्तते' हाँ..! `**...भूत-भविष्यत काल में वर्तते...**' (`वर्तते' ऐसा कहा है न !) आ..हा..हा...! ज्ञानी के ज्ञान में तो अतीत काल और भविष्य काल, वर्तमानवत् प्रत्यक्ष ज्ञात है। यह तो पहले आ गया था कि, भूत(काल की) और भविष्य(काल) की पर्यायें असद्भूत हैं। हाल में इस प्रकार पर्यायें नहीं। तथापि केवलज्ञान की अपेक्षा से तो नियत-निश्चय है, विद्यमान है ! क्या है यह !!

भाई ! तेरा ज्ञानस्वभाव ! उसकी तो क्या बात करें...!! परंतु उसकी एक समय की पर्याय में उसकी क्या बात है !! ऐसी बात है, (ऐसे) कहते हैं। आ..हा..हा...! परंतु मनुष्य को अभी निर्णय करने का समय न मिले ! व्यापार-धंधा... परेशान हो होकर चल बसेंगे...! और चौरासी के

अवतार में कहीं (चल बसेंगे) ! इस सम्यग्दर्शन का यदि निर्णय न हुआ (तो) प्रभु, भटकने के रास्ते नहीं छोड़ेंगे !! इसके लिये प्रभु की पुकार है !! आहा..हा...! तूं सर्वज्ञस्वभाव को जान ! और सर्वज्ञस्वभाव कैसे प्राप्त हो उसे जान !! आहा...! तुझे जन्म-मरण नहीं होंगे, प्रभु ! सर्वज्ञ को जिस प्रकार जन्म-मरण नहीं... आ..हा..हा...! इस प्रकार सर्वज्ञ की पर्याय जान ! और यह पर्याय कैसे प्रगट हुई ? उसे जान ! तो तुझे भी सम्यक्ज्ञान होते भवभ्रमण रहेगा नहीं ! आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ?

(यहाँपर कहते हैं) `**...वर्तते उन समस्त पदार्थों को जानता है जिनमें...**' `जिनमें' यानी सब द्रव्यों में। `**...पृथक्रूप से वर्तते स्वलक्षणरूप लक्ष्मी से...**' (अर्थात्) अपने अपने द्रव्य के लक्षणरूप लक्ष्मी। (लक्ष्मी) यानी शोभा से `**...आलोकित...**' है। `**...अनेक प्रकारों के कारण वैचित्र्य प्रगट हुआ है...**' पदार्थ विचित्र है, (ऐसा कहते हैं) ! ओ..हो..हो...!

एक सर्वज्ञ परमेश्वर हैं ऐसे अनंत (सर्वज्ञ परमेश्वर हैं)। एक परमाणु है, ऐसे परमाणु की काली, हरी इत्यादि अनंत पर्याय हैं, दूसरे परमाणु की सफेद इत्यादि अनंत (पर्याय), ऐसे-ऐसे परमाणु के द्रव्य की भिन्न-भिन्नता ! आ..हा..हा...! एक आत्मा निगोद की पर्याय में है ! तब एक आत्मा सिद्ध की पर्याय में है !! आहा..हा...!

(ऐसे) `**...जिनमें पृथक्रूप से वर्तते स्वलक्षणरूप लक्ष्मी से आलोकित अनेक प्रकारों के कारण वैचित्र्य प्रगट हुआ है और जिनमें परस्पर विरोध से उत्पन्न होनेवाली...**' यह तीसरा बोल! `**...जिनमें परस्पर विरोध से उत्पन्न होनेवाली असमानजातीयता के कारण...**' (अर्थात्) चैतन्य और अचेतन असमानजाति हैं। छः द्रव्यों में एक (जीवद्रव्य) चैतन्यजाति है, इसके अलावा पाँच (द्रव्यों) अचेतनजाति (हैं)। (कई लोगों को तो) अभी छः द्रव्यों की ख़बर न हो ! धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल और पुद्‌गल-वे पाँच अजीव हैं। और भगवानआत्मा एक जीव है। इसलिये असमानजाति है। (अर्थात्) आत्मा और जड़ असमानजाति है, एक जात नहीं।

यह `**...असमानजातियता के कारण वैषम्य प्रगट हुआ है।**' (ऊपर पहले बोल में) `वैचित्र्य प्रगट हुआ है' - ऐसा कहा, भाई ! (प्रत्येक द्रव्य के) भिन्न-भिन्न लक्षण के कारण विचित्रता प्रगट हुई है, आहा..हा...! और परस्पर विरूद्ध असमानजातियता के कारण `वैषम्य प्रगट हुआ है' ! आ..हा..हा...! (ऐसा होते हुए भी) सब को भगवान जानते हैं, वैसा आगे कहेंगे, आहा..हा...! भगवान `(**इसी बात को युक्तिपूर्वक समझाते हैं:-**)' यह तो सामान्य बात कही। अब उसे यह कैसे हुआ ? (यह युक्तिपूर्वक समझाते हैं)।

`**क्रम-प्रवृत्ति के हेतुभूत,...**' (अर्थात्) आत्मा के ज्ञान में जो क्रम-क्रम से ज्ञात हो ऐसे `...क्षयोपशम-अवस्था में रहनेवाले ज्ञानावरणीय कर्मपुद्गलों का उसके (क्षायिक ज्ञान के) अत्यंत अभाव होने से...' निम्न ज्ञान में क्रम-क्रम से ज्ञात होता है। (क्योंकि) क्षयोपशम(ज्ञान) है और ज्ञानावरणीय(कर्म का) वहाँ निमित्त है। अतः क्रम-क्रम से ज्ञात होता है। (ऐसे क्रमप्रवृत्ति के) हेतुभूत क्षयोपशमज्ञान में `**...रहनेवाले ज्ञानावरणीय कर्मपुद्गलों का उसके (क्षायिक ज्ञान के) अत्यंत अभाव होने से...**' क्रम-क्रम से जानना ऐसा जो क्षयोपशमभाव, उसका कारण जो ज्ञानावरणीय(कर्म), उसका तो भगवान को अभाव हो गया है। यह मोक्षतत्त्व है न ! मोक्षतत्त्व जानना पड़ेगा न ? यह कैसे प्रगट हो ? यह तो द्रव्य के आश्रय से प्रगट होता है। यह भी पर्याय स्वतंत्ररूप से प्रगट होती है ! आ..हा..हा...!

आश्रय का प्रश्न `सोगानी' को बहुत आया था, भाई ! `सोगानी' को उस आश्रय का प्रश्न बड़ा आया था कि, `आश्रय' (कहने से तो) पर्याय पराधीन हो जाती है। बात उसकी सच थी। बहुत सोचा था न ! बहुत विचारक थे ! और ज्ञान का भान बहुत हो गया था ! आनंद का स्वाद बहुत आया था !! ऐसे में उनको ऐसा विचार आया कि, पर्याय को द्रव्य का आश्रय !? तो पर्याय (पराधीन हो गई) ! बाद में समाधान तो हुआ कि, यह पर्याय स्वयं है, उसका आश्रय लिया है अर्थात् उसका आश्रय (है, ऐसे) कहने में आता है। वैसे पर्याय पराधीन हो गई है, वैसा है नहीं। लक्ष वहाँ (द्रव्यपर) गया है न ! भगवान तीनलोक का नाथ सर्वज्ञ प्रभु ! उसकी पर्याय का लक्ष वहाँ गया है, इतना फर्क पड़ा अतः द्रव्य का आश्रय लिया, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया कुछ ? आ..हा..हा...!

श्रोता :- द्रव्य से कोई मदद न मिली !

पूज्य गुरुदेवश्री :- पर्याय स्वतंत्र है। अतः पहले कहा, कर्ता, कर्म, करण (अपने हैं)। `स्वतंत्ररूप से कहे सो कर्ता'। `कर्ता' की व्याख्या क्या ? सर्वज्ञपर्याय हुई यह स्वतंत्ररूप कर्ता (होकर) करती है। उसे पर की कोई अपेक्षा हो सो कर्ता नहीं ! आ..हा..हा...! यह `महाविद्यालय' है !! आ..हा..हा...! प्रभु जितना सत्य(स्वरूप) है उसे उस तरह तू पहचान तो सही, प्रभु ! बाकी सब थोथा है !

(यहाँपर) कहते हैं कि, क्रमिक जानने के हेतु(भूत), क्षयोपशम-अवस्था में स्थित ज्ञानावरणीय कर्मपुद्गलों का तो उसे (क्षायिक ज्ञान को) अत्यंत अभाव हो गया है। अतः `**...वह तत्कालिक या अतत्कालिक पदार्थ-मात्र को समकाल में ही प्रकाशित करता है;...**' पहले क्रम-क्रम से था

न ? (अर्थात्) क्रमिक जानने का ज्ञान में क्षयोपशम था और वहाँ ज्ञानावरणीय(कर्म) का निमित्त था। उसका तो भगवान को अभाव हो गया है, `एकसाथ' - है न ? `समकाल' में ! पहले `क्रम' था, इसमें `समकाल में' सब जानते हैं, आ..हा..हा...! ऐसी संतों की टीका...!

`**...समकाल में ही...**' (ऐसा कहा है)। क्रमिक जानने की पर्याय की प्रवृत्ति क्षयोपशम के कारण थी और उसमें ज्ञानावरणीय का निमित्त था। उन सबका नाश हुआ है। अतः भगवान का ज्ञान `**समकाल में ही**' (जान लेता है) ! आ..हा..हा...! (किसी को ऐसा लगे कि यह) `**समकाल में ही**' (कहा सो) एकान्त नहीं ? कथंचित् विषमकाल में और कथंचित् समकाल में (ऐसा होना चाहिये) ! सम्यक् एकान्त में कथंचित् नहीं है। समकाल में ही जानते हैं और विषमकाल में नहीं जानते, क्रमिक न जाने और समकाल में ही जाने - वह अनेकान्त है। आ..हा..हा...! क्या करे प्रभु ? आहा...!

`**समकाल में ही**' शब्द है न ? `**तुल्यकालमेव**' यह है न ? `**तुल्यकालमेव**' ! `**तुल्य कालम् एव**' ! संस्कृत (टीका में) है। `**तुल्यकालमेव**' ! क्षयोपशमज्ञान में तो क्रमिक जानते। आचार्य ने ऐसा भी कहा है न ! पहले (३३ गाथा में) आ गया है कि, हम क्रमिक (परिणमित) कुछ एक (चैतन्यविशेषों द्वारा) जानते हैं। तथापि हम जानते हैं भगवानआत्मा को ! इसलिये हम भी श्रुतकेवली हैं ! भगवान ने एक समय में, एक साथ पूर्ण आत्मा को जाना और पूर्ण आत्मा को जाना इससे उन्हें केवली कहने में आते हैं। आ गये न ! शब्द आ गये हैं कि, हम क्रम से कुछ एक जानते हुए भी हमने पूर्ण आत्मा को जाना है। है न ? ३३ (गाथा) ! लो ! ३३ ही निकली! आ..हा..हा...! देखो !

`**जैसे भगवान, युगपत् परिणमन करते हुए समस्त चैतन्यविशेषयुक्त केवलज्ञान के द्वारा, अनादिनिधन - निष्कारण - असाधारण - स्वसंवेद्यमान चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतकस्वभाव से एकत्व हेने से केवल (अकेला, शुद्ध, अखंड) है ऐसे आत्मा को...**' केवल, एक, अखंड भगवान है ऐसे आत्मा को `**...आत्मा से आत्मा में अनुभवकरने के कारण केवली है;...**' पर को जानने से (केवली हैं), यह प्रश्न यहाँ नहीं। अंदर अखंडानंद प्रभु चैतन्यबिंब अभेद एक को जानने से वे केवली हैं।

`**...उसी प्रकार हम भी,...**' आ..हा..हा...! `**...क्रमशः परिणमित होते हुए...**' है न ? `**...कितने ही चैतन्यविशेषों...**' `कितने ही चैतन्यविशेषों' द्वारा (जानते हैं)। सभी-पूर्ण विशेष तो कुछ है नहीं। `**...श्रुतज्ञान के द्वारा, अनादिनिधन...**' परंतु जानते हैं (आत्मा को) ! भगवान ने जिस अनादिनिधन

को जाना उसे हमने जाना ! आ..हा..हा...! अनादि-अनंत - निधन अर्थात् अनंत। `**...अनादिनिधन-निष्कारण-असाधारण-स्वसंवेद्यमान-चैतन्यसामान्य जिसकी महिमा है...**' सामान्य हाँ...! त्रिकाली स्वभाव की बात है। `**...तथा जो चेतकस्वभाव के द्वारा एकत्व होने से केवल (अकेला) है ऐसे आत्मा को आत्मा से आत्मा में अनुभवकरने के कारण श्रुतकेवली हैं। (इसलिये) विशेष आकांक्षा के क्षोभ से बस हो;...**' (अर्थात्) अब विशेष क्षयोपशम-ज्ञान हो न हो, उसके साथ हमें काम नहीं! केवली भगवान ने एक साथ अनादि-अनंत जो प्रभु है उसे जाना। हमने क्रमिक प्रवर्तित कुछ एक विशेष द्वारा (जाना), परंतु जाना (आत्मा को) ! आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ? आ..हा..हा...! अब विशेष क्षोभ से बस हो ! विशेष क्षयोपशम से (बस हो) ! हमें जो करना था, जानना था (सो जान लिया)। भगवान ने जो जाना उसे हमने जाना ! भगवान ने भले अक्रम से एक साथ जाना, हमने क्रम से प्रवर्तित कुछ एक विशेष द्वारा जाना... आ..हा..हा...! परंतु जिसे जानना था उसे जाना ! (अब विशेष आकांक्षा से) बस हो ! आ..हा..हा...! क्या बात...!! कहीं भी मिले ऐसी नहीं! (लोगों को) कठिन लगता है ! (कहते हैं) `सोनगढ' एकान्त है !' कहिये प्रभु ! आप लोग भी भगवान हो !! परंतु तुम्हें तुम्हारी ख़बर नहीं। आ..हा..हा...! (ऐसा कहते हैं कि) `केवल निश्चय की बातें (करते हैं), व्यवहार का लोप कर डालते हैं !' निश्चय है, व्यवहार से नहीं- इसका नाम अनेकान्त है। `निश्चय से हो और व्यवहार से हो' (ऐसा कहे तो सो) एकान्त है। लोगों को यह सिद्ध करना है कि, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा यह सब व्यवहार-शुभ उपयोग है इससे भी कल्याण होता है ! आहा..हा...!

`**सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।**' (`समयसार' की) चौथी गाथा है न ? उसका अर्थ ऐसा किया था कि, काम-भोग - काम यानी राग और भोग यानी भोगना। इस राग का करना व राग का भोगना, यह विष्टा समान है ! यह (कितनों को) पसंद न आया। अरे...! जहर समान है !! उस दिन तो विष्टा ही कही थी। यह तो श्वेतांबर का `उत्तराध्ययन' पहला है (उसमें) सुर की विष्टा कही है !! वह लक्ष में था सो आ गया। वैसे शुभभाव को तो भगवान ने `विषकुंभ' (कहा है) ! ये दया के परिणाम, भक्ति के परिणाम, पंचमहाव्रत के परिणाम - उन भावों को तो परमात्मा `विष' कहते हैं !! तेरा अमृतसागर परमात्मा ! इससे विरूद्ध भाव को तो हम `विष' कहते हैं। यह (कितनों को) अच्छा न लगा इसलिये विरोध किया ! कि, `उनकी टीका में (ऐसा अर्थ) कहीं भी नहीं ! परंतु टीका में `काम-भोग' कहा उसका अर्थ क्या हुआ ? (कि), राग का करना और राग का भोगना - ऐसी बातें तो प्रभु तुने अनंतबार सुनी है। समझ में आया

कुछ ? परंतु राग के भाव से भिन्न प्रभु है ! आ..हा..हा...! यह राग की क्रिया के - दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम से प्रभु अंदर भिन्न है। ऐसी बात तुने सुनी नहीं, वहाँ तो ऐसा कहा है। परिचय में आयी नहीं और अनुभव किया नहीं। ऐसे तीन बोल हैं न ? `श्रुत, परिचित, अनुभूता' भाई !

इसका अर्थ वैसे दूसरे ने ऐसा किया कि, `श्रुत, परिचित, अनुभूता' - `श्रुत है सो दर्शन है, परिचित है सो ज्ञान है, अनुभूता सो चारित्र है।' कहाँ चलाया...! अरे...भगवान ! क्या कहता है? `श्रुत, परिचित, अनुभूता' (यानी) `ज्ञान, दर्शन और चारित्र' ऐसा अर्थ किया !!

यहाँ तो `श्रुत, परिचित। अनुभूता' (अर्थात्) प्रभु ! तुने राग की कथा-दया, दान, व्रत, भक्ति आदि की कथा तो तुने सुनी है। `सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा' वहाँ तो फिर ऐसा अर्थ किया कि, निगोद के जीव जो (अभी) त्रस में (आये) नहीं, उन्होंने यह सुनी है ! सुनी (है) यानी ? कि, उन्हें भी राग का अनुभव है, आ..हा..हा...! भाई ! मार्ग ऐसा है, बापू ! आहा..हा...! `सव्वस्स वि' शब्द है न वहाँ ? (अर्थात्) सर्व जीवों ने यानी निगोद के जीव अबतक त्रस में आये नहीं उन्हें भी (काम-भोग की कथा) श्रुत, परिचित, अनुभूत (है)।

यानी कि, राग का अनुभव करता है न ! वह अनुभव करता है यानी राग का श्रवण और परिचय तो हो गया। अनुभव है, भले ही सुनने न मिला हो ! आ..हा..हा...! निगोद के जीव ने भी राग का अनुभव करके उसकी कथा - उसकी बात सुनी है, उसने अनुभव किया है, आहा..हा...! परंतु राग के विकल्प से प्रभु ! तू भिन्न है ! आ..हा..हा...! अरे...! तुने सुना नहीं ! उसका तूने परिचय किया नहीं - रागविहीन चीज का तुने परिचय किया नहीं। रागविहीन भगवान है उसका अनुभव किया नहीं। अतः वह भटक-मरा है, बापू ! आ..हा..हा...!

यहाँ तो यह (बात) चली कि, `आत्मा का आत्मा से अनुभव करते हैं' इस अपेक्षा से, यह भगवान केवली है, (क्योंकि) ये केवल आत्मा का अनुभव करते हैं इसलिये। ऐसे हम श्रुतकेवली हैं। भावश्रुत से कुछ एक विशेषों को क्रम से जानते हैं परंतु आत्मा को जानते (हैं) इसलिये श्रुतकेवली हैं ! आ..हा..हा...!

यहाँ (४७ गाथा में) कहते हैं... आ..हा..हा...! क्षायिक ज्ञान `**...समकाल में ही प्रकाशित करता है;...**' क्षयोपशम (ज्ञान में) तो क्रम से जानना, ऐसा क्षयोपशमभाव का स्वभाव (है) और उसमें ज्ञानावरणीय का भी निमित्त है। यहाँ तो ज्ञानावरणीय का क्षय हो गया है और क्षयोपशमज्ञान का भी अभाव हो गया है, आ..हा..हा...! ऐसे भगवान क्षायिक केवली, क्षायिक ज्ञानी समकाल में

प्रकाशित करता है, आ..हा..हा...! यह एक बोल हुआ।

`...(**क्षायिक ज्ञान**) **सर्वतः विशुद्ध होने के कारण प्रतिनियत प्रदेशों की** (**-कुछ एक नियत प्रदेशों की**) **विशुद्धि...**' क्या कहते हैं ? असंख्य प्रदेश में कोई-कोई प्रदेश की शुद्धि से जानते थे। (अर्थात्) यहाँ जैसे आत्मा की शुद्धि हो और तो वहाँ उस प्रदेश से इस प्रकार जानते (थे)। यहाँ की शुद्धि हो वे उनसे जानते (थे)। ऐसे `**...प्रतिनियत प्रदेशों...**' (अर्थात्) `**...(-कुछएक नियत प्रदेशों की)...**' (अर्थात्) कुछएक ही प्रदेशों की विशुद्धि (थी) उनके द्वारा जानते थे। यह (विशुद्धि) `**...(सर्वतः विशुद्धि) के भीतर डूब जाने से...**' (अर्थात्) भगवान को तो इस प्रकार की सर्व विशुद्धि (प्रगट हुई) थी (अतः) यह (प्रतिनियत प्रदेशों की विशुद्धि उसमें) डूब गई। है ?

`...**सर्वतः विशुद्धि होने के कारण...**' `सर्वतः विशुद्धि होने के कारण' (अर्थात्) पूर्णरूप से सभी प्रदेश विशुद्ध होने के कारण `**...प्रतिनियत...**' अर्थात् कुछ एक प्रदेश से जानने की जो बात है, वह पूर्ण प्रदेश से जानने में डूब गई, खत्म हो गई। समझ में आया कुछ ? कुछ एक मर्यादित प्रदेश से वे जानते थे, वह असंख्य प्रदेश से जानने में, वह मर्यादित प्रदेश से (जानने की) बात उसमें डूब गई, नष्ट हो गई। आहा...! ऐसी बातें अब...! है (अंदर) ?

`**...सर्वतः विशुद्धि होने के कारण...**' `सर्वतः' (अर्थात्) सभी प्रदेशों में विशुद्ध होने के कारण। `**...प्रतिनियत...**' (अर्थात्) मर्यादावाले प्रदेशों की जो विशुद्धि थी, आ..हा..हा...! वह भीतर डूब गई। क्या कहा यह ? (भगवान को) असंख्य प्रदेशों से सर्व शुद्धि-विशुद्धि होने के कारण, (पहले) जो थोड़े प्रदेशों (की) विशुद्धि से (ज्ञान) जानता था, वह ज्ञान उसमें डूब गया, नष्ट हो गया। आ..हा..हा...! ऐसा मार्ग है, प्रभु ! `**...(सर्व आत्मप्रदेशों से) भी प्रकाशित करता है:...**' समझ में आया ?

(अब कहते हैं) `**...सर्व आवरणों का क्षय होने से, देश-आवरण का क्षयोपशम न रहने से वह सबको भी प्रकाशित करता है,...**' आ..हा..हा...! आगे विशेष भाव हैं...

(**दिनांक २०-२-१-७९ - प्रवचन नंबर-४५**)

(`प्रवचनसार') ४७ गाथा। ( शीर्षक में कहते हैं) `(**...अतीन्द्रिय ज्ञान सब का ज्ञाता है ऐसी उसकी प्रशंसा करते हैं**) **:-** ' पुनः लिया। पुनः यानी पहले तो आ गया है...! ऊपर लिखा है न?

`**अब, पुनः प्रकृत का...**' (अर्थात्) पहले आ गया है परंतु अब विशेष (कहते हैं)। `**...प्रकृत को** (**चालू विषय का**) **अनुसरण करके अतीन्द्रिय ज्ञान को सर्वज्ञरूप से अभिनन्दन करते हैं।**' गाथाः-

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं।।४७।।
सौ वर्तमान-अवर्तमान, विचित्र, विषम पदार्थ ने।
युगपत् सरवतः जाणतुं ते ज्ञान क्षायिक जिन कहे।।४७।।

आ..हा..हा...! यहाँ तो ऐसा दिमाग में आया कि, यह `**क्षायिक जिन कहे**' (ऐसा जो गाथा में आया है) तो जिसको यह क्षायिक का ज्ञान हुआ उसे जिन इस प्रकार कहते (हैं) कि, तू द्रव्य का आश्रय ले ! क्या कहा समझ में आया ? यह `**क्षायिक ज्ञान जिन कहे**' (अर्थात्) परमेश्वर इसे क्षायिक ज्ञान कहते हैं। परंतु जिसे ज्ञान होता है उसे जिन ऐसा कहते हैं कि, तू जिसमें सर्वज्ञस्वभाव है उसका आश्रय ले ! क्या कहा ? यह तो `**जिन कहे**' इसमें से (आया)। जिन ने यह कहा है, आ..हा..हा...!

भले क्रमबद्ध हो ! प्रत्येक पर्याय द्रव्य में क्रमबद्ध हो ! ऐसा सर्वज्ञ ने जाना है और होने के समय हो, वैसा भगवान ने जाना है, आ..हा..हा...! क्रमबद्ध है, होने का समय है और उसकी उस समय की योग्यता है, ऐसा भगवान ने जाना है न ! आहा..हा...! तो जिसे यह क्षायिक ज्ञान का ज्ञान कराते हैं उसे जिन ऐसा कहते हैं कि, तेरा भगवानआत्मा अंदर सर्वज्ञस्वभावी है ! आ..हा..हा...! उसकी तरफ तू जा ! सर्वज्ञस्वभाव का यथार्थ निर्णय तब आये, आहा..हा...! सर्वज्ञस्वभाव है, भगवान सर्वज्ञरूप जानते हैं। परंतु एक समय में तीनकाल तीनलोक जानते हैं। परंतु वे जानते हैं - उनको जिसे जानना हो, उसे प्रभु ऐसा कहते हैं कि, तू सर्वज्ञस्वरूपी हो, वहाँ जा ! आहा..हा...! क्या कहा यह ?

सर्वज्ञस्वभाव ! भगवान सर्वज्ञस्वभाव ! ध्रुवस्वभाव ! उसपर दृष्टि कर ! तो तुझे सम्यग्दर्शन होगा, ऐसा उपदेश भगवान ने पुनः किया !! आहा...! ऐसा कहा न ? क्रमबद्ध का कहा, होनेवाला होगा सो होगा - यह कहा, उस-उस समय की योग्यता वह शरण है, यह आता है न ? उस समय की वह पर्याय (होनेवाली) द्रव्य में योग्यता है, आ..हा..हा...! ऐसा भगवान ने बताया और जाना। उन्होंने भी ऐसा कहा कि, परंतु यह ज्ञात हुआ यथार्थ कब कहलाये ? आ..हा..हा...! सर्वज्ञस्वभाव जो आत्मा है, उसके सम्मुख होकर सर्वज्ञस्वभाव में दृष्टि की स्थापना कर ! और

सर्वज्ञस्वभावी ही मैं हूँ ! ऐसे अनुभव में मान ! तब उसे जगत में सर्वज्ञ, क्षायिक समकिती, क्षायिक ज्ञानी है ऐसा वास्तविक निर्णय होगा, ऐसी बातें हैं !

यह कैसे दिमाग में आया ? कि, ४७ (शक्ति में) `सर्वज्ञ शक्ति' है ! यह तो प्रगट सर्वज्ञ पर्याय की व्याख्या करते हैं, आहा...! परंतु यह सर्वज्ञरूप क्षायिक ज्ञान प्रगट कैसे हुआ ? कहाँ से (प्रगट हुआ) ? आहा..हा...! यह पूर्व के मोक्षमार्ग द्वारा प्रगट हुआ, ऐसा कहना यह भी अब तक व्यवहार है। आहा...! परंतु द्रव्य के स्वभाव में यह है, अतः उसका लक्ष करने से (सर्वज्ञरूप है, ऐसा निर्णय होता है)। यह लक्ष करती है पर्याय ! यह सर्वज्ञस्वभाव है, इसलिये इसके द्वारा सर्वज्ञ पर्याय होती है, ऐसा भी नहीं।

सर्वज्ञ पर्याय जो होती है वह षट्कारक के परिणमन से स्वतंत्र होती है, आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ? जिस प्रकार विकार होता है यह षट्कारक के परिणमन से स्वतंत्र होता है, जो विकार होने में निमित्त की और द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नहीं ! आ..हा..हा...! तो यह तो निर्विकारी सर्वज्ञ क्षायिक ज्ञान...! आ..हा..हा...! उसका क्षायिकज्ञानरूप जो हुआ, वह क्षायिक पर्याय स्वयं कर्ता, कर्म, करण (षट्कारकरूप) होकर हुई है, आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ? यह बात विशेष स्पष्ट कराती है। सूक्ष्म है !

टीका :- `क्षायिक ज्ञान वास्तव में एक समय में ही सर्वतः (सर्व आत्मप्रदेशों से),...'** `सर्व आत्मप्रदेशों से**' (वहाँ कहा) क्षेत्र लेना। `**...वर्तमान में वर्तते तथा भूत-भविष्यत काल में वर्तते...**' तीन (बात की) - वर्तमान वर्तती पर्याय या भूतकाल की हो गई वह पर्याय और भविष्य में होगी वह `**...उन समस्त पदार्थों को जानता है जिनमें पृथक्‌रूप से वर्तते स्वलक्षणरूप लक्ष्मी से...**' (अर्थात्) प्रत्येक द्रव्य अपनी लक्ष्मी से शोभायमान है ! (`पृथक्‌रूप से वर्तते' का अर्थ) निम्न है - `द्रव्यों के भिन्न-भिन्न वर्तनेवाले...' (सब) द्रव्य भिन्न-भिन्न वर्तते हैं। वह `...निज-निज लक्षण उन द्रव्यों की लक्ष्मी-सम्पत्ति-शोभा है।' आ..हा..हा...! अनंत परमाणु, अनंत आत्मा... आ..हा..हा...! वह स्वयं प्रत्येक पदार्थ से भिन्न भिन्न वर्तते हैं। इस निज-निज लक्षण, सो सो द्रव्य की संपत्ति-शोभा है, आ..हा..हा...! उन्हें भगवान एक समय में जानते हैं। है (पाठ में) ?

`**...जिनमें पृथक्‌रूप वर्तते स्वलक्षणरूप लक्ष्मी से आलोकित अनेक प्रकारों के कारण...**' छः द्रव्य भिन्न-भिन्न प्रकार से है न ? (इसलिये कहते हैं कि) `**...वैचित्र्य प्रगट हुआ है...**' विचित्र (प्रकार से) प्रगट है। (अर्थात्) कहाँ एक परमाणु व (कहाँ) अनंत स्कंध ! एक आत्मा केवलज्ञानरूप और एक आत्मा-अक्षर के अनंतवें भाग में निगोद का जीव ! आ..हा..हा...! ऐसे अनेक प्रकार के

कारण विचित्र(ता) प्रगट है।

`**...और जिनमें परस्पर विरोध से उत्पन्न होनेवाली असमानजातीयता के कारण...**' (अर्थात्) चैतन्य और अचेतन यह असमान जाति है, आ..हा..हा...! (इसके द्वारा) `**...वैषम्य प्रगट हुआ है।** ' देखा ? (पहले बोल में) `**वैचित्र्य प्रगट हुआ है**' ! ऐसा कहा था-विचित्र प्रगट हुआ है और इसमें ऐसा कहा कि, `**वैषम्य प्रगट हुआ है**' ! - एक चैतन्य और एक जड़ परमाणु, ऐसी विषमता है, आहा..हा...! ऐसा `**...वैषम्य प्रगट हुआ है-उनको जानते हैं।**' यह बात गाथा के शब्दों की कही। अब, `(**इसी बात को युक्तिपूर्वक समझाते हैं :-**)' आ..हा..हा...!

`**क्रम-प्रवृत्ति के हेतुभूत,...**' (अर्थात्) क्षयोपशमज्ञान है न क्षयोपशमज्ञान...! यह क्रम से प्रवर्तित होता है। यह एक समय में सब जानता नहीं। `**क्रमप्रवृत्ति के हेतुभूत,...**' (अर्थात्) निमित्तभूत। `**...क्षयोपशम-अवस्था में रहनेवाले...**' - क्षयोपशम दशा में स्थित `**...ज्ञानावरणीय कर्मपुद्‌गलों का उसके (क्षायिक ज्ञान के) अत्यंत अभाव होने से...**' (अर्थात) क्रमप्रवृत्ति के हेतुभूत क्षयोपशम अवस्था में स्थित ज्ञानावरणीय कर्मपुद्‌गलों का उन्हें (यानी कि) भगवान को अत्यंत अभाव है। `**...वह तात्कालिक या अतात्कालिक पदार्थ-मात्र को...**' आ..हा..हा...! पहले क्रमप्रवृत्ति का कहा न ! (कि), क्षयोपशमज्ञान क्रम से प्रवर्तित होता है, उसमें ज्ञानावरणीय का निमित्त है। और यहाँपर (क्षायिक ज्ञान में) ज्ञानावरणीय का क्षय हो गया है यानी अब क्रमप्रवृत्ति न रही। (परंतु) `**...समकाल में...**' जानते हैं। वहाँ `क्रमप्रवृत्ति' थी, यहाँपर `समकाल में' है। आ..हा..हा...!

यह तो ३३-३४ (गाथा में) आ गया है न ! (कि), भगवान जब अक्रम से सबको जानते हैं, परंतु उसमें आत्मा को जानते हैं, इसलिये वे केवली हैं। आ..हा..हा...! केवल भगवानआत्मा! पूर्ण अनंत गुण का धाम ! उसे केवली जानते हैं। इसलिये उन्हें केवली कहने में आता है। सब को जानते हैं (इसलिये केवली हैं) यह अपेक्षा वहाँ नहीं। आ..हा..हा...! केवल प्रभु आत्मा ! अकेला अखंड आनंद का नाथ ! एकरूप, अभेद को जानते हैं। इस कारण से उन्हें `केवली' कहते हैं। तो आगे, आचार्य कहते हैं कि, भले वे अक्रम से प्रवर्तित परिणामवाले प्रभु हैं और इससे वे केवल आत्मा को जानते हैं ! आ..हा..हा...! (और) हम क्रम से प्रवर्तित कुछ एक विशेषों के द्वारा (जानते हैं), परंतु हम भी आत्मा को ही जानते हैं !! आहा..हा...! ऐसी सूक्ष्म बातें बहुत...!

भगवानआत्मा ! एक समय में केवलज्ञान का पिंड (है) ! केवलज्ञान अर्थात पर्याय नहीं। (परंतु) अकेला ज्ञान का पिंड ! अकेला...! केवल, पूर्ण को हम क्रमवर्ती कुछ एक विशेषों द्वारा जानते हैं, तो हम भी श्रुतकेवली हैं ! आ..हा..हा...! जोड़ तो यह लिया ! समझ में आया कुछ?

यहाँ बतलाने में जोड़ यह है, आहा..हा...!

(यहाँपर कहते हैं कि, क्षायिक ज्ञान) `**...समकाल में ही प्रकाशित करता है;...**' आ..हा..हा...! इसमें पर की अपेक्षा ली है। (ऊपर कहा उसमें) केवलज्ञान यानी ? कि, केवल प्रभु पूर्णानंद का सागर अभेद एकरूप है, उसे जानते (हैं) इस कारण केवली कहते हैं। एक साथ पूर्ण अक्रमवर्ती पर्याय, एक साथ जाननेवाली पर्याय से भी जानते हैं - आत्मा को ! ऐसा कहते हैं, आ..हा..हा...! इस कारण से उन्हें केवली कहने में आता है, आ..हा..हा...! यहाँ कहते हैं कि, सब जानता (है) इस कारण हम उसे क्षायिक ज्ञान कहते हैं। समझ में आता है कुछ ? और हम भी ज्ञान की कुछ एक क्रमवर्ती पर्याय के द्वारा (आत्मा को जानते हैं) ! आ..हा..हा...! क्रमवर्ती, कुछ एक और विशेष-ऐसे तीन प्रकार हैं। क्रमवर्ती, कुछ एक विशेषों के द्वारा... आ..हा..हा...! विशेष के द्वारा सामान्य जानने में आता है न ! आ..हा..हा...! क्षयोपशम ज्ञान (की) पर्याय क्रमवर्ती क्रमशः जानती है और कुछ एक जानती है। ऐसे कुछ एक विशेषों द्वारा हम भी `केवल' भगवानआत्मा को जानते हैं ! आ..हा..हा...! यह पंचमकाल के संत ऐसा कहते हैं !! पंचमकाल के संत श्रोता को ऐसे समझाते हैं !! आ..हा..हा...!

आ..हा..हा...! केवलज्ञानी भगवान अक्रम से सभी विशेषों से, सभी पर(द्रव्य के) द्रव्य, गुण, पर्याय के विशेषों को - वर्तमान, भूत और भविष्य - तीनों को एक साथ जानते हैं, आ..हा..हा...! तो हे आत्मा ! तू भी भगवान का पथपंथी ! आ..हा..हा...! सर्वज्ञरूप, केवलज्ञान तुझे प्रगट करना हो तो... आ..हा..हा...! भगवान पूर्ण स्वरूप प्रभु अंदर है उसे क्रमवर्ती कुछ एक विशेषों द्वारा (जान)! (परंतु) जान उसे ! ... जान उसे !! आहा...! और उसका ज्ञान होते हुए तुझे क्रमशः केवलज्ञान होगा, आहा..हा...! समझ में आया ? ऐसी बातें हैं, भाई ! आहा..हा...! यह एक बात की।

(अब) दूसरी बात - (क्षायिक ज्ञान) सर्वतः विशुद्ध होने के कारण प्रतिनियत प्रदेशों की (-कुछ एक नियत प्रदेशों की) विशुद्धि... (अर्थात्) नीचे (छद्मस्थ अवस्था में) तो कुछएक प्रदेशों में (जानता है)। जिस प्रकार यह आँख के प्रदेश हैं (तो वे) उनकी विशुद्धि से जानते हैं। कान के अंदर जो प्रदेश हैं (वे) उनकी विशुद्धि से जानते हैं। सारे असंख्य प्रदेश वहाँ विशुद्ध नहीं, ऐसा कहते हैं। आ..हा..हा...! `**...सर्वतः विशुद्ध होने के कारण...**' अर्थात् सारे असंख्य प्रदेश में विशुद्धि होने के कारण, एस समय में सारे (सभी) असंख्य प्रदेश में विशुद्धि होने के कारण `**...प्रतिनियत प्रदेशों की (-कुछएक नियत प्रदेशों की) विशुद्धि...**' यानी कि अल्प प्रदेशों से जानने

की जो विशुद्धि है, है ? वे `(**सर्वतः विशुद्धि) के भीतर डूब जाने से...**' (अर्थात्) यह सर्व विशुद्धि हुई उनमें, कुछ एक प्रदेश से जो थोड़ी विशुद्धि थी वे सभी (सर्व विशुद्धि में) डूब जाती है। ऐसी बातें...! कहो ! समझ में आया कुछ ? क्या कहा वह ?

(छद्मस्थदशा में) कुछ एक प्रदेशों की निर्मलता से - विशुद्धि से जानता था, यह सर्व विशुद्ध होते हुए, वह कुछ एक प्रदेशों से जानता (था), वे सब विशुद्धि में डूब गई ! नाश हो गई ! ऐसा उपदेश...! पाँचों इन्द्रियों के वहाँ-वहाँ उतने प्रदेश निर्मल हैं। अंदर यह भाव नहीं, (परंतु) प्रदेशों में। उन-उन प्रदेशों में उस-उस जगह उतनी निर्मलता है। सारे असंख्य प्रदेश की एकसाथ निर्मलता नहीं। कुछ एक प्रतिनियत यानी कुछ एक प्रदेश में। `नियत' है न ? `**प्रतिनियत प्रदेशों**' यानी कुछ एक नियत प्रदेश। (अर्थात्) कुछ एक ही सीमा के जो प्रदेश हैं उनमें (जो) विशुद्धि थी, वह सर्वतः विशुद्धि के अंदर डूब गई। आ..हा..हा...! भाषा देखी ? इसमें `विशुद्धि' शब्द का प्रयोग किया है ! विशुद्ध (शब्द) शुभभाव के (लिये) प्रयोग करते हैं, विशुद्ध (शब्द) निर्मल पर्याय के (लिये भी) प्रयोग करते हैं। यहाँपर यह विशुद्ध-सर्व प्रदेशों की विशुद्धि के (लिये) प्रयोग किया (है)। आहा..हा...!

(अब कहते हैं) `**...वह सर्वतः (सर्व आत्मप्रदेशों से) भी...**' (पहले) प्रतिनियत (कहा था)। (यानी) छद्मस्थ में कुछ एक प्रदेश में ही विशुद्धि थी न ? यहाँपर सर्व आत्मप्रदेश से (कहा), आ..हा..हा...! `**...(सर्व आत्मप्रदेशों से) भी प्रकाशित करता है;...**' वहाँ तक तो कल आया था।

`**...सर्व आवरणों का क्षय होने से, देश-आवरण का क्षयोपशम न रहने से...**' आ..हा..हा...! छद्मस्थ को तो सर्व आवरण का क्षय नहीं। समझ में आया ? (उसे) देश-आवरण का क्षय है। (यानी) थोड़े आवरण का वहाँ क्षयोपशम है। आ..हा..हा...! भगवान को तो सर्व आवरण के क्षय के कारण देश-आवरण का क्षयोपशम था जो न रहने से `**...वह सबको ही प्रकाशित करता है;...**' देश-क्षयोपशमवाला सर्व को प्रकाशित कर सकता न था, आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ? है न सम्मुख पुस्तक ?

`**...सर्व प्रकार ज्ञानावरण के क्षय के कारण (-सर्व प्रकार के पदार्थों को जाननेवाले ज्ञान के आवरण में निमित्तभूत कर्म के क्षय होने से) असर्वप्रकार के ज्ञानावरण का क्षयोपशम...**' आ..हा..हा...! `**...(-अमुक ही प्रकार के पदार्थों को जाननेवाले...)**' पदार्थ को जाननेवाला लिया। उसे (उस ज्ञान को) `**(...आवरण में निमित्तभूत कर्मों का क्षयोपशम) विलय को...**' प्राप्त हुआ। आहा..हा...! अतः `**...वह विचित्र को भी...**' (अर्थात्) अनेक प्रकार के विचित्र ! (अर्थात्) एक

परमाणु अनंत गुण की हरी (अवस्थारूप) परिणमित हुआ, एक परमाणु अनंत गुण की काली (अवस्थारूप) परिणमित हुआ, एक आत्मा केवलज्ञान को परिणमित हुआ, एक आत्मा अक्षर के अनंतवें भाग में परिणमित हुआ ! आ..हा..हा...! ऐसे जो विचित्र पदार्थ हैं (उन्हें भी प्रकाशित करता है)। है ? आ..हा..हा...!

`**...(सर्व प्रकार के पदार्थों को जाननेवाले ज्ञान के आवरण में निमित्तभूत कर्म के क्षय होने से)...**' अर्थात् (उन कर्मों का क्षयोपशम) विलय हो गया, नाश हो गया, आ..हा..हा...! अतः वे सर्व को प्रकाशित करता है, आहा..हा...!

अब (कहते हैं) `**...असमानजातीय ज्ञानावरण के क्षय के कारण (असमानजाती के पदार्थों को जाननेवाले ज्ञान के आवरण में निमित्तभूत कर्मों के क्षय के कारण) समानजातीय ज्ञानावरण का क्षयोपशम (-समान जाति के ही पदार्थों को जाननेवाले ज्ञान के आवरण में निमित्तभूत कर्मों का क्षयोपशम) नष्ट हो जाने से...**' आहा...! `'समानजाति' (अर्थात्) चैतन्यजाति को जानने का क्षयोपशम था। यह तो समान और असमान सबको जाननेवाला ज्ञान हो गया, आहा..हा...! `**...वह विषम को भी...**' विषम है न ? कहाँ आत्मा और कहाँ परमाणु ! कहाँ स्कंध और कहाँ धर्मास्तिकाय !! आ..हा..हा...! ऐसे सब विषम पदार्थों को भी भगवान का ज्ञान (जानता है)। नीचे (छद्मस्थदशा में) समानजाति को जाननेवाला ज्ञान था वह यहाँ समान और असमान दोनों को जाननेवाला ज्ञान (है उसे) ज्ञानावरणीय का क्षय हो गया है। अतः सबको जानता है। आ..हा..हा...! `**(असमानजाति के पदार्थों को भी) प्रकाशित करता है।**' आ..हा..हा...!

`**अथवा, अतिविस्तार से पूरा पड़े...**' कहते हैं (कि), क्या कहें ! यह क्षायिक ज्ञान की बातें क्या कहें !! आ..हा..हा...! ऐसी जो केवलज्ञान अवस्था...! जिसके ज्ञानगुण में अनंत अनंत शक्तियाँ पड़ी हैं ! आ..हा..हा...! (परंतु) इसे भी क्या कहें ! कहते हैं। एक समय की ज्ञानपर्याय को कैसे कहें ! कितना विस्तार करें ? आहा...! तो उससे अनंत अनंत पर्यायों का भंडार ज्ञान(गुण) ! और ऐसे अनंत गुण का भंडार भगवानआत्मा !! आ..हा..हा..हा...! उसे हम क्या कहें ? आहा...! समझ में आता है कुछ ?

भगवान कहते हैं कि, एक समय की पर्याय की बात हमने तुम्हें की - विचित्र की, विषम की, असमानजाति की (सब पर्याय की बात की), आ..हा..हा...! ऐसा जो ज्ञान जाने, भाई ! उसके अस्तित्वरूप की जहाँ श्रद्धा करने जाता है, आ..हा..हा...! (वहाँ उसकी सर्वज्ञस्वभाव पर दृष्टि जाती है)। आहा..हा...! ऐसा क्षायिक ज्ञान जगत में है !

यहाँ आचार्य कहते हैं - `**...अतिविस्तार से पूरा पड़े (कुछ लाभ नहीं) ?**' आ..हा..हा...! `**...जिसका अनिवार (रोका न जा सके ऐसा अमर्यादित) फैलाव है...**' (अर्थात्) जिसकी केवलज्ञान की पर्याय में अमर्यादित जिसका विस्तार है ! आ..हा..हा...! `**...ऐसा प्रकाशमान होने से क्षायिक ज्ञान अवश्यमेव...**' `अवश्यम् + एव' ! `एव' अर्थात् निश्चय। `अवश्यम' = अवश्य ही। `**...सर्वदा...**' सर्वदा अर्थात् सर्व काल को `**...सर्वत्र...**' अर्थात् सर्व क्षेत्र को `**...सर्वथा...**' अर्थात् सब भावों को `**...सर्वको...**' अर्थात् सर्व द्रव्यों को, आ..हा..हा...! अरे...! अनंतकाल में कभी भी उसने यह किया नहीं। माथापच्ची में पड़ा रहा। परिभ्रमण उसे चालू (रहा) ! आहा..हा...!

`**...सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वको...**' आ..हा..हा...! चार शब्द हैं। सर्वको सर्वथा सर्वत्र सर्वदा जानते हैं, आ..हा..हा...! जिसे आदि-अंत नहीं, ऐसा तीनों काल...! किन्तु जिसे एक समय में ज्ञात हो जाता है !! आहा...! ऐसा क्षायिकज्ञान अवश्य सर्वदा-सर्वकाल, सर्वत्र-क्षेत्र बताता है, सर्वथा-भाव बताता है, सर्व को-द्रव्य बताता है, आहा..हा...! यानी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव (चारों आ गये) ! आहा..हा...!

८० (गाथा में) इसलिये ही लेंगे न ! `**जो जाणदि अरहंतं दव्वगुणत्तपज्जयत्तेहिं**' (अर्थात्) जो अरिहंत के पर्याय जानता है...! यह तो अबतक पर हुआ। समझ में आया ? किन्तु जानकर अंदर अपने में मिलान करे... आ..हा..हा...! (अर्थात्) वर्तमान पर्याय को गुण में मिश्रित करे और गुण को अभेद करे और सम्यग्दर्शन-अनुभव करे तब उसने सर्वज्ञ की पर्याय जानी, ऐसा व्यवहार से कहने में आये। आ..हा..हा...!

ओ..हो..हो...! गाथा देखो गाथा...! ४७ शक्ति, ४७ नय, ४७ उपादान-निमित्त के दोहे, यह ४७ (वीं) गाथा...! ४७ (कर्म की) प्रकृति ! (यहसब) कहकर कहने का आशय तो यह है कि, प्रभु ! क्षायिक ज्ञान, ऐसी हालत...! कि, जो वर्तमान में तो जाने किन्तु भूत-भविष्य, (जो) गया और (अभी) नहीं, अनंत काल के बाद होगा... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... (उसे भी जानते हैं) ! क्योंकि भूतकाल की पर्याय से भविष्य की (पर्याय) अनंतगुनी हैं। अनंतगुनी...! उस पर्याय को भी (यह क्षायिक ज्ञान जानता है) !

यह अपना आ गया है, भाई ! भूत और भविष्य की पर्यायें असद्भूत होते हुए भी (ज्ञान में निश्चित ही है)। वर्तमान (में) नहीं, वैसे ज्ञान प्रति वर्तमान-निश्चय है। अतः यह असद्भूत को भी, भूत और भविष्य की पर्यायें असद्भूत होने से, यहाँपर ज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात (है) इस कारण हम उन्हें `भूतार्थ' कहते हैं ! आ..हा..हा...! है न ? अपने यह आ गया न ? कहाँ आया (था) ? ३८

(गाथा) ! क्या कहा ? देखो ! `**जे णेव हि संजाया जे शलु णट्ठा भवीय पज्जाया। ते होंति असब्भूदा...**' वास्तव में तो वह असद्भूत है ! आ..हा..हा...! उस समय बहुत विस्तार किया था! `असद्भूत है' (वैसा) पाठ कहता है ! आहा..हा...! वर्तमान नहीं इसलिये असद्भूत है। किन्तु `**णाणपच्चक्खा**' - ज्ञान में प्रत्यक्ष है इस कारण भूतार्थ है ! आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ? `असद्भूत' और `प्रत्यक्ष' दोनों आना चाहिये न ! आहा...! गतकाल की पर्यायें और भविष्य की पर्यायें असद्भूत हैं। वर्तमान कहाँ हैं ? इस कारण असद्भूत है। परंतु `**णाणपच्चक्खा**' ज्ञान में प्रत्यक्ष है इस कारण भूतार्थ है। अरे...! यह तो कोई बात !! ज्ञान में तो वर्तमान जिस प्रकार हो वैसे तीनोंकाल वर्तमान की तरह दिखता है ! ओ..हो..हो..हो...! क्या शैली...!

टीका में भी ऐसा है, देखो न ! ३८ (गाथा) ! `असद्भूत है' यह कहना है। मूल में `असद्भूत' है देखो न ! दूसरी एक जगह `वास्तव में' शब्द आया न ! ३८ में है, देखो ! `वास्तव में अविद्यमान होनेपर भी' आ..हा..हा...! यहाँ तो असद्भूत कहना था न ! `वास्तव में अविद्यमान होनेपर भी' दूसरी पंक्ति ! आ..हा..हा...! `**वास्तव में अविद्यमान**' हाँ...! ऐसी भाषा है ! आ..हा..हा...! (परंतु) ज्ञान प्रतिनियत है ! आ..हा..हा...! देखा ? `**किलासद्भूता**' संस्कृत है। संस्कृत (टीका में) `**किलासद्भूता**' (है) ! निश्चय से गतकाल की अनंत पर्यायें उनसे अनंतगुनी भविष्य की सब (पर्यायें) अविद्यमान है, वास्तव में अविद्यमान है ! आ..हा..हा...! तथापि ज्ञान में प्रत्यक्ष है इस कारण से उसे भूतार्थ कहते हैं ! आ..हा..हा...! है ? आहा...! `**विद्यमान ही है**' (टीका में) अंत में आया न ? `**विद्यमान ही है**' ! यह तो कैसी क्या बात करते हैं !! आ..हा..हा...! गतकाल की अनंत पर्यायें और भविष्य की अनंत पर्याय वास्तव में अविद्यमान हैं ! आ..हा..हा...! तथापि ज्ञान में सर्व ज्ञेय अकंपरूप अर्पित वैसे विद्यमान ही हैं ! अरे...! यह तो कोई (बात है) !!

एक व्यक्ति ने प्रश्न रखा था कि, जो वस्तु नहीं है उसे जाने तो वह ज्ञान झूठा हुआ ! अरे... सुन तो सही...! नहीं, यह तो वहाँ नहीं, किन्तु यहाँ तो ज्ञान में प्रत्यक्ष है ! विद्यमान है !! आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ? बहुत लोग समझे नहीं और (ऐसे) प्रश्न (करे) ! `नहीं' उसे तुम `है' ऐसा कहते हो ! सुन तो सही ! ज्ञान प्रत्यक्ष है, अतः है ! ज्ञान में तो, जिस समयपर वहाँ होनेवाली है और हो गई, (यह) वर्तमान में ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञात होती है। आ..हा..हा...! `**णाणपच्चक्खा**' प्रत्यक्ष है अर्थात् विद्यमान है। आ..हा..हा...! भाई ! चैतन्य के स्वभाव की अद्भुतता है !! बापू! उसका मेल तू तर्क से - बाहर से कहने को जायेगा तो (मेल) नहीं मिलेगा ! आ..हा..हा...!

असद्भूत है, वर्तमान विद्यमान नहीं, तथापि भगवान के ज्ञान में प्रत्यक्ष है इसलिये वह

विद्यमान है ! अरे.. अरे...! समझ में आया कुछ ? ऐसा मार्ग है, बापू ! आ..हा..हा...! इतनी ज्ञान की ताक़त है !! कि, असद्भूत को भी प्रत्यक्ष-विद्यमान कर लेता है !! आ..हा..हा...! वह तो मिट्टी का दृष्टांत दिया था - कुम्हार ने मिट्टी का पिंड लिया (तब) ख़याल में आया है या नहीं ? कि, यह घड़ा होगा। यह वर्तमान में ख़याल में आता है कि, घड़ा ऐसा होगा ! आ..हा..हा...! घड़े की अविद्यमानता होते हुए भी ज्ञान में जो जानने में आता है सो विद्यमान है, ऐसा कहते (हैं), आ..हा..हा...! ऐसा स्वरूप है, भगवान ! तुझे इसकी ख़बर नहीं।

यह अलौकिक चैतन्य वस्तु है !! महाभगवान है !! जो अविद्यमान को भी प्रत्यक्ष करके विद्यमान की तरह जानता है ! आ..हा..हा...! बापू ! यह ज्ञान की पर्याय का ऐसा स्वभाव ! तो उसके द्रव्य के स्वभाव की (बातें) क्या कहें, प्रभु !! ओ..हो..हो...! ऐसे चैतन्य चमत्कारी गुणों से भरा द्रव्य है, प्रभु ! आ..हा..हा...! अनंत... अनंत... आनंद आदि गुणों का भंडार भगवान ! यह सुख का सागर अंदर डोल रहा है - झूम रहा है !! बाहर में तू सुख की कल्पना करता है कि, यहाँ सुख है... यहाँ सुख है... (परंतु) प्रभु तू भूल गया ! जहाँ है वहाँ नहीं जाता और जहाँ नहीं वहाँ गरदन लंबाकर झाँकता फिरता (है) ! आ..हा..हा...!

केवली को, अनंत सिद्धों को अनंत पर्याय वर्तमान हैं, (किन्तु) उन्हें भूत की, भविष्य की पर्याय वर्तमान (में) नहीं ! केवली को, अनंत सिद्धों को जो पर्याय हैं सो वर्तमान में विद्यमान हैं, भूत-भविष्य की विद्यमान नहीं। तथापि भूत-भविष्य को विद्यमानवत् प्रत्यक्ष जानते हैं। आहा..हा...! जानने के स्वभाव की विचित्रता प्रभु ! आहा...! यह ज्ञान चमत्कारी चीज है !! जिसे तू बाहर से मेल करने जायेगा कि, असद्भूत को विद्यमान क्यों कहते हैं ? (तो उसका मेल नहीं बैठेगा)। आ..हा..हा...! और उस असद्भूत को विद्यमान कहा फिर भी यह विद्यमानवत् पर्याय में ज्ञात हुई, वैसे वह उतनी पर्याय द्रव्य में नहीं ! आ..हा..हा...! उस पर्याय में पर्याय है, द्रव्य में पर्याय नहीं ! आ..हा..हा...! क्या द्रव्य की विचित्रता...! क्या गुण की अद्भुतता !! क्या पर्याय की चमत्कारिता !! आ..हा..हा...! यहाँ तो असद्भूत (हैं) वैसे विद्यमान हैं, ऐसा सिद्ध करना है, आहा..हा...!

यहाँ तो ऐसा कहना था (और) उस दिन (भी) कहा था कि, जो असद्भूत है उसे जो विद्यमानवत् जाने तो यह प्रभु तो विद्यमान है ! (उसे क्यों न जाने) ! भाई ! क्या कहा यह ? भूत और भविष्य की पर्याय अविद्यमान होते हुए भी ज्ञान प्रत्यक्ष है, तो प्रभु ! तू द्रव्य तो विद्यमान सारा सामने पड़ा है न !! आ..हा..हा...! विद्यमान ही है ! वर्तमान विद्यमान है ! त्रिकाल विद्यमान ही

है !! वह पर्याय तो असद्भूत है उसे ज्ञान प्रत्यक्ष करता है इस कारण विद्यमान है ! ऐसा कहते हैं। आ..हा..हा...! यह प्रभु तो एक समय (में) विद्यमान है ! महाप्रभु...! विद्यमान को विद्यमानवत् जानना, प्रभु ! उसमें क्या ? उसे ऐसा कहते हैं ! आ..हा..हा...! सूक्ष्म बातें हैं, बापू !

यह तो परमात्मा सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव की वाणी है ! संतों की वाणी संत केवली द्वारा कहना चाहते हैं। `जिनने ऐसा कहा है' आज ही अपने आया न ? आज आया न यह ! `जिन कहते हैं' आया न ? `**तं णाणं खाइयं भणियं**' ४७ (गाथा) `**तं णाणं खाइयं भणियं**' (अर्थात्) उसे क्षायिक ज्ञान जिनवरदेव कहते हैं, आ..हा..ह...! यह ४७ (गाथा की) टीका पूर्ण हुई।

नहीं है उसे विद्यमानवत् जाने तो प्रभु ! विद्यमान है उसे विद्यमानवत् जान...! आ..हा..हा...! सत् है न ! सत् है और विद्यमान है या नहीं ? `श्रीमद्' ने तो ऐसा कहा है न ? सत् है, सरल है, सर्वत्र है, सहज है...! `है...' आ..हा..हा...! एक समय में सारा विद्यमान तत्त्व है !! यह क्षायिक ज्ञान तो अविद्यमान को विद्यमान करे (तो) यह तो विद्यमान है उसे विद्यमान जाने...! आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ?

आ..हा..हा...! जिसका अस्तित्व नहीं उसे अस्तित्ववत् जाने...! आ..हा..हा...! (`प्रवचनसार' १०७ गाथा में) आया है न ! `द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय सत्-सत् का विस्तार है' भाई ! आ..हा..हा...! यह तो `है' उसका (विस्तार है)। `है...' आ..हा..हा...! वस्तु भगवान पूर्णानंद का नाथ प्रभु ! वर्तमान विद्यमान है, आ..हा..हा...! `तेरी नजर की आलस्य से नारायण रह गया' ! आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ? करने को यह था वह रह गया ! बाहर में यह किया और वह किया... ! अधिकतर तो दया, दान व व्रत के परिणाम किये...! अरे.. रे...! परलक्षी क्षयोपशम किया...! यह कोई वस्तु नहीं।

विद्यमान भगवान है। अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... जिनके गुणों की अनंतता का अंत (नहीं)। अनंतता के अनंतभाग करो तो अंतिम अंत नहीं। ऐसा यह विद्यमान है। भले अनंत का अंत नहीं ऐसे गुण होनेपर भी वह स्वयं विद्यमान है, आ..हा..हा...! सत् चिदानंद प्रभु ! उसे यहाँ `सत् चिदानंद आत्मा' कहते हैं ! `स्वामीनारायण (पंथ)' में आटा मांगनेवाला आये तब `सत् चिदानंद' कहते हैं। यह तो `है' ! ज्ञान और आनंद आदि अनंत गुण का पिंड विद्यमान है न ! आहा..हा...! `तेरी नजर की आलस्य के कारण नारायण दिखाई दिया नहीं तुझे' ! आहा..हा...! यहाँ क्या कहा है कि, अविद्यमान को विद्यमान करे तो यह विद्यमान को विद्यमान (क्यों न करे)!? आ..हा..हा...!

भावार्थ :- `क्रमपूर्वक जानना, नियत आत्मप्रदेशों से ही जानना,...'** (अर्थात्) मर्यादित आत्मप्रदेश से जानना **`...अमुक को ही जानना - इत्यादि मर्यादायें मति - श्रुतादि क्षायोपशमिक ज्ञान में ही संभव हैं।' यह सब तो क्षयोपशम ज्ञान में संभव है, आ..हा..हा...! **`क्षायिक ज्ञान के अमर्यादित होने से...'** आहा...! क्षायिक ज्ञान अमर्यादित होने से ! इसे मर्यादा क्या ? कहते हैं। आ..हा..हा...! (एक जगह) आता है न ? `मेहरामण माजा न मूके, चेलैयो सत् न चूके' ! (समंदर सीमा न तोड़े, चेलैयो सत् न चुके) वैसे यह अमर्यादित वस्तु है ! आहा...! उसे चेलैयो - उसकी प्रतीति ज्ञानी क्यों न करे ? आ..हा..हा...! अन्य (मत में) वह बात आती है।

श्रोता :- छद्मस्थ भी आत्मा को सर्व प्रदेशों से जानता है ?

समाधान :- (क्षायिक ज्ञान में) सर्व प्रदेश खुल गये हैं ! पहले कहा - क्षयोपशमवाले को कुछ एक प्रदेश खुले हैं। यह (क्षायिक ज्ञान में) तो सारे प्रदेश खुले हैं। क्षयोपशम भले ही सब जगह हो परंतु उपयोग तो कुछएक जगह लगता है, कुछ एक प्रदेश का कंपन (होता है)। यहाँ तो पूर्ण खुलापन और पूर्ण उपयोग ! आ..हा..हा...! `जयसेनाचार्यदेव' में आता है न ? `एक भाव भी बराबर जिस प्रकार है उस (प्रकार) जाने तो उसे सब भाव जानने में आ जाय !' आ..हा..हा...! `जयसेनाचार्य' ! (उनकी) टीका में (आता) है। दिगंबर संतो ने तो गजब काम किये हैं !! दुनिया को करुणा से हथेली में भगवान बताया है न ! आहा..हा...! परंतु प्रभु ! तू विद्यमान है न ! `है' न ! आहा...! यह तो `नहीं है' उसे विद्यमान करते हैं, तो `है' उसे विद्यमान करके जान ! भाई! आ..हा..हा...!

(यहाँपर कहते हैं) **`क्षायिक ज्ञान के अमर्यादित होने से एक ही साथ सर्व आत्मप्रदेशों से...'** `युगपद' अर्थात् एक समयपर। **`...सर्वआत्मप्रदेशों से तीनों काल की पर्यायों...'** आ..हा..हा...! **`...तीनों काल की पर्यायों के साथ...'** आ..हा..हा...! जिसका अंत नहीं उसे भी जाने...! गजब बात है !! इस द्रव्य की अंतिम पर्याय कौन सी है ? आ..हा..हा...! यह वस्तु है उसकी अंतिम अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अब उस अनंत की अंतिम पर्याय कौन सी है ? आ..हा..हा...! उसे भी वह जानता है ! जाने इसलिये वहाँ अंत आ गया, वैसा नहीं। अनंत को अनंत की तरह जानता है।

`...तीनों काल की पर्यायों के साथ सर्व पदार्थों को - उन पदार्थों के अनेक प्रकार के और विरुद्ध जाति के होने पर भी जानता है अर्थात् केवलज्ञान एक ही समय में...'** आ..हा..हा...! **`...सर्व आत्मप्रदेशों से समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को...' अंतिम चार आये न ? अंतिम बोल वहाँ

(टीका में) आया था न ? `**सर्वदा, सर्वत्र, सर्वथा, सर्व को**' यह ! `**...सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जानता है।**' आ..हा..हा...!

यह `क्रमबद्ध' की बात बाहर आयी व कितनों को तो केवलज्ञान में शंका पड़ने लगी ! `क्रमबद्ध' होता है...! हाय... हाय... ज्ञान सब भविष्य को जानता है ? जिस समय जो होगा सो होगा - यह केवलज्ञान मंजूर करने जाय तो यह सब निश्चय करना पड़े ! और इस तरफ क्रमबद्ध को निश्चित करने जाय तो केवलज्ञान को निश्चित (करना पड़े) ! (एक विद्वान ने) लिखा है न? `इस क्रमबद्ध की बात बाहर आनेपर, कुछ एक केवलज्ञान को मानते थे वे भी थोड़ा फेरफार करने लगे हैं !' क्योंकि यह मानने जाये तब तो उनमें (उनकी मान्यता में फेरफार करना पड़े)! एक के बाद एक (पर्याय) क्रमबद्ध हो, फेरफार न हो ! पर्याय में तो जिस समय जो होनेवाली हो सो होती है,तेरी दृष्टि द्रव्यपर दे ! पर्याय के बारे में क्या होता है व क्या (नहीं होता), यह तुझे देखने का नहीं ! (तू तो) ज्ञाता-दृष्टा है ! वहाँ अकर्तापना कहा है न ? भाई ! क्रमबद्ध का अर्थ अकर्ता हैं ! अकर्ता हैं यानी ज्ञाता-दृष्टा हैं ! ज्ञाता-दृष्टा का निर्णय हुआ अतः जो क्रमबद्ध हो उसे तू जान ! आ..हा..हा...! विशेष कहेंगे...

❋ ❋ ❋

अथ सर्वमजानन्नेकमपि न जानातीति निश्चिनोति–

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा।।४८।।

यो न विजानाति युगपदर्थान् त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान्।
ज्ञातुं तस्य न शक्यं सपर्ययं द्रव्यमेकं वा।।४८।।

इह किलैकमाकाशद्रव्यमेकं धर्मद्रव्यमेकमधर्मद्रव्यमसंख्येयानि कालद्रव्याण्यनन्तानि जीवद्रव्याणि। ततोऽप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि। तथैषामेव प्रत्येकमतीतानागतानुभूयमानभेद-भिन्ननिरवधिवृत्तिप्रवाहपरिपातिनोऽनन्ताः पर्यायाः। एवमेतत्समस्तमपि समुदितं ज्ञेयं, इहैवैकं किंचिज्जीवद्रव्यं ज्ञातृ। अथ यथा समस्तं दाह्यं दहन् दहनः समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकार-पर्यायपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानं परिणमति, तथा समस्तं ज्ञेयं जानन् ज्ञाता समस्तज्ञेय-हेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षमात्मानं परिणमति। एवं किल द्रव्यस्वभावः। यस्तु समस्तं ज्ञेयं न जानाति स समस्तं दाह्यमदहन् समस्तदाह्य-हेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानं दहन इव समस्तज्ञेयहेतुकसमस्त-ज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारमात्मानं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षत्वेऽपि न परिणमति। एवमेतदायाति यः सर्व न जानाति स आत्मानं न जानाति।।४८।।

अथ यः सर्व न जानाति स एकमपि न जानातीति विचारयति – **जो ण विजाणदि** यः कर्ता नैव जानाति। कथम्। **जुगवं** युगपदेकक्षणे। कान्। **अत्थे** अर्थान्। कथंभूतान्। **तिक्कालिगे** त्रिकालपर्यायपरिणतान्। पुनरपि कथंभूतान्। **तिहुवणत्थे** त्रिभुवनस्थान्। **णादुं तस्स ण सक्कं** तस्य पुरुषस्य सम्बन्धि ज्ञानं ज्ञातुं समर्थ न भवति। किम्। **दव्वं** ज्ञेयद्रव्यम्। किंविशिष्टम्। **सपज्जयं** अनन्तपर्यायसहितम्। कतिसंख्योपेतम्। **पगं वा** एकमपीति। तथा हि-आकाशद्रव्यं तावदेकं, धर्मद्रव्यमेकं, तथैवाधर्मद्रव्यं च लोकाकाशप्रमितासंख्येयकालद्रव्याणि, ततोऽनन्तगुणानि जीवद्रव्याणि, तेभ्योऽप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि। तथैव सर्वेषां प्रत्येकमनन्तपर्यायाः, एतत्सर्व ज्ञेयं तावत्तत्रैकं विवक्षितं जीवद्रव्यं ज्ञातृ भवति। एवं तावद्भस्तुस्वभावः। तत्र तथा दहनः समस्तं दाह्यं दहन् सन् समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहन-स्वरूपमुष्णपरिणततृणपर्णाद्याकारमात्मानं (स्वकीयस्वभावं) परिणमति, तथायमात्मा समस्तं ज्ञेयं जानन् सन् समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकाखण्डज्ञानरूपं स्वकीयमात्मानं

परिणमति जानाति परिच्छिनत्ति। यथैव च स एव दहनः पूर्वोक्तलक्षणं दाह्यमदहन् सन् तदाकारेण न परिणमति, तथाऽऽत्मापि पूर्वोक्तलक्षणं समस्तं ज्ञेयमजानन् पूर्वोक्तलक्षणमेव सकलैकाखण्डज्ञानाकारं स्वकीयमात्मानं न परिणमति न जानाति न परिच्छिनत्ति। अपरमप्युदाहरणं दीयते — यथा कोऽप्यन्धक आदित्यप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन्नादित्यमिव, प्रदीपप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन् प्रदीपमिव, दर्पणस्थबिम्बान्यपश्यन् दर्पणमिव, स्वकीयदृष्टिप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन् हस्तपादाद्यवयवपरिणतं स्वकीयदेहाकारमात्मानं स्वकीयदृष्ट्या न पश्यति, तथायं विवक्षितात्मापि केवलज्ञानप्रकाश्यान् पदार्थानजानन् सकलाखण्डैककेवलज्ञानरूपमात्मानमपि न जानाति। तत एतत्स्थितं यः सर्वं न जानाति स आत्मानमपि न जानातीति।।४८।।

अब, ऐसा निश्चित करते हैं कि सबको नहीं जानता वह एकको भी नहीं जानता :-

गाथा ४८

जाणे नहि युगपद् त्रिकालिक त्रिभुवनस्थ पदार्थ ने।
तेने सपर्यय एक पण नहि द्रव्य जाणवु शक्य छे।।४८।।

अन्वयार्थ :- [यः] जो **[युगपद्]** एकही साथ **[त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान्]** त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ (-तीनों कालके और तीनों लोकके **[अर्थान्]** पदार्थोंको **[न विजानाति]** नहीं जानता, **[तस्य]** उसे **[सपर्ययं]** पर्याय सहित **[एकं द्रव्यं वा]** एक द्रव्य भी **[ज्ञातुं न शक्यं]** जानना शक्य नहीं है।

टीका : इस विश्वमें एक आकाशद्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, असंख्य कालद्रव्य और अनन्त जीवद्रव्य तथा उनसे भी अनन्तगुने पुद्‌गल द्रव्य हैं, और उन्हींके प्रत्येकके अतीत, अनागत और वर्तमान ऐसे (तीन) प्रकारोंसे भेदवाली निरवधि वृत्तिप्रवाहके भीतर पड़नेवाली (-समा जानेवाली) अनन्त पर्यायें हैं। इसप्रकार यह समस्त (द्रव्यों और पर्यायोंका) समुदाय ज्ञेय है। उसीमें एक कोई भी जीवद्रव्य ज्ञाता है। अब यहाँ, जैसे समस्त दाह्यको दहकती हुई अग्नि समस्त-दाह्यहेतुक (-समस्त दाह्य जिसका निमित्त है ऐसा) समस्तदाह्याकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक दहन जिसका आकार (स्वरूप) है ऐसे अपने रूपमें (-अग्निरूपमें) परिणमित होती है, वैसे ही समस्त ज्ञेयको जानता हुआ ज्ञाता (-आत्मा) समस्तज्ञेयहेतुक समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक ज्ञान जिसका आकार (स्वरूप) है ऐसे निजरूपसे-जो चेतनताके कारण स्वानुभवप्रत्यक्ष है उस-रूप-

परिणमित होता है। इसप्रकार वास्तवमें द्रव्यका स्वभाव है। किन्तु जो समस्त ज्ञेयको नहीं जानता वह (आत्मा), जैसे समस्त दाह्यको न दहती हुई अग्नि समस्तदाह्यहेतुक समस्तदाह्याकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक दहन जिसका आकार है ऐसे अपने रूपमें परिणमित नहीं होता उसी प्रकार, समस्तज्ञेयहेतुक समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे अपने रूपमें-स्वयं चेतनताके कारण स्वानुभवप्रत्यक्ष होने पर भी-परिणमित नहीं होता, (अपनेको परिपूर्णतया अनुभव नहीं करता-नहीं जानता) इसप्रकार यह फलित होता है कि जो सबको नहीं जानता वह अपनेको (-आत्माको) नहीं जानता।

भावार्थ :- जो अग्नि काष्ठ, तृण, पत्ते इत्यादि समस्त दाह्यपदार्थोंको नहीं जलाता, उसका दहनस्वभाव (काष्ठादिक समस्त दाह्य जिसका निमित्त है ऐसा) समस्तदाह्याकारपर्यायरूप परिणमित न होनेसे अपूर्णरूपसे परिणमित होता है-परिपूर्णरूपसे परिणमित नहीं होता, इसलिये परिपूर्ण एक दहन जिसका स्वरूप है ऐसी वह अग्नि अपने रूप ही पूर्ण रीतिसे परिणमित नहीं होती; उसी प्रकार यह आत्मा समस्त द्रव्य-पर्यायरूप समस्तज्ञेयको नहीं जानता, उसका ज्ञान (समस्त ज्ञेय जिसका निमित्त है ऐसे) समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप परिणमित न होनेसे अपूर्णरूपसे परिणमित होता है-परिपूर्ण रूपसे परिणमित नहीं होता, इसलिये परिपूर्ण एक ज्ञान जिसका स्वरूप है ऐसा वह आत्मा अपने रूपसे ही पूर्ण रीतिसे परिणमित नहीं होता अर्थात् निजको ही पूर्णरीतिसे अनुभव नहीं करता-नहीं जानता। इसप्रकार सिद्ध हुआ कि जो सबको नहीं जानता वह एकको-अपनेको (पूर्ण रीतिसे) नहीं जानता।।४८।।

(**दिनांक २१-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-४६**)

`प्रवचनसार', `ज्ञानतत्त्व अधिकार !' ४८ (गाथा)। **`अब, ऐसा निश्चित करते हैं कि, जो सबको नहीं जानता वह एक को भी नहीं जानता :-** ' आ..हा..हा...! अधिकार जरा सूक्ष्म है। अंदर भगवानआत्मा ज्ञानस्वरूप है और वह सबको जानने का स्वभाववाला तत्त्व है। जो कोई

सबको जाननेवाला तत्त्व है वह सबको जानता नहीं सो स्वयं को (भी) जानता नहीं। क्योंकि जितने जगत में ज्ञेय हैं (वे) सबको जाननेरूप परिणमित होना (ऐसा उसका स्वभाव है)। सर्वज्ञ को तो पूर्णरूप से प्रत्यक्ष परज्ञेयाकाररूप (ज्ञान) परिणमित है। परंतु नीचे छद्मस्थ श्रुतज्ञानी धर्मीजीव को (भी) श्रुतज्ञान में सब ज्ञेयों (को) परोक्षरूप जानने का पर्यायरूप परिणमन है, आ..हा..हा...! ऐसा मार्ग भारी...!

जो कोई सर्व को जानता नहीं तो, स्वयं सर्व का जाननेवाला, अपना स्वभाव है, अतः वह स्वयं को भी जानता नहीं, आहा..हा...! यह कहेंगे।

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा।४८।।

नीचे हरिगीत :-

जाणे नहि युगपद् त्रिकालिक त्रिभुवनस्थ पदार्थ ने।
तेने सपर्यय एक पण नहि द्रव्य जाणवु शक्य छे।।४८।।

काल और क्षेत्र दोनों लिये। आहा..हा...! थोड़ा 'अन्वयार्थ' लेंगे। सूक्ष्म बात है, भाई ! यह आत्मा जो वस्तु है न ! जिसका ज्ञानस्वभाव है। अनंतगुण तो है, परंतु इस ज्ञानस्वभाव में श्रुतज्ञान की दशा में भी सबको परोक्षरूप जानने के परिणमनरूप उसका स्वभाव है। केवलज्ञान में सबको प्रत्यक्षरूप जानने का स्वभाव है। यदि (केवलज्ञान) तीनकाल और तीनलोक में स्थित पदार्थों को एक समय में (न जाने) अथवा नीचे श्रुतज्ञान में असंख्य समय में यदि न जाने तो यह जाननेवाला इतना है उस जाननेवाले को जाना नहीं। दुनिया से बहुत सूक्ष्म बात है, बापू !

पुनः, अन्वयार्थ है न ? '**जो एक ही साथ त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ...**' त्रैकालिक (अर्थात्) तीनकाल के द्रव्य, गुण, पर्याय और तीनलोक के अर्थात् लोक और अलोक दोनों। तीनलोक यानी लोक और अलोक सब लेना। यह '**...पदार्थों को नहीं जानता, उसे पर्याय सहित एक द्रव्य भी जानना शक्य नहीं है।**' क्योंकि आत्मा की ज्ञान की पर्याय - सर्व को जानने की ताक़तवाली है ! आहा...! तो जो कोई सबको नहीं जाने तो यह पर्याय सर्व को जाननेवाली है, ऐसे आत्मा को भी जानता नहीं। ऐसी बातें अब...! यह टीका (में) कहेंगे।

यहाँ तो चैतन्यज्योति चमचमाती भगवानआत्मा ! केवलज्ञानरूप, पर्याय में केवलज्ञानरूप तीनकाल और तीनलोक में स्थित द्रव्य, गुण और पर्याय (यदि न जाने), उसे ज्ञानाकार में ज्ञेयाकार का परिणमन न हो, तो वह ज्ञानाकाररूप पर्याय के आधारभूत द्रव्य हैं, तो उसे द्रव्य

की ख़बर नहीं। आ..हा..हा...! ऐसा सूक्ष्म है ! बहुत सूक्ष्म है, बापू ! आहा..हा...!

पर का करना या न करना, यह प्रश्न है ही नहीं। आत्मा के अलावा पर या राग का कुछ कर सके, यह तो उसके स्वभाव में नहीं, आ..हा..हा...! परंतु स्वयं के अलावा अनंत पदार्थ हैं उन्हें अपनी पर्याय में जानने के स्वभाववाला है। पर को अपना माननेवाला यह तत्त्व नहीं। वैसे पर को अपनेरूप करे-स्वयं पर को (करे), यह भी नहीं, आहा..हा...! परंतु यहाँ जो ज्ञानस्वभाव है, उससे विशेष (भिन्न) जगत के सभी पदार्थ हैं, उनको जानने के पर्यायस्वभाववाला यह आत्मा है। अभी हाँ...! आ..हा..हा...!

`**इस विश्व में एक आकाश द्रव्य,...**' (है) `विश्व' शब्द से यह लोक (और) अलोक सब लेना। `**...एक धर्मद्रव्य,...**' धर्मास्तिकाय (नामक) एक पदार्थ है। धर्मास्ति समझे ? (धर्मास्ति अर्थात् यह) `धर्म' नहीं ! परंतु जीव और जड़ स्वयं गति करते हो तब वह (धर्मास्ति)द्रव्य उसे निमित्त है। ऐसा एक `धर्मास्तिकाय' नामक तत्त्व सारे लोकप्रमाण है, ऐसा भगवान ने देखा है। `**...एक अधर्मद्रव्य,...**' (अर्थात्) जड़ और चैतन्य गति करते हुए स्थिर होते हैं, जैसे थका हुआ आदमी पेड़ की छाँव में बैठे तो पैड़ उसे निमित्त है, वैसे गतिपूर्वक जड़ और चैतन्य स्थिर हो उसमें एक `अधर्मास्तिकाय' (नामक) तत्त्व है, वह स्थिर (होने में) निमित्त होता है। ऐसा एक तत्त्व है। आहा...! कहना तो अभी और है ! `**...असंख्य कालद्रव्य...**' आकाश के असंख्य प्रदेश हैं वे प्रत्येक प्रदेशपर एक-एक कालद्रव्य है। कालद्रव्य अरूपी (है), आहा..हा...! जिसमें अनंतगुण हैं और जिसकी अनंत पर्याय-अवस्था हैं। ऐसे धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य एक है (परंतु) गुण अनंत हैं। एक आकाश द्रव्य है (परंतु) गुण अनंत हैं और एक समय में उसकी पर्याय भी अनंत हैं और त्रिकाली पर्याय हैं, आहा..हा...! यह आकाश (है) वैसे धर्मास्ति (है)। एक द्रव्य है, उसके अनंतगुण हैं, उसकी वर्तमान अनंत पर्याय हैं। ऐसी त्रिकाली पर्यायें अनंत हैं। वैसे अधर्मास्तिकाय एक द्रव्य है, अनंत गुण हैं, वर्तमान अनंत पर्याय हैं, त्रिकाली अनंत पर्याय उनसे अनंतगुनी हैं, आ..हा..हा...!

`**...अनंत जीवद्रव्य...**' यह एक जीवद्रव्य (है) ऐसे तो अनंत जीवद्रव्य हैं, आहा..हा...! और प्रत्येक जीवद्रव्य में अनंतगुण हैं और प्रत्येक गुण की अनंत पर्याय हैं। पर्याय यानी अवस्था। सूक्ष्म बात है, प्रभु ! आहा...! जगत में अभी तो मूल बात (कहाँ है ?) यहाँ (तो) धर्म कैसे हो, यह बात है।

आ..हा..हा...! प्रभु ! तेरे ज्ञानस्वभाव की पर्याय का धर्म इतना सुंदर है कि, जो अनंत जीव, अनंतगुण, उनकी अनंत पर्यायें (सबको एक समय में जाने) ! है ? `**...तथा उनसे भी अनंतगुने**

पुद्गल द्रव्य हैं,...' यहाँ यह आत्मा तो अंदर एक है और यह परमाणु तो अनंत हैं। यह जड़ रजकण है, यह कोई एक द्रव्य नहीं। टुकड़े करते...करते... अंतिम टुकड़ा रहे, उसे परम+अणु=छोटे से छोटा टुकड़ा कहते हैं। ऐसे यह अनंत मिट्टी के टुकड़े हैं। ऐसे तो अनंत कर्म के परमाणु हैं, ऐसे तेजस (शरीर के) अनंत हैं, इस औदारिक (शरीर के) अनंत (परमाणु) हैं। इस कारण जीव द्रव्य की संख्या से पुद्गल द्रव्य की संख्या अनंतगुनी हैं। है ?

`**...और उन्हीं के प्रत्येक के...**' (ऊपर कहे) वे द्रव्य कहे। (अब) `**...उन्हीं के प्रत्येक के अतीत, अनागत और वर्तमान ऐसे (तीन) प्रकारों से भेदवाली...**' आ..हा..हा...! `**...निरवधि...**' (अर्थात्) अवधि-सीमा-मर्यादा रहित। अनंत... अनंत... पर्याय हैं, आ..हा..हा...! `**वृत्तिप्रवाह...**' (अर्थात्) उसकी उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य, अस्तित्व, परिणति है। कुछ एक तो पहले जाना हो तो यह (समझ में आये ऐसा है)।

मूल आत्मा क्या है, उसे जाना नहीं। अनंतकाल हुए...! अनंतकाल के अनंत प्रवाह के परिभ्रमण में अनंत भव किये-नर्क के, पशु के, ढोर के, निगोद के...! अरे...! जैन साधु होकर भी अनंत जन्म किये ! परंतु आत्मा वस्तु क्या है, यह ज्ञानस्वभावी भगवान है, उसका ज्ञान न किया !! आहा..हा...! दया, व्रत, भक्ति (आदि) क्रियाकांड किये। यूं तो संसार के पाप की आड़ में, यह (करने की) हाल में तो फुरसत नहीं ! सारा दिन कमाई व यह करना और वह करना! अरे...! जो कर सकता नहीं, उसे करना... करना... (ऐसे) बाईस घंटे माने ! एक-दो घंटे कदाचित् कहीं सुनने (को) समय मिले (और) सुनने जाय (तो) वहाँ उसे यह (सुनने) मिले कि, `तू कुछ व्रत कर व उपवास कर और भक्ति कर और मंदिर जा व दया का पालन कर...!' ऐसा कहे। वे भी राग की क्रिया करने को कहे, तो यह भी मिथ्याभाव है ! आ..हा..हा...! उन सबका जाननेवाला भगवान कितना बड़ा है, इसकी उसे ख़बर नहीं, आहा..हा...! समझ में आया कुछ ?

अंदर चैतन्यसूर्य प्रभु ! अंदर जहाँ चैतन्यस्वभाव के प्रकाश का अनंत... अनंत... जहाँ गाढ़ है ! ये जो द्रव्य कहे उन प्रत्येक के गतकाल की अनंत पर्याय हैं - अवस्था हैं। वर्तमान में अनंत पर्याय (हैं) और अनागत उससे अनंतगुनी हैं। `**...ऐसे (तीन) प्रकारों से भेदवाली...**' परंतु असीम पर्यायें...! आ..हा..हा...! अनादि की और अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... काल - उसकी सीमा क्या ? ऐसी वृत्ति का प्रवाह ! (वृत्ति अर्थात्) वर्तना यह, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य; अस्तित्व; परिणति। (वह वृत्ति का प्रवाह) `**...भीतर पड़नेवाली (-समा जानेवाली) अनंत पर्यायें हैं।**' आ..हा..हा...! प्रत्येक द्रव्य के अंदर समाजानेवाली अनंत पर्यायें हैं।

`**इस प्रकार यह समस्त** (**द्रव्यों और पर्यायों का**) **समुदाय ज्ञेय है।**' `यह सभी' (यानी) द्रव्यों-पदार्थों और उसकी पर्यायें, वे ज्ञेय हैं, आ..हा..हा...! वे आत्मा के हैं, ऐसा नहीं। (परंतु) ज्ञेय हैं, आ..हा..हा...! आत्मा के अलावा अनंत जीव हैं, अनंत परमाणु हैं, असंख्य कालाणु हैं, प्रत्येक द्रव्य की अनंत पर्याय हैं, वे ज्ञेयरूप हैं। वे ज्ञान में ज्ञात हो, वैसे ज्ञेयरूप हैं। यह आत्मा की यह चीज नहीं, आ..हा..हा...! स्त्री का आत्मा या पुत्र का आत्मा या माँ-बाप का आत्मा, गुरु का आत्मा या देव का आत्मा - उनकी अनंत पर्यायें सहित हैं, वे ज्ञेय रूप हैं - जाननेरूप हैं। `मेरे' रूप माननेरूप हैं नहीं। वैसे वे `मेरे' रूप माने तो भी उसमें वह कोई चीज हैं नहीं, आ..हा..हा...! यह `**...(द्रव्यों और पर्यायों का**) **समुदाय ज्ञेय है...**' `एक और राम और एक और गाँव' ! एक और सारा द्रव्य-पर्याय का समुदाय है।

`**उसी में एक कोई भी जीवद्रव्य...**' उनमें से कोई भी एक जीवद्रव्य, अनंत जीव में से कोई एक जीवद्रव्य ! कुछ समझ में आया ? `**उसी में...**' `उसी में' (यानी) अनंत जीवद्रव्य (हैं) `**उसी में एक कोई भी जीवद्रव्य ज्ञाता है।**' आ..हा..हा...! ये अनंत... अनंत... ज्ञेय हैं - वस्तु (हैं) और तीनकाल की पर्यायवाले वे द्रव्य सो द्रव्य हैं। उनमें कोई भी एक आत्मा उसका ज्ञाता एकरूप है, आ..हा..हा...!

अनंत आत्मा में अनंत सिद्ध और असंख्यात-लाखों केवली भी आ गये। अनंत जीवों में... आ..हा..हा...! एक लहसुन का राई के बराबर टुकड़ा लो तो उसमें असंख्य तो औदारिक शरीर और एक शरीर में अनंत जीव ! और अनंत जीव की अनंत त्रिकाली पर्यायें, आ..हा..हा...! वह पूरा समुदाय ज्ञेय है।

श्रोता :- हमारे मालिकी की कहने में आया या नहीं ?

समाधान :- मालिकी की चीज है नहीं। करोड़ों रुपये, अरबों रुपये और करोड़ों की बड़ी कोठियाँ ! और उन-उन परमाणु की तीनों काल की पर्यायें ज्ञेयरूप हैं। उन सबमें (यानी कि) अनंत आत्मा में, अनंत परमाणु में, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, आकाश की तीनकाल की पर्यायों में एक जीव ज्ञाता है, आ..हा..हा...!

इसमें तो आत्मा है, उसकी रागादि (पर्यायें) हैं, और निर्मल पर्यायें (हैं)। क्योंकि आत्मा है तो अनंत केवली भी हैं। वे अनंत आत्मा हैं उनमें से भी केवलज्ञान होगा ऐसी पर्यायोंवाले जीव तो हैं न ? वे सभी पर्याय सहित जीव हैं, आ..हा..हा...! (वे सभी) समुदाय ज्ञेय है।

श्रोता :- कोई तेरा नहीं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- तेरा कोई नहीं ! आ..हा..हा...! क्या दिगंबर संतों की वाणी...! गज़ब है...!! प्रत्येक गाथा में सारा पूर्ण आत्मा का स्वरूप क्या है (सो) बताते हैं। प्रभु ऐसा कहते हैं (कि), असंख्य कालाणु द्रव्य हैं उनकी अनंती पर्यायें ! धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश - (वे सभी) (भले) एक द्रव्य (है) परंतु उसकी पर्यायें अनंत (हैं) और जीव अनंत हैं उनकी भी त्रिकाली अनंत पर्यायें! आ..हा..हा...! वे सब ज्ञेयरूप हैं। किसके ? किसी भी एक जीव के। सब जीवों का प्रश्न नहीं।

आ..हा..हा...! एक ओर एक जीव ज्ञाता (और) एक ओर प्रभु आत्मा-ज्ञाता राम ! और एक ओर लोकालोक ज्ञेय की अनंत पर्यायवाला गाँव-समूह ! `समुदाय' कहा था न ? `समुदाय'! आ..हा..हा...! उनमें जाननेवाला भगवानआत्मा एक है। कोई भी एक जीवद्रव्य ज्ञाता (है)। भले दूसरा ज्ञाता हो, तीसरा ज्ञाता हो... किन्तु यहाँ तो इनमें से एक लेना है। क्योंकि, सभी ज्ञाता-जीव हैं उन्हें भी यह जाननेवाला है। एक ज्ञाता ! अनंत ज्ञाता द्रव्य जो प्रगट केवली आदि हैं या अप्रगट शक्तिवाले जो हैं, उनकी तीनोंकाल की पर्याय हैं उनको जाननेवाला एक ज्ञाता है, आ..हा..हा...!

श्रोता :- बनियापन मिट गया !

पूज्य गुरुदेवश्री :- कहाँ बनिया था ! आ..हा..हा...! बनिया कब था ! जवान कब था ! औरत कब था ! पुरुष कब था ! आहा..हा...! वे तो जड़ की पर्याय हैं और आत्मा है सो वस्तु (है), यह सब सारा समुदाय (है) - एक ओर `गाँव' (है) (और) एक ओर एक जीव ज्ञाता (है) ! यह `राम' है ! `एक ओर राम और एक ओर गाँव'! आ..हा..हा...!

उसमें ऐसा कहना है कि, तेरे अलावा जो परमाणु हैं, आत्मा हैं, - उनका कुछ कर सके या उनकी रक्षा कर सके - यह वस्तु के स्वरूप में नहीं। यह तो ज्ञेय का जो पूर्ण समुदाय है, उसे एक आत्मा ज्ञातारूप जानता है वैसा आत्मा है। रुपये-धूल यह तो परज्ञेय हैं। धूल है सो ज्ञेय है, ऐसा कहा न यहाँपर ? पुद्गल कहा न ? पुद्गल है वह अनंत परमाणु का पिंड़ है। ऐसे जो अनंत परमाणु जगत के हैं... हीरा व नीलम व...! आ..हा..हा...! यह सब जड़ है और जड़ की तीनों काल की पर्यायें हैं-वे एक ओर पूरा समुदाय है। उनमें कोई एक जीव जाननेवाला है। सब होकर-मिलकर, ऐसे नहीं। कोई भी एक जीव ! सभी आत्माओं को, सब आत्मा की तीनकाल की पर्यायों को, इनसे अनंतगुना परमाणु के, इनसे अनंतगुनी पर्यायों को (जाननेवाला कोई एक ज्ञाता है)। आ..हा..हा...! अर्थात् क्या कहा ?

जो (जितनी) संख्या में परमाणु हैं, उनकी पर्यायें उनसे अनंतगुनी हैं ! आ..हा..हा...! एक

ओर भगवानआत्मा ज्ञाता है (और) एक ओर अनंत ज्ञेय का समुदाय (है), तीनकाल की पर्याय के समुदायवाला द्रव्य है। आ..हा..हा...! इसमें क्या हमें धर्म क्या करना ? भाई ! ऐसा कहते हैं कि, तू तो उन ज्ञेयों का ज्ञाता है ! आ..हा..हा...! यह भी व्यवहार संबंध से (कहने में आता है) ! आ..हा..हा...! यह कोई द्रव्य तेरा है और तेरे कारण वह आया है और उसकी तू रक्षा कर तो वह रहे, ऐसी कोई चीज (वस्तु का स्वरूप) नहीं। समझ में आया कुछ ? आहा...! इसमें क्या समझना ? ऐसा है यह सब !

(यहाँपर) कहते हैं, प्रभु ! एकबार सुन तो सही ! यह सब भंगार व हीरे और नीलम व चूना और पैसे, यह मकान व मोटरें, ये जगत की जड़ चीजें अनंत हैं। और वे अनंत चीज में प्रत्येक चीज की अनंत पर्यायें हैं। गतकाल की अनंत (पर्यायें हैं), वर्तमान की अनंत (हैं)। वर्तमान में भी अनंत हैं न ? अनंतगुण हैं तो अनंत पर्याय हैं, आ..हा..हा...! इनसे अनंतगुनी भविष्य में पर्याय हैं। ऐसा जो बड़ा पूर्ण ज्ञेय (का) समुदाय है उसे जाननेवाला भगवानआत्मा एक ज्ञाता है, समझ में आया कुछ ?

श्रोता :- इसमें तो कोई गरीब-अमीर का भेद रहा नहीं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- कौन गरीब और कौन अमीर ! कौन पैसेवाला और कौन निर्धन ! बापू! ऐसा कौन है, भाई ? आ..हा..हा...! इनसब पर्यायों का धरनेवाला जो द्रव्य है - परमाणु (हैं) और आत्मा की त्रिकाली पर्याय को धरनेवाले जो अनंत आत्मा हैं-वे सब अनंत आत्मद्रव्य और उनसे अनंतगुण परमाणु - उनमें पैसे व नोट व मकान सब आ गया। हीरे व नीलम यह सब इसमें आ गया, (इन सबका तू जाननेवाला है) ! आ..हा..हा...!

प्रभु कहते हैं - परमात्मा तीनलोक के नाथ ! जिनेश्वरदेव की दिव्यध्वनि में यह आया (कि), प्रभु ! तू एक ओर ज्ञाता है ! और एक ओर हम सब तेरे ज्ञेय हैं।

श्रोता :- वीतराग (प्रभु) भी ज्ञेय ?

समाधान :- हाँ... ! आ..हा..हा...! (प्रभु ऐसा कहते हैं कि) हम ज्ञाता हैं तो हम भी तुझे और सब ज्ञेय को जाननेवाले हैं। तेरे देव और तेरे गुरु हम नहीं, ऐसा कहते हैं ! आ..हा..हा...! वीतरागमार्ग सूक्ष्म बहुत, बापू ! लोगों को सुनने मिले नहीं...!

आ..हा..हा...! ऐसा जो द्रव्य और पर्याय का समुदाय (है) उसे एक जीवद्रव्य जाननेवाला है, (ऐसा) कहते हैं। समझ में आया कुछ ? यह भगवानआत्मा...! आहा...! है (अंदर) ? '**...यह समस्त (द्रव्यों और पर्यायों का) समुदाय ज्ञेय है।**' (अर्थात्) यह तो ज्ञान में जानने लायक

परज्ञेयरूप ज्ञेय है। आ..हा..हा...! `**उसी में...**' (अर्थात्) उन सभी पदार्थों में `**...एक कोई भी...**' आत्मा ! अनंत आत्मा हैं उनमें से कोई भी एक आत्मा लो ! आ..हा..हा...! यह `**...जीवद्रव्य ज्ञाता है।**' अर्थात् यह दूसरे जीव की दया का पालन कर सके या मार सके, यह प्रश्न नहीं। दूसरे जीवों को रख, यह प्रश्न ही नहीं। यह तो ज्ञान में ज्ञेयरूप (जो) अनंत (ज्ञेय) हैं, उनका तू जाननेवाला एक आत्मा है ! भाषा तो सरल है, परंतु बापू ! ऐसा कहाँ (मिलता) है, भाई ? आ..हा..हा...!

अरे..रे...! यह शरीर की जवान अवस्था हो यह तो मिट्टी की पुद्गल की अवस्था है, यह तो ज्ञान का ज्ञेय है, आ..हा..हा...! रूपवान सुंदर शरीर और पचास लाख या करोड़ों का सुन्दर मकान हो और पाँच-दस लाख का फर्निचर इस प्रकार लगा दिया हो ! कहते हैं कि, वे तो जगत के पुद्गल परमाणु हैं और उनकी वर्तमान पर्याय सहित उनकी त्रिकाली पर्याय हैं। वे तो ज्ञेयरूप हैं, आ..हा..हा...! इस शास्त्र के पन्ने भी ज्ञेयरूप हैं, (ऐसा) कहते हैं। अरे.. भगवान ! भूत-भविष्य की अनंत (पर्याय) इसमें हैं ! आ..हा..हा...! वे सब ज्ञान के ज्ञेय हैं। तू लिख सकता है या मिटा सकता है, ऐसा ज्ञान के स्वभाव में नहीं। आ..हा..हा...! तू ज्ञाता है ! (और) `वे हैं' उन्हें ज्ञेयरूप जाननेवाला है !

आ..हा..हा...! यह कहीं मिले वैसा नहीं। लोगों को बेचारे को बहुत कठिन लगता है ! इस ४६ गाथा का विरोध करते हैं (कि), `अध्यात्मी लोग व्यवहार को मानते नहीं !' अरे...! प्रभु ! सुन तो सही भाई ! यह सब ज्ञेय है यह आत्मा की अपेक्षा से व्यवहार है। स्व को जानना सो निश्चय है और पर को जानना सो व्यवहार है। (यह) व्यवहार नहीं है ? परंतु वह आदरणीय नहीं, आ..हा..हा...! आत्मा में दया, दान के परिणाम होते हैं वे ज्ञेय में जाते हैं (और) आत्मा उसका (जाननेवाला) ज्ञाता में आता है। आ..हा..हा...! उसकी जगह ऐसी खतौनी करना कि, दया, दान, व्रत के परिणाम हैं सो धर्म हैं ! धर्म तो (वह है कि) वह ज्ञेय है उसको जाननेवाला ज्ञान है, (उसे) ज्ञान में जाने, यह जाननेवाली पर्याय है सो धर्म है, आ..हा..हा...! है तो कठिन बात, प्रभु ! आ..हा..हा...!

अरे..रे...! अनंत काल में उसने सत्य क्या है (वह जाना नहीं) ! यहाँपर कहते हैं कि, तेरा सत्य तो उतना है, तेरा अस्तित्व उतना है... आ..हा..हा...! तेरे सत् का होने का अस्तित्व इतना है कि, अनंत आत्मा और अनंत परमाणु के पर्याय के समूहवाला पूरा समुदाय (है) उसे जाननेवाला तू है ऐसी तेरी ताक़त है !! आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ? यह मंदिर बनाना और भगवान

की प्रतिष्ठा करना, ये (सब) क्रिया ज्ञेय हैं। ये ज्ञेयरूप तू जान ! परंतु वे `मेरे (हैं)' और `मैं करता हूँ, ऐसा (मानना) स्वरूप में नहीं, (ऐसा) कहते हैं। आ..हा..हा...!

श्रोता :- व्यवहार को अपना नहीं मानेंगे तो पूजा कैसे की जा सके ?

समाधान :- कौन करता है...!? उस पूजा (में) स्वाहा... (होता है), वह भी ज्ञान का ज्ञेय है! उसमें विकल्प उठा है सो वह भी ज्ञान के ज्ञेय(रूप) समुदाय में जाता है। यह सब परज्ञेय समुदाय में जाता है। आ..हा..हा...! भगवान का मार्ग पचाना कठिन (है), बापू ! आ..हा..हा...!

श्रोता :- अनंत जीवों ने प्राप्त किया है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- किया है न ! मुक्ति में जाते हैं ! इस जीव को भी केवलज्ञान होगा उसकी पर्याय को भी इस समय जाननेवाले वे हैं, (ऐसा) कहते हैं। आगे (की गाथा में) आयेगा कि, एक को जाने सो सबको जाने। क्योंकि एक को जाने तो (वह) एक (जीव की) तीनोंकाल की जो पर्याय हैं, उनमें केवलज्ञान होनेवाला है और केवलज्ञान सादि-अनंत रहनेवाला है, इसका भी यहाँ ज्ञान होता है। यह `एक को जाने सो सर्व को जाने' वहाँ वह आयेगा। आ..हा..हा...! न्याय से तो कहने में आता है, भाई ! और क्या करे ? अब तो सब बदलाव हो गया है इसलिये अभी तो `चोर कोटवाल को दंडित करे' ऐसा कर डाला (है) ! सत्य बात बाहर आयी (तो कहते हैं कि) `एकांत है...एकांत है...!' बापू एकांत किस प्रकार है ? भाई ! (यह) है तो सम्यक् एकांत! आ..हा..हा...!

राग के परिणाम, विकारी पर्याय यह पुद्गल की पर्याय में जाती है ! आ..हा..हा...! यह सब समुदाय, द्रव्य और द्रव्य की पर्याय का समुदाय (ज्ञाता का ज्ञेय है)। भाषा तो प्रभु ! सरल है ! प्रभु ! तू अंदर सरल है, भाई ! आहा...! यह अनंत द्रव्य और अनंत पर्याय का समुदाय, इसमें कौन सा आत्मा शेष रहा ? कौन सा परमाणु शेष रहा ? किस आत्मा की और (किस) परमाणु की पर्याय ज्ञेय में शेष रही ? आ..हा..हा...! उस ज्ञेय में आत्मा का `यह करना', यह कहाँ आया? (अर्थात्) आत्मा राग को करे और शरीर को करे यह इसमें कहाँ आया ? आ..हा..हा...!

आ..हा..हा...! प्रभु ! `एक ओर राम और एक ओर गाँव', `गाँव' यानी समुदाय। अनंत परमाणु और अनंत आत्मा - (वह) द्रव्य और उसकी पर्यायें, वे सब ज्ञेय का समुदाय है। प्रभु तू ! उसका एक ज्ञाता, जाननेवाला भिन्न है, बस...! उसे जाननेवाले की तरह (रहे) ! पर में हेर-फेर करना (यह तेरा स्वभाव नहीं) ! आ..हा..हा...! अपनी पर्याय भी जो क्रमशः होती है... आ..हा..हा...! उसे भी जाननेवाला ज्ञातारूप है ! आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ?

केवलज्ञान की पर्याय होगी तब तो लोकालोक है यह उसका प्रत्यक्ष ज्ञेय है। यह केवलज्ञान आदि पर्याय का समुदाय स्वयं आत्मा है। परंतु यह सब वास्तव में तो एक ज्ञाता का वर्तमान ज्ञेय है, आ..हा..हा...!

श्रोता :- इसमें किस चीज को अपनी माने ?

समाधान :- कोई (तेरा) नहीं, बापू !

(यहाँपर) कहते हैं कि, कोई भी एक जीवद्रव्य लो ! आ..हा..हा...! यह ज्ञातारूप जाननेवाला (है) ! स्वयं तो जानता (है), यह आगे कहेंगे (कि, जो एक को जानता है सो सर्व को जानता है)। यहाँ तो (जो सर्व को जानता है सो एक को जानता है, ऐसा कहना है) आ..हा..हा...! ऐसे ज्ञेय पदार्थ को (तू जाननेवाला है)। प्रभु ! तेरे बड़प्पन की कोई सीमा नहीं, भाई ! किन्तु बड़प्पन किसका ? `जानने-देखने की' ! इतना तेरे जानने का बड़प्पन है कि, एक समय में तीनकाल के अनंत द्रव्य और अनंत पर्याय को जानना, ऐसा तेरा स्वरूप है !! भले छद्मस्थ को जानने में थोड़ा क्रम पड़ता है फिर भी तेरे ज्ञान का वास्तव में तो एक समय में श्रुतज्ञान में भी, अनंत द्रव्य और पर्यायों का समुदाय को भगवान जाननेवाला है, आ..हा..हा...!

अब इसमें (अज्ञानी ऐसा माने कि), `ये मेरे बेटे और ये मेरी बेटियाँ और...' आ..हा..हा...! `अपने घर के मुताबिक अच्छे ठिकाने लगाये वरना शोभा क्या ? और सामान्य (घर की) बेटी ले तो भी (अपनी) शोभा क्या ? अच्छे (घर की) बेटी आये तो अपनी शोभा कही जाय...!' मार डाला...! आत्मा ज्ञाता है (और वह) उसका ज्ञेय है, वैसे नहीं मानना, कुछ पर का करें ऐसा माना है, यह तो उसने ज्ञाता का नाश कर डाला !! आ..हा..हा...! ऐसी बात...! फिर `सोनगढवाले' को (लोग) बेचारे ऐसा कहे कि, (व्यवहार को नहीं मानते)। क्योंकि, दया करो और दान करो और भक्ति करो... (इन्हें लोग ऐसा कहते हैं कि) `धर्म है ! (ऐसा) व्यवहार है...!' परंतु व्यवहार है उसे किसने ना कही ? व्यवहार है सो ज्ञेय है। यहाँ तो उसका भी निषेध आया है ! पहले निश्चय हो तो व्यवहार (नाम मिलता है)। (तो कहते हैं कि) `ऐसा नहीं...! व्यवहार हो तो निश्चय (होता है) !' `पहले बेटा तो पीछे बाप' ऐसे नहीं ! ऐसा कहते हैं। `पहले बेटा पीछे बाप, ऐसे नहीं। पहले बाप पीछे बेटा !' ऐसा लिखा है। अरे... सुन तो सही बापू...! एक (लेख में) ऐसा लिखा है कि, `पहले बाप हो तो पीछे बेटा होता है न !' इस प्रकार। खूब आया है ! अरे... प्रभु ! क्या कहता है, भाई ? (परपदार्थ) ज्ञेयरूप है इसमें भक्त मेरा और गुरु मेरा ! ऐसा है कहाँ ? आ..हा..हा...! `ये गुरु मेरे और ये देव मेरे' यह वस्तु में कहाँ है ? आ..हा..हा...!

भगवान सर्वज्ञ, परमात्मा जिनेश्वरदे का यह हुक्म है ! उन्होंने यह जाना है कि, द्रव्य और पर्याय का जो पूरा समुदाय है, उसमें एक जीव-तू तेरा ज्ञाता है ! आ..हा..हा...! `मेरे' मानने लायक नहीं, उसका कुछ करने लायक नहीं, इससे तुझमें कुछ हो, ऐसा नहीं। मात्र ज्ञातारूप वह ज्ञेय है, वह ज्ञेयरूप यहाँ ज्ञात होता है ! आ..हा..हा...! यह भी अभी व्यवहार हुआ ! क्या करे परंतु अभी तो यह सिद्ध करना है न ! आ..हा..हा...!

यहाँ तो सिद्ध करना है न ! कि, ज्ञानस्वरूप में जो अनंत वस्तु हैं, वे यहाँ जानन स्वभाव के कारण जानने में आती है। इससे वे ज्ञेय हैं, इतना सिद्ध करना है। आहा...! वे पर `मेरे' यह भी (स्वरूप में) नहीं और पर की दया का पालन करूं या पर को मार सकूँ या रक्षण करूं... आ..हा..हा...! भूखों को आहार दूँ, प्यासे को पानी दूँ, रोगी को औषध दूँ - ये चीज वस्तु में नहीं, (ऐसा) कहते हैं। ये तो सब ज्ञेयरूप, ज्ञान-ज्ञाता जाने ऐसा वह है। आ..हा..हा...! ऐसा स्वरूप...! किसकी माँ और किसका बाप ? किसकी पत्नी और किसका पति ?

श्रोता :- वह तो मर जायें तब ऐसे ही कहते हैं - कौन किसका था !

पूज्य गुरुदेवश्री :- यह तो बाद में (ऐसी सब) बातें करे...! आ..हा..हा...! भगवान की वाणी बहुत संक्षिप्त है ! आ..हा..हा...! दिगंबर संत जगत में जाहिर करते हैं कि, सर्वज्ञ परमात्मा ऐसे कहते थे कि, जगत के जो अनंत परमाणु और आत्मा (हैं) उनकी जो पर्याय होती हैं, उनकी हो चुकी और (जो पर्यायें) होंगी, उनमें तू एक ज्ञाता है ! बापू ! उनका रक्षण करनेवाला नहीं, उन्हें तोड़नेवाला नहीं, उन्हें बनानेवाला नहीं... आ..हा..हा...! उन्हें `मेरे'रूप मानने (का स्वभाव) ज्ञेय में भी नहीं और तेरे में भी नहीं। आ..हा..हा...! इतने में ही कितना भरा पड़ा है !! आ..हा..हा...!

चक्रवर्ती का राज ! ९६ हजार स्त्री, ७२ हजार नगर, ४८ हजार शहर, ९६ करोड़ गाँव! आ..हा..हा...! नव निधान ! १६ हजार देव ! (यहाँपर) कहते हैं कि, भाई ! प्रभु ! यह छोटा समुदाय कहा, यह छोटा समुदाय सो ज्ञेय है और तू एक ज्ञाता है ! और यह जगत का बड़ा समुदाय अनंत परमाणु, अनंत जीवों की भूत, भविष्य की हो रही अवस्था, यह सारा समुदाय एक तरफ ज्ञेय है, तू ज्ञाता है ! बस...! और कोई बात नहीं। आ..हा..हा...! यह बात यदि न बैठे तो उसे `आत्मा' बैठा नहीं। वैसे परवस्तु कैसी है, यह (बात) भी बैठी नहीं। विपरीत मान्यता है।

आ..हा..हा...! क्या वाणी...! परमात्मा त्रिलोकनाथ ! कितना समाविष्ट किया (है) !! किसमें कि, यह समस्त `**...(द्रव्यों और पर्यायों का) समुदाय ज्ञेय है। उसी में एक कोई भी जीवद्रव्य...**' समस्त जीवद्रव्य ज्ञाता हैं, वे तो भले हो ! परंतु वह प्रत्येक ज्ञाता सर्व का ज्ञाता है!

यहाँ ऐसा लेना है। एक-एक जीव कोई भी लो ! अनंत जीव जो हैं और अनंत जीवों की जो त्रिकाली पर्याय हैं, वर्तमान केवलज्ञानी भगवान बिराजते हैं, यह केवलज्ञान और उसकी त्रिकाली पर्याय हैं ! आ..हा..हा...! उसका कोई भी एक ज्ञाता (है)। (यह ज्ञाता) है और यह ज्ञेय (है) ! आ..हा..हा...!

इस शरीर के यह सब रजकण और उनकी यह वर्तमान पर्याय, उनमें भूत(काल की) पर्याय हो गई, इस परमाणु में तो बिच्छू के डंक की भी पर्याय हुई थी, सर्प के विष की पर्याय भी हुई थी... आ..हा..हा...! और इन परमाणुओं (की पर्याय) शक्कर की पर्यायरूप भी हुई थी, आहा..हा...! और यह परमाणु अब किसी भी समय बिच्छू के डंकरूप भी होगी, शक्कर की पर्यायरूप होगी। भूत-भविष्य की पर्याय का समुदाय, तत्त्व और उसकी पर्याय का समुदाय (है) वह ज्ञेयरूप है जानने लायकरूप है। तू जाननेवाला भिन्न एक है, बस...! आ..हा..हा...! किस प्रकार गले में निगले ?

(कोई पंडित ऐसा कहते हैं कि) `पर का कर्ता न माने (तो) वह दिगंबर जैन नहीं !' अरे भगवान ! बापू ! तू स्वयं को नुकसान करता है, भाई ! आ..हा..हा...! करने की तो बात भी नहीं है, परंतु वे मेरे हैं, ऐसा मानना वह भी उसमें नहीं, आ..हा..हा...! शरीर के प्रत्येक रजकण पुद्‌गल हैं और उनकी वर्तमान बनती अवस्था और भूत-भविष्य (की सब अवस्थाएँ) और यह अक्षरों की - यह पुद्‌गल की (अवस्थाएँ), वे सभी द्रव्य और उनकी त्रिकाली पर्याय का सारा समुदाय एक तरफ ! प्रभु ! वह ज्ञेयरूप - जाननेरूप है और तू उसका जाननरूप है। वह भी व्यवहार संबंध है। परज्ञेय और आत्मा ज्ञाता ! आ..हा..हा...! यहाँ तो सिद्ध यह करना है न ! कि, (जो) सर्व को जानता है सो एक को जानता है, ऐसा सिद्ध करना है न ? आ..हा..हा...!

वहाँ ४७ शक्ति में तो यह लिया भाई ! `सर्वज्ञ शक्ति' आ..हा..हा...! सर्व को जानना यानी कि यह आत्मज्ञान है - आत्मज्ञ है। सर्व को जाना इस कारण सर्व पर आये, ऐसा नहीं ! आ..हा..हा...! यह सर्वज्ञ जो है सो आत्मज्ञ है। यह पर्याय आत्मा की है। शक्ति है न ? `सर्वज्ञ, सर्वदर्शी' ! आ..हा..हा...! प्रभु ! तेरा पार नहीं ! आ..हा..हा...!

(यहाँपर चलते विषय में) दृष्टांत देते हैं। `**...जैसे समस्त दाह्य को दहकती हुई अग्नि समस्त-दाह्यहेतुक (-समस्त दाह्य जिसका निमित्त है ऐसा) समस्तदाह्याकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक दहन जिसका आकार (स्वरूप) है ऐसे अपने रूप में (-अग्निरूप में) परिणमित होती है,...**' क्या कहा ? अग्नि जो है सो दाह्य (यानी कि) जो ज्वलनशील पदार्थ है,... है ? समस्त

दाह्य ज्वलनशील पदार्थ है... दाह्य यानी ज्वलनशील उसे दहता-जलाता `**...समस्तदाह्यहेतुक (-समस्त दाह्य जिसका निमित्त है ऐसा) समस्तदाह्यकारपर्यायरूप...**' (अर्थात्) अग्नि जलने के आकार - पर्याय से परिणमित `**...सकल एक दहन जिसका आकार (स्वरूप) है...**' (यानी) यह अग्नि ही इसका स्वभाव है ! आ..हा..हा...! दहना-जलाना यही उसका स्वरूप है ! आ..हा..हा...! जलने योग्य को अग्नि जलाती अग्नि, यह अग्नि का स्वरूप है, आ..हा..हा...! अग्नि जलने के आकार से परिणमित हो गई है, यह अग्नि की पर्याय है। आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ? `अव्वल दर्जे' की बातें हैं, भाई !

अरे..रे...! अनंतकाल बीता...! आ..हा..हा...! यहाँ अरबपति कहलाता हो (किन्तु) सम्यग्दर्शन नहीं - आत्मभान नहीं और ऐसा पुण्य भी नहीं कि, चार-चार घँटे सही सत्समागम वाचन (हो) तो पुण्य भी बंधे, आ..हा..हा...! एकाध घँटे कुछ करे, वह कहाँ जाय, बापू ? `निहाई की चोरी और सुई का दान' ! अरे..रे...! यह देह छूटकर कहाँ जायेगा ? भाई ! आहा...! वह तिर्यंच के शरीर में अवतार ले ! अर..र..र...! कषाय किया है न ! कषाय ही किया है ! यह किया... और यह किया... और यह किया... और यह किया... अरे..रे..रे...! (ऐसा करके) स्वरूप विपरीतता की है ! विपरीतता ज्ञेय है (और स्वयं इसका) ज्ञाता है, ऐसा जाना नहीं। यह `विपरीतता मैंने की है और मेरी है...' आ..हा..हा...! (ऐसी मान्यता में) तिर्यंच के अवतार होते हैं, भाई ! इसके नियम ऐसे हैं बापू ! कुदरत के नियम को कोई बदल नहीं सकता। वहाँ किसी की... क्या कहते हैं ? सिफारिश...सिफारिश...! आपलोगों की भाषा भी भूल जाते हैं ! वहाँ किसी की सिफारिश काम नहीं आयेगी ! आ..हा..हा...! कठिन मार्ग, बापू ! प्रभु ! त्रिलोकनाथ ! ये वीर के मार्ग भिन्न हैं, भाई ! आ..हा..हा...!

यह यहाँ कहते हैं (कि), अग्नि - जैसे दाह्याकार पर्याय से परिणमित दहन वह अग्नि का स्वरूप है, ऐसे अपनेरूप परिणमित होती है। (यह) अपनेरूप परिणमित हुआ है। `**...वैसे ही समस्त ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञाता...**' आ..हा..हा...! (जैसे) समस्त जलने योग्य को जलाता अग्नि अग्निरूप है। `**...वैसे ही समस्त ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञाता (-आत्मा) समस्तज्ञेयहेतुक...**' (अर्थात्) सर्व ज्ञेय जिस में निमित्त हैं। ऐसा समस्त ज्ञेयाकार से (परिणमित) पर्याय `**...समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक ज्ञान जिसका आकार (स्वरूप) है...**' आ..हा..हा...! (सकल यानी) सारा, परिपूर्ण। (यह) आत्मरूप होता (हुआ) परिणमित होता है, आ..हा..हा...! `**...ऐसे निजरूप से - जो चेतनता के कारण स्वानुभवप्रत्यक्ष है उस-रूप -**

परिणमित होता है।' वह तो स्वयं अपनेरूप स्वानुभवरूप से परिणमित हुआ, (ऐसा) कहते हैं। जैसे दाह्याकार ज्वलनशील जो वस्तु है उस-रूप अग्नि हुई है। वैसे जानने लायक वस्तु है इस ज्ञानाकाररूप ज्ञान स्वयं हुआ है, आ..हा..हा...! समझ में आया ?

`**...निजरूप से - जो चेतनता के कारण स्वानुभवप्रत्यक्ष है उस-रूप - परिणमित होता है।** आ..हा..हा...! ज्वलनशील पदार्थों को जलाती अग्नि, अग्निरूप है, वैसे ज्ञेयाकार (-ज्ञेय जिन में) - ज्ञानाकार में निमित्त है, वैसा ज्ञेयाकाररूप से परिणमित ज्ञान सो आत्मा-ज्ञान है, वह चेतन है, आ..हा..हा...! यह ज्ञाता भिन्न है और वह ज्ञेय भिन्न है। विशेष कहेंगे...

(**दिनांक २२-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-४७**)

क्या कहते हैं ? देखो ! इस जगत के भीतर छः द्रव्य हैं। छः द्रव्य ! और उनके अनंत गुण ! और उनकी तीनकाल की पर्यायें ! ये सब ज्ञेय हैं। इस आत्मा में, छः द्रव्य जो भिन्न हैं और उनके गुण और उनकी त्रिकाली पर्याय हैं-वह सब समुदाय ज्ञेय है। और उस ज्ञेय का जाननेवाला यह ज्ञान है। उस ज्ञान में जो त्रिकाली द्रव्य, गुण, पर्याय के ज्ञेयाकार हैं - वे ज्ञेयाकार जिसमें हेतु है, वैसे ज्ञानाकाररूप परिणमित होना यह जीव का - आत्मा का स्वभाव है। समझ में आता है कुछ ?

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। और आत्मा के आलावा दूसरी सारी दुनिया... अरे...! अनंत केवली, सिद्ध और तीर्थंकर आदि जो हैं, वे सब ज्ञेय हैं। उन ज्ञेय की जो तीनकाल की पर्याय हैं ऐसा उन ज्ञेय का समुदाय, जिसमें (यह) ज्ञेयाकार हेतु है - निमित्त (है), ऐसा जो ज्ञान का परिणमन, ऐसा पूर्ण ज्ञान का परिणमन - उसका नाम `आत्मा' कहने में आता है। सारा ज्ञेय समुदाय द्रव्य (है), उसमें कोई ज्ञेय `मेरा है', ऐसा आया नहीं।

ज्ञानस्वभाव जो भगवानआत्मा ! यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि, `सर्व को जानता है सो एक को जानता है !' यह सिद्ध करना है। `एक को जाने सो सर्व को जानता है' यह आगे आयेगा। क्यों ? कि, यह सारा समुदाय-अनंत केवली, सिद्ध, अनंत निगोद के जीव, उनसे अनंतगुने पुद्गलों की तीनकाल की पर्यायें, एक तरफ यह सारा-सब समुदाय ज्ञेय है और एक

तरफ उसका ज्ञान करनेवाला भगवानआत्मा जाननहार है, आहा...! समझ में आता है ? यहाँतक आया है, देखो ! `**...जीवद्रव्य ज्ञाता है... समस्त** (**द्रव्यों और पर्यायों का**) **समुदाय ज्ञेय है। उसी में एक कोई भी जीवद्रव्य ज्ञाता है।**' कोई भी जीव ! कोई भी (माने) कोई भी सर्व जीव ऐसे नहीं। (परंतु) एक-एक आत्मा ज्ञाता है ! आ..हा..हा...!

अन्य रीति से कहे तो जगत के सब ज्ञेय पदार्थ-तीनकाल की पर्याय सहित (जो हैं), उनमें आत्मा को (किसी पदार्थ में) सुख है, ऐसा उसमें कोई ज्ञेय नहीं। यह ज्ञेय जाननेलायक है, ऐसा ज्ञेय है। वैसे इन ज्ञेय में दो भाग नहीं कि, यह इष्ट है और यह अनिष्ट है। आहा...! यह तो सारा समुदाय, इस आत्मा के ज्ञानरहित सब-पूर्ण समुदाय ज्ञेयरूप है, आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ?

श्रोता :- बेटे-बेटी ज्ञेय हुई!

पूज्य गुरुदेवश्री :- बेटा-बेटी थे कभी ? यह तो कल कहा था न ? (कि) सब ज्ञेय हैं, आहा..हा...! यह शरीर, वाणी, मन, कुटुंब-कबीला, बेटे-बेटियाँ, बहू - वे सभी ज्ञेय समुदाय में जाते हैं। `वे मेरे हैं' (ऐसा मानना) ऐसा ज्ञान का कोई स्वरूप नहीं ! आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ?

श्रोता :- लग्नग्रंथि से तो जुड़ता है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- यह तो मानता है ! जुड़ा कौन ? कौन जुड़ाता था ? ये शादी में जुड़ते हैं, (ऐसा) कहते हैं ! (परंतु) कौन जुड़ता है ? वह ज्ञेय है ! यह गजब बात...! बापू ! आ..हा..हा...! विषय की सामग्री-इन्द्रियाँ और उनके सब निमित्त ज्ञेय में जाते हैं, आहा..हा...! उनमें कोई मेरा है, उसमें वैसा नहीं। वैसे कोई ज्ञेय इष्ट है और कोई अनिष्ट है, ऐसा नहीं। आ..हा..हा...!

श्रोता :- सयाने बेटे हो तो भी ज्ञेय कहेंगे ?

समाधान :- कौन सयाना ? धूल में सयाना किसे कहें ? (बड़ी) तनखा है इस कारण (सयाना) कहा जाय क्या ?

आ..हा..हा...! यहाँपर तो केवलज्ञान की बात चलती है किन्तु श्रुतज्ञान में भी वैसा है ! आ..हा..हा...! टोटल तो वहाँ ले जाना है न ! जब इस जगत में सब पदार्थ - केवली, सिद्ध, गुरु, देव, शास्त्रों... आ..हा..हा...! यह सब ज्ञेय समुदाय है ! उसमें कोई `मेरा है', ऐसा किसी ज्ञेय में स्वभाव नहीं, आहा..हा...! वैसे ज्ञान में यह ज्ञेय जानने में आता है, जिसके ज्ञान के परिणमन में ज्ञेयाकार (ऐसे) जीव (और अन्य) द्रव्य आदि हैं वे निमित्त हैं। ज्ञान का परिणमन अपने से है,

आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ? उन ज्ञेयाकाररूप ज्ञानाकार होते हैं यह तो ज्ञेय को जानने का ज्ञान का स्वभाव है इस कारण यह ज्ञेयाकाररूप ज्ञान परिणमित होता है। यह ज्ञेयाकाररूप ज्ञान परिणमित होता है यह ज्ञेयाकार नहीं, वास्तव में ज्ञानाकार है ! आ..हा..हा...!

अन्य रीति से कहे तो - श्रुतज्ञान जो है - भावश्रुतज्ञान ! (उसमें) वह व्यवहार के जो दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम से लेकर (शेष सभी द्रव्य) ज्ञेय समुदाय हैं, आ..हा..हा...! भगवानआत्मा ! (अपने) स्वभाव के लक्ष से अपना ज्ञान - भावश्रुतज्ञानरूप (जो) परिणमित होता है उस श्रुतज्ञान (के) परिणमन में ज्ञानी को भी जो रागादि होते हैं, उन राग से लेकर सारी दुनिया - ज्ञेय समुदाय है, आ..हा..हा...! मात्र केवलज्ञान में, प्रत्यक्षरूप है, श्रुतज्ञान में परोक्षरूप है। पर की अपेक्षा से (परोक्षरूप है), स्व का प्रत्यक्षरूप है। क्या कहा ? भाई ! समझ में आता है कुछ ? तत्त्वदृष्टि भगवान ! बहुत कठिन ! आहा...!

आहा...! किसी जीव को मार सकता हूँ या जिंदगी दे सकता हूँ ऐसा (स्वरूप) किसी ज्ञेय में नहीं, (और) यहाँ ज्ञान में नहीं, आहा..हा...! यह सारी दुनिया ज्ञेय समुदाय (है)। `एक ओर राम और एक ओर गाँव !' `गाँव' यानी राग से लेकर सारी दुनिया का समूह ! पंचपरमेष्ठी भी ज्ञेय में जाते हैं। यह पंच परमेष्ठी ज्ञान में ज्ञेय हैं। यह ज्ञेय, ज्ञान की चीज नहीं। यह ज्ञेय है सो ज्ञान की चीज नहीं, आहा..हा...! परंतु वह ज्ञेयाकार ज्ञान स्वयं अपने से परिणमित होता है, वैसा जो ज्ञान सबको जाननरूप परिणमित हो यह ज्ञानाकार ज्ञान(रूप होना) ऐसा ज्ञान का स्वभाव है, आ..हा..हा...! इसमें तो यह भी उड़ जाता है कि, व्यवहार हो तो निश्चय हो, निमित्त से हो-ये सब बातें उड़ जाती हैं ! क्योंकि व्यवहार और सब निमित्त ज्ञेय समुदाय में हैं, आ..हा..हा...!

श्रोता :- पंचपरमेष्ठी तो ज्ञेय हैं परंतु राग तो हेय है न ?

समाधान :- राग भी हेय की तरह ज्ञेय है ! परमेश्वर भी हेय की तरह ज्ञेय हैं ! हेय (हैं), परंतु अभी (हेय का) काम नहीं। अभी तो इतना कि, एक ओर भगवानराम - आतमराम और एक ओर राग से लेकर सारा-सब समुदाय ज्ञेय ! बस...! `गुजराती' समझते हैं थोड़ा थोड़ा ? आ..हा..हा...!

आ..हा..हा...! यह शब्द यहाँ आया। `**इसप्रकार यह समस्त** (**द्रव्यों और पर्यायों का**) **समुदाय ज्ञेय है।**' बीच में है ? `**उसी में एक कोई भी...**' `एक कोई भी' (अर्थात्) (कोई भी) एक जीव का, सब जीवों का नहीं। कोई भी एक जीव का द्रव्य ज्ञाता है, आहा..हा...! भगवान का

आत्मा ले तो भी वह ज्ञाता है और सब जीव और सारा द्रव्य-पर्याय (का) समुदाय ज्ञेय है। यह आत्मा ले तो भी यह आत्मा ज्ञान-ज्ञाता है और इसके अलावा राग से लेकर दया, दान का विकल्प उठा, विषय वासना की वृत्ति उठी - वहाँ से लेकर सारी दुनिया - पंचपरमेष्ठी आदि यह ज्ञान का ज्ञेय है ! आहा..हा...! और परज्ञेयाकार में परज्ञेय हैं इस प्रकार से ज्ञानाकार परिणमन होता है, जिस में ज्ञेयाकार हेतु-निमित्त है, आ..हा..हा...! ये सब पैसे और मकान और सब ज्ञेय हैं, ऐसा कहते हैं !

श्रोता :- हम ज्ञेय कहे तो भी वे कोई हमारे मिट थोड़े जानेवाले हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- कब उसका था ? यह ज्ञेय (कि) जो जाननेलायक समुदाय है उसमें बटवारा करे कि, `ये मेरे' और `ये तेरे' - (वह) मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि वस्तु की स्थिति से वह विपरीत मानता है, आ..हा..हा...! गजब काम है !! शास्त्र की एक-एक गाथा...! दिगंबर संतों की वाणी कोई अलौकिक है !! ऐसी वाणी कहीं भी है नहीं ! समझ में कुछ आता है ? आ..हा..हा...! ऐसा आप लोगों ने सुना था ? खबर थी अब तक ? कहीं सुना था ? आहा... ! यह सारा ज्ञेय समुदाय है, उसमें एक ही जीवद्रव्य ज्ञाता है।

`**अब यहाँ, जैसे...**' यह दृष्टांत आ गया था, पुनः (कहते हैं)। `**...जैसे समस्त दाह्य को दहकती हुई अग्नि समस्त-दाह्यहेतुक (-समस्त दाह्य जिसका निमित्त है ऐसा) समस्तदाह्याकारपर्यायपरूप परिणमित...**' (अर्थात्) जलनेलायक काष्ट, उपला आदि जो ज्वलनशील दाह्य हैं उनके आकार से परिणमित `**...एक दहन...**' अग्नि जिसका स्वभाव है। (अर्थात्) दाह्य जो जलनेलायक (पदार्थरूप) अग्नि परिणमित होता है सो अग्नि है, आहा..हा...! दाह्याकार-दाह्य काष्ट, उपले आदि जलने योग्य हैं, वे दाह्य जलनेलायक हैं, उनके आकार से अग्नि उन्हें जलाकर अग्नि उन आकाररूप होती है - दाह्याकार होती है, यह (वास्तव में) अग्नि है। समझ में आया कुछ ? आ..हा..हा...!

`**...दाह्य को दहकती हुई अग्नि समस्त दाह्य-हेतुक...**' (अर्थात्) अग्नि होती है, उसमें जलनेलायक दाह्य जिसमें निमित्त है ऐसे `**...समस्तदाह्याकारपर्यायरूप परिणमित...**' दाह्य आकार पर्याय से परिणमित सकल एक अग्नि जिसका स्वरूप है... `**ऐसे अपने रूप में (-अग्निरूप में) परिणमित होती है,...**' आ..हा..हा...! क्या कहा ? कि, अग्नि किसे कहे ? कि, अग्नि उसे कहे कि, जो समस्त जलनेलायक दाह्य है उसके आकाररूप अग्नि स्वयं परिणमित होती है, वह अग्नि का स्वरूप है। उसे अग्नि कहेंगे, आहा..हा...! समझ में आता है कुछ ?

व्यापारी को (व्यापार में ऐसा) कोई तर्क न मिले ! सारा दिन बही-किताब ! वही के वही नाम और वही के वही ठिकाने ! वही के वही धंधे और वही के वही नाम ! उनमें कोई तर्क (न मिले) ! आहा..हा...!

यहाँ परमात्मा त्रिलोकनाथ के 'प्रवचन' हैं न ये ? प्र + वचन = प्र (अर्थात्) दिव्य वचन। दिव्यध्वनि द्वारा आई हुई जो वाणी उसकी इसमें रचना हुई है ! प्र + वचन ! आहा..हा...! दिव्यवचन !! त्रिलोक के नाथ सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि ! वह भी निमित्त से कथन है। दिव्यध्वनि भी ज्ञेय है। वह सब ज्ञेय समुदाय ज्ञान में ज्ञेयरूप हेतु-निमित्त है। इस तरह आत्मा स्वयं सब ज्ञेय को जाननरूप परिणमित होता है - वह आत्मा ! ऐसे जलनेलायक काष्ट आदि को जलाती अग्नि, सभी दार्य के जलानेरूप अग्नि, जिसमें अग्नि का परिणमन हुआ, उसमें दाह्यकार निमित्त है। वैसे परिणमित हुई है अग्नि ! उसे अग्नि कहेंगे। आ..हा..हा...! (ऐसा सुनकर) बेचारों को ऐसा (कठिन) लगे...! क्या करे ? सुना नहीं है उसने ! आहा..हा...!

क्या कहते हैं ? जलनेलायक जो दाह्य है, उस रूप अग्नि स्वयं दाह्याकाररूप परिणमित होती है सो अग्नि (है)। वह अग्नि ! वह अग्नि का रूप है। ऐसे ज्ञेयआकार-जगत में जितने ज्ञेय हैं - अनंत सिद्ध, अनंत निगोद और अनंत स्कंध और अनंत परमाणु - ये सब ज्ञेय और (उनकी) तीनकाल की पर्यायें, ये ज्ञेय के आकाररूप ज्ञान परिणमित होता है। क्योंकि उसका ज्ञान है जो सबको जाननेवाला है। उन सबको जाननेवाला (ज्ञान) यदि इस प्रकार न हो तो वह एक को भी जानता नहीं। क्योंकि एक स्वयं है वह सबको जाननरूप परिणमित (स्वयं) एकरूप है। वह यदि सबको जाननरूप परिणमित नहीं होता - जानता नहीं तो वह एक को भी जानता नहीं। भाई! यह गाथा (का विषय) यह है। 'एक को जानता है सो सर्व को जानता है' यह आगे कहेंगे। यहाँ तो 'सबको जानता नहीं है वह एक को जानता नहीं है', (यह सिद्ध करना है)।

क्यों (ऐसा कहा) ? (क्योंकि) जो अग्नि दाह्य (ऐसे) सब को ज्वलनशील को जलाती अग्निरूप से न हो (तो) वह अग्नि नहीं। ऐसे ज्ञेयाकार - जगत की अनंत चीजें ज्ञेयाकार, ज्ञान के परिणमन में निमित्त-हेतु है...! 'हेतु' कहा न ? 'दाह्यहेतुक' ! '**...वैसे ही समस्त ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञाता (-आत्मा) समस्त ज्ञेयहेतुक...**' है ? आ..हा..हा...! सूक्ष्म बात है, भाई ! यह तो भगवान की वाणी...! बापू ! यह को कहानी-कथा नहीं है, आ..हा..हा...!

प्रभु ! तू कौन है ? कहाँ है ? ऐसा कहते हैं। और आत्मा किसे कहते हैं ? (यह कहते हैं)। आहा..हा...! कि, ज्वलनशील जो दाह्य है उसे जलाकर अग्नि उस रूप - उस आकाररूप होती

है, सो अग्नि का रूप है। ऐसे ज्ञेयाकाररूप ज्ञान में परिणमित होना, यह ज्ञान के - परिणमन में ज्ञेयाकार निमित्त है, ऐसा जो (ज्ञान का) परिणमन सो 'आत्मा' है। वह आत्मा है ! आहा...! जो सबको जानता नहीं वह आत्मा को जानता नहीं। यानी कि जो सब ज्ञेय हैं वे ज्ञेयाकार ज्ञान के परिणमन में निमित्त हैं और ऐसा परिणमन यहाँ है। ऐसा परिणमन यहाँ है। ऐसा परिणमन (जिसे नहीं) यानी जो सबको जानता नहीं वह एकरूप आत्मा है उसे भी जानता नहीं, आ..हा..हा...! ऐसी बातें...! वह तो एकदम सरल था ! यात्रा करना, भक्ति करना, पूजा करना, दया का पालन करना...! अरे...! भाई...!

आ..हा..हा...! यहाँ तो कहते हैं कि, जो समस्त ज्ञेय का समुदाय है उसे जाननरूप ज्ञान परिणमित होता है उसमें वह ज्ञान निमित्त-हेतु है, परंतु परिणमन तो उपादान स्वयं का है। सबको जाननरूप परिणमन है ऐसा ही उसका स्वभाव है। यदि सबको जाने नहीं तो एकरूप आत्मा हुआ है उसे भी जानता नहीं। उसे जानने की पर्यायरूप (परिणमित हुआ) वह तो आत्मा है, ऐसा कहते हैं। सूक्ष्म बातें बहुत, बापू ! दिगंबर संतो की वाणी...! आ..हा..हा...! जगत में कही भी है नहीं !! दिगंबर में पैदा हुए उन्हें भी ख़बर नहीं तो अन्यत्र तो है कहाँ ? आ..हा..हा...! यह कोई संप्रदाय नहीं। यह तो वस्तु का स्वरूप है।

जगत के छः द्रव्य और अनंतगुण की त्रिकाली पर्यायें - ऐसी जो अस्ति है, यह ज्ञेय समुदाय की अस्ति है। उसे कोई भी एक जीव ज्ञाता वह ज्ञानरूप - उसके आकाररूप परिणमित हो (तो) उसके ज्ञान परिणमन में वह निमित्त है। उपादान-ज्ञान का परिणमन सबको जानने का उसका स्वभाव है। तो यह सबको जानने के स्वभावरूप परिणमित हुआ (और) सबको जाने तो स्वयं एकरूप हुआ। सबको जाननरूप एक ज्ञायक हुआ है। समझ में आया कुछ ? भाषा तो (सरल है)।

यह तो प्रभु का मार्ग है ! तीनलोक के नाथ ! आ..हा..हा...! परमेश्वर की यह वाणी है !! संत तो आढ़तिया होकर जगत को जाहिर करते हैं ! आ..हा..हा...! अरे... प्रभु ! तू एक ओर ज्ञान और एक ओर ज्ञेय ! उस ज्ञेय का सारा समुदाय - अनंत केवली, अनंत सिद्ध, अनंत आत्मा, उनसे अनंतगुने परमाणु और उनसे अनंतगुनी उनकी पर्यायें...! आ..हा..हा...! यह सब ज्ञेय समुदाय, उसे ज्ञान का (जाननरूप) परिणमन (अर्थात्) उस ज्ञेय को जानना उसका स्वभाव है। और ज्ञेय उसमें जानने में आये वैसा ज्ञेय का स्वभाव है। आ..हा..हा...! ज्ञेय का कोई ऐसा स्वभाव नहीं कि, उसे सुख दे, आ..हा..हा...! विषय वासना हुई, और इन्द्रिय आदि कड़क हुई, और

समकिती ज्ञानी है...! आ..हा..हा...! उन्हें वे सब ज्ञेय हैं। राग भी ज्ञेय है, इन्द्रिय ज्ञेय है, सामनेवाली चीज (है सो) ज्ञेय है। यह श्रुतज्ञान में वह ज्ञेयरूप जानना (हुआ) वह ज्ञेय के कारण नहीं। उस ज्ञान में ज्ञान के कारण (जानना होता है)। ज्ञेय तो उसमें निमित्त है। आहा..हा...! उसरूप जानना ऐसा उसका स्वभाव है। यदि उन सबके स्वरूप को जानना (ऐसा स्वरूप) है तो सबको न जाने तो एकरूप स्वरूप स्वयं रहा है उसे उसने न जाना, आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ? ऐसा मार्ग...! अरे... प्रभु...! आहा..हा...! है ?

'**...वैसे ही समस्त ज्ञेय जानता हुआ ज्ञाता (-आत्मा) समस्तज्ञेयहेतुक...**' (अर्थात्) जिसमें ज्ञेय निमित्त है। '...**समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप...**' (अर्थात्) समस्त ज्ञेय के आकार-स्वरूप अपनी पर्याय परिणित हो, है न ? '**...परिणमित सकल एक ज्ञान जिसका आकार (स्वरूप) है...**' (अर्थात्) सकल एक ज्ञान जिसका स्वरूप (है)। '**...ऐसे निजरूप से - जो चेतनता के कारण स्वानुभवप्रत्यक्ष है उस-रूप परिणमित होता है।**' आ..हा..हा...! सबको जाननरूप परिणमित होता है वह चैतन्य के स्वरूप परिणमित होता है। अब ऐसा कितना याद रहे ? फर्श के धंधे व फलों धंधा... ! आ..हा..हा...!

प्रभु ! आठ वर्ष की बालिका है न ! वह जब सम्यग्दर्शन पाती है न ! ज्ञायकस्वरूप को जहाँ प्रतीत में ग्रहण किया है और जिसने ज्ञान की पर्याय में ज्ञायक को ज्ञेय बनाया है, उसे जो भावश्रुतज्ञान हुआ... आ..हा..हा...! उन्हें अपने भावश्रुतज्ञान में राग से लेकर सब चीजें ज्ञेय समुदायरूप हैं। उन्हें ज्ञेयरूप यहाँपर परोक्षरूप भी जानना इस प्रकार ज्ञान की पर्याय का स्वभाव है, आहा...! समझ में आया कुछ ? ऐसा मार्ग होगा...! आहा..हा...!

'**...ऐसे निजरूप से - जो चेतनता के कारण स्वानुभवप्रत्यक्ष है उस-रूप परिणमित होता है।**' निज स्वानुभवप्रत्यक्षरूप परिणमित होता है। ('समयसार') बारहवीं गाथा में ऐसा कहा न, भाई ? कि, रागादि ज्ञेय व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान है। इसका अर्थ यह हुआ भाई ! कि, व्यवहार अर्थात् जितना श्रुतज्ञानी को राग आता है यह सब व्यवहार ज्ञेय है और उसे जाननेवाला श्रुतज्ञान स्वयं परिणमित होता है उसमें वे ज्ञेय ज्ञेयहेतुक-निमित्त है। परिणमित होता है स्वयं, पर को जाननरूप स्वयं का ज्ञान स्वयं स्वयं से, आ..हा..हा...!

अन्य रीति से कहे तो श्रुतज्ञानी जो सम्यग्दृष्टि हैं, उनका जो श्रुतज्ञान उनकी पर्याय में हुआ, वे सभी राग से लेकर सबको ज्ञेयरूप जानने का (हुआ)। स्वयं को भी जानना और (पर को भी) जानना। यह पर्याय षट्कारकरूप स्वतंत्र परिणमित हुई है। यह सम्यक् श्रुतज्ञान की

पर्याय षट्कारकरूप (परिणमित हुई है) यानी पर्याय कर्ता, पर्याय कार्य, पर्याय साधन-करण, पर्याय पर्याय के लिये हुई, पर्याय में से पर्याय हुई, पर्याय के आधार से पर्याय हुई। समझ में आता है कुछ ? ऐसा सूक्ष्म...!

`निमित्त' कहा न ? `पर्याय' कहा ! किन्तु यहाँ उपादान तो षट्कारकरूप परिणमित श्रुतज्ञान पर्याय पूर्ण है। सब ज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान यहाँ पूर्ण है। भले यहाँ परोक्ष है, केवली को प्रत्यक्ष है, परंतु है तो पूर्ण ! आ..हा..हा...! इसलिये कहा न ? कि, केवलज्ञानी भगवान केवलज्ञान से आत्मा के पूर्ण स्वरूप को जानते हैं, इस कारण हम भी श्रुतकेवली हैं, आहा...! गजब बात है !! भाई ! आ..हा..हा...! यह रीति सुनना कठिन पड़े ऐसी (है) !

आ..हा..हा...! कहते हैं कि, केवलज्ञानी परमात्मा लोकालोक को जानते हैं इस कारण केवली (हैं), ऐसा नहीं। यह पूर्ण स्वरूप भगवानआत्मा ! आ..हा..हा...! उसे स्वयं जानते हैं इसकारण उन्हें केवली कहते हैं। भले उन्हें सारा-पूर्ण लोकालोक ज्ञान में आता हो, तथापि आत्मा को जानते हैं इसकारण वे केवली कहलाते हैं, आहा..हा...! क्योंकि लोकालोक को जानना ऐसी जो पर्याय ऐसी अनंत पर्याय का पिंड ज्ञानगुण है, ऐसे ज्ञानगुण धारणकरनेवाले आत्मा को हम जानते हैं (और) भगवान भी उसे जानते थे, आहा..हा...! यह पहले आ गया है - `हम श्रुतकेवली हैं !' मुनिगण ! पंचम काल के संत ! (ऐसा कहते हैं कि) हम श्रुतकेवली हैं!! क्यों ? (क्योंकि) केवल भगवानआत्मा पूर्णानंद का नाथ जाना उसकी पर्याय में पूर्ण जानना ऐसा उसका स्वभाव है। ऐसी-ऐसी अनंत पर्याय का पिंड तो गुण है (और) यह अनंत गुण का पिंड तो द्रव्य है। ऐसे द्रव्य को हमने श्रुत से जाना... ! आ..हा..हा...! (इसकारण) हम भी श्रुतकेवली हैं ! श्रुत द्वारा जाननेवाले `केवल' को (आत्मा को) जाना इसकारण श्रुतकेवली (हैं)। केवली ने भी केवल आत्मा को जाना इसकारण केवली (हैं)। ऐसा कहींपर भी प्राप्त हो ऐसा नहीं ! व्यापारी को धंधे की आड़ में (यह सब समझना) मुश्किल जैसा लगे, आहा..हा...!

`**इसप्रकार वास्तव में द्रव्य का स्वभाव है।**' देखा ? अंतिम शब्द ! इसप्रकार वास्तव में भगवानआत्मा का स्वभाव है। `स्व-भाव'। (अर्थात्) लोकालोक को - ज्ञेय को जानना। ज्ञेय को बिना छूए, ज्ञेय का अस्तित्व है इसकारण जानता है, वैसा भी नहीं। स्वयं के अस्तित्व में तीनकाल के द्रव्य, गुण, पर्याय का समुदाय पर की अपेक्षा रहित इस जीव के ज्ञान में ज्ञात हो, आ..हा..हा...! ऐसा ही कोई जीव का स्वभाव है ! आ..हा..हा...!

यह तो आ गया न भाई इसमें ? `पंचास्तिकाय संग्रह' की ६२वीं गाथा की चर्चा हुई थी

न ? `पंचास्तिकाय' की ६२ गाथा ! आत्मा में मिथ्यात्व का या राग-द्वेष का जो विकार होता है सो षट्कारक के परिणमन से होता है। उसे परकारक की अपेक्षा नहीं। कर्म के निमित्त के कारक की अपेक्षा नहीं। अरे...! विकृतरूप परिणमन हो उसमें (पर)कारक की अपेक्षा नहीं, उसे द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं। क्योंकि द्रव्य-गुण तो शुद्ध हैं (पर)कारक पर हैं। द्रव्य-गुण शुद्ध हैं तो विकार का परिणमन जो पर्याय में षट्कारक से होता है, यह पर की अपेक्षा रहित निरपेक्षरूप से होता है।

ऐसे भगवानआत्मा ! केवलज्ञानरूप जो पर्याय होती है, वह लोकालोक ज्ञेय है-निमित्त है, इसकारण यहाँ केवलज्ञान होता है, ऐसी उसे अपेक्षा नहीं, आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ? यह केवलज्ञान की पर्याय षट्कारकरूप स्वयं परिणमित होती है।

उसका हेतु इतना कि, ज्ञान की पर्याय का लक्ष है-ध्येय द्रव्यपर है इतना। परंतु वह द्रव्य(पर) लक्ष भी (स्वयं) स्वतंत्र करता है। समझ में आया कुछ ? ज्ञान की पर्याय कर्ता, कर्म, षट्कारक से उत्पन्न हुई, फिर भी इस पर्याय का कर्तारूप (जो) है, वह पर्याय कर्तारूप (स्वयं) स्व के लक्ष में जाती है। उसका ध्येय है-द्रव्य। किन्तु यह द्रव्य ध्येय है सो पराधीनता से नहीं। न्याय समझ में आता है ? वह ज्ञान की पर्याय स्वतंत्र कर्ता है। स्वतंत्र(रूप) करे सो कर्ता। यानी कि उसे उसका (द्रव्य का) आश्रय है इसकारण पराधीन है, वैसा नहीं। स्वयं स्वाधीनरूप स्व का आश्रय लेती है आ..हा..हा...ऐसा मार्ग...! समझ में आया कुछ ?

`**इसप्रकार वास्तव में द्रव्य का स्वभाव है।**' (अर्थात्) भगवानआत्मा का तो अनंत द्रव्य और अनंत पर्याय का समुदाय (जो) ज्ञेय (है) - उसे अपने से अपने में परिणमित स्वभाव उसका अपना है। वह निमित्त है इस कारण नहीं। निमित्त का अर्थ कि, यह चीज है इसकारण यहाँ परिणमित हुआ है, ऐसा नहीं। समझ में आया कुछ ? आ..हा..हा...! श्रुतज्ञान में भी कोई दया, दान का विकल्प-राग आदि आये, यह आया है इसकारण उसका यहाँ ज्ञान हुआ है, वैसी यह ज्ञान की पर्याय परतंत्र नहीं। यह ज्ञान की पर्याय स्वयं स्वपरप्रकाशरूप उत्पन्न होती हुई, उसे जानती वह पर्याय उत्पन्न होती है। `उसे जानती' ऐसा कहा ! ऐसी बातें हैं ! लोगों को बहुत कठिन पड़ती हैं ! क्या करे ? आ..हा..हा...! बापू ! जिनसे जन्म-मरण का अंत (हो) आ..हा..हा...! अनंत... अनंत... जन्मों का अंत हो यह चीज कोई (अलौकिक है) ! आ..हा..हा...! अरे...! दुनिया को न बैठे (इसकारण) `एकांत' कहे ! कहो भाई ! आ..हा..हा...! वे लोग तो ऐसा कहते हैं कि, `देखो! ये दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा करे सो धर्म नहीं !' बात सही...! और निमित्त से पर में कुछ

होता नहीं। क्या करे बापू ?

यहाँ कहा न ? ज्ञेयहेतुक होते हुए भी - यह तो निमित्त कहा। तथापि यह ज्ञान का परिणमन तो स्वतः कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान से स्वयं से पर्याय हुई है। ऐसी बातें हैं ! आ..हा..हा..! अब इसमें कहे कि, वादविवाद करो ! भाई ! किसके साथ बहस करे ! बापू !

श्रोता :- `कुंदकुंदाचार्य' ही ना कहते हैं कि, किसी के साथ वादविवाद करना नहीं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- वे तो भले ना कहे, परंतु आप क्यों ना कहते हो ? (ऐसा कहते हैं) ! आपकी बातें झूठी है, इसकारण (आप बहस करते नहीं) ! भगवान... भगवान... भगवान... भगवान...! आ..हा..हा...! क्या एक-एक गाथा...!

(यहाँपर कहते हैं) `**...चेतनता के कारण स्वानुभवप्रत्यक्ष है उस-रूप - परिणमित होता है।** समझ में आता है ? अनंत ज्ञेय के ज्ञानरूप अपने स्वतः ज्ञान से स्वानुभवप्रत्यक्षरूप परिणमित होते हैं, आ..हा..हा...! यह सब हीरे-नीलम से यह सब चीजें अलग हैं ! यह हीरला आत्मा ! चैतन्य हीरा भगवान ! आ..हा..हा...! जिसकी चमक में निमित्त भले हो ! परंतु उस चमक के परिणमन में निमित्त की अपेक्षा भी जिसे नहीं ! आ..हा..हा...! ऐसा जो भगवान श्रुतज्ञान का परिणमन, वीतरागी ज्ञान ! इसका नाम भगवान `धर्म' कहते हैं। Logic से तो बात (करते हैं)। आ..हा..हा...!

(अब कहते हैं) `**किन्तु जो समस्त ज्ञेय को नहीं जानता...**' अब आता है - (जो) सर्व को जानता नहीं सो एक को जानता नहीं - ऐसा सिद्ध करना है न ! `**किन्तु जो समस्त ज्ञेय को नहीं जानता वह (आत्मा), जैसे समस्त दाह्य को न दहती हुई अग्नि...**' (अर्थात्) समस्त दाह्य को नहीं जलाता अग्नि, आ..हा..हा...! `**...समस्तदाह्यहेतुक समस्तदाह्याकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक दहन जिसका आकार है ऐसे अपने रूप में परिणमित नहीं होता...**' (अर्थात्) वह अग्नि सर्व को जलाने लायक होकर यदि अग्नि स्वयं जले नहीं तो वह अग्नि ही नहीं। यह अग्नि रही ही नहीं, आ..हा..हा...! बनिये पास ऐसे सब विचार रखना...! सारा दिन धंधा और (सब) गड़बड़ करता हो...! आहा..हा...!

श्रोता :- बुद्धिवाले तो बनिये ही हैं न !

पूज्य गुरुदेवश्री :- यह तो कहा है, `जापान' के कोई एक इतिहासकार ने कहा है, भाई! `जापान' का एक ६७ वर्ष की उम्र का इतिहासकार है और सत्तरह वर्ष का लड़का है, परंतु दोनों बहुत बड़े इतिहासकार हैं ! बाद में उसने सब पढ़ा, जैन का (साहित्य) पढ़ा, अन्य का पढ़ा, आगे उसने कहा कि, `जैनधर्म यानी अनुभूति सो जैनधर्म है !' अनुभूति सो जैनधर्म है। आत्मा

आनंदस्वरूप प्रभु ! उसका अनुभव होना सो जैनधर्म है। परंतु... ऐसा जैनधर्म बनिये को मिला (तो) उसे निर्णय करने में व्यापार की आड़ में फुरसत नहीं ! यह `जापान' का इतिहासकार कहता है !! भाई ! ऐसा आया है, समाचारपत्र में आ गया है। आहा..हा...! फुरसत नहीं। फुरसत हो तो यात्रा करे, व भक्ति करे और पूजा करे और... ये तो सब राग की क्रिया हैं। वास्तव में तो ये ज्ञेय हैं ! आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ?

(यहाँपर कहते हैं कि) ऐसे समस्त ज्ञेयरूप परिणमित जो ज्ञान (सो) यदि न हो तो वह ज्ञान ही नहीं, आहा..हा...! एक बार अपने यहाँ आ गया है - ज्ञान नहीं। पहले आ गया है - क्षायिक ज्ञान नहीं, क्रम-क्रम से जाने यह क्षायिक ज्ञान नहीं। क्षायिक ज्ञान तो नहीं परंतु ज्ञान ही नहीं, ऐसा वहाँ कहा है। (इस प्रकार) दो अर्थ लिये हैं, पहले आ गये हैं। आ..हा..हा...! जो ज्ञान अपने से परिणित परिणमन न करे और पर की अपेक्षा रखकर परिणमित हो (तो) वह ज्ञान ही नहीं। यह इसमें कहीं आ गया है। कहाँ आया है ? ४२ गाथा ! देखो ! `**ज्ञाता यदि ज्ञेय पदार्थरूप परिणमित होता हो तो उसे सकल कर्मवन के क्षय से प्रवर्तमान स्वाभाविक जानपन का कारण (क्षायिक ज्ञान) नहीं है;...**' है ? ४२ (गाथा) ! `**ज्ञाता यदि ज्ञेय पदार्थरूप परिणमित होता हो...**' (अर्थात्) रागादि पररूप परिणमित होता हो `**...तो उसे सकल कर्मवन के क्षय से प्रवर्तमान स्वाभाविक जानपन का कारण (क्षायिक ज्ञान) नहीं है;...**' आ..हा..हा...! रागरूप परिणमित हो और ज्ञानरूप परिणमित न हो और (अपने को) भिन्नरूप न रखे तो यह ज्ञान ही नहीं। आ..हा..हा...! है इसमें ?

जो आत्मा का ज्ञान... आ..हा..हा...! दया, दान, व्रत के रागरूप परिणमित हो यह ज्ञान ही नहीं। ज्ञायिक ज्ञान तो नहीं किन्तु यह ज्ञान ही नहीं ! आ..हा..हा...! उन राग आदि के भाव को ज्ञेयरूप मान के और वह ज्ञानरूप परिणमन अपने से, अपने में ज्ञेय की अपेक्षा रहित, स्वपरप्रकाशरूप परिणमित होने का द्रव्य का स्वभाव होने से स्वयं परिणमित होता है, उसे यहाँ `ज्ञान' कहने में आता है, आहा..हा...! समझ में आया कुछ ? यह तो `प्रवचनसार' है ! ज्ञानप्रधान कथन है, यह `ज्ञान अधिकार' है न ! आ..हा..हा...! सूक्ष्म बहुत बापू ! आहा..हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि, सम्मेदशिखर की यात्रा करे व गिरनार की यात्रा करे, यह भाव राग है। यदि यह रागरूप परिणमित हो जाय तो यह मिथ्याज्ञान है। वह ज्ञान ही नहीं ! अर..र..र...! (आह!) ऐसी बात...! उस राग को अपने ज्ञान में ज्ञानरूप रहकर, राग को बिना छूए, ज्ञान को स्पर्शकर स्वपरप्रकाशक परिणमन हो उसे ज्ञान कहने में आता है, आहा..हा...! उसे सम्यक्ज्ञान

कहने में आता है, आहा..हा...! शेष मिथ्याज्ञान है। ऐसा कठिन...! हाल में चलता नहीं इसलिये लोगों को (कठिन पड़ता है)। क्या करे ? बेचारे अनादि से ऐसे भटकते हैं, चक्कर में फँस गये हैं, आहा..हा...!

यहाँ यह कहा `**...समस्तदाह्याकारपर्यायरूप परिणमित सकल एक दहन जिसका आकार है ऐसे अपने रूप में परिणमित नहीं होता...**' यदि अग्नि दाह्याकाररूप पूर्ण न परिणमित हो तो सो अग्नि ही नहीं। (यानी कि) वह अपनेरूप हुआ ही नहीं, अपनेरूप रहा ही नहीं, आ..हा..हा...! भाई ! है न इसमें ? `**...उसी प्रकार, समस्तज्ञेयहेतुक समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप परिणमित...**' `समस्तज्ञेयहेतुक' यह तो मात्र निमित्त है। निमित्त यानी कि वह चीज है, किन्तु उससे यहाँ कुछ होता है और उसकी अपेक्षा से होता है, वैसे नहीं। समझ में आता है कुछ ?

`**... समस्तज्ञेयहेतुक...**' (अर्थात्) समस्त लोकालोक आदि ज्ञेय जिसमें निमित्त है। यह तो हमने भाई कहा था न ? `सर्वविशुद्ध अधिकार' में ! (कि), लोकालोक है यह केवलज्ञान में निमित्त है और केवलज्ञान लोकालोक को निमित्त है। निमित्त यानी यह चीज है इतना ही। निमित्त है इसकारण वहाँ चीज है और यह चीज है इस कारण यहाँ केवलज्ञान है, वैसा नहीं। आ..हा..हा...! `निमित्त' (शब्द) जहाँ, आये वहाँ (लोग) भड़कते हैं। निमित्त यानी कि केवलज्ञान में लोकालोक निमित्त है। यानी क्या ? यह लोकालोक के कारण ज्ञान हुआ है ? और लोकालोक को केवलज्ञान निमित्त है इससे क्या केवलज्ञान है इस कारण लोकालोक है ? आहा...! सूक्ष्म बात, बापू ! बहुत सूक्ष्म, भाई ! आहा...!

जैन वीतराग तीनलोक के नाथ का ज्ञान जो है सो ज्ञान कोई अलौकिक है !! जिस ज्ञान में परवस्तु निमित्त होते हुए भी वह आत्मा ज्ञानरूप परिणमन करता है, यह धर्मी-समकिती चौथे गुणस्थान में, आ..हा..हा...! इस चौथे गुणस्थान में भी जो श्रुतज्ञान है उसे रागादि व्यवहार आये तब भी वह ज्ञान का परिणमन उसे अपने को जानता हुआ परिणमित होता है। तथापि यह ज्ञान परिणमन में यह राग निमित्त कह सकते हैं ! फिर भी वह राग के कारण यहाँ स्वपरप्रकाशक परिणमन हुआ है, वैसा नहीं। इसमें कितना याद रखें ! (इस प्रकार) ऐसे रुपये (आये) वहाँ खुश-खुश हो जाय, लो ! आहा..हा...! कंकर बहुत पड़े हैं जगत में ! यहाँ तो कहते हैं कि, यह रुपये सो ज्ञान का ज्ञेय है। यह ज्ञेय है `यह मेरा है', ऐसा ज्ञानस्वरूप में नहीं और पैसे ज्ञेय हैं उनमें `मैं इनका हूँ' वैसा ज्ञेय में नहीं, आ..हा..हा...! अरे..रे...! जगत कहाँ जा रहा है !

यहाँपर तो प्रभु ऐसा कहते हैं कि, जलनेलायक दाह्य को जलाती अग्नि स्वयं अपनेरूप

परिणमित होती है सो अग्नि है। परंतु दाह्याकाररूप अग्नि परिणमित नहीं सो अग्नि ही स्वयं अग्नि नहीं। वैसे ज्ञेयाकाररूप परिणमित ज्ञान है सो आत्मा है, परंतु ज्ञेयाकाररूप (नहीं) परिणमित ज्ञान (तो) वह ज्ञान नहीं, वह ज्ञान ही नहीं। ज्ञेयाकाररूप परिणमन करता है ऐसा अपना स्वभाव है, यदि ऐसा नहीं तो वह आत्मा ही नहीं ! ऐसी बातें !

(यहाँपर कहते हैं) '**...सकल एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे अपने रूप में - स्वयं चेतनता के कारण स्वानुभवप्रत्यक्ष होने पर भी...**' उन ज्ञेयों को जानने का (जो स्वभाव है सो) ज्ञेयरूप का अस्तित्व है इसकारण नहीं, (परंतु) अपने को अपने में अनंत ज्ञेयों को जानने का अपने से अपना स्वभाव है, इसप्रकार यदि न हो तो वह आत्मा ही नहीं, वह ज्ञान ही नहीं।

(ऐसा सुनकर) बेचारे यह लोग विरोध करे न ! ऐसा 'सोनगढ' ने निकाला !! किसका है यह ? यह तो मुनियों का है। यह तो पंचमकाल के संत कहते हैं ! कुछ एक कहे कि, यह चौथे काल की बात है, चौथे कालवालों के लिये (है)। परंतु यह पंचमकाल के साधु पंचमकाल के श्रोता को कहते हैं और वे श्रोता (यह) सुनकर अप्रतिहत ज्ञानी होते हैं ! ऐसा है। ३८ गाथा ! ('समयसार' में) ३८ गाथा है न ? आहा..हा...! वहाँ अप्रतिबुद्ध को गुरु समझाते हैं। वह स्वयं अप्रतिबुद्ध है - अज्ञानी है, पंचमकाल का अप्रतिबुद्ध श्रोता ! उसे पंचमकाल के गुरु बारबार कहते हैं ! आ..हा..हा...! तब वह समझता है वह ज्ञान होकर उसका अप्रतिहत ज्ञान होता है। जो ज्ञान हुआ सो पुनः च्युत होनेवाला नहीं !! ३८ गाथा में है, आ..हा..हा...! भाई ! काल-फाल उसे कहाँ बाधा देता है ? काल यह तो ज्ञान का ज्ञेय है। यह पंचमकाल है या यह चौथाकाल है यह तो ज्ञेय है। उस ज्ञेय को जाननरूप परिणमित होता है सो काल है इसकारण (परिणमित होता है वैसा) नहीं। आ..हा..हा...! ऐसी बातें हैं ! थोड़ा किन्तु सत्य और वास्तविक होना चाहिये। लंबा-लंबा बड़ा (हो) और वास्तविक सत्य हो नहीं, आ..हा..हा...!

'**...ऐसे अपने रूप में - स्वयं चेतनता के कारण स्वानुभवप्रत्यक्ष होनेपर भी...**' किन्तु वह पर के पूर्ण ज्ञेयरूप के ज्ञानरूप परिणमित होता नहीं तो सो आत्मा नहीं। आहा..हा...! '**...(अपने को परिपूर्णतया अनुभव नहीं करता - नहीं जानता)।**' वह आत्मा नहीं। आ..हा..हा...! '**इसप्रकार यह फलित होता है कि जो सबको नहीं जानता वह अपने को (-आत्मा को) नहीं जानता।**' यह निष्कर्ष हुआ ! क्या कहा यह ? कि जो सब ज्ञेय है उसे यहाँपर ज्ञान में अपने से जानता नहीं तो सबको जानता नहीं तो वह स्वयं उसरूप है, वह स्वयं को जानता नहीं। समझ में आता है? आ..हा..हा...! ऐसी बातें हैं, प्रभु ! क्या करे ? लोग बेचारे मज़ाक करते हैं - 'निश्चय... निश्चय...

निश्चय... (है) !' प्रभु ! तू.. तू.. तू.. तू.. निश्चय अर्थात् तू !

ज्ञेय होते हुए भी ज्ञेयाकाररूप आत्मा ज्ञानाकाररूप होता है इसमें वे सब ज्ञेय निमित्त होते हुए उनकी अपेक्षा द्वारा यहाँ ज्ञान परिणमित होता नहीं। यह ज्ञान का स्वयं स्वभाव है कि, इसप्रकार स्वपर(प्रकाशकरूप) परिणमित होना सो ज्ञान का स्वभाव है। तब यदि सबको जानता नहीं, क्योंकि सबका जानना यह ज्ञान का जानना है (इसकारण) यदि सबका जानना नहीं होता तो स्वयं इतना बड़ा है सो जानता नहीं। बराबर है ? आ..हा..हा...! यह `अमृतचंद्राचार्य महाराज' की टीका हुई।

टीका में तो दो-तीन दृष्टांत दिये हैं, भाई ! कि, जो कोई सूर्य के प्रकाश में प्रकाशित चीज को नहीं जानता वह सूर्य को जानता नहीं। दीपक के प्रकाश में प्रकाशित चीज को जानता नहीं (तो) वह दीपक को जानता नहीं। समझ में आया कुछ ? कितने दृष्टांत हैं ? दर्पण में जो प्रतिबिंब पड़ता है उसको नहीं जानता , वह दर्पण को जानता नहीं। अंधा व्यक्ति सूर्य के प्रकाश में प्रकाशित चीज को जानता नहीं तो वह अंधा सूर्य को जानता नहीं। अंधा आदमी दीपक के प्रकाश में प्रकाशित पदार्थ को जानता नहीं तो वह दीपक को जानता नहीं, आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ? दो हुए। दर्पण में जो प्रतिबिंब पढ़ता है वह दर्पण की अवस्था है। वह जब दर्पण में हुई अवस्था में (गिरी हुई) चीजों को जो जानता नहीं वह दर्पण को ही जानता नहीं। क्योंकि दर्पण में अवस्था है वह उसकी नहीं। उसके संबंधी दर्पण में अवस्था है वह दर्पण की अवस्था है। जो दीपक के प्रकाश में स्थित पदार्थ को जानता नहीं वह दीपक को जानता नहीं। दर्पण में दिखाई देते पदार्थ को जानता नहीं वह दर्पण को जानता नहीं। अंधा है, कहते हैं, विशेष कहेंगे...

(**दिनांक २३-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-४८**)

`प्रवचनसार', ४८ गाथा का भावार्थ। पहले दृष्टांत (देते) हैं। `**जो अग्नि काष्ठ, तृण, पत्ते इत्यादि समस्त दाह्यपदार्थों को नहीं जलाता,...**' आ..हा..हा...! जो अग्नि ज्वलनशील दाह्य है उसे यदि जलाता नहीं, है न `दहता नहीं' ? `दहता नहीं' अर्थात् जलाता नहीं... `**...उसका दहनस्वभाव...**' (अर्थात्) उसका जलाने का स्वभाव `**...(काष्ठादिक समस्त दाह्य जिसका निमित्त है ऐसा)...**' वे तो सब पर निमित्त हैं ऐसे `**...समस्तदाह्याकारपर्यायरूप परिणमित न होने से...**' (अर्थात्) जलनेलायक दाह्य को पूर्णतया जलाता (ऐसा) यह (अग्नि) जलने लायकरूप (यदि)

परिणमित होता नहीं (तो वह) अग्नि **`अपूर्णरूप से परिणमित होता है-परिपूर्णरूप से परिणमित नहीं होता, इसलिये परिपूर्ण एक दहन जिसका स्वरूप है...'** अग्नि का परिपूर्ण एक दहन(स्वरूप यानी) सबको जलाना और एक अग्निरूप रहना ऐसा जिसका स्वरूप है, आ..हा..हा...! **`ऐसी वह अग्नि अपने रूप ही पूर्ण रीति से परिणमित नहीं होती;...'** आहा...! अग्नि ज्वलनशील पदार्थ (को) जलाता नहीं और पूर्ण दाह्य जिसका निमित्त है ऐसी अग्निरूप यदि परिणमित नहीं होती तो यह अग्नि ही नहीं, आहा..हा...! यह दृष्टांत है।

`उसीप्रकार यह आत्मा...'** अब यहाँ सिद्धांत स्थापित करते हैं। **`उसीप्रकार यह आत्मा समस्त द्रव्य-पर्यायरूप समस्तज्ञेय को नहीं जानता,...' आ..हा..हा...! केवलज्ञानरूप कहो या श्रुतज्ञानरूप भी (कहो), (क्योंकि) श्रुतज्ञान में भी सर्वज्ञेयों को जाननरूप परिणमित होना ऐसा स्वनभाव है। मात्र परोक्ष और प्रत्यक्ष का फ़र्क है। ऐसी बातें हैं !

श्रोता :- क्रम-अक्रम का फर्क नहीं ?

समाधान :- यह कुछ नहीं, क्रम-अक्रम का यहाँ काम नहीं। क्रम-क्रम में भले जाने वैसे केवल पूर्ण आत्मा को जानता (है) इसकारण श्रुतकेवली हैं। भले क्रमपूर्वक जाने, परंतु क्रमपूर्वक जाने यह (बात) तो अपेक्षित है। वैसे तो ज्ञान-श्रुतज्ञान की पर्याय में परोक्षरूप से पूर्ण जानना ऐसा उसका स्वतः स्वभाव है। ऐसी बात है। यूं तो आगे उसके उपयोग में जरा सा क्रम पड़ता है। वैसे उसकी पर्याय का स्वभाव (तो पूर्ण जानना सो है)। समझ में आया कुछ ?

श्रुतज्ञान-भावश्रुतज्ञान ! जो चैतन्य ज्ञायकस्वरूप है उसके सहारे जो भावश्रुतज्ञान हुआ, उस भावश्रुतज्ञान की एक समय की पर्याय में परोक्ष रीति से सब ज्ञेय जाननेलायक हैं। इसप्रकार यदि परिपूर्ण वस्तु को न जाने तो वह ज्ञान ही नहीं हुआ, आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ? यह टीका में लिया है, भाई ! टीका में `स्वसंवेदन' की तरह (लिया है)। मूल हेतु तो यह है, उसकी ताक़त बताते हैं कि, आत्मा है उसकी ताक़त कितनी ? उसका अपना अस्तित्व जो है उसका ज्ञान और उसके अस्तित्व की ताक़त (बतलानी है)।

इस ज्ञान में जितने ज्ञेय हैं उतनों को एक समय में स्वपर्याय में परिणमित होकर जाने ऐसी तो उसकी ताक़त है ! उस प्रकार अग्नि जैसे दाह्याकार को पूर्ण रीति से न जलाये तो वह अग्नि ही नहीं। ऐसे जितने ज्ञेय हैं उतने सबको अपने पर्याय में, जानने लायक को पूर्ण रीति से जाननरूप न परिणमित हो तो वह आत्मा ही नहीं, वह ज्ञान नहीं ! आ..हा..हा...! ऐसी बात है! आत्मा के समक्ष जितने ज्ञेय हैं उतने सबको अपने पर्याय में, जानने लायक को पूर्ण रीति से

जाननरूप न परिणमित हो तो वह आत्मा ही नहीं, वह ज्ञान ही नहीं ! आ..हा..हा...! ऐसी बात है! आत्मा के समक्ष जितने ज्ञेय हैं - देव, गुरु, शास्त्र, स्त्री, कुटुंब, परिवार, अनंत सिद्ध, लाखों केवली - उनमें कोई ज्ञेय आत्मा का नहीं। कोई ज्ञेय आत्मा का नहीं ! और किसी ज्ञेय को बिना जाने रहता नहीं, ऐसा उसका स्वरूप है ! आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ?

भगवानआत्मा का ज्ञानस्वभाव ऐसा है कि, इससे अनंत गुना सब आत्मा हैं, शरीर, रजकण, (हैं), इनमें कोई ज्ञेय इस आत्मा का है, ऐसा नहीं। वैसे कोई ज्ञेय ज्ञान में पूर्ण रीति से न जानने में आये ऐसा (ज्ञेय का स्वरूप नहीं। आ..हा..हा...! न्याय समझ में आता है ? सर्वज्ञ को तो सब ज्ञेय ज्ञेयाकाररूप परिणमित होते हैं, ऐसा तो उनका स्वरूप है। इस प्रकार यदि वह न परिणमित हो तो यह आत्मा ही नहीं, आ..हा..हा...!

ऐसे निम्न दशा में-श्रुतज्ञान में देव, गुरु और शास्त्र आदि सब पर ज्ञेय हैं। ज्ञान का - आत्मा का रूप है सो देव-गुरु नहीं, आ..हा..हा...! अनंत सिद्ध, पंचपरमेष्ठी ये सब ज्ञानस्वरूप से अन्य ज्ञेय हैं। यह अन्य ज्ञेयों को ज्ञान में अपने से पूर्णरूप जाननरूप न परिणमित हो तो वह ज्ञान ही नहीं, वह आत्मा ही नहीं, आ..हा..हा...! ऐसी बात है !

'श्रीमद्' में आता है - 'करुणा हम पावत है तुमकी, वह बात रही गुरुगम की' इसका अर्थ यह कि, 'हे भगवंत ! आपके ज्ञान में, मैं इस समय सबको जानता हूँ ऐसा मेरा ज्ञान है, ऐसा आपके ज्ञान में जानने में आया है, यही आपकी करुणा है !' क्या कहा यह ? आ..हा..हा...! प्रभु! मेरा आत्मज्ञान, ज्ञानस्वभाव आपको और सबको ज्ञेयरूप पर्याय में परिपूर्ण जानना हो, इस प्रकार आपने ज्ञान में जाना है कि, इस प्रकार इसे यह (ज्ञान) हुआ ! प्रभु ! यह आपकी करुणा है !! आ..हा..हा...!

श्रोता :- ऐसे अर्थ कहाँ से निकाले ?

समाधान :- देखो न...! है उसमें !

मूल तो परमात्मा के ज्ञान में सब ज्ञेयों का ज्ञान अपनी शक्ति से अपने से हुआ है, आहा...! किन्तु प्रभु को ऐसा भी कहे... आहा...! 'प्रभु तुम जाणग रीति, सौ जग देखता, आ आत्मा ने निज सत्ता अे शुद्ध आप पेखता' ! आता है न ? आहा..हा...! 'प्रभु तुम जाणग रीति, सौ जग देखता हो लाल... आ निज सत्ता अे शुद्ध...' कल एक प्रश्न (आया) था न ? कि, आत्मज्ञानी तो सबको समान देखते हैं ! आत्मज्ञानी तो द्रव्यस्वभाव से (सबको देकते हैं)। सबका द्रव्यस्वभाव परिपूर्ण शुद्ध है, वह आत्मा है, ऐसे देखते (हैं)। परंतु उसकी पर्याय में मिथ्यात्व है और राग को अपना

मानता (है) और राग से धर्म मानते (हैं, ऐसा देखते नहीं)। वह मिथ्यात्व की पर्याय भी ज्ञान में ज्ञेयरूप परिणमित होती है, पर्याय में उसे जानते हैं।

`श्रीमद्' में आता है न ? `आत्मज्ञान समदर्शिता' (अर्थात्) आत्मज्ञानी है सो समदर्शी हैं। इसका अर्थ यह कि, सब समान हैं, ऐसा जाने, ऐसा उसका अर्थ ही नहीं। `श्रीमद्' ने ऐसा अर्थ किया भी नहीं। `समदर्शी' की व्याख्या - कुगुरु, कुधर्म और कुशास्त्र है उसे वह बराबर जाने और कुगुरु, कुशास्त्र, कुधर्म है उसे सम्यक्ज्ञान-समभाव बराबर निषेध करे। लोग कुछ न कुछ लगाते हैं ! इसमें क्या करे, बापू ! श्वेतांबर में ऐसी बात नहीं अतः उन्हें भीतर चुभन हो ! बापू! श्वेतांबर में क्या जैनदर्शन का तत्त्व दिगंबर के अलावा कहीं है ही नहीं ! समझ में आता है ? यह कोई पक्ष की बात नहीं, वस्तुस्थिति है, आहा..हा...!

श्रोता :- समदृष्टि हो सो राग-द्वेष न करे, ज्ञान में ज्ञेयरूप जाने !

समाधान :- ज्ञेरं (रूप जाने) परंतु पर्याय मिथ्यात्व (की) है उसे मिथ्यात्वरूप जाने। उसका द्रव्य चैतन्यध्रुव है उसे चैतन्यद्रव्यरूप जाने, परंतु पर्याय में मिथ्यात्व है उसे मिथ्यात्वरूप, ज्ञेयरूप ज्ञान में जाने, आहा...! जगत में ३६३ पाखंडी हैं उन्हें ज्ञान बराबर जानता है। ज्ञेयरूप है न ! उसका जो शुद्ध आत्मा है वह एकेला ही ज्ञेय है ? ज्ञेय में तो उसकी अशुद्धता, मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि सब ज्ञेय में है, आ..हा..हा..हा...! सूक्ष्म बातें, बापू ! संप्रदाय की बात छोड़कर (यह) बात समझना, बहुत कठिन...!

यहाँ तो यह सिद्ध करना है प्रभु ! कि, एक ओर आतमराम और एक ओर सारी दुनिया का गाँव-ज्ञेय ! उसे जानना, यह है इसलिये जानना ऐसा नहीं, (परंतु) तेरा जानने का (स्वभाव है)। उसे जानना और तुझे जाननरूप होना, यह तो तेरा स्वतः स्वयंसिद्ध स्वरूप है, आ..हा..हा...!

लोकालोक को केवलज्ञान निमित्त कहलाये और केवलज्ञान लोकालोक को निमित्त कहलाये। निमित्त यानी क्या ? ऐसे जितने ज्ञेय हैं - देव, गुरु, शास्त्र आदि, अनंत द्रव्य, अनंत गुण, अनंत भवी(जीव)-जैसा उसका द्रव्य, गुण व पर्याय का जिस प्रकार जो स्वभाव है, उस प्रकार ज्ञेय को ज्ञानाकार में-ज्ञान में जाने ऐसा उसका स्वभाव है। यदि पूर्ण न जाने और अपूर्ण रहे तो वह आत्मा ही नहीं, वह ज्ञान नहीं ! आ..हा..हा...! ऐका कहकर यहाँपर ज्ञाता-दृष्टा सिद्ध करना है ! भाई ! आ..हा..हा...!

चाहे तो समकिती का (आत्मा) हो ! और केवलज्ञानी का आत्मा हो ! किन्तु यह तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा रूप (जानता है)। वह भी पर को जानता है, ऐसा कहना भी व्यवहार है। उसके पर्याय

का धर्म ही ऐसा है। शक्ति में कहा है न ? ४७ शक्ति ! वहाँ सर्वज्ञ(शक्ति में) आत्मज्ञ कहा (है)। यह आत्मज्ञ है। सबको जाने इस कारण ऐसे (सर्वज्ञ) हैं, ऐसे नहीं। आ..हा..हा...! क्या उनकी शैली !! सर्वज्ञ यानी आपको ऐसा लगे कि, आ..हा..हा...! और सब ! (तो) ऐसे नहीं। यह सर्वज्ञरूप यानी कि आत्मज्ञरूप। यह आत्मा के ज्ञान का ऐसा ही (आत्मज्ञरूप) है, आ..हा..हा...! उसमें आता है, शक्ति में...! समझ में आता है कुछ ? यह मार्ग भिन्न, बापू ! आ..हा..हा...!

`दीपचंदजी' तो बेचारे लिख गये ! `दीपचंदजी' अपने समय में `अध्यात्मपंचसंग्रह' (लिख गये), आहा..हा...! `अरे..रे...! आगम अनुसार हमें किसी की श्रद्धा दिखाई देती नहीं !' २०० वर्ष पहले...! `मुँह से कहे तो सुनते नहीं, मानते नहीं ! इस कारण मैं लिख जा रहा हूँ, कह जाता हूँ !' आ..हा..हा...!

भगवान ! `भगवान' कहा इस कारण पर्याय में (भी) भगवान है, वैसा नहीं। द्रव्य यह भगवानस्वरूप है। जिसने अपना चैतन्यरूप द्रव्य भगवानस्वरूप है, ऐसा जाना, वे सभी आत्मा को द्रव्यरूप, भगवानरूप देखते हैं ! इस कारण पर्याय में (भी) भगवान है, (वैसा नहीं) आ..हा..हा...! यह सब सारी भिन्न जाती की बातें (हैं) ! `बंबई' में यह सब व्यापार व धंधे और हा...हो...! हा...हो...! अग्नि सुलगती है कषाय की !

श्रोता :- पैसे मिले वहाँ खुशी होती है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- पैसे किसे कहें, बापू ! किसे मिले ? भाई...! यह अनंत पैसे जगत में है वह ज्ञान का ज्ञेय है। यह ज्ञेयरूप ज्ञान में परिणमित होने में तो निमित्त है। किन्तु यहाँ परिणमित होती है अपनी पर्याय। उसे जानने के अनुसार ज्ञान वह ज्ञानरूप परिणमित होता है, आ..हा..हा...! निमित्त का मतलब यह कि, अलग चीज है। परंतु यहाँपर जितने ज्ञेय परिणमित होते हैं - पैसों के, स्त्री, कुटुंब, मकान, हीरा, पन्ना... आ..हा..हा...! अरे...! सर्प, बिच्छू, कीड़े, कौआ, कुत्ते...! चार गति के जीव, पंचम गति के जीव - सिद्ध ! (ये सब ज्ञान के ज्ञेय हैं)। भाई ! तेरा स्वभाव प्रभु ! उन सब ज्ञेय को एक समय में (जाने), उनके कारण नहीं, उनके आधारपर नहीं। अबलंबन अर्थात् निमित्त ! अवलंबन अर्थात् निमित्त (ऐसा) पहले कहा है न भाई ? आ..हा..हा...! यह ज्ञान का तेरा स्वभाव ही ऐसा है कि, स्वतःरूप पर ज्ञेय को अपने से, अपने में अपने द्वारा, अपने आधार से स्वयं जाने ! आ..हा..हा...! ऐसा तेरा स्वरूप है, प्रभु ! यदि ऐसा स्वरूप तू न मान, न जान तो वह आत्मा नहीं ! आ..हा..हा...! ऐसी बात है !

सब जाननेलायक चीजों में किसी भी छोटी या बड़ी चीज को अपनी मानना, यह वस्तु के

स्वरूप में नहीं। यह ज्ञेय में भी नहीं और तेरे स्वरूप में भी नहीं। `इसका हूँ' ऐसा ज्ञेय में नहीं। ऐसा है ज्ञेय में ? देव, गुरु का आत्मा है तो उसके आत्मा में यह है कि, `इस ज्ञान का मैं हूँ ? उनके ज्ञान का मैं हूँ ?'

`**...यह आत्मा समस्त द्रव्य-पर्याय...**' दोनों लिया न ? `समस्त द्रव्य-पर्याय' ! द्रव्यरूप भगवानआत्मा (और) पर्यायरूप मिथ्यात्व, समकित, पाँचवाँ, छठवाँ, सातवाँ, चौदहवाँ और सिद्ध आदि (कोई भी गुणस्थान) हो। दोनों आये न ? आहा..हा...! मार्ग भाई ! कठिन बहुत ! आहा..हा...! पलटा खाता है न ! पर्यायपर दृष्टि है वह द्रव्यपर दृष्टि जाती है तब उसके ज्ञान में परिणमन में सारा लोकालोक ज्ञेयरूप दिखाई देता है, यह वास्तव में उसे जानने में आता है, ऐसा कहना, यह व्यवहार (है)। यह ज्ञान का स्वभाव ही परिणमित होता है वह वास्तव में तो स्वयं का ज्ञेय है, आ..हा..हा...! अपने द्रव्य, गुण और पर्याय स्वयं ज्ञेय हैं। इस `परिणति' के बारे में हम ले चुके हैं - `परद्रव्यरूप परिणमित होता नहीं, परद्रव्य-पर्याय से परिणमित होता नहीं' (`समयसार' - ७६ से ७९ गाथा) चारों में `परद्रव्य, परद्रव्य' आया है। पुद्‌गल भी परद्रव्यरूप परिणमित होता नहीं।

श्रोता :- इसमें परद्रव्य में तो विकार भी आ गया !

पूज्य गुरुदेवश्री :- विकार (आदि) सब आ गया ! आ..हा..हा...! यहाँ तो अलग कहना था। समझ में आया ? वह आया था, चला गया ! परद्रव्यरूप परिणमित होता नहीं, वह स्वद्रव्यरूप परिणमित होता है। समझ में आया कुछ ? `परद्रव्य-पर्याय से' नहीं आता वहाँ ? आहा..हा...! यह परद्रव्य-पर्याय नहीं, (परंतु) यह स्वयं अपनी ज्ञान की पर्यायरूप परिणमित होता है। भले उसे उसमें निमित्त कहो ! परंतु वह निमित्त उसे कुछ करता नहीं। उसका जो आत्मा में स्व-पर का स्वयं ज्ञान होता है सो उसका स्वरूप ही है। इतना ही आत्मा है और उतना ही उसका स्वभाव है, आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ? आ..हा..हा...!

एक समय के ज्ञान में सब ज्ञेय ज्ञात हो ऐसी उसकी पर्याय है उसे द्रव्य नाप लेता है। ज्ञेय नाप लेते हैं, ऐसा नहीं। आ..हा..हा...! श्रुतज्ञान... ध्रुव है, प्राप्य है इसलिये ध्रुव है। भले पर्याय है ! ध्रुव माने उस समय का वही प्रकार, वही है इस कारण ध्रुव कहते हैं। आ..हा..हा...! उस ज्ञान की पर्याय सब ज्ञेयों को, द्रव्य-पर्याय को स्वयं अपने से जानती है और स्वयं अपने से परिणमित होती है, ऐसा जो स्वरूप उसकी पर्याय को द्रव्य नाप लेता है। द्रव्य उसे प्राप्त करता है। निमित्त उसे प्राप्त करता है, ऐसा नहीं। आ..हा..हा...! बात कुछ समझ में आती है ? भाई!

ये तो अगम निगम की बातें हैं !

श्रुतज्ञान में भी जो व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प उठता है वह भी परज्ञेय में जाता है। और वह परज्ञेयरूप जाना हुआ प्रयोजनवान (है, ऐसा `समयसार' की बारहवीं गाथा में) कहा न ! उसका अर्थ ही यह (है)। उसमें तो ऐसा कहा कि, `जाना हुआ प्रयोजनवान है।' तब लोग उसमें लगाते हैं कि, `देखो ! आदरणीय प्रयोजनवान है ! देखो ! इसमें कहा **`ववहारदेसिदा पुण**' !' यह आया न ? **`सुद्धो सुद्धोदेसो... अपरमे ट्ठिदा भावे।**' (अर्थात्) `जो अपरमभाव से स्थित है उसे व्यवहार का ही उपदेश करना चाहिये !' ऐसा अर्थ निकालते हैं ! प्रभु ! ऐसा (उसका अर्थ) नहीं। जो अपरम अर्थात् पूर्ण दशा को प्राप्त नहीं उसकी दशा अल्प शुद्ध है और अल्प अशुद्ध भी है। उसे उस प्रकार से उसे वह-उस समय (जाना हुआ प्रयोजनवान है)। दूसरे समयपर शुद्धता बढ़ी, अशुद्धता कम हुई तो उस समयपर उसका ज्ञान। जिस समय थोड़ी शुद्धता बढ़ी और अशुद्धता कम हुई (तो) उस-उस समय का वह-वह उस समय जानने लायक है। संस्कृत में `**तदात्वे**' शब्द है, आ..हा..हा...! उस समय के काल में, बस...! दूसरे समयपर उस समय के काल में, तीसरे समयपर उस समय के काल में...! आ..हा..हा...! `जाना हुआ प्रयोजनवान है' इसका अर्थ यह कि, वह ज्ञेयरूप जो है उसका यहाँ ज्ञान स्वतः (यानी) वह है इस कारण नहीं, आ..हा..हा... वह ज्ञान स्वतः स्व-पर को जाननरूप परिणमित होता है। ऐसा ही पर्याय का धर्म है। और वही आत्मा का पूर्ण स्वरूप है, आ..हा..हा... ! इसमें तो याद रहना मुश्किल पड़े ! यह तो बहुत परिचय करे तो समझ में आ सकता है ! यह ऐसा (आसान) नहीं ! आहा..हा...! सर में ऐसा बहुत घुस गया हो और उसमें यह धर्म के नाम पर भी बाधा घुस गई हो तो उन्हें निकालना कठिन हैं!

श्रोता :- ये ज्यादा कठिन हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- ये ज्यादा कठिन ! बात बराबर ! आ..हा..हा...!

(यहाँपर) `**...आत्मा समस्त द्रव्य-पर्याय...**' आया न ? सामनेवाले का द्रव्य और आत्मा जो द्रव्य है उसे भगवान जानते हैं, ज्ञान (जानता है)। और उसकी विकारी-अविकारी पर्याय जो गुणस्थान की जो-जो पर्याय है और सिद्ध की जो पर्याय है उसे अपने ज्ञान में उसके अवलंबन रहित (जानते हैं)। अवलंबन अर्थात् निमित्त है, ऐसा भाषा आती है। अवलंबन का अर्थ (निमित्त ऐसा आता है)। परंतु उसका मतलब यह कि उसके आश्रय रहित। आ..हा..हा...!

आत्मा का - ज्ञान की पर्याय का स्वभाव है कि, वह परिपूर्ण रूप परिणमित होती है। यदि परिपूर्णरूप परिणमित न हो तो वह आत्मा ही नहीं। क्योंकि ज्ञान का स्वभाव सब ज्ञेय को जानना

(यह है)। तो उसकी जानने की पर्याय का धर्म ही ऐसा है कि, जानने में पूर्णरूप परिणमित हो। इस प्रकार यदि न परिणमित हो तो वह आत्मा ही नहीं, आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ? ऐसा उपदेश...! (यानी) `सोनगढवाले ऐसा (उपदेश करते हैं...)' ऐसे बेचारे लोग कहते हैं !

कल (एक व्यक्ति का) बहुत (लेख) था, बहुत सख्त शब्द इस्तेमाल किये हैं-`सब मिथ्यादृष्टि हैं और आपके सभी सुननेवाले अमुमुक्षु हैं !' भगवान ! वस्तु से तू भी भगवान है न बापू ! परंतु तेरी पर्याय में बड़ी मूढ़ता...! आ..हा..हा...!

(यहाँपर कहते हैं) `**...समस्त द्रव्य-पर्यायरूप समस्त ज्ञेय को...**' `समस्त द्रव्य-पर्यायरूप समस्त ज्ञेय को' कहा न ! `**...नहीं जानता, उसका ज्ञान (समस्त ज्ञेय जिसका निमित्त है ऐसे) समस्तज्ञेयाकारपर्यायरूप...**' परिणमित होता नहीं। समस्त ज्ञेयाकाररूप परिणमित होता नहीं। जो अग्नि समस्त दाह्याकार से परिणमित नहीं सो अग्नि नहीं। ऐसे समस्त ज्ञेयाकाररूप जो ज्ञान परिणमित नहीं होता वह आत्मा नहीं ! आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ? `**...अपूर्णरूप से परिणमित होता है - परिपूर्णरूप से परिणमित नहीं होता, इसलिये परिपूर्ण एक ज्ञान जिसका स्वरूप है...**' (अर्थात्) भगवानआत्मा का तो परिपूर्ण ज्ञान जिसका स्वरूप है। परिपूर्ण ज्ञान में तो सर्व ज्ञेयाकाररूप जानना ऐसा उसका स्वरूप है, आहा..हा...!

`**...ऐसा वह आत्मा अपने रूप से ही पूर्ण रीति से परिणमित नहीं होता...**' ऐसा वह आत्मा... आ..हा..हा...! केवल Logic-न्याय हैं ! किन्तु यह समझने के लिये (गरज चाहिये)। `**...अपने रूप से ही पूर्ण रीति से परिणमित नहीं होता...**' (अर्थात्) अपना अपना जो स्वरूप है सर्व ज्ञेय को जानना, ज्ञेय के अवलंबन रहित - स्वतः ऐसा ही उसका स्वरूप है उसरूप परिणमित होता नहीं तो वह स्वयंरूप (ही) परिणमित होता नहीं। `**...अर्थात् निजको ही पूर्णरीति से अनुभव नहीं करता - नहीं जानता।**' आ..हा..हा...! `**इस प्रकार सिद्ध हुआ...**' इस प्रकार निश्चित हुआ `**...कि जो सबको नहीं जानता वह एक को - अपने को (पूर्ण रीति से) नहीं जानता।**' (जो) सबको जानता नहीं वह एक की - स्वयं की पूर्ण दशा है उसे जानता नहीं यानी स्वयं है नहीं।

श्रोता :- अंत में ऐसा कहा कि `अपने को पूर्ण रीति से जानता नहीं' (इसका क्या मतलब?)

समाधान :- पूर्णरूप से जाने तो वह आत्मा है, उसका स्वरूप ही ऐसा है, आ..हा..हा...! किसी ज्ञेय को अपना मानना ऐसा स्वरूप नहीं और ज्ञान के परिणमन में कोई ज्ञेय बिना जाने रह जाय ऐसा कोई ज्ञेय नहीं, आ..हा..हा...! अतः श्रुतज्ञान और केवलज्ञान को मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही भेद कहा। (वैसे) पूर्ण सब कहा है।

श्रोता :- श्रुतज्ञान सब पर्यायों को जानता नहीं !

समाधान :- यह प्रत्यक्षरूप से नहीं जानता, उस अपेक्षा से नहीं जानता, परंतु परोक्षरूप तो सबको जाने ऐसा स्वभाव है, आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ... ? यह एक गाथा हुई - `सबको नहीं जानता वह एक को नहीं जानता' एक यह गाथा हुई। अब, `एक को नहीं जानता वह सबको जानता नहीं' यह गाथा आती है। समझ में आया कुछ ? आ..हा..हा...!

❋ ❋ ❋

अथैकमजानन् सर्वं न जानातीति निश्चिनोति–

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि।।४९।।

द्रव्यमनन्तपर्यायमेकमनन्तानि द्रव्यजातानि।
न विजानाति यदि युगपत् कथं स सर्वाणि जानाति।।४९।।

आत्मा हि तावत्स्वयं ज्ञानमयत्वे सति ज्ञातृत्वात् ज्ञानमेव। ज्ञानं तु प्रत्यात्मवर्ति प्रतिभासमयं महासामान्यम्। तत्तु प्रतिभासमयानन्तविशेषव्यापि। ते च सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनाः। अथ यः सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनानन्तविशेषव्यापिप्रतिभासमयमहासामान्यरूपमात्मानं स्वानुभवप्रत्यक्षं न करोति स कथ प्रतिभासमयमहासामान्यव्याप्यप्रतिभासमयानन्तविशेषनिबन्धनभूतसर्वद्रव्य-पर्यायान् प्रत्यक्षीकुर्यात्। एवमेतदायाति य आत्मानं न जानाति स सर्वं न जानाति। अथ सर्वज्ञानादात्मज्ञानमात्मज्ञानात्सर्वज्ञानमित्यवतिष्ठते। एवं च सति ज्ञानमयत्वेन स्वसंचेतकत्वादात्मनो ज्ञातृज्ञेययोर्वस्तुत्वेनान्यत्वे सत्यपि प्रतिभासप्रतिभास्यमानयोः स्वस्यामवस्थायामन्योन्यसंवलनेना-त्यन्तमशक्यविवेचनत्वात्सर्वमात्मनि निखातमिव प्रतिभाति। यद्येवं न स्यात् तदा ज्ञानस्य परिपूर्णात्मसंचेतनाभावात् परिपूर्णस्यैकस्यात्मनोऽपि ज्ञानं न सिद्ध्येत्।।४९।।

अथैकमजानन् सर्वं न जानातीति निश्चिनोति – **दव्वं** द्रव्यं **अणंतपज्जयं** अनन्तपर्यायं **एगं एकं अणंताणि दव्वजादीणि** अनन्तानि द्रव्यजातीनि **जो ण विजाणदि** यो न विजानाति अनन्तद्रव्यसमूहान् **किध सो सव्वाणि जाणादि** कथं स सर्वान् जानाति **जुगवं** युगपदेकसमये, न कथमपीति। तथा **हि**-आत्मलक्षणं तावज्ज्ञानं तच्चाखण्डप्रतिभासमयं सर्वजीवसाधारणं महासामान्यम्। तच्च महासामान्यं ज्ञानमयानन्तविशेषव्यापि। ते च ज्ञानविशेषा अनन्तद्रव्यपर्यायाणां विषयभूतानां ज्ञेयभूतानां परिच्छेदका ग्राहकाः। अखण्डैकप्रतिभासमयं यन्महासामान्यं तत्स्वभाव-मात्मानं योऽसौ प्रत्यक्षं न जानाति स पुरुषः प्रतिभासमयेन महासामान्येन ये व्याप्ता अनन्त-ज्ञानविशेषास्तेषां विषयभूताः येऽनन्तद्रव्यपर्यायास्तान् कथं जानाति, न कथमपि। अथ एतदा-यातम्–यः आत्मानं न जानाति स सर्व न जानातीति। तथा चोक्तम् – 'एको भावः सर्वभाव-स्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः। एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः।।' अत्राह शिष्यः– आत्मपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञानं भवतीत्यत्र व्याख्यातं, तत्र तु पूर्वसूत्रे भणितं सर्वपरिज्ञाने सत्यात्मपरिज्ञानं भवतीति। यद्येवं तर्हि छद्मस्थानां सर्वपरिज्ञानं नास्त्या-त्मपरिज्ञानं कथं भविष्यति, आत्मपरिज्ञानाभावे चात्मभावना कथं, तदभावे केवलज्ञानोत्पत्तिर्ना-

स्तीति। परिहारमाह – परोक्षप्रमाणभूतश्रुतज्ञानेन सर्वपदार्था ज्ञायन्ते। कथमिति चेत्– लोकालोकादिपरिज्ञानं व्याप्तिज्ञानरूपेण छद्मस्थानामपि विद्यते, तच्च व्याप्तिज्ञानं परोक्षाकारेण केवलज्ञानविषयग्राहकं कथंचिदात्मैव भण्यते। अथवा स्वसंवेदनज्ञानेनात्मा ज्ञायते, ततश्च भावना क्रियते, तया रागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानभावनया केवलज्ञानं च जायते। इति नास्ति दोषः।।४९।।

अब, ऐसा निश्चित करते हैं कि एकको न जाननेवाला सबको नहीं जानता :-

गाथा ४९

जो एक द्रव्य अनन्तपर्यय तेम द्रव्य अनन्तने।
युगपद न जाणे जीव, तो ते केम जाणे सर्वने ?।।४९।।

अन्वयार्थ :- [यदि] यदि **[अनन्तपर्यायं]** अनन्त पर्यायवाले **[एकं द्रव्यं]** एक द्रव्यको (-आत्मद्रव्यको) **[अनन्तानि द्रव्यजातानि]** तथा अनन्त द्रव्यसमूहको **[युगपद्]** एक ही साथ **[न विजानाति]** नहीं जानता **[सः]** तो वह पुरुष **[सर्वाणि]** सबको (-अनन्त द्रव्यसमूहको) **[कथं जानाति]** कैसे जान सकेगा ? (अर्थात् जो आत्मद्रव्यको नहीं जानता हो वह समस्त द्रव्यसमूहको नहीं जान सकता)।

प्रकारान्तरसे अन्वयार्थ :- [यदि] यदि **[अनन्तपर्यायं]** अनन्त पर्यायवाले **[एकं द्रव्यं]** एक द्रव्यको (-आत्मद्रव्यको) **[न विजानाति]** नहीं जानता **[सः]** तो वह पुरुष **[युगपद्]** एक ही साथ **[सर्वाणि अनन्तानि द्रव्यजातानि]** सर्व अनन्त द्रव्य-समूहको **[कथं जानाति]** कैसे जान सकेगा ?

टीका :- प्रथम तो आत्मा वास्तवमें स्वयं ज्ञानमय होनेसे ज्ञातृत्वके कारण ज्ञान ही है; और ज्ञान प्रत्येक आत्मामें वर्तता (-रहता) हुआ प्रतिभासमय महासामान्य है। वह प्रतिभासमय महासामान्य प्रतिभासमय अनन्तविशेषोंमें व्याप्त होनेवाला है; और उन विशेषोंके (-भेदोंके) निमित्त सर्व द्रव्यपर्याय हैं। अब जो पुरुष सर्व द्रव्यपर्याय जिनके निमित्त हैं ऐसे अनन्त विशेषोंमें व्याप्त होनेवाले प्रतिभासमय महासामान्यरूप आत्माका स्वानुभव प्रत्यक्ष नहीं करता, वह (पुरुष) प्रतिभासमय महासामान्यके द्वारा व्याप्य (-व्याप्य होने योग्य) जो प्रतिभासमय अनन्त विशेष हैं उनकी निमित्तभूत सर्व द्रव्यपर्यायोंको कैसे प्रत्यक्ष कर सकेगा ? (नहीं कर सकेगा) इससे ऐसा फलित हुआ कि जो आत्माको

नहीं जानता वह सबको नहीं जानता।

अब इससे ऐसा निश्चित होता है कि सर्वके ज्ञानसे आत्माका ज्ञान और आत्माके ज्ञानसे सर्वका ज्ञान (होता है); और ऐसा होनेसे, आत्मा ज्ञानमयताके कारण स्वसंचेतक होनेसे, ज्ञाता और ज्ञेयका वस्तुरूपसे अन्यत्व होनेपर भी प्रतिभास और प्रतिभास्यमानकर अपनी अवस्थामें अन्योन्य मिलन होनेके कारण (ज्ञान और ज्ञेय, आत्माकी-ज्ञानकी अवस्थामें परस्पर मिश्रित-एकमेकरूप होनेसे) उन्हें भिन्न करना अत्यन्त अशक्य होनेसे मानो सब कुछ आत्मामें निखात (प्रविष्ट) होगया हो इसप्रकार प्रतिभासित होता है-ज्ञात होता है। (आत्मा ज्ञानमय होनेसे वह अपनेको अनुभव करता है-जानता है, और अपनेको जाननेपर समस्त ज्ञेय ऐसे ज्ञात होते हैं - मानों वे ज्ञानमें स्थित ही हों, क्योंकि ज्ञानकी अवस्थामेंसे ज्ञेयाकारोंको भिन्न करना अशक्य है।) यदि ऐसा न हो तो (यदि आत्मा सबको न जानता हो तो) ज्ञानके परिपूर्ण आत्मसंचेतनका अभाव होनेसे परिपूर्ण एक आत्माका भी ज्ञान सिद्ध न हो।

भावार्थ :- ४८ और ४९ वीं गाथामें ऐसा बताया गया है कि जो सबको नहीं जानता वह अपनेको नहीं जानता, और जो अपनेको नहीं जानता वह सबको नहीं जानता। अपना ज्ञान और सबका ज्ञान एक साथ ही होता है। स्वयं और सर्व इन दोमेंसे एकका ज्ञान हो और दूसरेका न हो यह असम्भव है।

यह कथन एकदेश ज्ञानकी अपेक्षासे नहीं किन्तु पूर्णज्ञानकी (केवलज्ञानकी) अपेक्षासे है।।४९।।

`**अब, ऐसा निश्चित करते हैं कि एकको न जाननेवाला सबको नहीं जानता :-**' आ..हा..हा...!

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि।।४९।।

जो एक द्रव्य अनंतपर्यय तेम द्रव्य अनन्तने।
युगपद न जाणे जीव, तो ते केम जाणे सर्वने ?।।४९।।

आ..हा..हा...! उसका अन्वयार्थ लेंगे। दो अर्थ हैं न ? `**यदि अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्य को** (**-आत्मद्रव्य को**) **तथा अनन्त द्रव्यसमूह को...**' क्योंकि एक द्रव्य स्वयं है वह अनादि-अनंत

पर्यायवाला है, आ..हा..हा...! अनादि-अनंत पर्यायवाला यह द्रव्य है ! `**यदि अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्य को...**' समझे इसमें ? एक को जानने का मतलब यह कि, त्रिकाली अनंत पर्यायवाला द्रव्य है उसे जाने। एक समय की पर्यायवाला (द्रव्य) ऐसा नहीं। आ..हा..हा...!

`अनंत पर्यायवाले एक द्रव्य को' - इसमें ऐसा कहना है कि, एक आत्मा जाने तो - तो आत्मा में जो त्रिकाली पर्याय है वह उसमें भी वह उसमें आ गई। वह त्रिकाली पर्याय में (वर्तमान) श्रुतज्ञान की पर्याय में भी सबकुछ ज्ञात हुआ ऐसा आ गया। और उसे केवलज्ञान होनेवाला है वह केवलज्ञान की पर्याय भी एक द्रव्य को जाननेपर अंदर केवलज्ञान की पर्याय (भी) आ गई। क्या कहा समझ में आया कुछ ? आ..हा..हा...! गजब शैली है !!

यह भगवानआत्मा ! `एक द्रव्य' उसे कहेंगे कि जो अनादि-अनंत पर्यायवाला वह द्रव्य। अब, उसे भविष्य में कुछ एक भव में तो केवलज्ञान होनेवाला है। समझ में आया कुछ ? अब, केवलज्ञान होगा वह सादि-अनंत (काल) रहेगा तो आत्मा वह अनादि-अनंत पर्यायवाला द्रव्य है, आ..हा..हा...! एक द्रव्य में अनादि-अनंत पर्यायवाला द्रव्य है उसे यदि जाने तो सबको जानता है, ऐसे (उसमें) आ गया। क्योंकि अनादि-अनंत पर्याय में (भविष्य में) केवलज्ञान होगा अथवा (वर्तमान में) श्रुतज्ञान हुआ वह (पर्याय)वाला द्रव्य है उसमें और सब जानने में आये यह तो आ गया, आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ? आ..हा..हा...!

कोई कहे कि, `श्रुतज्ञान का इतना ही अंश लो और केवलज्ञान (मत लो) !' किन्तु केवलज्ञान उसके ज्ञान में आ गया। इस आत्मा को केवलज्ञान होनेवाला है और यह केवलज्ञान सादि-अनंतकाल रहनेवाला है। (इस कारण) इस एक द्रव्य जानने से अनंत पर्यायवाला केवलज्ञान की पर्यायवाला (जानना) भी भीतर आ गया, आहा..हा...! यह `पंचास्तिकाय संग्रह' में एक जगह लिखा है। समझ में आया ? भविष्य की पर्याय भी अल्पज्ञ ही रहेगी, यह प्रश्न ही अभी नहीं। यह तो यह तत्त्व-ज्ञान जिसे खयाल में आ गया उसे भविष्य में केवलज्ञान होनेवाला ही है। हाल में श्रुतज्ञान में परोक्षरूप पूर्ण जानता है आगे केवलज्ञान में प्रत्यक्षरूप पूर्ण जानेगा। परंतु जानेगा ऐसा न लेते हुए हाल में स्वयं (पूर्ण को जानता है, ऐसा कहते हैं)। आ..हा..हा...! प्रभु ! तेरी बलिहारी है ! तू कौन है ? कितना बड़ा है ? आ..हा..हा...! समझ में आया है ? जरा सूक्ष्म बात है थोड़ी ! तुम्हारे बही-खाते में आये नहीं, सोच में भी आये नहीं, व्यापार में आये नहीं! आ..हा..हा...!

भगवान ! एक समय में तीनकाल व तीनलोक को (जाने ऐसा) तीनकाल का (त्रिकाली)

अपना स्वरूप है, आ..हा..हा...! उसके ज्ञान में लोकालोक जानने में आता है, ऐसा उसका ज्ञान है। अतः अनादि-अनंत पर्यायवाले द्रव्य को जो जानता है - वह एक को जाने वह सबको जानता है, आ..हा..हा...! इसमें कुछ समझ में आया ?

`**यदि अनंत पर्यायवाले द्रव्य को (-आत्मद्रव्य को) तथा...**' तथा साथ में लिया है परंतु वास्तव में तो अनंत द्रव्यों को नीचे लेंगे। नीचे है, देखो ! `**यदि अनंत पर्यायवाले एक द्रव्य को (-आत्मद्रव्य को) नहीं जानता तो वह पुरुष एक ही साथ सर्व अनंत द्रव्य-समूह को कैसे जान सकेगा ?**' नीचे दूसरा अर्थ (दिया है)। यहाँ तो प्रभु आत्मा ! अनादि-अनंत पर्यायवाला द्रव्य और अनादि-अनंत पर्याय में श्रुतज्ञान की पर्याय और केवलज्ञान की पर्याय भी आ गई। आहा..हा...! और वह श्रुतज्ञान की पर्याय में सबको जानता है और केवलज्ञान में प्रत्यक्षरूप सबको जानता है। ऐसा अनादि-अनंत पर्यायवाला द्रव्य (है) ऐसा जिसने जाना - उस एक को जाना उसने सब को जाना, (यह) इस में आ गया, आहा.. समझ में कुछ आता है ?

आ..हा..हा...! आत्मा भीतर क्या वस्तु है ! चेतन्य निधान है !! चैतन्य हीरा ! जिसके ज्ञान की पर्याय की... गुण की तो क्या बात करें, परंतु उसकी पर्याय की अपरिमीतता है ! आ..हा..हा...! ऐसी पर्याय भी प्रगटने की है तो वह अनंत-अनंत पर्याय का पिंड यह द्रव्य है, आहा..हा...! यह आत्मा अनंत पर्याय का पिंड सो द्रव्य है, तो अनंत पर्याय में केवलज्ञान की पर्याय, सिद्ध की पर्याय होनेवाली है, वह सभी उस में आ गई, आहा..हा...! समझ में आया कुछ? न हो, यह प्रश्न यहाँ है नहीं ! यहाँ तो हो उसी का प्रश्न है !! आहा...! समझ में आया कुछ?

दूसरी रीति से कहे तो `समयसार' की ३८ गाथा `प्रवचनसार' की ९२ गाथा...! आ..हा..हा...! अप्रतिबुद्ध को प्रतिबुद्ध ज्ञानी, पंचमकाल के जीव को सुनाते हैं और सुनकर उसे ज्ञान होता है और वह ज्ञान ऐसा होता है, ऐसा कहते हैं कि, गिरे नहीं ! (पतित न हो) आ..हा..हा...! ऐसे श्रोतागण वहाँ लिये हैं ! (`समयसार' की) पाँचवीं गाथा में कहा न ! `**तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।**' (अर्थात्) मेरे ज्ञान के वैभव से मैं एकत्व और पर से विभक्त की बात कहूँगा ! `**जदि दाएज्ज**' पुनः लिया ! पहले तो कहा `**एयत्तविहत्तं दाएहं**' - मैं बताऊँगा! परंतु `**जदि दाएज्ज**' - (यदि बताऊँ तो) अनुभव कर के प्रमाण करना ! आ..हा..हा...! इसमें कुछ समझ में आता है ? उसे प्रभु ने ऐसा नहीं कहा कि, मैं कहता हूँ वह तू नहीं समझ पायेगा ! आ..हा..हा...! प्रभु ! तू समझ पायेगा हाँ...! और समझ पायेगा उसमें ऐसा समझ पायेगा कि, तेरा जो ज्ञान प्रगट होगा सो नहीं गिरेगा इस प्रकार समझेगा !! ऐसी बातें हैं ! आ..हा..हा...!

(`प्रवचनसार' की) ९२ गाथा में भी कहा न ? आगम कौशल्य से जो ज्ञान हमें प्रगट हुआ है सो अब गिरनेवाला नहीं ! आ..हा..हा...! (`समयसार') ३८ (गाथा में) ऐसा कहा कि, अप्रतिबुद्ध को समझाया ! गुरु ने बारबार समझाया ऐसा कहा है। और बारबार समझाया उसका मतलब यह है कि, उसने बारबार उसका मनन किया, आ..हा..हा...! `गुरु ने बारबार समझाया' यह (पाठ) भी है। पंचमकाल के जीव हैं तो बहुधा कहेंगे, ऐसा। तब उसे बात समझ में आ जाती है। आ..हा..हा...! (`जीव अधिकार' की) ३८ गाथा अंतिम है न ? जीव का अधिकार पूर्ण (होता) है। इसलिये उसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों का परिणमन हो जाता है ! आ..हा..हा...! ऐसा ही जीव लिया है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणमित हो जाता है और यह परिणमन उसका अप्रतिहत है। दर्शन और ज्ञान की अपेक्षा से, चारित्र की अपेक्षा से नहीं। समझ में आया कुछ? आ..हा..हा...!

यहाँपर कहते हैं, प्रभु ! अनंत पर्यायवाले एक आत्मद्रव्य को तथा अनंत द्रव्यसमूह को (एक) साथ ही (जानते हैं, ऐसा) कहते हैं। तीनकाल की पर्यायवाला द्रव्य जाना उस के साथ ही युगपद् सबको जाने, आ..हा..हा...! यानी क्या कहा समझ में आया ? कि, अनादि-अनंत पर्यायवाला द्रव्य (है) तो अनंत-अनंत पर्यायवाला (द्रव्य है ऐसे) यहाँपर जाना इसके साथ युग्पद सबको जानता है। आत्मा को अनादि-अनंत पर्यायवाला जाना और दूसरे को जानने के लिये कोई दूसरा काल है, ऐसा नहीं, ऐसे कहते हैं। आ..हा..हा...! क्या शैली...! क्या शैली...! गज़ब है !! आहा..हा...!

श्रोता :- इसमें से कितना निकलता है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- उसमें लिखा है ! उसमें है न ! आहा...! अरे... प्रभु ! सब भरा है, भाई ! तेरे में क्या नहीं !? इसका तो इसमें रहा, तेरे में क्या नहीं !? यह यहाँ (कहते हैं)। आ..हा..हा...! अब तक तो हमारे यहाँ `अन्वयार्थ' चल रहा है !

`**यदि अनंत पर्यायवाले एक द्रव्य को (-आत्मद्रव्य को)** (**अनन्तानि द्रव्यजातानि**) **तथा अनंत द्रव्यसमूह को एक ही साथ...**' (अर्थात्) अनादि-अनंत पर्यायवाला द्रव्य और उस समय युगपद् सब पूर्ण जानना - यह समय तो एक ही है, आहा..हा...! भगवानआत्मा, अनादि-अनंत पर्याय-अंत नहीं... अंत नहीं... अंत नहीं... ऐसा पर्यायवाला द्रव्य जहाँ जाना उस के साथ सब ज्ञेयों को साथ में जाना, (यह) आ गया। `युगपद्' शब्द का प्रयोग किया है न !

आ..हा..हा...! ऐसी बातें सुनने मिले... बापू ! यह तो महाभाग्य हो उनको मिले ऐसा है!!

आ..हा..हा...! `**जदि दाएज्ज**' आ..हा..हा...! `**जदि**' बताऊँ... पहले तो कहा मैं बताऊँगा ! और कहा कि, `**जदि दाएज्ज**' - यदि तू सुनने आया और बताऊँ... आ..हा..हा...! ऐसी ही शैली ली है ! प्रमाणित करना ! अनुभव से प्रमाणित करना ! `हाँ' कह दे इतना नहीं ! निर्विकल्परूप जानकर अनुभव से प्रमाणित करना ! आ..हा..हा...! प्रभु ! आप पंचमकाल के अप्रतिबुद्ध श्रोता के लिये इतना सब (कहते हो) ! भगवान है न ! उसे काल कहाँ बाधा देता है ? उस काल में कहाँ आत्मा है ? वह तो ज्ञान में है) ! आ..हा..हा...! वह पंचमकाल का आत्मा है ? चौथे काल का आत्मा है ? काल का आत्मा है ही नहीं !! यह तीनकाल की पर्यायरूप द्रव्य को जाना उस में तीनकाल के सब काल भी ज्ञेय(रूप) जानने में आ गये, आ..हा..हा...! यह चौथाकाल और पंचमकाल की पर्याय भी अपनी अनंत पर्यायवाले द्रव्य को जाना उस में यह पर्याय आ गई। `युगपद्' आ गई, ऐसा कहा ! आ..हा..हा...! गज़ब बात है ! है ? अभी अन्वयार्थ चल रहा है हाँ...!

श्रोता :- जमी...!

पूज्य गुरुदेवश्री :- जमी...!? आ..हा..हा...! प्रभु तेरे वहाँ न जमे तो कहाँ जमेगी, भाई ? अनंत ज्ञान और अनंत आनंद का सागर प्रभु ! तेरे में कमी कहाँ है ? तेरे ख़जाने में कमी नहीं, नाथ ! आ..हा..हा...! तेरा ख़जाना परिपूर्ण भरा है !! आ..हा..हा...! ऐसा जो भगवान ! अनंत पर्यायवाला द्रव्य उसके साथ केवलज्ञान भी आ गया ! ऐसी अनंत पर्यायवाला द्रव्य जिसने जाना उसने (अनन्तानि द्रव्यजातानि) अनंत द्रव्य को यगपद् जाना है। यदि वह `**...एक ही साथ नहीं जानता तौ वह पुरुष सबको कैसे जान सकेगा ?**' एक समय में अनादि-अनंत पर्यायवाले द्रव्य को जाना उसमें युगपद् सब आ गया। यदि युगपद् सब न आये तो वह एक को भी जान सकता नहीं, आ..हा..हा...! ऐसी बातें...! (संप्रदाय में) तो दया का पालन करना, व्रत करना, उपवास करना (ऐसा आसान आता है) ! इन सेठों को ऐसा कहे कि, दान करना !

`स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में आता है कि, जो कमाई हो उसका छठवाँ भाग हर साल दान (में) खर्च करना ! एक दफा पचास हजार दिये और पच्चीस हजार (दिये), ऐसे नहीं। छः बोल आते हैं न ? आ..हा..हा...! `स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में आता है ! ऐसा ही उसका पर्याय उस समय होता है, ऐसा कहते हैं। आ..हा..हा...! ऐसा विकल्प जो है वह भी अनादि-अनंत पर्याय में आ गया। समझ में आया कुछ ?

(यहाँपर कहते हैं) अनंत पर्यायवाला द्रव्य जिसने जाना उसने सब जाना। और यदि सब न जाना तो उसने आत्मा अनादि-अनंतवाले स्वयं को ही जाना नहीं, आ..हा..हा...! `**...तो वह**

पुरुष सबको कैसे जान सकेगा ? (**अर्थात् जो आत्मद्रव्य को नहीं जानता हो वह समस्त द्रव्यसमूह को नहीं जान सकता**)**।**' आ..हा..हा...! `एक को नहीं जाननेवाला सबको जानता नहीं' ऐसे यहाँपर सिद्ध करना है न ? (आगे की गाथा में) ऐसा था कि, `सब न जाने सो एक को न जाने।' क्योंकि सबको जाननेवाला द्रव्य स्वयं है, वह (यदि) सब न जाने तो वह द्रव्य अपना परिपूर्ण स्वरूप है उसे भी उसने जाना नहीं, आ..हा..हा...! यहाँपर (कहते हैं) आत्मा का परिपूर्ण स्वरूप जो अनंत-अनादि पर्यायवाला द्रव्य है, उसे जो न जाने वह तीनकाल के अन्य द्रव्य को जान सके नहीं। और जिसने भगवान आत्मा को अनादि-अनंत पर्यायवाला जाना उसे युगपद् ही सब साथ जानना उस में आ जाता है, आ..हा..हा...! ऐसा मार्ग है !

नीचे (दूसरे अन्वयार्थ) का अर्थ हो गया (है)। `**यदि अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्य को** (-**आत्मद्रव्य को**) **नहीं जानता तो वह पुरुष एक ही साथ सर्व अनन्त द्रव्यसमूह को कैसे जान सकेगा ?**' ऐसे कहते हैं, ऐसा अर्थ किया। जो अनंत पर्यायवाले एक द्रव्य को जानता नहीं तो वह युगपद् उसी समय अनंत द्रव्यसमूह को किस प्रकार जान सके ? आ..हा..हा...! ऐसा आत्मा जिसका... आ..हा..हा...! जिसकी पर्याय में अनंत ज्ञेयों को जानने का स्वतः स्वभाव है, ऐसी-ऐसी अनंत पर्याय का पिंड-द्रव्य, उसे जिसने नहीं जाना तो (उसने) सबको नहीं जाना। और उसे जिसने जाना, उसने उसी समय सब जाना है। उसी समय सब जाना है !

आ..हा..हा...! यह तो सीधी भगवान की वाणी है ! आ..हा..हा...! ऐसी बात कहाँ है, प्रभु! लोगों को ऐसा लगे कि, `यह दिगंबर संप्रदाय स्थापित करते हैं !' किन्तु बापू ! दिगंबर संप्रदाय वह संप्रदाय ही नहीं ! यह वस्तु-विश्वधर्म है। `**घट घट अंतर जिन वसे ने घट घट अंतर जैन**' क्या कहा यह ? `**घट घट अंतर जिन वसे**' भगवान पूर्णानंद का नाथ ! सब (घट में) जिन बसते हैं ! और `**घट घट अंतर जैन**' यह आत्मा जिसने त्रिकाली पर्यायवाला जाना वह जैन है ! आहा..हा...! समझ में आता है कुछ ? और उसके ज्ञान में अनादि-अनंत पर्यायवाला जो द्रव्य आया तो उसे पर्याय में अन्य (पदार्थ) ज्ञात हुए, उस में ज्ञात हुए वह पर्याय भी साथ आ गई है। इसलिये सबको वह जानता है, आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !

टीका :- `प्रथम तो आत्मा वास्तव में स्वयं ज्ञानमय होने से...**' अब, यह सिद्ध करते हैं। प्रभु है यह तो ज्ञानमय है। ज्ञानवाला है ऐसा भी नहीं, आ..हा..हा...! स्वयं ! वास्तव में ! `वास्तव में' (शब्द) है न ! (संस्कृत में) `**तावत**' है न ? आ..हा..हा...! `आत्मा हि**' ! `**हि**' है `**हि**' ! संस्कृत में `**हि**' है। `**तावत**' का अर्थ `प्रथम' (है)।

'**प्रथम तो आत्मा...**' यानी कि मुख्य बात कहनी है कि आत्मा...! '**...वास्तव में स्वयं ज्ञानमय होने से...**' (अर्थात्) स्वयं ज्ञानस्वरूप है ! आ..हा..हा...! '**ज्ञातृत्व के कारण...**' '**...स्वयं ज्ञानमय होने से ज्ञातृत्व के कारण ज्ञान ही है;...**' समझ में आया कुछ ? '**...और ज्ञान प्रत्येक आत्मा में वर्तता (-रहता) हुआ...**' आ..हा..हा...! वह ज्ञान प्रत्येक आत्मा में स्थित '**...प्रतिभासमय महासामान्य है।**' (अर्थात्) ज्ञान है वह महासामान्य है। अब, उसमें विशेष हैं वे इसके भेद हैं। स्व को जानना विशेष (हैं) और पर को जानना वह भी विशेष है। ज्ञानसामान्य तो सामान्य रूप ज्ञान कहा। समझ में आया कुछ ? आ..हा..हा...!

'**...ज्ञान प्रत्येक आत्मा में वर्तता (-रहता) हुआ प्रतिभासमय...**' प्रतिभासमय...! आ..हा..हा...! '**...महासामान्य है।**' उस ज्ञान में ज्ञान ज्ञात होता है - आत्मा ज्ञात होता है ऐसा वह प्रतिभासमय महासामान्य है। भगवान ज्ञानस्वरूप है, उसमें वह ज्ञानस्वरूप पूर्ण जाने ऐसा प्रतिभासमय महासामान्य ज्ञान है। आहा..हा...! '**वह प्रतिभासमय महासामान्य प्रतिभासमय अनंत विशेषों में व्याप्त होनेवाला है;...**' जो ज्ञान में त्रिकाली सामान्य है सो ज्ञात होता है, ऐसा जो ज्ञानस्वभाव वह अनंत विशेषों में व्याप्त होनेवाला (है)। यह ज्ञान का सामान्य पर्याय (है) उसमें अनंत विशेषों यानी जगत के जितने प्रकार हैं, वे सब अपनी विशेष पर्याय में जानते हैं, आ..हा..हा...! यह विशेष उसका स्वरूप है। (अर्थात्) सामान्यज्ञान का विशेष यह स्वरूप है कि, जिसमें तीनकाल तीनलोक के अनंत द्रव्य, गुण, पर्यायें आ जाती हैं, आ..हा..हा...! ऐसा मार्ग...!

भगवानआत्मा...! '**...वास्तव में स्वयं ज्ञानमय होने से...**' वह तो ज्ञानस्वरूप है। यह कोई कर्मस्वरूप या रागस्वरूप (नहीं), पर को अपनेरूप (माने) उस स्वरूप है ही नहीं, आहा..हा...! देह में भगवान चैतन्य सूर्य ! चैतन्य के प्रकाशमय स्वरूप है ! आ..हा..हा...! आत्मा यानी चेतन और ज्ञान यानी चेतन का स्वरूप, आहा..हा...! भगवानआत्मा अंदर ज्ञानस्वरूप है। चेतन है यह चैतन्य स्वरूप है। वह चेतन का सत्त्व चैतन्यस्वरूप है। आत्मा का सत्त्व चैतन्यस्वरूप है। आहा...! आत्मसत्ता उसका सत्त्व-भाव यह चैतन्यरूप है। आ..हा..हा...!

'**...ज्ञान प्रत्येक आत्मा में वर्तता (-रहता) हुआ प्रतिभासमय महासामान्य है।**' अब, उसके विशेषों में व्याप्त होनेवाला है। (अर्थात्) यह ज्ञान जगत के अनंत पदार्थों को अपनी विशेष पर्याय में जाने, ऐसा विशेषरूप परिणमित होना यह उसका स्वभाव है। विशेष कहेंगे...

(दिनांक २४-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-४९)

`प्रवचनसार', ४९ गाथा ! तीन पंक्तियाँ हो गई हैं परंतु टीका पुनः (लेते हैं)। **`प्रथम तो (यह) आत्मा...'** आ..हा..हा...! **`...वास्तव में स्वयं ज्ञानमय होने से...'** स्वयं ज्ञानमय होने से ! ज्ञानवान ऐसे भी नहीं। भगवान यह स्वयं ज्ञानस्वरूप ही है, आहा..हा...! **`...ज्ञानमय होने से ज्ञातृत्व के कारण...'** (अर्थात्) आत्मा का स्वभाव ज्ञाता है। **`...ज्ञान ही है;...'** ज्ञातृत्व के कारण भगवानआत्मा (ज्ञान ही है)। सूक्ष्म बात है, भाई ! हाल में तो ये सब बात (बदल) गई है।

इस देह में प्रभु ! ज्ञानस्वरूपी-ज्ञानस्वभावी होने से वह आत्मा ज्ञाता है, आ..हा..हा...! अतः **`...ज्ञातृत्व के कारण ज्ञान ही है; और ज्ञान प्रत्येक आत्मा में वर्तता (-रहता) हुआ...'** (अर्थात्) ज्ञान तो प्रत्येक आत्मा में है। यह ज्ञान **`...प्रतिभासमय महासामान्य है।'** सबमें है इस अपेक्षा से (महासामान्य कहा)। अब, प्रतिभासमय महासामान्य ज्ञान है यह **`...प्रतिभासमय अनंत विशेषों में व्याप्त होनेवाला है;...'** आ..हा..हा...!

४७ शक्ति है न ! (इस) शक्ति के स्वरूप में ऐसा लिया है (कि) अनंत गुण अक्रम हैं और उन गुण की निर्मल परिणित क्रम (में) हैं। राग को वहाँ लिया ही नहीं। क्योंकि उसका यह स्वरूप नहीं, आ..हा..हा...! भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु ! ऐसा आनंदस्वरूपी ! ऐसे अनंत गुणस्वरूपी (है)। ज्ञान तो प्रधानरूप-मुख्य(रूप) स्वपर को जानने की ताक़तवाला (है) इस कारण ज्ञान लिया है। वैसे (तो) ज्ञानरहित अनंत गुणस्वरूप सामान्य स्वभाव है। अनंत गुण हैं !

यहाँपर तो ऐसा क्यों लिया है ? कि, यह आत्मा कितना बड़ा है ? (यह बतलाना है)। आ..हा..हा...! एक आत्मा कितना बड़ा है ? कि, वह इतना बड़ा है कि, वह ज्ञानमय है। अतः ज्ञाता है, इसलिये वह ज्ञाता की पर्याय के विशेष में जगत के तीनकाल तीनलोक के द्रव्य, गुण, पर्याय निमित्तरूप है और पर्याय वह (सबको जानने)रूप परिणमित होती है, ऐसा उसका स्वरूप है ! ओ..हो..हो...! यह प्रत्येक आत्मा की बात चलती है।

श्रोता :- चींटी की आत्मा भी ऐसी ?

समाधान :- चींटी क्या एक निगोद के इतने भाग में... यहाँ कणिका है न..! यहाँ निगोद के जीव हैं ! अंगुल के असंख्य भाग में असंख्य तो औदारिक शरीर हैं ! यहाँ असंख्य भाग में

असंख्य औदारिक शरीर हैं। एक शरीर में अनंत जीव हैं। आहा...! प्रत्येक जीव अनंत गुण की शक्ति से भरा पड़ा है !

अब, यहाँ तो पर्याय में पूर्ण है यह बतलाना है। जैसा उसका ज्ञान पूर्णस्वरूप है वैसा ही उसकी पर्याय में - विशेष में (स्वरूप है)। आहा..हा...! एक ओर एक ही ज्ञान की पर्याय लो और एक ओर संपूर्ण आत्मा व गुण व लोकालोक लो तो एक ही पर्याय में सब आ जाता है।

क्या कहा ? समझ में आया ? सूक्ष्म है...! यह तो अभी चलता नहीं, बापू ! सत्य बात ऐसी है !

आहा..हा..हा...! भीतर यह भगवानआत्मा जो है उसका वास्तव में ज्ञानस्वभाव है। `सुख'गुण है न, भाई ! सुख गुण है। वहाँ ४७ (शक्ति में) `दर्शन' और `चारित्र' (शक्ति को) भिन्न नहीं ली। `दर्शन' (यानी) समकित और चारित्र को साथ में `सुख' (शक्ति में) डालकर यह तीन गुण का वर्णन (किया) है। मुझे यहाँ (कुछ) अलग कहना है कि, आत्मा ज्ञानस्वभाव है, यह ज्ञान वीतरागस्वभाव है। यह आनंदस्वभाव है, यह वीतरागस्वभाव है। क्योंकि आत्मा में एक चारित्र नामक वीतरागी गुण - अकषायस्वभाव का गुण है, आ..हा..हा...! यह अकषायस्वभाव यानी कि वीतराग स्वभाव का अनंतगुण में रूप है, आ..हा..हा...! धीरे से सुनना...! यह तो अगम-निगम की बातें हैं, प्रभु! यह तो दुनिया में कहीं भी (मिले ऐसी नहीं) ! आहा..हा...!

भगवान ज्ञानस्वभाव है यानी कि यह वीतरागस्वभाव है, आहा..हा...! इसका दर्शनस्वभाव है यह वीतरागस्वभाव है। क्योंकि उसमें वीतरागस्वभाव का गुण है। और एक गुण का अनंत गुण में रूप है, आ..हा..हा...! यह कल का स्पष्टीकरण चल रहा है। यह सब लंबा-लंबा क्यों (आता है) ? किन्तु आत्मा कितना बड़ा है उसे बताते हैं, ऐसे आत्मा को जानना ! आ..हा..हा...!

जिसमें ऐसा स्वभाव है कि, उसमें वीतरागस्वरूप है, आ..हा..हा...! भीतर अनंत षट्कारक भरे पड़े हैं ! कर्ता, कर्म, करण (आदि जो षट्कारक हैं उन में) कर्ता की शक्ति भी अनंत है। उस कर्ता की शक्ति में भी वीतराग का रूप है। कर्मशक्ति...! कर्म यानी कार्य करने की (शक्ति)। उस कार्यशक्ति में भी वीतराग का रूप है, आ..हा..हा...! कर्ता, कर्म, करण...! करण नामक गुण साधन है उसमें भी वीतराग का रूप है, आ..हा..हा...! `जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म, ये ही वचन से समझ ले, जिन प्रवचन का मर्म' आ..हा..हा...! भगवानआत्मा...! कान में पड़ने दो... आहिस्ता... आहिस्ता... आहा...! ये सब षट्कारक जो हैं - कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण - ये वीतरागस्वरूप हैं। उनमें वीतरागी रूप है। यानी यह षट् गुण का जो विकृत

परिणमन होता है, यह विकृत (रूप) है, यह उसका स्वरूप नहीं।

अतः `भाव' नामक एक गुण लिया है कि जो `भाव' नामक गुण के कारण (निर्मल पर्याय होगी ही)। क्योंकि विकार हो ऐसा कोई गुण नहीं। इससे षट्कारक के विकाररूप जो परिणमन होता है उससे रहित `भाव' नामक गुण है। ४७ (शक्ति में)...! आ..हा..हा...! यह षट्कारक की पर्याय में जो विकृतरूप - दया, दान, काम, क्रोध आदि होते हैं, उनसे रहित ऐसा उसका एक `भाव' नामक गुण है। जिस भावगुण के कारण वहाँ निर्मल पर्याय का ही क्रम होता है। वहाँ जो मलिनता है सो तो मात्र उसके ज्ञान (के) ज्ञेय में जाती है, इसलिये वास्तव में उसे गिना ही नहीं।

आ..हा..हा...! भगवानआत्मा ! एक बात (हुई)। षट्कारक जो गुण हैं उन षट्कारकरूप परिणमित होना ऐसी भी एक `क्रिया' नामक गुण है। यह क्रिया...! समझ में आता है कुछ ? आहा...! वह `क्रिया' नामक गुण है, उस की जो पर्याय है वह वीतरागी पर्याय है। आ..हा..हा...! अतः अनंतगुण का रूप वीतराग है और उसकी एक समय की अनंत पर्याय (हैं, ये वीतरागी पर्याय हैं) उनमें यहाँ एक समय की जो ज्ञान की विशेष पर्याय ली कि, जो एक समय के ज्ञान में... आ..हा..हा...! द्रव्य-गुण तो ज्ञात होते हैं परंतु लोकालोक (और) अनंत केवली ज्ञात हो ! एक ही पर्याय का इतना बड़ा अस्तित्व है !! समझ में आता है ? एक ओर एक समय की ज्ञान की पर्याय और एक ओर अपना त्रिकाली द्रव्य, त्रिकाली गुण और उनकी पर्याय ! एक ही समय की पर्याय का (यह) सब बड़ा अस्तित्व है ! अरे..रे...! भाई...! आत्मा क्या है ? कितना बड़ा है? इसकी ख़बर नहीं, आ..हा..हा...!

वह ज्ञानरूप परिणमित होता हुआ वह वीतरागभावरूप परिणमित होता है। समझ में आता है कुछ ? यह एकसमय की पर्याय में स्वयं, अपना द्रव्य-गुण और सर्वस्व...! (जाने), इतनी ताक़त उसकी एक समय की पर्याय में है ! ऐसी ही दूसरी श्रद्धा की पर्याय में इतनी ताक़त है ! यहाँ एक समय की पर्याय जो द्रव्य-गुण को जानती है उसकी प्रतीत करने की ताक़त भी अनंत है! पर्याय की बात (है) हाँ...! सूक्ष्म बात है ! वहाँ पैसे-फैसे में कहीं भी (मिले ऐसी) नहीं ! आ..हा..हा...!

दूसरी बात - कि, एक समय की (ज्ञान की) पर्याय इतनी बड़ी ! इतनी ही बड़ी एक श्रद्धा की पर्याय है ! इतनी ही बड़ी एक आनंद की पर्याय है ! इतनी ही बड़ी...! क्योंकि (भीतर) इतना बड़ा महाआनंद है...! इतनी ही बड़ी ये स्वरूपाचरण चारित्र की पर्याय है ! आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ? ऐसी एक-एक पर्याय की इतनी ताक़त !! जिसने सारा लोकालोक और अपने

द्रव्य-गुण (को जान लिया इतना बड़ा) एक पर्याय का संपूर्ण अस्तित्व है ! ऐसी एक समय की पर्याय है ! केवलज्ञान की श्रद्धा को परम अवगाढ समकित कहा है - उसका अर्थ यह है !! श्रद्धागुण सामान्य त्रिकाल (है)। किन्तु उसकी जो पर्याय है, वह ज्ञायक और ज्ञेय दोनों को जानने का जो स्वरूप है, वैसी दोनों की प्रतीति है। ज्ञायक की और ज्ञेय की (दोनों की प्रतीति है)। अनंत ज्ञेय एक समय में ज्ञान की विशेष पर्याय में निमित्त है। निमित्त है यानी `है'। क्योंकि वस्तु (ज्ञान का परिणमन) तो यहाँ है। ऐसे एक समय की वीतरागी पर्याय जो है - चारित्र की एक समय की पर्याय...! पूर्ण... पूर्ण... प्रभु ! यह तो क्या कहें, आ..हा..हा...! जिसकी एक समय की पर्याय में सारा लोकालोक ज्ञात हो वह स्वयं है, बस ! ऐसी दूसरी पर्याय में लोकालोक जाने, वह स्वयं ही है...! वैसे आनंद की एक समय की पर्याय में वीतरागता इतनी भरी है कि जिसका पूर्ण रूप है ! वीतरागता पूर्णरूप है। इस प्रकार अनंत गुण में वीतरागता का रूप है। और पर्याय में वीतरागता का रूप है। रूप है ! आ..हा..हा...! सूक्ष्म लगेंगी बातें, बापू ! यह तो अलग प्रकार की है बात !

`सबको जाने वह आत्मा को जाने और आत्मा को जाने वह सबको जाने' ऐसा क्यों कहते हैं ? आ..हा..हा...! बापू ! यह तो तीनलोक के नाथ ! सर्वज्ञ जिनेश्वरदेव आत्मा का वर्णन करते हैं ! आ..हा..हा...! भाई ! प्रभु ! तू कितना बड़ा है ? कहाँ है ? कितना है ? आ..हा..हा...! प्रभु! तेरी एक समय की ज्ञान की पर्याय में लोकालोक ज्ञात हो जाय, यह लोकालोक है इसलिये (ज्ञात होता है वैसा) नहीं। आहा..हा...! वैसे यहाँ द्रव्य-गुण है (इस कारण नहीं)। उस पर्याय की ही ताक़त इतनी है !

श्रोता :- इसमें यह सब कहाँ आया ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- इसमें यह सब है ! इसमें बहुत है ! एक बार रात्रि को पौन घंटा कहा गया है ! अब तो वह पुनः आये तब है न ! चार, पाँच दिन पहले पौने घंटा (कह गये हैं) ! पौने घंटा...! मात्र वीतराग... वीतराग... वीतराग... चला था ! ख़बर है ? लोगों ने नया सुना था ! आ..हा..हा...!

अनंत... अनंत... गुण हैं ये वीतरागस्वरूप हैं और उनकी एक समय की पर्याय भी वीतरागस्वरूप है, आहा..हा...! उस का `अकार्यकारण' नामक गुण है वह वीतरागस्वरूप है। वह राग का कारण होता नहीं और राग का कार्य करता नहीं, आ..हा..हा...! भगवानआत्मा में एक `अकारणकार्य' नामक सामान्य त्रिकाल गुण है। उसकी पर्याय में अकार्यकारणरूप परिणमित

होने से... आ..हा..हा...! वह विकार का कारण होता नहीं और विकार उत्पन्न (होने का) कार्य करता नहीं। ऐसा यह वीतरागी पर्याय का स्वभाव है। जितना समझ में आये उतना समझो बापू! यह तो समुद्र है ! आत्मा यानी अनंत गुण का सागर, बापू ! उसमें अनंत चैतन्य के रत्न भरे पड़े हैं ! आ..हा..हा...! यह वीतराग... वीतराग... वीतराग... ! षट्कारकरूप परिणमित होता है परंतु यह वीतराग पर्यायरूप (परिणमित होता है)। भाव में विकार षट्कारकरूप परिणमित होता है। क्रियावर्तीशक्ति में भी परिणमित होता है (वह भी) वीतरागीपर्यायरूप। भावशक्ति भी परिणमित होती है... आ..हा..हा...! यह विकार रहित वीतरागरूप परिणमित होती है, आ..हा..हा...!

एक `भाव' नामक अलग गुण है। यह भाव-विकृत षट्कारकरूप परिणमित होता है इस से अभावस्वरूप (जो है) वह भाव (गुण)। और एक `भाव' (गुण) भगवानआत्मा में ऐसा है कि, वर्तमान में उसके अनंतगुण की पर्याय उत्पन्न हो ऐसा `भाव' (नामक) गुण है। उसे उत्पन्न करे तो हो, ऐसा नहीं, आहा...! `भाव', `अभाव', `भाव-अभाव' (ऐसे) छः शक्ति (आती) हैं न ? उसमें पहला `भाव' भगवानआत्मा में एक वीतरागी `भाव' गुण है, आ..हा..हा...! क्योंकि भावगुण में वीतरागस्वरूप(रूप) है। यह वीतरागभाव (गुण के कारण) उसकी पर्याय में वीतरागी पर्याय ही है। जिस ने ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि की उसे उसकी पर्याय में वीतरागभाव उत्पन्न है ही। उत्पन्न करूँ तो हो (वैसे नहीं), (परंतु) भीतर है ही ! आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ? वैसे अनंतगुण की पर्याय वहाँ वीतरागभावरूप है है। क्योंकि भाव का रूप अनंत गुण में है, भाई ! यह तो कल की (बात में से) सब दिमाग में (आया)। आत्मा... आत्मा यानी क्या ? परंतु बापू ! आत्मा (यानी) कौन ? भाई ! तुझे क्या कहे ? आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ?

`भाव' नामक वीतरागी गुण है (और) अनंत गुण में उसका रूप है। इससे उसकी पर्याय में भी एक भाव पर्यायरूप उत्पन्न होगा ही। उत्पन्न करूँ वैसा वहाँ नहीं, आ..हा..हा...! ज्ञायक पर दृष्टि होते ही पूरे (पूर्ण) भगवान को पकड़ा... आ..हा..हा...! तो उसे `भाव' नामक शक्ति से अनंतगुणों में वह भाव का रूप है इस कारण अनंत गुण की पर्याय वहाँ होगी ही। समझ में आया कुछ ? आ..हा..हा...! ऐसा वीतराग का पिंड़ प्रभु...! इस सुख शक्ति में चारित्रगुण (साथ में ले लिया) है। यह चारित्रगुण कहो या वीतरागभाव कहो (दोनों एकार्थ है) ! सुखशक्ति...! आ..हा..हा...! दर्शनशक्ति, चारित्रशक्ति ये सब गुण हैं। उन्हें वहाँ ४७ (शक्ति में) सुखशक्ति में डाल दिया, आ..हा..हा...! यह शक्ति है वह तो गुणरूप-सत्वरूप, सत्‌रूप (है)। परंतु उसका विशेष... यहाँ विशेष कहते हैं न ? (यानी) सामान्यज्ञान है उसकी विशेष पर्यायें जो हैं...

आ..हा..हा...! यह विशेष पर्याय की इतनी ताक़त है कि लोकालोक है (सो) उसमें निमित्त है और उसका जानना अपने से होता है। ऐसी ताक़त है ! ऐसा है ! आहा...! एक बार तो बहुत चला था ! भीतर चले तब आये न ! पौन घँटा चला था - वीतराग... वीतराग... वीतराग...! आ..हा..हा...!

इसका कर्ता गुण वीतराग, इसका कार्य गुण वीतराग, कार्य जो होता है - पर्याय में जो निर्मल कार्य होता है, यह `कार्य' नामक गुण है। `कर्म'गुण ! कर्म कहो या कार्य कहो (दोनों एकार्थ है)। यह कार्यगुण है इस कारण पर्याय में कार्य होगा ही। कार्य करूँ तो (हो) ऐसे नहीं। कार्य होगा ही ! और वह अनंती पर्याय में वीतरागरूप कार्य होगा ही। क्योंकि भावगुण है इस में वीतराग का रूप है और अनंत गुण में वीतराग का रूप है। इस कारण भावगुण के कारण जो पर्याय अस्तिरूप होती है सो सब वीतरागरूप ही होती है, वीतरागरूप होगी ही ! ऐसा उस का स्वभाव है। आ..हा..हा...! यह कहीं भी हाथ में आये ऐसा नहीं ! आ..हा..हा...!

जब एक समय की ज्ञानपर्याय (प्रगट हुई), उसमें भी जो चारित्रगुण पर्याय (में) प्रगट हुआ उसका रूप भी ज्ञान की पर्याय में है। और ज्ञान की पर्याय का रूप वीतरागी पर्याय में है। कुछ एक बात तो भीतर आगे बढ़ती नहीं ! पहले बहुत विचार किये थे ! सब मंथन (किया था) ! जैसे कि आत्मा में एक ज्ञानगुण है और एक अस्तित्वगुण-सत्ता-होनेरूपगुण है। तो अस्तित्वगुण वह ज्ञानगुण में न हो, फिर भी उसका रूप हो। यानी ? कि, ज्ञानगुण `है', पर्याय `है', वह अपनी सत्ता-अस्तित्वगुण के कारण है। दूसरा अस्तित्वगुण है इसके कारण नहीं। आ..हा..हा...! यह भिन्न जात है, बापू ! आ..हा..हा...!

श्रोता :- गुरुदेव ! एक-एक गुण `अहंमिन्द्र' हो गया !

पूज्य गुरुदेवश्री :- `अहंमिन्द्र' ही है ! वीतरागस्वरूप है ! आहा..हा...! उसकी एक-एक पर्याय वीतरागस्वरूप है !! यहाँ तो विशेष यह सिद्ध करना है न !

श्रोता :- `स्वयंभू' है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- आ..हा..हा...! स्वयंभू तो स्वयं उत्पन्न हुआ, परंतु यह कैसे उत्पन्न हुआ? कि, उसमें एक भाव नामक गुण है, वीतराग नामक गुण है, चारित्र यानी वीतराग नामक गुण है। एक गुण का रूप प्रत्येक गुण में है और एक गुण का रूप पर्याय में भी है, आ..हा..हा...! अनंत पर्याय जो एक समय में उत्पन्न हुई ! (उस में) एक पर्याय की इतनी ताक़त ! कि, जो लोकालोक और अपने द्रव्य-गुण एक (समय की) पर्याय में (जाने)। भले द्रव्य-गुण और

(लोकालोक की) पर्याय यहाँ आये नहीं। उस पर्याय में लोकालोक आये नहीं, जानने की पर्याय में लोकालोक आते नहीं, जानने की पर्याय में द्रव्य-गुण आते नहीं, परंतु द्रव्य और गुण का जितना सामर्थ्य है यह सब पर्याय में आता है। आ..हा..हा...!

यह `एक जाने सो सब जाने' ऐसा क्यों कहा ? (क्योंकि) एक जाने इसकी एक पर्याय जाने! आ..हा..हा...! पर्याय जाने (ऐसा कहा) परंतु पर्याय को जानने का हेतु (यह कि) उसका लक्ष द्रव्यपर है, ज्ञायक पर आश्रय है। पर्याय को जानना ऐसा कहा परंतु उस का तात्पर्य पुनः वीतरागता है। चारों अनुयोग की स्थिति का (तात्पर्य वीतरागता है) और यह वीतरागता कैसे उत्पन्न हो ? कि, ज्ञायकभाव भगवान है इसका आश्रय ले तो वीतरागता (उत्पन्न) होती है। यह वीतराग पर्याय होती है सो स्वतंत्र कर्ता होकर वीतरागी त्रिकाल जिनस्वरूप का आश्रय लेती है (अर्थात्) लक्ष करती है, आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ?

ऐसा जो वीतरागी पर्याय, अनंतगुण वीतराग और अनंतगुनी पर्यायें...! आ..हा..हा...! एक समय में अनंत पर्याय हैं, एक नहीं। और अनंत पर्याय के परिणमन रहित कोई द्रव्य हो नहीं सकता। समझ में आता है कुछ ? और वह अनंत गुण की जो अनंत पर्याय हैं उस प्रत्येक पर्याय में इतना इसका पूर्णरूप-स्वरूप है, ऐसे-ऐसे अनंत पर्याय का पूर्णरूप अनंत में है ! आ..हा..हा...! और ऐसी जो अनंत पर्याय हैं उनका एकरूप तो गुण है। जैसे ज्ञान की ऐसी अनंत पर्याय (हैं) परंतु उन का रूप ज्ञानगुण में है। वैसे अनंत पर्याय का पिंड (एक) गुण ! वैसी अनंत पर्याय इतनी ताक़तवान ! ऐसी-ऐसी जो सादि-अनंत पर्याय... आ..हा..हा...! उसका पिंड एक गुण है ! और वह अनंतगुण का पिंड सो द्रव्य है !! और प्रत्येक गुण स्वरूप है, पररूप नहीं।

`प्रवचनसार' में `अतद्भाव' आया है, भाई ! सर्वथा अन्यभाव (ऐसा नहीं)। जिस प्रकार पृथक प्रदेशवाला है, वैसे नहीं। परंतु अतद्भाव है (अर्थात्) द्रव्य में गुण नहीं, गुण में द्रव्य नहीं, गुण में पर्याय नहीं, आ..हा..हा...! वैसा अतद्भाव स्वरूप है, गुणरूप नहीं। गुण, प्रत्येक गुणरूप है - अनंत गुणरूप नहीं। प्रत्येक पर्याय स्वरूप है, अनंत पर्यायरूप नहीं। ऐसी दूसरी, तीसरी...वैसे अनंत (ले लेना)...! आ..हा..हा...! उस के अस्ति-नास्ति के भेद अनंत उठते हैं !!

४७ (शक्ति में) आता है न ? २७वीं `अनंतधर्मत्वशक्ति' ! आ..हा..हा...! अनंतधर्मस्वरूप एक शक्ति है ! यह एक शक्ति का प्रत्येक गुण में अनंतधर्मरूप का रूप है। समझ में आये इतना समझना भाई ! समझ में आता है कुछ ? आ..हा..हा...! वचनातीत नाथ का (वर्णन) वचन में कितना कहें ?

श्रोता :- चाहे जितना कहो सब स्वाहा हो जाता है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- स्वाहा हो जाता है, कहा है न ! आ..हा..हा...! प्रत्येक पर्याय स्व रूप है और अन्य रूप नहीं, ऐसी अनंत सप्तभंगी एक पर्याय में उठती हैं। वैसी अनंत पर्याय में उठती हैं, वैसी अनंत गुण में उठती है। ऐसी एक पर्याय में अनंत अविभागप्रतिच्छेद हैं ! क्योंकि केवलज्ञान की एक समय की पर्याय अनंत केवली और अनंत जीव (को) जाने तो उसकी पर्याय का सामर्थ्य कितना हुआ ! इसमें समझ में आया कुछ ? एक समय की पर्याय अनंत सिद्ध को जाने, तीनलोक को जाने तो एक पर्याय में उसके अंश कितने हुए ? आ..हा..हा...! ये प्रत्येक अंश स्व रूप से है और पर रूप से नहीं ऐसा इसका स्वभाव है। आ..हा..हा...! भाई ! यह बात तो भीतर समझे बिना `आत्मा' इतना बड़ा है, ऐसा उसे नहीं बैठेगा। आत्मा कितना बड़ा है ? आ..हा..हा...!

यह तो कल (किसी ने) कहा था कि, `एक को जाने सो सबको जाने' ऐसा सब विस्तार (समझना) ? यह विस्तार नहीं। इतना बड़ा तू है, उतना उसे जाहिर करते हैं ! और वह उतना है उसे जाने तो उसमें सब जानने का आ गया। और सब जाननेलायक जान तो यह सब जाननरूप पर्याय में आ गया इस कारण इस आत्मा को ही (जाना है)। ऐसा है...! प्रभु ! कौन जाने भगवान तो क्या करते होंगे ? उनकी दिव्यध्वनि में तो... आ..हा..हा...! भगवान की दिव्यध्वनि तो अलौकिक है ! यह तो `प्रवचनसार' है न ! प्र + वचन = दिव्य वचन हैं ! दिव्यध्वनि की रचना है।

आ..हा..हा...! मात्र वीतरागभाव ! प्रति पर्याय वीतरागभाव ! प्रति गुण वीतरागभाव ! आ..हा..हा...! पूरी वस्तु जिनस्वरूपी ! `जिन सो ही आत्मा' आ..हा..हा...! `घट घट अंतर जिन वसे ने घट घट अंतर जैन, मत मदिरा के पान सो मतवाला समझे न' आ..हा..हा...! `घट घट अंतर जिन वसे' (अर्थात्) जिनस्वरूप ही है। इसके अनंत गुण जिनस्वरूप हैं। इसकी अनंत निर्मल पर्याय जिनस्वरूप हैं, आ..हा..हा...!

श्रोता :- `स्वयं ज्ञानमय' का अर्थ चलता है ?

समाधान :- `स्वयं ज्ञानमय' का नहीं, `विशेष' का अर्थ चलता है। `विशेषों में व्याप्त होनेवाला' इसका यह अर्थ चल रहा है। आ..हा..हा...! क्या कहे ? प्रभु का विरह हुआ। और यह बात पीछे रह गई, आ..हा..हा...! और लोगों ने वादविवाद में घसीट लिया !

यहां कहते हैं कि, प्रत्येक पर्याय और प्रत्येक गुण वीतरागभाव से भरे हुए (हैं) ! वह भी

अनंत... अनंत...! आ..हा..हा...! एक पर्याय में जहाँ अनंत केवली ज्ञात हो ! अनंत केवली, सिद्ध ज्ञात हो ! आ..हा..हा...!

`णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं' ऐसा शास्त्र में शब्द आता है। संक्षिप्त शब्द अब `णमो अरिहंताणं' हो गया है और बाद में `णमो लोए सव्व साहुणं' (आता है) यह अंत्यदीपक है। यानी वास्तव में तो `णमो लोए सव्व अरिहंताणं' है। परंतु तदुपरांत `जयधवल' में `णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती अरिहंताणं, णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती सिद्धाणं, णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती आयरियाणं, णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती उव्वज्झायाणं, णमो लोए सव्व त्रिकालवर्ती साहुणं' (पाठ आता है), आ..हा..हा...! भूत और भविष्य (के) तीर्थंकर या आचार्य, उपाध्याय हो गये उनको मैं नमन करता हूँ, इतनी मेरी पर्याय की ताक़त है ! आहा...! सबको मेरे ज्ञान के ख़याल में लेकर (नमन करता हूँ) ! आ..हा..हा...! वह जिस प्रकार विशेष पर्याय है वैसे यह तीनकाल के अरिहंतों (को), तीनकाल के सिद्धों को ज्ञान में ख़याल में लेकर (नमन करते हैं)। इसलिये `**वंदित्तु सव्वसिद्धे**' कहा है न ! आ..हा..हा...! (`समयसार') पहली ही गाथा...! बापू ! पार लगे ऐसा नहीं, भाई ! इसकी एक गाथा, इसका एक पद...! आ..हा..हा...! श्रुतकेवली जानते हैं! और सर्वज्ञ भगवान जानते हैं ! आ..हा..हा...! ऐसा भगवानआत्मा...!

एकबार (संवत) १९८५ की साल में कहा था कि, देखो ! यह एक ही पर्याय है और यही बस-पर्याप्त है ! क्योंकि लोकालोक का ज्ञान आता है, एक समय की पर्याय वही संपूर्ण तत्त्व है, बस...! तो ऐसी-ऐसी अनंत पर्याय और ऐसी-ऐसी अनंत पर्याय का (पिंड़) एक गुण व ऐसे अनंत गुण का पिंड़ प्रभु ! आ..हा..हा...! ऐसे निर्विकल्प स्वभाव सब हैं ! जिसमें राग की गंध नहीं! दया, दान, व्रत का विकल्प है इसकी उस के गुण और पर्याय में गंध नहीं ! आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ?

(यहांपर कहते हैं) `**...प्रतिभासमय महासामान्य प्रतिभासमय अनंत विशेषों में व्याप्त होनेवाला है;...**'

श्रोता :- सामान्य से विशेष की महिमा बहुत ज्यादा हो गई !

पूज्य गुरुदेवश्री :- विशेष से सामान्य की महिमा (ज्यादा) है ! क्योंकि एक समय में इतना है वैसी अनंत पर्याय का गुण है, वैसी अनंत पर्याय का दूसरा गुण है और वैसे अनंत गुण का द्रव्य है ! इसकी बात क्या करे !! आ..हा..हा...! बड़े भाग्यशाली हो उनके कानों पड़े ऐसी बात है !! आ..हा..हा...! दिमाग में, ख़याल में आये उतना सब (कह) सकते नहीं ! आ..हा..हा...! क्या

चीज है यह !! आ...!

`**...प्रतिभासमय अनंत विशेषों में व्याप्त होनेवाला...**' एक समय का विशेष पर्याय...! ज्ञान का एक समय का विशेष पर्याय ! गुण सामान्य (है) परंतु इसकी विशेष पर्याय। `**...अनंत विशेषों में व्याप्त होनेवाला है;...**' आ..हा..हा...! जितने द्रव्य, गुण, पर्याय लोकालोक के हैं उन सबको जानने के लिये व्याप्त होता है। है (भीतर) ? देखो ! यहाँ तक आया था और फिर इसमें यहाँ आया। लो इसमें तो घंटा होने आयेगा ! आधा घंटा ऊपर हुआ !

(अब कहते हैं) `**...उन विशेषों के (-भेदों के) निमित्त...**' क्या कहते हैं ? जो ज्ञानसामान्य है उसका जो विशेष पर्याय है, वह विशेष की पूर्णता का निमित्त क्या है ? (तो कहते हैं) `**...सर्व द्रव्यपर्याय हैं।**' यह तो हाथ लगे (मिले ऐसा नहीं)। वह घर की बही-किताब हो तो तुरंत हाथ पड़ जाय ! यह (फलाँ है) व ढ़ीमका इस जगह है... इसके पास पाँच हजार लेना है...! अरे भाई ! यह तो तेरा हिसाब है !

श्रोता :- पन्ना फिरे और सोना झरे !

पूज्य गुरुदेवश्री :- सोना झरना - इसका अर्थ यह कि, कुछ न कुछ पन्ने में रह गया हो, कुछ जगह पन्ने में सोना झरे यानी इसके पास से इतने पैसों की कमाई हो गई ! यह तो आ..हा..हा...! एक-एक पर्याय फिरे और अनंत आये !! ऐसा यहाँ है। उसमें सोना झरे और यहाँ आनंद झरे ! आ..हा..हा...!

श्रोता :- कितना आनंद झरे ?

समाधान :- इसकी अनंतता... कही न ! एक समय की ज्ञान की विशेष पर्याय में अनंत निमित्त हैं ! ऐसी सुख की एक समय की पर्याय में ज्ञान का सुख, अस्तित्व का सुख, वस्तुत्व का सुख... (इस प्रकार) सब आये हैं। किन्तु थोड़ा सा अटका है कहाँ ? कि, सर्वदर्शी में अस्तित्व (का रूप तो) छोड़ो, किन्तु सर्वदर्शी का अस्तित्व में क्या रूप है ? समझ में आता है ? यह अलौकिक बात है ! सर्वदर्शी, सर्वज्ञशक्ति है इसका प्रत्येक गुण में रूप है। अस्तित्वगुण में इसका रूप क्या ? कोई अलौकिक बातें हैं, बापू यह तो !! आ..हा..हा...! विचार तो सब आ गये हैं न! नये नहीं हैं कोई !

आ..हा..हा...! यह वीतरागमार्ग है ! वीतरागों का कहा यह तत्त्व है ! आहा...! इतने बड़े आत्मा को - एक को जाने सो सबको जाने (यह) साथ में है। उन सबको जाने ऐसा तो यह आत्मा है ! सबको जाने उतना तो यह आत्मा है !! अतः कहते हैं कि, सबको जाने वह आत्मा को जाने।

और इसमें तो (कहते हैं कि), एक को जाने वह सबको जाने। एक उतना आत्मा है कि, जिसकी पर्याय में लोकालोक ज्ञात होता है, अनंत पर्याय (ज्ञात होती हैं), इस एक को जाने तो सब जाने। क्योंकि सब ज्ञान उसमें आ जाता है। आ..हा..हा...! एक जाने सो सब जाने - यह है न यह ४९ (गाथा का) बोल ? है न ? शीर्षक नहीं है ? `**...एक को न जाननेवाला सबको नहीं जानता...**' क्योंकि एक को जाने तो एक उतना है उसे नहीं जानता तो सब उसमें आ जाता है उसे भी जानता नहीं। आ..हा..हा...! ऐसी बातें, बापू ! यह तो लोगों ने (मना लिया है कि) `दयापालन करो और व्रत करो और उपवास करो और... धर्म हो गया !' धूल में भी धर्म नहीं! सुन तो सही ! तेरा नाथ भीतर बिराजित है बड़ा ! `स्वपरप्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं बचन भेद भ्रम भारी, ज्ञेय शक्ति द्विविधा प्रकाशी, निजरूपा पररूपा भासी' पररूप की ज्ञान की पर्याय में सर्व पर्याय आ जाती है। यह कहा न ? आहा...! है ?

`...**विशेषों के (-भेदों के) निमित्त सर्व द्रव्यपर्याय...**' सर्व द्रव्यपर्याय यानी सर्व सिद्ध और सर्वज्ञ की पर्यायें, उनसे अनंतगुने पुद्गल और एक-एक परमाणु में इतने-इतने गुण ! एक जीव के जितने गुण उतने गुण एक परमाणु में ! भले (उस के) जड़ और इसके चेतन (हैं) और वह एक-एक परमाणु में अनंत गुण ! (इस प्रकार) आकाश का अंत नहीं ! अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... (क्षेत्र में) चला जाय आगे आकाश (पूरा) हो जाता है, ऐसा है ? तो उस के प्रदेश से अनंतगुना तो एक परमाणु में गुण हैं ! आ..हा..हा...! उस से अनंतगुना तो एक भगवानआत्मा में गुन हैं !! आ..हा..हा...! ऐसा जो निमित्त-विशेषों का निमित्त `**...सर्व द्रव्यपर्याय हैं।**' आ..हा..हा...! कहिए ! समझ में आता है ? थोड़ा सोचने का समय रहे ऐसा है। साथ में विचार करे (तो समझ में आ जाय)। यह कोई ऐसे ही ऐसे वह प्रोफेसर हाँकता जाय कोलेज में ? एक घंटा बोल जाय, फिर हो गई छुट्टी...! यह ऐसे नहीं। यह सुननेवाले को साथ में विचार में आये ऐसा भीतर आहिस्ता-आहिस्ता (इस प्रकार आता) है, आ..हा..हा...! अरे...! यह किये बिना उसने कुछ किया नहीं।

ऐसा आत्मा भगवान पूर्णानंद का नाथ ! जिसकी एक समय की पर्याय में लोकालोक (ज्ञात हो)। इसका सामर्थ्य कितना वह ज्ञान में आ जाता है, आहा...! एक गुण की ऐसी-ऐसी अनंत पर्यायें...! `चिद्विलास' में आता है। एक गुण की अनंत पर्याय, एक गुण की अनंत शक्ति और अनंत पर्याय - (इस प्रकार) दो (बात) आती हैं। `चिद्विलास' में आता है, दो बोल आते हैं। क्या (कहा) ? एक गुण, उसकी अनंत पर्याय और एक गुण की अनंत शक्ति ! ऐसा आता है, दो बोल

आते हैं। `चिद्‌विलास' ! `दीपचंदजी' !

आ..हा..हा...! एक-एक गुण...! आ..हा..हा...! अनंत शक्ति ! एक गुण में अनंत शक्ति...! पर्याय हो वह भिन्न वस्तु - एक गुण की त्रिकाल पर्याय हो वह भिन्न। परंतु एक गुण में (अपने में) अनंत शक्ति ! आ..हा..हा...!

श्रोता :- अनंतगुण का रूप है इसलिये अनंत शक्ति कही ?

समाधान :- एक-एक गुण की अनंत शक्ति ! ऐसे अनंत गुण की शक्ति का पिंड़ वह द्रव्य आ..हा..हा...! दो बोल लिये हैं, भाई ! `दीपचंदजी' ने दो-चार जगह लिया है कि, एक-एक गुण में अनंत शक्ति और एक-एक गुण की अनंत पर्याय वह अलग। पर्याय है इस कारण अनंत शक्ति (हैं) ऐसा भी नहीं। एक-एक गुण में अपनी अनंत शक्ति हैं। स्वयं अनंत शक्ति (धारक है)। अनंत गुण का रूप उसमें धारण (किया) है ! आ..हा..हा...! ऐसी अनंत शक्ति का एक गुण और ऐसी एक-एक गुण की त्रिकाली पर्याय ! उनमें हमें यहाँ तो सादि-अनंत शुद्ध (विशेष पर्याय) लेनी है। समझ में आता है कुछ ? `सादि अनंत अनंत समाधि सुख' ! जो भूतकाल की पर्यायों की संख्या से अनंतगुनी पर्याय हैं। भूतकाल है उस का अंत आया अतः अनादि-सांत है और यहाँपर केवलज्ञान हुआ वह अब अनंत काल रहेगा, सादि-अनंद है। इसलिये भूतकाल की संख्या से भविष्य की अनंतगुनी संख्या है ! आ..हा..हा...! ऐसे अनंतगुण की संख्या को भी - विशेषज्ञान में ये सभी निमित्त हैं अतः विशेष जानते हैं। जानने का कार्य अपने उपादान से है। समझ में आया कुछ ?

`**अब जो पुरुष सर्व द्रव्यपर्याय जिनके निमित्त हैं ऐसे अनंत विशेषों में व्याप्त होनेवाले प्रतिभासमय महासामान्यरूप आत्मा का स्वानुभव प्रत्यक्ष नहीं करता,...**' आ..हा..हा...! ऐसा जो भगवानआत्मा ! जिसके विशेषों में लोकालोक के द्रव्य-पर्याय निमित्त हैं ऐसा जो आत्मा का पर्याय, ऐसा जो आत्मा... आ..हा..हा...! उसे `**...स्वानुभव प्रत्यक्ष नहीं करता,...**' (अर्थात्) अनुभव में-मति-क्षुतज्ञान में उसे प्रत्यक्ष नहीं करता `**...वह (पुरुष) प्रतिभासमय महासामान्य के द्वारा व्याप्त (-व्याप्त होने योग्य) जो प्रतिभासमय अनंत विशेष हैं उनकी निमित्तभूत सर्व द्रव्यपर्यायों को कैसे प्रत्यक्ष कर सकेगा ?**'

३२० गाथा में कहा न ! भीतर कैसा है प्रभु ? `जे सकल निरावरण अखंड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय' ! यहाँ प्रत्यक्ष कहा न ? वह प्रत्यक्ष हो वैसा ही उसका स्वभाव है। (४७ शक्ति में) बारहवाँ गुण है न ? `स्वसंवेदनमयी प्रकाशशक्ति' बारहवाँ प्रकाश गुण। स्वसंवेदन प्रकाश ! यह

प्रत्यक्ष हो वैसा ही उसका स्वभाव है। आ..हा..हा...! ऐसा प्रत्यक्ष आत्मा जिसने प्रत्यक्ष अनुभवगम्य किया नहीं (तो वह) '**...सर्व द्रव्यपर्यायों को कैसे प्रत्यक्ष कर सकेगा ?**' (अर्थात्) जिस की पर्याय में इतनी ताक़त है ऐसे आत्मा को जिसने प्रत्यक्ष किया नहीं वह अन्य सर्व को किस प्रकार जान सके ? एक को न जाने सो सबको न जाने। आ..हा..हा...! ऐसी बात कौन सी होगी यह ?! वह तो 'भगवान की पूजा करना, दर्शन करना, सुबह में यह करना, घंटी बजाना, जाप करना... णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं...!' अब वे सब बातें छोड़ न ! यह तो सब जड़ की क्रिया है। ये जड़ की क्रियाएँ और उस समय होता हुआ राग, उसके ज्ञान की पर्याय की विशेषता में वे सब निमित्त हैं। समझ में आया कुछ...? आ..हा..हा...!

यह ज्ञान की पर्याय राग से हुई नहीं। ज्ञान की पर्याय के समक्ष भगवान को देखा इस कारण इससे उसे जानने की पर्याय हुई, (ऐसा नहीं)। आ..हा..हा...! एक ही समय में षट्कारक के परिणमनरूप परिणमित निर्मल पर्याय और उसी समय में षट्कारकरूप परिणमित दूसरा राग है, यह ज्ञानधारा और रागधारा दोनों एक समय वर्तती हैं, आ..हा..हा...! क्या कहते हैं यह !? कोई दरकार नहीं ! जिस कुल में पैदा हुए वह (मान ले) ! मजदूरी की ! मजदूरी हाँ यह सब! मजदूरी होगी यह सब तुम्हारी ? बड़ी मजदूरी राग की है ! पाप, सारा दिन पाप ! छः भाई साथ बैठकर बातें करें कि, इसका ऐसा है और इसका वैसा है, ढ़ीमका और फलाँ... सब पाप है। (माल) बेचने का भाव पाप है, पैसे लेने का भाव पाप है, खाने-पीने का भाव हो सो पाप है, आ..हा..हा...! यहाँ तो पाप के परिणाम हैं सो ज्ञानविशेष में निमित्त हैं, आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ? सूक्ष्म बात है, प्रभु !

उसमें एक 'प्रभुत्व' नामक गुण है। आत्मा में एक ईश्वरता नामक गुण है कि जिसके कारण अनंत गुण ईश्वररूप हैं ! आ..हा..हा...! और वह अनंत गुण की पर्याय स्वाधीनरूप, स्वतंत्ररूप, शोभायमान है। अखंडरूप जिसका प्रताप है ! आ..हा..हा...! और इसकी एक समय की पर्याय है उसमें भी अखंड प्रताप जिसका है ऐसी स्वतंत्रता से शोभित वह पर्याय है। ऐसी अनंत एक समय की पर्यायें हैं। उन पर्यायों में यह सब ज्ञात होता है।

(यहाँपर) कहते हैं कि, यदि एक ऐसा आत्मा है ऐसा न जाना (तो) उसने पर को भी जाना नहीं, आहा..हा...! समझ में आता है कुछ ? आहा...! अरे..रे...! ऐसा कब मिले ? बापू ! आहा..हा...! और इस बात को धारणा में ले वह कोई वस्तु नहीं। अतः यहाँपर कहा कि, किस प्रकार प्रत्यक्ष कर सके ? है इसमें ? धारणा में यह बात ले वह तो परज्ञेयनिष्ठ है ! परज्ञेयनिष्ठ

है ! आहा..हा...! स्वज्ञेय में निष्ठ नहीं। `बहिन' के वचनामृत में आता है, आ..हा..हा...! शास्त्र का जानना हो, उसका वह धारणाज्ञान परालंबी, परसत्तालंबी ज्ञान है। अतः उसमें निष्ठ है, रुक गया है वह स्वज्ञान में निष्ठ नहीं, आ..हा..हा...! समझ में आया इसमें ?

भगवानआत्मा...! आ..हा..हा...! `भगवान' क्यों कहते हैं ? (`समयसार' की) ७२ (गाथा में) `भगवान' कहकर बुलाया है ! आचार्यों ने, महासंतों ने `भगवानआत्मा...!' (कहकर बुलाया है)। `भग' अर्थात् अनंत आनंद की लक्ष्मी ! `भग' का यह अर्थ होता है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत आनंद की लक्ष्मी ! `वान' अर्थात् स्वरूप। वह ऐसे आनंद आदि स्वरूपवान है। `वान' (अर्थात्) इसका यह रूप है। लोग कहते हैं न ? यह काले रूप है, यह गोरे रूप है, लालरूप है, रूप में सुंदर है, (तो) यह (आत्मा) रूप में क्या है ? यह अनंत गुण की लक्ष्मी (वह) उस का रूप है, आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ?

(यहाँपर कहते हैं) `**...अनंत विशेष हैं उनकी निमित्तभूत सर्व द्रव्यपर्यायों को कैसे प्रत्यक्ष कर सकेगा ?** (**नहीं कर सकेगा**) **इससे ऐसा फलित हुआ कि जो आत्मा को नहीं जानता वह सबको नहीं जानता।**' ऐसे आत्मा को जो नहीं जानता वह सर्व को नहीं जानता। ४७ (गाथा में ऐसा कहा कि) (जो) सर्व को नहीं जानता वह एक को नहीं जानता। यहाँ (ऐसा कहते हैं कि) एक को नहीं जानता वह सर्व को नहीं जानता। अन्य रीति से कहे तो सर्व को जानता है वह एक को जानता है और एक को जानता है वह सर्व को जानता है, आहा...!

`**अब इससे ऐसा निश्चित होता है कि सर्व के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान...** ' देखा ? ४८ (गाथा का) जोड़ लगाया ! `**...सर्व के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान और आत्मा के ज्ञान से सर्व का ज्ञान** (**होता है**);' आ..हा..हा...! `**...और ऐसा होने से, आत्मा ज्ञानमयता के कारण स्वसंचेतक होने से, ज्ञाता और ज्ञेय का वस्तुरूप से अन्यत्व होनेपर भी...**' क्या कहते हैं अब ? कि, जाननहार भगवान है और ज्ञेय है पर-अन्यत्व। ऐसे होते हुए भी ज्ञान की पर्याय में सब समा जाता है। उसका ज्ञान आता है (तो) जैसे समा गया है...! यह विशेष कहेंगे...

(**दिनांक २५-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-५०**)

यहाँ तक आया है न ? `**अब इससे...**' दूसरा पेरेग्राफ। `**अब इससे ऐसा निश्चित होता है कि सर्व के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान और आत्मा के ज्ञान से सर्व का ज्ञान** (**होता है**);**...**' क्या कहते

हैं ? `कुंदकुंदचार्य' जो श्लोक में कहते हैं, उसकी यह टीका है-`अमृतचंद्राचार्य' की। (कहते हैं कि) जो कोई सर्व के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान करते हैं,... (अर्थात्) आत्मा की जो एक समय की पर्याय है वह विशेष है। आत्मा में ज्ञान सामान्य त्रिकाल है। उसकी वर्तमान पर्याय है वह विशेष है और उस विशेष में लोकालोक निमित्त है। एक समय की पर्याय में लोकालोक का ज्ञान होता है, आ..हा..हा...!

(कहते हैं) `**...सर्व के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान...**' यहाँ है अधिकार केवलज्ञान का, लेकिन फिर भी (इस में) भावश्रुत(ज्ञान) भी उतार सकते हैं। टीका में (आता) है। यह आत्मा एक समय में जब केवलज्ञान को प्राप्त होता है तब सामान्यमें से उसकी विशेष पर्याय होती है। और इस विशेष (पर्याय में) लोकालोक निमित्त है। निमित्त का अर्थ उससे हुआ ऐसा नहीं, (परंतु) यहाँ लोकालोक का ज्ञान है उसमें वह निमित्त है। कौन ? लोकालोक ! लोकालोक का विशेष ज्ञान है उसमें लोकालोक निमित्त है। भगवान केवली को एक समय में लोकालोक का ज्ञान हो गया। तीनकाल तीनलोक एक समय में जानने में आ गये। ऐसी एक समय की केवलज्ञान पर्याय ! केवलज्ञान एक समय की पर्याय है। पर्याय है न ? (इसलिये) दूसरे समय में दूसरी, तीसरे समय में तीसरी होगी। ऐसा (केवलज्ञान) पर वह नहीं। केवलज्ञान पर्याय है, गुण नहीं, आहा...! गुण तो त्रिकाली ज्ञान है और केवलज्ञान तो उसकी पर्याय है। एक समय की पर्याय में-विशेष दशा में तीनकाल तीनलोक, अनंत द्रव्य-गुण-पर्याय जितने (हैं), (वे सभी) द्रव्य और प्रत्येक द्रव्य की त्रिकाली पर्याय उस के ज्ञान में (विशेष दशा में) निमित्त है। यह ज्ञान अपने से सब जानता है, आहा...!

(इसलिये यहाँ ऐसा कहा कि) `**...सर्व के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान...**' (इसका मतलब) एक समय में सर्व का ज्ञान हुआ तो यह आत्मा ही ऐसा है ! आत्मा इतना बड़ा है कि एक समय में तीनकाल तीनलोक जाने ! तो ऐसा (जिसने) जाना (उसने) आत्मा को जाना। समझ में आया? (इसलिये कहते हैं कि) `**...सर्व के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान...**' सूक्ष्म बात तो है, कल तो बहुत बात चल गई है।

`**...और आत्मा के ज्ञान से सर्व का ज्ञान...**' क्योंकि एक समय में तीनकाल तीनलोक जानने में आता है, तो सर्व को जाना उस ने आत्मा को जाना। और आत्मा को जाना (उस ने) सर्व को जाना। क्योंकि उसकी पर्याय में सब जानने में आता है।

(अब किसी को) ऐसा प्रश्न (हो सकता है) कि, यह तो सर्वज्ञ को सर्व का ज्ञान (होता है)।

नीचे के (गुणस्थानवाले को) क्या करना ? नीचे जो छद्मस्थ है उसको क्या ? (तो कहते हैं कि) छद्मस्थ को भी अपने भावश्रुतज्ञान में परोक्षरूप से लोकालोक का ज्ञान होता है ! आ..हा..हा...! समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म बात है, भाई !

श्री 'जयसेनाचार्यदेव' की संस्कृत टीका में (यह बात कही) है। '**केवलज्ञानोत्पत्तिर्नास्तीति**' इस प्रकार जब केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं है तो आत्मा छद्मस्थ है उसको त्रिकाली ज्ञान नहीं है। (जब) त्रिकाली ज्ञान नहीं है तो (वह) किसका ध्यान करे ? समझ में आया ? केवलज्ञानी को एक समय में लोकालोक का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। परंतु नीचे छद्मस्थ जीव को लोकालोक का ज्ञान पर्याय में पूर्ण नहीं होता तो आत्मा ऐसा (महान) है, ऐसा आत्मा का ज्ञान किस प्रकार से कर सके ? सूक्ष्म बात है।

शिष्य का यह प्रश्न है कि, एक समय की केवली की पर्याय-अवस्था में लोकालोक निमित्त है, और लोकालोक अपने से जानते हैं। निमित्त का अर्थ ऐसा नहीं है कि, उससे कुछ होता है। केवलज्ञान जो है वह लोकालोक को निमित्त है और लोकालोक है वह केवलज्ञान में निमित्त है। वह तो एक-दूसरे को निमित्त है इतना। इसमें कुछ हुआ है, ऐसा नहीं। आहा...!

यहाँ कहते हैं कि, एक समय में तीनकाल को जाननेवाला (ज्ञान प्रगट हुआ) तो वह आत्मा पूर्ण हुआ, सर्व को जाना। तो ऐसा सर्व ज्ञान तो नीचे है नहीं। (और) नीचे (ऐसा पूर्ण ज्ञान) नहीं है तो आत्मा इतना है (अर्थात्) तीनकाल तीनलोक को जाने ऐसी पर्यायवाला (है) ! इसका ख़याल नहीं है तो आत्मा का ध्यान कैसे करे ? न्याय समझ में आता है ? आ..हा..हा...! दुनिया से ये सब दूसरी जात है ! आहा...!

यहाँ कहते हैं देखिये ! ('जयसेनाचार्यदेव' की संस्कृत टीका) '**लोकालोकादिपरिज्ञानं व्याप्तिज्ञानरूपेण छद्मस्थानामपि विद्यते**' (अर्थात्) ऐसा ज्ञान है, तो पूर्ण ज्ञान है, ऐसे अंदर में अनुमान से आत्मा में व्याप्ति हो जाती है-ख़याल में आ जाता है। प्रत्यक्ष भले न हो ! परंतु परोक्षरूप से अपना ज्ञान (जान लेता है)। शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान पूर्णानंद के नाथ का आश्रय लेकर जो सम्यक्ज्ञान-भावश्रुत(ज्ञान) हुआ, इस भावश्रुत में भी (यह ख़याल में आ जाता है कि) मैं परोक्षरूप से इतना जानता हूँ तो प्रत्यक्ष जाननेवाला (भी) है ! (इस प्रकार) प्रत्यक्ष जाननेवाले हैं, ऐसा परोक्षज्ञान में (जानने में) आ गया। ऐसा है...! समझ में आता है कुछ ? सूक्ष्म बात, भाई! प्रभु का मार्ग बहुत सूक्ष्म है।

एक समय में तीनकाल तीनलोक जाने ऐसी एक पर्याय की ताक़त है ! वह तो आत्मा का

ध्यान करके (केवलज्ञान) उत्पन्न होता हुआ। परंतु इतना ज्ञान नीचे (छद्मस्थदशा में) नहीं है तो उसका (आत्मा का) ध्यान करके केवलज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो ? क्योंकि आप तो ऐसा कहते हो कि, सर्व को जाने वह आत्मा ! तो सर्व को जानना नीचे (की दशा में) नहीं है तो क्या आत्मा नहीं है ? और आत्मा नहीं है तो आत्मा का ध्यान कैसे करे ? (लेकिन) छद्मस्थ को भी श्रुतज्ञान में- मैं लोकालोक को जानता हूँ, ऐसा परोक्ष(रूप से) तो है, आ..हा..हा...! परोक्षज्ञान में आत्मा को जानते हैं, आ..हा..हा...!

`जयधवल' की बात दिमाग में आयी। एक स्थंभ है न स्थंभ! थांभलो...! (हिन्दी में) स्थंभ कहते हैं ? खंभा...! उसकी एक हांस (अंश) देखे तो उससे सर्व खंभा ऐसा है. (ऐसा) ख़याल आ जाता है। ऐसे... आ..हा..हा...! अवयवी जो पूर्ण केवलज्ञान (है) उसका श्रुतज्ञान एक अवयव है। सूक्ष्म बात... भाई ! स्थंभ का एक भाग-एक हिस्सा देखा तो सारा स्थंभ ऐसा है, ख़याल आ गया। ऐसे आत्मा के ज्ञान की पर्याय में... आ..हा..हा...! केवलज्ञान की पर्याय कैसी-कितनी है, ऐसा यहाँ ज्ञान हो गया। क्योंकि केवलज्ञान अवयवी है और यहाँ नीचे श्रुतज्ञान उसका अवयव है। आहा..हा...! तो अवयव को जिसने जाना उसने साथ में अवयवी को भी जाना ! आहा...! ऐसी बातें...! क्या हो सकता है, भाई ?

भगवान आत्मा ! सत् चिदानंद प्रभु ! केवलज्ञानघन आत्मा है ! अंदर ज्ञायक केवलज्ञानघन आत्मा है। पूर्ण आनंद, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शांति, पूर्ण प्रभुता ऐसे अनंत गुण से पूर्ण भरा है, आहा...! उसमें एक ज्ञान की पर्याय में केवलज्ञानी तीनकाल तीनलोक को देखते हैं तो वह तो उसको फल आया। परंतु नीचे (छद्मस्थदशा में) ऐसा तीनकाल तीनलोक जानने में न आये तो (उसे) आत्मा (तो जानने में) आया नहीं। (और यहाँ तो) सब जाने तो (उसे) आत्मा कहा - सर्व जाने तो (वह) आत्मा ! तो सर्व को जाने बिना आत्मा नहीं (ऐसा निश्चित हुआ) ! तो आत्मा बिना किसका ध्यान करे ? और केवलज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो ? ऐसी बातें हैं ! तो कहते हैं कि, सुन तो सही एकबार !

इस आत्मा में त्रिकाली आनंदकंद प्रभु का जो भावश्रुतज्ञान हुआ, यह भावश्रुतज्ञान है यह केवलज्ञान का अवयव है। तो इस अवयव का ज्ञान हुआ इसमें केवली का ज्ञान आ गया। बहुत सूक्ष्म बात...!

श्रोता :- गुरुदेव ! छद्मस्थ को भावश्रुत उत्पन्न कैसे हो ? क्योंकि आत्मा को तो जानता नहीं!

समाधान :- यहाँ तो यह प्रश्न है कि, सर्व को जाने वह आत्मा को जाने (ऐसा कहा) तो नीचे छद्मस्थ (जीव) सर्व को नहीं जानता है तो (वह) आत्मा को नहीं जानता है न ? ऐसा प्रश्न है। तो कहते हैं - नहीं ! नीचे छद्मस्थ भी परोक्षरूप से अवयव-श्रुतज्ञान द्वारा, केवलज्ञान ऐसा है, ऐसा वर्तमान श्रुतज्ञान में जानते हैं।

श्रोता :- प्रश्न तो गुरुदेव यह है कि, आत्मा को जाने बिना अवयव की उत्पत्ति कैसे हो ?

समाधान :- कहा न ! श्रुतज्ञान तो है। श्रुतज्ञान है, यह बात लेनी है न ! श्रुतज्ञान से आत्मा को जाना है। इसलिये तो पहले यह बात कही कि, ज्ञायक है उसका आश्रय लेकर ज्ञान हुआ है। यह तो पहले बात कही थी। ध्यान रखे तो (समझ में आये, क्योंकि) एक न्याय साथ में आता है। क्या कहते हैं ?

भगवान `कुन्दकुन्दाचार्य' महाराज ! दिगंबर संत ! भगवान के पास गये थे। `सीमंधर भगवान' महाविदेह में बिराजते हैं, वहाँ दिगंबर मुनि गये थे - `कुन्दकुन्दाचार्य' ! आठ दिन रहे थे, वहाँ से आकर शास्त्र बनाया है ! त्रिलोकनाथ भगवान बिराजते हैं ! वर्तमान...! महाविदेह में ! दिखते हैं ? भगवान महाविदेह में बिराजते हैं। ५०० धनुष का देह है और क्रोड पूर्व का आयुष्य है। समझ में आया ? आहा..हा...! गये काल में (यहाँ भरतक्षेत्र में) बीसवें तीर्थंकर `मुनिसुव्रत भगवान' थे तब वे (-`सीमंधर भगवान') मुनि हुए थे और उस वक्त केवलज्ञान हुआ है। अभी भी केवलज्ञानरूप हैं (और) अरबों वर्ष रहेंगे ! अरिहंतपद में...! देह छूट जायेगा तो `णमो सिद्धाणं' पद में आयेंगे ! अरिहंतपद में हैं तो प्रभु की वाणी निकलती है। ॐ ध्वनि निकलती है, आ..हा..हा...! यह ॐ ध्वनि सुनकर गणधर आगम रचे। यह (जो) आगम रचे उसमें से यह आया है ! आ..हा..हा...! थोड़ी शांति से देखो बापू !

जो यह आत्मा है उसका ज्ञानगुण त्रिकाली है। ज्ञानगुण है न गुण ! यह तो त्रिकाली (है), यह तो सामान्य यानी ध्रुव (है)। परंतु उसकी केवलज्ञान की पर्याय-अवस्था हुई, वह पर्याय-विशेष हुई। सामान्य त्रिकाल ज्ञानगुण है उसमें से यह केवलज्ञान की पर्याय हुई वह विशेष हुई। (इस) विशेष में लोकालोक निमित्त है। क्योंकि केवलज्ञान लोकालोक को जानते हैं। लेकिन (यहाँ ऐसा कहा कि) सर्व को जाने वह आत्मा को जाने। तो नीचे सर्व को जाने बिना आत्मा को जाना नहीं, तो आत्मा का ध्यान कैसे करे ? समझ में आया ? अंदर (पाठ) है। **`छद्मस्थानामपि विद्यते'** ! **`व्याप्तिज्ञानरूपेण छद्मस्थानामपि विद्यते'** ! अनुमान से, भावश्रुतज्ञान से जानते हैं कि, जब (मेरी) अल्पज्ञान की दशा ऐसी हुई (है) तो किसी को पूर्ण पर्याय होती है। - ऐसा ज्ञान, श्रुतज्ञान में होता

है ! ऐसी बातें हैं ! आ..हा..हा...! क्या हो ? कितनी भी भाषा सादी करे तो भी भाव की मर्यादा में भाव रहेंगे न ! आ..हा..हा...!

फिर से, `**अब इससे ऐसा निश्चित होता है कि सर्व के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान,...**' इस एक शब्द के अंदर में (सब कुछ) है ! (कहते हैं कि) `सर्व को जाने वह आत्मा को जाने' ! क्यों? (क्योंकि) आत्मा की विशेषपर्याय में लोकालोक जाने ऐसा स्वभाव है। तो जब स्वभाव (प्रगट) हुआ तो पूर्ण (लोकालोक को) जाना, उसने आत्मा को जाना। और एक आत्मा को जो जाने... दो शब्द हैं न ? `**...और आत्मा के ज्ञान से सर्व का ज्ञान,...**' क्योंकि आत्मा ज्ञान की पर्याय में सर्व को जाने, ऐसा आया। तो आत्मा का ज्ञान यह सर्व का ज्ञान और सर्व का ज्ञान यह आत्मा का ज्ञान (ऐसा निश्चित होता है)। आ..हा..हा...! ऐसा है...!

तब कहते हैं कि, अल्पज्ञ प्राणी छद्मस्थ है उसको, प्रत्यक्ष केवली को है ऐसा पूर्ण ज्ञान तो है नहीं। (और आप कहते हो कि) आत्मा पूर्ण जाने तो (वह) आत्मा (है) और पूर्ण जाने बिना आत्मा नहीं ! तो आत्मा का ध्यान कैसे करेगा ? बात समझ में आती है ? आ..हा..हा...! तब कहते हैं कि, सुन तो सही ! भगवानआत्मा ! ज्ञानानंद प्रभु ! उसका आश्रय लेकर जो ज्ञान हुआ... भावश्रुत हाँ...! यह भावश्रुतज्ञान (जो) है उसमें मनन से, अनुमान से (ऐसा जान लेता है कि) `यह (मेरी) ज्ञान की पर्याय इतनी है (उससे) भले परोक्षरूप से जानता हूँ, तो किसी को ज्ञान की पर्याय प्रत्यक्ष है !' ऐसा ज्ञान करके व्याप्ति नाम श्रुतज्ञान में भी केवलज्ञान का भाव आ गया, आ..हा..हा...! ऐसा मार्ग है...!

(यहाँ) प्रश्न हुआ कि, आप ऐसा कहो कि, सर्व का ज्ञान यह आत्मा का ज्ञान ! तो यह (बात) तो ठीक (है)। लेकिन नीचे छद्मस्थ को सर्व का ज्ञान है नहीं तो उसको आत्मा नहीं है। (और) आत्मा नहीं है तो आत्मा का ध्यान कैसे करे ? समझ में आया ? आ..हा..हा...! सुन तो सही प्रभु! मात्र प्रत्यक्ष और परोक्ष का फर्क है। केवलज्ञानी तीनकाल तीनलोक प्रत्यक्ष जानते हैं (और) श्रुतज्ञानी परोक्ष जानते हैं। इस परोक्ष(ज्ञान में) केवलज्ञान कैसा है ? (उसका ज्ञान हो जाता है)। (क्योंकि) श्रुतज्ञान एक अंश-अवयव है। यह अवयव किसका ? इस वक्त द्रव्य की (यहाँ) बात नहीं है। केवलज्ञान अवयवी है, उसका श्रुतज्ञान अवयव है। जैसे स्थंभ का एक हिस्सा देखकर सारा स्थंभ ऐसा है, ऐसा जान लेते हैं। ऐसे श्रुतज्ञान-अवयव में (जान लेते हैं कि) यह अवयव ऐसा है तो उसका पूर्ण-अवयवी ऐसा है ! इस प्रकार श्रुतज्ञान में भी केवलज्ञान का ज्ञान आ जाता है। अरे...! ऐसी बातें हैं...! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई...! (अभी तो) क्रियाकांड में (धर्म) मान

लिया ! दया, दान, व्रत पाले, तपस्या करे...! वह तो राग है, वहाँ धर्म कहाँ था ! समझ में आया?

भगवानआत्मा... ! पूर्ण जाने ! उसका रूप ही पूर्ण जाने (ऐसा है)। पूर्ण जाने ऐसी ताक़त है। पूर्ण स्वरूप जगत में है उसे पूरा जाने ऐसा ही उसका स्वरूप है ! पर्याय का ऐसा स्वरूप है। तो सर्व को जाना उसने आत्मा को जाना ! क्योंकि आत्मा इतना है ! आ..हा..हा...! दिगंबर संतों की वाणी अलौकिक है ! कहीं है नहीं, दूसरी जगह कहीं है नहीं ! आ..हा..हा...! श्वेतांबर में भी सब गड़बड़ है। (कहते हैं कि) `पहले समय में केवलज्ञान और दूसरे समय में केवलदर्शन!' सब गप्प (है)...! यह तो संतं... दिगंबर संत...! भगवान केवलज्ञानी के अनुसार कहनेवाले हैं ! ऐसी बात कहीं और जगह नहीं है ! आ..हा..हा...! उसमें (श्वेतांबर में) ऐसा कहते हैं कि, `केवलज्ञान एक समय में, दूसरे समय में दर्शन !' इसलिये (इसका मतलब यह हुआ कि) आधे हिस्से में ज्ञान और आधे में दर्शन ! इसमें अखंड ज्ञान रहा नहीं।

यहाँ तो एक समय में पूर्ण ज्ञान और पूर्ण दर्शन ! इस ज्ञान-दर्शन में लोकालोक जानने में आता है। क्योंकि सामान्य में से प्रगट हुआ (जो) विशेष है, इस विशेष में, जगत के जितने पदार्थ हैं ये सब विशेष में जानने में आते हैं। तभी तो विशेष की पर्याय कहने में आती है। लोकालोक जाने ऐसी पर्याय है तो उस पर्याय को विशेषज्ञान कहने में आता है। और यह विशेषज्ञान है ऐसा (जिसने) जाना, उसने सर्व को जाना। क्योंकि विशेष में सर्व को जाना न ? तो (उसने) एक को जाना ! आहा..हा...! ऐसा है...!

संस्कृत में टीका में आता है न, भाई ! श्री `जयसेनाचार्यदेव' की संस्कृत (टीका में) है - `**एको भावः सर्वभाव-स्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः। एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः।।**' (ऐसा) श्री `जयसेनाचार्यदेव' में संस्कृत है। जिसने एक भाव भी यथार्थ जाना-इस द्रव्य का, एक समय की पर्याय का एक भाव भी यथार्थ जाना... (तो) `**एको भावः सर्वभावस्वभावः**' उसने सर्व भाव जाने। आहा...! `जयसेनाचार्य' की संस्कृत टीका है। `**एको भावः सर्वभाव-स्वभावः सर्वे भावा एकभावस्वभावाः एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः**' जिसने एक समय की पर्याय तत्त्व से बराबर जानी (उसने) `**सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः**' तो उसने सर्व भाव तत्त्वज्ञान में जान लिये, जानने में आ गया, आहा..हा...! सूक्ष्म है, उसमें आज हिन्दी आया है ! समझ में आया ? कठिन काम है... !

`**...सर्व के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान,...**' इस पहले प्रश्न का (बोल का स्पष्टीकरण) चल रहा है। इस पहले प्रश्न का (बोल का स्पष्टीकरण) चल रहा है। पर्याय है एक समय की, केवलज्ञान

पर्याय है न ? केवलज्ञान गुण नहीं, गुण तो त्रिकाल ज्ञान। आत्मा जैसे त्रिकाली है वैसे ज्ञानगुण त्रिकाल (है)। और केवलज्ञान, मति, श्रुत, अवधि आदि ये सब पर्याय हैं। ज्ञानगुण की अवस्था है-पर्याय है। तो कहते हैं कि, जिसकी एक पर्याय में सर्व ज्ञान आ गया, तो सर्व को जाना उसने एक को जाना। यदि सर्व को इस प्रकार जाना तो एक को जाना। समझ में आया ? तब शिष्य को प्रश्न हुआ कि, इतना सब सर्व को (जानना) छद्मस्थ को तो है नहीं तो केवलज्ञान की उत्पत्ति होने का उपाय उसे कैसे लागू पडे ? क्या कहा समझ में आया ? आ..हा..हा...! एक-एक शब्द में बहुत गंभीरता भरी है !

शिष्य का यह प्रश्न है-प्रभु ! आप कहते हैं `जो सर्व को जाने वह एक को जाने !' तो केवलज्ञान की पर्याय में सर्व को जाना तो उसने आत्मा को जाना। तो सर्व का ज्ञान जिसको नहीं है उसे आत्मा का ज्ञान नहीं है और आत्मा का ज्ञान नहीं तो आत्मा कितना है (इसकी भी) खबर नहीं, तो (वह) ध्यान किसका करेगा ? समझ में आया? सारी दुनिया से अलग जात है, आहा...!

आ..हा..हा...! परमात्मा की पुकार है सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि `ॐकार दिव्यध्वनि सुनी, अर्थ गणधर विचारे' यह शास्त्र ये है। भगवान `कुन्दकुन्दाचार्य' गये थे, वहाँ से लाये (और) बनाया। आ..हा...! वे ऐसा कहते हैं सुन तो सही, प्रभु हमने ऐसा कहा कि, सर्व को जाने वह आत्मा को जाने। क्योंकि पर्याय में सर्व को जानने का स्वभाव है। उस कारण से सर्व को जाना उसने आत्मा को जाना। आत्मा ही ऐसा है, इतना है। अभी तक तो `सर्व को जाने वह आत्मा को जाने' यह बात चलती है। समझ में आया... ? आ..हा..हा...! क्या कहा ?

यह भगवानआत्मा जो है अंदर, उसका ज्ञानस्वभाव है, ज्ञानमय है। `ज्ञानवाला' भी नहीं, ज्ञानमय है अकेला ज्ञानमय... दूसरी रीत से कहें तो, यह सर्वज्ञ ज्ञानमय है। आत्मा है यह सर्वज्ञ ज्ञानमय है, नित्य, ध्रुव... `सर्वज्ञ' (ऐसा कहा तो) `ज्ञ' `ज्ञ' स्वभावी कहो या सर्वज्ञ स्वभावी कहो! यह आत्मा जो है वह सर्वज्ञस्वभावी है। तो सर्वज्ञस्वभाव जो है वह तो सामान्य हुआ। इस सर्वज्ञस्वभावमें से विशेषपना जो सर्वज्ञ(ज्ञान) प्रगट होता है, इस विशेष में लोकालोक का ज्ञान होता है। और लोकालोक का ज्ञान होता है तो सर्व को जाना और उसी ने आत्मा को जाना। (जिसने) ऐसा पूरा जाना उसने आत्मा को जाना। ऐसी बातें हैं... ! आ..हा..हा...

`**...सर्व के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान,...**' दूसरी रीत से कहें तो आत्मा में एक `अकार्यकारण' नाम का गुण है। `अकार्यकारण' नाम का आत्मा में एक गुण है। जैसे ज्ञानगुण है वैसे अकार्यकारण नाम का गुण है। इस गुण की परिपूर्णता अपने से उत्पन्न हुई है। कोई पर के

कारण से (उत्पन्न हुई है) ऐसा नहीं. आ..हा..हा...! ज्ञान का परिपूर्णता स्वभाव स्वतः अपने से उत्पन्न हुआ है, आ..हा...! ये पूर्ण (प्रगट) हुआ इतना ही तो आत्मा है। क्योंकि पूरा स्वरूप है उतनी पर्याय (प्रगट हुई) है, उतना ही आत्मा है। जिसने सर्व को नहीं जाना उसने एक को नहीं जाना। सर्व को जाना उसने एक को जाना। तो छद्मस्थ को तो सर्व का ज्ञान है नहीं, ऐसा शिष्य का प्रश्न आया। समझ में आया ? आ..हा..हा...!

`छद्मस्थ को भी है !' सुन...! आ..हा..हा... `जयसेनाचार्यने' तो लिया है-अवयवी का अवयव ज्ञान है। अवयव से सारा अवयवी का ज्ञान उसमें (हो जाता) है। समझ में आया ? आहा...! एक साथ है वह अवयव है, सारा शरीर एवयवी है, यह हाथ, पैर अवयव है। तो एक (हाथ) को जाना तो जिसका यह अवयव है उसको भी जाना। समझ में आया ? आ..हा..हा...!

ऐसे जिसने भगवानआत्मा...! अंतर्मुख होकर सम्यक्ज्ञान प्रगट किया, सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान (प्रगट किया) तो यह सम्यक्ज्ञान भावश्रुत ज्ञान है। समझ में आया ? और एक स्पष्टीकरण भी हो गया है कि, इसमें `श्रुत' शब्द आया है तो श्रुतज्ञान में `श्रुत' शब्द की कुछ उपाधि है ? तो कहते हैं, नहीं.. नहीं...! भगवान सर्वज्ञ जो हैं वे श्रुतज्ञान द्वारा उपदेश करते हैं, केवलज्ञान द्वारा नहीं। क्या कहा ? वे केवलज्ञानी हैं, परंतु उपदेश श्रुतज्ञान द्वारा करते हैं ! क्योंकि सुननेवाले को श्रुतज्ञान होता है उसमें निमित्त है तो वे भी श्रुतज्ञान द्वारा कथन करते हैं आ..हा..हा...! केवलज्ञानी श्रुतज्ञान द्वारा कथन करते हैं तो यहाँ नीचे श्रुतज्ञान (जो) है वह केवलज्ञान को जानता है ! आ..हा..हा...! ऐसा है...! दो-चार दिन सुने तो इसमें कुछ समझ में आये ऐसा नहीं है।

`**...सर्व के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान और आत्मा के ज्ञान से सर्व का ज्ञान,...**' आ..हा..हा...! पहले लिया-सर्व के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान। अब लेते हैं-आत्मा के ज्ञान से सर्व का ज्ञान। जिसने आत्मा जाना-(उसने) ज्ञानमय, आनंदमय, अनंत गुणमय (जाना)। उसकी पर्याय में केवलज्ञान होगा, ऐसा वर्तमान में जान लेते हैं। समझ में आया? केवलज्ञान है, ये तो जानते हैं, परंतु श्रुतज्ञान में सर्व वस्तु देखी-जानी तो उसमें सारा आत्मा का ज्ञान आ गया। तो आत्मा जाना उसने सर्व जाना। क्योंकि पर्याय में सर्व आया तो आत्मा को जाना, आ..हा..हा...! ऐसा है...!

(अब कहते हैं कि) `**...ऐसा होने से, आत्मा ज्ञानमयता के कारण,...**' देखो ! आत्मा तो ज्ञानमय है (ऐसा कहा)। उसमें राग, द्वेष, पुण्य-पाप विकल्प है ही नहीं। नव तत्त्व हैं न ? (तो) पुण्य-पाप आस्रव तत्त्व, बंध तत्त्व भिन्न है और ज्ञायक तत्त्व भिन्न है, आ..हा..हा...! ऐसे `**...आत्मा**

ज्ञानमयता के कारण,...' ज्ञानमय ही है। आ..हा..हा... चैतन्यपुंज है ! भगवान चैतन्यपुंज है ! आ..हा..हा...!

(`समयसार' के) `कर्ता-कर्म अधिकार' की पहली गाथा में आया है न ? कि, आत्मा और ज्ञान का तदात्म्यसंबंध है। तादात्म्य ! अग्नि और उष्णता...! अग्नि और उष्णता तद्रूप-तदात्म्यसंबंध है। वैसे भगवानआत्मा और ज्ञानस्वभाव तदात्म्यसंबंध है, आहा..हा...! ऐसी बातें...! समझ में आया ? और पुण्य-पाप का भाव संयोगी भाव है और ज्ञानमय भाव द्रव्य के साथ तदात्म्यसंबंध है। और पुण्य-पाप का भाव, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि विकल्प संयोगी भाव है, स्वभावभाव नहीं। स्वभावभाव तो ज्ञानमय, आनंदमय वह स्वभाव है, आ..हा..हा...! ऐसा सूक्ष्म है!

(यहाँ कहते हैं) `**...आत्मा ज्ञानमयता के कारण स्वसंचेतक होने से,...**' क्या कहते हैं ? स्वयं अपना अनुभव करने से, संचेतक (अर्थात्) सम्यक् प्रकार से सचेतक। स्वयं की जो वस्तु है उसमें चेतन-अनुभव आया। ज्ञानमयता के कारण ज्ञानमय का वेदन हुआ। विशेष कहना है न ! `**...स्वसंचेतक होने से, ज्ञाता और ज्ञेय के वस्तुरूप से अन्यत्व होनेपर,...**' अब बात को आगे ले गये। जो ज्ञान की पर्याय में लोकालोक जाना है तो कहते हैं कि, (वह) ज्ञान की विशेष दशा हुई। (उस) विशेषदशा में लोकालोक जानने में आया।

`**...ज्ञाता और ज्ञेय का वस्तुरूप से अन्यत्व होनेपर भी,...**' ज्ञाता नाम जाननेवाला भगवान और ज्ञेय अन्य (पदार्थ), ऐसे अन्यत्व होनेपर भी, `**...प्रतिभास और प्रतिभास्यमानकर,...**' आ..हा..हा...! प्रतिभास और प्रतिभास्यमान `**...अपनी अवस्था में अन्योन्य मिलन होने के कारण,...**' आहा...! जानने लायक और जाना ये सब अपनी पर्याय में हुआ। जानने लायक और जाना, ये दोनों अपनी पर्याय में हुआ न ?

`**...ज्ञाता और ज्ञेय का वस्तुरूप से अन्यत्व होनेपर भी प्रतिभास और प्रतिभास्यमानकर अपनी अवस्था में अन्योन्य मिलन होने के कारण,...**' (अर्थात्) ज्ञेय का ज्ञान हुआ वह ज्ञान के साथ मिलन हुआ। उसमें ज्ञेय का जो ज्ञान है वह ज्ञान और अपना ज्ञान, सब एक हुआ। उसमें से अन्य का ज्ञान निकाल दे, ऐसी चीज है नहीं, आहा...! यह तो Logic से बात है, भाई ! सूक्ष्म बात है, आ..हा..हा...! क्या कहते हैं ?

भगवान ज्ञान सामान्य (है)। उसकी अवस्था विशेष में लोकालोक जानने में आया वह तो उसकी विशेष अवस्था है। समझ में आया ? उसकी अवस्था में लोकालोक जो अन्य है वह जानने में आया तो इस अपेक्षा से भले अन्य हो। परंतु वह अन्य है उसका यहाँ ज्ञान हुआ है तो ज्ञान

में अन्यत्व नहीं रहा। समझ में आया ?

भगवान ज्ञानपर्याय में लोकालोक जब जानने में आया तो पूर्ण पर्याय जानी। (और) पूर्ण जाना तो उसमें यह आया कि, जो ज्ञेय है वह उसमें आया नहीं, पहले ऐसा कहा। अनंत ज्ञेय भिन्न हैं। तो भी जितने ज्ञेय का स्वरूप है ऐसा अपने ज्ञान में जानने में आया तो इस ज्ञान में अन्यत्व भी आ गया। दोनों को भिन्न करना अशक्य है, ऐसा कहते हैं। आ..हा..हा...! है (अंदर) ?

'**...अन्योन्य मिलन होने के कारण,...**' 'अन्योन्य मिलन होने से !' (ऐसा कहा), आहा..हा...! क्योंकि ज्ञान का ज्ञान और ज्ञेय का ज्ञान (हुआ)। ज्ञान का ज्ञान और ज्ञेय का ज्ञान, अन्योन्य (का) पर्याय में मिलन है। ऐसा है...! डॉक्टर, इन्जिनियर में सरल था !

श्रोता :- आप एक इन्जेक्शन तो मारो !

पूज्य गुरुदेवश्री :- बात सही है ! इन्जेक्शन तो यह है, प्रभु !

श्रोता :- गुरुदेव ! आप बेशुद्ध को शुद्ध बनाते हो !

पूज्य गुरुदेवश्री :- बनाये न...! बहुत शांति का काम है, प्रभु ! आहा...! यह देह तो जड़-मिट्टी है, यह तो मिट्टी है। मृतक कलेवर है ! आ..हा..हा...! ये मुर्दा है ! भगवान तो अमृतरूप विज्ञानघन है। आत्मा भगवान है, इसलिये यहाँ आत्मा को 'भगवान' कहते हैं। आचार्य ने ('समयसार' की) '७२ गाथा में 'भगवान' कहा है ! भगवानआत्मा...! 'भग' नाम अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत आनंद की लक्ष्मी ! 'भग' का अर्थ लक्ष्मी होता है। अपना अनंत ज्ञान आदि की लक्ष्मी 'वान' (माने) रूप है, तो वह ज्ञानमय है, अनंत गुणमय है ! आ..हा..हा...! यहाँ तो ज्ञान की प्रधानता से बात करनी है न !

'**...ज्ञानमयता के कारण स्वसंचेतक होने से,...**' (अर्थात्) स्वयं का स्वयं को अनुभव होने से। '**...ज्ञाता और ज्ञेय का वस्तुरूप से अन्यत्व होनेपर भी,...**' (अर्थात्) जाननेवाला ज्ञान और जानने में आनेवाले (ज्ञेय) इस प्रकार अन्य होनेपर भी '**...प्रतिभास और प्रतिभास्यमान,...**' (अर्थात्) प्रतिभास और प्रतिभास्यमान स्वयं की पर्याय है, आ..हा..हा...! क्या कहा समझ में आता है कुछ ? पर्याय-प्रतिभास और पर्याय-प्रतिभासने योग्य। स्वयं ही स्वयं सबकुछ है। आ..हा...! पर का जो कुछ प्रतिभास यहाँ जानने में आया वह अपनी पर्याय है, और उसे जानना यह स्वयं की योग्यता है। समझ में आता है कुछ ? ऐसा है...!

(ऐसा अन्योन्य मिलन होने के कारण) '(**...ज्ञान की अवस्था में परस्पर मिश्रित-एकमेकरूप होने से**)**...**' ज्ञेय को जाना है वह ज्ञान ही है। ज्ञेय को जाना है वह ज्ञान ही है, वहाँ ज्ञेय नहीं

है, आ..हा..हा...! यानी कि, ज्ञान में जो पर का प्रतिभास हुआ, परंतु वह प्रतिभास (भी) स्वयं हुआ और प्रतिभास्यमान भी स्वयं हुआ, आ..हा..हा...!

`**...उन्हें भिन्न करना अत्यन्त अशक्य होने से,...**' देखो ! क्या कहा ? आत्मा की ज्ञानपर्याय में ज्ञेय-पूर्ण ज्ञेय है ये जानने में आया है तो ये ज्ञेय का ज्ञान आत्मा में से भिन्न करना अशक्य है। इसलिये वह ज्ञेय ही है (अर्थात्) ज्ञेय का ज्ञान वह अपना ज्ञेय है। पर का ज्ञेय था उसका यहाँ ज्ञान हुआ तो अपना ज्ञेय हो गया। आ..हा..हा...! समाज में ऐसी बात नयी लगे ! समझ में आया? आ..हा..हा...!

`**...उन्हें भिन्न करना अत्यन्त अशक्य होने से,...**' अरीसा में...! अरीसा (माने) शीशा...! (इसमें) जो बाह्य चीज है उसका प्रतिबिंब उठता है। अब, वह प्रतिबिंब है (ऐसा) कहे तो उसका प्रतिबिंब है। परंतु वास्तव में तो दर्पण की अवस्था ही इतनी है। दर्पण की इतनी ही अवस्था है कि, जो प्रतिबिंब अपनी स्वच्छता में जानता है। वैसे भगवान ज्ञानपर्याय में... आ..हा..हा...! अन्य (ज्ञेय) अनंत है, उस अन्य ज्ञेय को ज्ञान की पर्याय की ताकत है कि उसको जानते हैं। तो फिर उस अन्य का जो ज्ञान हुआ उसे ज्ञेय का ज्ञान कहकर, अपना भी ज्ञान और ज्ञेय का भी ज्ञान दोनों को भिन्न करना अशक्य है। बहुत कठिन आया है ! मार्ग ऐसा है, बापू ! आ..हा..हा...! ध्यान रखे तो समझ में आये ऐसा है ! उसे बात ख़याल में तो आनी चाहिये न ! आ..हा..हा...!

ज्ञेय का जो ज्ञान है और ज्ञेय उसे जुदा करना अशक्य है। ज्ञेय का ज्ञान और आत्मा का ज्ञान, दोनों मिलाकर ज्ञान है, उसमें से ज्ञेय का ज्ञान भिन्न करना अशक्य है। अरे...! प्रभु ! ऐसा मार्ग...! (अज्ञानी तो कहे) `व्रत करो, अपवास करो, यात्रा करो...!' वह सब तो राग की क्रिया है...! सुन न...!

यह भगवानआत्मा अकेला ज्ञाता-दृष्टा...! आ..हा..हा...! क्रमबद्ध की पर्याय में भी वह (बात) है। जो समय में जो पर्याय होनेवाली है वह होगी, आहा..हा...! उसका अर्थ-क्रमबद्ध की पर्याय में `मैं करनेवाला हूँ', यह ऊड़ जाता है, अकर्ता होता है। अकर्ता होता है, यह नास्ति से (कहा)। अस्ति से ज्ञाता-दृष्टा हो गया, बस...! समझ में आया ? पर्याय करनी भी नहीं है। अकर्ता वही ज्ञाता-दृष्टा ! क्रमबद्ध में यह आया, आहा..हा...!

यहाँ भी केवलज्ञान क्रमसर होता है। एक समय... समय... समय... भिन्न... भिन्न... भिन्न... (पर्याय होती है), आहा..हा...! तो एक समय के ज्ञान (में) सब जगत के तीनकाल तीनलोक आ गये। अब उसका ज्ञान और अपना ज्ञान, दोनों एक ही है। इसलिये (ऐसा लगे) कि, मानो ज्ञेय

इसमें आ गये ! ज्ञेय का ज्ञान हुआ तो ज्ञेय आ गया!

यहाँ यही कहते हैं `**...उन्हें भिन्न करना अत्यन्त अशक्य होने से मानो सब कुछ आत्मा में निखात (प्रविष्ट) हो गया,...**' आ..हा..हा...! (`निखात' का अर्थ नीचे दिया है) `खोदकर भीतर गहरा उतर गया हुआ; भीतर प्रविष्ट हुआ' ! ज्ञान में लोकालोक प्रवेश किया ! उसका ज्ञान हुआ न तो मानो प्रवेश किया ! आ..हा..हा...! केवलज्ञान की व्याख्या इतनी है ! वह श्रुतज्ञान द्वारा जानने में आये। आहा..हा...! और श्रुतज्ञान में भी इतनी ताकत है ! केवलज्ञान पूर्ण अवयवी है। श्रुतज्ञान (अर्थात्) अपना स्वरूप का ज्ञान हुआ तो यह पर्याय भी उसका (केवलज्ञान का) अवयव है, तो अवयव जाना उसने अवयवी-पूर्ण ज्ञान ऐसा है, यह जाना। ये अनुमान से व्याप्ति हो गई। समझ में आया ? अनुमान... और व्याप्ति... कभी हिसाब की किताब में आया नहीं हो ! अपासरा में जायें तो वहाँ भी आया नहीं है ! आहा..हा...!

श्रोता :- केवलज्ञान में श्रुतज्ञान का उपदेश होता है ?

समाधान :- श्रुतज्ञान का उपदेश होता है, केवलज्ञान का नहीं। `घवल' में ऐसा (आता) है। `घवल'...! श्रुत का उपदेश चलता है। क्योंकि सुननेवाले को श्रुत(ज्ञान) होता है। पहले यह कहा था। वाणी है न वाणी ! वाणी यानी श्रुत हुआ और यह श्रुत सुननेवाले को श्रुतज्ञान में निमित्त है। सामने श्रुतज्ञान होता है न ! तो यहाँ वाणी को भी श्रुत कहा। क्योंकि वाणी निमित्त हुई और वहाँ श्रुतज्ञान हुआ, तो वाणी ही श्रुतज्ञान है, निमित्त रूप में। परंतु वाणी ही श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान द्वारा ही परमात्मा का उपदेश आता है, आ..हा..हा...! केवलज्ञान का उपदेश वाणी में कैसे आये ? वाणी (में) तो श्रुतज्ञान द्वारा ही उसका सब स्वरूप आता है, आहा..हा...!

श्रोता :- वाणी में तो द्वादशांग से ऊपर ज्ञान होता है, पर गणधर द्वादशांग जितना ही ग्रहण करते हैं ?

समाधान :- अरे...! सब ख़याल में आता है ! सुननेवाले श्रुतज्ञानी को भी सब ख़याल आ जाता है। श्रुतज्ञान द्वारा कहा और श्रुतज्ञान में भी पूर्ण का जानना अनुमानव्याप्ति से (हो जाता है, वह इस प्रकार) कि, यह (श्रुतज्ञान) इतना है तो पूर्ण इतना है-ऐसा ज्ञान आ जाता है, आ..हा..हा...! ऐसी बात है !

(यहाँ कहते हैं) `**...सब कुछ आत्मा में निखात (प्रविष्ट) हो गया,...**' (अर्थात्) सब ज्ञेय का ज्ञान हुआ तो ज्ञेय ही मानो ज्ञान में आ गये ! आ..हा..हा...! `**...इसप्रकार प्रतिभासित होता है,...**' देखा ! पर्याय में अपनी पर्याय प्रतिभासित होती है तो ये सब अंदर आ गया। `**...ज्ञात होता है।**

' (प्रतिभासित होता है यानी) ज्ञात होता है।

`(**आत्मा ज्ञानमय होने से वह अपने को अनुभव करता है,...**' आ..हा..हा...! अपने को `**...जानता है, और अपने को जाननेपर समस्त ज्ञेय ज्ञात होते हैं-मानो वे ज्ञान में स्थित ही हों,...**)' आहा...! ज्ञान में वह ज्ञेय उत्कीर्ण हो गये हो ! डूब गये हों ! २०० (गाथा में) बहुत भाषा आती है। आहा..हा...! ज्ञान की पर्याय में... आ..हा..हा...! लोकालोक ज्ञेय का ज्ञान हुआ तो ज्ञेय-पर भिन्न है और ज्ञान भिन्न है, फिर भी उसका ज्ञान हुआ तो मानो ज्ञेय का ज्ञान और (ज्ञान का) ज्ञान कोई भिन्न नहीं ! वह चीज भले भिन्न रही ! परंतु उस संबंधी का जैसा ज्ञान (है), वह अपने ज्ञान में आ गया, तो उसका ज्ञान और अपने ज्ञान को भिन्न करना अशक्य है, आ..हा..हा...! बहुत सूक्ष्म विषय...!

`(**आत्मा ज्ञानमय होने से वह अपने को अनुभव करता है-जानता है,...**)' अंतर में अपने को जानता है। `(**...और अपने को जाननेपर समस्त ज्ञेय ऐसे ज्ञात होते हैं-मानो वे ज्ञान में स्थित ही हों,...**)' ज्ञान में मानो ज्ञेय स्थित हों... ! आ..हा..हा...! प्रतिभासमें से खुद ही प्रतिभास हो गया ! आ..हा..हा...! (अर्थात्) स्वयं की ज्ञानपर्याय जाने और ज्ञान जानने में आये। पर्याय जाने और पर्याय जानने में आये, आहा..हा...! पर्याय में संप्रदान की पर्याय आयी। पर्याय लेनेवाला भी वह और देनेवाला भी वह। ज्ञेय का ज्ञान हुआ वह ज्ञान की पर्याय अपने में रखी और अपने को दी-संप्रदान ! षट्कारक है न ? सूक्ष्म है, भगवान ! षट्कारकरूप परिणमता है,... केवलज्ञान हाँ...! केवलज्ञान कर्ता, केवलज्ञान कर्म-कार्य, केवलज्ञान करण-साधन, केवलज्ञान संप्रदान-खुद ने रखा, केवलज्ञान अपादान-केवलज्ञान केवलज्ञान से हुआ और (केवलज्ञान अधिकरण) आधार-ज्ञान ज्ञान का आधार है, आ..हा..हा...! सूक्ष्म बहुत, बापू !

ऐसे श्रुतज्ञान जो हुआ वह भी षट्कारक से हुआ। पर का ज्ञान यहाँ हुआ, वह पर्याय षट्कारक से परिणमित होती है, आ..हा..हा...! ज्ञान-भगवानआत्मा जहाँ जानने में आया तो कहते हैं कि, उसका जानने का पूर्ण स्वभाव साथ में आ गया। और पूर्ण स्वभाव का जो ज्ञान है उसको भिन्न करना अशक्य वस्तु है। प्रतिभास और प्रतिभासमय पर्याय ही अपनी है। प्रतिभास उसका हुआ ऐसा नहीं, (प्रतिभास) यहाँ हुआ, आहा..हा...! बनिये को फुरसत मिले नहीं... और ऐसी बातें (समझनी)...!

`जापान' के एक इतिहासकार ने कहा है न ! बहुत पुराना एक इतिहासकार है - ६७ साल का...! अभी आया है (कि), `जैनधर्म अनुभूतिमात्र है ! अनुभूति जैनधर्म है।' ऐसे निकाला है। एक

पुराना ऐतिहासिक है। (उसने कहा) `जैनधर्म अनुभूति है !' बात तो सच्ची है। बारह अंग में भी अनुभूति कहा है-भगवानआत्मा का अनुभव करो ! ये करो, वह करो... यह वस्तु में नहीं है। उसने फिर थोड़ा ऐसा लिया है कि, `ऐसा जैनधर्म बनिये को हाथ आया!' बनिया...! और बनिये को निर्णय करने की फुरसत नहीं मिलती ! अनुभूति - भगवान पूर्णानंद का नाथ ! कोई दया, दान, व्रतादि राग ये कोई जैनधर्म नहीं है। ये तो विकार है, आहा..हा...! राग आये उसका ज्ञान (हो), यह ज्ञान उसका है, राग उसका नहीं। आ..हा..हा...! परंतु ऐसा निर्णय करने के लिये समय चाहिये। (अंदर में-अंतर में जम जाना चाहिये)। `घड' को क्या कहते हैं ? (जम जाना !) यह बराबर है। अपनी पर्याय में जम जाना ! उसमें लोकालोक का ज्ञान भी आया और अपना ज्ञान भी आया। (तो) ज्ञान में मानो ज्ञेय (का) प्रवेश हो गया ! ज्ञान में ज्ञेय मानो उत्कीर्ण हो गये ! ऐसा यहाँ दिखता है।

आ..हा..हा...! दिगंबर आचार्यों की वाणी...! केवली के केडायत हैं ! केवली के केडायत...! ऐसी वाणी और कहीं नहीं है ! आहा...!

`**(आत्मा ज्ञानमय होने से वह अपने को अनुभव करता है-जानता है, और अपने को जाननेपर समस्त ज्ञेय ऐसे ज्ञात होते हैं-मानो वे ज्ञान में स्थित ही हों, क्योंकि ज्ञान की अवस्था में से ज्ञेयाकारों को भिन्न करना अशक्य है)।**' यह पहले भी आ गया है। `सर्वगत है इसलिये प्रवेश करता है' यह पहले आ गया है। सर्वगत है न ! ज्ञान सर्व को जानता है न ! जैसा ज्ञेय है ऐसा ज्ञान हो गया। जैसा द्रव्य-गुण है वैसा पर्याय में ज्ञान हुआ और जैसा लोकालोक है उसी प्रकार का ज्ञान हुआ तो ज्ञान में मानो ज्ञेय आ गये ! उसका ज्ञान हुआ तो (मानो) ज्ञेय आ गया ! ऐसा कहने में आता है, आ..हा..हा...! है ?

`**यदि ऐसा न हो तो (यदि आत्मा सबको न जानता हो तो) ज्ञान के परिपूर्ण आत्मसंचेतन का अभाव होने से,...**' आ..हा..हा...! भगवानआत्मा पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण...पूर्ण... न जाने तो-तो आत्मा का संचेतन का अभाव हो गया। क्योंकि पूर्ण को जाने ऐसा आत्मा है, तो ऐसा (जाना) न हो तो उसने अपने पूर्ण आत्मा का वेदन किया ही नहीं। पूर्ण आत्मा का जानना उसे हुआ ही नहीं, आ..हा..हा...! है ? आहा..हा...!

`**...ज्ञान के परिपूर्ण आत्मसंचेतन का अभाव होने से,...**' एक ही आत्मा एक पर्याय में तीनकाल तीनलोक को जाने ऐसा आत्मा है। तो जिसे ऐसा न हो तो (वह) सबको नहीं जानता हो, तो आत्मा का परिपूर्ण रूप है-सबको जानना, यह आया नहीं, यह आया नहीं तो आत्मा का

ध्यान कर सकता नहीं। `**...परिपूर्ण आत्मसंचेतन,...**' यानी आत्मा का पूर्ण रूप-सबको जानना ऐसा आत्मा का पूर्ण रूप है, तो पूर्ण रूप का अभाव होने से `**...परिपूर्ण एक आत्मा का भी ज्ञान सिद्ध न हो।**' (अर्थात्) परिपूर्ण भगवानआत्मा ज्ञान की पर्याय में अपने से लोकालोक को जानना ऐसा स्वभाव है, सबको ऐसा जो न जाना तो आत्मा को ही नहीं जाना। कारण आत्मा इतना है, आ..हा..हा...! ऐसा सूक्ष्म है, भाई !

जिसने एक समय की पर्याय में इतना पूर्ण रूप (जाना नहीं, क्योंकि) पूर्ण जानना ही अपना पूर्ण रूप है, तो पूर्ण रूप को जाना नहीं तो उसने आत्मा को ही जाना नहीं, आ..हा..हा...! पहले (वचन का) खुलासा किया-`सर्व के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान' इसका खुलासा किया, आहा...! और `एक आत्मा के ज्ञान से सर्व का ज्ञान' क्योंकि आत्मा की पर्याय में इतने सर्व को जानने की ताकत है, इतना आत्मा है,तो इतने आत्मा को जाना उसने सर्व को साथ में जाना, आ..हा..हा...! विशेष कहेंगे...

(**दिनांक २६-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-५१**)

(`प्रवचनसार') ४९ गाथा का भावार्थ। `**४८ और ४६ वीं गाथा में ऐसा बताया गया है कि जो सबको नहीं जानता...**' यह ४८ (गाथा में आ गया)। (जो) सबको जानता नहीं सो एक को जानता नहीं। क्योंकि आत्मा का ज्ञानस्वरूप पूर्ण लोकालोक को जाने (ऐसा है)। (वह) सामान्य ज्ञान की विशेष अवस्था हो इसमें लोकालोक के द्रव्य-पर्याय निमित्त हैं। इतना विशेष ज्ञान परिणमित हो तब यह आत्मा पूरा हुआ कहलाता है, आहा..हा...! इस कारण कहते हैं कि, `**...जो सबको नहीं जानता...**' एक समय की पर्याय में जाननेवाला किसे न जाने ? ज्वलनशील अग्नि किसे न जलाये ? आहा...! ऐसा ही कोई आत्मा का ज्ञानस्वभाव है कि, लोकालोक को एक समय में, उसे बिना छूये (जानता है)। उसके अस्तित्व के कारण (जानता है ऐसा) नहीं, (परंतु) स्वयं का अस्तित्व ही उतना है। आ..हा..हा...! जिसने सबको जाना यानी सब पर्याय का पूर्णरूप है (वह) सबको जाना उसने एक को (जाना)। (क्योंकि) आत्मा स्वयं ही उतना है ! आहा..हा...! ऐसा सूक्ष्म बहुत...!

दूसरा बोल-`**...और जो अपने को नहीं जानता वह सबको नहीं जानता।**' क्योंकि स्वयं ही उतना है। आ..हा..हा...! एक ओर लोकालोक और एक ओर एक समय की केवलज्ञान की पर्याय ! आहा..हा...! केवलज्ञान को बहुत स्पष्ट किया है। लोगों को इसमें विरोध बहुत हैं न ! यह `क्रमबद्ध' आया इसमें भी कुछ एक ने विरोध जताया ! (एक पत्रिका में आया है कि) `केवलज्ञानी को माननेवाले भी यह क्रमबद्ध आने से हिलडूल गये हैं !' आ..हा..हा...! किन्तु क्रमबद्ध में भी यह (बात) है-जो समय-समयपर पर्याय परिणमित हुई, उसमें जब केवलज्ञान की पर्याय क्रम में आयी तब वह पर्याय सब लोकालोक को जानती है, आ..हा..हा...! एक समय की पर्याय तीनकाल तीनलोक को एक समय में जानती है ! आ..हा..हा...! इतनी बड़ी एक समय की पर्याय है !! आ..हा..हा..हा...! इस पर्याय में सब ज्ञात है तो सबको जाना उसने एक को जाना कि आत्मा उतना है। और एक को जाना कि आत्मा एक समय की पर्याय में सबको जाने ऐसा है, उस एक को जाना उसने सबको जाना ही है। आ..हा..हा...! `प्रवचनसार' में ज्ञान की ऐसी स्पष्टता बहुत की ! आ..हा..हा...!

एक पंडित थे वे ऐसा कहते थे कि, वर्तमान में जितना भी ज्ञान हो उससे सर्वोत्कृष्ट जो ज्ञान हो उसका नाम पूर्ण ज्ञान ! केवलज्ञान का विरोध बहुत !

श्रोता :- आर्य समाज को भी इसमें ही विरोध था !

पूज्य गुरुदेवश्री :- वे तो मानते नहीं। वे तो (ऐसा मानते थे कि) `मोक्ष होते हुए भी वहाँ से पुनः अवतार धारण करते हैं !' ऐसा कहते हैं ! आ..हा..हा...! पूर्णदशा हो, मोक्ष में जाये, (आगे) भक्तों पर मुसीबत आये इसकारण पुनः अवतार धारण करें ! भगवान को चिंता...! भगवान किसे कहें (इसकी ख़बर नहीं) ! आहा...! भगवान ने पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया सो वीतराग हैं, आहा...! अरे...! क्षायिक समकित हो सो गिरे नहीं ! अरे...! क्षायिक समकित क्या किन्तु अभी इसके भीतर जो (९२ वीं गाथा में क्षयोपशम समकित) कहते हैं सो भी गिरे नहीं !! आ..हा..हा...! क्षयोपशम समकित भले हो ! जिसे ऐसे पंचमकाल के महाकाल जैसे भाव में (समकित) प्रगट हो (तो) कहते हैं कि, वह तो केवलज्ञान नियम से लेगा ! आहा...! यह सम्यग्दर्शन अप्रतिहत (भाव से प्रगट हुआ है) ! `जोडणी क्षायिक' !

वर्तमान में क्षायिक (ज्ञान) हो तब तो ठीक ! वरना भी यह क्षयोपशमज्ञान भी एक पर्याय में लोकालोक को जानता है ! भले श्रुतज्ञान हो ! यह अधिकार सारे पूर्ण (केवलज्ञान का) है। वैसे भी इसमें से (श्रुतज्ञान की बात) निकलती है। टीका में से निकला है कि, जब आप कहते हो कि,

पूर्ण जाने तब आत्मा (जाना कहने में आता है) तो लोकालोक को जाने ऐसा छद्मस्थ को है नहीं, तो क्या छद्मस्थ को आत्मा नहीं ? यदि आत्मा नहीं तो आत्मा का ध्यान किस तरह कर सके ? यदि उसे आत्मा ख़याल में न आये तो उस तरफ झुकाव कर उसका ध्यान किस प्रकार कर सके ? टीका में (आता) है देखो ! (`जयसेनाचार्यदेव' की संस्कृत टीका) `**पूर्वसूत्रे भणितं सर्वपरिज्ञाने सत्यात्मपरिज्ञानं भवतीति। यद्येवं तर्हि छद्मस्थानां सर्वपरिज्ञानं नास्त्या,...**' (अर्थात्) छद्मस्थ को पूर्ण ज्ञान नहीं। `**...परिज्ञानं कथं भविष्यति,...**' तो आत्मा का ज्ञान उसे कैसे हो ? आप तो कहते हो कि, पूर्ण जाने उसे आत्मा कहे! तब पूर्ण ज्ञान छद्मस्थ को तो होता नहीं। `**...आत्मपरिज्ञानाभावे चात्मभावना कथं,...**' (अर्थात्) जिसे आत्मा का ज्ञान ही नहीं वह आत्मभावना अंतःकरण में कैसे करे ? `आत्मभावना भावता जीव लहे केवलज्ञान रे' आता है न ? `श्रीमद्' में आता है। परंतु यह आत्मा ही जिसने पहचाना नहीं, जाना नहीं वह उसकी भावना करे किस प्रकार ? ऐसा प्रश्न है। `कथमिति चेत्-लोकालोकादिपरिज्ञानं व्याप्तिज्ञानरूपेण,... परोक्षप्रमाणभूतश्रुतज्ञानेन सर्वपदार्था ज्ञायन्ते।' (अर्थात्) परोक्षप्रमाण से भावश्रुतज्ञान के द्वारा `**सर्वपदार्था ज्ञायन्ते**' ! आ..हा..हा...! एक जीव-एक आत्मा ! भले छद्मस्थ हो! परंतु अंतर के स्वभाव का स्पर्श होकर ज्ञान हुआ वह श्रुतज्ञान में इतनी ताक़त (है) कि, सारा जो केवलज्ञान अवयवी (है) उसका उसे ज्ञान भीतर होगा ही। ज्ञान कितना हो और ज्ञान का विषय कितना हो, यह सब ज्ञान यहाँ होता है। समझ में आया कुछ...? आहा...! और तब वह आत्मा की ओर झुककर और केवल शक्ति जो सर्वज्ञ(स्वरूप) है (उसे ऐसे जानता है कि) यह सर्वज्ञस्वभाव सो आत्मा ! इस प्रकार पर्याय में उसे भाव द्वारा जानने में आया (यानी कि) श्रुतज्ञान के भाव द्वारा। परंतु यह आत्मा है यह सर्वज्ञस्वभाव है, इस प्रकार श्रुतज्ञान द्वारा जानकर, सर्वज्ञस्वभावी आत्मा का ध्यान करे, उसका ध्यान करने से सर्वज्ञ होगा ही। यह है भीतर हाँ...! `**...तच्च व्याप्तिज्ञानं परोक्षाकारेण केवलज्ञानविषयग्राहकं कथंचिदात्मैव भण्यते।**' (अर्थात्) उसे इतना आत्मा जानने में आता है ! `**अथवा स्वसंवेदनज्ञानेनात्मा ज्ञायते,...**' दूसरा बोल लिया। भगवानआत्मा ! स्व नाम अपना ज्ञान और आनंद स्वरूप प्रभु! यह स...वेदन...`संवेदन'...! अपने आनंद और ज्ञान के वेदन द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करेगा। समझ में आया कुछ...?

ऐसा कहनेपर और कोई दया, दान और व्यवहार मोक्षमार्ग द्वारा केवल प्राप्त होगा, यह बात निकल जाती है-रहती नहीं। समझ में आया कुछ ? व्यवहार तो निश्चय की प्रसिद्धि करता है। व्यवहार स्वयं स्वयं को प्रसिद्ध करता नहीं। व्यवहार यह... यह... यह... (निश्चय) वैसा प्रसिद्ध

करता है ! इसलिये व्यवहार से हो, ऐसा नहीं। आहा..हा...! व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है किन्तु यह तो उपचार से कहा है। वास्तव में व्यवहार (है सो) मोक्षमार्ग नहीं। परंतु व्यवहार मोक्षमार्ग राग को कहा यह (निश्चय की) प्रसिद्धि करता है। व्यवहार से निश्चय प्रसिद्ध होता है ऐसा नहीं। परंतु व्यवहार निश्चय को प्रसिद्ध करता है-जताता है कि, यह निश्चय...! समझ में आया ? भाई ! व्यवहार (सम्यग्दर्शन की व्याख्या में) जो देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा इत्यादि तीन बोल हैं न ? वे स्वयं निश्चय को प्राप्त न कराये किन्तु निश्चय इस प्रकार है, उसे वह व्यवहार बतलाता है - निश्चय की प्रसिद्धि करता है। यानी निश्चय की प्राप्ति हो, वैसे नहीं। आ..हा..हा...! ऐसी बातें, लो...! निश्चय जो स्वरूप है पूर्णानंद प्रभु ! उसे यह देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा, बाहरी ज्ञान या नौ तत्त्व आदि की श्रद्धा (परिणमित होती नहीं)।

ऐसे तो निश्चय से तो शास्त्रज्ञान को भी शब्दज्ञान कहा है। शास्त्रज्ञान यानी शब्दज्ञान। परंतु इस शास्त्रज्ञान में कहा ही यह है। यह शास्त्रज्ञान है इसके द्वारा निश्चयज्ञान होता नहीं। परंतु यह शास्त्रज्ञान निमित्त है वह प्रसिद्ध करता है कि, भीतर जा ! भीतर में केवलज्ञान की प्राप्ति कर! आहा...! समझ में आया कुछ ? (`समयसार' की) आठवीं गाथा में आया न ! कि, व्यवहार एकरूप आत्मा (को) बतलाता है। वैसे दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त सो आत्मा - ऐसा व्यवहार लिया किन्तु यह व्यवहार समझाने के लिये (कहा)। और सामनेवाले (जीव को) यह व्यवहार द्वारा निश्चय क्या है, यह बतलाने के लिये (बताया)। निश्चय प्राप्ति के लिये नहीं। आहा...! अरे... ऐसी बातें हैं !

यह यहाँ कहते हैं, `**...अपने को नहीं जानता वह सबको नहीं जानता। अपना ज्ञान और सबका ज्ञान एक साथ ही होता है।**' आ..हा..हा...! आत्मा का ज्ञान और सबका ज्ञान एक साथ ही होता है। आत्मा पूर्ण पर्याय में सबको जाने तब यह आत्मा पूर्ण कहलाता है। तो उस आत्मा को जिसने जाना उसने सब जाना (यह उसमें) आ गया। और सबको जाने वह आत्मा जाने, यह उसमें आ गया, आहा...!

`**स्वयं और सर्व इन दो में से एक का ज्ञान हो और दूसरे का न हो यह असम्भव है।**' बहुत ही संक्षिप्त में समझाया, आ..हा..हा...! यानी ? कि, सर्व का ज्ञान है और एक का ज्ञान नहीं, ऐसा नहीं। सब का ज्ञान है यही एक का ज्ञान है। और एक का ज्ञान है यही सर्व का ज्ञान है। इतना ही आत्मा है, इतना और उतना आत्मा है कि, जो पर्याय में पूर्ण को जाने ऐसा ही आत्मा है। इसलिये सर्व को जाना इसे आत्मा इतना है, वैसे जानने में आया। और आत्मा जानने में आया

उसमें सर्व है यह जानने में आया, (यह) इसमें आ गया। ऐसी बात है ! आहा..हा...! ऐसा कहकर भीतर व्यवहार से (निश्चय मोक्षमार्ग) होता है, यह बात उड़ा दी ! कहिये, समझ में आया ? निमित्त से निश्चय होता है कि व्यवहार से निश्चय होता है, (यह बात रहती नहीं)।

छद्मस्थ को अभी यह बात बतलानी है न ? पंचम काल के जीव को कहनी है न ? आ..हा..हा...! उसे ऐसे कहते हैं कि, यदि तुझे यह श्रुतज्ञान अंतःकरण से हो तो यह श्रुतज्ञान में सब जानने में आयेगा। इस कारण सर्व को जाना (तो) तुमने स्वयं को जाना, यह आ गया। और अपने को जाना तो मैं इतना बड़ा हूँ ! तुझे जानते तू इतना है कि एक पर्याय में सब जानने में आये! तुझे जाननेपर यह जानने में आ गया। यह सब कठिन है...! आहा..हा...! यह ४८ और ४९ (गाथा पूर्ण हुयी)।

❋ ❋ ❋

अथ क्रमकृतप्रवृत्त्या ज्ञानस्य सर्वगतत्वं न सिद्ध्यतीति निश्चिनोति–

उपज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं।।५०।।

उत्पद्यते यदि ज्ञानं क्रमशोऽर्थान् प्रतीत्य ज्ञानिनः।
तन्नैव भवति नित्यं न क्षायिकं नैव सर्वगतम्।।५०।।

यत्किल क्रमेणैकैकमर्थमालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं तदेकार्थालम्बनादुत्पन्नमन्यार्थालम्बनात् प्रलीयमानं नित्यमसत्तथा कर्मोदयादेकां व्यक्तिं प्रतिपन्नं पुनर्व्यक्त्यन्तरं प्रतिपद्यमानं क्षायिकमप्यसदनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावानाक्रान्तुमशक्तत्वात् सर्वगतं न स्यात्।।५०।।

अथ क्रमप्रवृत्तज्ञानेन सर्वज्ञो न भवतीति व्यवस्थापयति – **उप्पज्जदि जदि णाणं** उत्पद्यते ज्ञानं यदि चेत्। **कमसो** क्रमशः सकाशात्। किं कृत्वा। **अट्ठे पडुच्च** ज्ञेयार्थानाश्रित्य। कस्य। **णाणिस्स** ज्ञानिनः आत्मनः **तं णेव हवदि णिच्चं** उत्पत्तिनिमित्तभूतपदार्थविनाशे तस्यापि विनाश इति नित्यं न भवति। **ण खाइगं** ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमाधीनत्वात् क्षायिकमपि न भवति। **णेव सव्वगदं** यत एव पूर्वोक्तप्रकारेण पराधीनत्वेन नित्यं न भवति, क्षयोपशमाधीनत्वेन क्षायिकं च न भवति, तत एव युगपत्समस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावानां परिज्ञानसामर्थ्याभावात्सर्वगतं न भवति। अत एतत्स्थितं यद्ज्ञानं क्रमेणार्थान् प्रतीत्य जायते तेन सर्वज्ञो न भवति इति।।५०।।

अब, ऐसा निश्चित करते हैं कि क्रमशः प्रवर्तमान ज्ञानकी सर्वगतता सिद्ध नहीं होती :-

गाथा ५०

जो ज्ञानी 'ज्ञानी' नु ऊपजे क्रमशः अरथ अवलंबीने।
तो नित्य नहि, क्षायिक नहि ने सर्वगत नहि ज्ञान ऐ।।५०।।

अन्वयार्थ :- [यदि] यदि **[ज्ञानिनः ज्ञानं]** आत्माका ज्ञान **[क्रमशः]** क्रमशः **[अर्थान् प्रतीत्य]** पदार्थोंका अवलम्बन लेकर **[उत्पद्यते]** उत्पन्न होता हो **[तत्]** तो वह (ज्ञान) **[न एव नित्यं भवति]** नित्य नहीं है, **[न क्षायिकं]** क्षायिक नहीं है, **[न एव सर्वगतम्]** और सर्वगत नहीं है।

टीका :- जो ज्ञान क्रमशः एक एक पदार्थका अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता है वह (ज्ञान) एक पदार्थके अवलम्बनसे उत्पन्न होकर दूसरे पदार्थके अवलम्बनसे नष्ट होजानेसे नित्य नहीं होता तथा कर्मोदयके कारण एक व्यक्तिको प्राप्त करके फिर अन्य व्यक्तिको प्राप्त करता है इसलिये क्षायिक भी न होता हुआ, वह अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावको प्राप्त होने में (-जानने में) असमर्थ होनेके कारण सर्वगत नहीं है।

भावार्थ :- क्रमशः प्रवर्तमान ज्ञान अनित्य है, क्षायोपशमिक है; ऐसा क्रमिक ज्ञानावाला पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता।।५०।।

इसका जोड़ यह हाँ...! क्योंकि सर्व को जाने सो कौन ? (तो कहते हैं कि) यह आत्मा ! इस आत्मा पर दृष्टि देनी है ! और एक जाने तो सर्व को जाने, इसमें भी आत्मा पर दृष्टि देनी है। आ..हा..हा...!

(अब कहते हैं) '**यह कथन एकदेश ज्ञान की अपेक्षा से नहीं...**' (यानी) श्रुतज्ञान से नहीं। बात है सर्वदेश से, परंतु इसमें से तात्पर्य निकालना हो तो यह निकलता है, यह टीका में है। '**...किन्तु पूर्णज्ञान की (केवलज्ञान की) अपेक्षा से है।**' आ..हा..हा...! इसका पूर्णरूप ही इतना है - भगवानआत्मा का पूर्णरूप ही इतना है ! जो लोकालोक को जाने इतना यह पूर्णरूप ही इतना है !! और पूर्णरूप है सो ही आत्मा है। पूर्णरूप को जाना वह आत्मा को जाना और आत्मा को जाना सो आत्मा पूर्णरूपतया है (वैसे जाना)। इसलिये एक को जाना तो पूर्णरूप को भी जाना, आ..हा..हा...!

श्रोता :- श्रुतज्ञान की बात तो भीतर से खींचकर निकाली !

पूज्य गुरुदेवश्री :- नहीं, भीतर है ! तात्पर्य तो यह है न ! कहा न भीतर ? यह कहा है भीतर देखो ! '**अत्राह शिष्यः- आत्मपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञानं भवतीत्यत्र व्याख्यातं, तत्र तु पूर्वसूत्रे भणितं सर्वपरिज्ञाने सत्यात्मपरिज्ञानं भवतीति। यद्येवं तर्हि छद्मस्थानां सर्वपरिज्ञानं नास्त्या-**' (अर्थात्) छद्मस्थ को तो परिपूर्ण ज्ञान है नहीं और आप पूर्ण की बात करते हो। समझ में आता है कुछ...? आ..हा..हा...! '**परिहारमाह - परोक्षप्रमाणभूतश्रुतज्ञानेन सर्वपदार्था ज्ञायन्ते।**' संस्कृत है (किन्तु) सरल संस्कृत है। यहाँ तो बिना पढ़ाई के क्रोड़ों संस्कृत श्लोक पढ़े गये हैं ! '**परोक्षप्रमाणभूतश्रुतज्ञानेन,...**' यह तो कहा था न ?

`जयधवल' में (आता) है। प्रभु ! श्रुतज्ञान है तो एक (अवयव)। केवलज्ञान अवयवी (है) यानी पूर्ण (है)। अवयवी केवलज्ञान यह पूर्ण (है) और श्रुतज्ञान यह पूर्ण का एक अवयव है। यह अवयवी पूर्ण नहीं। समझ में आता है कुछ? `जयधवल' में है। अवयवी नहीं और अवयवी का अंश है (तो) वह अंश अवयवी को कैसे जान सके ? कि, भाई ! स्थंभ का एक (हिस्सा) दिखे तो इसने सारा स्थंभ देखा ! वैसे एक अंश सम्यक्ज्ञान का देखा-जाना उसने सारे केवलज्ञान को जाना। पर्याय में उसका ज्ञान आ गया, केवलज्ञान का ज्ञान आ गया, आ..हा..हा...! केवलज्ञान का ज्ञान श्रुतज्ञान में आ गया ! ज्ञान प्रगट नहीं हुआ किन्तु इसके ज्ञान में आ गया ! आ..हा..हा...! ऐसी बातें हैं ! (लोगों को ऐसा लगे) ऐसा धर्म कहाँ से निकाला ?

श्रोता :- श्रुतज्ञान को केवलज्ञान प्रगट करने की उतावली न रहे !

पूज्य गुरुदेवश्री :- उतावली कहाँ है ! उतावली है ही नहीं। क्रमबद्ध में है वैसे है। वह तो जानता है। क्रमबद्ध में अकर्तापना है। अकर्ता का सिद्धांत ज्ञाता-दृष्टा है। इसलिये यह क्रमबद्ध का जो भाव ख़याल में आये उसे वीतरागता प्रगट करनी है और वीतरागता प्रगट करनी है तो वीतराग स्वरूप आत्मा है इसके आश्रय से वीतरागता (प्रगट) होती है। इसलिये जोड़ तो वहाँ होता है। बारों अंग और चारों अनुयोग का जोड़ यह है, आ..हा..हा...!

`अब, ऐसा निश्चित करते हैं कि क्रमशः प्रवर्तमान ज्ञान की सर्वगतता सिद्ध नहीं होती :-' (यानी) क्रमशः जाने वह सर्वगत हो सके नहीं, वह सर्व को जान सकता नहीं। इसकारण यह केवलज्ञान क्रमशः प्रवर्त्तित नहीं, एक समय एक साथ है। और क्रमशः प्रवर्तित अपूर्ण ज्ञान वह सर्वगत को जान सकता नहीं। पहले कहा था कि, श्रुतज्ञान है वह व्याप्ति से केवलज्ञान को (जानता है) ! परंतु यहाँ अलग कहना है (कि), यह क्रम पड़ता है सो केवलज्ञान नहीं ऐसे। क्रम पड़ता है सो केवलज्ञान नहीं। आहा...! केवलज्ञान तो अक्रम एक समय में (जाने)। चैतन्यज्योति जगमग ज्योति चैतन्यप्रकाश के प्रभाव की बाढ़ उमड़ पड़ी है ! आ..हा..हा...! एक समय में इसे जाने ऐसी इसकी ताक़त है ! और का करने का नहीं तथा और बिना जाने रहे नहीं ! आहा..हा...!

श्रोता :- श्रुतज्ञान केवलज्ञान को बुला रहा है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- मतिज्ञान बुला रहा है ! `धवल' में आता है। मतिज्ञान का आता है। मतिज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है-आओ... आओ...! आओ यानी अल्पकाल में मति-श्रुतज्ञान (नाश होकर) केवलज्ञान प्राप्त करनेवाला हूँ ! ऐसा (अर्थ) है। `धवल' में है। जैसे लोग पूछते हैं

न ? भाई ! हमें यहाँ जाना है उसका कौन सा रास्ता ? वैसे यह केवलज्ञान को बुलाता है ! प्रभु! हमने श्रुतज्ञान प्रगट किया ! इसमें केवलज्ञान (ऐसा) है यह हमें ज्ञात हुआ! परंतु अब हमें प्रगट करना है न ! आओ... आओ... आओ...! आ..हा..हा...!

श्रोता :- केवलज्ञान दौड़ता हुआ आता है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- ए...दौडता हुआ आ रहा है ! केवलज्ञान लिये बिना चारा नहीं ! आ..हा..हा...! `श्रीमद्' में २५वें (वर्ष में) एक (बात) आती है कि, जिसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान हुआ वह फिर ऐसे कहे कि, मुझे केवलज्ञान नहीं चाहिये... (तो ऐसा नहीं चलेगा, लेना पड़ेगा)! उसमें आता है। आ..हा..हा...! पूर्णानंद के नाथ को जहाँ निर्विकल्पदृष्टि से स्वीकार किया... आ..हा..हा...! राग के आश्रय और अवलंबन रहित,... पूर्णानंदस्वरूप भगवानआत्मा! चैतन्य हीरा! जहाँ परखकर ज्ञान में आ गया... आ..हा..हा...! यह ज्ञान तो पूर्ण होने को आया है !! दूज उदित हुयी है वह पूर्णिमा को पूर्ण होगी ! वह पुनः मुड़े ऐसा नहीं !! आ..हा..हा...! सब जगह सिद्धांत तो ऐसा कहना है। दूज हुयी सो दूज ही रहेगी ? (नहीं) ! तेरह दिन पश्चात पूर्णिमा होगी! आ..हा..हा...! इसमें कोई संशय या सवाल नहीं। इस प्रकार जिसे भीतर से आत्मज्ञान का बीज उदित हुआ...! आ..हा..हा...! शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव और आनंद का स्वाद आया (वह पूर्ण केवलज्ञान लेगा ही) ! आहा...! दूज में भी (जितना) प्रगट प्रकाश है इसे भी जानता है और दूज में जितना आवरण है इसे भी यह प्रकाश दर्शाता है। चंद्र...! चंद्र का दूज उदित हो इतना...! यह इसे भी जानता है और सामने आवरण का गोला जरा सा आड़ा है, इसे भी जानता है। जानने में आता है कि नहीं ? पूर्ण चंद्र जानने में आता है, ऐसा कहते हैं ! दूज को जाननेपर पूर्ण चंद्र जानने में आता है ! आ..हा..हा...! और दूज उदित होते ही तेरा सारा पूर्ण चंद्रमा पर्याय में प्रगट होगा !! आहा..! आ..हा..हा...! ऐसी बात है ! ५० गाथा !

उपज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं।।५०।।
जो ज्ञान `ज्ञानी' नु ऊपजे क्रमशः अरथ अवलंबीने।
तो नित्य नहि, क्षायिक नहि ने सर्वगत नहि ज्ञान ए।।५०।।

टीका :- `जो ज्ञान क्रमशः एक एक पदार्थ का अवलम्बन लेकर...'** देखा ? एक-एक पदार्थ का अवलम्बन लेकर क्रम-क्रम से जाने (यानी) पहले यह जाने, आगे यह जाने, आगे इसे जाने, बाद में यह जाने...! (इस प्रकार) **`जो ज्ञान क्रमशः एक एक पदार्थ का अवलम्बन लेकर...'

जाने, अवलम्बन का अर्थ निमित्त है। `**...वह (ज्ञान) एक पदार्थ के अवलम्बन से उत्पन्न होकर...**' एक पदार्थ का अवलम्बन लेकर जाना (आगे) वह पदार्थ का नाश हुआ `**...दूसरे पदार्थ के अवलम्बन से नष्ट हो जाने से...**' (अर्थात्) पहले ज्ञान में एक पदार्थ का ज्ञान हुआ, वह नष्ट हुआ आगे दूसरा हुआ। क्योंकि पदार्थ नष्ट हुआ इसके समक्ष ज्ञान है वह भी नष्ट हो गया। समझ में आता है कुछ इसमें ?

क्रमशः होते हुए एक पदार्थ का ज्ञान हुआ यह तो क्रमपूर्वक हुआ और इस पर्याय का तो नाश होगा। पदार्थ का नाश होने से (यानी) निमित्त-नैमित्तिक संबंध दोनों नाश होंगे। तब उसे सर्व पदार्थ जानना बन नहीं पायेगा। समझ में आया कुछ ? आ..हा..हा...!

`**क्रमशः एक एक पदार्थ का अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता है वह (ज्ञान) एक पदार्थ के अवलम्बन से उत्पन्न होकर...**' पदार्थ के अवलम्बन यानी निमित्त (इसके द्वारा) `**...उत्पन्न होकर दूसरे पदार्थ के अवलम्बन से...**' आगे दूसरा पदार्थ जानने जाये इससे पहले ज्ञान नष्ट हो जाये। कोई ऐसा कहे कि, किन्तु इन सभी ज्ञान की पर्याय एक-एक को जाने और जमा-इकट्ठी हो जाये तो ? परंतु जमा-इकट्ठी होगी ही नहीं। समझ में आया कुछ ?

यूँ तो एक बार ऐसा कहा था, बहुत साल पहले की बात है। संप्रदाय में संवत् १९९० (की साल की बात है)। लोग बहुत ! तीन-तीन हजार लोग...! (तब ऐसा कहा) यह आत्मा है उसका ज्ञान तीनकाल को जाने ऐसी ताक़तवाला है। परंतु वह एक समय का जानना छोड़कर क्रम-क्रम से गति में फिर-फिरकर सबका पूर्ण ज्ञान होता है। जहाँ-जहाँ पैदा हुआ वहाँ के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव दूसरी जगह पैदा हुआ वहाँ के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के इस प्रकार संयुक्त हुए, परंतु वहाँ ज्ञान संयुक्त होता नहीं। समझ में आया कुछ ? आ..हा..हा...! `वढवाण-दरियापारिया' के पास (बात की थी)। वहाँ तो लोग समा नहीं पा रहे थे। लोग बैढ नहीं पा रहे थे ! तीन-तीन हजार लोग...! (तब) कहा, एक ही ज्ञान (एक समय में) सर्व को जानना चाहिये वैसा उसने नहीं किया, आगे क्रम-क्रम से सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव... द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव... द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव... अनंत... अनंतकाल... ऐसा करके इतना जानना हुआ है। अनादि से अब तक के समय-समय के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव (हैं सो) सर्व का ज्ञान हुआ है न ? न्याय समझ में आता है ? किन्तु भेद करके ज्ञान पूरा हुआ, अभेद द्वारा ज्ञान पूरा हुआ नहीं, आ..हा..हा...! उन दिनों भीड़ बहुत थी।

आहा...! ज्ञान...! ज्ञानस्वरूप ही भगवान चैतन्यबिंब ! ज्ञान के प्रकाश की बाढ प्रभु है ! ज्ञान के प्रकाश की बाढ़ है ! आहा..हा...! ऐसा जो भगवान...! पानी की बाढ़ जो है सो इस प्रकार

चलाती है और यह ज्ञान की बाढ़ है सो ऐसे...ऐसे... चलाती है... ऐसे... ! ध्रुव...! पूर्ण... पूर्ण... प्रकाश है संपूर्ण भरा हुआ। संपूर्ण सर्वज्ञस्वभावरूप ज्ञान उस ओर न जाकर, ऐसे ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... रहता है। समझ में आता है ? आहा...! वैसा उसका स्वभाव ही है। आहा...!

(यहाँपर कहते हैं) `**...नित्य नहीं होता...**' (अर्थात्) एक-एक को जाननेपर, दूसरा जानने गया वहाँ पहले का जानना नष्ट हुआ, तीसरा जानने गया वहाँ (इसके) पहले का नष्ट हुआ इस कारण `**...नित्य नहीं होता...**' वह ज्ञान तो नित्य नहीं रहा, अनित्य हुआ।

श्रोता :- कल आपने बात की थी वह आज हमारे ज्ञान में याद है !

समाधान :- याद है, परंतु वर्तमान उपयोग कहाँ है वहाँ ? यह तो धारणा में याद है, उपयोग में नहीं है न! उपयोग में इकट्ठा हुआ नहीं, उघाड में इकट्ठा हुआ है। उपयोग क्रम से (होता) है न ! यह यहाँ कहना है। आ..हा..हा...!

श्रोता :- धारणा में ज्ञान क्या है ?

समाधान :- यह तो श्रुतज्ञान में समाविष्ट किया है। वास्तविक श्रुतज्ञान का उपयोग हो उसे तो सर्वज्ञ कैसे हैं इस प्रकार का सब ज्ञान श्रुतज्ञान में (हो जाता है)। श्रुतज्ञान में अवयव में अवयवी का ज्ञान आ जाता है। क्योंकि यह अवयव है तो उसका पूर्ण केवलज्ञान वह अवयवी है, उसका ज्ञान आ जाता है, परंतु यह अनुमान द्वारा आया, अनुमान द्वारा व्याप्ति हुयी, प्रत्यक्ष से व्याप्ति न हुयी। ऐसा है ! भीतर शब्द हैं भाई ! -`अनुमान से व्याप्ति' !

(४९ गाथा की `जयसेनाचार्यदेव' की संस्कृत टीका में आ गया है) `**परिहारमाह - परोक्षप्रमाणभूतश्रुतज्ञानेन सर्वपदार्था ज्ञायन्ते। कथमिति चेत्-लोकालोकादिपरिज्ञानं व्याप्तिज्ञानरूपेण**' `व्याप्तिज्ञान' (अर्थात्) यह है तो कहीं पूर्ण भी है, आहा...! और यह ज्ञान जो है वह अब दूसरी चीज को जानता नहीं, परंतु जो यह ज्ञान है सो दूसरे को वह प्रत्यक्ष हो वैसी चीज है, ऐसा शब्द है। क्या कहा यह ? जो ज्ञान सम्यक् हुआ है उसे ज्ञान में भले थोड़ा जानने में आया हो परंतु जब ज्ञान है तो पूर्ण को जाननेवाले भी हैं। मेरु पर्वत को यहाँ अनुमान से जानते हैं तो मेरु पर्वत को सीधा जाननेवाला है ! आ..हा..हा...! (अनुमानज्ञान ने) इस प्रकार की व्याप्ति की है। आ..हा..हा...! ऐसा सूक्ष्म...!

क्योंकि जो कोई चीज जानने में आये, यहाँ भले प्रत्यक्ष न हो, परंतु ख़याल में तो आयी न ! किन्तु अब, ख़याल में आयी तो इस चीज को प्रत्यक्ष देखनेवाले जगत में होते हैं। तीनलोक में तीनकाल में जाननेवालों का विरह हो सकता नहीं। क्या कहा ? क्योंकि पूर्ण वस्तु है इसके

नीचे (छद्मस्थदशा में) भले पूर्ण नहीं जानने में आये परंतु पूर्ण है इसे जाननेवाले पूर्ण होंगे ही। (और) है नहीं तो तुझे इसका ज्ञान कहाँ से हुआ ? वह प्रत्यक्ष नहीं किन्तु प्रत्यक्ष करनेवाले 'हैं' जगत में !! आ..हा..हा...! ऐसी बात है ! वस्तु का मूल्य बताते हैं !! भाई ! तेरी कीमत अमूल्य है ! तेरा मूल्य कैसे टांके, भाई ! दुनिया की (कीमत) आंकी जाय परंतु तेरी कीमत आंकी जा सके ऐसी नहीं ! आ..हा...! अमूल्य चीज है, प्रभु ! आ..हा..हा...! क्षुद्र होकर गिरा भी प्रभु ! तू अमूल्य है ! आ..हा..हा...!

'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में एक बात ऐसी भी ली है कि, सम्यग्दर्शन - आत्मज्ञान हुआ तो वस्तु से प्रभु हूँ ! परंतु पर्याय से क्षुद्र हूँ !! निम्नदशा की (बात की है)। 'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में पाठ है, आ..हा..ह...! कहाँ सर्वज्ञरूप...!! परोक्ष द्वारा उसके ख़याल में आया है परंतु प्रत्यक्ष नहीं और इसलिये (कहते हैं) आ..हा..हा...! पर्याय से मैं क्षुद्र हूँ ! कहाँ प्रभु का केवलज्ञान ! और कहाँ मैं ! (इस प्रकार) सम्यक्ज्ञान (देखता है) हाँ...! आ..हा..हा...! यह कितनी अपेक्षा से कहा ये सभी अपेक्षाएँ जाननी चाहिये न ! ऐसे ही ऐसे एकान्त ही खींचे (तो चले नहीं)। यह स्याद्वाद मार्ग है ! किस प्रकार की अपेक्षा से कहा है उसे उसी अपेक्षा द्वारा जानना चाहिये।

यहाँ यह कहते हैं, आ..हा..हा...! '**...नित्य नहीं होता तथा कर्मोदय के कारण एक व्यक्ति को प्राप्त करके...**' देखा ? (व्यक्ति यानी) प्रगटता, विशेषता, विशेष प्रगट हुआ। (इस प्रकार) एक को प्राप्त करके '**...फिर अन्य व्यक्ति को प्राप्त करता है...**' आगे अन्य पदार्थ को प्राप्त होने से '**...क्षायिक भी न होता हुआ,...**' आ..हा..हा...! देखो ! केवलज्ञान को कितना सिद्ध किया है ! ओ..हो..हो...! (एक विद्वान ऐसा कहते थे कि) 'वर्तमान सब पूर्ण जाने इसका नाम सर्वज्ञ ! जाओ...!' अरे... भगवान...! आहा...! पंडित थे उनके साथ चर्चा हुई थी।

यह ज्ञानस्वरूप प्रभु ! ज्ञानस्वरूप ! यानी कि ज्ञान का पिंड ! यानी ज्ञान का डला ! ज्ञान का पर्वत, ज्ञान का मेरु !! इसकी मर्यादा क्या ? स्वभाव की मर्यादा क्या ? और (ऐसे) स्वभाव का ज्ञान होते भले अल्पज्ञ हैं परंतु इसे अमर्यादित स्वभाव का ज्ञान उसके ज्ञान में आ जाता है। प्रगट नहीं है किन्तु ज्ञान हो जाता है। आ..हा..हा...! ऐसे तो ज्ञान की पर्याय में आत्मा-ज्ञेय ज्ञात हुए, वह ज्ञेय पर्याय में आ जाता है ? क्या कहा यहाँ ? ज्ञान की पर्याय में यह सारा द्रव्य ज्ञेय है - ऐसा जानने में आया तो जानने में जो ज्ञेय आया है सो पर्याय में आ गया ? ज्ञेय का जितना सामर्थ्य है यह (ज्ञान में) आ गया, आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ?

श्रोता :- उपचार से ऐसा कहा जाता है कि ज्ञेय आ गया !

पूज्य गुरुदेवश्री :- किन्तु यह उपचार है न ! उपचार यानी व्यवहार और व्यवहार यानी असत्भूत व्यवहार! आ..हा..हा...! यहाँ तो प्रत्यक्ष को सिद्ध करना है न !

आ..हा..हा...! प्रभु ! तेरा आत्मा ही इतना है ! कहते हैं कि, लोकालोक को एक समय में प्रत्यक्ष जाने इतना आत्मा है न ! आ..हा..हा...! वास्तव में तो साधकरूप रह सके यह भी वस्तु (स्वभाव) नहीं, ऐसा कहते हैं। वह तो सर्वज्ञ होकर रहे ऐसा तेरा स्वरूप है !! आहा..हा...!

अलग ढंग से कहे तो साधकदशा को द्रव्य करता नहीं। द्रव्य तो परिपूर्ण है वह साधकदशा (में) आता नहीं, आहा...! और साध्य जो केवलज्ञान है उस रूप भी द्रव्य होता नहीं। उसकी पर्याय में, द्रव्य और लोकालोक को जानने की जो ताक़त है, इसलिये वह जाननरूप परिणमित होता (है)। आ..हा..हा...! ऐसा आत्मा का स्वरूप है !

एक समय में लोकालोक जानने में आये (तो) वह लोकालोक एक समय की पर्याय में आ गये है ? और लोकालोक की जितनी ताक़त व सामर्थ्य इसके ज्ञानरहित वह पर्याय रही है ?

श्रोता :- गाड़ दिया, ऐसा आता है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- हाँ, यहाँपर अपने भी आ गया न ! (४९ गाथा में आ गया) `निखात' ! २०० (नंबर की) गाथा में तो बहुत लिया है। यहाँ अपने आ गया-`निखात' (यानी) खोदकर भीतर गहराई में उतरा हुआ। भीतर घुसा हुआ। पहले आ गया (है)। ज्ञेयों जैसे भीतर में खोद डाले हों ! ज्ञान इस प्रकार सर्वगत हो गया !! आ..हा..हा...! अरे...! बड़प्पन की ख़बर न हो तो इसका अर्थ कि, उसका आत्मा (ऐसा) है यह माना नहीं।

श्रोता :- किन्तु क्षुद्र है ऐसा तो माना है !

समाधान :- यह तो पर्याय की अपेक्षा से (माना है)। वह तो केवलज्ञान नहीं इस अपेक्षा से। वस्तु स्वयं प्रभु पूर्ण है, आ..हा..हा...! और `अष्टपाहुड' में तो वहाँ तक कहा - अक्षय, अनंत ऐसा भगवानआत्मा ! इसका ज्ञान, दर्शन और स्थिरता हो सो अक्षय, अपरिमित है। अक्षय, अमेय है ! जिसकी मर्यादा नहीं ! बापू ! वह क्या पर्याय (होगी)...! आ..हा..हा...! जो अनंत... अनंत... अनंत... त्रिकाली गुणों का पिंड प्रभु ! इसका जो ज्ञान हुआ, इसकी पर्याय अक्षय, अनंत, अमेय (है) ! ऐसी श्रद्धा अक्षय, अमेय ! इतने बड़े में स्थिर होना... आ..हा..हा...! वह स्वरूप आचरण भी अक्षय, अनंत, अमेय ! आ..हा..हा...! समझ में आता है कुछ ?

श्रोता :- क्षुद्रता निकाल दी !

पूज्य गुरुदेवश्री :- यह तो पर्याय को पर्याय द्वारा तुलना करे सो (क्षुद्रता है)। परंतु पर्याय

की इतनी ताक़त मुझमें प्रगट करने की है, ऐसा श्रद्धा, ज्ञान में आ गया है, आ..हा..हा...! `श्रीमद्' ने एक जगह पत्र में कहा है न! `श्रीमद्' में २७वें वर्ष में आता है - `श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है।' है ? `छः पद का पत्र' इसमें आता है। `श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है, इच्छादशा से केवलज्ञान हुआ है !' २७वाँ वर्ष है और पत्र है-४९३। **`यद्यपि वर्तमानकाल में प्रगटरूपसे केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई, परंतु जिसके वचन के विचारयोग से शक्तिरूप से केवलज्ञान है, यह स्पष्ट जाना है, श्रद्धारूप से केवलज्ञान हुआ है,...'** माना नहीं था न ! मात्र ज्ञान का पिंड हूँ, वैसी श्रद्धारूप केवलज्ञान हुआ है, आ..हा..हा...! है ? **`...विचारदशा से केवलज्ञान हुआ है,...'** विचारदशा माने ज्ञान। इच्छादशा वह चारित्र का भाग आया **`...इच्छादसा से केवलज्ञान हुआ है,...'** आ..हा..हा...! **`...मुख्यनय के हेतु से केवलज्ञान रहता है,...'** निश्चयनय की अपेक्षा से केवलज्ञान अभी वर्तता है ! आ..हा..हा...! **`...जिसके योग से जीव सर्व अव्याबाध सुख के प्रगट करनेवाला उस केवलज्ञान को सहजमात्र में प्राप्त करने योग्य हुआ, उस सत्पुरुष के उपकार को सर्वोत्कृष्ट भक्ति से नमस्कार हो ! नमस्कार हो !!'** आ..हा..हा...! `स्वरूप विचारणा का यह फल है कि आत्मा सहज स्वभाव से परिणमित हो। संपूर्ण राग-द्वेष के क्षय के बिना संपूर्ण आत्मज्ञान प्रगट होता नहीं, ऐसा निश्चय जिन ने कहा है। वह वेदान्त आदि से अधिक बलवान प्रमाणभूत है।' चिह्न किये हैं हाँ...! उस दिन! लाल-लाल है यह !

(यहाँपर कहते हैं) **`...कर्मोदय के कारण एक व्यक्ति को प्राप्त करके...'** कहते हैं कि, एक को जाने वहाँ दूसरा जाने, तो पहले जाना है वह नष्ट हो गया, उपयोग में रहा नहीं। आहा...! **`...अन्य व्यक्ति को प्राप्त करता है इसलिये क्षायिक भी न होता हुआ,...'** (यह) क्षायिकज्ञान ही नहीं। **`...अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को प्राप्त होने में...'** आ..हा..हा...! **`...अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को प्राप्त होने में (-जानने में) असमर्थ होने के कारण सर्वगत नहीं है।'** यह सर्वगत ज्ञान ही नहीं कहा जाता, आहा..हा...! तीनकाल तीनलोक को एक समय में जान लेता है यह सर्वगत (ज्ञान है)। क्रमशः जानने में सर्वगतता आ सके नहीं, आहा...! ऐसा सूक्ष्म बहुत...! वह तो दया पालो और व्रत पालो और भक्ति करो और पूजा करो, मंदिर बनवाओ...! सरल सट...! `नैरोबी' में पंद्रह लाख का मंदिर होगा ! जिस काल में जो पर्याय होनेवाली है इसे कौन रोके? और कौन करे ? रोके कौन और करे कौन ? उत्पाद कौन करे इसका ?

आ..हा..हा...! यहाँपर ज्ञान की महिमा बतलायी है ! `कुंदकुंदाचार्य महाराज' केवलज्ञान की महिमा (बतलाते हैं) ! ऐसा केवलज्ञान होता है, भाई ! उनको क्रमशः जानना होता नहीं।

आहा..हा...! (क्रमिक ज्ञान) `**...अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को प्राप्त होने में (-जानने में) असमर्थ होने के कारण सर्वगत नहीं है।**' इसे सर्वगत भी नहीं कहते।

भावार्थ :- `**क्रमशः प्रवर्तमान ज्ञान अनित्य है, क्षायोपशमिक है; ऐसा क्रमिक ज्ञानवाला पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता।**' आ..हा..हा...!

❋ ❋ ❋

अथ यौगपद्यप्रवृत्त्यैव ज्ञानस्य सर्वगतत्वं सिद्धयतीति व्यवतिष्ठते–

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थसंभवं चित्तं।

जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं।।५१।।

त्रैकाल्यनित्यविषमं सकलं सर्वत्रसंभवं चित्रम्।

युगपज्जानाति जैनमहो हि ज्ञानस्य माहात्म्यम्।।५१।।

क्षायिकं हि ज्ञानमतिशयास्पदीपभूतपरममाहात्म्यं। यत्तु युगपदेव सर्वार्थानालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं तट्टङ्कोत्कीर्णन्यायावस्थितसमस्तवस्तुज्ञेयाकारतयाधिरोपितनित्यत्वं प्रतिपन्नसमस्त-व्यक्तित्वेनाभिव्यक्तस्वभावभासिक्षायिकभावं त्रैकाल्येन नित्यमेव विषमीकृतां सकलामपि सर्वार्थ-संभूतिमनन्तजातिप्रापितवैचित्र्यां परिच्छिन्ददक्रमसमाक्रान्तानन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया प्रकटीकृता-द्भुतमाहात्म्यं सर्वगतमेव स्यात्।।५१।।

अथ युगपत्परिच्छित्तिरूपज्ञानेनैव सर्वज्ञो भवतीत्यावेदयति – **जाणदि** जानाति। किं कर्तृ। **जोण्हं** जैनज्ञानम्। कथम्। **जुगवं** युगपदेकसमये **अहो हि णाणस्स माहप्पं** अहो हि स्फुटं जैनज्ञानस्य माहात्म्यं पश्यताम्। किं जानाति। अर्थमित्यध्याहारः। कथंभूतम्। **तिक्कालणिच्च-विसयं** त्रिकाल-विषयं त्रिकालगतं नित्यं सर्वकालम्। पुनरपि किंविशिष्टम्। **सयलं** समस्तम्। पुनरपि कथंभूतम्। **सव्वत्थ संभवं** सर्वत्र लोके संभवं समुत्पन्नं स्थितम्। पुनश्च किंरूपम्। **चित्तं** नानाजातिभेदेन विचित्रमिति। तथा हि – युगपत्सकलग्राहकज्ञानेन सर्वज्ञो भवतीति ज्ञात्वा किं कर्तव्यम्। ज्योतिष्कमन्त्रवादरससिद्धयादीनि यानि खण्डविज्ञानानि मूढजीवानां चित्तचमत्कार–कारणानि परमात्मभावनाविनाशकानि च तत्राग्रहं त्यक्त्वा जगत्त्रयकालत्रयसकलवस्तुयुगपत्प्र–काशकमविनश्वरमखण्डैकप्रतिभासरूपं सर्वज्ञशब्दवाच्यं यत्केवलज्ञानं तस्यैवोत्पत्तिकारणभूतं यत्समस्तरागादिविकल्पजालेन रहितं सहजशुद्धात्मनोऽभेदज्ञानं तत्र भावना कर्तव्या, इति तात्पर्यम्।।५१।।

अब, ऐसा निश्चित होता है कि युगपद् प्रवृत्तिके द्वारा ही ज्ञानका सर्वगतत्त्व सिद्ध होता है (अर्थात् अक्रमसे प्रवर्तमान ज्ञान ही सर्वगत हो सकता है) :-

गाथा ५१

नित्ये विषम, विधविध, सकल पदार्थगण सर्वत्रनो।

जिनज्ञान जाणे युगपदे, महिमा अहो ए ज्ञाननो !।।५१।।

अन्वयार्थ :- [त्रैकाल्यनित्यविषमं] तीनों कालमें सदा विषम (असमान जातिके, **[सर्वत्र संभवं]** सर्व क्षेत्रके **[चित्रं]** अनेक प्रकारके **[सकलं]** समस्त पदार्थोंको **[जैनं]** जिनदेवका ज्ञान **[युगपत् जानाति]** एक साथ जानता है **[अहो हि]** अहो ! **[जानस्य माहात्म्यम्]** ज्ञानका माहात्म्य !

टीका :- वास्तवमें क्षायिक ज्ञानका, सर्वोत्कृष्टताका स्थानभूत परम माहात्म्य है; और जो ज्ञान एक साथही समस्त पदार्थोंका अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता है वह ज्ञान-अपनेमें समस्त वस्तुओंके ज्ञेयाकार टंकोत्कीर्ण-न्यायसे स्थित होनेसे जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है और समस्त व्यक्तिको प्राप्त कर लेनेसे जिसने स्वभावप्रकाशक क्षायिकभाव प्रगट किया है ऐसा-त्रिकालमें सदा विषम रहनेवाले (-असमान जातिरूपसे परिणमित होनेवाले) और अनन्त प्रकारोंके कारण विचित्रताको प्राप्त सम्पूर्ण सर्व पदार्थोंके समूहको जानता हुआ, अक्रमसे अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावको प्राप्त होनेसे जिसने अद्भुत माहात्म्य प्रगट किया है ऐसा सर्वगत ही है।

भावार्थ :- अक्रमसे प्रवर्तमान ज्ञान एक ज्ञेयसे दूसरेके प्रति नहीं बदलाता इसलिये नित्य है, अपनी समस्त शक्तियोंके प्रगट हो जानेसे क्षायिक है, ऐसे अक्रमिक ज्ञानवाला पुरुष ही सर्वज्ञ हो सकता है। सर्वज्ञके इस ज्ञानका कोई परम अद्भुत माहात्म्य है।।५१।।

`अब ऐसा निश्चित होता है कि युगपत् प्रवृत्ति के द्वारा ही ज्ञान का सर्वगतत्व सिद्ध होता है (**अर्थात् अक्रम से प्रवर्तमान ज्ञान ही सर्वगत हो सकता है**) **:-** '

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थसंभवं चित्तं।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्य माहप्पं।।५१।।

नित्ये विषम, विधविध, सकल पदार्थगण सर्वत्रनो।
जिनज्ञान जाणे युगपदे, महिमा अहो ए ज्ञाननो ! ।।५१।।

आ..हा..हा...! ८० गाथा में यह लिया है न ? कि, भगवान के द्रव्य, गुण, पर्याय जाने वह

आत्मा में तुलनाकर आत्मज्ञान प्राप्त करेगा ही ! है तो निमित्त से कथन, परंतु वहाँ ऐसा जीव लिया है। ऐसी उनकी बहुत शैली है ! वरना यह तो परद्रव्य है। परद्रव्य को जाने इससे क्या आत्मा जानने में आ जाय ? परंतु ऐसा ही आत्मा लिया है कि, इस प्रकार केवलज्ञान...! ऐसा... ऐसा... आ..हा..हा...! द्रव्य-पूर्ण गुण का पिंड, शक्ति अनंत और एक समय की ज्ञान की पर्याय भी अनंत को जाने ! ऐसी-ऐसी इसकी अनंत पर्याय एक समय में ताक़तवाली है !! एक समय में प्रगट अनंत पर्यायें हैं। एक समय में अनंत पर्याय का परिणमन है। उन अनंत पर्याय में एक पर्याय इतनी, वैसी अनंत पर्यायें ! वैसी अनंत पर्यायों का धरनेवाला गुण !! और ऐसे अनंतगुण का (धरनेवाला) द्रव्य !! आहा..हा...! इस प्रकार जिसे जानने में आये... आ..हा..हा...! उसे सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान होता है, उसे केवलज्ञान होनेवाला ही है ! आहा..हा...!

नित्ये विषम, विधविध, सकल पदार्थगण सर्वत्रनो।
जिनज्ञान जाणे युगपदे, महिमा अहो ए ज्ञाननो ! ।।५१।।

आ..हा..हा...! (टीका) :- '**वास्तव में क्षायिक ज्ञान का, सर्वोत्कृष्टता का स्थानभूत परम माहात्म्य है;...**' ऐसा सामान्य ख़याल करे (ऐसे नहीं परंतु) इसके भाव में यह भासन आ जाना चाहिये। समझ में आता है कुछ...? आहा...! '**वास्तव में क्षायिक ज्ञान का, सर्वोत्कृष्टता का स्थानभूत...** '**सर्वोत्कृष्टता का स्थानभूत**'! '**..परम माहात्म्य है;...**' आ..हा..हा...! '**...और जो ज्ञान एक साथ ही सर्व पदार्थों का अवलंबन लेकर प्रवृत्ति करता है...**' 'जो ज्ञान एक साथ ही समस्त पदार्थों का अवलंबन लेकर प्रवृत्ति करता है,' यानी निमित्त। '**प्रवृत्ति करता है वह ज्ञान - अपने में समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकार...**' है ? '**...अपने में समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकार - टंकोत्कीर्ण - न्याय से...**' (टंकोत्कीर्णन्याय से यानी) पथ्थर में छैनी द्वारा कोरी (उत्कीर्ण) हुयी आकृति की तरह। '**...स्थित होने से...**' आ..हा..हा...! ज्ञान में तो ज्ञान नित्य हो गया ! पर्याय तो अनित्य है, (किन्तु) पर्याय को यहाँपर नित्य कहना है न हाँ...! द्रव्य- वह नहीं। (केवलज्ञान) हमेशा रहनेवाला है इसका कारण नित्य है और क्रमशः होता रहता है इसलिये अनित्य है। इतनी पर्याय की अपेक्षा द्वारा बात है।

'**...एक साथ ही समस्त पदार्थों का अवलंबन लेकर प्रवृत्ति करता है वह ज्ञान - अपने में समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकार...**' (अर्थात्) जो ज्ञेय का स्वरूप है वैसा ही स्वरूप ज्ञानाकार में आ जाता है। (टंकोत्कीर्णन्याय से स्थित होने से) '**...जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है...**' यहाँपर नित्यत्व

यानी पर्याय नित्य है उसे (नित्य) प्राप्त कहते हैं, नित्य गुण नहीं। आ..हा..हा...! टिकता ज्ञान जो सर्वज्ञ - केवल है वह नित्य है, आहा..हा...! नित्य रहनेवाला है, भले इसकी वह पर्याय नित्य रहनेवाली न हो, परंतु इस पर्याय का स्वभाव पूर्ण है। ऐसा ही पूर्ण... ऐसा ही पूर्ण... ऐसा ही पूर्ण... इससे उसे नित्य कहने में आता है, आ..हा..हा...! है ?

`**...स्थित होने से जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है...**' आ..हा..हा...! गुण नित्य है, यह बात अभी नहीं। यहाँ तो पर्याय नित्य सरीखी रहती है, एकरूप रहती है, इस कारण इसे नित्य कहने में आया है, आ..हा..हा...!

`**...और समस्त व्यक्ति को प्राप्त कर लेने से...**' `समस्त व्यक्ति' यानी जगत के जो प्रगट द्रव्य, गुण व पर्याय हैं (वे) सब व्यक्ति... आ..हा..हा...! `**...प्राप्त कर लेने से...**' (अर्थात्) एक समय में सब व्यक्ति जो लोकालोक है... अरे...! आकाश का अंत नहीं इसे भी जाना है !! आ..हा..हा...! जाना है इस कारण वहाँ अंत आ गया, ऐसा नहीं। आ..हा..हा...! ज्ञान में सब ज्ञात हो जाता है। अंतरहित चीज भी ज्ञान में ज्ञात होती है। काल की शुरूआत नहीं वैसे यह ज्ञान में `शुरूआत' नहीं, इस प्रकार जानने में आता है। पूर्णदशा अंतिम कौन सी है, ऐसा नहीं परंतु अनादि-अनंतरूप है वह अनंतरूप जानने में आती है। जानता (है) इस कारण वहाँ अंत आ गया, क्षेत्र को जाने इस कारण अंत आ गया (वैसा नहीं)। यहाँ ज्ञान जानता है किन्तु वहाँ तो अनंत है। आ..हा..हा...! ऐसी सूक्ष्म-सूक्ष्म कताई...!

(अब कहते हैं) `**...जिसने स्वभावप्रकाशक क्षायिकभाव प्रगट किया है...**' `**...समस्त व्यक्ति को प्राप्त कर लेने से...**' (अर्थात्) सब चीज ज्ञान में आने से (-जानने से) `**...स्वभावप्रकाशक...**' आ..हा..हा... `**...क्षायिकभाव प्रगट किया है ऐसा-त्रिकाल में सदा विषम रहनेवाले (-असमान जातिरूप से परिणमित होनेवाले) और अनंत प्रकारों के कारण विचित्रता को प्राप्त...**' `विषम' यानी असमानजाति-चैतन्य और जड़। और `विचित्रता' यानी अनंत प्रकार। (अर्थात्) परमाणुओं में अनेक प्रकार का परिणमन, केवलीरहित ज्ञान का (परिणमन) अनेक प्रकार का, ऐसा `...**अनंत प्रकारों के विचित्रता को प्राप्त सम्पूर्ण सर्व पदार्थों के समूह को जानता हुआ,...**' आ..हा..हा...!

एक आत्मा में अनंतभाव है, गुण है, एक परमाणु में अनंतगुण हैं, आ..हा..हा...! ऐसे अनंत द्रव्य का, क्षेत्र का अंत नहीं ऐसे अनंत क्षेत्र और काल की शुरूआत नहीं और अंत नहीं ऐसे काल का और संख्या में जिसके गुणों का पार नहीं (वैसे गुणों को जानता है)। एक-एक द्रव्य के कितने गुण हैं ? (तो कहते हैं कि), अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत...

अनंतबार अनंत को गुणा करो तो भी पार नहीं ऐसे भाव को... आहा...! '**...द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को प्राप्त होने से जिसने अद्भुत माहात्म्य प्रगट किया है...**' जिसने अद्भुत माहात्म्य प्रगट किया है ! आ..हा..हा...! इस कारण '**...सर्वगत ही है।**' सर्वगत है, सबको प्राप्त कर चुका है, ऐसा (कहना है)। इस अपेक्षा से लेना, हाँ...!

'पंचाध्यायी' (शास्त्र) में तो सर्वगत (माननेवाले को) मिथ्यादृष्टि में डाला है। (इसका अर्थ) पर में अकेला व्याप्त होता है (ऐसा जो मानता है इसे मिथ्यादृष्टि कहा है)। 'पंचाध्यायी' में सब है। अपनी यह अपेक्षा है। एक समय में सर्वगत (यानी) सब पूर्ण जाने और इस तरह का परिणमन शुरू ही है। इसलिये इसे नित्य भी कहने में आता है, आ..हा..हा...! और सभी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जाना भी कहलायेगा। ऐसा अद्भुत माहात्म्य प्रगट किया है ऐसा सर्वगत है, लो !

भावार्थ :- 'अक्रम से प्रवर्तमान ज्ञान एक ज्ञेय से दूसरे के प्रति नहीं बदलता इसलिये नित्य है,...' बदलता नहीं इससे उसे नित्य कहा, देखा ? '**...अपनी समस्त शक्तियों के प्रगट हो जाने से क्षायिक है,...**' (अर्थात्) सब शक्तियाँ प्रगट हो गयी हैं। ज्ञान की हाँ...! '**...ऐसे अक्रमिक ज्ञानवाला पुरुष ही सर्वज्ञ हो सकता है। सर्वज्ञ के इस ज्ञान का कोई परम अद्भुत माहात्म्य है।**' विशेष कहेंगे...

❋ ❋ ❋

अथ ज्ञानिनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि क्रियाफलभूतं बन्धं प्रतिषेधयन्नुपसंहरति–

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो।।५२।।

नापि परिणमति न गृह्णाति उत्पद्यते नैव तेष्वर्थेषु।
जानन्नपि तानात्मा अबन्धकस्तेन प्रज्ञप्तः।।५२।।

इह खलु `उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया। तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि।।' इत्यत्र सूत्रे उदयगतेषु पुद्गलकर्मांशेषु सत्सु संचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यमानः क्रियाफलभूतं बन्धमनुभवति, न तु ज्ञानादिति प्रथममेवार्थपरिणमनक्रियाफलत्वेन बन्धस्य समर्थितत्वात्, तथा `गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं। पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं। 'इत्यर्थपरिणमनादिक्रियाणामभावस्य शुद्धात्मनो निरूपितत्वाच्चार्थानपरिणमतोऽगृह्णतस्तेष्वनुत्पद्यमानस्य चात्मनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि न खलु क्रियाफलभूतो बन्धः सिद्ध्येत् ।।५२।।

(स्त्रग्धरा)

जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं।
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा।
तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत-
ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः।।४।।

- इति ज्ञानाधिकारः।

एवं केवलज्ञानमेव सर्वज्ञ इति कथनरूपेण गाथैका, तदनन्तरं सर्वपदार्थपरिज्ञानात्परमात्मज्ञानमिति प्रथमगाथा परमात्मज्ञानाच्च सर्वपदार्थपरिज्ञानमिति द्वितीया चेति। ततश्च क्रमप्रवृत्तज्ञानेन सर्वज्ञो न भवतीति प्रथमगाथा, युगपद्ग्राहकेण स भवतीति द्वितीया चेति समुदायेन सप्तमस्थले गाथापञ्चकं गतम्। अथ पूर्वं यदुक्तं पदार्थपरिच्छित्तिसद्भावेऽपि रागद्वेषमोहाभावात् केवलिनां बन्धो नास्तीति तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढीकुर्वन् ज्ञानप्रपञ्चाधिकारमुपसंहरति–**ण वि परिणमदि** यथा स्वकीयात्मप्रदेशैः समरसीभावेन सह परिणमति तथा ज्ञेयरूपेण न परिणमति। **ण गेण्हदि** यथैव चानन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपमात्मरूपमात्मरूपतया गृह्णाति तथा ज्ञेयरूपं न

गृह्णाति। **उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु** यथा च निर्विकारपरमानन्दैकसुखरूपेण स्वकीयसिद्धपर्यायेणोत्पद्यते तथैव च ज्ञेयपदार्थेषु नोत्पद्यते। किं कुर्वन्नपि। **जाणण्णवि ते तान्** ज्ञेयपदार्थान् स्वस्मात् पृथग्रूपेण जानन्नपि। स कः कर्ता। **आदा** मुक्तात्मा। **अबंधगो तेण पण्णत्तो** ततः कारणात्कर्मणामबन्धकः प्रज्ञप्त इति। तद्यथा-रागादिरहितज्ञानं बन्धकारणं न भवतीति ज्ञात्वा शुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षविपरीतस्य नारकादिदुःखकारणकर्मबन्धस्य कारणानीन्द्रियमनोजनितान्येकदेश-विज्ञानानि त्यक्त्वा सकलविमलकेवलज्ञानस्य कर्मबन्धाकारणभूतस्य यद्बीजभूतं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानं तत्रैव भावना कर्तव्येत्यभिप्रायः।।५२।।

एवं रागद्वेषमोहरहितत्वात्केवलिनां बन्धो नास्तीति कथनरूपेण ज्ञानप्रपञ्चसमाप्तिमुख्यत्वेन चैकसूत्रेणाष्टमस्थलं गतम्।

अथ ज्ञानप्रपञ्चव्याख्यानानन्तरं ज्ञानाधारसर्वज्ञं नमस्कारोति –

तस्स णमाइं लोगो देवासुरमणुअरायसंबंधो।
भत्तो करेदि णिच्चं उवजुत्तो तं तहा वि अहं।।२।।

करेदि करोति। स कः। लोगो लोकः। कथंभूतः। **देवासुरमणुअरायसंबंधो** देवासुर-मनुष्यराजसंबन्धः। पुनरपि कथंभूतः। **भत्तो** भक्तः। **णिच्चं** नित्यं सर्वकालम्। पुनरपि किंविशिष्टः। **उवजुत्तो** उपयुक्त उद्यतः। इत्थंभूतो लोकः कां करोति। **णमाइं** नमस्यां नमस्क्रियाम्। कस्य। **तस्स** तस्य पूर्वोक्तसर्वज्ञस्य। **तं तहा वि अहं** तं सर्वज्ञं तथा तेनैव प्रकारेणाहमपि ग्रन्थकर्ता नमस्करोमीति। अयमत्रार्थः–यथा देवेन्द्रचक्रवर्त्यादयोऽनन्ताक्षयसुखादिगुणास्पदं सर्वज्ञस्वरूपं नमस्कुर्वन्ति, तथैवाहमपि तत्पदाभिलाषी परमभक्त्या प्रणमामि।।२।।

अब, ज्ञानीके (-केवलज्ञानी आत्माके) ज्ञप्तिक्रियाका सद्भाव होने पर भी उसके क्रियाके फलरूप बन्धका निषेध करते हुए, उपसंहार करते हैं (अर्थात् केवलज्ञानी आत्माके जाननेकी क्रिया होने पर भी बन्ध नहीं होता, ऐसा कहकर ज्ञान-अधिकार पूर्ण करते हैं) -

गाथा ५२

ते अर्थरूप न परिणमे जीव, नव ग्रहे, नव ऊपजे।
सौ अर्थने जाणे छतां, तेथी अबंधक जिन कहे।।५२।।

अन्वयार्थ :- [आत्मा] (केवलज्ञानी) आत्मा **[तान् जानन् अपि]** पदार्थोंको जानता हुआ भी **[न अपि परिणमति]** उसरूप परिणमित नहीं होता, **[न गृह्णाति]** उन्हें ग्रहण

नहीं करता **[तेषु अर्थेषु न एव उत्पद्यते]** और उन पदार्थोंके रूपमें उत्पन्न नहीं होता **[तेन]** इसलिये **[अबन्धकः प्रज्ञप्तः]** उसे अबन्धक कहा है।

टीका :- यहाँ `उदयगदा कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया। तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बन्धमणुभवदि।।' इस गाथासूत्रमें, `उदयगत पुद्‌गलकर्मांशोंके अस्तित्वमें चेतितहोनेपर-जाननेपर-अनुभवकरनेपर मोह-राग-द्वेषमें परिणत होनेसे ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप क्रियाके साथ युक्त होता हुआ आत्मा क्रियाफलभूत बन्धका अनुभव करता है, किन्तु ज्ञानसे नहीं' इसप्रकार प्रथम ही अर्थपरिणमनक्रियाके फलरूपसे बन्धका समर्थन किया गया है (अर्थात् बन्ध तो पदार्थरूपमें परिणमनरूप क्रियाका फल है ऐसा निश्चित किया गया है) तथा `गेण्हदि णेव ण मुञ्चदि ण परं परिणमदि केवली भगवं। पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं।।'

इस गाथा सूत्रमें शुद्धात्माके अर्थ परिणमनादि क्रियाओंका अभाव निरूपित किया गया है इसलिये जो (आत्मा) पदार्थरूपमें परिणमित नहीं होता उसे ग्रहण नहीं करता और उसरूप उत्पन्न नहीं होता उस आत्माके ज्ञप्तिक्रियाका सद्भाव होनेपर भी वास्तवमें क्रियाफलभूत बन्ध सिद्ध नहीं होता।

भावार्थ :- कर्मके तीन भेद किये गये हैं-प्राप्य-विकार्य और निर्वर्त्य। केवलीभगवानके प्राप्य कर्म, विकार्य कर्म और निर्वर्त्य कर्म ज्ञान ही है, क्योंकि वे ज्ञानको ही ग्रहण करते हैं, ज्ञानरूप ही परिणमित होते हैं और ज्ञानरूप ही उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार ज्ञान ही उनका कर्म और ज्ञप्ति ही उनकी क्रिया है। ऐसा होनेसे केवलीभगवानके बन्ध नहीं होता, क्योंकि ज्ञप्तिक्रिया बन्धका कारण नहीं है किन्तु ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया अर्थात् ज्ञेय पदार्थोंके सन्मुख वृत्ति होना (-ज्ञेय पदार्थोंके प्रति परिणमित होना) वह बन्धका कारण है।।५२।।

(**दिनांक २७-२-१९७९ - प्रवचन नंबर-५२**)

`प्रवचनसार', गाथा-५२। `**अब, ज्ञानीके** (**-केवलज्ञानी आत्मा के**)...' यह केवलज्ञान का अंतिम श्लोक है। आगे `सुख' का (अधिकार) आयेगा। `...(**-केवलज्ञानी आत्मा के**) **ज्ञप्तिक्रियाका**

सद्भाव...' (अर्थात्) जानने की क्रिया होती है `**...होनेपर भी उसके क्रिया के जानने की फलस्वरूप बन्ध का निषेध...**' (है) (अर्थात्) उन्हें बंधन होता नहीं। ज्ञान का परिणमन तो ज्ञप्तिजानना करता है, जानने की क्रिया होती है। बारहवें गुणस्थान में बदलती ज्ञप्तिक्रिया है सो यह नहीं। वह तो ज्ञप्ति परिवर्तन था - परिवर्तन (था), और यह ज्ञप्तिक्रिया (है) यानी कि मात्र परिणमन है सो क्रिया है। पर्याय है यह क्रिया है। केवलज्ञान का परिणमन है सो क्रिया है। यह क्रिया होते हुए... आ..हा..हा...! यह ज्ञान की पर्याय षट्कारकरूप परिणमित क्रिया होते हुए भी... केवलज्ञान की हाँ...! `**...उसके क्रिया के फलरूप बन्ध का निषेध करते हुए...**' (यानी) उसे क्रिया का फल (जो) बंध (सो) नहीं।

(उस बंध का निषेध करते हुए) `**...उपसंहार करते हैं (अर्थात् केवलज्ञानी आत्मा के जानने की क्रिया होने पर भी बन्ध नहीं होता, ऐसा कहकर ज्ञान-अधिकार पूर्ण करते हैं) -**'

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो।।५२।।
ते अर्थरूप न परिणमे जीव, नव ग्रहे, नव ऊपजे।
सौ अर्थने जाणे छतां, तेथी अबंधक जिन कहे।।५२।।

टीका (में जो आधार दिया है वह) ४३ गाथा आ गई है। `**यहाँ `उदयगदा कम्मंसा जिणवरवहेहिं णियदिणा भणिया। तेसु रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि।।' इस गाथासूत्र में,...**' ऐसा कहा (कि) `**...`उदयगत पुद्गलकर्मांशो के अस्तित्व में...**'' (अर्थात्) कर्म का उदय है उसके अस्तित्व में। `**...चेतितहोनेपर - जाननेपर - अनुभवकरनेपर मोह-राग-द्वेष में परिणत होने से ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप क्रिया के साथ युक्त होता हुआ आत्मा क्रियाफलभूत बन्ध का अनुभव करता है,...**' यह (४३) गाथा में आ गया है। क्या कहा ? कि, कर्म का उदय है उससे उसे बंध का कारण नहीं। उसप्रकार जो ज्ञानस्वभाव है सो बंध का कारण नहीं। बंध का कारण तो उस समय विमूढ़ - मिथ्यात्व और राग-द्वेष को करे तो वह बंध का कारण होता है। कर्म का उदय भी (बंध का कारण) नहीं और ज्ञानस्वभाव भी नहीं, ज्ञानस्वभाव भान हुआ है, उसे भी नहीं। मोह-राग-द्वेष को करे तो उसे क्रिया का फल बंधन होता है। कहिये समझे इसमें ?

कर्म का उदय होनेपर भी जानते-चेतते-अनुभव करते हुए यदि उसमें मोह और राग-द्वेष परिणमित हो तो `**...ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप क्रिया...**' (अर्थात्) ज्ञेय द्वारा परिणमित राग का अनुभववाला। वह (क्रिया) `**...के साथ युक्त होता हुआ आत्मा क्रियाफलभूत बन्ध का अनुभव**

करता है,...' ऐसी बातें...! बही खाते में कहीं भी मिले नहीं!

कहते हैं कि, (आत्मा) की अपनी ज्ञानपरिणति जो है, उसी समय सामने कर्म का उदय तो है, इस समय केवली की बात नहीं कहनी है, उसके पहले (भूमिका की) बात है। उदय होने के अलावा जो ज्ञान राग, द्वेष, मोह में एकता करता है उस क्रिया का फल बंधन है। समझ में आया कुछ ? कर्म का उदय है यदि वह बंध का कारण हो तो कोई अबंध हो सकता ही नहीं। ज्ञानस्वभाव बंध का कारण हो तो भी कभी अबंध हो सकता नहीं, ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव भी बंध का कारण नहीं, कर्म का उदय बंध का कारण नहीं, आहा..हा...! बंध का कारण मिथ्या श्रद्धा-रागादि सो मैं हूँ, वह और राग और द्वेष-इष्ट-अनिष्ट की वृत्ति, वैसे मोह और राग-द्वेष के परिणाम क्रियाफल बंध का कारण है। समझ में आया है कुछ ? ऐसी बातें हैं...!

आत्मा चैतन्यस्वरूप भगवान ! उसे कहते हैं कि, ज्ञान का परिणमन हो सो ज्ञान का परिणमन कोई बंध का कारण नहीं। वैसे उसे कर्म का उदय परद्रव्य के रूप हो (तो) यह तो परद्रव्य है। अतः उसे कर्म का उदय बंध का कारण नहीं। सिर्फ उसमें राग-द्वेष और मोह होकर ज्ञान उसमें जुड़ जाता है... आहा..हा...! उसे बंधन होता है और संसार बढ़ता है। लो ऐसा कहा ! '**...किन्तु ज्ञान से नहीं...**' है ?

'**उदयगत पुद्‌गलकर्मांशों के अस्तित्व में...**' (ऐसा कहकर) उसे एक तरफ रखा। कर्म का उदय है उसका अस्तित्व भले हो ! उसके अस्तित्व में '...**चेतितहोनेपर - जाननेपर - अनुभवकरनेपर मोह-राग-द्वेष में परिणत होने से...**' (अर्थात्) मिथ्याश्रद्धा, मिथ्या राग-द्वेष रूप परिणमित होने से '**...ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप क्रिया...**' (अर्थात्) ज्ञेय के लक्ष में चढ़ गया। ज्ञेय के लक्ष में राग, द्वेष, मोह में चढ़ गया। वह '**...क्रिया के साथ युक्त होता हुआ आत्मा क्रियाफलभूत बन्ध का अनुभव करता है, किन्तु ज्ञान से नहीं...**' पहले कहा उदय से नहीं, यहाँ (कहा) ज्ञान से नहीं, आ..हा..हा...! जानना है वह बंध का कारण नहीं, (यदि जानना बंध का कारण हो) तो केवली के तीनकाल तीनलोक जानने में आते हैं (उन्हें अधिक बंध होगा। किन्तु उन्हें बंध तो है ही नहीं) यही यहाँपर बताना है।

'पंचाध्यायी' में कहा है, 'हे महाप्रज्ञ' ! यह प्रश्न बहुत चर्चित हुआ था। 'हे महाप्रज्ञ' श्रद्धा में जैसे त्रिकाल एक ही विषय है, वैसे ज्ञान में बहुत ज्यादा विषय है। ज्ञान सबको जानता है। जानता है सो बंध का कारण नहीं, आहा..हा...! जानना वह कोई बंध का कारण नहीं। समझ में आया कुछ ? वैसे कर्म का उदय है सो बंध का कारण नहीं। मात्र उस ज्ञान को मोह, राग-

द्वेष के साथ जोड़ दिया जाय तो उस क्रिया का फल बंधन है, आ..हा..हा...!

`...इसप्रकार प्रथम ही अर्थपरिणमनक्रिया के फलरूप से बन्ध का समर्थन किया गया है...' पहले जो अर्थ परिणमन यानी पदार्थ के लक्ष द्वारा परिणमन क्रिया का फल बंध कहने में आया है। ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया-परज्ञेय के प्रयोजनभूत मोह, राग-द्वेष द्वारा परिणमित हो सो बंध का कारण है। परंतु ज्ञान में जानने की क्रिया करे - केवलज्ञानी तीनकाल तीनलोक को पूर्ण (जाने) इससे वह कोई बंध का कारण नहीं।

(`समयसार' की) सातवीं गाथा में ऐसा कहा कि, दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भेद करे तो भी यह भेद है वह बंध का कारण है। क्यों ? (कि) रागी है, इसलिये। आहा..हा...! अभेद(स्वरूप) तो दृष्टि का विषय है, परंतु कहते हैं कि, दर्शन, ज्ञान और चारित्र ऐसे भेद करे तो भी रागी प्राणी है इसलिये (बंध का कारण होता है)। वीतराग केवली को सब भेद (ज्ञात होते हैं) - अपने गुण का भेद, द्रव्य का, पर्याय का (भेद) सब जानते हैं, पर के सभी (भेद को) जानते हैं, परंतु जानना तो स्वयं बंध का कारण नहीं। यदि छद्मस्थ(जीव) अभेद की दृष्टि छोड़कर जानने में भेद करे तो उस भेद में उसे राग हुए बिना रहेगा नहीं, भेद को जानते हैं इसलिये राग होता (है), वैसा नहीं। रागी है इसलिये भेद करने से राग उठता है, आहा..हा...! केवलज्ञानी तीनकाल तीनलोक को जानते हैं, आहा..हा...! भेदाभेद सभी को जानते हैं। (अब) भेद को जानने से राग (होता) हो तो उसे भी बंधन होगा, आ..हा..हा...!

श्रोता :- मिथ्याज्ञान बंध का कारण है कि नहीं ?

समाधान :- मिथ्याज्ञान कहा न ! मिथ्याश्रद्धा में ज्ञान आ गया न ! ज्ञान भी बंध का कारण है। मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, मिथ्या(चारित्र) तीनों बंध के कारण हैं। यह पहले आ गया है। `मोक्षमार्ग प्रकाशक' में लिया है कि, जैसे सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र मोक्ष का कारण है वैसे मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र बंध का कारण हैं। उसमें प्रश्न खड़ा हुआ हैं कि, ज्ञान है सो मिथ्यात्व के साथ है इसलिये बंध का कारण है ? तो कहे, नहीं ! ज्ञान स्वतंत्र अल्पज्ञ है इसलिये बंध का कारण है। सबको नहीं जानकर पर को जानकर रुकता है यह ज्ञान का दोष है। `मोक्षमार्ग प्रकाशक' में लिया है। ऐसा कहते (हैं कि), मिथ्यात्व वह बंध का कारण है और उसके साथ ज्ञान (है) वह मिथ्यात्व के कारण विपरीत ज्ञान है, अतः ज्ञान में मिथ्यात्व बंध का कारण है, ऐसा नहीं। (परंतु) ज्ञान स्वयं अज्ञानरूप परिणमित होता है। जो स्व को विषय करना चाहिये इसके बदले ज्ञान पर के विषय में रुक गया। यह ज्ञान (का) स्वयं का दोष है, मिथ्यात्व

है यह तो निमित्त है। समझ में आया इसमें ? मिथ्यात्व तो निमित्त है। उपादान-उसका अज्ञानपना-मात्र पर को जानना यह उसका अपना मिथ्याज्ञान का स्वभाव है।

श्रोता :- ज्ञान तो एक क्षयोपशम का अंश है इससे बंध होता नहीं !

समाधान :- क्षयोपशम से बंध नहीं होता यह (बात अभी नहीं)। ज्ञान का अंश है सो तो खुलापन है। परंतु यह ज्ञान का अंश मात्र पर को जाने और स्व को न जाने, यह दोष का कारण है, आ..हा..हा...! ऐसा कहा न ? देखो न...!

`**...परिणमनस्वरूप क्रिया के साथ युक्त होता हुआ...**' (अर्थात्) मोह और राग-द्वेष होता है उसके साथ जुड़ता है। इसलिये बंध का कारण है। सूक्ष्म बात है, भाई ! आ..हा..हा...! एक ज्ञानस्वरूपी प्रभु ! वह तीनलोक को जाने, यह जानना कोई बंध का कारण नहीं। वैसे उसे अघातीकर्म का उदय है, मोह तो है नहीं सो यह उदय वह बंध का कारण नहीं। उसमें राग, द्वेष और मोह करे, मिथ्यात्व करे तो बंध का कारण है, आहा..हा...! समझ में आया कुछ ?

`(**अर्थात् बन्ध तो पदार्थरूप में परिणमनरूप क्रिया का फल है...**' देखा ? `पदार्थरूप' यानी उसके लक्ष से, उसके आश्रय से, राग द्वारा परिणमित हो, यह क्रिया का फल है `**...ऐसा निश्चित किया गया है**) **तथा...**' अब यहाँ आया है। `**गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि...**' यहाँपर आया है। देखो यह (`समयसार' की ७६ से ७९ गाथा के) तीन बोल आये-प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य। यह ऐसी भाषा है, आगे `भावार्थ' में लेंगे, आहा..हा...! क्या कहते हैं ?

`**गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं। पच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं।।**' यह ३२वीं गाथा में आ गया। इसका सार अब इसमें कहते हैं। वह ३२वीं गाथा ! `**इस गाथासूत्र में शुद्धात्मा के अर्थ परिणमनादि क्रियाओं का अभाव निरूपित किया गया है इसलिये जो (आत्मा) पदार्थरूप में परिणमित नहीं होता उसे ग्रहण नहीं करता...**' पदार्थरूप परिणमित होना वह उसे ग्रहण करता नहीं, अपनी पर्याय का ग्रहण करता है, आ..हा..हा...! `**...और उसरूप उत्पन्न नहीं होता...**' (अर्थात्) परपदार्थरूप उत्पन्न होता नहीं। `**...उस आत्मा के ज्ञप्तिक्रिया का सद्भाव होनेपर भी...**' परिणमित होता नहीं, ग्रहण करता नहीं, उत्पन्न होता नहीं - इस बोल में से प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य निकाला। एक तो ७६ से ७९ में है, एक १०७ में है ! प्राप्य, विकार्य, निर्विर्त्य-१०७ गाथा `समयसार' में है। और एक इस `प्रवचनसार' की ५२वीं गाथा में है। क्या कहते हैं ?

(शुद्धात्मा को अर्थपरिणमनादि क्रियाओं का अभाव) `**...निरूपित किया गया है इसलिये जो**

(**आत्मा**) **पदार्थरूप में परिणमित नहीं होता...**' वह तो अपने ज्ञानरूप परिणमित होता है - एक बात। '**...उसे ग्रहण नहीं करता...**' (यानी) ज्ञेय का ग्रहण करता नहीं, वह तो अपनी पर्याय को ग्रहण करता है। '**...उसरूप उत्पन्न नहीं होता...**' (यानी) परज्ञेयरूप उत्पन्न होता नहीं (परंतु) अपनी निर्मल पर्यायरूप उत्पन्न होता है, आ..हा..हा...!

वास्तव में तो केवलज्ञान जो है सो स्वयं ही कर्ता होकर और अपना कार्य उसी समय स्वयं करता है। पर को ग्रहण करता नहीं, और पर का कार्य करता नहीं, आहा..हा...! कर्ता केवलज्ञान की पर्याय षट्कारकरूप स्वतंत्र परिणमित होती है, आहा..हा...! इसे परपदार्थ की (अपेक्षा) नहीं, वैसे स्वपदार्थ की भी उसे अपेक्षा नहीं, आहा...! केवलज्ञान की पर्याय षट्कारकरूप (परिणमित होती है)। अरे...! प्रत्येक द्रव्य की (पर्याय इस प्रकार परिणमित होती है) ! जितने द्रव्य हैं ये विकाररूप परिणमित हो या अविकाररूप परिणमित हो, वह-वह पर्याय षट्कारकरूप स्वतंत्र होकर परिणमन (करती है)। कर्ता का अर्थ स्वतंत्र, कर्म का अर्थ कार्य, करण का अर्थ साधन, संप्रदान का अर्थ अपने में रखता है, अपादान का अर्थ पर्याय में से पर्याय होती है। आधार का अर्थ पर्याय के आधार से पर्याय हुई, द्रव्य-गुण के आधार से नहीं ! ऐसी बातें हैं...!

'**...आत्मा के ज्ञप्तिक्रिया का सद्भाव होनेपर भी...**' (यानी) जानने की क्रिया का परिणमन होनेपर भी '**...वास्तव में क्रियाफलभूत बन्ध सिद्ध नहीं होता।**' (यानी) क्रिया का फल जो राग द्वारा बंध होता है वह राग उसे नहीं, मोह नहीं, इस कारण बंध है नहीं। एक समय का (उदय आये) इसकी यहाँ गिनती नहीं की। समझ में आया कुछ...? यह (राग-द्वेष) बंध नहीं। वह (उदय) तो एक समय आता है और दूसरे समय छूट जाता है, आहा..हा...!

भावार्थ :- 'कर्म के तीन भेद किये गये हैं -' कर्म नाम कार्य ! कर्म नाम कार्य के तीन भेद किये गये हैं। प्राप्य रूपी कर्म, विकार्य रूपी कार्य और निर्वर्त्य रूपी कार्य। यह '**...प्राप्य - विकार्य और निर्वर्त्य। केवलीभगवान के प्राप्य कर्म, विकार्य कर्म और निर्वर्त्य कर्म ज्ञान ही है,...**' आ..हा..हा...! क्या कहा यह ? केवलीभगवान अपना ज्ञान जो प्राप्य है - उस समय हुआ है उसे केवलज्ञान प्राप्त करता है, पर को नहीं, आहा..हा...! प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य एक समय के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सिद्ध करते हैं। प्राप्य सो ध्रुव है (यानी कि) उस समय की पर्याय ठीक उसी समय होनेवाली है, उसे 'प्राप्य' कहते हैं। उसे ज्ञान जान लेता है, और पूर्व से बदला है उसे 'विकार्य' कहने में आता है, है तो वही की वही पर्याय, परंतु उसी की उसी पर्याय में तीन प्रकार की अपेक्षा लागू पड़ती है।

केवलज्ञानी भगवान उनका कार्य क्या ? (तो) कहते हैं कि, प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य - यह उनका कार्य ! यानी क्या ? कि, वे स्वयं, जो है उसे जानते हैं, उसे ग्रहण करते हैं, दूसरे राग का ग्रहण करते हैं, ज्ञेय का ग्रहण करते हैं - ऐसा है नहीं, और है उसे - उस कार्य को प्राप्त कर लेते हैं, यह उनका कर्म है। कर्ता, स्वतंत्र होकर और प्राप्य को प्राप्त कर लेता है। कर्ता स्वतंत्र होकर कार्य को करता है। कर्ता स्वतंत्र साधन होकर स्वयं पर्याय को करता है। कर्ता स्वतंत्र होकर स्वयं स्वयं को रखता है, कर्ता स्वतंत्र होकर स्वयं में से स्वयं होता है। कर्ता स्वतंत्र होकर अपने आधार से स्वयं होता है, आ..हा..हा...! ऐसी बात है।

यह परमाणु लो न ! एक परमाणु ! इस परमाणु की अनंतगुण की समय-समय पर अनंत पर्याय होती हैं। कहलाये एक समय की एक पर्याय ! (परंतु) हैं अनंत ! एक रजकण हाँ...! इस रजकण में जो अनंत पर्याय होती है - वह है, उसे परमाणु प्राप्त कर ले उसका नाम प्राप्य। पूर्व की (पर्याय) बदलकर हुई उसका नाम विकार्य। वस्तु तो वही की वही। आहा..हा...! कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि, `एक सफेद गिलास हो, (इसमें) हम लाल रंग डालें तो लाल दिखने में आयेगा, पीला डाले तो पीला दिखे !' परंतु ऐसा नहीं, वैसा कहते हैं। यह लाल (रंग) डाला तब स्वयं (पानी) की पर्याय में लालरूप परिणमित होने की पर्याय षट्कारक से अपने से हुई है। रंग के द्वारा नहीं ! अरे.. अरे...! ऐसी बातें कहाँ (सुनी हो) ! निमित्त के पक्षकार ऐसा तर्क करते हैं। सफेद गिलास लो ! (उसमें) जैसा हम रंग डालेंगे वैसा रंग दिखेगा ! परंतु यह रंग है सो गिलास को छूता भी नहीं !!

श्रोता :- रंग को डाल सकता है या नहीं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- डाल सकने का प्रश्न बाद में है। डाले कौन ? यह छूता ही नहीं न ! वह भी उसे छूता नहीं, आहा..हा...! उस गिलास में जब सफेद पर्याय के षट्कारक का परिणमन है वह स्वतंत्र स्वयं से है, और बाद में लाल दिखाई दिया (इसमें) रंग तो निमित्त है, यह लाल दिखाई दिया सो लाल पर्याय भी षट्कारक द्वारा परिणमित अपने द्वारा हुई है, आ..हा..हा...! ऐसा काम कठिन है। बनिये को फुरसत नहीं मिले, उसे ऐसा निर्णय करना !! आ..हा..हा...!

द्रव्य तो स्वतंत्र...! त्रिकाली है इसलिये ! गुण स्वतंत्र...! त्रिकाली है इसलिये ! क्योंकि त्रिकाली है इसमें इस कारण है, ऐसा आये नहीं। `है' इसे इसके कारण है, ऐसा न आये। अब द्रव्य और गुण `है' ऐसी तीसरी एक पर्याय `है' - इसमें विरोध खड़े हो ! पर्याय पलटती है, पलटती क्रिया है, तो इसका कारण क्या ? इस कारण (द्रव्य-गुण के लिये कोई कारण नहीं)

यह तो `है' बस...! परंतु इसका (पर्याय का) कोई कारण है ? (तो कहते हैं कि), हाँ ! यह पर्याय (स्वयं) पर्याय का कारण है। यह पर्याय पर्याय का आधार और स्वयं पर्याय करके पर्याय में रखी है - यह संप्रदान ! आ..हा..हा...! ऐसा छःहों द्रव्यों का स्वरूप है। तो फिर केवलज्ञान तो ऐसा होगा ही, ऐसा कहते हैं, आ..हा..हा...!

केवलज्ञानी बहुत-अनंत ज्ञेयों को जानते हैं इस कारण उसके ज्ञान में उपाधि आयी। (ऐसा नहीं)। यह तो ज्ञान का स्वभाव है। अपनी जो निर्मल पर्याय प्राप्य है इसे ग्रहण करते हैं, आहा..हा...! और पूर्व की केवलज्ञान की पर्याय बदलकर दूसरी होती है, वह अपना विकार्य है। और इस समय उत्पन्न हुई-निष्पन्न हुई, वह पर्याय भी अपने से निष्पन्न हुई है, आ..हा..हा...! यह एक ही समय में (तीनों हैं)। ध्रुवरूप उस समय की वह पर्याय उसी प्रकार होनेवाली है उसे ध्रुवरूप गिना और विकार्य परिणमन को व्ययरूप गिना, और उत्पन्नरूप उत्पाद गिनकर - एक ही समय में तीन स्वतंत्र है, आ..हा..हा...! ऐसा सब याद कहाँ रहे, कहो ! आहा...! और आजकल तो झगड़ा (चलता है) `ऐसा है व तैसा है व फँला है न...! व्यवहार से तो होगा न !' व्यवहार तो निश्चय को बताता है, आहा..हा...! वस्तु की जैसी स्थिति है उसे व्यवहार प्रसिद्ध करता है। व्यवहार से यह (निश्चय) प्रसिद्ध होता है, ऐसा नहीं। आाह...! व्यवहार भेद करके समझाता है तो भेद है सो अभेद को प्रसिद्ध करता है। भेद के कारण अभेद है, यह यहाँ प्रश्न नहीं, आहा..हा...! समझ में आया कुछ ? भाषा तो सरल है परंतु... भाव सूक्ष्म...! आहा..हा...!

(यहाँपर कहते हैं) `**कर्म के तीन भेद किये गये हैं -**' कर्म यानी कार्य। कार्य के तीन प्रकार - भेद करने में आते (हैं)। प्रत्येक द्रव्य में समय-समयपर जो कार्य होता है, प्रत्येक द्रव्य में समय-समयपर जो परिणमन का कार्य होता है, उस कार्य के तीन प्रकार - भेद करने में आते हैं, आ..हा..हा...! यहाँ तो हमें अब केवलज्ञानी में उतारना है ! आ..हा..हा...!

परमाणु हो या स्कंध हो या अनंत आत्मा निगोद में साथ हो...! साथ में तो नहीं, अलग-अलग है, परंतु एकक्षेत्रावगाहरूप सब में साथ हैं और (इसलिये साथ कहा)। वैसे भी प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु, इनके तेजस और कार्मण के परमाणु हैं, इसके प्रत्येक परमाणु अपने प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य को ग्रहण करते हैं, पलटते हैं, निष्पन्न होते हैं पर्याय तो वही कीवही (है) `है' उसे ग्रहण करते हैं, `है' वह पूर्व से बदलकर हुआ है और `है' सो सीधा उत्पन्न हुआ है, आहा..हा...!

`**केवलीभगवान के प्राप्य कर्म, विकार्य कर्म और निर्वर्त्य कर्म ज्ञान ही है,...**' क्या कहा यह? केवलीभगवान का केवलज्ञान है इसका प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य, यह इसकी पर्याय है।

आ..हा..हा...! `गेण्हदि', `परिणमदि', `उप्पज्जदि' ! `गेण्हदि'-प्राप्य है `परिणमदि'-विकार्य है `उप्पज्जदि'-उत्पन्न है। मूल में पाठ है न ? `ण वि परिणमदि' यानी विकार्य। यानी पहले जो पर्याय थी वह बदलकर हुई इसका नाम `परिणमदि' ! `गेण्हदि' यानी जो है इसे प्राप्त करना सो `गेण्हदि' ! `उप्पज्जदि' (यानी) यह निष्पन्न है इसे निर्वर्त्य कहेंगे ! आ..हा..हा...!

देखो ! यह लकड़ी है ! यह लकड़ी है सो ऐसे थी (आगे) ऐसे रही। अब ऐसे थी इसका व्यय हुआ और इसका उत्पाद हुआ। इसकी पर्याय में कार्य उसका है हाँ... अँगुली का नहीं। वह पर्याय जो ऐसे बदलती है उसे वह परमाणु ग्रहण करता नहीं। उत्पन्न होता है उसे पकड़ता है। ग्रहण नहीं करता यानी ? ऐसे पकड़ता है। पकड़ता है यानी वह पर्याय उसमें होती है। और पूर्व की बदलकर हुई सो विकार्य है। वही की वही (पर्याय) हाँ...! और वही की वही पर्याय निष्पन्न हुई इस अपेक्षा से निर्वर्त्य (है)। ध्रुव है इस अपेक्षा से प्राप्य है, बदलाव है इसकारण विकार्य है और वर्तमान निष्पन्न हुई है इसकारण निर्वर्त्य है, आ..हा..हा...! एक पर्याय में तीन (भेद) ! ऐसे अनंत द्रव्यों में तीन (भेद)। आहा..हा...!

जिस मिट्टी में से घड़ा हुआ घड़ा...! इस घड़े की पर्याय (स्वयं के) षट्कारक से परिणमित होकर निष्पन्न हुई है। कुम्हार से नहीं, इसके द्रव्य-गुण से नहीं। आ..हा..हा...! मिट्टी प्राप्य नाम घट की अवस्था हुई उसे वह प्राप्य कर चुकी है। पूर्व के पिंड़ की अवस्था को बदलकर हुई उस पर्याय को विकार्य करते हैं और निष्पन्न हुई उसे उत्पाद कहते हैं, आ..हा..हा...! यहाँ कहते हैं कि, पर का ग्रहण करे और पर का करे, यह यहाँ नहीं, ऐसा कहना है। अपने प्राप्य को ग्रहण करे, अपने विकार्य को बदले (यानी) पूर्व की पर्याय को पलटे (बदले) और अपने में निष्पन्न हो। परंतु अपने में (हो)। पर का ग्रहण करे और पर में निष्पन्न (उत्पन्न) हो और पर में बदलाव करे, (ऐसा नहीं) आ..हा..हा...! कहो ! ऐसा सुना था कभी ? आ..हा..हा...!

छःहों द्रव्य में जिस समय जो पर्याय हो वह षट्कारकरूप होती है, आहा..हा...! क्योंकि षट्कारक उसके गुण में है, इस कारण परिणमन में षट्कारक का परिणमन हुआ, आहा..हा..हा...! समझ में आया इसमें ?

श्रोता :- गुण का परिणमन हो तो गुण की अपेक्षा नहीं ?

समाधान :- नहीं, गुण का परिणमन अपेक्षित कहा जाता है। यह परिणमन परिणमन का है। कहने में ऐसा आये (कि) गुण का परिणमन (है) परंतु है परिणमन परिणमन का। (क्योंकि) गुण है सो तो ध्रुव है। ध्रुव कहाँ परिणमित होता है ? समझ में आया कुछ... ? आहा..हा...! मनुष्य

रेलगाड़ी के लिये पहाड़ खोद डालते हैं ! `मुंबई' जाते समय बीच में एक आता है न ? बड़े-बड़े पहाड़ खोदे और पूरी रेलगाड़ी निकालते हैं ! यहाँ कहते हैं कि, पर के द्वारा कुछ हुआ नहीं !! उस समय उस परमाणु की पर्याय उसकी जो प्राप्य है यानी (कि) `है' उसे वह प्राप्त कर चुकी है। पूर्व की बदलकर हुई है वह विकार्य है। उत्पन्न हुआ इस अपेक्षा से निर्वृर्त्य हुआ। वह तो ध्रुव यानी `है' उसे प्राप्त (किया है)। यह `है' उसे निष्पन्न हुआ (कहकर) उसे निर्वर्त्य कहा, आहा..हा...! गजब सिद्धांत...!

श्रोता :- इसमें धर्म क्या आया ?

समाधान :- इसमें आत्मा का धर्म आया। ये तीनों मेरे से निष्पन्न होते हैं। इसका कार्य-कारण परमार्थ से द्रव्य-मैं हूँ। (यह समझकर) उसकी दृष्टि ज्ञायक पर पड़नेवाली है। यह कार्य कोई और का नहीं, आहा..हा...! यह हेतु भीतर भी लिया है। (`जयसेनाचार्यदेव') की टीका में भीतर लिया है, देखो !

`यद्यथा - रागादिरहितज्ञानं बन्धकारणं न भवतीति ज्ञात्वा शुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षविपरीतस्य नारकादिदु:खकारणकर्मबन्धस्य कारणानीन्द्रियमनोजनितान्येकदेशविज्ञानानि त्यक्त्वा सकलविमलकेवलज्ञानस्य कर्मबन्धाकारणभूतस्य यद्बीजभूतं'** यह केवलज्ञान का बीजभूत (है)। **`निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानं तत्रैव भावना कर्तव्येत्यभिप्राय:' आहा...! प्रत्येक का फल अंदर स्वरूप में एकाग्र होना (और) वीतराग पर्याय प्रगट करना (वह है)। वीतराग पर्याय वीतराग स्वभाव के आश्रय से होती है - यह सबका तात्पर्य है। किसी भी प्रकार का लेखन और किसी भी प्रकार की Line आये परंतु चारों अनुयोग की प्रत्येक गाथा और प्रत्येक का सार वीतरागता है। और वह वीतराग पर्याय हो कैसे ? (तो कहते हैं कि) इसका लक्ष वीतराग(स्वभाव) पर जाये तब। है वीतराग पर्याय (के) स्वतंत्र कर्ता-कर्म ! समझ में आया कुछ ? आ..हा..हा...! परंतु यह वीतराग पर्याय स्वतंत्र कर्ता होकर लक्ष वहाँ (द्रव्य का) करती है। ज्ञायक के साथ एकाकार करती है। एकाकार का अर्थ उस ओर मुड़ती है। एकाकार यानी दो इकट्ठे होते नहीं।

श्रोता :- तन्मय हो जाते हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री :- नहीं, नहीं...! तन्मय यानी ? इस ओर (पर की ओर) एकाकार थी वह इस ओर (स्व की ओर) एकाकार (होती है)। ऐसा इसका अर्थ (है)। द्रव्य के साथ पर्याय कहीं हिल-मिल जाती है, (ऐसा नहीं)। आ..हा..हा...! ऐसी सूक्ष्म बातें...! ऐसा वीतरागमार्ग है ! और लोगों ने क्या का क्या कर डाला ! आ..हा..हा...!

(अब कहते हैं) `**...क्योंकि वे ज्ञान को ही ग्रहण करते हैं,...**' देखा ? यह प्राप्य (हुआ)। केवलज्ञानी भगवान ज्ञान (कि) पर्याय को ग्रहण करते हैं, ज्ञेय को नहीं। `**...ज्ञानरूप ही परिणमित होते हैं...**' वह विकार्य। ज्ञानरूप ही परिणमित होते हैं (यानी) केवलज्ञान की पर्याय केवलज्ञानरूप ही परिणमित होती है, आ..हा..हा...!

श्रोता :- ज्ञान परिणमित होता है यानी ?

समाधान :- ज्ञान परिणमित होता है। पूर्व की पर्याय से यह पर्याय हुई। यह विकार्य यानी बदलती है। वह की वही पर्याय है इसे प्राप्य कहेंगे। वह पर की अपेक्षा के बिना हुई है इसलिये इसे विकार्य कहेंगे और वही पर्याय उत्पन्न हुई है, अभी थी नहीं और उत्पन्न हुई है इस कारण निर्वर्त्य कहेंगे। कठिन है, भाई ! आहा..हा...! यहाँ तो ३८ वर्ष कल पूरे होगें लो! मंदिर को ३८ वर्ष...! ३९ वाँ शुरू होगा ! ऐसी बात है !

यह घड़ी है, देखो ! ऐसी हुई...! यह इसकी पर्याय है उसे उस परमाणु ने ग्रहण किया है, हाथ से नहीं। आहा...! यह परमाणु है उसने प्राप्य को (यानी) अवस्था जो ऐसी हुई है उसे ग्रहण किया है। पहली यह अवस्था ऐसी थी आगे ऐसी हुई यह विकार्य को भी वह परमाणु प्राप्त कर चुके हैं और उत्पन्न हुआ है (इसलिये) यह अवस्था ऐसे थी और वैसे (हुई) यह भी इससे-परमाणु से हुई है।

श्रोता :- घड़ी को पकड़ तो रखा है !

पूज्य गुरुदेवश्री :- अँगुली के परमाणु की पर्याय, एक-एक परमाणु षट्कारक से परिणमित होता है, यह घड़ी को छूए नहीं ! और घड़ी को यह अँगुली छूती नहीं, अरे...! यह तो कोई (बात है) !! आ..हा..हा...! परमाणु की पर्याय-अवस्था है, उस काल में प्राप्य (है) उसे प्राप्त कर लेती है। इस अँगुली के कारण इसमें ऐसे होता है, (यह) तीनकाल में नहीं। आ..हा..हा...! ऐसा तो दुनिया को पागल जैसा लगे ऐसा है ! यह सब (काम) सारे दिन करते (हैं) न...! दया का पालन करो, हिंसा न करो, चौविहार करो...! छः काय की हिंसा न करो ! परंतु छः काय में तू नहीं आया ? आहा..हा...!

`पंचास्तिकायसंग्रह' में आता है न ? छः काय सो जीव नहीं, जिसमें ज्ञान (है) सो जीव है। यह आता है न, बात आती है ! पृथ्वी आदि एकेन्द्रियरूप जो है वह कोई जीव नहीं। भीतर ज्ञानस्वरूप भगवान है वह जीव है, आ..हा..हा...!

(यहाँपर कहते हैं) `**इस प्रकार ज्ञान ही उनका कर्म,...**' केवलज्ञानी का कार्य ज्ञान है। ज्ञान

जो हुआ वह उनका कार्य है। आ..हा..हा...! पहले पाँच गाथा में `धर्म के कर्ता' कहा है न ? है न ? पहली पाँच गाथा न है न ? लो ! १६वीं गाथा का ही सामने आया !! खोला वहाँ १६वीं गाथा के छः कारक आये ! देखो ! भावार्थ :- `**कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण-ये छः कारकों के नाम हैं। जो स्वतंत्ररूप से (स्वाधीनरूप से) करे सो कर्ता।**' और यह कितनी कही ? पहली पाँच ! देखो! (टीका) :- `**...जगत पर अनुग्रह करने में समर्थ,...**' निमित्त से कथन है। `**यह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष दर्शनज्ञानसामान्यस्वरूप मैं, जो सुरेन्द्रों, असुरेन्द्रों और नरेन्द्रों से वंदित होने से त्रिलोक के एक (अनन्य, सर्वोत्कृष्ट) गुरु हैं, घातीकर्ममल धो डाला होने से जिन्हें जगत पर अनुग्रह करने में समर्थ ऐसी अनन्त शक्ति रूप परमेश्वरता है, तीर्थरूप के कारण जो योगियों के तारने में समर्थ हैं,...**' `योगियों को तारने में समर्थ हैं !' यह निमित्त (है)। ज्ञानप्रधान कथन है न ! यह तो ठीक ! `**...धर्म के कर्ता होने से जो शुद्धस्वरूप परिणति के करनेवाले हैं,...**' यह करना है ! मूल पाठ में `कर्ता' लिया है न ! धर्म के कर्ता होने से शुद्धस्वरूप परिणति (यानी) केवलज्ञान की परिणति के वे करनेवाले हैं, आ..हा..हा...! वे उपदेशक भी नहीं ! `योगियों को तारने में समर्थ हैं' यह निमित्त से कथन है। योगी अपनी निर्मल पर्याय को प्राप्य करके, बदलकर, निष्पन्न होकर स्वयं मोक्ष करते हैं, आ..हा..हा...! `नमोत्थुणं' में आता है न ? `तिन्नाणं, तारयाणं' ! `नमोत्थुणं' में आता है न ? `तिन्नाणं, तारयाणं, बुद्धाणं, बोहयाणं, मुत्ताणं, मोअगाणं' !! यह सभी निमित्त द्वारा कथन है, आ..हा..हा...!

मोक्ष की पर्याय कहो या केवलज्ञान की पर्याय कहो, वह पर्याय स्वयं स्वतंत्ररूप कर्ता होकर वह पर्याय उत्पन्न हुई है। द्रव्य का आश्रय था इस कारण हुई है, ऐसा भी नहीं। आश्रय का अर्थ इतना कि, वहाँ लक्ष गया है। द्रव्य पर कर्तारूप स्वतंत्र(रूप) ध्येय में (लक्ष) गया है। ज्ञान का ध्येय त्रिकाल द्रव्य है, इस पर्याय का ध्येय वहाँ गया है। वह भी स्वतंत्ररूप से गया है, आ..हा..हा...! सूक्ष्म बातें...! यहाँ तो अभी पर का करना और यह करे और... (पर की दया पालन करे)... ! यहाँ कहते हैं कि, पर को तू मार सकता ही नहीं ! और कदाचित् अज्ञानी के (दया आदि के) परिणाम हो तो वह परिणाम उसका प्राप्य है, उसका `विकार' वह निर्वर्त्य है। ज्ञानी का `ज्ञान' प्राप्य, विकार और निर्वर्त्य है। अज्ञानी का राग, द्वेष या मिथ्यात्व वह उसका प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य है। आहा..हा...! ऐसा सूक्ष्म है !

श्रोता :- कितने दिन में यह सब समझ में आयेगा ?

समाधान :- एक अंतर्मुहूर्त में...! एक समयांतर में भीतर भेद पड़ जाता है ! `श्रीमद्' में आता

है-`समयांतर में ज्ञान सम्यक् हो जाता है।' ऐसा तो आगे खयाल में आनेपर भले अंतर्मुहूर्त लगे! आ..हा..हा...! इन हीरे, नीलम को उठा नहीं सकते, ऐसे कहते हैं। लौकिक में तो ऐसा बोलने का कथन है कि, उठाते हैं इसमें भी यह सिद्ध करना है कि, उसकी पर्याय उस समय होती है ऐसा सिद्ध करना है। आहा...! उठाता है, यह (वचन) व्यवहार से, उस काल में उसकी पर्याय होती है, (ऐसे) यह व्यवहार से निश्चय को बताता है, आ..हा..हा...! ऐसा है...! व्यवहार निश्चय को प्रसिद्ध करता है। व्यवहार, व्यवहार की प्रसिद्धि नहीं करता। (`समयसार' की आठवीं गाथा में) आया नहीं ? `**जह ण वि सक्कमणजो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं। तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ।।**' उपदेश अशक्य है, इसके कारण व्यवहार आदरणीय है, ऐसा नहीं। इसी में ही कहा है कि, व्यवहार अनुसरण करने लायक नहीं, आ..हा..हा...! ऐसा सूक्ष्म...!

छः द्रव्य में से एक-एक पर्याय जिस समय होनेवाली है उसी समय होती है, नियत है, यह निश्चय है। `चिद्विलास' में आता है, `चिद्विलास' में `निश्चय अधिकार' आता है न ? वहाँ यह रखा है। जिस समय जो पर्याय होती है सो निश्चय है। परंतु इसका ज्ञान करनेवाला कौन ? इसका तात्पर्य (क्या) ? कि, जिसने अपनी पर्यायमें से भी दृष्टि छोड़ दी... आ..हा..हा...! और गुण-गुणी के भेद की भी दृष्टि छोड़ दी... आ..हा..हा...! अभेद पर दृष्टि करे तो वह उसका फल है। कहने का आशय तो यह है। चाहे जितनी बात आये, लाख (बात) आये...! आता है न `छः ढाला' में ? `लाख वातनी वात निश्चय उर आणो, छोड़ी जगत द्वंद-फंद निश्चय आतम उर ध्यावो' आहा..हा...! यह कहते हैं। किन्तु व्यवहार के जहाँ लेख आये वहाँ पकड़े ! `देखो ! सोनगढवाले व्यवहार लोप कर डालते हैं !' किन्तु व्यवहार लोप करे तब निश्चय होता है, व्यवहार रखकर निश्चय होता नहीं। व्यवहार का लोप करे कि, यह (मेरा स्वरूप) नहीं और यह (मेरा स्वरूप) है। तभी उसे सत्य वस्तु मिले। आहा..हा...! और वह भी व्यवहार की अपेक्षा छूटी इसलिये निश्चय हुआ, ऐसा भी नहीं, आहा..हा...! जिसकी वर्तमान पर्याय के प्राप्य के लिये पर की अपेक्षा नहीं, आहा..हा...!

उस दिन वहाँ कहा था न ? `पंचास्तिकाय' की ६२ वीं गाथा ! `विकार षट्कारक से अपने से परिणमित होता है उसे पर कारक की जरूरत नहीं !' भड़के बहुत ...! (मात्र एक विद्वान ने कहा) कि, `निश्चय से भी पर की अपेक्षा नहीं, 'ऐसा स्वामीजी कहते हैं ! विकार को भी पर की अपेक्षा नहीं। (विकार स्वयं) षट्कारक रूप परिणमन करता है - पाठ देखो ! (ऐसा) कहा। तो (उसने कहा), `यह तो अभेद की बात है!' परंतु अभेद का अर्थ क्या ? पर की अपेक्षा जहाँ नहीं,

आप अपने से होता है, इसका नाम अभेद। विकार भी स्वयं अपने से करता है। नहीं कि कर्म का उदय आया और कर्म का जोर आया इस कारण विकार करता है! बिलकुल झूठ! आहा..हा...! एक द्रव्य का उदय दूसरे द्रव्य को छूता नहीं। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय को चूमता है। दूसरे द्रव्य की पर्याय को भी चूमे नहीं, छूये नहीं, आहा..हा...! समझ में आया ?

ज्ञान है सो ज्ञेय को जाने वैसे ज्ञेय को छूये नहीं। ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात हो वैसे ज्ञेय ज्ञान को छूये नहीं। इस ज्ञेय को जाना वह ज्ञान ज्ञेय का नहीं और ज्ञेय के कारण नहीं। यह अपनी पर्याय के कारण वह ज्ञेय जानने में आया, यह अपना कार्य है। आहा..हा...!

तीन बोल यहाँ रखे देखा! `समयसार' ७६ से ७९ (गाथा के) बोल यहाँ रखें। क्योंकि न्याय भी यही है न! आ..हा..हा...! `**...ज्ञान को ही ग्रहण करता है,...**' केवलज्ञानी तो ज्ञान पर्याय का ग्रहण करता है इसलिये ध्रुवरूप है, ऐसे। `**...ज्ञानरूप ही परिणमित होता है,...**' (अर्थात्) ज्ञानरूप इसका परिणमन है। पहली (पर्याय से) भले बदली परंतु ज्ञानरूप ही इसका परिणमन विकार्य है। `**...और ज्ञानरूप ही निष्पन्न होती है।**' आ..हा..हा...! अब यहाँ तो घातीकर्म क्षय हुए इसकारण ज्ञान पर्याय हुई, यह भी नहीं। नीचे (छद्मस्थ अवस्था में) भी ज्ञानावरणीय का क्षयोपक्षम हो तो यहाँ क्षयोपक्षम ज्ञान है, ऐसा भी नहीं। गजब बात...! यह (बात एक विद्वान को) कठिन लगी थी। (उनके लेख में) डाला है न! `कानजी स्वामी ऐसा कहते है कि ज्ञान में हीन-अधिकता होती है सो अपने कारण, ज्ञानवरणीय (कर्म से) नहीं!' ज्ञान की हीन अवस्था भी षट्कारक द्वारा परिणमित निष्पन्न होती है, और आगे विशेष विकास हो वह भी स्वयं षट्कारक के परिणमन से होती है। यह कर्म के कारण-ज्ञानवरणीय कर्म के कारण ज्ञान हीन पड़ा है और इसका उघाड़ हो इसलिये यहाँ क्षयोपशम (बढ़ें) ये सभी निमित्त की बातें (हैं)।

किसी भी द्रव्य की पर्याय दूसरी चीज के द्वारा हो, ऐसा नही। क्योंकि दूसरी चीज है वह भी (अपनी) पर्याय को ग्रहण करती है, परिणमित होती है और निष्पन्न होती है। वैसे आत्मा भी जब अपनी विकारी पर्यायरूप निष्पन्न होता है, यह उत्पन्न है सो ज्ञेय, परिणमन बदलता है और उत्पन्न होता है सो निष्पन्न होता। एक समय में इस पर्याय के तीन प्रकार पड़ते हैं और एक समय में इसमें छ:कारक आते हैं। आ..हा..हा...! ऐसे-ऐसे अनंत गुण! इसकी अनंत पर्याय! एक-एक पर्याय में षट्कारकरूप! और इस पर्याय में प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप! आ..हा..हा...! ऐसी अनंत प्रयाय !! इन अनंत पर्याय का एक गुण! और अनंतगुण का एक पिंड सो द्रव्य, भगवान! बादशाह! आ..हा..हा...! समझ में आया कुछ ? इन सब झगड़े (खड़े करें) `यह ..एकांत है।

सोनगढ का एकांत है...!' सम्यक् एकांत है, ऐसा कहे नहीं! उनकी समझ के बाहर हो, क्या करे? `जामें जितनी बुद्धि है, इतनो दियो बताय, वाको बूरो न मानिये और कहाँ से लाय' ऐसी बात लाये कहाँ से ? इस कारण बेचारे जितनी समझ हो इतनी बात करे! इसमें क्या हुआ ? भगवान है यह तो ! पर्याय में तो जो बात बैठी इसके मुताबिक करे, आहा..हा...!

देखो न! इसमें कितना स्पष्टीकरण आया! `**इस प्रकार ज्ञान ही उनका कर्म है, ...**' (कार्य है)। किसका ? भगवान केवलज्ञानी का ! `**और ज्ञप्ति ही उनकी क्रिया है।**' यह जानने की क्रिया यह ज्ञप्ति (है) वह उसकी अपनी क्रिया है, आहा..हा...! ` **ऐसा होनेसे केवली भगवान को बंध होता नहीं. क्योंकि ज्ञप्तिक्रिया बंध का कारण नहीं परंतु ज्ञेयार्थ परिणमन,...**' बंध का कारण है। (अर्थात्) ज्ञेय के प्रयोजन द्वारा जो परिणमित होता है इसमें राग आये, वह बंध का कारण है। आह..हा...!'

`...**ज्ञप्तिक्रिया बंध का कारण नहीं,...**' यह ज्ञप्ति परिवर्तन (हो) सो नहीं हाँ...! बारहवें गुणस्थान में क्षयोपक्षम (ज्ञान) है और इसलिये ज्ञप्ति परिवर्तन होता है। यह तो एक समय की जो पर्याय है वह ज्ञप्तिक्रिया है। उसमें बदलाव होता है, परंतु जैसे (क्षयोपक्षममें) कम ज्ञान होता है इस कारण एक पर्याय से दूसरी पर्याय होती है, (ऐसा यहाँ नहीं) इसमें फर्क है! और यह (केवलज्ञान का) परिणमन तो एक सा (एक) समान है। आहा...! ऐसा उपदेश...!

ज्ञप्ति जानने की क्रिया यह बंध का कारण नहीं। `**...किन्तु ज्ञेयार्थपरिणमनक्रिया...**' ज्ञेयार्थ परिणमन (यानी) ज्ञेय के कारण परिणमन (हुआ) इसमें राग आया `**...अर्थात् ज्ञेय पदार्थों के सन्मुख वृत्ति होना...**' (अर्थात्) जानने योग्य पदार्थ के समक्ष वृत्ति होना। केवलज्ञान (को) पदार्थ के सन्मुख जानने की वृत्ति नहीं, आ..हा..हा...! अपने सन्मुख वृत्ति है ! आ..हा..हा...! `**...(-ज्ञेय पदार्थ के प्रति परिणमित होना) वह बंध का कारण है।**' आ..हा..हा...!

`**(अब, पूर्वोक्त आशय को काव्य द्वारा कहकर, केवलज्ञानी आत्मा की महिमा बताकर यह ज्ञान-अधिकार पूर्ण किया जाता है।)**' आगे सुख का अधिकार लेंगे।

जानन्नप्येष विश्वं युगदपि भवद्भाविभूतं समस्तं।
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा।
तेनारते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत-
ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः।।४।।

-इति ज्ञानाधिकारः।

ओ..हो..हो...! मुनियों की भी क्षयोपशमदशा कितनी ! देखो ! आहा..हा...! '**जिसने कर्मों को छेद डाला है...**' यह व्यवहार का (कथन है)। '**ऐसा यह आत्मा...**' 'तत्त्व मिमांसा' में डाला है न ! 'मोहादि क्षयात् केवलज्ञान होता है।' 'तत्त्वार्थसूत्र' का वचन है। तब उन्होंने डाला है कि, क्षायिक(ज्ञान) हो तो वहाँ क्या हुआ ? मोह का क्षय होकर कर्म परमाणु अकर्मरूप परिणित हुए। जो कर्मरूप थे वे अकर्मरूप परिणमित हुए। इसमें इसके कारण केवलज्ञान हुआ ऐसा कहाँ आया? आहा..हा...! घातीकर्म (की) पर्याय का नाश हुआ तो वह पर्याय का नाश होकर अकर्मरूप पर्याय परिणमित हुई। परंतु इसका नाश होकर यहाँ केवलज्ञान निष्पन्न हो ऐसे कहाँ आया ? आ..हा..हा...! वैसे यहाँपर निमित्त से बात करते हैं (कि) '**...कर्मों को छेद डाला है...**' वैसे आत्मा को छेद सकता नहीं।

'**...ऐसा यह आत्मा भूत, भविष्यत और वर्तमान समस्त विश्व को (अर्थात् तीनों काल की पर्यायों से युक्त समस्त पदार्थों को)...**' '**विश्व को**' है न ? '**जानन्नप्येष विश्वं**' ! (इसका अर्थ करते हैं)। आहा..हा...! '**...एक ही साथ जानता हुआ भी...**' (अर्थात्) एक समय में तीनकाल तीनलोक के भविष्य और भूत को भी एक समय में वर्तमान विद्यमान कर जानता है, आ..हा..हा...! यह पहले आ गया है। भूत-भविष्य की पर्याय की अपेक्षा से (वे पर्यायें वर्तमान में) असद्भूत होते हुए भी ज्ञान में तो प्रत्यक्ष विद्यमान है। इस अपेक्षा से उसे भूतार्थ कहने में आता है, आ..हा..हा...! वास्तव में असद्भूत है (क्योंकि) भूत और भविष्य की पर्याय अभी है नहीं। यह असद्भूत भी ज्ञानप्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष जानने में आता है ! आ..हा..हा...! इस कारण ज्ञान की अपेक्षा उसे विद्यमान है, ऐसे कहने में आता है। आहा..हा...! यह श्लोक पहले आ गया है।

'**...एक ही साथ जानता हुआ भी मोह के अभाव के कारण पररूप परिणमित नहीं होता, इसलिये अब, जीव के समस्त ज्ञेयाकारों को अत्यंत विकसित ज्ञप्ति के विस्तार से स्वयं पी गया है...**' (अर्थात्) ज्ञेय का जैसा सामर्थ्य है उतना ज्ञान में आ गया है ! ज्ञान पी गया उसे ! आ..हा..हा...! '**...ऐसे तीनों लोक के पदार्थों को पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ वह ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है।**' (अर्थात्) भिन्न (पृथक् पदार्थों को) भी प्रकाशित करता है और स्वयं अपृथक् है उसे भी प्रकाशित करता है। अपने से भिन्न है उसे भी अपने में रहकर प्रकाशित करता है और अपने द्रव्य और अनंतगुण का बड़ा भंडार है, उसे भी प्रकाशित करता है। '**इसप्रकार ज्ञान-अधिकार समाप्त हुआ।**' लो !

❊ ❊ ❊